विद्यागवन संस्कृत गुन्थमाला

E9

श्रीमदानन्दवर्धनाचार्यवरचितः

ध्वन्यालीकः

श्रीमद्भिनवगुप्तपाद्विरचित-'लोचन'-सिहतः सटिप्पण 'प्रकाश' हिन्दीन्याख्योपेतथ

हिन्दी व्याख्याकार—-आचार्य जगझाथ पाठक एम एक (साहित्यशासाचार्य, साहित्यरत्न)



चोरवम्बा विद्यामवन

बाराणसी २२१००१



विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला

යම්යා *E ශ*

श्रीमदानन्दवर्षंनाचार्यवरचितः

ध्वन्यालोकः

श्रीमद्भिनवगुप्तपादविरचित-'लोचन'-सहितः सटिप्पण 'प्रकाश'-हिन्दीव्याख्योपेतश्र

हिन्दी ग्यास्याकार—
आचार्य जगन्नाथ पाठक एम॰ ए॰
(साहित्यशास्त्राचार्यं, साहित्यरत्न)



चोरवम्बा विद्याभवन

वाराणसी २२१००१

चौखम्बा विद्याभवन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक सथा वितरक) चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे), पोस्ट बाक्स नं० ६९ वाराणसी २२१००१

दूरभाव : { ६३०७६ दुकान ५५३५७ निवास

सर्वाधिकार सुरक्षित
चतुर्थं संस्करण १९८७
सम्पूर्ण
प्रथम उद्योत
द्वितीय उद्योत

अन्य प्राप्तिस्थान— चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन के० ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन पो० बा० नं० ११२६, वाराणसी २२१००१

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

३८ पू. ए., जवाहरनगर, बंगलो रोड

पो० बा० नं० २११३

विल्ली ११०००७
दूरभाष ३ २३६३९१

मुद्रक— श्रीजी मुद्रणास्रय बाराणसी THE
VIDYABHAWAN SANSKRIT GRANTHAMALA

97

70 70 2063

DHVANYALOKA

OF

SRI ANANDAVARDHANACHARYA

with

THE LOCHANA SANSKRIT COMMENTARY

OF

Sri Abhinavagupta

and

THE PRAKASA HINDI TRANSLATION
OF BOTH THE TEXTS

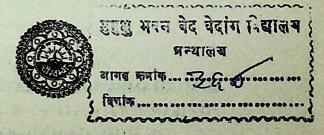
3

EXHAUSTIVE NOTES

Ву

Acharya Jagannath Pathak

M. A.



CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

VARANASI

© CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

(Oriental Booksellers & Publishers)

CHOWK (Behind The Benares State Bank Building)

Post Box No. 69

VARANASI 221001

© CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN

(Oriental Publishers & Distributors)

38 U. A., Jawaharnagar, Bungalow Road

DELHI 110007

Post Box No. 2113

Also can be had of
CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
(Oriental Booksellers & Publishers)
K. 37/117, Gopal Mandir Lane
Post Box No. 129
VARANAS I 221001



कविता और तर्क के विलक्षण सामरस्य प्रातःस्मरणीय गुरुवर

श्री स्वामी महेश्वरानन्द सरस्वती जी अहाराज [पूर्वाश्रम के : कवितार्किक चकवर्ती श्रीयुत पं० महादेवशास्त्री जी]

को

सविनय

श्रे अन्योन्यस्मिन् स्पुरदिमनवाद्वैतसस्बन्धभावं तत्त्वं साक्षान्मिलितमिव वागर्थयोस्तत्त्वदृष्ट्या। श्रे यद्वा साम्यं हिर्मागिरिसुताशर्वयोर्भृतये न-क्षे स्तत् सम्भूयात् किमिप किवतातर्कयोः सामरस्यम्॥

पश्यन्तो

'ध्वनिनाऽतिगभीरेण काव्यतश्वनिवेशिना। आनन्दवर्धनः कस्य नासीदानन्दवर्धनः'॥

राजशेखर : जल्हणसंकलित 'सूक्तिमुक्तांवली'

'ध्वनिकृतामालञ्जारिकसरणिब्यवस्थापकरवात्'—

पण्डितराज : रसगङ्गाधर

ध्वन्यालोक

ध्वन्यालोक भारतीय साहित्यशास्त्र का महनीयतम निर्माण है। यह एक आलोक-स्तन्भ की भांति अपने चतुर्दिक् आलोक विकीर्ण करके काव्य के अनुन्मोलितपूर्व आभ्यन्तर पक्षों को आलोकित करता हुआ आज भी चिरनवीन बना हुआ है। जैसा कि पण्डितों का कहना है, ध्वन्यालोक का अलङ्कार-साहित्य में वहीं स्थान है जो व्याकरण में पाणिनि के सूत्रग्रन्थ का और वेदान्त में वेदान्तसूत्र का।

यह प्रमाणित सत्य है कि चाहे विचार का कोई क्षेत्र हो, जब भां स्थूल का आधिपत्य हुआ, तमा सूक्ष्म ने उसके विपरात या विरोध में क्रान्ति का। दर्शन में कभा स्थूलदशौं चार्वाकों का बहुत जीर था, इसके विरोध में आचार्य शङ्कर द्वारा सूक्ष्म वैदान्तिक आत्मवाद की प्रतिष्ठा हुई। इसी प्रकार साहित्य में भामह, दण्डी, उद्भट, वामन प्रभृति आचार्यों के सामने कान्य का स्थूल शरीर-पक्ष प्रधान बना रहा। जब आचार्य भामह ने 'शब्दाओं सहितो काव्यम्' कह कर स्पष्टतः शब्द-अर्थ को काव्य का शरीर स्वीकार किया, तब इस काव्य-शरीर के शोमाधायक तस्वों में गुण, अलङ्कार, रीति तथा वृत्तियाँ स्वीकार की गईं। इन समी में अलङ्कार की काव्य के सौन्दर्य के लिए अनिवार्यं स्वोकार किया गया (काव्यं प्राह्ममलङ्कारात् "सौन्दर्यमलङ्कारः - वामन)। 'प्राधान्येन न्यपदेशा भवन्ति' इस न्याय के बल पर ही न्यापक अर्थ में समग्र साहित्यशास्त्र को 'अलङ्कार-शास्त्र' एवं साहित्यिक आचार्यों को 'आलङ्कारिक' कहने की प्रवृत्ति चल पड़ी थी। 'साहित्य' शब्द काव्य के क्षेत्र में भामह के 'सहिती' प्रयोग से शब्द और अर्थ के सहभाव या साहचर्य के आधार पर प्रचलित हुआ जान पड़ता है। इस प्रकार साहित्य में शरारवाद के विपक्ष में आत्मवाद की प्रतिष्ठा के उद्देश्य से ध्वन्यालोक का निर्माण हुआ। इसका आकलनाय सद्गेत 'लोचन' दीका में आचार्य अभिनवगुप्त ने कर दिया है—'वाच्यसंवलनाविमोहितहृद्यैस्तु तत्पृथन्भावे विप्रतिपवते, वार्वाकै-रिवात्मपृथग्मावे।' (पृ० ४४) अर्थात् चार्वाक लोग जिस प्रकार आत्मा का श्वरीर से पृथग्भाव मानने में विरुद्ध आपत्तियाँ उठाते हैं, उसी प्रकार जिन लोगों का इदव वाच्य अर्थमात्र के सम्मिश्रण में विमोह को स्थिति प्राप्त कर चुका है वे वाच्य के अतिरिक्त किसी अर्थ के पृथामाण में सन्देह करते हैं।

ध्वन्यालोक कान्य के जिस आत्मतत्त्व को महती प्रतिष्ठापना के उद्देश्य से लिखा गया वह है, व्विन अर्थात शब्द का चतुर्थकस्यानिविष्ट न्यङ्गय अर्थ। किव-वाणों को समग्र सार्थकता उसीके प्राधान्यतः स्फुरण में निहित होतों है। यह वात भामह, उद्घट प्रसृति प्राचांन आलङ्कारिकों को उतनी स्पष्टता से विदित न थी। यद्यपि उन्हें न्यङ्गय अर्थका आभास पर्यायोक्त आदि अनेक अलङ्कारों में मिल चुका था, तथापि वे वाच्य अर्थकों अपेक्षा न्यङ्गय के चारुत्व में विश्वास न रखते थे। इस कारण उनके यहाँ न्यङ्गय की स्थित वाच्यानुगत ही वनी रही। यहाँ तक कि वाच्यता के स्पर्शलेश से भी शून्य रस-भावादि तक्त्व भी उन प्राचीन आलङ्कारिकों के यहाँ रसवदादि अलङ्कार के रूप में वाच्य के शोभाहेतु ही वने रहे।

तब किसी ऐसे विशिष्ट महामेधावी आचार्य को साहित्य को आवश्यकता था जो कान्य-शरीर के केवल शोभाहेतु तक्त्वों के निरूपण को वोझिल और वेजान परम्परा को धक्का देकर आत्मा के मास्वर रूप को आलोकित करता और कान्य के प्रकीर्ण एवं न्याकीर्ण तक्ष्यों को संगत करते हुए कान्यालोचन को नई वाणां, नया वेग, नया जीवन प्रदान करता। निश्चित ही यह महनीयतम कार्य भारतीय साहित्यशास्त्र के सबसे अधिक महत्त्वशालो ध्वनि-सन्प्रदाय के प्रवर्तक, ध्वन्यालोंक के रचिता श्रीमदानन्दवर्धनाचार्य (नवम शताब्दों) द्वारा समग्रता के साथ सम्पन्न हुआ। साहित्य के क्षेत्र में 'ध्वनि' शब्द एक नया प्रयोग था, किन्तु स्वरूपतः उसे 'ध्वनि' के आधारमूत प्रतीयमान या व्यङ्गय अर्थ की स्वीकृति द्वारा प्राचीन आचार्यों ने आक्षेप, अप्रस्तुत-प्रशंसा, समासोक्ति, व्यावस्तुति आदि अलङ्कारों में (अप्रधान रूप से हो) सङ्केतित कर दिया था। 'रसगङ्गाथर' के पर्यायोक्त-प्रकरण में पण्डितराज ने इसे पूर्णतः स्वीकार किया है—

'ध्वनिकारात् प्राचीनैर्मामहोद्भटप्रमृतिभिः स्वप्रन्थेषु कुत्रापि ध्वनिगुणीभृतव्यक्षयादिशस्या न प्रयुक्ता इत्येतावतैव तैर्ध्वन्यादयो न स्वीक्रियन्त इत्याधुनिकानां वाचोयुक्तिरयुक्तैव । यतः समासोक्तिव्यावस्तुत्यप्रस्तुतप्रशंसाधळङ्कारनिरूपणे कियन्तोऽपि गुणीभृतव्यक्षयभेदास्तैरपि निरूपिताः । अपरम्भ सर्वोऽपि व्यक्षयप्रद्यः पर्यायोक्तकुक्षौ निश्चिष्तः । न ह्यनुभवसिद्धोऽधौ वालेनाप्यपहोतुं शक्यते । ध्वन्यादिशस्त्रः परं व्यवहारो न कृतः । न ह्येतावतानक्षीकारो भवति । प्राधान्यादरुङ्कार्यो हि ध्वनिरळङ्कारस्य पर्यायोक्तस्य कुक्षौ कथङ्कारं निविश्वतामिति तु विचारान्तरम् ।

स्वयं आनन्दवर्धनाचार्यं ने भी इसका सङ्केत इन शब्दों में कर दिया है-

'यद्यपि ध्वनिश्रब्दसङ्कीर्तनेन काव्यलक्षणविषायिभिर्गुणवृत्तिरन्यो वा न कश्चित् प्रकारः प्रकाशितः, तथापि अमुख्यवृत्त्या काव्येषु व्यवहारं दर्शयता ध्वनिमार्गो मनाक् सृष्टोऽपि न लक्षितः।' (पृ० ३४)

इस अंश पर 'लोचन' मां सर्वथा आकलनीय है। जैसा कि लोचनकार ने स्पष्ट करते हुए लिखा है कि उद्भट और वामन आदि आचार्यों ने ध्वनि का दिशुन्मीलन कर दिया था, क्योंकि 'मामहविवरण' (अप्राप्त) नामक अपने प्रन्थ में भट्ट उद्भट ने मामह के 'शब्दाश्क्रन्दोभिधानार्थां' के न्याख्यान में कहा है—'शब्दों का अभिधान या अभिधा न्यापार दो प्रकार का होता है, मुख्य और गुणवृत्ति।' इसी प्रकार 'वामन' भी लिखते हैं—'साइश्याहक्षणा वक्रोक्तिः' अर्थात साइश्य के कारण (साइश्य से गर्मित होने से) लक्षणा 'वक्रोक्ति' कहलाती है। इस प्रकार अमुख्य न्यापार और साइश्य की ओर प्रवृत्ति से विदित होता है कि प्राचीन आचार्य न्यक्त्य अर्थ के प्रति गतिशील हो चुके थे, वाच्य अर्थ की सीमा उन्हें पसंद न थी, फिर भी वे उस सीमा को तोड़ न सके।

प्राचीनों के यहाँ एकमात्र वाच्य को मूल केन्द्र में एख कर ही तथा उसकी प्रायः सीमा में ही कान्य के विविध तस्त्रों की सार्थकता का परीक्षण किया गया। इसिलए वाच्य के प्राधान्य में चमत्कार का कुछ इस प्रकार उन्हें न्यामोह था कि वे कान्य के बाह्य शरीर के अलङ्करण को ही कान्य का सर्वस्व समझ बेठे थे, किन्तु जब किव-वाणी के आभ्यन्तर चमत्कार पर ध्वनिकार की दृष्टि गई तब उनके यहाँ शब्द और अर्थ के बाह्य विधानों के सारे रूप एकबारगा शिथिल हो गए और रामायण, महाभारत प्रभृति ग्रन्थों में सर्वत्र अभिनव प्रतायमान अर्थ स्फुरित होने लगा। ध्वनिकार को ऐसा अनुभव हुआ कि वह प्रतीयमान अर्थ कुछ इस प्रकार है जैसे घंटा का अनुरणन। बस, क्या था, उन्होंने इसी आधार पर उस अर्थ की संज्ञा 'ध्वनि' रख दी तथा इसके प्रमाणस्वरूप उन्हें विद्वान् वैयाकरणों के यहाँ अनुकूल संकेत भी मिल गया। वैयाकरण लोग अयुमाण वर्णों में 'ध्वनि' शब्द का न्यवहार करते थे। इतना ही नहीं, शब्द और अर्थ के बाह्य समग्र रूपों और विच्छित्तियों को अतिश्वित करके प्राधान्यतः स्फुरित होने वाला वह प्रतीयमान अर्थ उसी प्रकार उन्हें बाह्य तस्त्रों से पृथक् लगा जिस प्रकार अङ्गनाओं में उनका लावण्य उनके अङ्गसंस्थान से अभिन्यङ्गय होकर अङ्ग से न्यतिरिक्त होता है। 'लावण्य' के मम्बन्थ में यह स्त्रोक प्रसिद्ध है—

मुक्ताफलेषु च्छायायास्तरल्थ्विमवान्तरा। प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्यमिहोच्यते ॥ अर्थात् युक्ताओं में 'आव' के रूप में जो छाया की तरलता सी कुछ झलकती-दिपती रहती है वहां अङ्गों में 'लावण्य' कहलाती है।

ध्वनिकार लिखते हैं —

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् । यत्तन्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यभिवाङ्गनास् ॥ ए० ४७

अर्थात् महाकवियों की वाणियों में वह प्रतीयमान कुछ और ही है जो वह प्रसिद्ध अवयवों ने अतिरिक्त रूप में अक्षनाओं में छावण्य की भांति आसित होता है।

यहां नहीं. उस प्रतीयमान अर्थ की छाया, खियों की छजा की भांति, महाकवियों की अलङ्कार-सम्पन्न वाणियों की मुख्य भूषण है—

> मुख्या महाकविगिरामलङ्कृतिभृतामपि । प्रतीयमानन्द्रायेषा भूषा लज्जेव योषिताम् ॥ ध्व० ३।३७

(यद्यपि आचार्य कुन्तक इस पद्य में 'लावण्य' के स्थान पर 'सौमाग्य' पद को अभिषिक्त करते हैं, क्योंकि इस प्रकार सहृदयों के हो संवेद्य प्रतीयमान के साथ सकल्लोकलोचनसंवेद्य 'लावण्य' का समीकरण नहीं हो सकता और 'सौमाग्य' के वहाँ नियोजन से काव्यपरमार्थक्य सहृदयों के हां अनुभव-गोचर और कामिनियों के विलक्षण 'सौमाग्य', जो तदुपमोगोचित नायक जनों के हां संवेद्य के साथ समीकृत हो जाता है, तथापि जो 'लावण्य' को प्रसिद्धावयवव्यतिरेकिता के साथ प्रतीयमान को प्रसिद्धालंकृत या प्रतीत अवयवों से व्यतिरेकित्व की बात अधिक संगन लगतां है और साथ हो जो 'लावण्य' में आकर्षण और स्वारस्य है वह 'सौमाग्य' में नहीं। अस्तु)

ध्वन्यालोककार इस प्रतीयमान या व्यक्तय अर्थ के तीन भेद करते हैं —वस्तु, अलङ्कार और रसादि । इनमें वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि, शब्दामिधेय होने के कारण लौकिक हैं किन्तु रसादि ध्वनि किसी मी स्थिति में, बल्कि स्वप्न में भी अभिहित नहीं होती, इसिछए अछौकिक है। इस प्रकार ध्वनिकार के मत में रस ही वस्तुतः आत्मा है, वस्तु और अछङ्कार ध्वनियों का पर्यवसान सर्वथा रस के प्रति होता है, इसिछए वाच्य से उत्कृष्ट होते हैं। अतः सामान्यतः तीनों के लिए 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' कहा है (दे० छोचन, पृ० ४०, ४५, ५०, ५१, ७९, ८६, ९२)। स्वयं आचार्य आनन्दवर्थन ने रस की स्वज्ञब्दवाच्यता का प्रत्याख्यान विस्तार के साथ

मिथतार्थ यह कि ध्वनि की प्रतिष्ठा प्रतीयमान या व्यङ्गय अर्थ पर है। ध्वनि व्यङ्गय अर्थ की प्रभानता की स्थिति में होता है। वाच्य अर्थ व्यङ्गय अर्थ की प्रतिष्ठा या भूमि है, इसलिए वह सर्वथा ध्वनि के प्रकरण में उपेक्ष्य नहीं। इसी कारण दितीय कारिका में ध्वनिकार ने प्रतीयमान अर्थ के साथ वाच्य अर्थ का समशोषिकया गणन किया है, यद्यपि प्रतीयमान अर्थ ही काव्य का आत्मा या सर्वस्व है।

'ध्वनिं' का अर्थ

ध्वन्यालोक में 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग पाँच अर्थों में किया गया है—व्यङ्गय अर्थ, वाचक शब्द, वाच्य अर्थ, व्यञ्जना व्यापार और समुदाय रूप काव्य । जैसा कि आचार्य अभिनवगुप्त लिखते हैं—

अर्थो वा शब्दो वा व्यापारो वा । अर्थोऽपि वाच्यो वा ध्वनतीति, शब्दोऽप्येवम् । व्यङ्गयो वा ध्वन्यत इति । व्यापारो वा शब्दार्थयोध्वननिमिति । कारिकया तु प्राधान्येन समुदाय एव काव्यरूपो मुख्यतया ध्वनिरिति प्रतिपादितम् । १० १०४-५

तेन वाच्योऽपि ध्वनिः वाचकोऽपि शब्दो ध्वनिः, द्वयोरपि व्यक्षकरवं ध्वनतीति कृत्वा । सम्मिश्यते विभावानुभावसंबद्धनयेति व्यङ्गयोऽपि ध्वनिः, ध्वन्यत इति कृत्वा । शब्दनं शब्दः शब्दव्यापारः, न चासावभिधादिरूपः, अपि त्वात्मभूतः, सोऽपि ध्वनिः। काव्यमिति-व्यपदेश्यक्ष योऽर्थः सोऽपि ध्वनिः, उक्तप्रकारध्वनिचतुष्ट्यमयत्वात् । पृ० १४१-१४२

पञ्चभाऽपि ध्वनिशव्दार्थे येन यत्र यतो यस्य यस्मै इति बहुवीद्वार्थाश्रयेण यथोचितं सामानाधिकरण्यं सुयोज्यम् । १० १४३

'ध्वनि' शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार उक्त पाँचों अर्थों में इस प्रकार योजना होगी — १ ध्वनतीति ध्वनिः; (२) ध्वन्यत इति ध्वनिः; (३) ध्वननं ध्वनिः।

प्रथम के अनुसार वाच्य अर्थ और वाचक शब्द 'ध्वनि' शब्द से अभिहित होते हैं, दिताय के अनुसार केवल व्यक्त्य रूप अर्थ ध्वनि है और तृतीय के अनुसार व्यक्तना व्यापार ध्वनि है। 'ध्वनि' शब्द का पाँचवाँ विषय 'समुदाय रूप काव्य' है, क्योंकि ये चारों प्रकार उसमें होते हैं। इसिलिए 'काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः' यहाँ समुदाय रूप काव्य में 'ध्वनि' शब्द का व्यवहार है और प्रथम कारिका में 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' व्यक्त्य अर्थ की दृष्टि से कहा गया है।

अन्य सभा अर्थों में व्युत्पत्तितः और व्यवहारतः 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग होने पर मां मुख्यतः व्यक्त्य अर्थ ही 'ध्वनि' शब्द से अभिहित होता है और वह मां शब्द और अर्थ को अतिशयित करके चारुत्वातिशय के कारण प्रधान रूप से प्रतीयमान हो तब 'ध्वनि' कहलाता है। व्यक्त्य अर्थ की स्थिति में हो वाच्यादि मो 'ध्वनि' शब्द से वाच्य हो सकते हैं।

साथ ही यह मो समझ लेना आवश्यक है कि 'ध्विन' को कान्य का आत्मा स्वीकार करते हुए मी ध्विनकार कान्य में अमिन्यक्षनीय रस के औश्वित्य के आधार पर शब्द और अर्थ के अलङ्कार तथा गुणों का समावेश अनिवार्थ मानते हैं। इसी उद्देश्य से कान्य का विशेषण देते हुए उन्होंने तथा गुणों का समावेश अनिवार्थ मानते हैं। इसी उद्देश से कान्य का विशेषण देते हुए उन्होंने लिखा है—'विविधवाच्यवाचकरचना-प्रपञ्चचारुणः कान्यस्य (पृ० ८९) और मी, 'कान्यस्य हि लिखा है—'विविधवाच्यवाचकरचना-प्रपञ्चचारुणः कान्यस्य गर् लोचनकार का स्पष्ट निर्देश है कि लिखतेचित्तसिन्नवेशचारुणः (पृ० ४५)। प्रथम उद्धरण पर लोचनकार का स्पष्ट निर्देश है कि लिखतेचित्तापि ध्वननसद्भावेऽि न तथा न्यवहारः, आत्मसद्भावेऽि कचिदेव जीवन्यवहार इत्युक्तं 'तेन सर्वत्रापि ध्वननसद्भावेऽि न तथा न्यवहारः, आत्मसद्भावेऽि कचिदेव जीवन्यवहार इत्युक्तं प्राप्ट रूप में लोचनकार लिखते हैं—नन्वेवं 'सिंहो वद्धः' इत्यत्रापि कान्यरूपता स्यात ; ध्वननस्पष्ट रूप में लोचनकार लिखते हैं—नन्वेवं 'सिंहो वद्धः' इत्यत्रापि कान्यरूपता स्यात ; आत्मनो लक्षणस्यात्मनोऽत्रापि समनन्तरं वक्ष्यमाणतया भावात । ननु घटेऽि जोवन्यवहारः स्यात ; आत्मनो विमुत्वेन तत्रापि भावात । शरीरस्य खलु विशिष्टाधिष्ठानयुक्तस्य सत्यात्मिन जीवन्यवहारः, न यस्य कस्यचिदिति चेत—गुणालङ्कारौचित्यसुन्दरशब्दार्थशरीरस्य सि ध्वननाख्यात्मिन कान्यरूपतान्यवहारः। न चात्मनोऽसारता काचिदिति च समानम् । पृ० ५७; कान्यग्रहणात गुणालङ्कारोपस्कृत-शब्दार्थपृष्ठपाती ध्वनिलक्षण 'आत्मे'त्युक्तम् । पृ० १०३

इस प्रकार प्राचीन आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट कान्य के बाह्य तस्तों का उचित रूप से आदर करते हुए ध्वनि को कान्य के आत्मा के रूप में ध्वनिकार ने प्रतिष्ठित किया। इतना होते हुए भा वे स्वयं इस सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक बनने को तत्पर नहीं। उनका ध्वनि-सिद्धान्त बुधजनों द्वारा 'समाम्नात-पृत्रे' था। केवल उस 'ध्वनि' के सम्बन्ध की विप्रतिपत्तियों का निराकरण तथा उसका उदाहरणों आदि द्वारा स्पष्टांकरण सहदयजनों के मन को प्रसन्नता के लिए उन्होंने यहाँ किया (तेन ब्र्मः सहदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम्)।

ध्वति : मृल प्रेरणा

किसी 'यथाकथित्रित प्रवृत्त' कल्पना पर यह ध्विन-सिद्धान्त प्रवृत्त नहीं हुआ। इसके मूल में प्राचीन वैयाकरणों की उक्ति विद्यमान है। चूँिक ज्याकरणशास्त्र सभी विद्याओं का मूल है अतः प्रथम विद्वान् वैयाकरण ही हुए। जैसा कि महावैयाकरण भर्तृहरि ने कहा है—

उपासनीयं यरनेन शास्त्रं व्याकरणं महत्। प्रदीपभूतं सर्वासां विद्यानां यदवस्थितम्॥

अर्थात महान् व्याकरणशास्त्र को यलपूर्वक उपासना करनी चाहिए, क्योंकि यह सभी विद्याओं के प्रदीप रूप में अवस्थित है (इसी से सभी विद्यार्थे प्रकाशित होती हैं)।

वैयाकरणों ने अयुमाण वर्णों को 'ध्वनि' कहा है और यह ध्वनि (अयुमाण वर्ण) चूँिक व्यक्षक होते हैं, इसी आधार पर काव्य-तत्त्वदर्शी विद्वानों ने वाच्यवाचक-सम्मिश्र शब्द रूप काव्य को भी 'ध्वनि' के अभिधान से संकेतित किया और ध्वनिकार ने इसी पक्ष के काव्यशास्त्रीय आधार पर समर्थन एवं प्रकाशन के छिए ध्वन्यालोक के रूप में अपना संरम्भ प्रस्तुत किया।

लोचनकार ने ध्वनिकार के कथन को महान् नैयाकरण मर्तृहरि के दलोक उद्धृत करते हुए 'ध्वनि' को व्यक्तय, व्यक्तक शब्द-अर्थ एवं व्यक्तना व्यापार में चरितार्थ बताया है। इसके पूर्व कि हम यहां लोचनकार के कथन को और भी पछवित रूप दे सकें, वैयाकरणों के 'ध्वनि' के आधारभूत स्कोटवाद पर विचार कर लेना आवश्यक समझते हैं क्योंकि स्कोटवाद शब्द की सृष्टिप्रिक्रिया से सम्बन्ध रखता है और हम विना इसको समझे लोचन के निर्देश को समझ नहीं सकते।

स्फोटवाद—यह वह दर्शन है जिसमें शब्द के रूप तथा उससे अर्थ के विकास का निर्णय हुआ है। इस दर्शन का प्रारम्भ कर से हुआ यह निश्चित नहीं, फिर पाणिनि के 'अष्टाध्यायी' ग्रन्थ में एक सूत्र मिलता है—'अवङ् स्फोटायनस्य' (६,१,१२३)। यहाँ किन्हीं 'स्फोटायन' नामक आचार्य का निर्देश है। इनके नाम में 'स्फोट' शब्द है और प्रथमतः उल्लेख के रूप में यहीं मिलता है अतः कल्पना की जाती है कि स्फोटवाद के प्रतिपादक यह स्फोटायन ही थे। जैसा कि काशिका की टीका 'पदमक्षरी' में हरदत्त ने लिखा है—

'स्फोटोऽयनं पारायणं यस्य स स्फोटायनः स्फोटप्रतिपादनपरो वैयाकरणाचार्यः।'

स्कोटवाद शब्द को नित्यता को स्वीकार करता है और यास्क, पाणिनि ने इसी सिद्धान्त को माना है। शब्द के नित्यत्व पर 'संग्रह' नामक ग्रन्थ में व्याष्टि ने भी विचार किया था ऐसा निर्देश मिछता है। कात्यायन और पत्र आहे भी स्कोटवाद के समर्थक हैं। वैयाकरणों ने स्कोटवाद में शब्द को नित्य, एक तथा अखण्ड माना। उस शब्द की अभिव्यक्ति ध्वनि से होता है जिसके दो भेद हैं प्राकृत एवं वैकृत। उनके अनुमार वर्ण और पद सार्थक नहीं, बल्कि वाक्य सार्थक होता है, अर्थात अर्थ को प्रताति वाक्य से होता है। पत्र अछि ने अपना मत स्पष्ट शब्दों में छिखा है—

नित्यांश्च शब्दाः । नित्येषु च शब्देषु कृटस्थैरविचालिभिवंगेंर्भवितस्यमनपायोपजन-विकारिभिः । महाभाष्य, आ० २

पतञ्जलि ने जिस शब्द का लक्षण निर्देश किया है वह स्फोट शब्द का ही है—

श्रोत्रोपल्डिधर्बुद्धिनिर्माद्धः प्रयोगेगाभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः। एकं च पुन-राकाशम्। महाभाष्य, अ०२

अर्थात् शब्द को उपलिय श्रोत्र के माध्यम से होती है। श्रोत्र एक हिन्द्य है जो कर्णशब्दुत्य-विच्छत्र आकाशस्य है। तात्पर्य यह कि हमारे कर्ण देश में जितना आकाश है उसी में शब्द की उपलिथ होती है। श्रोत्रेन्द्रिय एक आकाश हो है। फिर यहां प्रश्न होता है कि जब शब्द में निहित वर्ण अपने उच्चारण के दूसरे क्षण में नष्ट हो जाते हैं तब शब्द का प्रहण कैसे सम्भव होगा? इसके समाधान में बुद्धिनिर्प्राह्म कहने का तात्पर्य यह है कि पूर्व-पूर्व ध्विन से उत्पन्न संस्कार का परिप्राक होने पर अन्त्य वर्ण के ज्ञान से शब्द का प्रहण होता है। बुद्धि शब्दों का प्रहण करतों है। बुद्धि में ध्विनयां संस्कार छोड़तों जातों हैं और अन्तिम वर्ण से शब्द का ज्ञान होता है। प्रयोग से अभिज्वित या प्रकाशित का तात्पर्य यह है कि शब्द तो सर्वदा सर्वत्र विद्यमान रहता है। किन्तु उसको उपलिथ उच्चारण से हो होती हैं। जो विद्यमान शब्द है वही ध्विन, वर्ण या प्रयोग है। आकाश जो शब्द का आश्रय है वह जब एक है तब उसमें रहने वाला शब्द भी एक हो है। शब्द में अकाश जो शब्द को ता वित्त उसको व्यक्त करने वाली ध्विन के तथा देश के भेद के कारण उसमें भेद आरोपित कर लेते हैं, जिस प्रकार एक हो आकाश घटाकाश, मठाकाश आदि रूप में भित्र हो जाता है।

पतअलि का यह शब्द 'स्फोट' रूप है। ध्वनि स्फोट का गुण है। जिस प्रकार भेरों के आधात में एक अनुरणन होता है, वहां ध्वनि है। स्फोट और ध्वनि में प्रथम व्यक्तय हैं और दूसरा व्यक्षक। तात्पर्य यह कि ध्वनि से स्फोट रूप शब्द अभिव्यक्त होता हैं और अभिव्यक्त स्फोट रूप शब्द से अर्थ का ज्ञान होता है।

'वाक्यपदोय' ग्रन्थ में भर्तृहरि ने 'स्फोट' का यथावत् विवेचन किया है। वहाँ आगे के समी वैयाकरणों का आधार हुआ है।

वैयाकरणों ने 'स्फोट' शब्द का ब्युत्पत्तिलम्य अर्थ किया है—'स्फुटत्यथॉऽस्मादिति स्फोटः' अर्थात् जिससे अर्थ स्फुटित होता है वह शब्द स्फोट कहलाता है। इस प्रकार यह एक यौगिक शब्द है। 'स्फोटचन्द्रिका' में श्रीकृष्ण ने इसे योगरूढ बताया है। कहा जा चुका है कि वैयाकरणों के अनुसार स्फोट और ध्वनि शब्द के दो भेद माने गए हैं। आचार्य भर्तृहरि ने उसे हो कहा है—

द्वाबुपादानशब्देषु शब्दौ शब्दविदो विदुः। एको निमित्तं शब्दानामपरोऽर्थे प्रयुज्यते॥

पुण्यराज के अनुसार इसे इस प्रकार समझ सकते हैं कि स्कोट ध्वनि रूप शब्द रा उपादान कारण है क्योंकि उससे अर्थ का ज्ञान होता है, और दूसरे ध्वनिरूप शब्द का अर्थों में प्रयोग किया जाता है, अथवा वह शब्द-समुदाय (उपादान) जिसे ध्वनि कहते हैं, स्कोट का निमित्त अर्थात व्यक्षक होता है तत्पश्चात दूसरे स्कोट रूप शब्द के अभिन्यक्त होने पर अर्थ की प्रतीति होतो है। अभिप्राय यह कि स्रोता की बुद्धि में स्थित कमरहित शब्द स्कोट या ध्वनि शब्द के सुनते हो अभिन्यक्त होता है और वह अर्थ का बोध कराता है। इस प्रकार स्कोट व्यक्षय है और ध्वनि व्यव्जक।

जिस प्रकार कारण और कार्य को कुछ दाईनिक भिन्न, मानते हैं तो कुछ अभिन्न, इसी प्रकार का मतभेद स्फोट और ध्वनि के सन्दर्भ में भी प्राचीन दाईनिकों में हुआ।

स्फोट को स्थित बुद्धि में उस प्रकार की होती है जिस प्रकार काष्ट में अग्नि की। उस स्थिति में वह अज्ञात रहता है। किन्तु जब कण्ठ, तालु आदि करणों के आश्रय से विवर्त की स्थिति में आता है तब ध्विन रूप से प्रतीत होने लगता है। व्यक्षक ध्विन के भेद से उसमें भी भेद हो जाता है। जिस प्रकार अग्नि स्वयं को प्रकाशित करता हुआ अन्य घटादि वस्तुओं को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार ध्विन द्वारा व्यक्षित स्फोट शब्द मी अपने को प्रकाशित करता हुआ अर्थ को मी प्रकाशित करता है। स्फोट और ध्विन ने तादात्म्य माना जाता है, क्योंकि यदि ऐसा न माना जाय तो किसी भी ध्विन से फिसां अर्थ का ज्ञान होना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता। फिर मी स्फोट में कोई कम नहीं होता तथा भेद भी नहीं होता। उसमें कम और भेद को प्रतीति ध्विन की अभिव्यक्ति के कम से होती है। जिस प्रकार चन्द्रमा में चज्रवता नहीं, किन्तु तरल जल में उसके प्रतिविम्य को देखकर उसमें भी चञ्चलता आरोपिन करते हैं उसी प्रकार स्फोट में कम और भेद वास्तिविक नहीं है, प्रत्युत आरोपिन हैं।

मनुष्य की बुद्धि में वन ब्रह्माण्डन्यापी शब्द अपने क्रमरहित एवं निर्विमाग रूप में विद्यमान रहता है और जब उच्चारण की एक्टा होती है तब उसमें एक क्रियारूपा वृत्ति होती है, फिर वह उस वृत्ति के कारण वाक्य, पद आदि के रूप में आता है। स्वतः अखण्ड है, फिर मी वृत्ति के कारण मार्गों की तथा क्रम को उसमें सत्ता होतों है। यह ठांक उसो प्रकार होता है जिस प्रकार पक्षी के अण्डे के मातर केवल अरूप अविभक्त एक तरल पदार्थ होता है वहां विशेष स्थिति में एक रूप में आने लगता है।

वैयाकरणों ने ध्वनि के दो भेद किए हैं—प्राक्तत एवं वैकृत । प्राकृत अर्थात् मौलिक ध्वनि तथा वैकृत ध्वनि अर्थात् प्राकृत ध्वनि का अनुरणन रूप । प्राकृत ध्वनि में स्वभाव भेद रहता है उसी के कारण हस्व, दोर्घ, प्लुत होता है । स्कोट शब्द इस काल-भेद से रहित है किन्तु इसे उसमें आरोपित करते हैं । प्राकृत ध्वनि के काल का शब्द में आरोप करके उसे व्यवहार का विषय बनाते हैं ।

प्राकृत ध्वनि में हस्व, दांर्घ आदि गुण हैं और वैकृत ध्वनि में द्रुत, मध्य एवं विलम्बित वृत्तियाँ रहतां हैं। प्राकृत ध्वनि के पश्चात् वृत्तिभेद होने पर यह ध्वनि उत्पन्न होते हैं। और जैसा कि भगवान् भर्तृहरि का कहना है—

स्फोटस्य ग्रहणे हेतुः प्राकृतो ध्वनिरिष्यते। वृत्तिभेदे निमित्तत्वं वैकृतः प्रतिपद्यते॥

स्फोट का प्रहण प्राकृत ध्विन से होता है। प्राकृत को स्फोट का प्रतिबिम्ब माना जाता है। यद्यपि प्राकृत ध्विन में नित्यता नहीं है, तथापि स्फोट की नित्यता उसमें भी मान ली जाती है। प्राकृत ध्विन के पश्चात उत्पन्न होने वाली ध्विन को मूल का विकार कहा जाता है और उससे ही सब प्रकार की वृत्तियों का मेद होता है।

संक्षेप में इस विस्तारगम्य विषय को प्रस्तुत में इतना ही समझ लेने की आवश्यकता है। लोचनकार ने वैयाकरणों के ध्वनि को काज्य-सिद्धान्तीय ध्वनि-विचार में संगत करते हुए भगवान् मर्नुहरि के कुछ इलोक उद्धृत किए हैं।

कान्य में 'घ्वनि' शब्द से मुख्यतः व्यङ्गय अर्थ, व्यञ्जक शब्द-अर्थ एवं व्यञ्जनाव्यापार इन सव का ग्रहण होता है। प्रथम जो व्यङ्गय अर्थ 'ध्वनि' कहा जाता है वह घण्टादि के शब्द के स्थान पर अनुरणन रूप होता है और व्याकरण-दर्शन में उत्पत्तिवादियों के मतानुसार स्फोट वह शब्द है जो स्थान, प्रयत्न आदि से वायु में संयोग या विभाग के कारण उत्पन्न होता है और उस शब्द से उत्पन्न होने वाले (शब्दज शब्द अर्थात् घण्टानुरणन रूप शब्द) ध्वनि कहे जाते हैं। (ये उत्पत्तिवादी आचार्य स्फोट को नित्य नहीं मानते, विलेक इनके अनुसार स्फोट उत्पन्न होता है अनुएव अनित्य है।) श्लोक इस प्रकार है—

यः संयोगवियोगाभ्यां करणैरुपजन्यते । स स्फोटः शब्दुजाः शब्दा ध्वनयोऽन्येष्ट्राहृताः ॥ वाक्यपदीय, १।१०३

जैसा कि वैयाकरणों का अभिमत है, नाद अर्थात श्र्यमाण वर्ण स्फोट के अभिव्यक्षक होते हैं और स्फोट अन्त्यवृद्धिनिर्माह्म होता है। इंस प्रकार श्र्यमाण वर्ण या नाद, जिन्हें 'ध्विन' कहते हैं, क्रमशः स्फोट को बुद्धि में प्रकाशित या अभिव्यक्त करते जाते हैं। भर्नृहिर कहते हैं—

प्रत्ययैरनुपाक्येयेर्प्रहणानुगुणैस्तथा । ध्वनिप्रकाश्चिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते ॥

वाक्यपदीय, १।८४

इस प्रकार व्यङ्गय अर्थ के व्यञ्जक शब्द-अर्थ मी प्रस्तुत काव्य-सिद्धान्त में 'ध्वनि' शब्द से अभिहित हैं।

फिर ऐसा होता है कि वर्णों के परिमित होने से अल्पतर यत्न से उच्चारित शब्द को जब बुद्धि नहीं ग्रहण कर पाता, उस स्थिति में वक्ता का जो प्रसिद्ध उच्चारण-व्यापार से अधिक द्रुत, विल्डस्वित आदि वृत्तियों का भेदरूप व्यापार है उसे भा ध्वनि कहते हैं—

भाट्यस्योध्वमभिन्यक्तेर्नुसिभेदे तु वैकृताः। ध्वनयः समुपोहन्ते स्फोटात्मा तैर्न भिद्यते॥ वाक्यपदीय, १।७८

कहा ज। चुका है कि ये वृत्तियां वैकृत ध्विन में होती हैं और उर्चारण-व्यापार से ये अतिरिक्त व्यापार हैं। इसी आधार पर प्रस्तुत में ध्विनकार ने प्रसिद्ध अभिथा, तात्पर्य और लक्षणा व्यापारों से अतिरिक्त व्यक्षना व्यापार को मो 'ध्विन' कहा हैं।

और न्यङ्गय अर्थ, न्यञ्जक शब्द और अर्थ, न्यञ्जना-न्यापार ये चार ध्वनि हैं तो इनके योग से समुदायरूप कान्य भी 'ध्वनि' पदवाच्य होता है।

वाच्यार्थ और व्यङ्गचार्थ का अन्तर

ध्वनिकार ने स्वयं वाच्यार्थ और व्यङ्गयार्थ का अन्तर स्पष्ट करते हुए जिन भेदों का निर्देश किया है वे क्रमशः इस प्रकार हैं—

स्वरूपभेद—इसके कारण जो वाच्य और व्यङ्गय का भेद है वह यह है कि कहीं वाच्य विधिरूप है तो व्यङ्गय निषेधरूप (उदाहरण, पृ० ५२); कहीं वाच्य प्रतिषेधरूप है तो व्यङ्गय विधिरूप (पृ० ७१) इत्यादि । विधि और प्रतिषेध के भिन्न होने में किसको संशय हो सकता है ?

विषयभेद—वाच्य अर्थ का विषय एक व्यक्ति होता है तो व्यङ्ग्य अर्थ का विषय उससे मिन्न व्यक्ति (उदा० पृ० ७६)।

भिश्वसामग्रीवेद्यस्व (निमित्तमेद)—वाच्य अर्थ को शब्द-अर्थ के नियमों के ज्ञानमात्र से, कोश-व्याकरणादि के परिचय रखने मात्र से प्रत्येक व्यक्ति जान सकता है और व्यक्तयार्थ को काव्यार्थ के तत्त्वज्ञ हो, अर्थात् सहृदयजन हो जान सकते हैं।

इनके अतिरिक्त 'काव्यप्रकाश' के पश्चम उल्लास में आचार्य मम्मट ने अनेक कारणों का इस सन्दर्भ में निदंश किया है, जैसे—

संख्याभेद-वाच्य सभी व्यक्तियों के प्रति एकरूप होने से नियत है। किन्तु व्यक्त्य अर्थ नानाविध होता है, अतः अनियत है।

कालभेद-ाहले वाच्य अर्थ अवगत होता है पश्चात् व्यक्त्य अर्थ।

आश्रय—वाच्य शब्द पर आश्रित है, व्यङ्गय शब्द, शब्द के एकदेश, उसके अर्थ, वर्ण, संघटना पर आश्रित है। कार्यभेद--वाच्य का कार्य प्रतीतिमात्र होता है और व्यङ्गय का कार्य चमत्कृति है। इन सभी पार्थक्य के हेतुओं को एक कारिका में साहित्य-दर्पणकार ने संगृहीत कर दिया है-

> वोद्धस्वरूपसंख्यानिमित्तकार्यंप्रतीतिकालानाम् । आश्रयविषयादीनां भेदाद् भिन्नोऽभिधीयते न्यङ्गदः॥

यहाँ तक इस ध्वन्यालोक के मुख्य प्रतिपाद्य ध्वनि तत्त्व से सम्बद्ध अनेक तथ्यों से अवगत हो गए। साथ हो ध्वनि, जो स्वरूपतः काव्य में प्रतीयमान या व्यक्त्य अर्थ के प्राधान्य की स्थिति में माना जाता है, हमने यह भी देखा, कि वह केवल वाच्य की कश्या से आगे नहीं, वरन्, तात्पर्य, लक्ष्य को कश्याओं से भो आगे चतुर्थ कश्या में रहने वाले व्यक्त्य अर्थ में सम्पन्न होता है। लोचन में बड़े विस्तार से व्यक्त्य अर्थ की चतुर्थकश्यानिविष्टता पर आचार्य अभिनवगुप्त ने विचार किया है। व्यक्त्य अर्थ के विरोध में उपस्थित तात्पर्यवृत्ति, लक्षणा, अभिहिना-त्रयवादी, अन्त्रितामिधानवादी और मद्दनायक के मत का खण्डन तर्कपूर्ण ढंग से किया है (पृ० ५४-७०)।

हम ऊपर निर्देश कर चुके हैं कि ध्वनिकार ने रस को अलङ्कार के संकीर्ण क्षेत्र से वाहर निकाल कर मुख्यतः काव्य के आत्मा के योग्य आसन पर प्रतिष्ठित किया। किन्तु रसमात्र के प्रहण से काव्य की उत्तमता का सर्वाङ्गीण संस्पर्श नहीं हो पाता था, क्योंकि ऐसे भी पद्य मिलने हैं जो रस से कुछ न्यून ही सही, अतिशय चमत्कार उत्पन्न करते हैं, इस दृष्टि से आचार्य आनन्द-वर्षन ने ध्वनि के रूप में उन्हें भी संगृहीत किया जिनमें वस्तु और अलङ्कार प्राथान्यतः प्रतीयमान या व्यङ्गय होते हैं। और साथ हो, इन ध्वनियों में भी रस-चमत्कार को ही आचार्य ने पार्यन्तिकता दी। इस प्रकार एक और रस अनिवार्य भी रह गया और दूसरी ओर अपनी साधारण स्थिति में काव्य की उत्कृष्टता का वाथक भी नहीं हुआ। भारतीय साहित्य-शास्त्र में रस को इस प्रकार विस्तृत मूमि देने का समय रूप से एकमात्र श्रेय ध्वनिकार आनन्दवर्षन को है।

रस के चमत्कार को ध्वनिकार काव्य की सर्वोत्कृष्ट भूमि मानते हैं, उनके अनुसार क्रींच के जोड़े के वियोग से उत्पन्न वाल्मीकि का 'शोक' जो 'श्लोक' वन गया वह दुःख की भूमि नहीं दरन् आनन्द को अलोकिक भूमि है, 'मा निपाद' को पड़कर सहृदय का मन रस की अलोकिक चर्चगा करने लगता है।

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा। कोखदुन्द्रवियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥ १।५

ध्वनि के सम्बन्ध में विरुद्ध आपत्तियां

यद्यापे ध्वनिकार स्वयं को ध्वनिसिद्धान्त का पुरस्कर्ता नहीं कहते, बल्कि उनके अनुसार बुधजनों ने जिस ध्वनि को काव्य के आत्मा रूप में पहले से समाम्नात (समान्नातपूर्वः, सन्यग् आ समन्तात् ग्नातः प्रकटितः) किया है वह सह्दय जनों के मन की प्रांति के लिए उसके लक्षण का निरूपण करते हैं। इससे यह लक्षित होता है कि ध्वनि का सिद्धान्त ध्वनिकार से पहले मो प्रचलित था, हां उसे पुस्तक रूप देने का प्रयास सर्वप्रथम ध्वनिकार द्वारा हुआ। जैसा कि लोचन में स्पष्ट निर्देश मां किया है—'बुधस्यकस्य प्रामादिकमि तथाऽभिधानं स्थात्, न तु भूयसां तद् युक्तन्।

तेन बुधैरिति बहुवचनम् । तदेव व्याचष्टे-परम्परयेति । अविच्छिन्नेन प्रवाहेण तैरेतदक्तं विनाडिप विशिष्टपुस्तकेषु विनिवेशनादित्यभिप्रायः ।' (पृ० ११) इससे सम्भावित किया जा सकता है कि जब ध्वनिकार से पूर्व ध्वनि की मौखिक रूप में स्थिति थी तब उसका विरोध भी अवस्य रहा होगा । जैसा कि ध्वनिकार के समानकालिक मनोरथ कवि का ध्वनि-विरोधी क्लोक भी (पृ० २९) प्राप्त होता है। ध्वनिकार ने प्रथम कारिका में ध्वनि के विरोध में प्रचिलत तीन विमितियों का निर्देश किया है-अभाववाद, भाक्तवाद और अनिर्वचनीयतावाद। अभाववाद सर्वथा सम्भावना पर आधारित है, अर्थात ध्वनिकार ने ध्वनि के सम्बन्ध में अभाववादियों की सम्भावना करके इसका निर्देश किया है। दूसरा भाक्तवाद प्राचीन ग्रन्थों में वर्णित है, यद्यपि किसी प्राचीन आचार्य ने ध्वनि को मान कर भक्ति या लक्षणा का अवलम्बन नहीं किया है, फिर भी काव्य में अमुख्य दृष्टि से व्यवहार का निर्देश किया है। तीसरा अनिर्वचनीयताबाद एक रूप से ध्वनि की स्वीकृति ही है, इसलिए यह कोई प्रवल विरोधी वाद नहीं कहा जा सकता। ध्वन्यालीक में प्रथम अभाववाद को तीन रूपों में विभक्त किया है, तदनुसार अभाववादियों के प्रथम पक्ष का कहना है कि शब्द-अर्थ रूप कान्य के चारुत्वाधायक अनुप्रास-उपमा आदि अरुद्धार और माधुर्थ आदि गुण तथा इन गुणों से अभिन्न वृत्तियां एवं रीतियां प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त ध्वनि कुछ भी नहीं है। दूसरे पक्ष का कहना है कि यदि मान भी लिया जाय कि कोई ध्वनि है तो वह निर्दिष्ट प्रस्थानों में किसी रूप में अन्तर्गत है न कि इनसे सर्त्रथा भिन्न रूप। इसी कम में तृतीय अभाववादियों का कहना है यह स्वांकार करते हुए भी कि ध्वनि किसी निर्दिष्ट अलङ्कार या गुण आदि के अन्तर्गत नहीं है, तो क्यों नहीं ऐसा समझा जाय कि ध्वनि कोई ऐसा अलङ्कार आदि था जिस पर किसी का अब तक ध्यान नहीं गया । वारिवकरप अनन्त हैं, फिर किसी तत्त्व का अनिर्दिष्ट रह जाना कोई आश्चर्य का विषय नहीं। इस प्रकार तीनों अमाववादियों के अनुसार ध्वनि कोई मिन्न पदार्थ नहीं है।

भाक्तवाद में भक्ति या लक्षणा राज्य का अमुख्य व्यापार मानी जाती है। गुणवृत्ति भी इसे कहते हैं। ध्वनि को ये लोग लक्षणा या भक्ति से अभिन्न मानते हैं और ध्वन्यर्थ को लक्ष्यार्थ की कोटि में लाते हैं। ये दूसरे विरोधी ध्वनि के विरोधी नहीं, ध्वनि के लक्षण के विरोधी हैं। इनके अनुसार ध्वनि का लक्षण भक्ति या लक्षणा के लक्षण से भिन्न नहीं।

तृतीय विरोधों जो अनिर्वचनीयतावादी हैं उनके अनुसार ध्वनि कोई विरुक्षण पदार्थ है। ध्वनि की स्थापना करते हुए इन तीनों विरोधों का ध्वनिकार ने प्रवल तर्कों द्वारा युक्तिसङ्गत खण्डन प्रस्तुत किया है।

सबसे पहले ध्वनिकार ने प्रतीयमान व्यक्तथ अर्थ को वाच्य अर्थ में, अक्तनाओं में लावण्य की मांति, सहृदय जनों के लिये आनन्ददायक निर्देश किया, तत्पश्चात वह किस प्रकार वाच्य से मिन्न एवं उत्कृष्ट है इसका निर्देश स्वरूपभेद, विषयभेद आदि युक्तियों से किया। तब ध्वनि का लक्षण किया—

यत्रार्थः शब्दो चा तमर्थमुपसर्जनीवकृतस्वार्थौ । स्यञ्कः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति स्रिभिः कथितः ॥ १।१३ ए० १०२

जैसा कि अभाववादियों का कहना था कि जब ध्वनिं कमनीयता की दृष्टि से कोई अतिरिक्त नहीं तो वह उक्त अल्ड्यारों में ही अन्तर्भृत हो जाता है, इसके उत्तर में आनन्दवर्धन ने कहा कि

२ ध्व० भू०

•उक्त अलङ्कार तो वाच्य-वाचक मात्र पर आश्रित हैं और ध्विन व्यङ्गध व्यअकभाव पर, ऐसी स्थिति में कैसे अन्तर्भाव हो सकता है, साथ हो वे अलङ्कार आदि तो वाच्य और वाचक के चारुत्वहेतु होने के कारण उस ध्विन के अङ्गभृत हैं और यह अङ्गो है।

लक्ष्यार्थं को ध्वन्यर्थं मानने वाले माक्तवादियों का खण्डन करते हुए ध्वनिकार का पक्ष है कि जिस प्रकार वाच्यार्थं नियत होता है उस प्रकार लक्ष्यार्थं मां एक सीमा में होता है, जब कि ध्वन्यर्थं के लिए कोई नियमन अनिवार्यं नहीं। तात्प्र्यं यह कि लक्ष्यार्थं जब भी होगा वाच्यार्थं से सम्बद्ध होगा। गङ्गा का लक्ष्यार्थं तट अवश्य हो प्रवाहरूप वाच्यार्थं से सम्बद्ध होना चाहिए। इस प्रकार लक्ष्यार्थं भी एक होता है, जब कि व्यङ्गयार्थं अनेक भी हो सकता है। दूसरे यह कि (प्रयोजनवर्ता) लक्ष्यार्थं भी एक होता है, जब कि व्यङ्गयार्थं अनेक भी हो सकता है। दूसरे यह कि (प्रयोजनवर्ता) लक्ष्यार्थं में प्रयोजन का अंश सर्वथा व्यङ्गय ही होता है, यदि उसे भी लक्ष्य मान लिया जाय तो उसका प्रयोजन क्या होगा ? अनवस्था होगा। तोसरे यह कि रसादि किसी स्थिति में लक्ष्य नहीं हो सकते, क्योंकि मुख्यार्थं की वाथा में लक्ष्यणा होती है। रसादि वाच्यार्थं के अवगत होने के पश्चात मुख्यार्थं को अभाव में भी वाच्यार्थ से मिन्न रूप में व्यक्षित होने के कारण सर्वथा व्यङ्गय ही होते हैं, ऐसी स्थिति में सर्वथा लक्ष्य अर्थ से नहीं काम चल सकता। व्यङ्गय अर्थ और उसके लिए व्यङ्गना शक्ति अवश्य स्वीकार करनी होगी।

इस प्रकार ये तीन पक्ष ध्वनि के विरोध में ध्वन्यालोक में ही निर्दिष्ट हैं। किन्तु ध्वन्यालोक के निर्माग के पश्चाद भो उसका प्रवल विरोध हुआ। फिर भी आचार्य आनन्दवर्धन का प्रभाव परवर्ती शास्त्रोय विचारधारा पर अप्रतिहत रूप से लक्षित होता है, यह उनको स्थापनाओं की सर्वोङ्गपूर्णता का ही ज्वलन्त प्रमाण है। आगे हम ध्वनि के विरोधी आचार्यों की चर्चा करेंगे।

ध्वन्यालोक: स्वरूपस्थिति

ध्वन्याछोक तीन मार्गो में विभक्त है—कारिका, वृत्ति और उदाहरण। काव्यमाला प्रथम सं० के अनुसार कारिकाएँ १२६ हैं, किन्तु काशी चौखम्वा संस्करण के अनुसार उनकी व्यवस्थित संख्या ११६ है। कारिकाओं के व्याख्यान रूप में वृत्ति-भाग है जी गय में है, कहीं-कहीं वृत्ति में परिकर-श्लोक, संक्षेप-श्लोक, संग्रह-श्लोक मां हैं। उदाहरण माग पूर्ववर्ती कवियों के प्रन्थों से उद्धृत और आनन्दवर्धन के स्वनिर्मित प्रन्थों के पद्यों का है। सम्पूर्ण प्रन्थ चार उद्योतों में विभक्त है। प्रथम उद्योत की प्रथम कारिका मन्दाकान्ता में, चतुर्थ और पष्ट उपजाति में, त्रयोदश आर्या में हैं: तृतीय उद्योत में चार आर्याएँ हैं। इनके अतिरिक्त प्रथम तीन उद्योतों में श्लोक छन्द है। किन्तु चतुर्थ उद्योत का १७ कारिकाओं में अन्तिम तोन पद्य क्रमशः रथोद्धता, मालिनी और शिखरिणी-छन्दों में हैं।

अब भी मूल ध्वन्यालोक, उसकी कारिका और वृत्ति के शुद्ध पाठों के सम्बन्ध में विद्वानों में मतमेद बना हुआ है, जैसा कि प्रो॰ शिवप्रसाद भट्टाचार्थ ने चतुर्थ उद्योत की कारिकाओं को बाद का निर्माण बताया है तथा और अनेक अटकल लगाये हैं। कान्यमाला संस्करण के पृ॰ १४४ (अथवा १७८) पर वृत्ति ग्रन्थ में यह आर्या मुद्रित है—

'इति काव्यार्थविवेको योऽयं चेतश्चमस्कृतिविधायी । सूरिभिरतुस्तसारैरस्मदुपज्ञो न विस्मार्यः॥' इति । काज्यमाला संस्करण के मूलाधार तीन पाण्डुलिपियों में से दो में यह आयाँ नहीं है; जैसा कि वहाँ सम्यादकों का निर्देश है (इयमार्या क ख पुस्तकयोर्नास्ति) । म० म० काणे महाशय के अनुसार उन्हें प्राप्त अन्य पाँच पाण्डुलिपियों में यह आर्या नहीं है । इसलिए यह निश्चित ही Spurious है ।

ध्वन्यालोक का संक्षिप्त विपय-निर्देश

ध्वन्यालोक का लक्ष्य ध्वनि का सर्वाङ्गाणं प्रतिपादन एवं स्थापना है। प्रथम उद्योत में, ध्वनि के सम्बन्ध में तांन विमित्तियों की सम्मावना करके उनका निराकरण किया है। वाज्य अर्थ से प्रतीयमान का भेद और प्राधान्य प्रतिपादित करके ध्वनि कान्य का लक्षण प्रस्तुत किया गया है। दिताय उद्योत में, ध्वनि कान्य के भेदों का निरूपण है। इसा क्रम में असंलक्ष्यक्रमन्यङ्ग्य के रूप में रसादि ध्वनि को चर्चा को गई है। रसवदलङ्गार से रसध्वनि का भेद-निर्देश किया है एवं ग्रण और अलङ्गार का लक्षण प्रस्तुत किया है। रस के अनुसार गुणों को व्यवस्था की गई है। रस को इि से, विशेष रूप से श्वना में रूपक आदि अलङ्गारों के प्रहण और त्याग को समोक्षा उदाहरणों द्वारा को है। शब्दशक्तिमूलसंलक्ष्यक्रमन्यङ्गय के प्रसङ्ग,में विशेष कीर शब्दशक्तिमूल ध्वनि का भेद निर्देश किया है। विस्तार से ध्वनि के अन्य भेदों का सोदाहरण प्रतिपादन किया है।

नृताय उद्योत में ध्विन के दिताय उद्योत में व्यक्तय के प्रकार से रुक्षित भेदों का व्यक्षक के प्रकार से सोदाहरण निदंश किया है। अलक्ष्यकमन्यक्तय ध्विन का वर्ण, पद, पदावयव, वाक्य, सङ्घटना और प्रवन्थ में भो लक्षित होने का निर्देश किया है। सङ्घटना का इदक्रप-निरूपण और गुणों के साथ उसका सम्बन्ध विस्तार के साथ प्रस्तुत किया है। अवस्थक्रप्र अष्टक्ष्यक्रमन्यक्त्य ध्विन के नियोजन का प्रकार रसादि को व्यक्षकता के अनुसार बताया है। क्ष्या-इर्रोद के निर्माण में औनित्य के ध्यान को अनिर्वार्थता का निर्देश करते हुए औचित्यवन्ध का रस का उपनिषद कहा है और अनीचित्य का रसभक्त का प्रकार कारण बताया है। फिर रस के विशेषियों का परिहार बताया है। मोमांसक के साथ वाक्य के व्यक्षकत्व को लेकर विचार, व्यक्षकत्व एवं योणत्व का स्वरूपतः और विषयतः भेद, व्यक्षय और व्यक्षक का स्वरूप-विवेक आदि विषयों का विस्तार से चर्चा है।

पुनः, कान्य के दूसरे प्रकार गुणोभूतन्यङ्गय का स्वरूप-निर्देश करते हैं। ध्वनि में ज्यङ्गय की स्थिति प्रायान्यतः होतो है और द्वितीय भेद में गुणीभावतः। इनके अतिरिक्त कान्य का तृतीय भेद है, जो चित्र कहलाता है।

चतुर्थं उद्योत में, प्रतिभा के आनन्त्य का विस्तार से निरूपण है। ध्वनि के भेदों के आधार पर प्रतिभावान् कवि प्राचीन अर्थ भाव, उक्ति आदि में नवीन चमत्कार उत्पन्न कर संकत्ता है। इस प्रकार आचार्य ने काव्यक्षेत्र को अनन्तता निर्दिष्ट की है।

आनन्दवर्धनाचार्य

ध्वन्यालोककार आचार्य आनन्दवर्धन का समय वहुत कुछ निर्धारित है। 'राजतरिक्विगो' में कल्हण ने अवन्तिवर्मा के साम्राज्य में प्रसिद्ध होने वाले कवि के रूप में उनका उज्लेख किया है—

> मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरागन्दवर्धनः। प्रथां रक्षाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः॥ ५।३४

बृह्लर और जैकोवी के अनुसार अवन्तिवर्मा का राज्यकाल ८५५-८८३ ई० था। अब कुछ विद्वानों ने अवन्तिवर्मा के पुत्र शङ्करवर्मा (८८३-९०२ ई०) के साथ मी आनन्दवर्धन की समसामयिकता सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। क्योंकि आनन्दवर्धन के जीवनकाल का ठोंक सङ्केत प्राप्त नहीं। वह तो अवन्तिवर्मा के राज्यकाल के आधार पर निश्चित होता है। किव के रूप में आनन्दवर्धन ने प्रसिद्ध अवन्तिवर्मा के राज्यकाल में प्राप्त की थी। और जब उन्होंने ध्वन्यालोक का निर्माण किया तब निश्चित हो वह प्रौढ़ एवं वयःप्राप्त हो चुके होंगे, क्योंकि उन्होंने अपने सभो कान्द-निर्माणों का उछिल 'ध्वन्यालोक' में किया है। इसलिए उनका शङ्करवर्मा के काल में भी विद्यमान रहना युक्तिसङ्गत है। और भी, जैसा कि आनन्दवर्धन ने राजा यशोवर्मा द्वारा रचित 'रामाम्युदय' नाटक का उछिल एवं उसके एक पद्य 'झतककुिरतेः' का उछिल किया है (पृ० ३३३), और यशोवर्मा को विद्वानों ने शङ्करवर्मा से अभिन्न माना है। न्यायमञ्जरों के रचियता मट्टजयन्त शङ्करवर्मा के समसामयिक थे। जयन्तमट्ट ने आनन्दवर्धन के ध्वनिसिद्धान्त का खण्डन 'न्यायमञ्जरो' में किया है—

एतेन शब्दसामर्थ्यमहिन्ना सोऽपि वारितः। यमन्यः पण्डितस्मन्यः प्रपेदे कञ्चन ध्वनिम् ॥ विधेनिषेधावगतिर्विधिबुद्धिनिषेधतः ।

यथा-

अस धिम्मअ वीसत्थो सा स्म पान्थ गृहं विश्व । मानान्तरपरिच्छेष्णवस्तुरूपोपदेशिनास् ॥ शब्दानामेव सामर्थ्यं तत्र तत्र तथा तथा। अथवा नेदशी चर्चा कविभिः सह शोसते। विद्वांसोऽपि विसुद्धान्ति वाक्यार्थगहनेऽध्वनि॥ ए० ४५

यह सम्भव है कि आनन्दवर्धन जयन्त के पहले, किन्तु समकालिक थे और साथ ही शङ्करवर्मा के भी समकालिक थे। इस प्रकार आनन्दवर्धन का समय ९०२ ई० माना जा सकता है (दे० ध्व० प्रथम उद्योत, विष्णुपद मट्टाचार्य की भूमिका)।

और भी, ध्वन्यालोक में उद्भट का उल्लेख है जिनका समय ८०० ई० माना जाता है, तथा आनन्दवर्धन का राजशेखर (लगभग ९००-९२५) ने उल्लेख किया है। इस प्रकार उनके साहित्यिक निर्माणों का समय ८६०-८९० ई० के बीच होना चाहिए (दे० म० म० काणे, History of Sanskrit poetics तृ० सं०, पृ० २०२)

आनन्तवर्धन के वंश के सम्बन्ध में कुछ भी विदित नहीं है। केवल 'देवीशतक' के अन्त में उद्घेख है कि वह 'नोण' के पुत्र थे, वह स्वयं लिखते हैं—

वेच्या स्वमोद्रमाविष्टदेवीशतकसंज्ञ्या।

देशितानुसमामाधादतो नोणसुतो नुतिम् ॥ का० मा० नवम : निर्णय सा०

'देवीशतक' की रचना उन्होंने 'विषमवाणलीला' और 'अर्जुनचरित' के बाद में की थी, जैसा कि इस पद्य से विदित होता है— येनानन्द्कथायां त्रिदशानन्दे च लालिता वाणी। तेन सुदुष्करमेतत् स्तोत्रं देग्याः कृतं भक्त्या॥

'कान्यानुशासनिविवेक' में हेमचन्द्र ने भी आनन्दवर्धन के 'देवीशतक' का उद्धरण देते हुए उन्हें 'नोणसुत' कहा है (पृ० २२५)। श्रो विष्णुपद मट्टाचार्य के अनुसार 'India office Library' की पाण्डुलिपि को तृतीय उद्योत के अन्त की पुष्पिका में आनन्दवर्धन के पिता नोण या नाणोपाध्याय प्रमाणित होते हैं, और चतुर्थ उद्योत की भूमिका में 'जोणोपाध्याय' नाम मिलता है।

आनन्दवर्धन के ग्रन्थ—देवीशतक, विषमवाणलोला, अर्जुनचरित ये तीन कान्यग्रन्थ हैं। अन्तिम दो का उल्लेख 'ध्वन्यालोक' में मिलता है (२।१, २।२७; पृ० ३८८)। देवीशतक के अन्तिम उपर्युक्त स्रोक के न्याख्यान में कैयट ने भी आनन्दवर्धन की विषमवाणलोला और अर्जुनचिरत, दोनों कृतियों का निर्देश किया है। तथा पीटर्सन की दितीय रिपोर्ट के अनुसार, जैसा कि श्री विष्णुपद मद्दाचार्थ ने लिखा है, 'सारसमुचय' नामक ग्रन्थ में आनन्दवर्धन की 'विषमवाणलोला' का उल्लेख है।

आनन्दवर्धन के दार्शनिक निर्माणों का सद्भेत वृत्तिग्रन्थ एवं उस पर लोचन से मिलता है। जैसा कि आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि की अनिर्वचनोयता मानने वालों (केचिद् वाचां स्थितम-विषये तत्त्वमूचुस्तदीयं') को उत्तर देते हुए लिखा है—'यत्तु अनिदेंश्यत्वं सर्वळक्षणविषयं बौद्धानां प्रसिद्धं तत्तन्मतपरीक्षायां अन्थान्तरे निरूपयिष्यामः' (१० ५५५)। इस पर छोचनकार छिस्ते हैं-- प्रन्थान्तर इति विनिश्चयटीकायां धर्मोत्तर्या या वृत्तिरमुना अन्यकृता कृता तत्रैव तकाख्यातम् । इससे निश्चित होता है कि आचार्य ने वौद्धदार्शनिक आचार्य धर्मोत्तर की 'विनिश्चयटीका' पर 'वृत्ति' रूप से व्याख्यान प्रस्तुत किया था। 'प्रमाणविनिश्चय' आचार्य धर्मकीर्ति द्वारा लिखित बौद्धन्याय का एक प्रन्थ है, और आचार्य धर्मोत्तर ने उस पर 'प्रमाणविनिश्वयटीका' लिखी थी। आचार्य थर्मोत्तर का समय म० म० सतीशचन्द्र विद्याभूषण के अनुसार ४४७ ई० है। आचार्य धर्मकीर्ति का उल्लेख ध्वन्यालोक में मिलता है—'लावण्यद्रविणव्ययो न गणितः तथा चायं धर्मकीर्तेः स्रोक इति प्रसिद्धिः । सम्भाव्यते च तस्यैव । यस्मात् अनध्यवसितावगाह्न० (पृ० ५२१)। इसके अतिरिक्त, जैसा कि आचार्य अभिनवग्रप्त ने निर्देश किया है, आनन्दवर्धन का एक और दार्शनिक प्रन्थ 'तत्त्वालोक' था, जो अद्देतसिद्धान्तसम्बन्धी निर्माण लगता है—'तदुत्तीर्णत्वे तु सर्व परमेश्वराद्वयं ब्रह्मेत्यस्मच्छास्नकारेण न न विदितं तत्त्वालोकग्रन्थं विरचयतेत्यास्ताम् । (पृ० ६७); 'एतच ग्रन्थ-कारेण तत्त्वालोके वितत्योक्तिमह त्वस्य न मुख्योऽवसर इति नास्माभिर्दर्शितम् (पृ० ५३३)। इस प्रकार यह अत्यन्त विलक्षण बात है कि हमारे आचार्य कवि-आलोचक के साथ प्रथम श्रेणी के दार्शनिक भी थे। यह बात स्वयं उनके इस पद्य से भी पूर्णतः प्रमाणित होती है-

यथा ममैव-

'या व्यापारवती रसान् रसिवतुं काचित्कवीनां नवा, दृष्टियां परिनिष्ठितार्थविषयोन्मेषा च वैपश्चिती। ते द्वे अप्यवलम्बय विश्वमनिशं निर्वर्णयन्तो वयं आन्ता नैव च लब्बमब्धिशयन, स्वक्रकितुष्यं सुखस् ॥ ए० ५४१

लोचनकार आचार्य अभिनवगुप्त

जिस अभिनवगुप्त को यहाँ हम चर्चा करने जा रहे हैं उन्हें माधवाचार्य के 'शक्कर-दिग्विजय' में निर्दिष्ट किसी शक्त भाष्यकार अभिनवगुप्त नामक व्यक्ति से भिन्न समझना चाहिए, जिनका शास्त्रार्थ शक्कराचार्य से हुआ था और वह पराजित हुए थे। वह कामरूप (आसाम-) के निवासी थे। हमारे छोचनकार एवं अभिनवभारतांकार आचार्य अभिनवगुप्त काश्मारनिवासी तथा शैव थे।

विद्वानों ने अनेक प्रेमाणिक परिशोलनों के पश्चात् कारमारा आचार्य अभिनवग्रप्त का काल १५० ई० से लेकर १०२५ ई० तक निश्चित किया है। कहा जाता है कि 'अभिनवग्रप्त' नाम उनका ग्रुरुओं का दिया हुआ है, अपना नाम कुछ और हो था। इस सम्बन्ध में कुछ आख्यान मां बताये जाते हैं। आचार्य मम्मट ने इन्हें 'श्रीमदाचार्याभिनवग्रप्तपादाः' कहा है। इस पर काव्यप्रकाश को ,वाल्बोधिनो' टांका में वामनाचार्य ने एक आख्यान मां दिया है (उस व्याख्यान का आधार कोई प्राप्त नहीं है)। यद्यपि यह बात बहुत कुछ मान्य है कि आचार्य का नाम 'अभिनवग्रप्त' उनके ग्रुरुओं द्वारा प्रदत्त होगा, जैसा कि वे 'तन्त्रालोक' में लिखते हैं—

"अभिनवगुप्तस्य कृतिः सेयं यस्योदिता गुरुभिराख्या ॥" १-१५०

ं दक्षिण-भारत के नृत्य-शास्त्रियों में 'ग्रप्तपाद' (सर्प) के आधार पर आचार्य को 'शेपावतार' समझा जाता है।

पूर्वं अ—अःचार्य अभिनवगुप्त से पूर्वज मूलतः काश्मीर के निवासी न थे। इनंसे जन्म से प्रायः २०० वर्ष पूर्व अर्थात अप्टम शताब्दी में कन्नीज से वहाँ गये थे। यशोवमा (७३०-७४०) अप्टम शताब्दी में कन्नीज का और जिल्लादित्य (७२५-७६१) काश्मीर का, समकालीन शांसक थे। जैसा कि 'राजतरिक्रणी' में वर्णन है, दोनों में युद्ध हुआ था और यशोवमां पराजित हुआ था। अन्तर्वेदीं (गक्का-यमुना के बीच के प्रदेश) के विद्वान् अत्रिगुप्त की विद्वत्ता से प्रभावित होकर लिल्लादित्य ने उन्हें काश्मीर में बसायां। अन्तर्वेदी के अन्तर्गत ही कन्नीज का राज्य था। व

फिर आचार्य अभिनवगुप्त ने अन्य पूर्वजों का निर्देश न कर अपने पितामह बराहगुप्त का उल्लेख किया है। बराहगुप्त के पुत्र एवं अभिनवगुप्त के पिता नृसिंहगुप्त थे, जिन्हें लोग 'चुखुलक' भी कहते थे। चाचा थे वामन गुप्त (इनका उल्लेख 'अभिनवभारती' में इनके रचित एक क्लोक के साथ किया है)। श्वेमगुप्त, उत्पलगुप्त, अभिनवगुप्त, चक्रकगुप्त और पद्मगुप्त ये चचेरे भाई थे।

गुरु—आनार्यं ने अपने विभिन्न शास्त्र के विभिन्न गुरुओं का स्मरण अतिशय श्रद्धापूर्वक अपने प्रन्थों में किया है। कुछ उनके प्रसिद्ध गुरुओं के नाम इसं प्रकार हैं—१. नृसिंहगुप्त (पिता, व्याकरणशास्त्र के गुरु), २. वोमनाथ (दैतादैत तन्त्र के गुरु), ३. भूतिराजतनय (दैतवादी शैव सम्प्रदाय के गुरु), ४. लक्ष्मणगुप्त (प्रत्यभिन्ना, क्रम तथा त्रिक दर्शन के गुरु), ५. भट्ट इन्दुराज (ध्वनि-सिद्धान्त के गुरु) ६. भृतिराज (ब्रह्मविद्या के गुरु), ७. भट्टतोत (नाट्यशास्त्र के गुरु)।

१. तदनन्तरमेष कामरूपाविधगत्याभिनवोपशस्यग्रसम्।

अजयत् किल द्याक्तभाष्यकारं सं च भग्नो मनसेदमालुळोचे ॥ 'शङ्करदिग्विजय' १५।१५८ २. अन्तर्वेद्यामत्रियुमाभिधानः आप्योत्पत्तिं प्राविद्यत् प्रारयजन्मा ।

श्रीकारमारांश्चन्द्रचूढावतार्रानिःसंख्याकैः पावितोपान्तमागान् ॥ परात्रिशिका विवरण, २८०

मट्ट इन्दुराज आचार्य अभिनवगुप्त के कान्यदास्त्रीय गुरु थे। सम्भवतः आचार्य को इन्होंने ध्वन्यालोक पढ़ाया था और उन्हें अपने थिचारों से अवगत किया था। आचार्य ने इनकी अनेक रचनाएँ उद्भृत की हैं और 'लोचन' के आरम्भ में इन्हें सादर स्मरण किया है। आचार्य के अनुसार ये 'विडल्किविसहृदयचक्रवर्तों' थे। बृह्लर महाशय की कादमीर-रिपोर्ट के अनुसार मगवद्गीता की अपनी न्याख्या में अभिनवगुत ने भट्ट इन्दुराज को कात्यायन गोत्र से सम्बद्ध, सौचुक का पौत्र तथा भूतिराज का पुत्र कहा है। लोचन में 'ध्वनिरत्न इलोकेऽस्मद्गुक्भिन्यांख्यातः'; 'इत्याश्योऽत्र प्रन्थेऽस्मद्गुक्भिन्किशितः'; 'अस्मद्गुरवस्त्वाहुः' आदि निर्देशों से विद्वानों का अनुमान है कि आचार्य के गुरु ने कोई ध्वन्यालंक पर व्याख्यान ही लिखा होगा।

कुछ विद्वानों ने उद्भट के व्याख्याता प्रतीहारेन्दुराज से इन भट्ट इन्दुराज को अभिन्न समझा है।
महामहोपाध्याय काणे महाशय ने इसका खण्डन करते हुए कहा है कि एक तो प्रतीहारेन्दुराज ने
ध्वनि-सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया है, जब कि भट्टेन्दुराज ध्वनि-सिद्धान्त के व्याख्याता के रूप
में 'लोचन' में निर्दिष्ट हैं। दूसरे अपने गुरु भट्ट इन्दुराज के छिए अभिनवग्रप्त ने कहीं भी 'प्रतीहार'
की उपाधि का प्रयोग नहीं किया है। प्रतीहारेन्दुराज के गुरु मुकुल (, 'अभिधावृत्तिग्रात्का' के
रचिता) थे। अभिनव ने अपने गुरु के गुरु उत्पलदेव की चर्चा की है किन्तु, मुकुल की नहीं की।
और भी, प्रतीहारेन्दुराज को टीका में उनका रचित एक इलोक भी नहीं है, जबिक 'लोचन' में
उनके अनेक इलोक उदध्त हैं। 'अभिनवभारती' में अभिनवग्रप्त ने भट्ट इन्दुराज की गणना
वाल्मीकि, व्यास और कालिदास के नामों के साथ की है (भाग २, ५० २०३)। इस प्रकार प्रतीहारेन्दुराज कोई मात्र आलोचक ही सिद्ध होते हैं, किन नहीं।

आचार्य के दूसरे और एक साहित्यिक गुरु थं भट्ट तौत, जिनसे उन्होंने नाट्यशास्त्र का अध्ययन किया था। 'लोचन' के उल्लेख के अनुसार भट्ट तौत ने 'काज़्यकोतुक' नाम का प्रन्थ लिखा था तथा उस पर व्याख्यान 'विवरण' नाम से आचार्य अभिनवगुप्त ने प्रस्तुत ।कंया था—

'स चायमस्मदुपाध्यायभद्दतौतेन कान्यकौतु हे, अस्माभिश्च तद्विवरणे बहुतरकृत-निर्णयपूर्वपद्यसिद्धान्त दृश्यलं बहुना ।' ए० ४३४

'लोचन' में भट्टतीत के नाम से यह दलोकार्थ भी उद्धृत हैं—

'नायकस्य कवेः कर्तुः समानोऽनुभवस्ततः ।' पृ० ९२

'अभिनवभारती' के अन्त में आचार्य कहते हैं-

'द्विजवरतोतनिरूपित-सन्ध्यध्यायार्थतस्वघटनेयम् । अभिनवगुसेन कृता शिवचरणाम्मोजमधुपेन'॥

जीवन—आचार्य अभिवनगुप्त, जैसा कि जयरथ ने 'तन्त्रालोक' की टीका में निर्देश किया है, अपने माता-पिता के 'योगिनोभू' पुत्र थे। बाल्यकाल में माता के गत हो जाने, फिर पितृ-वियोग से आचार्य का जांबन अतिशय नारस हो गया और फलतः वे दार्शनिक हो गए।

यह एक बहुत बड़े साथक थे और काश्मीर की किंवदन्ती के अनुसार श्रीनगर और गुंलमर्ग के बीच मगम नाम के स्थान से पांच मांल की दूरी पर स्थित 'भैरवगुफा' में साथना करते थे। सम्भवतः उन्होंने अन्तिम श्रास भी वहीं ली।

आचार्य अभिनवगुप्त के जीवन, ग्रन्थ आदि विषयों पर विस्तृत मौलिक अनुसन्धान के लिए आकलनीय है डा॰ कान्तिचन्द्र पाण्डेय का अंग्रेजी में लिखा—'अभिनवगुप्त' (चीखम्वा प्रकाशन)

'छोचन'—'ध्वन्यालोक' पर आचार्य अभिनवगुप्त की यह टीका इसी नाम से प्रसिद्ध है, किन्तु विभिन्न पाण्डुलिपियों में इसे सहदयालोकलोचन और कान्यालोकलोचन मो कहा है। आचार्य को परवर्ती प्रन्थकारों ने 'लोचनकार' के नाम से स्मरण किया है, स्वयं आचार्य ने 'लोचन' नाम की सार्यकता इन शब्दों में निर्दिष्ट को हैं—

किं लोचनं विनाऽऽलोको साति चिन्द्रकयाऽपि हि । तेनाभिनवगुसोऽत्र लोचनोन्सीलनं व्यथात्॥ पृ० १७१

साहित्यशास्त्र में 'लोचन' व्याख्यान का स्थान 'महामाष्य' के सदृश हैं।

'लोचन' से पूर्व 'ध्वन्यालोक' पर 'चिन्द्रका' नाम की न्याख्या लिखां गई थी, जैसा कि ऊपर उद्धृत रहोक में आचार्य ने उसका संकेत किया है—माति चिन्द्रिकयाऽपि हि। उन चिन्द्रिकाकार का उल्लेख 'लोचन' में अनेक स्थलों पर है (पृ० ४३४; ४५१)। चिन्द्रिकाकार सम्भवतः अभिनवगुप्त के ही कोई सम्बन्धो थे। 'इत्यलं पूर्ववंदयैः सह विवादेन' कहते हुए कई स्थलों पर लोचनकार ने अपने पूर्व के किसी टोकाकार को बालोचना भो की है। महिममट्ट ने भो 'व्यक्तिविवेक' में चिन्द्रका' न्याख्या की सूचना दो है—

ध्वनिवर्स्सन्यतिगहने स्बल्धितं वाण्याः पदे पदे सुल्प्रस्य । रमसेन यस्त्रसृत्ता प्रकाशकं चन्द्रिकाधद्रष्ट्वेच ॥ 'चन्द्रिका' ईसा को ९००-९५० शतो में लिखां गई होगी ।

कारिकाकार और वृत्तिकार

ष्वन्यालोक का कारिकाभाग और वृत्तिभाग भिन्न कर्ताओं द्वारा रचित हैं अथवा दोनों एक कर्ता के निर्माण हैं, इस सम्बन्ध में आधुनिक विद्वानों का वहुत पहले से तीव मतभेद है। इस समस्या का श्रोगणेश डॉ॰ वृहलर ने 'कश्मीर रिपोर्ट' में इन शब्दों में किया था—

"From अभिनवगुप्त's tikā it appears that verses (कारिका) are the composition of Some older writer, whose name is not given. But it is remarkable that they contain no मङ्गलाचरण" (पृ०६५, श्रो विष्णुपद भट्टाचार्य के ध्व० पर introduction से उद्ध्त)।

तत्पश्चात ध्वन्यालोक के काल्यमाला संस्करण (निर्णयसागर प्रेस, वम्बई) के सम्पादकों (श्री पं० दुर्गाप्रसाद आदि) ने भी अपने वक्तत्व्य में कारिकाभाग का नाम 'ध्वनि' और दृत्तिभाग का नाम 'आलोक' मानते हुए दोनों प्रन्थों को आचार्य अभिनवगुप्त के 'लोचन' के उल्लेखों के आधार पर भिन्नकर्तृक ही स्वीकार किया है। फिर महामहोपाध्याय (अब भारतरत्न) श्री पी० वी० काणे महाशय ने अपने सुप्रसिद्ध अलङ्कार-साहित्य के इतिहास में भिन्नकर्तृकत्व की समस्या उठाई है और अनेक अन्तर्वाद्ध प्रमाणों के आधार पर भिन्नकर्तृकत्व के पक्ष का स्थापन किया है। इनिल्कुमार हे महाक्षय ने भी अपने अलङ्कार-साहित्य के इतिहास में कारिका भाग को

किसी प्राचोन लेखक का निर्माण माना है, जिसकी वृत्ति आनन्दवर्धनाचार्य द्वारा लिखी गई है। और भा, जिन विद्वानों ने कारिका और वृत्ति भागों का भिन्नकर्तृकत्व माना है उनमें प्रसिद्ध हैं— श्रां सोवानी (Sovani) प्रो० शिव प्रसाद भट्टाचार्य, श्रां के० गोडा वर्मा आदि।

इसके विपरांत, दोनों भागों को अभिन्नकर्तृक मानने वाले विद्वानों का एक प्रवल दल भी हुआ, जिसमें प्रसिद्ध हैं—स्व० म० म० कुप्पुस्वामी शास्त्री, डॉ० सातकरी मुकर्जी, डॉ० शङ्करन्, डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय, डॉ० कृष्णमूर्ति और प्रो० मनकद आदि ।

जैसा कि जपर डॉ॰ वृह्लर और कान्यमाला सं॰ के सम्पादकों का निर्देश किया गया है, इस समस्या का मूल कारण है आचार्य अभिनवगुप्त का 'ध्वन्यालोक' पर 'लोचन' व्याख्यान, जिसमें अनेक स्थलों में कारिकाकार (कृत्) और वृत्तिकार (ँकृत्) को भिन्न रूप में निर्देश किया गया है और साथ ही वृत्तिग्रन्थ के रचयिता को 'ग्रंथकार' और कारिकाग्रन्थ के रचयिता को मूलग्रन्थकार (ँकृत्) तथा कारिकाग्रन्थ को 'मूलकारिका' कहा गया है।

म॰ म॰ काणे महाशय ने अपने 'History of Sanskrit Poetics' (तृतीय सं॰ पृ॰ १६५) में 'लोचन' टीका के महत्त्वपूर्ण स्थलों को, जिनसे कारिकाकार और वृत्तिकार का भेद अतीत होता है, इस कम से उद्धृत किया है—

- १. 'अत एव मूळकारिका साधात्तिधराकरणार्था व श्रूयते । वृत्तिकृतु निराकृतमिप प्रमेयशय्यापूरणाय कण्ठेन तस्पद्धमनूख निराकरोति—येऽपीत्यादिना ।...तत्र (तेनात्र) प्रथमोद्योते ध्वनेः सामान्यळद्धणमेव कारिकाकारेण कृतम् । द्वितीयोद्योते कारिकाकारो-ऽवान्तरिवभागं विशेषळद्धणं च विद्धद्वुवाद्युक्षेन मूळविभागं द्विविधं सूचितवान् । तद्याशयानुसारेण तु वृत्तिकृदन्नैयोद्योते मूळविभागमवोच्चर्ं। १० १७०
- २. 'न चैतन्ययोक्तस् , अपि तु कारिकाकाराभिप्रायेणेरयाष्ट् तन्नेति । भवति सूळतो द्विभेदरवं कारिकाकारस्यापि सम्मतमेवेति भावः ।' ए० १७३

(इस सं॰ में काशो चौखम्बा सं॰ के अनुसार 'न चैतन्मयोत्सूत्रमुक्तम्' पाठ है।)

- ३. 'उक्तमेव ध्वनिस्वरूपं तदाभासविवेकहेतुतया कारिकाकारोऽनुवद्तीस्यभिप्रायेण वृत्तिकृदुपस्कारं ददाति ।' पृ० ३०९
- ४. 'एतत्तावित्त्रभेदस्वं न कारिकाकारेण कृतम् । वृत्तिकारेण तु दर्शितम् । न चेदानीं वृत्तिकारो भेदमकटनं करोति । ततश्चेदं कृतमिदं क्रियत इति कर्तृभेदे कासङ्गतिः १' ए० ३१२
- ५. 'कारिकाकारेण पूर्वं व्यतिरेक उक्तः। नं च सर्वथा न कर्तव्योऽपि तु बीभस्सादौ कर्तव्य एवेति पश्चादन्वयः। वृत्तिकारेण स्वन्वयपूर्वको व्यतिरेक इति शैछीमनुसर्तुमन्वयः पूर्वमुपात्तः। १० ३२९
- ६. 'प्रतिपादितमेवैपामाल्डम्बनम्' ध्व० के इस कथन पर 'लोचन' का निर्देश है— 'अस्मन्मूलप्रम्थकृतेत्यर्थः ।' पृ० ३४०
- ७. 'एक्मादौ विषये यथौषित्यात्यागस्तथा दश्चितमेवाग्ने' इस ध्व० पर 'लोचन' का नश्यन है—'दर्शितमेवेति । कारिकाकारेणेति भूतप्रत्ययः ।' पृ० ३४७

८. 'यद्यप्यर्थानन्त्यमात्रे हेतुर्वृत्तिकारेणोक्तः; तथापि कारिकाकारेण नोक्तः इति. भावः ।' पृ० ५६५

इनके अतिरिक्त भी 'लोचन' में अनेक स्थल हैं, जिनमें 'वृत्तिकार' शब्द का उल्लेख है, किन्तु उनसे कारिकाकार और वृत्तिकार के भेद का विचार गतिशील नहीं होता, जितना कि इन उद्धरणों से होता है।

अपने पक्ष की पृष्टि में इन स्थलों को दोनों दल के पण्डितों ने अपने अनुसार लगाया है। प्रधान रूप से यहाँ भिन्नकर्तृकत्ववादियों में म० म० काणे के अनुसार तथा अभिन्नकर्तृकत्ववादियों में डॉ॰ सातकरी मुकर्जी के अनुसार हम विचार करेंगे।

डॉ॰ सातकरों मुकर्जों (भूतपूर्व अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय, वर्तमान में साइरेक्टर, नालन्दा पालि इन्स्टिच्यूट, विहारे) का लेख 'A dissertations on the identity of the author of the Dhvanyaloka' B. C. vol. I Part पृ० १७९ में प्रकाशित है (१९४५)। म॰ म॰ काणे के पक्षों का विशेषतः खण्डन करते हुए डॉ॰ मुकर्जी ने ध्वन्यालोक के कारिका और दृत्ति मांगों के अभिन्नकर्तृकत्व पक्ष का बड़ी दृहता में समर्थन किया है, यद्यपि वे अपने पक्ष के समर्थन में 'आग्रह' का अवलम्बन नहीं करते और न कि चाहते हैं कि यह प्रक्ष स्थित हो जाय (I do not think the question to be a closed one and I propose to record the results of my reflections which may serve to stress the need of re-consideration and re-assessment of the problem with all its relevent issues)। इसी प्रकार म॰ म॰ काणे भी अपने पक्ष के विपरात अभिन्नकर्तृकत्व के प्रमाणित हो जाने पर प्रसन्न होना चाहते हैं ('I should be glad if ultimately it be proved that the same person is the author of both Karikas and Vṛtti')। अस्त,

यह प्रथमतः निर्देश करना आवश्यक है कि सेदबादियों अर्थात कारिका और वृत्ति के मिन्नकर्नृकत्ववादियों के पक्ष के मूल में 'छोचन' के भेद-निर्देश के स्थल हैं और अभेदबादियों के पक्ष के
मूल में आनन्दबर्धन के परवर्ती ग्रन्थकारों के वक्तव्य हैं, जिनके अनुसार आवार्य आनन्दबर्धन हा
'खनिकार' हैं तथा कारिका और वृत्तिग्रन्थ के प्रणेता हैं। इस प्रकार 'छोचन' के जिस भेद-व्यवहार
को म० म० कागे मिन्नकर्त्वकत्व को सिद्धि का साधन समझते हैं उसे डॉ॰ मुकर्जा 'functional'
मानते हैं। 'छोचन' इस निर्णय में इसलिए सबसे अधिक. महत्त्व रखता है कि वह 'ध्वन्यालोक' के
निर्माण के १५० वर्ष पश्चात निर्मित हुआ है।

म॰ म॰ काणे ने सबसे पहले 'लोचर्न' के उन स्थलों की ओर ध्यान आकृष्ट किया है जिनमें वृत्तिकार को 'प्रन्थकृत' या 'प्रन्थकार' निर्देश किया नया है और कारिका के रचयिता के लिए. 'मूलप्रन्थकृत' (जपर निर्देश 'अस्मन्मूलप्रन्थकृत') कहा गया है।

ध्वन्यालोक की प्रथम कारिका की वृत्ति में लिखा है—'तथा चान्येन कृत एवात्र रलोकः— यस्मिन्नस्ति त वस्तु॰' इत्यादि । पृ॰ २७-२९

इस पर 'लोचन' का निर्देश है -- 'तथा चान्येनेति ।' अन्यकृत्समानकालभाविभाः मनी-रथनाम्ना कविना ।' जाकोबी महाशय ने कारिकाओं के लेखक ध्वनिकार को इस प्रमाण के आधार पर कटहण की 'राजतरिक्विणी' (४।४९७ और ६७१) के अनुसार कश्मीर के जयापीड़ और उसके उत्तराधिकारी छिलतापीड़ (७८०-८१३ ई०) के राज्यकाल में हुए मनोर्थ किन का समसामयिक माना है। 'राजतरिक्विणी' का क्षोंके इस प्रकार है—

> मनोरथः शङ्खदत्तश्चटकः सन्धिमांस्तथा। बभुद्धः कवयस्तस्य वामनाद्यश्च मन्त्रिणः॥ ४९७

यदि यह विचार मान लिया जाय तो आचार्य आनन्दवर्धन का, जिनका समय नवम शताच्दा के अन्तिम चरण में निश्चित माना गया है, मनोरथ का समकालीन होना असम्भव है। दूसरे यह कि अवन्तिवर्मा के समय आचार्य आनन्दवर्धन कवि के रूप में प्रसिद्ध थे, ध्वन्यालोक उनकी निश्चित रूप से अनेक कान्य-रचनाओं के पश्चात को कृति है, जैसा कि उसमें उद्धृत उनको कान्य-रचनाओं के नाम तथा क्षोकों से अवगत होता है। इस प्रकार कितना भी मनोर्थ का जोवनकाल अधिक होगा, आनन्दवर्धन के 'ध्वन्यालोक' के निर्माणकाल तक उसे पहुँचाना हास्यास्पद होगा। इस प्रकार जाकोवा महाझय और म० म० कागे के अनुसार वृत्तिकार आनन्दवर्धन के पूर्व किसी ध्वनिकार (मूळ कारिकाओं के रचियता) का होना प्रमाणित होता है । किन्तु ध्वन्यालोक' के 'मनोरथ' को जयापांड़ के समकालिक 'मनोरथ' से अभिन्न स्वीकार करने में कोई पुष्ट श्रमाण नहीं है, विल्क इसके विपरोत यह तथ्य उद्धृत किया गया है कि प्रायः 'लोचन' में वृत्तिकार को. 'प्रन्थकृत' या 'प्रन्थकार' भो कहा गया है (और कारिकाकार को मूल प्रन्थकार), इस स्थिति में जब लोचनकार 'प्रन्थकृत्समानकालभाविना मनोर्थनाम्ना कविना' लिखते हैं तब निश्चित ही उनका संकेत वृत्तिकार आनन्दवर्धन से है। इसका स्पष्टीकरण डॉ॰ सुर्शालकुमार डे ने अपने अलङ्कार-शास्त्र के इतिहास के अध्ययन में प्रस्तुत किया है। डॉ० डे के अनुसार इस कठिनाई. के निराकरण के लिए दो बातें मानना होंगी—१. कि कल्हण ने, जैसा कि पिशेल तर्क करते हैं, जयापीड़-ललितापीड़ के राज्यकाल में मनोरथ को निर्दिष्ट करते हुए गलती की है, अथवा २. कि अमिनवगुप्त ने कारिकाकार को वृत्तिकार के साथ गड़वड़ा दिया है। अस्तु, कंल्हण की मनोरथ के मूल किसी ध्वनिकार के समकालिक होने की कल्पना निश्चित रूप से प्रमाणित नहीं की जा सकी है। अतः इस आधार को दुढ़ नहीं कहा जा सकता।

हम जगर कह चुके हैं कि लोचनकार के भेदक उहें खों के आधार पर हो ध्वन्यालोक के कारिका भाग को भिन्नकर्तृक समझने का झगड़ा खड़ा हुआ और इसो आधार पर ही यह भो सिद्ध करने का प्रयत में में का आदि विद्वानों ने किया कि केवल अभिनवगुप्त हो दोनों प्रन्थों को भिन्न और भिन्नकर्तृक नहीं मानते थे, विल्क अभिनवगुप्त ने यह भी दिखाने का प्रयत्न किया है कि स्वयं वृत्तिकार भा कारिकाकार को अपने से भिन्न समझ कर लिखते हैं, जब कि सम्पूर्ण ध्वन्यालोक को आनन्दवर्धनक्षत मानने वाले वाले विद्वानों के अनुसार लोचनकार अभिनवगुप्त के भेदसाथक उहेंख वरनुतः अपने न्याख्यानों को सुगम करने के लिए हैं ('In order to faciliate

१..'आनन्द इति त्व अन्थकृतो नाम तेन स प्वानन्दवर्धनाचार्यं पतच्छास्त्रहारेण०' (पृ० ४१); 'समासोक्त्याक्षेपयोरेकभेवोदाहरणं व्यतरद् अन्धकृत्' (पृ० ११५); 'एवमिनप्रायद्वयमि साधार-णोक्त्या अन्धकृत्त्यरूपयत्' (पृ० ११७); 'अत प्व अन्धकारः सामान्येन०' (पृ० १६६)।

his coments')। और डॉ॰ मुकर्जी समझते हैं कि कारिकाकार को वृत्तिकार से भिन्न समझने का विश्वास परम्परागत हो गया है। जो भो हो, ध्वन्यालोक के सम्बन्ध में यह विवाद अब तक किसी उभयसम्मत तर्क के अभाव में समाप्त नहीं हुआ है।

(१) म॰ म॰ काणे ने 'छोचन' के जिन अंशों को उद्धृत किया उनमें द्वितीय, पष्ट और सप्तम अंशों को वे अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं। द्वितीय अंश (पृ० १७३) का प्रसंग यह है कि प्रथम उद्योत में वृत्तिभाग में ध्विन के दो भेदों (अविविध्यतवाच्य और विविध्यतान्यपरवाच्य) की चर्चां की गई है (पृ० १४३), कारिका भाग में इनका निर्देश नहीं है। और, द्वितीय उद्योत के आरम्म में प्रथम कारिका में ध्विन के प्रथम भेद को दो प्रभेदों में विभक्त किया गया है। अभिन्नकर्तृकत्त्ववादी डॉ॰ मुकर्जी अभिनवगुप्त के निरूपण को पृथक् करके, इससे समझते हैं कि कारिका प्रथम उद्योत में दिए गए विभाग को पहले से मानती है और साथ ही मुकर्जी साहव इस अनुमान को स्वाभाविक वताते हैं कि कारिकाकार वृत्तिकार से अभिन्न हैं। दूसरे शब्दों में, प्रन्थकार वृत्ति और कारिका को एक दूसरे से भिन्न नहीं करते हैं। यही कारण है कि द्वितीय उद्योत की प्रथम कारिका में एकाएक अविविध्यतवाच्य का भेद ही करने लगे, इसके पूर्व कुछ नहीं संकेत किया। यदि इम द्वितीय उद्योत की प्रथम कारिका के अवतरण के रूप में दिए गए आनन्द-वर्षन के निर्देशों की परीक्षा करें तो यह स्पष्ट होगा कि उन्होंने कारिका और वित्ति को भिन्न नहीं किया है बिस्क प्रथम उद्योत में प्रस्तुत भेद की संगति बैठाते हैं—'इस प्रकार अविविद्यतवाच्य और विविध्यतान्यपरवाच्य के रूप से ध्विन दी प्रकार से प्रकाशित (हो चुका) है, उनमें (वहां) अविविध्यतवाच्य के प्रभेद के प्रतिपादन के लिए यह कहते हैं (पृ० १७३)।'

डॉ॰ मुकर्जी प्रस्तुत में 'लोचन' के आधार पर अपने पक्ष की पुष्टि में 'मया वृत्तिकारेण सत्ता' पर अधिक जोर देते हैं और इसका अर्थ करते हैं—'by me in the capacity of वृत्तिकार।' इस प्रकार मुकर्जी साहब के अनुसार आचार्य अभिनवग्रप्त 'सता' द्वारा भिन्नकर्तृकत्व के बनाय अभिन्नकर्तृकत्व का संकेत करते हैं, अन्यथा यह प्रयोग अधिक (redundant) था।

इसके विपरीत, भिन्नकर्तृकत्वादी म० म० काणे प्रस्तुत लोचनांश के 'अभिप्राय' और 'कारिका-कार-सम्मत' प्रयोगों को अपने पक्ष की पृष्टि के अनुकूल समझते हैं, उनके अनुसार 'न चैतन्मयोक्तम्, अपि तु कारिकाकाराभिप्रायेणेत्याह—तन्नेति' इसका अर्थ होगा 'This is not what I, the वृत्तिकार, have stated out of my own head, but I have stated it in accordance with the intention of the author of the Karikas'; 'मनित मूलतो दिमेदत्वं कारिकाकारस्यापि सम्मतमेवेति' (ध्वनि is first of two kinds, and this is also approved of by the कारिकाकार)। यदि कारिकाकार और वृत्तिकार एक हैं तो वृत्तिकार को क्या कहने की आवश्यकता थी कि वे कारिकाकार के अभिप्राय का अनुसरण करते हैं और उन वृत्तिकार ने जो कहा है वह कारिकाकार का सम्मत है। एक ही व्यक्ति जब दो वार्ते कह रहा है तव सम्मति' का प्रश्न नहीं उठता है। इसो प्रकार एक दूसरे प्रसंग में, जहाँ शङ्का होती है कि यदि संयटना गुणों का आश्रय नहीं है तो किस आधार पर ये रहते हैं ?, समाधान करते हुए कहा है कि प्रतिपादितमेव वामालम्बनम् अर्थाद 'इनका आलम्बन (आश्रय, आधार) प्रतिपादित हो ही चुका है' (पृ० ३४०), इस वृत्ति पर लोचन है 'अस्मन्मूल्यन्यकृतेत्यर्थ:' अर्थाद (वृत्तिकार का तात्यर्थ है 'अस्मन्मूल्यन्यकृतेत्यर्थ:' अर्थाद (वृत्तिकार का तात्यर्थ है 'अस्मन्मूल्यन्यकृतेत्यर्थ:' अर्थाद (वृत्तिकार का तात्पर्थ है

कि) 'हमारे मूल ग्रन्थ के रचयिता द्वारा (प्रतिपादित हो चुका है)।' यहाँ यदि वृत्तिकार कारिका कार भी होते तो कहते 'मत्कृतकारिकायां०' अर्थात् मेरी कारिका में यह प्रतिपादित हो चुका है।

अपने इस मन्तन्य की पुष्टि में म० म० काणे महाशय लोचन के उन स्थलों को उद्धृत करते हैं जिनमें वृत्तिकार ने अपने कहे हुए के सम्बन्ध में 'मया' का प्रयोग किया है, (जैसे, 'उक्तमिति, मयैवेत्यर्थः' पृ० ५२८; 'उक्तमिति संप्रहार्थ मयैवेत्यर्थः' पृ० ५५५)। इसो प्रकार प्रस्तुत में मी कारिकाकार से अभिन्न वृत्तिकार को 'मत्कृतकारिकायां' लिखना चाहिए था।

अपने निवन्थ में डॉ॰ मुकर्जी ने विस्तार के साथ यह सिद्ध किया है कि 'लोचन' में जो कारिकाकार और वृत्तिकार को पृथक निर्देश किया गया है वह एक नियम का विषय है, जिससे च्यत होना अक्षम्य अपराथ माना जाता था। म० म० काणे जानना चाहते हैं कि यह नियम उन्होंने कहाँ पाया, जिसे वे इतनी सशक्त भाषा में प्रस्तुत करते हैं। डॉ॰ कृष्णमूर्ति डॉ॰ मुकर्जी के विचार से पूर्णतया सहमत हैं। इन दोनों डाक्टरों से काणे महोदय यह प्रार्थना करते हैं कि वे अपने विस्तृत अध्ययन से कम से दम एक भी स्थल निर्देश करें जहाँ सूत्र या कारिका तथा उस पर वृत्ति एक ही व्यक्ति द्वारा लिखे गए हैं और टीकाकार 'प्रतिपादितमिवैषामालम्बनं' जैसे वृत्ति-प्रन्थ का व्याख्यान 'अस्मन्मूल-प्रन्थकृता' से करता है। म० म० काणे इस 'अस्मन्मूलप्रन्थकृता' के निर्देश को एक महत्त्वपूर्ण निर्णायक अंश मानते हैं, क्योंकि 'छोचन'में कहीं मो 'प्रत्यकृत' शब्द का प्रयोग कारिकाकार के लिए असन्दिग्ध रूप से नहीं हुआ है। मेरे विचार में यद्यपि इस विवाद का इतने निर्वेश मात्र से निराकरण नहीं होता है, क्योंकि अभिन्नकर्तृकत्ववादी डॉ॰ मुकर्जी जिस भेद को 'Matter of form' समझते हैं, भिन्नकर्तृकत्ववादां म० म० काणे उसे ही अपना साथक प्रमाण समझते हैं फिर भी 'छोचन' का 'अस्भत्' प्रयोग एक निर्णय की ओर अवस्य अनुभावन करता है और यह सही हैं कि 'प्रन्थकार' का प्रयोग 'लोचन' में केवल वृत्तिकार के लिए आया है। ('प्रन्थकृत्समकालभाविना मनोरथनाम्ना कविना' इस अंश में प्रयुक्त 'प्रत्यकार' शब्द सन्दिन्ध है, क्योंकि 'मनोरथ' कवि को निश्चित रूप से नहीं कहा जा सका है कि वह जयापीड़-छिलतापीड के समय का मनोरथ था)

म॰ म॰ काणे अपने पक्ष के साधक प्रमाण के रूप में ध्व॰ के मंगल-इलोक 'स्वेच्छाकेसरिणः॰' को उद्धृत करते हैं, जिसे 'लोचन' में 'वृत्तिकार' का कहा गया और प्रथम कारिका 'काव्यस्यातमा॰' को 'आदिवाक्य' कहा गया है। काणे महाशय के अनुसार यदि कारिका और वृत्तिग्रंथ का कर्ता एक है तो 'लोचन' ने मङ्गल-इलोक को 'कारिकाकार' अथवा 'ग्रंथकार' शब्द के साथ क्यों नहीं सूचित किया ? और यह अनेक स्थलों से विदित होता है कि 'ग्रंथकार' शब्द से लोचनकार का अभिप्राय वृत्तिकार से है और वह भी आनन्दवर्धनाचार्य से (आनन्द इति च ग्रन्थकृतो नाम। तेन स आनन्दवर्धनाचार्य एतच्छास्र०, प्र० ४१)।

(२) सप्तम अंश 'दर्शितमेवाग्रे॰' (पृ० ३४७) है, इसे आचार्य आनन्दवर्धन ने 'औचित्य के (अ)त्याग' के सम्बन्ध में विचार करते हुए लिखा है। तात्यमें यह कि 'इसे आगे (ऊपर) दिखा चुके हैं' (Has been dealt with), इस पर व्याख्यान करते हुए अभिनवगुप्त लिखते हैं 'कारिकाकारेणेति भूतप्रत्ययः' अर्थात् कारिकाकार ने इसे दिखा दिया है, इसी कारण यहाँ 'भूतकाल' का प्रयोग है, (भविष्य का नहीं)। काणे महाशय का कहना है कि यदि कारिका और चित्त दोनों ग्रन्थ एक ही व्यक्ति को कृतियाँ होतीं तो 'दिश्तं' के स्थान पर वृत्तिकार को 'दर्शयध्यते'

किखना चाहिए था, नयोंकि आगे 'विभावमावानुभावण' (३।१०) इत्यादि कारिकाओं में उक्त विषय को चर्चा मिलती है। किन्तु यहाँ 'भूतकाल' के प्रयोग से यहाँ विदित होता है कि कारिकाएँ अन्य प्राचीन की रचना है और ठींक ही वृत्तिकार के पहले की हैं। काणे महोदय की इस व्याख्या से डॉ॰ मुकर्जी बिलकुल सहमत नहीं हैं; क्योंकि जब वृत्तिकार व्याख्यान के नियमानुसार स्वयं भिन्न रूप से निदंश करते हैं तो काणे महोदय का यह कहना कि दोनों के अभिन्न होने की स्थिति में भविष्यत्काल 'दर्शियष्यते' का प्रयोगः होता, प्रमाणित न करने योग्य (unjustifiable) है। काल के प्रयोग पर आधारित तुर्क पूर्णस्त्रप से अनिर्णायक है (absolutely inconclusive)। डॉ॰ मुकर्जी का विचार है कि आनन्दवर्धन ने अनेक स्थलों में भविष्यत्काल का प्रयोग किया है, जो कि आगे की कारिका में कहा गया है, ऐसा नहीं कहा जा सकता कि वह निर्देश कृत्तियन्थ के लिए है, कारिका के लिए नहीं। डॉ॰ मुकर्जों ने कृत्तियन्थ के भविष्यत्काल के अनेक प्रयोगों को उद्धृत किया है—(१) स द्यर्थों वाच्यसामृर्थ्याक्षिप्तं वस्तुमात्रमलङ्काररसादयश्चेत्य-नेकप्रभेदप्रभिन्नो दर्शयिष्यते (पृ० ५१); (२) द्वितायोऽपि प्रभेदो ब्राच्यादिभिन्नः, सप्रपञ्चमग्रे दर्शियन्यते (पृ० ७६); (३) वाच्येन त्वस्य सहेव प्रतीतिरित्यमे दर्शियन्यते (पृ० ८४); ततो-· ऽन्यचित्रभेवेत्यमे दर्शयिष्यामः (पृ० १०५)। 'दर्शयिष्यामः' यह उत्तमपुरुप का प्रयोग महत्त्व का है। किन्तु म० म० काणे महाशय ने इन स्थलों को आगे के वृत्तिग्रन्थ के लिए ही निर्देश के रूप में समझाते का प्रयत्न किया है, जैसा कि प्रथम उद्भरण किसी। कारिका के निर्देश के रूप में नहीं है, क्योंकि ऐसी कोई भी कारिका नहीं जो ध्वति को वस्तु आदि तीन भागों में विभक्त करती हो। दूसरा उद्धरण भी बृत्तिग्रन्थ के लिए ही है, जसा कि 'सप्रपन्नं' शब्द स्पष्ट करता है। तृतीय उद्धरण का भी, ३।४१, ४२ कारिकाओं की वृत्ति के रूप में विस्तार से व्याख्यान है और वृत्तिकार ने वहाँ स्वयं कुछ अपने इलोक दिए हैं।

हॉं मुकर्जी का पक्ष यहां उनके बहुत कुछ निर्णीत सिद्धान्त, कि कारिका और वृत्ति का पृथक्करण 'Formal' है, पर आधारित है, किन्तु यहां काणे महाशय युक्तिसंगत तर्क देते हुए प्रतीत होते हैं। किन्तु ऐसा क्या सम्भव नहीं कि आनन्दवर्धन ने कारिकाओं का निर्माण करने के पश्चात उस पर वृत्ति लिखी और इस प्रकार 'दर्शितमेवाग्ने' का भूतकालिक प्रयोग किया ?

डॉ॰ मुकर्जी ने अपने निबन्ध में 'न चैतन्मयोत्स्त्रमुक्तम्' (लो॰ पृ॰ १७३) पर विचार करते हुए 'उत्स्त्रन्याख्यान' की चर्चा की है, उनके अनुसार 'वृत्ति' का तरीका यह है कि जो कुछ मूल प्रन्थ में विना सन्देह के कहा है उसका न्याख्यान करना और मूल के विरुद्ध वस्तु स्वित करना भाष्य के नियमों के अपराध (offence) है। इस 'अपराध' को पारिभाषिक रूप से 'उत्स्त्रन्याख्यान' कहा जाता है। यह अपराध वृत्तिकार के लिए अक्षम्य माना जाता है। मूलकार और वृत्तिकार दोनों मिन्न हों अथवा अभिन्न, स्त्र या कारिका के अनुसार ही वृत्तिप्रन्थ को होना चाहिए। 'यो हि उत्स्त्रने कथवेन्नादो गृद्धेत' (महाभाष्य), 'स्त्रेष्वेव हि तत्सर्व यद् वृत्ती यच्च वार्तिके' (नागेश्च), इनसे मो 'उत्स्त्रन्याख्यान' अपराध प्रमाणित होता है। भाष्य या वृत्तिप्रन्थ को अधिकार नहीं, कि वह उन तत्त्वों का भो निरूपण करे जो सूत्र या कारिका से सम्यन्थ नहीं रखते। मुकर्जी साहब के अनुसार यदि वृत्ति का कर्ता मूल प्रन्थ के कर्ता से अभिन्न होता है, तो वह स्वयं को मूलकार से भिन्न व्यक्ति के रूप में निश्चित रूप से प्रकट करता

है और मूलकार को 'अन्य पुरुष' (Third person) में सूचित करता है। इस प्रकार प्रस्तुत आलोच्य प्रन्थ ध्वन्यालोक में भी कारिकाकार और मूलकार के अभिन्न होने की स्थिति में भो 'उत्सूत्रव्याख्यान' से बचने का निर्देश 'लोचन' में आचार्य अभिनवगुप्त ने वृत्तिकार के अभिप्राय से किया है।

इस प्रकार डॉ॰ मुकर्ज़ी के अनुसार वे सभी अन्तःप्रमाण, जो मूल या वृत्ति में व्यक्तिगत (Personal) भेद के तात्पर्य से हैं इन rules of the game के विरुद्ध एक 'अपराध' समझे जायेंगे। किन्तु म॰ म॰ काणे महाशय इस कथन के सर्वधा भिन्न विचार प्रस्तुत करते हैं। क्योंकि वृत्तिकार' के लिए ऐसा कोई प्राचीन नियम नहीं है जिसका उश्ह्वन एक 'अपराध' हो। जैसा कि ध्वन्यालोक के लगभग सौ वर्ष पूर्व वामन ने कहा है कि उन्होंने सूत्र और वृत्ति होनों लिखे हैं। हेमचन्द्र ने भी ऐसा ही किया है। 'कौटिलाय' के अन्त में यह प्रसिद्ध है—'स्वयमैव विष्णुगुप्तश्रकार सूत्रं च भाष्यं च।' इसंप्रकार यह स्पष्ट है कि प्रन्थकार के विरुद्ध कोई ऐसी मनाहीं नहीं है कि वह कहे कि स्वयं उसने सूत्र और वृत्ति दोनों को निवद्ध किया है, जब कि वह स्वयं को वृत्ति में 'अन्यपुरुष' में कहता है तो, भिन्न व्यक्ति (जैसे अभिनवगुप्त) को क्यों यह कहने से रुकावट होगों कि कारिका और वृत्ति के कर्ता भिन्न हैं अथवा अभिन्न ?

इस प्रकार काणे महाशय के विचार में यह सब कुछ आधारहांन है, क्योंकि उनकां दृष्टि में rules of the game' कोई हैं हो नहीं जिनके आधार पर मिन्न प्रतीत होते हुए कारिका और चृत्ति के कर्ताओं को अमिन्न समझा जाय। जिस प्रकार वामन, हेमचन्द्र, कौटिछीय से सिद्ध हो जाता है कि उनके मूळकार और वृत्तिकार एक हैं वैसी स्थिति यहां नहीं है, लोचन ने तो सर्वत्र दोनों को मिन्न हां प्रतिपादित किया है। डॉ० कें० सी० पाण्डेय का मत है कि नवीं शताच्दी में कश्मीर में ऐसा चल पड़ा था कि एक ही व्यक्ति कारिका और उस पर वृत्ति का कर्ता हुआ करता था। इस विचार से भी काणे महाशय सहमत नहीं, क्योंकि ध्वन्यालोक में दोनों के अमिन्नकर्तृकत्व का निर्देश हुआ होता, जैसा कि अन्यत्र स्पष्ट शब्दों में प्राप्त होता है। फिर प्रश्न उठता है कि क्यों लोचनकार ने आरम्भ में हो नहीं निर्देश किया कि कारिकाकार और वृत्तिकार एक हैं, जब कि उन्होंने 'विमिश्चनी' में ऐसा किया है ? इससे निश्चित है कि यदि ऐसी परिस्थिति होती कि दोनों एक हैं तो पहले ही यह स्पष्ट कर देते ताकि शिच्यों को अम न हो।

उपर उद्धृत तृतीय अंश 'उक्तमैव ध्वनिस्वरूपं तदामासिववेकहेतुतय। कारिकाकारोऽनुवदती-त्यभिप्रायेण वृत्तिकृदुपस्कारं ददाति' (पृ० ३०९) को ध्वन्यालोक के भिन्नकर्तृकत्व की सिद्धि में विशेष सहायक समझा गया है, क्योंकि वृत्तिकार, लोचन के अनुसार 'यतश्च' के द्वारा इस अभिप्राय से उपस्कार (Supplement or embelishment) देते हैं कि कारिकाकार अनुवाद करते हैं। यदि वृत्तिकार कारिकाकार से अभिन्न होते तो कारिकाकार के कथन का उपस्कार देने की उन्हें आवश्यकता क्यों होती।

अभेदवादी विद्वान् कहते हैं कि प्रन्थकार ने कारिकाओं के आरम्भ में मङ्गल-रलोक नहीं लिखा और वृत्ति का आरम्भ करते हुए लिखा, इससे यही लगता है कि जब वृत्तिग्रन्थ में मङ्गल सम्पन्न हो गया तब कारिकाग्रन्थ में उसकी आवश्यकता त हुई, यदि वृत्तिकार से कारिकाकार के ई भिन्न व्यक्ति था तो अवश्य ही वह कारिकाओं का आरम्भ करते हुए मङ्गल-रलोक लिखता। इस तर्क के विरुद्ध म० म० काणे का कहना है कि प्राचीन ग्रन्थकारों के यहाँ मङ्गल की प्रथा नित्यरूप से मान्य नहीं थी, जैसा कि जैमिनि-सूत्रोंपर शावर के मान्य के आरम्भ में, वेदान्त-सूत्रों पर शङ्कराचार्य के भाष्य के आरम्भ में, नाटच-सूत्रों पर वात्स्यागन के भाष्य में और उद्योतकर के न्याय-शङ्कराचार्य के भाष्य के आरम्भ में, नाटच-सूत्रों पर वात्स्यागन के भाष्य में और उद्योतकर के न्याय-श्चित में मङ्गल नहीं है। जहाँ एक ही न्यक्ति सूत्र या कारिका और वृत्ति का कर्ता है वहाँ यह प्रवृत्ति अधिक है। वामन ने अपने सूत्रों में मङ्गल नहीं किया, किन्तु वृत्ति के आरम्भ में किया। प्रवृत्ति अधिक है। वामन ने अपने सूत्रों में मङ्गल-कारिका रखी, किन्तु वृत्ति में नहीं। उद्भट ने अपना मम्मट ने काव्यप्रकाश के आरम्भ किया है। अलङ्कारसर्वस्व में सूत्रों में मङ्गल नहीं है, किन्तु अलङ्कार-प्रन्थ विना मङ्गल के आरम्भ किया है। अलङ्कारसर्वस्व में सूत्रों में मङ्गल रखा है। कोई वृत्ति में है। हेमचन्द्र ने अपने सूत्र और अपना वृत्ति सीदामिनी दोनों में मङ्गल रखा है। कोई विशेष नियम उिल्लाखत नहीं है। जैसा कि पाणिनि ने अष्टाध्यायों के आरम्भ में प्रथम सूत्र में 'वृद्धि' का प्रयोग किया उसी प्रकार यहाँ 'कान्यस्यात्मा' का प्रयोग करते हुए मङ्गल किया गया है। हम समझते हैं कि मङ्गलश्लोक के होने या न होने के आधार पर कारिकाकार और वृत्तिकार के भेदाभेद-निर्णय को कोई गति नहीं मिलती है।

मुकुरूभट्ट और प्रतोहारेन्दुराज के प्रमाणों के आधार पर म० म० काणे का निर्णय है कि 'सहदय' नाम के किसी व्यक्ति ने ध्वनि-कारिकाओं का निर्माण किया था, जिस पर आनन्दवर्धन ने वृत्ति लिखी । 'अमिधावृत्तिमातृका' में मुकुल लिखते हैं — 'लक्षणामार्गावगाहित्वं तु ध्वनेर्नूतनतयो-पविंगतस्य विद्यत इति दिश्रसुन्मोक्षयितुमिदमत्रोक्तम्' (पृ० २१); 'तथा हि तत्र विवक्षितान्यपरता सहृदयैः कान्यवर्त्मनि निरूपिता' (पृ०१९)। मुकुछ के शिष्यं प्रतीहारेन्दुराज कहते हैं-- 'ननु यत्र कान्ये सह्दयहृदयाहादिनः प्रधानभूतस्य स्वशन्दन्यापारास्पृष्टत्वेन प्रतीयमानैकरूपस्यार्थस्य सद्गा-वस्तत्र तथाविधार्थामिन्यक्तिहेतुः कान्यजीवितभूतः कैश्चित् सहृदयैर्ध्वनिर्नाम न्यश्चकत्वभेदात्मा कान्यथर्मोऽभिहितः इन उद्धरणों के सम्बन्थ में अभिन्नकर्तृकत्ववादी पण्डितों का कहना है कि 'सहृदय' प्रयोग व्यक्तिपरक नहीं है, बल्कि ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन को सूचित करता है, क्योंकि छोचनकार ने भी आनन्दवर्धन को 'सहृदयचक्रवर्ती' कहा है (पृ० ४२)। किन्तु अपने मन्तव्य की पुष्टि में म॰ म॰ काणे महाशय छिखते हैं कि ऐसी प्रवृत्ति मालूम होती है कि प्राचीन ग्रन्थकारों को एकवचन में निर्देश किया गया है जंब कि समसामयिक अथवा कुछ पूर्व के ग्रन्थकारों का निर्देश बहुवचन में किया गया है। उदाहरण के लिए, सम्मट ने भरत (मुनि), रुद्रट और ध्वनिकार को प्रथमपुरुष में निर्देश किया है जब कि अभिनवगुप्त को बहुवचन में करते हैं। इसी आधार पर मुकुल, जो आनन्द के बाद के हैं, किन्हीं 'सहृदय' को बहुवचन में निर्देश करते हैं। स्वयं आनन्दवर्धन ने उद्भट आदि को, जिनसे काव्य के आत्मा के सम्बन्ध में उनका पूर्ण मतमेव था, बहुवचन में सम्मानित किया है (तत्रभवद्भिर्मट्टोक्टादिभिः, २।२६)। किन्तु काणे महाशय का यह पक्ष अपने आप में सर्वथा दुर्वछ है, क्योंकि यह विलकुछ संम्मावना पर आधारित है। मुकुल ने अथवा प्रतीहारेन्दुराज ने कारिकाकार को ही 'सहृदय' कहा है, आनन्दवर्धन को नहीं (जब कि छोचन के अनुसार आनन्दवर्धन मी सहृदय-चक्रवर्ती थे), इसमें कोई विनिगमक प्रमाण नहीं है, साथ ही, लोचन में आनन्दवर्धन को 'शास्त्रकार' भी कहा गया है (पृ० ६७), इसका संकेत यही है कि ध्वन्याङोककार आचार्य आनन्दवर्थन ही ध्वनिशास्त्र के प्रवर्तक हैं। पण्डितराज ने भी ध्वनिकार को 'आलङ्कारिकसरणिन्यवस्थापक' कहा है। और बहुवचन प्रयोग से ऐसा भी अनुमान लगाना युक्तिसंगत नहीं कि सहदयों की मण्डली (circle) ने कारिकाओं का निर्माण किया था।

डॉ॰ कुणामूर्ति ने लोचन से उन अंशों को उद्धृत किया है जिनसे कारिकाकार और वृत्तिकार का अभेद प्रतीत होता है—(१) 'एवं कारिकां व्याख्याय तदसङ्गृहीतमरूक्ष्यक्रमव्यक्क्यं प्रपन्न-यितुमाइ यस्तिवति' (पृ० ३२७); (२) 'एवं व्यङ्गयस्वरूपं निरूप्य सर्वथा यत्तच्छून्यं तत्र का वार्तेति निरूपियुतमाइ प्रथानेत्यादिना कारिकाइयेन' (पृ० ५२५)। इन दोनों स्थलों में क्रमञ्जन 'व्याख्याय' और 'निरूप्य' ये ल्यबन्त प्रयोग कारिकाकार और वृत्तिकार के अभिन्न होने का निर्देश करते हैं। क्योंकि जिस व्यक्ति ने कारिका का व्याख्यान किया उसने ही कारिका में असंगृहीत अलक्ष्यक्रमन्यक्रथ का प्रपञ्च करने के लिए कहा—'यस्तु०' इत्यादि । दूसरे उद्धरण को भी यही स्थिति है। परन्तु म० म० कागे का कहना है कि यहाँ, कारिका वृत्ति का भाग हो गई है तथा 'च्याल्याय' ओर 'निरूप्य' शब्द वृत्तिकार को सूचित करते हैं तथा 'आह' मी उन्हें ही सूचित करता है, क्योंकि वृत्तिकार ने 'यस्तु०' कारिका के प्रमाण एवं व्याख्यान द्वारा असंखक्ष्यक्रमव्यक्कथ का निरूपण आरम्भ किया है। दूसरे यह कि कोई यह नित्य नियम नहीं है कि एक वाक्य में ल्यवन्त का और प्रधान क्रिया का कर्ता एक हो होना चाहिए । जैसा कि महाकवि कालिदास आदि ने इस नियम को नहीं माना है—'अवजानासि मां यस्मादतस्ते न भविष्यति । मत्प्रसृतिमनाराध्य प्रजेति त्वां शशाप सा ॥ (रघु० १।७७); किरातार्जुनीय ३।२१, तीसरे यह कि जब कि ऊपर निर्दिष्ट आठ अंश भित्रकर्त्रकत्व सिद्ध कर चुके हैं तब ये दो अंश उस प्रकार अभेद सद्ध नहीं करते हैं। अन्त में, कारिकाकार और वृत्तिकार अभिनवगुप्त से पहले पहचाने जा चुके हैं, ऐसा स्थिति में अभिनवगुप्त ने दोनों के भेद के वारे में बात दहराई नहीं है।

हम मानते हैं कि काणे महाशय का मत वहुत अंश में तर्कसमन्वित है, किन्तु जिनके विचार से दोनों का लोचन में भेद formal अथवा व्याख्यान के स्पष्टीकरणार्थ है उनके लिए ये दोनों उद्धरण अपने स्वाभाविक अर्थ में अनुपेक्षणीय नहीं हैं।

अभिन्नकर्तुकत्ववादी विद्वान् अभिनवगुप्त की भरत मुनि के नाट्यशास्त्र पर लिखी व्याख्या 'अभिनवभारती' से कुछ अंश अपने मत की पृष्टि में उद्धृत करते हैं, जैसा कि अभिनवगुप्त ने वहाँ लिखा है—

"स्वशब्दानिभिधेयस्वं हि रसादीनां ध्वदिकारादिभिर्दशितम्। तच मदीयादेव तद्-विवरणात् सहृद्यालोकलोचनाद्वधारणीयिमह तु यथावसरं वच्यत एव" (भरत, अध्याय ७, भाग १ ए० ३४४);

"प्तमेवार्थं सम्यगानन्द्वर्धनाचार्योऽपि विविच्य न्यरूपयत्। 'ध्वन्यात्मभूते०' (ध्व० २१९७) इत्युक्तवा क्रमेण 'विवचा तत्परत्वेन०' (ध्व० २११८) इत्यादिना प्रन्थसन्दर्भेण सोदाहरणेन । तच्चास्माभिः सहद्वयालोकलोचने तद्विवरणे विस्तरतो ब्यास्यातिमिति।" (भरत, १६, भाग २. पृ० २९९-३००)

इन अंशों में प्रथम में वृत्तिग्रन्थ के रचियता को 'ध्वनिकार' कहा गया है और ध्वन्यालोक का प्राचीन नाम 'सहदयालोक' अवंगत होता है। कुछ पाण्डुलिपियों की पुष्पिकाओं में तथा राधवसट्ट

7

T

1

ने

न

ते

र

ती

1

व

1

ŧΪ

ण

ħ

ज

भी

द्वारा ध्वन्यालोक का नाम 'सहृदयहृदयालोक' भी निर्देश किया गया है। दूसरे अंश में स्पष्ट ही आनन्दवर्धनाचार्य का नाम लेकर कारिकायन्य को उनके कथन के रूप में निर्देश किया गया है।

इस पर भिन्नकर्तृकत्व पश्च से म० म० काणे महाशय का कहना है कि जैमा कि उपर्युक्त अंश से विदित होता है अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती को लोचन के पश्चात लिया था। लोचन में अभिनवगुप्त के मान्य गुरु थे इन्दुराज, जिनको न्याख्याओं का लोचनकार ने पूर्ण रूप से अनुसरण किया है तथा नाट्यशास्त्र का अध्ययन उन्होंने महतौत से किया था, जैसा कि अभिनवभारती की प्रस्तावना के पद्य से एवं और मां स्थलों से प्रतीत होता है तथा अभिनवगुप्त ने महतौत-रचित 'कान्यकांतुक' नाम के ग्रन्थ पर 'विवरण' लिखा था, यह लोचन से विदित होना है (पृ० ४३४)। इसल्टिए यह सम्भव है कि अभिनव कारिका और वृत्ति के कर्तृत्व के सम्बन्ध में अपने गुरु महतौत का विचार साथारणतः प्रस्तुत किया है, क्योंकि वाद के सभी ग्रन्थकारों ने कारिकाकार और वृत्ति-कार को अभिन्न समझा है।

म० म० काणे का पक्ष यहाँ कुछ दुर्बल लगता है, क्योंकि वे इस बात को स्वीकार करते हैं कि ध्वन्यालोक की कारिका और वृत्ति के कर्तृत्व के सम्बन्ध में विवाद अभिनव्युप्त के पहले से चल रहा है, किन्तु में नहीं समझता कि यह विवाद प्राचीन है, विल्क जब से डॉ० व्हलर ने लिखा और कान्यमाला के सम्पादकों ने दोनों को मिन्न मान लिया तभी से यह विवाद चल पड़ा है।

'मया वृत्तिकारेण सता' (लो० पृ० १७३) इस अंश पर डॉ० मुकर्जी के अनुसार काणे गराशय ने ठांक ध्यान नहां दिया है। डॉ० मुकर्जी ने इसका अनुवाद किया है 'by me, in the capacity of vittikār'। काणे महाशय का कहना है कि यदि कोई अपना दिमाग पूर्ण कर से बना ले कि कारिका और वृत्ति के कर्ता अभिन्न है, तब केवल यह अनुवाद ठींक हो सकता है। (capacity) के लिए मूल में कोई शब्द नहीं है। शाब्दिक अनुवाद (Literal translation) है—'by me who am वृत्तिकार'। म० म० काणे महाशय प्रस्तुत प्रकरण के 'अभिप्राय' और 'सम्मत' प्रयोगों पर दिशेष ध्यान देते हैं और इन्हें अपने पक्ष भिन्नकर्तृकत्व के अनुकृल मानते हैं। (चौ० काशी संस्करण में 'न चैतन्मयोत्सूत्रमुक्तम्' पाठ है, किन्तु इस काब्य-मान्य सं० में 'उत्सूत्र' का प्रयोग नहीं मिलता, जो तीन प्रतियों पर आधारित है, काशी संस्करण का आधार विदित नहीं)।

तृतीय उद्योत के आरम्भ का वृत्तिग्रन्थ इस प्रकार है—"एवं व्यङ्गयमुखेनैव ध्वनेः प्रदिश्ति मप्रभेदे स्वरूपे पुनर्वश्रकमुखेनं तत्प्रकादयते।" इस पर छोचन का अंश है—"यस्तु व्याचष्टे व्यङ्गयानां वस्त्वछङ्काररसानां मुखेन' इति स एवं प्रष्टव्यः—एतत्तावित्रभेदत्वं न कारिकाकारेण कृतम्। वृत्तिकारेण तु द्रित्तम् । न चेदानीं वृत्तिकारो भेदप्रकटनं करोति । ततद्दचेदं कृतिमदं क्रियत इति कर्नृभेदे का मङ्गतिः ? न चेतावता सक्छप्रात्तनग्रन्थसङ्गतिः कृता भवति । अविविक्षनवाच्यादीनामपि प्रकाराणां दिश्वतत्वादित्यछं निजपूज्यजनसगोत्रैः साक्षं विवादेन ।" (पृ० ३१२)

वृत्तिप्रन्थ में यह कहा गया है कि व्यङ्गय के प्रकार से (व्यङ्गयमुखेन) ध्वित का प्रमेदों-सिंहत स्वरूप दिखाया जा चुका, फिर व्यञ्जक के प्रकार से (व्यञ्जकमुखेन) उसे प्रकाशित करते हैं। लोचन के अनुसार लोचन के पहले किसी हुई 'चन्द्रिका' व्याख्या में 'व्यङ्गयमुखेन' का अर्थ किया है, वस्तु, अलङ्कार और रस इन तीन व्यङ्गयों के प्रकार से। लोचनकार इस व्याख्यान पर आपत्ति करते हैं तथा प्रश्न करते हैं कि इन तीन भेदों को वृत्तिकार ने निर्देश किया है, कारिकाकार ने नहीं। फिर अब वृत्तिकार भेद का प्रकाशन नहीं कर रहे हैं। जब कि कर्ता का भेद है (कारिका-कार और वृत्तिकार को मित्र मानते हैं) तो यह कहने में क्या सङ्गति है 'कि (वृत्तिकार) यह कर चुके हैं और (कारिकाकार) यह कर रहे हैं ?

म० म० ठाणे को यह स्पष्ट है कि चन्द्रिकाकार कर्तृभेद का विचार रखते थे, और लोचन का कहना है कि 'व्यङ्गयमुखेन' का जो व्याख्यान 'चन्द्रिका' ने किया है उसकी सङ्गति नहीं बैठती। जब तक 'चिन्द्रका' व्याख्या नहीं मिल जाती, इसे रपष्ट रूप से कहना सम्भव नहीं कि चिन्द्रका-कार कारिकाकार और वृत्तिकार को भिन्न मानते थे अथवा अभिन्न । डॉ॰ मुकर्जी प्रस्तुत वृत्तिग्रन्य के लोचन व्याख्यान को क्रिष्ट एवं गलत समझते हैं और 'चन्द्रिका' के व्याख्यान को बहुत कुछ सन्तोपजनक एवं दृढ़ (consistent) मानते हैं। क्योंकि ऐसा नहीं कि वस्तु, अलङ्कार और रस का विभाग कारिका में नहीं हुआ है, बल्कि २।३ कारिका में रस ध्वनि का निर्देश है, २।२१ में शब्दशक्त्युद्भव पर आधारित अलङ्कारध्वनि पर विचार किया है, २।२२-२४ कारिकाओं में वस्तु-ध्वनि का निरूपण किया गया है। ऐसी स्थिति में अभिनवगुप्त का यह कहना कि ये तीनों न्यङ्गयभेद केवल वृत्तिकार ने किया है, कारिकाकार ने नहीं, सङ्गत नहों। और, डॉ॰ मुकर्जी के अनुसार अभिनवगुप्त यह भूल गए हैं कि वृत्तिकार एक भी वस्तु प्रस्तुत नहीं कर सकते जो कारिकाकार की अभिप्रेत अथवा उनको पोषित नहीं है। अन्यथा न्याख्यान 'उत्सूत्र' होगा। डॉ॰ मुकर्जी के इस विचार से डॉ॰ कृष्णमूर्ति सहमत नहीं हैं। यद्यपि डॉ॰ मुकर्जी ने अपने निवन्थ में 'कर्तुभेरे' के कर्ता को ग्रन्थकार हो माना था किन्तु अब उन्होंने 'Indian Culture' (भाग १२, पृ० ५७-६०) में दूसरो व्याख्या प्रस्तुत की है जिसमें कर्नु का अर्थ है केवल कर्ता (grammatical agent of an action), न कि अन्य का कर्ता।

अस्तु, यह मानते हुए कि 'कर्तुभेदे' का अर्थ अभी तक कोई स्थिर रूप से नहीं प्रस्तुत किया जा सका है, फिर हम विद्वानों पर ही इसका निर्णय छोड़ते हैं।

वृत्तिग्रन्थ में 'परिकरश्लोक', 'संग्रहश्लोक' और 'संक्षेपश्लोक' के साथ और 'तदयमत्र परमार्थः', 'तदिदमुक्तं', और 'तदिदमुख्यते' के साथ अनेक श्लोकों को प्रस्तुत किया गया है। जिनमें बहुत से श्लोक कुछ कारिकाओं से अधिक अर्थगिमंत हैं। म॰ म॰ काणे महाशय का कहना है कि यदि दोनों (कारिकाकार और वृत्तिकार) अमित्र हें तो क्यों उस व्यक्ति ने उन उत्तम श्लोकों को कारिकाओं में न रख कर वृत्ति में अप्रधान स्थिति में रखा ! काणे महाशय के अनुसार अमित्रकर्तृकत्ववादों डॉ॰ मुकर्जी, डॉ॰ कृष्णम्तिं और डॉ॰ के॰ सी॰ पाण्डेय में किसी ने इसका सन्तोषजनक व्याख्यान नहीं किया है। आचार्थ मम्मट ने जो अपने काव्यप्रकाश के कारिकाकार और वृत्तिकार मों हैं इसी प्रकार वृत्ति में परिकरश्लोक अथवा संग्रहश्लोक क्यों नहीं दिया ! डॉ॰ कृष्णम्तिं के अनुसार आनन्दवर्धन ने पहले कारिकार लिखों और अपने शिष्यों को उन्हें पढ़ाया, तव कुछ समय बाद वृत्ति का निर्माण किया। काणे महाशय इसे नहीं मानते, क्योंकि यदि यह माना भी जाय तो लेखक को क्या बाधक हुआ कि उसने इन पढ़ों कारिकाओं के रूप में नहीं लिखा।

े लोचन के इस वाक्य को भी अभिज्ञकर्तृकत्व की सिद्धि में उपस्थापित किया जाता है— 'प्रका-न्तप्रकारद्वयोपसंहारं तृतीयप्रकारसूचनं चैकेनैव यत्नेन करोमीत्याश्येन साधारणमवतरणपदं प्रक्षिपंति वृत्तिकृत—तथा चेति' (पृ० २७१)। म० म० काणे इसे भी अभिज्ञकर्तृकत्व की सिद्धि का प्रमाण नहीं मानते, क्योंकि यहाँ भी कारिका वृत्ति का माग बन गई है। यहाँ लोचन कहता है कि कारिका (२१२३) ने दो प्रकारों (varieties) का निर्देश किया है और वृत्ति ने तृतीय को भी संलग्न कर दिया है। यदि अभिज्ञकर्तृकत्व है तो कारिका में क्यों नहीं तीनों का निर्देश किया गया और क्यों वृत्ति उत्सूत्र व्याख्यान के अपराध से युक्त हुई ?

किन्तु यदि विचार किया जाय तो यह लगता है कि एक ही कारिका वाक्य से दो प्रकारों का उपसंहार और तृतीय प्रकार का सूचन करता हूँ इस आशय से वृत्तिकार साधारण रूप से अवतरण देते हैं— 'तथा च'। अर्थात 'तथा च' यह वृत्तिग्रन्थ कारिकाग्रन्थ को अपनी कुक्षि में ले लेता है, इसे ही म० म० काणे कारिका का वृत्ति का भाग हो जाना कहते हैं। इतने मात्र से अभिन्नकर्तृकत्व का पक्ष निराकृत नहीं हो जाता है।

डॉ॰ के॰ सी॰ पाण्डेय ने प्रश्न उठाया है कि लोचन केवल वृत्तिग्रन्थ का व्याख्यान है अथवा कारिका और वृत्ति दोनों का। इस प्रकार यदि यह सिद्ध हो जाता है कि लोचन दोनों का व्याख्यान है तब दोनों के एककर्तुक मानने में आपित नहीं होगी। किन्तु म॰ म॰ काणे लोचन को केवल वृत्तिग्रन्थ का व्याख्यान सिद्ध करते हैं, क्योंकि 'काव्यालोक', जिसके व्याख्यान के लिए लोचनकार प्रवृत्त हैं वह वृत्तिग्रन्थ है न कि कारिकाग्रन्थ। कारिकाग्रन्थ को केवल ध्वनिकारिका या ध्वनि कहते थे। यही कारण है कि लोचनकार ने आरम्म में वृत्तिग्रन्थ के मङ्गलाचरण के व्याख्यान से 'लोचन' का आरम्म किया और 'आदिवाक्य' के रूप में प्रथम कारिका का निर्देश मात्र करके उस पर के वृत्तिग्रन्थ के व्याख्यान में लग जाते हैं। हों, जहाँ कारिकाग्रन्थ पर वृत्ति बहुत संक्षिप्त है वहाँ लोचन कारिका के कुछ शब्दों का व्याख्यान करता है, किन्तु ऐसे स्थल बहुत कम हैं।

साथ हो, काणे महाशय का यह भी तर्क है कि यदि कारिका और वृत्ति एक ही व्यक्ति की रचनाएं हैं तो कारिकाओं के डकड़े और उनमें वृत्ति का छिटफुट नियोजन समान रूप से होना चाहिए था, किन्तु ऐसी समानता नहीं है, वृत्ति को किसी पाण्डुछिपि में कारिकाएं डकड़ों में पढ़ी गई हैं और किसी में पूरी कारिकाएं पढ़ी गई हैं। यद्यपि 'काव्यप्रकाश' में कारिकाएं तोड़-तोड़ कर वीच में वृत्ति के साथ भी रखी गई हैं, तथापि वहाँ ऐसी अव्यवस्था नहीं है।

ध्यन्यालोक के अन्त में दो पद्य हैं—'इत्यक्किष्टo' और 'सत्कान्यतस्वo'। 'इति' पर टिप्पणी करते हुए अभिनवग्रुस लिखते हैं—'इतीति कारिकातद्वृत्तिनिरूपणप्रकारेणेत्यर्थः', अर्थात् कारिका और उसकी वृत्ति के निरूपण के प्रकार से। डॉ॰ मुकर्जी के अनुसार यह टिप्पणन सूचित करता है कि अभिनवग्रुस कारिका और वृत्ति को एक न्यक्ति की रचना मानते हैं। दूसरा श्लोक आनन्द-वर्षन को सुधियों के मन में कान्य के चिरप्रसुसकल्पतत्त्व को प्रवृत्त करने वाला बताता है, इसका अर्थ है कि आनन्दवर्षन ने ही पहले पहल ध्वनिमार्ग का आलोकन कारिका और वृत्ति द्वारा किया, और मी, ठीक इसी प्रकार तृतीय उद्योत की ४६वीं कारिका के अनुसार जो यह कान्यतत्त्व अस्फुट रूप से स्फुरित था उसका न्याख्यान करने में असमर्थ लोगों ने रीतियों का मार्ग प्रवर्तित किया, दोनों

बातें सिद्ध करती हैं कि कारिकाकार और वृत्तिकार एक व्यक्ति है और वह है आचार्ये आनन्दवर्धन।

किन्तु म० म० काणें महाशय को भाण्डारकर संस्थान को संभी प्रतियों तथा ध्वन्यालोक के प्राप्त तोनों संस्करणों में 'इत्यक्किष्टo' के स्थान पर 'नित्याक्किष्टo' मिलता है, जबिक डॉ॰ डे द्वारा प्रकाशित चतुर्थ उद्योत के लोचन में 'इति' पर टिप्पणन मिलता है तब वहीं सबसे अधिक प्रामाणिक पाठ मानने योग्य है। फिर भो म० म० काणे डॉ॰ मुकर्जों के विचारों से सहमत नहीं। उनके अनुसार आनन्दवर्थन ने प्राचीन कारिकायन्य का न्याख्यान किया है, इसका निर्देश 'न्याकरोत' शब्द (तद् न्याकरोत सहदयोदयलामहेतोः) सूचित करता है।

कारिका २।५ में 'मे मितः' को वृत्ति है—'मामकोनः पक्षः' इस पर भो अभिन्नकर्तृकत्ववादियों और भिन्नकर्तृकत्ववादियों का विचार-वैषम्य है। प्रथम के अनुसार यदि कारिकाकार और वृत्तिकार भिन्न होते तो 'मे मितः' का व्याख्यान 'मामकोनः पक्षः' न करके कुछ भिन्न ही करते, इसके विपरीत दूसरे पक्ष का कहना है कि वृत्तिकार ने केवल यहाँ व्याख्यान के रूप में 'मामकोनः पक्षः' लिखा है, इससे दोनों का अमेद सिद्ध नहीं होता।

न्यायम अरो के रचियता जयन्तम हुने ध्वनिसिद्धान्त की आलोचना की है। जयन्त अवन्तिवर्मी के, जिनकी समा में आनन्दवर्धन थे, अन्यविहत उत्तराधिकारी शङ्करवर्मी के समसामयिक थे। वह लिखते हैं—

'यमन्यः पण्डितम्मन्यः प्रपेदे कञ्चन ध्वनिम् । विधेनियेधावगतिर्विधिबुद्धिनिषेधतः॥

यथा--

भम धम्मिश्र वीसत्थो मा स्म पान्थ गृहं विश्व । मानान्तरपरिच्छेद्यवस्तुरूपोपदेशिनाम् ॥ शब्दानामेव सामर्थ्यं तन्न तन्न तथा तथा । अथवा नेदशी चर्चा कविभिः सह शोभते॥'

(न्यायमञ्जरी, चौ० सं०, भाग १, ए० ४५)

डॉ॰ मुकर्जी के अनुसार यह स्पष्ट है कि जयन्त यहाँ ध्वन्यालोक की वृत्ति (स हि कदाचिद् वाच्ये विधिरूपे प्रतिपेषरूपः न्यथा नम धिम्मअ॰, कचिद् वाच्ये प्रतिपेषरूपे विधिरूपो यथा अत्रा पत्थ॰, पृ॰ ५१, ७१) का निर्देश करते हैं और समझते हैं कि वह सिद्धान्त एक व्यक्ति इसरा प्रकाशित किया गया। डॉ॰ मुकर्जों के यह समझने का आधार इस उद्धरण में प्रयुक्त 'प्रपेदे' शब्द है, जिसका अनुवाद उन्होंने 'propounded' किया है, किन्तु म॰ म॰ काणे महाशय के अनुसार अनुवाद होगा "Restorted to or adopted'। इस प्रकार इनके अनुसार प्रस्तुत उद्धरण का अर्थ होगा ध्वनि का सिद्धान्त पहले से था जिसे एक पण्डितम्मन्य ने स्वीकार किया। श्री काने ने यह भी सम्भावना की कि जयन्त आनन्दवर्धन के समसामियक थे, जैसा कि उनके पुत्र अभिक्त ने कित्रवन्ति के समसामियक थे, जैसा कि उनके पुत्र अभिक्त ने कित्रवन्ति थे।

को गीका दर्मा ने कुछ ऐसे कारिका और वृत्ति के विरोधों स्थलों का निर्देश किया है जिनसे कारिकाकार और वृत्तिकार के भिन्न होने का अनुमान होता है, उनके द्वारा निर्देश कुछ स्थल काणे महाशय के अनुसार विचारणांय हैं। (क) कारिका १।४ 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव०' (पृ० ४७) में वृत्ति ने 'प्रसिद्ध' को दो व्याख्याएं प्रस्तुत की है—'यत्तसहृदयसुप्रसिद्धं प्रसिद्धेश्योऽल्डक्तिस्थः प्रतीतेन्यो वाऽवयवेन्यो व्यतिरिक्तत्वेन प्रकाशते'; 'लोचन' का भी निदंश है—'प्रसिद्धशब्दस्य सर्वप्रतीतत्वमलङ्कृतत्वं चार्थः' (पृ० ४८)। यदि कारिकाकार और वृत्तिकार एक व्यक्ति थे तो वह वृत्ति में एक अर्थ करते। (ख) कारिका २।१० है—'समर्पकत्वं काव्यस्य यत्तु सर्वरसान् प्रति। स प्रसादो गुणो क्षेयः सर्वसाधारणिक्रयः॥' (पृ० २२४) इसमें 'सर्वरसान् प्रति' के अनुसार 'सर्वसाधारणिक्रयः' का 'सर्व' शब्द 'सर्वरस' का निर्देशक है, किन्तु वृत्ति में 'सर्वरससाधारणो गुणः सर्वरचनासाधारणक्ष्य' है, इस प्रकार दूसरी व्याख्या अनावश्यक है और (डॉ० मुकर्जी ने जैसा कि कहा है) 'उत्सूत्रव्याख्यान' है। (ग) ३।१९ कारिका का उत्तरार्थ है—'रसस्य स्याद् विरोधाय कृत्यनौचित्यमेव वा।' इसकी वृत्ति में 'वृत्ति' शब्द के तीन अर्थ हैं। (श्री वर्मा के लेख का यह उद्धरण श्री काणे महाशय ने अपने ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है)।

म० म० काणे महाशय प्रन्थ के नाम के सम्बन्ध में निर्देश करते हैं कि प्रन्थ की पुष्पिकाओं (Colophons) में इसे प्रायः सहत्यालोक, सहत्यहृत्यालोक, काव्यालोक, काव्यालङ्कार और ध्वनि कहा गया है। लोचन के आरम्भिक दूसरे पथ में प्रन्थ का नाम 'काव्यालोक' निर्देष्ट है (यिकिश्चिदप्यनुरणन् स्फुटयामि काव्यालोकं सुलोचनियोजनया जनस्य)। लोचन (चतुर्ध उद्योत) के अन्त का दितीय क्षोक आनन्दवर्धन के प्रन्थ का नाम 'काव्यालोक' कहता है (आनन्दवर्धन-विवेक्षिकासिकाव्यालोकार्थतत्त्वघटनादनुमेयसारम्)। अभिनवभारती में स्वयं अभिनवनुप्त ने इसे 'सहदयालोक' कहा है। चतुर्ध उद्योत के वृत्तिग्रन्थ के अन्त में 'काव्याख्येऽनिलसौख्यधान्नि विदुधी-धाने ध्वनिर्देशितः' के अनुसार 'काव्य' शब्द मृलग्रन्थ के नाम का भाग है, अथवा स्वयं नाम है, जिस पर आनन्दवर्धन ने वृत्ति लिखी (सम्भवतः उसे काव्यध्वनि कहा जाता हो अथवा काव्य या ध्वनि)। ३।४७ कारिका के अनुसार कारिकार्ण 'काव्यलक्षण' हैं (वृत्तयोऽपि प्रकाशन्ते ज्ञातेऽरिमन् काव्यल्यणे)। इस प्रकार वृत्ति को 'काव्यालोक' या 'ध्वन्यालोक' कहा गया। कहना कठिन है कि 'सहदयालोक' इस प्रन्थ को कैसे कहा गया। हाँ० सोवानो का विचार है कि 'सहदय' कारिकाओं के स्विद्याला का नाम है।

मुकुल की 'अभिधावृत्तिमातृका', जो 'लोचन' से लगभग सी वर्ष पूर्व लिखी गई थी, लक्षणा में ध्वनिमार्ग को अन्तर्भृत करते हुए 'ध्वनि' को नृतन रूप सं किन्हीं सहदय द्वारा उपवर्णित बताती है—'लक्षणामार्गावगाहित्वं तु ध्वनेः सहदयैन्तनतयोपवर्णितस्य विध्वत दित दिश्च मुन्नेलियितुमिद्र-मुनेत्वक्षण्यामार्गावगाहित्वं तु ध्वनेः सहदयैन्तेनतयोपवर्णितस्य विध्वत दिश्च मुनेलियित्व मिद्र-प्रेश काव्य-वर्त्यांनि निर्द्धपिता' (पृ० १९)। यह स्पष्ट रूप से निर्वेश करता है कि जब मुकुल ने (लगभग ९००-९२५ ई०) लिखी उस समय ध्वनि नया सिद्धान्त था और 'सहदय' ने उसे प्रतिपादित किया था। इसी प्रकार, मुकुल के दिष्य प्रतीहारेन्द्रराज कहते हैं—'न जु यत्र काव्ये सहदयहदयाहा-दिनः प्रधानभूतस्य स्वश्च्यव्यापारास्पृष्टत्वेन प्रतीयमानेकरूपस्यार्थस्य सद्भावस्तत्र तथाविधार्थाभि-व्यक्तिहेतः काव्यंवावितभूतः कैश्चित सहदयैध्वंनिनाम व्यक्षकत्वभेदारमा काव्यथमोंऽभिहितः' (पृ० ७९)। इन उदाहरणों से प्रतीत होता है कि बहुत सम्भव है, सहदय रचयिता का नाम है

जिसने ध्वनि सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, अथवा वहुत अधिक सम्भव है कि यह उसके प्रशंसकों की दी हुई उपाधि हो।

राजशेखर ने 'आनन्द' का नाम लेते हुए 'कान्यमीमांसा' में 'अन्युत्पिक्तितो दोषः ' इस स्रोक को उद्भृत किया है जो ध्वन्यालोक के वृत्तिग्रन्थ का परिकर क्षोक है (पृ० ३४६)। इससे प्रतीत होता है कि ९००-९२५ ई० के लगभग यह सर्वविदित था कि आनन्दवर्धन वृत्ति के रचयिता थे। इससे अभिन्नत्व सिद्ध नहीं होता। जल्हण की सृक्तिमुक्तावलों में राजशेखर के नाम पर यह स्रोक उद्भृत है—

'ध्वनिनाऽतिगभीरेण काब्यतस्वनिवेशिना। आनन्दवर्धनः कस्य नासीदानन्दवर्धनः॥'

इससे प्रतात होना है कि आनन्दवर्धन ने 'ध्वनि' की स्थापना की । प्रतीहारेन्दुराज के उद्धरणों से विदित होता है कि यह कारिका और वृत्ति दोनों के रचयिता को 'सहृदय' कहते हैं।

'वक्रोक्तिजोवित' (कुन्तकरचित) रुदिवकता के उदाहरण में आनन्दवर्धन के निजं शेक 'ताला जाअन्ति गुणा॰' (पृ० १७८) को रखा तथा निर्देश किया—'ध्वनिकारेण व्यक्तचव्यक्षकः भावोऽत्र सुतरां समर्थितः किं पौनरुक्त्येन।' इस प्रकार वक्रोक्तिजावित आनन्दवर्धन को 'ध्वनिकार' कहता हैं।

'लोचन' के बहुत कुछ समसामयिक महिमभट्ट के 'व्यक्तिविवेक' में कारिका और वृत्तिग्रन्थों के लेखक का पृथक्करण नहीं किया है। ध्वनिकार के नाम से कारिकाग्रन्थ ओर वृत्तिग्रन्थ रोनों को आवार्य कुन्तक ने उद्धृत किया है। यहाँ तक कि 'अर्थों वाच्यिवशेष इति स्वयं विवृतत्वाच' (पृ० ८२) के द्वारा स्पष्ट कह दिया कि कारिकाओं के रचियता ने ही स्वयं वृत्ति लिखा है। 'औचित्यिवचारचर्चा' में क्षेमेन्द्र ने 'विरोधां वाविरोधी वा०' (३।२४) इस कारिका को आनन्दवर्धन के नाम के साथ उद्धृत किया है। हमचन्द्र ने 'काव्यानुशासन' में 'प्रतायमानं पुनरन्यदेव॰' (१।४) को आनन्दवर्धन को लिखा है। साहित्यदर्पणकार ने मी कारिका और वृत्तिग्रन्थों को ध्वनिकार की रचना वर्ताई है।

इस परिस्थिति में जब कि कारिकाकार और वृत्तिकार के भिन्न होने और न होने, दोनों के विरोधा प्रमाण मिलते हैं, दो हो रचनाएं समस्या का समाधान कर सकता थां, एक तो 'चन्द्रिका' व्याख्या, जो लोचन से पूर्व ध्वन्यालोक पर लिखो गई थीं, दूसरी भट्टनायक का 'हृदयदर्पण', जिसमें ध्वन्यालोक को खूव आलोचना की गई थीं, किन्तु दुर्भाग्य से दोनों रचनाएं अभी तक उपलब्ध नहीं की जा सकी हैं। म० म० काणे महाशय का ख्याल है कि यदि लोचन का उपयुक्त अंश 'चन्द्रिका' को ठांक रूप में उपस्थित करता है तो लगता है कि 'चन्द्रिका' कारिकाकार और वृत्तिकार को भिन्न मानता है। काणे महाशय 'लोचन' के अंश को मुकुलभट्ट को ठांक मानते हैं तथा कन्तक, महिमभट्ट और क्षेमेन्द्र आदि को कहते हैं कि उन्होंने ठांक परम्परा प्रहण नहीं की।

ध्वन्यालोक में 'सहृदय' शब्द का अनेक स्थलों पर प्रयोग मिलता है। प्रथम कारिका के 'सहृद्यमनः प्रांतये' को वृत्ति है—'रामायणमहाभारतप्रभृतिनि लक्ष्ये सर्वत्र प्रसिद्धन्यवहारं लक्ष्यतां सहृद्यानामानन्दो मनिस लभतां प्रतिष्ठामिति प्रकाश्यते' (पृ० ३७)। इसका दूसरा तात्पर्य यह भो हो सकता है कि आनन्द (आनन्दवर्धनाचार्य) ध्वनि के प्रतिष्ठापक 'सहृदय' के मन में प्रतिष्ठा

प्राप्त करें। 'सह्दयोदयलामहेतोः' यह प्रन्थान्त के श्लोक का शब्द मी सह्दय के उदयलाम के लिए अर्थात् सह्दय द्वारा प्रवर्तित ध्वनि-सिद्धान्त की प्रगति के लिए आनन्दवर्धन का प्रयत्न निर्देश करता है। 'सह्दय' के पर्यायवाची 'सचेतस्' का प्रयोग कारिका, वृत्ति और लोचन में अनेक स्थलों पर मिलता है। लोचन ने 'सह्दय' का लक्षण भी प्रस्तुत किया है (पृ० ३९-४०)। लोचन ने आनन्दवर्धन को 'सहदयचकवर्ती' कहा है (पृ० ४२)।

म० म० काणे लिखते हैं कि कारिकाकार के नाम का प्रश्न कारिका और वृत्ति के लेखक के प्रश्न से पृथक् है। जो विद्वान् भिन्नकर्तृकत्ववादों हैं, तर्क दे सकते हैं कि कारिकाकार का नाम ज्ञात नहीं है। प्रो० सोवानों ने कारिकाकार का नाम 'सहदय' वताया। मुकुल के अनुसार सम्भव है कि कारिकाकार 'सहदय' थे अथवा प्रताहारेन्दुराज के अनुसार समग्र प्रन्थ के रचियता थे। राघवभट्ट ने प्रन्थ का नाम 'सहदयहदयालोक' निर्दिष्ट किया है। अभिनवभारती के उद्धरण के अनुसार अभिनवगुप्त भट्टनायक के प्रन्थ को 'सहदयदर्पण' कहते हैं ('भट्टनायक स्तु ब्रह्मणा परमारमना यदुराहनं सह वया सह वया सह वया पर्यादमना सह दयदर्पण के नाम से यह प्रन्थ उद्धृत है। म० म० काणे महाश्चय 'हदयदर्पण' से अधिक 'सहदयदर्पण' पसंद करते हैं। जैसा कि काणे महाशय समझते हैं अभिनवभारती (भाग १, ५० १७३) में "अत एव सहदयाः स्मरन्ति 'वध (स) य चूडामणिआ' " में 'सहदय' का प्रयोग किसा प्रन्थकार के लिए किया है। कारिकाकार का नाम 'सहदय' धा इसका निर्देश व्यक्तिविवेक के रूप्यककृत व्याख्यान में मां मिलता है, जैसा कि व्यक्तिविवेक के दितीय विमर्श के आरम्भ में लिखा है—'तत्र विभावानुभावव्यभिचारिणामयथायथं रसेषु यो विनियोगस्तन्मात्रलक्षणमैकमन्तरङ्गमाधैरेवोक्ति नेह प्रतन्यते।' इस पर व्याख्यान है—'उक्तिमिति सहदयैः'। इस प्रकार 'सहदयैः' कह कर कारिकायन्थ का निर्देश किया है (ध्वनिकारिका ३।१०)।

अभिन्नकर्ष्कत्ववादी डॉ॰ मुक्जीं का सबसे मूळमूत तर्क है कि परम्परा सम्पूर्ण ध्वन्यालोक की एक व्यक्ति की, वह भी आनन्दवर्धन की कृति मानती है। काणे महाद्यय का मूळभूत आधार है अभिनवग्रस का 'छोचन', जिसमें कारिकाकार और वृत्तिकार को भिन्न रूप से निर्देश किया गया है। दोनों पक्षों के विद्वानों के पास अपने-अपने पक्ष के समर्थन में अन्तः-बाह्य प्रमाण हैं, जिनका विस्तारपूर्वक ऊपर निर्देश किया गया। किन्तु नितान्त सन्देहरहित होकर किसी एक पक्ष में अपना निर्णय देना अत्यन्त कठिन हैं, जब कि अनुकूछ तर्क दोनों पक्षों में संकिछत मिछते हैं। फिर भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि आगे के जिन आळक्कारिकों ने सम्पूर्ण ध्वन्याछोक को ध्वनिकार या आनन्दवर्धन की कृति माना और निर्देश किया है उनको दृष्टि से 'छोचन' भी अवश्य ही गुजरा होगा, ऐसी स्थिति में स्वामाविक था कि 'छोचन' द्वारा कारिकाकार और वृत्तिकार के पृथक्करण के प्रति उनका ध्यान अवश्य आकर्षित होता, किन्तु ऐसा किसी ने नहीं किया। इस प्रकार के पृथकरण को कल्पना डॉ॰ वृह्लर द्वारा प्रस्तुत की गई और काव्यमाछा संस्करण के सम्पादकों ने उसे सर्वथा मान छिया। म० म० काणे महाद्वाय ने उसकी प्रवक्त तकों से युक्तिसंगत पृष्टि की। फिर भी, तर्कों की पेचीदगी से कुछ इट कर सामान्यतः देखें तो अभी तक कारिकाकार और वृत्तिकार देशें जो जनन्दवर्धन ही ठहरते हैं। जब तक 'चिन्द्रका' व्याख्या और मद्दनायक का 'दृदयदर्पण' अन्य प्रकाश में नहीं आ जाते तब तक इस समस्या का पूर्णतः समाधान देना सम्भव नहीं। इसका

अर्थ यह नहीं कि विवाद न्यर्थ है, बल्कि इस प्रश्न पर और भी नवोद्घावित युक्तियों के प्रकाश में विवार करने की आवश्यकता है, हां, आग्रह छोड़ कर। सम्भव है इन सामग्रियों में से किसी एक पक्ष का प्रवल्ल साथक प्रमाण प्राप्त हो जाय। संस्कृत के पण्डित-समाज में आचार्य आनन्द-वर्धन हो कारिकाकार और वृक्तिकार दोनों समझे जाते हैं।

ध्वनि की मान्यता, विरोधी आचार्य और सम्प्रदाय

जैसा कि स्वयं आनन्दवर्धन ने स्वोकारा है, ध्वनि-सिद्धान्त पूर्ववर्तों आचार्यों के ग्रन्थों में अपने स्वरूप में निर्दिष्ट हो चुका था, यद्यपि उसे इस नाम से अभिहित एवं मौलिक रूप से प्रतिपादित करने का श्रेय ध्वनिकार को है। एक प्रकार के गम्यमान या प्रतीयमान अर्थ को स्वीकृति पूर्ववितियों में मिलती है। भामह ने—'गुणसाम्यप्रतीति' (२।३५) का निर्देश किया है, यह सर्वथा गम्यमान औपम्य के सदृश है। 'समासीकि' में भी 'यत्रोक्ते गम्यमानोऽर्थः वताया है। 'पर्यायोक्त' में तो स्पष्ट लिखते हैं—'यदम्येन प्रकारणामिथीयते'। इस प्रकार इनके और भी अलङ्कारों में अन्य गम्यमान अर्थ की स्वीकृति मिलती है।

दण्डी को रचना में भो ध्वनि के सिद्धान्त के संकेत मिलते हैं। 'उदात्त' अलङ्कार में दण्डी लिखते हैं—

पूर्वत्राशयमाहारुयमत्राभ्युद्यगौरवम् । सुन्यक्षितमितिं व्यक्तमुदात्तद्वयमप्यदः॥ (काव्या० २।३०३)

इस प्रकार अन्यत्र भी ध्वनि के संकेत सुविधा से प्राप्त किए जा सकते हैं। उद्भट के 'पर्यायोक्त' में, रुद्रट के परिकर, समासोक्ति, अन्योक्ति आदि में भी यही स्थिति है।

जब आनन्दवर्धन ने प्रतीयमान अर्थ पर आधारित विचार को ध्वनि-सिद्धान्त रूप में स्थापित किया तब विशेष रूप से 'अलङ्कारान्तर्भूत' करने का प्रयत्न हुआ। इस विचार को प्रतीहारेन्दुराज ने उद्भट के 'काव्यालङ्कारसंग्रह' पर लिखे गए अपने व्याख्यान में निर्दिष्ट किया है—

'स (प्रतोयमानः) कस्मादिइ नोपदिष्टः । उच्यते । एवेवालङ्कारेव्वन्तर्भावात् । (पृ० ७९)

वस्तुध्विन को पर्यायोक्त अल्ङ्कार के अन्तर्गत बताते हुए 'रामोऽस्मि सर्व सहे' को पदध्विन मानकर पद में पर्यायोक्त का निर्देश किया है—'न खलु पदे पर्यायोक्तेन न भवितव्यमितीयं राज्ञा-माज्ञा, सूत्रकारवचनं वा।' (पृ० ८२)

ध्वन्यालोक के निर्माण के पश्चात ध्वनि-सिद्धान्त का प्रवल विरोध, उसमें निर्देष्ट विरोधों के वावजूद भी हुआ। ध्वनि-सिद्धान्त के प्रथम विरोधों आचार्य थे प्रतोहारेन्दुराज। इनके गुरु मुकुलमट्ट ने भा अपना 'अभिशावृत्तिमानृका' में लिखा है—'लक्षणामार्गावगाहित्वं तु ध्वनेः सहद्यैन्तृतनतयोप-विगतस्य विधत इति दिशमुन्भोलयितुमिदमत्रोक्तम्' (ए० २१)। इसके अनुसार मुकुलमट्ट ध्वनि को लक्षणा के अन्तर्गत स्वोकार करते थे, ध्वनि को नृतन उद्घावना उन्हें पसंद न आई। उद्घट के कान्यालङ्कारसंग्रह को टांका में मुकुल के शिष्य प्रतोहारेन्दुराज ने ध्वनि को अलङ्कार के अन्तर्गत माना और उसके तीनों भेदों—वस्तु, अलङ्कार और रस के ध्वन्यालोक में दिए उदाहरणों को अलङ्कारों के उदाहरण सिद्ध किया। प्रताहारेन्दुराज अलङ्कारवादी आचार्य थे। इस प्रसंग को इस प्रकार वे प्रसुत करते हैं—

नतु यत्र काब्ये सह्दयहृद्याह्नादिनः प्रधानभूतस्य स्वशव्द्व्यापारास्पृष्टस्वेन प्रतीय-मानेकरूपस्यार्थस्य सद्भावस्तत्र तथाविधार्थाभिक्यक्तिहेतुः काब्यजीवितभूतः केश्चित् सहद्-येध्वीननीम व्यक्षकस्वमेदास्मा काव्यधर्मोऽभिहितः। स कस्मादिह नोपदिष्टः। उच्यते। एप्वेवालङ्कारेष्वन्तर्भावात्। (काव्यालङ्कारसारलघुवृत्ति, ए० ७९)

ध्विन का खण्डन इस प्रकार मुकुल्मट और प्रतीहारेन्दुराज द्वारा प्रसङ्गतः हुआ। किन्तु ऐसे भी आल्ड्यारिक हुए जिन्होंने ध्विन के खण्डन मात्र के उद्देश्य से अपने ग्रन्थ का निर्माण किया। वे थे—मटुनायक, कुन्तक और मिह्मिमटु। ये तीनों काश्मीरी आचार्य थे।

भट्टनायक—ये अभिनवपुप्त से कुछ प्राचीन थे। इन्होंने 'हृदयदर्पण' नामक प्रन्थ की रचना की थी, जो अब तक प्राप्त नहीं हो सका है। उसका अंशतः उल्लेख 'लोचन' में यत्र-तत्र मिलता है। व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट लिखते हैं कि मेरी बुद्धि दर्पण (हृदयदर्पण) को विना देखे ही सहसा यश की ओर प्रवृत्त हो गई है—

सहसा यशोऽभिसर्तुं समुचतादृष्टदर्पणा मम धीः। स्वाळङ्कारविकल्पत्रकल्पने वेत्ति कथमिवावद्यम्॥

'व्यक्तिविवेकव्याख्यान' में स्पष्ट ही लिखा है—'दर्पणो हृदयदर्पणाख्यो ध्वनिध्वंसग्रन्थोऽपि'; इस प्रकार 'हृदयदर्पण' ग्रन्थ ध्वनिध्वंस के उद्देश्य से लिखा गया था, यह बात सिद्ध होती है। लोचन भी इस तथ्य की पूर्णतः पुष्टि करता है। जैसा कि लोचनकार भी भट्टनायक के 'भम धम्मिभ०' इस पद्य पर विचार का खण्डन करते हुए लिखते हैं—'कि च वस्तुध्विन दूपयता रसध्विनस्तदनुग्राहकः समर्थ्यत इति सुप्रुतरां ध्वनिध्वंसोऽयम्' (पृ० ६९)। भट्टनायक को व्यञ्जना शक्ति मान्य न थी, वे अभिधा के अतिरिक्त भावना और भोजकरव ये दो नैये व्यापारों को कल्पना करते थे। भट्टनायक रसिसद्धान्त के युक्तिवादी व्याख्याता थे।

कुन्तक—इन्होंने अपने प्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवित' का निर्माण ध्वनि की स्थापना के विरोध में अवस्य लिखा था, किन्तु इनका उद्देश ध्वनि का खण्डन करना न था बल्कि इनका प्रन्थ वक्रोक्ति का मण्डन हो करना है। आनन्दवर्धन के प्रति इनका भाव सद्भावपूर्ण था और ध्वनि-सिद्धान्त से इनका पूर्ण परिचय था। इन्हें ध्वनि वक्रोक्ति के प्रकारान्तर के रूप में ही मान्य है और रस की उपयोगिता कान्य में स्वीकार करते हुए भी इन्होंने उसे स्वतन्त्र काव्यतत्त्व न मानकर वक्रोक्ति का भेदमात्र माना है। कुन्तक लोचनकार के सम्भवतः समकालिक थे।

महिमभट्ट-- लोचनकार अभिनवगुप्त के कुछ हां पाछे इन्होंने 'व्यक्तिविवेक' का निर्माण किया। इनका मूल उद्देश्य ग्रन्थारम्भ के इस पद्य से ही विदित हो जाना हैं--

अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम् । न्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम् ॥

अथोत महिमभट्ट परा वाणी को प्रणाम करके अनुमान में सभी ध्वनि का अन्तर्भाव करने के लिए 'व्यक्तिरिवेक' (व्यक्षना का विवेचन) नाम के प्रन्थ का निर्माण कर रहा है। ध्वनि के स्वश्चणवालों कारिका ('यत्रार्थः शब्दो वा०' ध्व० १।१३) को ध्वां-ध्वा उड़ाने का इन्होंने खूब ही प्रयक्त किया है। ये सर्वथा अमिथावादी थे, और व्यक्तय को अनुमेय मानते थे तथा व्यक्षना

इनके यहाँ पूर्वसिद्ध अनुमान ही थी। ज्यक्त्यब्यक्षकभाव के स्थान पर ये लिक्सलिक्तिभाव के समर्थक के । इनका पक्ष बहुत कुछ बुद्धिसक्त होते हुए भी काव्य के उपयुक्त भावना के बल पर आधारित न होने के कारण इन्हीं तक सीमित रह गया। इन्होंने ध्वनि के उदाहरणों को अनुमान द्वारा मिद्ध किया है।

जैसा कि कहा जा चुका है, आनन्दवर्धन ने ध्वनि-विरोधी पक्षों में तीन पक्षों का निर्देश एवं खण्डन प्रस्तुत किया है, वे हैं—अभाववाद, भाक्तवाद एवं अनिर्वचनीयतावाद। फिर साथ ही उन्होंने अलङ्कारवाद का भी निराकरण किया है।

इसके अतिरिक्त 'जयरथ' ने 'अलङ्कार-सर्वस्व' पर लिखे अपने व्याख्यान में किसी अनिर्दिष्ट ग्रन्थकार की दो कारिकाओं का उल्लेख किया है, जिनमें ध्वनि के सम्बन्ध में १२ विप्रनिपत्तियां निर्दिष्ट हैं—

> तात्पयंशक्तिरभिधा रुज्ञणानुमिती द्विधा। अर्थापत्तिः क्रचित्तन्त्रं समासोक्त्याद्यस्टङ्कृतिः ॥ रसस्य कार्यता भोगो न्यापारान्तरबाधनम् । द्वादशेर्थं ध्वनेरस्य स्थिता विप्रतिपत्तयः ॥

इन बारहों को समझने में बड़ी कठिनाई पेश आती है, फिर भी विद्वानों ने इसे संक्षिप्त रूप में इस प्रकार समझाने का प्रयत्न किया है—

- १. तात्पर्य-मोमांसकों को मान्यता, इसका खण्डन ध्वन्यालोक-लोचन में विस्तार से मिलता है।
- २. अभिधा-यह अति प्राचीन मीमांसकों की मान्यता के अनुसार है।
- ४. लक्षणा के दो भेद—जहत्स्वार्था और अजहत्स्वार्था ।
- ५-६. अनुमान के दो भेद-(ये दोनों ज्ञात नहीं)।
- ७. अर्थापत्ति-यह अनुमान पक्ष का ही परिष्कृत रूप है।
- ८. तन्त्र-यह इलेषालङ्कार की मान्यता के सदृश प्रतांत होता है।
- ९. समासोक्ति आदि अलङ्कार-इसका खण्डन ध्वनिकार ने स्वयं प्रस्तुत किया है।
- १०. रसकार्यता यह रस के प्राचीन व्याख्याकारों की मान्यता है। भट्ट लेख्ट आदि का पक्षा
 - ११. भोग-यह भी रसध्विन का विरोधी पक्ष है। यह भट्टनायक का पक्ष है।
- १२. ब्यापारान्नरवाधनम् जैसा कि डॉ॰ राघवन् का विचार हैं, यह कुन्नक की वक्रोक्ति का निर्देश करता हैं, किन्तु प्रो॰ म॰ म॰ कुप्पुरवामी शास्त्री समझते हैं कि वक्रोक्ति तो अलङ्कार-पक्ष में कह हो दी गई है। यह मान्यता अनिर्वचनीयतावाद की सूचिका है।

ध्वनि और अन्य प्रस्थान

ध्वित और रस—ध्वन्यालोक में ध्वित के तीन प्रकार निर्दिष्ट हैं—वस्तुध्वित, अलङ्कारध्वित और रसध्वित । रस इस प्रकार एक ध्वित है, किन्तु ध्वितकार ने जिस ध्वित को काव्य के आत्मा के रूप में स्वीकार किया है वह मुख्यतया रस ही हैं ('काव्यस्यातमा स एवार्थः', ध्व० १।५)। स्पष्ट ही, जैसा कि लोचनकार 'स एव' पर लिखते हैं—'स एवेति प्रतीयमानमानेऽपि प्रकान्ते नृतीय

यव रसध्वनिरिति मन्तन्यम् , इतिहासवलात् प्रकान्तवृत्तिप्रन्थार्थवलाच । तेन रस एव वस्तुत् आत्मा, वस्तवलक्कारध्वनी तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्येते इति वाच्यादुत्कृष्टौ तावित्यभिप्रायेण ध्विः कान्यस्यात्मेति सांमान्येनोक्तम् ।' (पृ० ८६) इस प्रकार आनन्दवर्थन ने ध्वनि-सिद्धान्त द्वारा रसतक्त की कान्य में सबसे उच्च पद पर प्रतिष्ठा की । इसका मात्र कारण यह थः कि रस केवल व्यक्त्य ही होता है, वाच्य से उसका संस्पर्श वन ही नहीं सकता, इसी कारण वह अलौकिक भी है। कान्य के अन्य सभी तत्त्व रस की अभिन्यित्त के साधनं के रूप में ही आकर आदरणीय होते हैं। रस-सम्प्रदाय में रस को यह प्रतिष्ठा नहीं मिली और अलङ्कारवादियों ने तो इसे एक प्रकार के अलङ्कार के रूप में मान लिया था । ध्वनिकार का तो स्पष्ट कथन है—'अयमेव हि महाकवेर्मुल्यो ज्यापारो यद रसादीनेव मुख्यतया कान्यार्थीकृत्य तद्व्यक्त्यनुगुणत्वेन शन्दानामर्थानाञ्चोप-निवन्थनम् ।' (पृ० ४४२)

ध्वित और अळङ्कार—प्रतोयमान अर्थ से, जिसके आधार पर ध्विन-सम्प्रदाय प्रवृतित हुआ, अळङ्कारवादों नामह, उद्मट प्रमृति आचार्य अपिरिचित न थे, साथ ही काव्य का प्राणभूत रस भी उन्हें अविदित न था, फिर भो उसे उन्होंने उचित स्थान न देकर अळङ्कार में ही अन्तर्भुक्त कर छिया। अळङ्कारवादियों ने एक ओर अपस्तुतप्रशंसा, समासोक्ति, आक्षेप प्रमृति अळङ्कारों में प्रतीयमान अर्थ के अनेक प्रकारों को अन्तर्निवष्ट कर छिया। जब ध्विनकार ने रस को काव्य के आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया तब अळङ्कारों को स्थित कुछ अपने रूप में स्पष्ट हुई। ध्विनकार के अनुसार अळङ्कारों को सार्थकता अळङ्कारों को श्वास वढ़ाने में है, जब उनका निवेशन काव्य में रसादि के तात्पर्य से होगा तभी वे 'अळङ्कार' मी कहळाएंगे—

रसभावादितात्पर्यमाश्चित्य विनिवेशनम् । अळङ्कृतीनां सर्वासामळङ्कारत्वसाधनम् ॥ १० २०८

कान्य में उस अलङ्कार का कुछ भो स्थान नहीं, जो रस की न्यक्षना में सहयोग नहीं करता।
रसाभिनिविष्ट किव के समक्ष अलङ्कार स्वतः आने लगते हैं। और जब अलङ्कार रसभावादि के
तात्पर्य से शुन्य होकर किव द्वारा निवद्ध किया जाता है तब चित्रकान्य का विषय होता है—

रसभावादिविषयविवज्ञाविरहे सति । अळङ्कारनिवन्धो यः स चित्रविषयो मतः॥ ५० ५२८

ध्विन और आचित्य—औचित्य-विचार, जो क्षेमेन्द्र में अपना पहावित रूप ग्रहण कर एक सम्प्रदाय बन गया, उसके विकास में ध्विनकार आचार्य आनन्दवर्धन का विशेष योग था। आनन्दवर्धन ने औचित्य को काज्य के प्राणमृत रसध्विन के साथ सम्बद्ध कर दिया। ध्वन्यालोक में अलङ्कारीचित्य, गुणोचित्य, सङ्कटनोचित्य, विषयौचित्य आदि का विस्तार से निरूपण मिलता है। औचित्यसिद्धान्त के प्रतिष्ठित होने का समंग्र श्रेय आनन्दवर्धन के इस श्लोक को दिया जा सकता है—

अनौचित्याद् ऋते नान्यद् रसभक्तस्य कारणम् । औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा॥

इस प्रकार यदि काव्य को आत्मा रस है तो निश्चय हो रस का परम गूढ़ रहस्य औचित्य है। यहां ध्वन्यालोक की यह कारिका भी उल्लेखनीय है— वाच्यानां वाचकानाञ्च यदौचित्येन योजनम् । रसादिविषयेणैतत् कर्म मुख्यं महाकवेः॥ ३।३२

ध्वित और रीति—ध्वित की प्रतिष्ठा के पूर्व आचार्य वामन ने कान्य के आत्मा के रूप में रीति को प्रतिष्ठित कर दिया था। उनके अनुसार रीति विशिष्टा पदरचना है, पदरचना में वैशिष्ट्य का सम्पादन गुणों द्वारा होता है (विशेषो गुणात्मा)। आनन्दवर्धन ने पदरचना रूप रीति को 'संघटना' के नाम से अभिहित किया। उचित पदसंघटना से रस के उन्मोलन में सहायता पहुँचती है इस विचार से ध्वनिकार ने रीति को रस से उपकार्योपकारकभाव रूप से सम्बद्ध कर दिया। ध्वनिकार के अनुसार रीति का प्रवर्तन ध्वनितत्त्व के स्फुट रूप से स्फुटित न होने के कारण ही हुआ, जैसा कि यह निर्देश करती है—

अस्फुटस्फुरितं कान्यतस्वमेतद् यथोदितम् । अज्ञाननुवद्भिन्यांकर्तुं रीतयः सम्प्रवर्तिताः॥ ध्व० ३।४६

आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में रीति पर जो विचार किया है वह उनकी मौलिक प्रतिभा का संकेत करता है। ध्वनिकार का रीतिप्रकरण इस कारिका से आरम्भ होता है—

> गुणानाश्चित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा । रसान्—॥ ३।६

संघटना और गुणों के सम्बन्ध का तर्कपूर्ण विवेचन यहाँ ध्वनिकार ने प्रस्तुत किया है। ध्वनि और द्वसि—आनन्दवर्धन ने उपनागरिका आदि दृसियों को गुणों से अभिन्न माना है। वे दो प्रकार की वृत्तियों से परिचय रखते हैं, एक कैशिको आदि वाच्याश्रय नाट्यवृत्तियां और दूसरी वाचकाश्रय उपनागरिका आदि वृत्तियों। इन्हें भी रस के अनुगुण होना चाहिए—(वृत्तयों हि रसादितात्पर्येण सिन्नवेशिताः कामिप कान्यस्य नाट्यस्य च छायामावहन्ति)। ध्वनिकार की कारिका है—

रसाद्यनुगुणस्वेन न्यवहारोऽर्थशब्दयोः। औचित्यवान् यस्ता एव वृत्तयो द्विविधाः स्थिताः॥ ३।३३

ध्वनिकार के अनुसार उपनागरिका अगदि वृत्तियां शब्दतत्त्व पर आश्रित हैं और कैशिका आदि वृत्तियाँ अर्थतत्त्व पर—

> शब्दतत्त्वाश्रयाः काश्चिद् अर्थतत्त्वयुजोऽपराः। वृत्तयोऽपि प्रकाशन्ते ज्ञातेऽस्मिन् कान्यलच्चे॥ २।४७

ध्विन और वक्रोक्ति—वक्रोक्ति का प्रयोग सर्वप्रथम भामह द्वारा हुआ— सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽथों विभान्यते। यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना॥

भामह् के अनुसार अतिश्वयोक्ति ही वक्रोक्ति है। यह समय अरुङ्गारों का मूल है। आनन्दवर्धन भी इस विचार से सर्वथा सहमत हैं, जैसा कि उनका कथन हैं—'अतिश्वयोक्तिगर्भता सर्वालङ्गारेषु शक्यिक्रया। तत्रातिश्वयोक्तिर्यमलङ्गारमिषितिष्ठति कविप्रतिभावशात्तस्य चारुत्वातिश्वययोगोऽ-न्यस्य त्वलङ्गारमात्रतैवेति सर्वालङ्गारशरीरस्वीकरणयोग्यत्वेनाभेदोपचारात् सैन सर्वालङ्गाररूपेत्यय- मेवाथाँऽवगन्तव्यः ।' (ध्व० पृ० ४९८) वकोक्ति का एक सम्प्रदाय के रूप में विकास आनन्दवर्धन के पश्चात् आनाम कृत्तक ने किया, वह ध्वनि-सिद्धान्त की प्रतिक्रिया थी। इसी कारण कृत्तक द्वारा इतना मौलिक म से वक्रोक्ति की स्थापना के होने पर भी ध्वनि का विजयस्तम्भ विलक्षक नहीं हिला, वह ज्यों का त्यों अडिग दना रहा।

घ्वन्यालोक के संस्करण

भर्वप्रथम वन्द्रई के कान्यमाला सीरीज में ई० सन् १८९१ में ध्वन्यालीक के प्रथम तीन उद्योत अभिनवगुप्त के लोचन के साथ, और चतुर्थं टीकारहित, मुद्रित हुए, जिनके आवार तीन पाण्डुलिपियां थीं। चतुर्थ उद्योत का लोचन तब अप्राप्त था। इसके द्वितीय संस्करण का प्रकाशन ई० मन् १९११ में हुआ। इसके सम्पादकों (म० म० पं० दुर्गाप्रसाद, काशीनाथ परव और वासुदेव लक्ष्मणशास्त्री पणशीकर) के अनुसार तीन आधारमृत प्रतियों में प्रथम ('क' संज्ञक) प्रति कश्मीर महाराज के आश्रिन ज्योनिर्विद दयाराम शर्मा की पुस्तक का प्रायः अशुद्ध प्रतिरूपक थी। द्वितीय ('तं' संज्ञक) प्रति श्रीरामकः मभाण्डारकर के पुण्यपत्तनस्थ राजकीय पुस्तकालय की पुस्तक थी, यह भी काइमीरिक पुस्तक का प्रतिनयक है। नृतीय ('ग' संज्ञक) प्रति मैसूर के मरिमछप्पा स्टूळ के संस्कृताध्यापक आ० अनन्तात्रार्थ पण्डित के दो सौ वर्ष प्राचीन किसी तालपत्र की प्रतिरूपक थी। यह निर्णय-सागराय कान्यमाला सोरोज का संस्करण मूळ को दृष्टि से प्रायः दोषपूर्ण है। अव कई पाण्डुलिपियां मिल चुकी हैं। जैसा कि म॰ म॰ काणे महाशय का कहना है, अकेले भाण्डारकर संस्थान में पाँच पाण्डुलिपियाँ देवनागरां अक्षरों में और दो शारदा लिपि में प्राप्त हैं। कलकत्ता संस्कृत सीरीज़ ने 'ध्वन्याछोक' कः एक संस्करण मधुसूदनिमश्र छिखित 'अवधान' नामक आधुनिक टांका के साथ प्रकाशित किया। काणे महाशय के अनुसार इसका आधार काव्यमाला संस्करण है। डॉ॰ जाकोबी ने ध्वन्यालोक का जर्मन भाषा में अनुवाद किया। उन्होंने शुद्ध पाठों के सम्बन्ध में कुछ सुझाव भी दिए जो आगे चलकर अधिकांश मान्य हुए। डॉ॰ एस॰ के॰ डे महाशय ने ध्वन्यालोक के चतुर्थ उद्योत के लोचन का सर्वप्रथम सम्पादन किया। फिर काशी चौखम्वा से सम्पूर्ण ध्वन्यालीक तथा सम्पूर्ण लोचन श्रो पट्टाभिरामशास्त्री के सम्पादकत्व में आधुनिक 'बालप्रिया' और 'दिन्याअना' टिप्पणों के साथ १९४० ई० में प्रकाशित हुआ। काशी चौखम्बा से ही पं० वदरीनाथ आ की आधुनिक दौधिति टीका के साथ केवल ध्वन्यालीक प्रकाश में आया। मद्रास से ई० सन् १९४४ में ही ध्वन्याटोक-लोचन का प्रथम उद्योत उत्तुङ्गोदयराज की कौमुदी व्याख्या और म० म० कृपुरवामा द्यार्श्या के 'उपलोचन' के साथ प्रकाशित हुआ।

इसके पश्चान् १९५२ ई० में हिन्दी में सम्पूर्ण ध्वन्यालोक का अनुवाद एवं व्याख्यान आचार्य विश्वेद्दवर मिद्धान्निहारोमणि ने प्रस्तुत किया। इसको भूमिका डॉ० नगेन्द्र एम० ए०, डां० लिट्० ने लिखी। यह कार्य ध्वन्यालोक के मूल से अवगत होने के लिए अवस्य ही प्रशंसा के योग्य है, किन्तु इसमें पाठभेदसम्बन्धी कोई परिवर्तन नहीं हुआ बल्कि बालप्रिया संस्करण वाले पाठों का हो अनुगमन हुआ। १९५५ ई० में पूना ओरियण्टल सीरीज में डॉ० कृष्णमूर्ति ने सम्पूर्ण ध्वन्यालोक का अंग्रेजी अनुवाद प्रस्तुत किया। तत्पश्चात् १९५६ ई० में श्रांविष्णुपद मट्टाचार्य ने ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत का इंग्लिश exposition के साथ सुन्दर संस्करण प्रस्तुत किया। १९५७ ई० में दितीय उद्योत भी इसी कम में प्रकाशित हुआ।

प्रस्तुत अनुवाद और व्याख्यान का आधार-भूत संस्करण चौखम्बा का 'वालिप्रया' वाला संस्करण ही रहा, अतः उसके ही स्वीकृत पाठभेद बहुत कुछ अपरिवर्तनों के साथ यहां लिए गए हैं। व्याख्यान के बाद अनेक स्थलों पर पुनर्विचार के बाद मैं अनेक परिवर्तन और शोधन की दृष्टि से प्रवृत्त हुआ और कुछ मुझे सफलता भो मिली। किन्तु खेद है कि उन परिवर्तनों का निर्देश यहां नहीं कर सका। यत्र-तत्र मुझसे जो कुछ भ्रान्तियां हो गई हैं उनके संशोधन की विनम्न आशा विद्वजनों से करता हूं। मैरे विचार में सलोचन ध्वन्यालोक अभी अपने शोधन, अर्थनिश्चायन एवं मृल्याकृत के लिए अनेक प्रतिभाशाली विचारकों की एकनिष्ठ साधना की प्रतीक्षा में है। मैं अपने इस छोटे से प्रयत्न द्वारा ध्वन्यालोक के अभीष्ट अर्थ तक पहुँचने में यदि जिज्ञासुजनों का सहायक हुआ तो यहां मेरे अम की सार्थकता होगी।

मैंने अपने इस न्याख्यान एवं भूमिका में जिन विद्वानों की कृतियों से लाभ उठाया है उनका ऋणी हूँ। विशेषतः 'लोचन' के अर्थज्ञान में मुझे 'बालप्रिया' ने अधिक सहायता पहुँचाई है, अतः बालप्रियाकार श्री रामषारक महोदय का मैं विशेष ऋणी हूँ। पुनः अपनी बुटियों के प्रति विद्वानों से क्षमा-प्रार्थना के साथ—

जगन्नाथ पाठक

ञ्चद्धिपत्र

(ध्वन्यालोक)

अशुद्ध	र्वेड	पंक्ति	গুৱ
वर्णसंघटनाथमश्चि	१७	. ś	सङ्घटनाथर्माश्च
तत्समतान्तःपातिनः	. 48	8	तत्समयान्तःपातिनः
व्याप्यन्त	१६१	Ų	ब्याप्यन्ते
थेप्पन्ति	१७८	२	घेप्पन्ति .
रूपकादिर-	२३७	ą	रूपकादेर-
वाच्यत्वे न	300	8	वाच्यःवेन
शृङ्गारे ते न	३२८	ą	शृङ्गारे तेन
ते न वर्णा	३२८	4	तेन वर्णा
गुणरूपत्वे गुणरूपत्वे	३४७	¥	गुणरूपत्वे
एतच एमदीये	४२८	Ę	एतच मदीये

(लोचन)

अशुद्ध	ag.	पंक्ति	शुद्ध -
–भावेनार्थवत्त्वा–	. 50	2	-भावेनार्थतन्वा-; -भावेनार्थत्वा-
श्रद्यार्थयोश्चारुत्वं	28	१	शब्दार्थयोयंतश्चारुत्वं
मधुरिवी	८३	२	मधुरिपौ



विषय-सृची

(ध्वन्यालोक-लोचन)

प्रथम उद्योत

	र्व
(क) लोचन का मङ्गलाचरण	
(ख) लोचनकार द्वारा स्वपरिचय	2
(ग) ध्वन्यालोक का मंगलाचरण तथा उस पर विस्तृत व्याख्यान	3
१. ध्वनिविषयक तीन विप्रतिपत्तियां और प्रन्थ का प्रयोजन	
तीन प्रधान विप्रतिपत्तियों का संक्षिप्त निर्देश	
अभावविकल्प के तीनों प्रकारों का संक्षिप्त निर्देश	58
अभाववादियों का प्रथम विकल्प	१ ५ १७
शब्द-अर्थ के चारुत्व के दो भेद	१८
वृत्तियों का स्वरूप-विचार	29
अभाववादियों का दितीय विकल्प	25
अभाववादियों का तृतीय विकल्प	28
अभाववादियों के मत का उपसंहार	20
मनोरथकवि का ध्वनिविरोधी श्लोक	. 39
भाक्तवादियों का विकल्प	28
'भक्ति' शंब्द को व्युत्पत्ति और सङ्गति	30
लो॰ में 'गुणवृत्ति' का अर्थ	25
अलक्षणीयतावादियों का मत	. 34
ध्वनि-स्वरूप के प्रकाशन का उद्देश्य	36
लो॰ में विभिन्न सम्बन्धों का निदेंश	30
'सहदय' का स्वरूप	39
काच्य में ध्विन के अंशत्ववादी मट्टनायक के मत का खण्डन	80
काव्य के मुख्य प्रयोजन के रूप में प्रीति या आनन्द का निर्देश	88
रे. ध्वनि-सिद्धान्त की भूमिका	85
कान्यात्मभूत अर्थ के भेद : वाच्य और प्रतीयमान	
सहदयश्राच्ये विशेषण के तात्पर्य का प्रतिपादन	8.5
	8.R
वाच्य अर्थ के प्रतिपादन का अभाव	84
. प्रतीयमान का वाच्य से भिन्नत्व	8.0
'महाकृति' व्यपदेश का कारण	86
'लावण्य' पर विचार	88
मतीयमान के भेद	40
४ घर मूर्	
CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGan	gotri

	50
C > -> = r · ara 300 517 317 (H	48
बाच्य से वस्तुव्यक्तय का भेद	48
विधिरूप वाच्य में प्रतिषेधरूप व्यङ्गय का उदाहरण	48
'भ्रम धार्मिक° इस गाथा का न्याख्यान	43
अभिहितान्वयवादो के अनुसार शक्का तथा उसका खण्डन	48
अन्वितामिधानवादी के अनुसार शङ्का तथा उसका खण्डन	६२
भूम धार्मिक° पर मट्टनायक के विचार तथा उसका खण्डन	६७
प्रतिषेथरूप वाच्य में विधिरूप व्यङ्गच का उदाहरण और व्याख्यान	७१
इस पर महनायक के विचार का खण्डन	७२
िक्षित्र वास्य में यनभयक्ष व्यक्त्य का उदाहरण और व्यक्तिम	७३
प्रतिषेषस्प वाच्य में अनुमयस्प व्यक्तय का उदाहरण और व्याख्यान	. 68
विषय-भेद से भी व्यक्त्य का वाच्य से भेद-प्रतिपादन एवं उदाहरण	७६
रसादि का वाच्यसामर्थ्य से आक्षिप्तत्व-प्रतिपादन	68
५. इतिहास के ब्याज से रस के काब्यात्मस्य का प्रसाधन	८६
६. प्रतीयमान रस का सहृदयानुभवसिद्धत्व-प्रतिपादन	95
७. प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति कान्यार्थतस्वज्ञों को ही	38
८. व्यङ्गय का प्राधान्य-प्रतिपादन	90
९. वाच्य और वाचक के प्रथम उपादान का युक्तिपूर्वक उपपादन	96
१०, स्यङ्गय अर्थ के वाच्यार्थप्रतीतिपूर्वकत्व का उपपादन	99
११ १२. पहले वाच्यार्थकी प्रतीति के होने पर भी न्यङ्गवार्थ के प्राधान्य की अच्छण्णता	303
१३. ध्वति-कान्य का छत्तण	305
भट्टनायक के मत का दूषण	१०३
चारुत्व-प्रतीति को कान्यात्मा स्वीकार करना	१०४
अलंकारादि प्रकारों में ध्वनि के अन्तर्भाव का निपेध	१०७
'उपसर्जनांकृतस्वार्थों' का स्पष्टोकरण	१०८
'समासोक्ति' में व्यङ्गयानुगत वाच्य के प्राधान्य का प्रतिपादन	१०९
'आक्षेप' में वाच्य के प्राधान्य का प्रतिपादन	१११
चारुत्व का उत्कर्ष ही वाच्य और व्यङ्गय के प्राधान्य का आधार	११४
'अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति' में वाच्य के प्राधान्य का प्रतिपादन	११७
'पर्यायोक्त' में ध्वनि के अन्तर्भाव का निराकरण	११८
'अपबुति' और 'दापक' में वाच्य के प्राधान्य का निर्देश	१२१
सङ्कराख्ङ्कार में भी व्यङ्गय के प्राधान्य की अविवक्षा का निर्देश	१२२
'अप्रस्तुतप्रशंसा' में भी न्यङ्गय के प्राधान्य की अविवक्षा का निर्देश	१३३
पूर्वोक्त विषयों का संक्षेप से प्रतिपादन	१३५
प्रकारान्तर से अल्ङ्कार और ध्वनि के तादाल्य का निराकरण	१३६
'सूरिमिः कथित' इस कारिका भाग का व्याख्यान	१३७
वैवाकरणों के अनुसार ध्वनि	१३८

अमाववादियों के प्रति उत्तर का उपसंहार	ag
ध्वनि के दो भेद	१४२
अविवक्षितवाच्य ध्वनि का उदाहरण	१४३
विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि का उदाहरण	१४५
भाक्तवादी के मत के दूषण का उपक्रम	१४६
१४. भक्ति और ध्वनि के एकस्व का निषेध	१४८
कवियों द्वारा उपचरित शब्दवृत्ति से व्यवहार के उदाहरण	186
१५. उक्त्यन्तर से अशक्य चारुत्व का न्यक्षक शब्द 'ध्वनि' है	१५१
ं ९ ९६ शब्द मा ध्वान के विषय नहीं होने	144
१७. गुण-वृत्ति से वोध्य अर्थ में जहर मतलकारि कर दे	१५६
10. छच्चणा-ध्यापार आर ध्वनन-ध्यापार का भिन्न-निवसका	340-
भाक्त के ध्वान का लक्षण होने पर अन्यापि का निर्देश	348
गौण और लाश्चणिक के भेद का प्रतिपादन	१५९
लक्षणा के भेद	१५९
रत्यादि-प्रतीति का शाब्दत्व न स्वीकारने वाले मीमांसक का मत एवं उसका दूपण	१६०
विश्वासाय में अध्यासभाव की उपपादन	१६१
१९. मक्ति को किसी ध्वनि-भेद का जालका गाउ होत	१६४
२०. अलचणीयतावादी के मत का दूपण	१६७
	१६९
द्वितीय उद्योत	
१. अविविचित्रवाच्यध्वनि के दो भेद	
अर्थःन्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि के उदाहरण	308
अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि के उदाहरण	१७५
	१८०
२. विविचितान्यपरवाच्य ध्विन के दो भेद ३. रसादि का ध्वनिस्व	१८३
भावध्वनि का उदाहरण	165
व्यक्तिमार्ग भागें हे जीन पर्य (१८४
ब्यमिचारी भावों के तीन धर्म (उदय, स्थिति, अपाय) और सन्धि तथा शबस्ता रसध्वनि का उदाहरण	१८४
	१८८
. रसध्वनि का विषय	968
रस के विषय में भट्टनायक के मत का उपपादन	१९०
पूर्वोक्त मन का खण्डन	१९३
रस के सम्बन्ध में विभिन्न मत	१९६
रसायळक्कार का विषय	209
गुद्ध रसाचलङ्कार का उदाहरण	२०३
सङ्गीर्ण अङ्गभृत रसादि का उदाहरण	२०६

ध्वनि, उपमादि अलङ्कार तथा रसवदाबलङ्कार का भेदोपसंहार	२०९
चतन वस्तुओं के वाक्यार्थीभाव की स्थिति रसाद्यलङ्कारस्य का खण्डन	२११
चेतन वस्तुआ क्ष वानपापाना आर्थाः	२१६
६. गुण और अलङ्कार के लचण	२१७
७. माधुर्य गुण का आधार ८. श्रङ्गार, विप्रलम्भ श्रङ्गार तथा करुण में उत्तरोत्तर माधुर्य की आर्द्रता	388
८. श्रुहार, विप्रक्रम श्रुहार तथा करून म	२२०
९. ओजस् के आधार (तथा उदाहरण)	र २४४
१०. प्रसाद गुण का स्वरूप ११. श्रुतिदुष्टादि अनित्य दोषों के ध्वन्यात्मक श्रुक्तार में हेयस्व का प्रतिपादन	२२५
११. श्रुतिदुष्टादि आनत्य दाया के व्यन्यासिक का प्रतिपादन	२२७
१२. विवित्तान्यपरवाच्य ध्वान के अक्षा के आपनार	२२८
शृङ्गार के स्वगतभेद	२२९
१३. सचेतस् जनों के लिए दिल्मात्र कथन	२३०
१४. शक्कार के प्रभेदों में अनुपास के व्यक्षनकरवासाव का उपपादन	२३०
१५, विशेषतः विप्रलम्भ श्रङ्गार में यमक आदि का प्रतिपेध	२३१
१६. ध्वनि में रसाचिप्त रूप से बन्ध वाले अलङ्कार का उपपादन	२३४
पूर्वोक्त विषयों का संग्रह	३३ ५
१७. रूपकादि अलङ्कारों के श्रङ्गारव्यक्षकत्व का उपपादन	२३६
१८-१९. रूपकादि अलङ्कारवर्ग के विनिवेशन में समीना	230
ने अक्टा में अलकार की विवक्षा का उदाहरण	284
रम के तात्पर्ध में भी अलङ्कार के अङ्गी रूप से विविक्षत होने का उदाहरण	
अङ्ग रूप से विवक्षित होने पर भी अवसर में ग्रहण की उदाहरण	२३९
गृहांत अलङ्कार के भी अवसर में त्याग का उदाहरण	२४१
संतुष्टि के विषयापद्दार की स्थिति	583
इसके निर्वाह के लिए अलङ्कार का पूरा निर्वाह नहीं	२४६
निर्वाह के दृष्ट भी अलङ्कार का अङ्ग रूप से प्रत्यवेक्षण	२४७
२०. विवितान्यपरवाच्य ध्वनि के द्वितीय भेद का विभाग	२५०
२१. शब्दशब्रयुद्भव अनुरणनरूप ध्वनि का स्वरूप	२५१
क्षेत्र का उदाहरण	२५१
क्षेत्र जीर शब्दशक्तयुद्भव ध्वनि का विषय-विभाग	र्भ ३
होचन में चार विभिन्न मतों की चर्चा	. २६०
श्रन्द्रशक्तिमूळानुस्त्रानरूपन्यक्षय ध्त्रनि में अन्य अलङ्कारों के उदाहरण	रहा
	२६७
२२. अर्थक्षक्तव्द्वव ध्वनि	209
२३. कविद्वारा स्वोक्ति से आविष्कृत ज्यङ्गय का तृतीय प्रकार	२७।
२४. अर्थज्ञक्सयुद्भव अनुरणनरूप व्यक्तय का विभाग	રહ '
कविद्रीडोक्तिमात्रनिष्यन्न द्वरोर का उदाहरण	२७
क्रिविनबद्धवक्नुप्रीढोक्तिमात्रनिष्पन्न शरीर के उदाहरण	२७
रूपः अर्थक्षक्रसुद्भव में अलङ्कार-ध्वनि	30
२६. गम्यमान रूपक आदि अलङ्कारवर्ग का विस्तार	

		पृष्ठ
20	. अळङ्कारान्तर की प्रतीति में तत्परत्व न होने की स्थिति में ध्वनिष्यपदेशामाव	260
	पूर्वोक्त विषय के अपवाद का निरूपण	२८२
	उपमा-ध्वनि	२८६
	आक्षेप-ध्वनि	२८७
	श्रब्दशक्तिमूलानुरणनव्यक्षय अर्थान्तरन्यासध्वनि	२८८
	अर्थशक्तिमूलानुरणनन्यङ्गय अर्थान्तरन्यासध्वनि	२८९
	व्यतिरेक-ध्वनि के भो दो प्रकार	290
	उत्प्रेक्षा-ध्वनि	२९१
	र लेक्ध्वनि	२९४
	यथासंख्य ध्वनि	२९५
	(लोचन में) दोपक, अप्रस्तुतप्रशंसा, अपह्नुति आदि ध्वनि	२९६
₹6.	अलङ्कार-ध्वनि की प्रयोजनवत्तां का प्रतिपादन	₹00
29.	वस्तुमात्र से अलङ्कार के न्यङ्गय होने पर ध्वन्यङ्गता	309
30.	अलङ्कारान्तर के व्यङ्गग्रत्व की स्थिति में ध्वन्यङ्गता	309
39.	प्रतीयमान अर्थ के अस्फुटत्व में ध्वन्यभाव	
₹₹.	विवित्तवास्य के आभास का विवेक	३०३
₹₹.	. अविवित्तवाच्य के आभास का विवेक	३०७
₹8.	. ध्वनि का उपसंहार	309
	तृतीय उद्योत	
9.	. ध्वनि के दोनों भेदों के पद-प्रकाश और वाक्यप्रकाश रूप	392
	अविवक्षित्वाच्य के अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य प्रभेद में पदप्रकाशता	३१३
	अविविश्ततवाच्य के अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य में पदप्रकाशता	388
	अविवक्षितवाच्य के अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य प्रभेद में वाक्यप्रकाशता	३१७
	अविवक्षितवाच्य के अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य में वाक्यप्रकाशता	३१९
	विविक्षितवाच्य के अनुरगनरूप व्यक्तय के शब्दशक्त्युद्भव में पदप्रकाशता	३२०
	" वाक्यप्रकाशता	३२१
	" अविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्न अर्थशक्त्युद्भव मे पदप्रकाशता .	३२१
	' " " वाक्यप्रकाशता	३२३
	स्वतःसम्मविशरीर अर्थशक्त्युद्भव प्रभेद में पदप्रकाशता	३२३
	" वाक्यप्रकाशता	३२४
	कान्यविशेष ध्वनि के पदप्रकाशत्वादि की अनुपर्यात्त को शङ्का और परिहार	३२५
	पूर्वोक्त विषयों का सङ्ग्रह द्वारा प्रतिपादन	३२६
2	. वर्ण, पद आदि में अलच्यक्रमध्यङ्गय ध्वनि	३२७
	. वर्णी के रसद्योतकत्व का उपपादन	३२६
	पद में अलक्ष्यक्रमन्यङ्गय का बोतन	330
	पदावयव से बोतन	230

	र्म पृष्ठ
वाक्यरूप अलक्ष्यक्रमञ्यङ्गय ध्वनि शुद्ध और अलङ्कारसँकीर्ण	* 333
४. सङ्घटना के स्वरूप का उपपादन	230
५. माधुर्यादि गुणों के आश्रय से सङ्घटना के रसामिन्यक्षकत्व का उपपादन	३३७
गुण और संघटना का भेद-विचार	330
६. सङ्घटना के नियम में हेतु वक्तु-वाच्यगत औचित्य	336
सङ्ग्टना सामान्य में प्रसाद की आवश्यकता का उपपादन	348
७. सङ्घटना का नियामकान्तर विषयाश्रय औचित्य और उसके भेद	345
८. गचवन्ध में भी सङ्घटना का तियामक हेतु वक्तृवाच्यगतं औचित्य	340
९. गद्यवन्त्र में भी रसबन्धोक्त औचित्य के संश्रित संघटना	346
१०-१४. प्रवन्ध का रसादि के न्यञ्जकत्व में नियन्धन	349
अनौचित्य और औचित्य	३६२
कथाशरोर का रसमयत्व	३६६
१५. प्रवन्धों में अनुरणनरूप दूसरा प्रभेद भी भासित होता है	३७६
१६. सुप्तिङ्वचनकारकसमासादि से अलच्यक्रमन्यङ्गय का द्योतन	३७९
'न्यक्कारो ह्ययमेव०' में सुनादि का व्यञ्जकत्व	320
सुवन्त का व्यञ्जकत्व	३८३
तिञ्चतं का व्यक्षकत्व	358
सम्बन्ध का व्यजकत्व	364
निपातों का व्यक्षकत्व	364
उपसर्गों का व्यञ्जकत्व	३८६
पादपौनरुक्त्य का शोभावहत्व	366
काल का व्यञ्जकत्व	३८९
प्रत्यय तथा प्रकृत्यंश का व्यक्षकत्व	३९०
१७. रसमयता के लिए विरोधियों के परिहार की आवश्यकता	1 394
उट-१९. रस के विरोधी तत्त्व	३९६
पूर्व विषयों का संग्रह द्वारा कथन (परिकर-स्रोक)	808
२०. बाध्य अथवा अङ्गभाव को प्राप्त विरोधियों के कथन की निर्दोपता	
रा. एक रस का अङ्गीकार	805
२२. रसान्तरों के समावेश से प्रस्तत रस की अङ्गता जाइन जर्ज	814
रर- पूर्वाक विषय के उपपादनार्थ कथन	834
रेष्ट. अन्य रस के अङ्गी होने पर अविरोधी किरोधी कर कर किरोक कर क	810
े " विराया के विभिन्नेश्रिय होने पर परिचीय होने कर भी होत है	850
प्रावशिया का र्सान्तर के ह्यावधान के मनना में निर्माल	850
. बाच म दूसर रस के होने पर हो उसी है कियार का	४२९
क पाना रता स, विश्वतः श्रृहार में, विशेष्ठ-असिरोध्य विश्ववतीन	४३ ५
े दशेर रस में अतिशय अवधान की अतेन्त	४३६
o. श्रङ्गार-विरुद्ध रस में उसके अङ्गों का स्पर्श दूषित नहीं	850
	260

20 martin 2 families and reduce in the contract of	. 91
३१. रसादि के विरोध-अविरोध के ज्ञान का लाभ	886
३२. बाच्य और वाचक का औचित्य के साथ योजना महाकवि के लिए आवश्यक	. 888
३३. रसादि के तारपर्य से संनिवेशित वृत्तियों का शोभावहत्व	885
रसादि का इतिवृत्तादि के साथ गुणगुणिन्यवहार की शङ्का और उसका समाधान	885
वाच्य और व्यक्त्य की एक काल में प्रतीति की शक्का और समाधान	888
वाक्य का व्यक्षकत्व स्वीकार न करने वाले मीमांसक के मत का आक्षेप तथा समाधान	४५४
न्यअकृत्व और गीणत्व में स्वरूपतः और विषयतः भेदोपादान	४६४
व्यङ्गय और व्यज्ञक का स्परूप-विवेक	860
३४. कान्य का दूसरा प्रकार गुणीभूत न्यङ्गय	899
त्रिविध गुणीभूतन्यक्रय का निर्देश	४ं९३
३५. कान्यवन्धों में गुणीभूतन्यक्षय के प्रकार की योजनीयता	४९६
३६. गुणीभूत च्यङ्गय के कारण अलङ्कारों की रम्यता का निर्देश	899
मामह का अतिरायोक्ति-लक्षण	. 899
३७. प्रतीयमानकृत छाया और स्त्रियों की लजा	प०६
३८. काकु से अर्थान्तर-प्रतीति के स्थल में गुणीभूतन्यक्षयत्व	406
३९. गुणीभूतव्यङ्ग्य के विषय में ध्वनि की योजना नहीं करनी चाहिए	499
४०. रसादितात्पर्य की पर्यालोचना से गुणीभूतव्यङ्गय का भी ध्वनिरूपत्व	498
वाच्य-च्यक्तय के प्राधान्याप्राधान्य के विवेक के लिए प्रयत्न का निर्देश	420
'लावण्यद्रविणव्ययो०' में व्यामोह का निर्देश	486
अप्रस्तुतप्रशंसा के तीन प्रकार	५२१
४९. ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्गय के अतिरिक्त चित्र	५२५
४२. चित्र कान्य के दो भेद	454
' चित्र' शब्द का अर्थ-निरूपण	4२६
पूर्वोक्त विषयों का संग्रह	426
कवि का स्वातन्त्र्य	५३०
संग्रह द्वारा कथन	
४३. सङ्कर और संसृष्टि से ध्वनि का अनन्तप्रकारस्व	4३२
ध्वनिप्रभेदसंकीर्णत्व का निरूपण	प३३
गुणीभूतव्यङ्गधसंकीर्णत्व का निरूपण	५३४
वाच्चालङ्कारसङ्घोर्णत्व का निरूपण	५३६
वाच्याळ्झारसस्यत्व	480
संस्रष्टालङ्कारान्तरसंकोणे ध्वनि	488
संस्रष्टालङ्कारसंस्रष्ट ध्वनि	480
४४. हवित के स्थेन और भी भी भी भी	489
४४. ध्वनि के प्रभेद और प्रभेद-भेदों की अनन्तता	440
४५. सत्काब्य को करने के लिए या जानने के लिए ध्वनि प्रयस्तपूर्वक विवेचनीय	449
४६. रीतियों के प्रवर्तन का कारण	449
४७. शब्दतस्वाश्रय और अर्थतस्वाश्रय वृत्तियों का प्रकाशन	949

(४६)

चतुर्थ उद्योत

	पृष्ठ
१. ध्वनि के ब्युरपादन में प्रयोजनान्तर कवियों की प्रभिभा का आनन्त्य	440
२. ध्वनि के अन्यतम प्रकार से भी वाणी का नवत्व	446
अत्यन्तितरस्कृतवाच्य के आश्रयण से वाणी के नवत्व का उदाहरण	449
अर्थान्तरसंक्रीमतवाच्य के समाश्रयण से वाणी के नवत्व का उदाहरण	4६१
विविक्षतान्यपरवाच्य के उक्त प्रकारों के आश्रयण से वाणा के नवत्व के उदाहरण	५६२
३. इस युक्ति के आश्रयण से रसादि ध्वनि-मार्ग के बहुप्रकारत्व का उपपादन	4ई8
थ रस के परिग्रह से दृष्टपूर्व अर्थों का नवत्व, मधुमास में वृत्तों की भारत	4६७
विविश्वतान्यपरवाच्य के शब्दशक्तिमूल-अर्थशक्तिमूल अनुरणनरूपव्यङ्गय के समाश्रयण से	
न्वत्व के उदाहरण	4६७
अर्थशक्तिमूळ अनुरणनरूप व्यङ्गय के कविनिवद्धवक्तुप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीर होने से नवत्व	५६९
५. विविध व्यङ्गयव्यक्षकभाव के होने पर भी कवि को रसमय काव्य के निर्माण में	
सावधान होना चाहिए	पहर
अङ्गो रस को स्थिति में छायातिशय के प्रसंग में रामायण और महाभारत क्रमशः करुण	
और शान्तरस के मुख्यत्व का उपपादन	400
छोचन में गुणोभूतव्यङ्गय के विविध व्यङ्गय के प्रकारों के आश्रयण से नवत्व के उदाहरण	400
६. प्रतिमागुण के कारण कान्यार्थ के विराभ के अभाव का प्रतिपादन	460
७. देश, काल आदि अवस्थामेद से शुद्ध वाच्य के भी आनन्त्य का प्रतिपादन	46३
८. अवस्थादि से विभिन्न वाच्यों का निवन्धन छच्य में अधिक, रसाश्रय से शोमित	49३
९. औचित्यानुसारिणी देशकाळादिभेदिनी रसादिसम्बद्ध वस्तुगति	प९३
१०. काव्यस्थिति का अत्तरयस्य	49३
११. संवादों की बहुलता	488
१२. कविवाणी के मिथःसंवाद में भी उनका भिन्नविषयकत्व	488
१३. संवाद के विभाग	494
१४. सदश वस्तु के प्रतिपादन में भी काव्य का नवत्व	498
१५-१६ पूर्वोक्त वस्तु के प्रतिपादन में किव को दोष नहीं ५	96-6
१७. कवि को भगवती सरस्वती का योग	499
१८. उपसंहार	600
परिशिष्ट	
१. ध्वनिकारिकार्धसूची	E04
२. वृत्तिप्रन्थ-पद्यस्ची	E09
३. छोचन में उद्भृत उदाहरणपद्यों एवं वाक्यों की सूची	६१२
४. ध्वन्यालीक में उद्धत प्रन्य और प्रन्यकार	698
५. छोचन न्याख्यान में उद्घत प्रन्य और प्रन्यकार	398

ध्वन्यालोकः

'लोचन' 'प्रकाश' संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतः

प्रथम उद्योतः

लोचनम्

श्रीभारत्ये नमः

अपूर्वे यद्वस्तु प्रथयति विना कारणकलां जगद्वावप्रख्यं निजरसभरात्सारयति च। क्रमात्प्रख्योपाख्याप्रसरसुभगं भासयति तत् सरस्वत्यास्तत्त्वं कविसहृदयाख्यं विजयते ॥

जो कारण-सामग्री के लेश के बिना, अपूर्व (सर्वथा नवीन) वस्तु को उत्पन्न करता—फैला देता है और पत्थर के समान (नीरस) जगत् को अपने रसमार हे सारवान् बना देता है तथा कम से प्रख्या (किव की प्रतिमा) और उपाख्या (वसन) के प्रसर से सुमग (हुद्य) होता हुआ (वस्तुजात को) मासित करता है, वह किव और सहृदय द्वारा आक्यात सरस्वती का तत्त्व (काव्य) विजयी है (सबसे बढ़कर है)। प

5

१. श्रीमान् आचायं अभिनवगुप्तपाद ने अपने 'छोचन' व्याख्यान के आरम्म में ममस्कारात्मक मङ्गळ 'सरस्वती के कविसद्धदयाख्य तत्त्व' की विजय (उत्कर्ष) के रूप में प्रस्तुत किया है। 'सरस्वती का कविसद्धदयाख्य तत्त्व' यहाँ काव्य ही प्रतीत होंता है, 'क्योंिक कवि 'काव्य' का रचियता होता है और सद्धदय उसका विचारक या अनुशीछनकर्ता, इस प्रकार दोनों के अस्तित्व का प्रक्रमां आधार 'काव्य' है, अतः काव्य क्या है! 'कविसद्धदय' रूप है, 'छोचन' की टिप्पणी 'वार्छप्रिय' में एक दूसरे ढंग से यह भी कहा है कि कवि और सद्धदय, दोनों जिसे आख्यान करते वर्षाय कहते हैं (कविसद्धदयेराख्यायते उच्यते हित), अथवा कि कीर सद्धदय में जिसका 'निरन्तर ख्यान' अर्थात स्फुरण द्वीता है (कविसद्धदययोराख्या, आभीक्ष्येन ख्यानं स्फुरणं यस्य)। वारदेवता सरस्वती ने अपने आपको 'काव्य' के स्वरूप में प्रकट किया है, जैसा कि राजदेखर की 'काव्यभीमांसा' में सरस्वती के पुत्र 'काव्यपुरुष' के कथानक का भी उल्लेख है। यह परम्परा से मारतीय साहित्य की परिनिष्ठित मान्यता है। इस प्रकार 'काव्य' सरस्वती का तत्त्व या परमार्किक रूप है। वह इस कारण उत्कर्ष या विजय को प्राप्त है कि उसकी सृष्टि दृश्यमान सृष्टि से सर्वका अपूर्व है, इसी बात को आचार्य ने मंगळ-कोक के पूर्व तीन चरणों से सिद्ध किया है। पद्मी बात यह कही है कि काव्य (कवि-सद्धदय) वस्तुजात को, विना किसी कारण के सम्बन्य के, अपूर्व अर्थात् सर्वथा नवीन रूप में सामने का देता है, परन्तु इससे न्यूनतम इस्त्रमान जगर की

भट्टेन्दुराजचरणाब्जकृताधिवास-हृद्यश्चतोऽभिनवगुप्तपदाभिधोऽहम्। यिकंचिद्प्यनुरणन्स्फुटयामि काव्या-लोकं स्वलोचननियोजनया जनस्य॥

भट्ट इन्दुराज के चरण-कमलों में रहकर शास्त्रों को हृदयस्य करके मैं अभिनवगुष्त-पाद अपने 'लोचन' के नियोजन द्वारा जो कुछ भी कथन करके लोगों के समक्ष 'काव्या-लोक' (घ्वन्यालोक) को स्पष्ट करने जा रहा हूँ ।

सृष्टि उपादान कारणों के द्वारा होता है, इस ट्रियमान सृष्टि के कर्ता में यह सामर्थ्य नहीं कि विना किसी कारण-सामग्री के सृष्टि कर दे, वह पदे-पदे नियति के नियमों से नियन्त्रित रहता है और दूसरे यह कि उसकी सृष्टि 'अपूर्व' नहीं होती, वहीं देखी-सुनी वस्तुएँ पैदा करता रहता है। उदाहरणार्थ, दृश्यमान कमल जल के विना उत्पन्न नहीं हो सकता किन्तु काव्य में मुखकमल का, जल के विना ही अपूर्व रूप में उत्पन्न होना प्रसिद्ध है। काव्य की दूसरी विशेषता यह है कि दृश्यमान जगत, जो पत्थर की भौति नीरस और कठोर लगता है, को अपनी रस-सम्पत्ति से सारवान् बना देता है तथा अपनी तीसरी विशेषता से, जो प्रतिमा (प्रख्या) और वचन (उपाख्या) के क्रम में विद्यमान है, अपने सभी अपूर्व और सरस निर्माण को हृद्य वनाती है। यह अपूर्वता, सरसता और हचता कविसहदयाख्य सरस्वतीतत्त्व रूप 'काव्य' में एकान्ततः प्राप्त होती हैं, जब कि दृश्यमान जगत् में इन्हें एकान्ततः प्राप्त करना कदाचित् किसी के लिए भी संभव महीं। इस प्रकार यहाँ दृश्यमान जगत् से काव्य-जगत् का उत्कर्ष रूप व्यतिरेक व्यङ्गय होता है। अभिनवगुप्त के इस मङ्गल-स्रोक का साक्षात् प्रभाव आचार्य मन्मट के 'कान्यप्रकाश' के मङ्गल-स्रोक 'नियतिकृतिनियम॰' पर पड़ा प्रतीत होता है। क्योंिक उसमें भी कविनिर्मिति की ब्रह्मनिर्मिति से इक्ट सिद्ध करने के लिए उसे अनियन्त्रित, हुद्य, अनन्यपरतन्त्र तथा नवरसरुचिर कहा है। प्रस्तुत में यह कहना अनुचित न होगा कि आचार्य अभिनवगुप्त के समग्र साहित्य-दर्शन पर उनके स्वयंनिर्मित प्रत्यमिश्चादर्शन का पुष्कल प्रमाव पड़ा है। वे 'शिव' में सुन्दर और सत्य के एकनिष्ठ साक्षात्कर्ता थे। सम्भवतः यहाँ 'सरस्वतां' के रूप में 'स्वतन्त्र चिति शक्ति' अभिमत हो और 'कविसहृदयाख्य' काव्य स्वयं 'शिव' हो

१. आचार्य ने अपने विद्याक्षम को परम्परागत बताते हुए, क्योंकि ऐसा किसी को अम न हो कि इनकी कल्पनाओं, विचारों में परम्परा नहीं है, अपने पूज्यपाद गुरु 'मट्ट इन्दुराज' का उल्लेख किया है। साथ ही अपने मन्तव्यों के पीछे वह अमिनिविष्ट नहीं है, बिल्क वह 'यितिश्चित' अर्थात् जो कुछ मी कहते हुए प्रस्तुत ग्रन्थ को 'स्फुट' करने की प्रवृत्ति रखते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' अपने प्राचीन सङ्केत के अनुसार 'काव्यालोक' के नाम से ही अमिहित रूप में प्राप्त होता है, इसकी 'ध्वन्यालोक' संशा अर्वाचीन प्रतीत होती है। अपनी 'लोचन' टीका के अन्त में भी आचार्य ने इस ग्रन्थ का 'काव्यालोक' के ही नाम से उल्लेख किया है। 'स्वलोचनित्योजनया' अर्थात् अपने 'लोचन' के नियोजन द्वारा; यहाँ 'लोचन' पद प्रस्तुत टीका, विचार तथा मन के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। तात्पर्य यह कि मैं 'लोचन' टीका के रूप में अपना 'विचार' या मन को प्रणिहित करके लोगों के समक्ष 'काव्यालोक' को स्फुट या स्पष्ट कर रहा हूँ। दूसरे यह कि 'लोचन' अर्थात् आँख, प्रस्तुत 'लोचन' के रूप में लोगों को 'आँख' दे रहा हूँ, ताकि 'आलोक' में 'काव्य' को वे स्पष्ट रूप से देख सर्कें। किसी भी विशेष वस्तु को देखने के लिए विशेष 'दृष्टि' की आवश्यकता होती है, बाह्य दृष्टि का उपयोग केवल सामान्य है। इसीलिए 'गीता' में भगवान्

ध्वन्यालोकः श्रीनृहरये नमः

स्वेच्छाकेसरिणः स्वच्छस्वच्छायायासितेन्दवः। त्रायन्तां वो मधुरिपोः प्रपन्नार्तिच्छदो नखाः॥

अपनी इच्छा से केसरी (सिंह) का रूप धारण किये हुये अगवान् मधुरिपु (मधु नामक दैत्य के शत्रु विष्णु) के, स्वच्छ अपनी छाया (कान्ति) से इन्दु की आयासित (खिन्न) करने वाले तथा प्रपन्न (श्वरणागत) जनों की आर्ति का छेदन करने वाले नख आप लोगों की रचा करें।

लोचनम्

स्वयमव्युच्छित्रपरमेश्वरनमस्कारसम्पत्तिचरितार्थोऽपि व्याख्यातृश्रोतॄणा-मवित्रेनाभीष्ठव्याख्याश्रवणलक्षणफलसम्पत्तये समुचिताशीःप्रकटनद्वारेण परमे-श्वरसांमुख्यं करोति वृत्तिकारः—स्वैच्छ्रेति ।

वृत्तिकार⁹ स्वयं विच्छेद-रहित (निरन्तर) परमेश्वर के नमस्कार की सम्पत्ति (परम्परा, आधिक्य) से कृतायं होने पर भी व्याख्याता और श्रोताओं की बिना किसी विघन के अभीष्ट व्याख्या के श्रवण रूप फल-सम्पत्ति के लिये समुचित आशीर्वाद के प्रकाशन द्वारा परमेश्वर का आभिमुख्य करते हैं—अपनी इच्छा—।

कृष्ण ने अपने 'ऐश्वर रूप' को दिखाने के लिए अर्जुन को 'दिव्य चक्कु' देते हुए कहा है—न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्कषा। दिव्यं ददामि ते चक्कुः पश्य में योगमैश्वरम्॥ (११।८) इसी प्रकार आचार्य अमिनव ने यहाँ 'लोचन' का एक विशेष 'वृष्टि' के अर्थ में प्रयोग किया है, जिसे प्राप्त करने के पश्चाद किसी को काव्य का-रहस्य अदृष्ट नहीं रह जाता।

१. वृत्तिकार अर्थात मूल कारिकाप्रन्थ के वृत्तिप्रन्थ का रचिता। प्रस्तुत 'लोचन' का आश्चय यह है कि वृत्तिकार को मङ्गल-श्लोक द्वारा परमेश्वर का नमस्कार करना प्रस्तुत में अमीष्ट न था, क्योंकि वह तो निरन्तर परमेश्वर को नमस्कार करते रहते हुए स्वयं कृतार्थ हो चुके थे, किर भी प्रस्तुत प्रन्थ के व्याख्याताओं और श्रोताओं को अभीष्ट व्याख्याश्रवण की फलसम्पत्ति निर्विष्ट रूप में प्राप्त होती रहे, यह उन्हें परम अभिप्रेत था। इसलिए यहाँ वृत्तिकार समुचित आशीर्वाद के प्रकाशन द्वारा परमेश्वर का साम्मुख्य या आभिमुख्य करते हैं, अर्थात् परमेश्वर से व्याख्याता और श्रोताओं के कल्याण की कामना करते हैं।

यह प्राचीन मारतीय परम्परा से चला आ रहा है कि अन्यकार अपनी ओर से किसी भी इष्ट देवता को अपने और अपने ओतुनर्ग के कल्याण के लिए मङ्गलाचरण के रूप में नमन करता है। अपने लिए प्रायः अन्य की निर्विष्ठ परिसमाप्ति उसे अभिन्नेत होती है। यह मङ्गलाचरण तीन प्रकार के होते हैं, आशोर्वादात्मक, नमस्कारात्मक और वस्तुनिर्देशात्मक। प्रस्तुत मङ्गलाचरण 'आप लोगों की रक्षा करें' इस रूप में होने के कारण आशोर्वादात्मक शैली का है। इसे अन्यकार अपने मन में भी कर ले सकता था; परन्तु प्राचीनकाल में शिष्यों के शिक्षार्थ मङ्गलाचरण को लिपवढ़ करना अनिवार्य समझा जाता था।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि छोचनकार मङ्गळ-स्रोक को प्रस्तुत करते हुए 'बृचिकार' का उल्लेख करते हैं, इससे यह प्रतीत होना स्वामाविक है कि मङ्गळ-स्रोक मूळप्रन्थ का नहीं अपित वृचिप्रन्थ का है। ऐसी स्थिति में आचार्य आनन्दवर्धन यदि मूळप्रन्थकार है तो वृचिप्रन्थ का रचयिता कौन है अथवा आनन्दवर्धन बृचिप्रन्थ के यदि रचयिता है तो मूळप्रन्थ

मधुरिपोर्नखाः वो युष्मान्व्याख्यातृश्रोतृंश्वायन्ताम्, तेषामेव सम्बोधन्योग्यत्वात्; सम्बोधनसारो हि युष्मद्यः, त्राणं चाभीष्ठलाभं प्रति साहायका-चरणं, तच तत्प्रतिद्वन्द्विन्नापसारणादिना भवतीति, इयदत्र त्राणं विविक्षतम्, नित्योद्योगिनश्च भगवतोऽसम्मोहाध्यवसाययोगित्वेनोत्साहप्रतीतेर्वीररसो ध्वन्यते, नखानां प्रहरणत्वेन प्रहरणेन च रक्षणे कर्तव्ये नखानामव्यतिरिक्तत्वेन

मघु के शत्रु (विष्णु) के नख आप सभी व्याख्याता और श्रोताओं की रक्षा करें, त्योंकि वे ही (व्याख्याता और श्रोता) सम्बोधन के योग्य हैं। 'सम्बोधन' युष्मत् शब्द के अर्थ का सार (प्राण) है (सम्बोध्य पदार्थ की उपस्थिति में ही 'युष्मत्' या आप—तुम का प्रयोग होता है)। और, त्राण (रक्षण) अभीष्ट के लाभ के प्रति सहायता प्रदान करना है और वह (सहायताप्रदान) उस (अभीष्ट लाभ) के प्रति इन्हीं विष्नों के अपसारण आदि द्वारा होता है, इस छप में यहां त्राण विवक्षित है। वित्य उद्योगशील भगवान् के असम्मोह और अध्यवसाय से युक्त होने के कारण उत्साह की प्रतीति होने से वीररस ष्वनित होता है। विष्नों के प्रहरण (प्रहार के साधन)

का रचियता कौन है, ऐसे प्रश्न उपस्थित होते हैं। यत्र-तत्र लोचनकार ने 'मूलकृत', 'कारिकाकार' और 'वृत्तिकृत' रूप में व्याख्यान किया है। लेकिन प्राचीन मान्यता यही रहीं है कि आनन्दवर्षन हीं मूलकार. और वृत्तिकार स्वयं हैं। लोचनकार के उल्लेख के अनुसार प्रस्तुत मङ्गलकों के वृत्तिप्रस्थ के रूप में ही छापने की पद्धति चली आ रहीं है, मूल कारिका ग्रन्थ को मोटे अक्षरों में छापा जाता है।

कारिकाकार और वृत्तिकार को अभिन्न मानने वालों का एक तर्क यह भी है कि यदि कारिकायन्थ का कर्ता कोई दूसरा होता तो निश्चय ही वह अपनी ओर से मङ्गलाचरण प्रस्तुत करता। यद्यपि इसके विपरीत एक यह भी युक्ति दी जा सकती है कि 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' इस प्रयोग से कारिकायन्थ का आरम्भ करके निश्चय ही वस्तुनिर्देशात्मक मङ्गल किया गया है, क्योंकि 'काव्य' भी 'शब्दमूर्तिथर भगवान् विष्णु का अंश' माना जाता है। ऐसी स्थिति में यह भी एक प्रकार का मङ्गलावरण हो जाता है। अस्तु, मूल कारिकाकार और वृत्तिकार के भिन्न अथवा अभिन्न होने का विचार प्रामाणिक और तर्कपूर्ण ढंग से 'भूमिका' में आकलनीय है।

१. अमीष्ट व्याख्याश्रवण ही प्रस्तुत प्रयास का फल है, और यह तभी सम्भव है जब व्याख्याता और श्रोत्वर्ण दोनों त्राण (रक्षा) प्राप्त करें। फलतः त्राण उनके अभीष्ट लाम का सहायक सिद्ध होता है। वह भी इस अर्थ में कि उसके द्वारा समग्र प्रतिद्वन्द्वी विद्यों का अपसारण आदि कार्य होते हैं। इस प्रकार यहाँ मगवान् मधुरिपु के नख त्राण या रक्षा करें, अर्थात् अमीष्ट व्याख्याश्रवंण के प्रतिद्वन्द्वी रूप में उपस्थित होने वाले सभी प्रकार के विद्यों का अपसारण करें, यह दित्तार का अभिन्नत अर्थ लोचनकार के मत में प्रकट होता है।

तः प्रस्तुत काव्य आत्मभूत ध्वनितत्त्व का मूळतः प्रतिपादन करता है, अतः यह स्वामाविक है कि प्रन्थकार अपने मक्काचरण में ही 'ध्वनि' के प्रधात रूपों का निर्देश करें। इस उद्देश्य है लोचनकार ने यहाँ रस, वस्तु और अळक्कार के ध्वनित होने का प्रकार बताया है। सर्वप्रथम ध्वनियों में प्रधान रसध्वनि की चर्चों में कहते हैं कि यहाँ वीररस ध्वनित होता है क्यों कि उत्साह की प्रतीति होती है, और उत्साह ही वीररस का स्थायी माव है। उत्साह इसळिए कि अगवान मधुरिपु अपने नखीं द्वारा त्राण-कार्य में नित्य उद्योगशील हैं, एवं उनमें किसी प्रकार की

करणत्वात्सातिशयशक्तिता कर्तृत्वेन सूचिता, ध्वनितश्च परमेश्वरस्य व्यति-रिक्तकरणापेक्षाविरहः, मधुरिपोरित्यनेन तस्य सदैव जगत्त्रासापसारणोद्यम उक्तः, कीदृशस्य मधुरिपोः ? स्वेच्छ्रया केसरिणः, न तु कर्मपारतन्त्र्येण, नाष्यन्यदीयेच्छ्रया, अपि तु विशिष्टदानवहननोचिततथावियेच्छ्रापरिमहौचि-त्यादेव स्वीकृतसिंहक्षपस्येत्यर्थः; कीदृशा नखाः ? प्रपन्नानामार्तिं ये छिन्दिन्तः; नखानां हि छेदकत्वमुचितम्; आर्तेः पुनश्छेद्यत्वं नखान्प्रत्यसम्भावनीयमपि तदीयानां नखानां स्वेच्छानिर्माणौचित्यात्सम्भाव्यत एवेति भावः।

अथ वा त्रिजगत्कण्टको हिरण्यकशिपुर्विश्वस्योदक्तेशकर इति स एव वस्तुतः प्रपन्नानां अगवदेकशरणानां जनानामार्तिकारित्वान्मूर्तेवार्तिस्तं विनाशयद्भिरार्तिहोने से और प्रहार के साधन द्वारा रक्षण के कर्तव्य होने से, अव्यतिरिक्त (अपृथग्भूत) रूप से करण (आम्यन्तर करण) होने के कारण कर्ता रूप देकर अतिशययुक्त शक्तिम्यत्व को सूचित किया है। और, परमेश्वर को व्यतिरिक्त (अपने शरीर से पृथग्भूत) करण (साधन) की अपेक्षा नहीं होती है, यह व्वनित किया। 'मयुरिपु' के द्वारा उस परमेश्वर का उद्योग संसार के त्रास के निवारणार्थं सदैव चलता रहता है, यह कहा है। किस प्रकार के मयुरिपु के? अर्थात् जो अपनी इच्छा से केसरी (सिह, नृसिंह) बन गये, न कि (पूर्व) कर्म की परतन्त्रता के कारण; और दूसरे किसी की इच्छा से भी नहीं, अपितु विशिष्ट दानव (हिरण्यकशिपु) के हनन के लिए उचित उस प्रकार की इच्छा के परिग्रह के औचित्य से ही जिन्होंने सिंह का रूप स्वीकार किया। किस प्रकार कि नख ? जो प्रपन्नों (शरणागतों) की आर्ति (कष्ट) का छेदन करते—निवारण करते—हैं, क्योंकि नखों का छेदकरव उचित है; फिर (नखों के द्वारा) छेद्य होना नखों के प्रति असम्भावनीय होकर भी उन (परमेश्वर) के नखों के अपनी इच्छा से निमित होने के औचित्य से सम्भावित होगा हीं, यह भाव है।

अथवा, तीनों जगत् का कंटक हिरण्यकशिपु संसार को क्लेश पहुंचाने वाहा था, इस प्रकार वही वस्तुतः प्रपन्न, अगवान की एकमात्र शरण में आये हुये जनों का

सम्मोइ नहीं तथा उन्होंने यहीं अध्यवसाय या निश्चय भी कर लिया है। 'दिव्याजना' टिप्पणी में मेरे पूज्य गुरुजी ने 'लोचन' के 'उत्साइप्रतीति' प्रयोग को लेकर बताया है कि यहाँ वीररसं के स्थायी माव उत्साइ के साथ अन्य विभावादि की नान्तरीयक रूप से पानकरसन्यायेन प्रतीति होती है। क्योंकि यह नियम है कि रस के उद्घोषक किसी एक के विद्यमान रहने पर झटिति अन्य तत्त्वों का आक्षेप कर लिया जाता है—

(सद्भावश्च विभावादेईयोरेकस्य वा मवेत्। इटित्यन्यसमाक्षेपे तदा दोषो न विद्यते॥)

इस प्रकार यहाँ उत्साह का आलम्बन मधु दैत्य है, उसके निर्मीकत्वादि का ज्ञान रूप उद्दीपन तथा उसके प्रति अवहेला आदि अनुमात्र एवं गर्व आदि सन्नारियों की प्रतीति उत्साहप्रतीति के साथ हो जाती है। इस प्रकार यहाँ वीररस पूर्णतया ध्वनित होता है। लोचनकार ने 'उत्साह की प्रतीति' को सभी अन्य तत्वों की प्रतीति के उपलक्षण रूप में उल्लेख किया है।

रेवोच्छिन्ना भगवतीति परमेश्वरस्य तस्यामण्यवस्थायां परमकाकणिकत्वमुक्तं, किं च ते नखाः स्वच्छेन स्वच्छतागुणेन नैमल्येन; स्वच्छमृदुप्रभृतयो हि मुख्य-तया भाववृत्तय एव; स्वच्छायया च वक्रहृद्यरूपयाऽऽकृत्याऽऽयासितः—विदित इन्दुर्यैः, अत्रार्थशक्तिमृत्तेन ध्वनिना बालचन्द्रत्यं ध्वन्यते, आयासनेन तत्स-न्निधी चन्द्रस्य विच्छायत्वप्रतीतिरहृद्यत्वप्रतीतिश्च ध्वन्यते, आयासकारित्वं च आतिकारी (दुःखदायी) होने के कारण आति का मूर्तं रूप ही था, उसका विनाश करते हुये (नखों द्वारा) आति ही उच्छिन्न की जाती है, इस प्रकार परमेश्वर का उस अवस्था में भी परमकार्थणिकत्व कहा है। और भी, वे नख स्वच्छ अर्थात् स्वच्छता गुण रूप निर्मलता के द्वारा, क्योंकि 'स्वच्छ' 'मृदु' प्रभृति शब्द मुख्य रूप से भाववृत्ति (स्वच्छता आदि धर्म के वाचक ही हैं; और अपनी छाया से, वक्र एवं हुय रूप आकृति से आयासित, खेदित (खेद को प्राप्त) इन्दु (चन्द्र) है जिनके द्वारा। यहां 'अर्थशक्तिमृत्रुष्टवनि' से इन्दु (चन्द्र) का बालत्व घ्वनित होता है। 'आयास पहुंचाने' से नखों के समीप चन्द्र के विच्छायत्व (कान्तिराहित्य) की प्रतीति

अब इसी प्रसंग में क्रम से श्लोक के विशेषणों से ध्वनित 'वस्तु' का प्रतिपादन करते हैं। स्वयं विशेष्यभूत विशेषण 'मधुरिपु' की व्यक्षना है कि भगवान् जगत् को त्रस्त करने वाले मधु दैत्य आदि के शब्ब होकर जगत्त्रासापसारणार्थ निरन्तर उद्योगशील हैं, अर्थात उनका यह स्त्रमाव दी है कि संसार के भय का निवारण करते रहें। 'अपनी इच्छाशक्ति से केसरी (सिंह) का रूप भारण किए हुए' इस विशेषण की व्यक्षना के अनुसार उन पर न तो किसी प्रकार कर्म की परतन्त्रता है और न दूसरे किसी की इच्छा का दवाव है, विश्व हिरण्यकशिपु जैसे विशिष्ट दानव, जिसने किसी समय, किसी स्थान पर तथा किसी व्यक्ति से न मारे जाने का वर प्राप्त कर लिया था, के इनन को उचित इच्छा के परिमह के औचित्य से ही जिन भगवान् मधुरिपु ने नरसिंह का स्वरूप धारण किया। नखों के विशेषण रूप में कहते हैं 'प्रपन्न जनों की आर्ति का छेदन करने वाले'; नख का उचित कार्य छेदन ही होता है। यद्यपि 'आर्ति' या पीड़ा का छेद्य होना सम्भव नहीं, तथापि परमेश्वर के स्वेच्छानिर्मित नखों द्वारा उसका छेद्य होना भी यहाँ असम्भाव्य नहीं समझना चाहिए। अथवा भगवान् के प्रपन्न प्रहाद आदि जनों के आर्तिप्रद होने के कारण आर्ति का मृतं रूप उस हिरण्यकशिपु का नखों द्वारा छेदन ही यहाँ अभीष्ट है। इस प्रकार ऐसी

१. 'नखों के प्रहरण' से आरम्म करके इस अिह्नत स्थल तक 'वस्तुध्विन' का निरूपण िश्या है। श्रोक में ऐसा नहीं कहकर कि मधुरिपु आप लेगों की रक्षा करें, कहा गया है कि मधुरिपु के नख आप लोगों की रक्षा करें, यथि कि मधुरिपु के नख मधुरिपु से भिन्न नहीं, तथि वे नख मधुरिपु से अनुधक होने के कारण त्राण के कार्य में असाधारण कारण रूप से प्रस्तुत किये गये हैं, क्योंकि नख एक प्रकार के प्रहरण अर्थात प्रहार के साधन, किना आयुध है, आयुध द्वारा अपनी या अन्य को रक्षा ही मुख्य रूप से कर्तव्य होती है। दूसरे यह कि नखों को त्राण का कर्ता बनाकर उनकी सातिश्यशक्तिता अर्थात अतिशय शक्तिमान् होना, सूचित किया है। तास्पर्य यह कि मगवान् मधुरिपु के नख स्वयं ही अपने आप में इस प्रकार पूर्ण सामर्थ्य रखते हैं कि त्राण कर सकें। इससे एक और 'वस्तु' यह भी ध्वनित होती है कि परमेश्वर को जगत के त्राण जैसे कार्य के लिए अपने से अतिरिक्त साधन (व्यतिरिक्त करण) की अपेक्षा नहीं, बल्कि उनका यह कार्य अपने ही शरीर के एक तुच्छ और साधारण तक्त नख से ही सम्पन्न हो जाता है।

नखानां सुप्रसिद्धम् ; नरहरिनखानां तच्च लोकोत्तरेण रूपेण प्रतिपादितम् , किं च तदीयां स्वच्छतां कुटिलिमानं चावलोक्य बालचन्द्रः स्वात्मनि खेदमनु-भवितः; तुल्येऽपि स्वच्छकुटिलाकारयोगेऽमी प्रपन्नार्तिनिवारणकुरालाः; न त्वहमिति व्यतिरेकालङ्कारोऽपि ध्वनितः, किंचाहं पूर्वमेक एवासाधारणवेशद्यहृद्याकारयोगात्समस्तजनाभिलपणीयताभाजन्मभवम् , अद्य पुनरेवंविधा नखाः
दश बालचन्द्राकाराः सन्तापार्तिच्छेदकुरालाश्चेति तानेव लोको बालेन्दुबहुमानेन पश्यति, न तु मामित्याकलयन्बालेन्दुरिवरतमायासमनुभवतीवेत्युत्प्रेक्षापह्नुतिध्वनिरिष, एवं वस्त्वलङ्काररसभेदेन त्रिधा ध्वनिरत्र स्लोकेऽस्मद्गुरुसिव्यीख्यातः।

और अहुद्यत्व की प्रतीति होती है। और नखों का आयासकारित्व सुप्रसिद्ध है, और नृसिंह के नखों का वह (आयासकारित्व) लोकोत्तर रूप से प्रतिपादित है। और भी, उन नखों की स्वच्छता और कुटिलिमा (टेढ़ापन) को देखकर वालचन्द्र अपने आप में खेद अनुभव करता है, स्वच्छ एवं कुटिल आकार के सम्बन्ध के समान होने पर भी (अर्थात् जैसी स्वच्छता और कुटिलिमा नखों में है वैसी ही मुझ बालचन्द्र में है) ये (नख) प्रपन्न जनों की आर्ति के निवारण में कुशल हैं, मैं नहीं, यह 'व्यतिरेक अलङ्कार' भी व्वनित होता है। और भी, मैं पहले एक अकेले ही असाधारण वैशद्य (स्वच्छता) एवं हुद्य आकार के योग से समस्त जनों की अभिलवणीयता का पात्र था, आज फिर इस प्रकार के नख दस बालचन्द्रों के आकार वाले और सन्ताप तथा आर्ति के छेदन में कुशल हैं, जन्हें ही संसार बालचन्द्र के बहुमान से देखता है न कि मुझे, इस प्रकार आकलन करता हुआ बालचन्द्र निरन्तर आयास को जैसे अनुभव करता है, यह 'उन्हें सार 'अपहुति' का व्वनि भी है। इस प्रकार हमारे गुरुजी (मट्ट इन्दुराज)। वस्तु, अलङ्कार और रस के भेद से तीन प्रकार के 'व्वनि' का इस श्लोक में व्याख्यान किया है।

स्थिति में भा परभेश्वर का परमकारुणिकता अभिहित हो जाती है, जो प्रस्तुत विशेषण का मुख्य तात्पर्य है।

फिर नख का एक दूसरा विशेषण 'स्वच्छता और अपनी छाया (आकृति) से इन्दु (चक्र) को आयासित करने वाले'; यहाँ लोचनकार ने 'स्वच्छ' को 'स्वच्छाया' का विशेषण न मान कर स्वतन्त्र अर्थ 'स्वच्छता' या नैर्मल्य किया है, 'छाया' अर्थात् वक्र एवं इच आकृति। इस प्रकार लोचनकार के अनुसार यहाँ अर्थशक्तिमूल ध्वनिव्यापार से नखों का वालचन्द्रत्व ध्वनित होता है, दूसरे, नखों द्वारा इन्दु के आयासन से यह प्रतीति ध्वनित हुई कि उन नखों के समीप चन्द्र शोमाई। न है एवं अहुद्य है; क्योंकि आयासकारी होना नखों के पक्ष में स्वविदित है। अर्थात मगवान् नृसिंह के नख अपनी निर्मलता और आकृति से वालचन्द्र को आयासित करने हैं। मतलव यह कि उनके नजदीक बालचन्द्र विच्छाय (फांका) और अहुद्य (दिलकश न लगने ताला) प्रतीत होता है। नृसिंह के नखों के आयासकारित्व की लोकोत्तरता यह है कि अन्य लोकिक नख में उस प्रकार बालचन्द्र को आयासित करने वाली स्वच्छता एवं वक्र-हुद्य आकृति नहीं होता।

१. 'अलङ्कारध्वनि' का निर्देश करते हुए आचार्य कहते हैं कि एक तो वालचन्द्र की इस वात का

ध्वन्यासोकः

काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुषेर्यः समाम्नातपूर्व-स्तस्याभावं जगद्युरपरे भाक्तमाहस्तमन्ये । केश्विद्वाचां स्थितमधिषये तत्त्वमूचुस्तदीयं तेन ब्रूमः सह्चयननःप्रीतये तत्स्वरूपम् ॥ १ ॥

बुधनमों ने काव्य के आत्मा को 'ध्वनि' यह पहले से समाञ्चात किया है, दूसरे लोगों ने उसका अभाव कहा, अन्य लोगों ने उसे 'भाक्त' कहा, कुछ लोगों ने उसके तंख को वाणी का अगोचर कहा, अतः सहदय जनों के मन की प्रीति के लिये उस (ध्वनि) का स्वरूप कहते हैं॥ १॥

लोचनम्

अथ प्राधान्येनाभिषेयस्वरूपसभिद्धद्प्रधानतया प्रयोजनप्रयोजनं तत्स-म्बद्धं प्रयोजनं च सासर्ध्यात्प्रकटयनादिवाक्यमाह—काव्यस्यात्मेति ।

अव प्रधान रूप से (इस ग्रन्थ के) अभिषेय के स्वरूप की चर्चा करते हुथे, अप्रधान रूप से प्रयोजन के प्रयोजन को और उससे सम्बद्ध प्रयोजन को सामर्थ्य से प्रकट करते हुये, प्रथम वाक्य कहते हैं — खुध जनों ने काव्य के आस्मा—

खेर था कि नखां जैसी .स्वच्छंता तथा कुटिकता उसमें नहीं हैं, और इस अंश में यदि किसी प्रकार दोनों की समानता हो भी जाय तब भी बालचन्द्र को अपनी यह कमी खलेगी ही कि नखों की माँति प्रपन्न जनों की आर्ति के निवारण में वह कुशक नहीं हो सका; इस प्रकार उपमानभूत बालचन्द्र से उपभेयभूत नखों के आधिक्य की प्रतीति होने से 'व्यतिरेक' नामक अलङ्कार भी ध्वनित हुआ। 'उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः' (काव्यप्रकाश)।

फिर यहीं दूसरे प्रकार से आचार्य ने उत्प्रेक्षा और अपह्नुति अल्ङ्कारों के ध्विन का निर्देश किया है। उत्प्रेक्षा यह है कि मानों नालचन्द्र निरन्तर आयास अनुभव करता है और 'अपह्नुति' का स्थल यह हुआ कि उन्हीं नखों को सारा संसार वालचन्द्र के वहुमान या गौरव से देखता है, जब कि मैं (वालचन्द्र) साक्षात् विद्यमान हूँ। यहाँ उत्प्रेक्षा अपह्नित के बल पर होती है, क्योंकि जब संसार वालचन्द्र को नालचन्द्र को नालचन्द्र को नालचन्द्र का आयासित होना भी सम्भावित है। इस प्रकार यहाँ दोनों का अङ्गाङ्गिभाव रूप 'संकर' ध्वनित है।

१. प्रस्तुत प्रन्थ 'ध्वन्याछोक' का प्राधान्यतः अभिषेय या प्रतिपाद्य 'ध्वनि' तस्त्व है, ध्वनि के स्वरूप का ज्ञान प्रयोजन है तथा इस प्रयोजन का प्रयोजन सहृदयजनों के मन की प्रतीति या प्रसन्नता है। इस प्रकार दूसरे प्रयोजन 'प्रति' से सम्बद्ध प्रयोजन 'ध्वनिस्वरूप का ज्ञान' की चर्चा प्रन्थकार 'मन्दाकान्ता' छन्द्र में निवद्ध प्रथम वाक्य में करते हैं, यह छोचनकार का निर्देश है। वहाँ आकल्नीय वात यह है कि प्राचीन प्रन्थकार प्रन्थारम्भ करते हुए वह स्पष्ट कर देवा आवश्यक समझते थे कि प्रस्तुत प्रन्थ का विषय क्या है, अधिकारी कीन हैं, सम्बन्ध क्या है सम्बन्ध प्रयोजन को शक्कीय भाषा में 'अनुवन्धचतुष्ट्य' कहते थे। उन प्रन्थकारों का पेसा करने में वह तात्ववं था कि पहले ही उनका प्रन्थ उन छोगों से

ध्वन्यालोकः

बुधैः काव्यतत्त्वविद्धिः, काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति संज्ञितः, परम्प-रया यः समाम्नातपूर्वः सम्यक् आसमन्ताद् म्नातः प्रकटितः, तस्य सहद-यजनमनःप्रकाश्चमानस्याप्यभावमन्ये जगदुः । तदभावादिनां चामी विकल्पाः संभवन्ति ।

बुध अर्थात् कान्य के तस्वज्ञ छोगों ने कान्य के आत्मा को 'ध्वनि' यह संज्ञा दी है और जिसे परम्परा से, पूर्व में ही समाञ्चात, सम्यक् आ समन्तात् ञ्चात, प्रकटित किया है, सहृदय जनों के मन में प्रकाशमान भी उस (ध्वनि) का अन्य छोग अभाव कहते हैं। उसके अभाववादियों के ये विकल्प सम्भव हैं।

लोचनम्

काव्यात्मशब्दसंनिधानाद् बुधशब्दोऽत्र काव्यात्मावबोधनिमित्तक इत्यिभ-प्रायेण विवृणोति-काव्यतत्त्वविद्विरिति । आत्मशब्दस्य तत्त्वशब्देनार्थं विवृण्वानः सारत्वमपरशाब्दवैलक्षण्यकारित्वं च दर्शयति । इतिशब्दः स्वरूपपरत्वं ध्वनि-

'काव्य के आत्मा' इस शब्द के समीप में रहने से 'बुघ' शब्द यहाँ पर 'काव्य के आत्मा का अवबोध (ज्ञान)' इस प्रयोग के लिये है, इस अभिप्राय से विवरण करते हैं —काव्य के तस्वज्ञ' लोगों ने—। 'आत्मा' शब्द का 'तत्त्व' शब्द से अर्थ-विवरण करते हुये सारत्व और दूसरे शब्द (प्रतिपाद्यों) से वैलक्षण्यकारित्व को दिखाया है। 'यह' (इति) शब्द 'व्वनि' का स्वरूप में तात्पर्यं बतलाता है, क्योंकि उस (व्वनि)

वच जायेगा, जो उसके अविकारी होने का क्षमता नहां रखते हैं तथा जो अधिकारी जन हैं उन्हें अपने प्रयोजन तक पहुँचने में सरलता भी हो जायगी। ' लोचन' में इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर प्रस्तुत प्रन्थ की उपर्युक्त अवतरिषका दो है। यहाँ विषय 'ध्वनि' का स्वरूप है, अधिकारी सहृदयजन हैं ('सहृदय' की परिभाषा आगे 'लोचन' में स्पष्टता से मिलेगी), (विषय के साथ) सम्बन्ध प्रतिपाद्य-प्रतिपादक है, और सहृदय के साथ उपकार्योपकारक भाव रूप सम्बन्ध है तथा प्रयोजन प्रीति है। इस प्रयोजन से सम्बद्ध ध्वनिस्वरूप ज्ञान रूप प्रयोजन सामर्थ्य या आक्षेप से ही प्राप्त होता है, क्योंकि सहृदयों की प्रसन्नता ध्वनिस्वरूप के ज्ञान के बिना नहीं सिद्ध हो सकती।

१. कारिकाकार 'ध्वनि' के लिए (काल्य की) 'आत्मा' शब्द का प्रयोग करते हैं और वृत्तिकार ने 'आत्मा' के स्थान पर 'तत्त्व' शब्द रखा है। लोचनकार के अनुसार वृत्ति में 'आत्मा' की 'तत्त्व' शब्द से अर्थ-विवृति की गई है। इस प्रकार प्रस्तुत 'बुध' शब्द से उन बीध रखनेवाले लोगों का अर्थ गृहीत है, जो कान्य के 'तत्त्व' को जानते हैं, न िक सभी प्रकार के धुव जन। 'आत्मा' की विवृति 'तत्त्व' से करके दो विशेष बातें निर्दिष्ट की हैं—एक तो 'सारत्व'. अर्थात 'ध्वनि' कान्य का 'सारमूत' है तथा दूसरे शब्दप्रतिपायों से वैलक्षण्यकारित्व, अर्थात 'ध्वनि' शब्दप्रतिपाय वह तत्त्व है जो किसी भी अन्य शब्दप्रतिपाय से मेल नहीं खाता, बल्कि उनसे अत्यन्त वैलक्षण्यकारी है। यह यहाँ ध्यान देने की बात है कि लोचनकार इस 'ध्वनितत्त्व' को 'विलक्षण' न कहकर 'वैलक्षण्यकारी' कहते हैं। 'विलक्षण' कहने से लौकिक-वैदिक-शब्द-प्रतिपायों से इसकी मिन्नतामात्र सिद्ध होती है और मिन्नता इसल्प अपेक्षित नहीं कि अनुस्कृष्ट तत्त्व मी तो से इसकी मिन्नतामात्र सिद्ध होती है और मिन्नता इसल्प अपेक्षित नहीं कि अनुस्कृष्ट तत्त्व मी तो

शब्दस्याचष्टे, तद्रथस्य विवादास्पदीभूततया निश्चयासावेनार्थवत्त्वायोगात्। एतद्विवृणोति-संज्ञित इति । वस्तुतस्तु न तत्संज्ञामात्रेणोक्तम् , अपि त्वस्त्येव ध्वनिशब्दवाच्यं प्रत्युत समस्तसारभूतम्। न ह्यन्यथा बुधास्तादृशमामनेयु-रित्यभिप्रायेण विवृणोति-तस्य सहृद्येत्यादिना । एवं तु युक्ततरम् इतिशब्दो मिन्नक्रमो वाक्यार्थपरामर्शकः, ध्वनिलक्षणोऽर्थः काव्यस्यात्मेति यः समान्नात इति । शब्दपदार्थकत्वे हि ध्वनिसंज्ञितोऽर्थे इति का सङ्गतिः ? एवं हि ध्वनि-शब्दः काव्यस्यात्मेत्युक्तं भवेद्, गवित्ययमाहेति यथा। न च विप्रतिपत्तिस्था-नमसदेव, प्रत्युत सत्येव धर्मिणि धर्ममात्रकृता विप्रतिपत्तिरित्यलमप्रस्तुतेन के अर्थ के विवादास्पद होने के कारण निश्चय न होने से अर्थवत्त्व नहीं बनता। इसे विवरण करते हैं — संज्ञा विहि—। वास्तव में, उसे संज्ञामात्र से नहीं कहा है, अपितु है ही व्विनि शब्द का वाच्य, प्रत्युत वह सब का सारभूत (भी) है। अन्यथा बुध जन उस प्रकार के (ज्वनि-तत्त्व को) आम्नात नहीं करते, इस अभिप्राय से विवरण करते हैं सहदय जनों से इत्यादि से। परन्तु इस तरह का व्याख्यान ज्यादातर ठीक होगा-'यह' (इति) शब्द भिन्न कम से पठित होकर वाक्यार्थं का परामर्शक है, अर्थ होगा — इविन रूप अर्थ 'काव्य का आत्मा' यह जो समाम्नात है। यदि ('इविन' शब्द को 'व्विन' इस) संज्ञा मात्र के अर्थ में मानते हैं तो 'व्विन, इस संज्ञा वाला अर्थ है' यह क्या सङ्गति बैटेगी ? क्योंकि इस प्रकार, 'ब्विन शब्द काव्य का आत्मा है' ऐसा कहा जायगा, जैसे 'गौ' ऐसा यह कहता है। यह नहीं कि विप्रतिपत्ति (आशक्का) का स्थान बिलकुल है ही नहीं, बल्कि धर्मी के होते हुये ही धर्मपात्र के सम्बन्ध में विप्रतिपत्ति

उत्कृष्ट तत्त्व से भिन्न होता है! इसलिए वह 'ध्विन तत्त्व' वैलक्षण्यकारी है, अर्थात् कान्य में वैलक्षण्य उत्पन्न करनेवाला है। वैलक्षण्य यहाँ कमाल या वैशिष्ट्य के अर्थ में ग्राह्म है।

रै. 'कान्य के आत्मा को 'ध्वनि' यह संज्ञा दी है' इस वृचिग्रन्थ पर लोचनकार ने विचार किया है। मूल 'कान्यस्यात्मा ध्वनिरिति=कान्य के आत्मा को ध्वनि यह' इस ग्रः का 'यह' शब्द यहाँ 'ध्वनि' शब्द का स्वरूप में तात्पर्थ बतातः दे, क्योंकि अभी तो यह निर्णय नहीं किया गया है कि ध्वनि आखिर किस अर्थ को कहते हैं, ऐसी स्थिति में तत्काल 'ध्वनि' इस संज्ञा शब्द को ही काव्य का आत्मा मान लेना चाहिए, फिर आगे चलकर ध्वन्यर्थ का स्पष्टीकरण होता रहेगा। वृत्तिकार ने मूलग्रन्थ को इसी उद्देश्य से लगाया है। लोचनकार इसी व्याख्यान के समर्थन में यह कहते हैं कि यद्यपि यहाँ संज्ञामात्र से ध्वनि तत्त्व का निर्देश किया गया है, तथापि यह किसी को गलतफड़मों न होनी चाहिए कि ध्वनिशब्द का वाच्य कोई है ही नहीं, यदि ऐसा होता तो बुध जन इसे स्वीकार कैसे करते ?

परन्तु इस प्रकार के न्याख्यान से स्वयं छोचनकार को सन्तोप नहीं है। यहाँ 'यह' ('इति') शब्द विचारणीय है, उसी के अर्थ का प्रश्न है। ऊपर उसे शब्दपरामर्शक मानकर 'ध्विन' शब्द का स्वरूप में तात्पर्य वताया गया है, परन्तु छोचनकार कहते हैं कि इसे भिन्नकम और वाक्यार्थ-परामर्शक समझना चाहिए। इसके अनुसार 'यह' शब्द 'काव्य का आत्मा' के बाद चला जायगा और 'ध्विन' का अर्थ होगा 'ध्विन रूप अर्थ'; पूरा रूप होगा—'ध्विन रूप अर्थ काव्य का आत्मा है, यह जो समाम्रात है। जैसा कि 'ध्विन' शब्द को 'ध्विन' पद का अर्थ स्वीकार कर लिया जाय तो किसी प्रकार ग्रन्थ की सङ्गति नहीं बैठेगी, तब तो 'ध्विन' शब्द ही 'काव्यात्मा' के रूप में

भूयसा सहृद्यजनोद्वेजनेन । बुधस्यैकस्य प्रामादिकमि तथाभिधानं स्यात् , न तु भूयसां तद्युक्तम् । तेन बुधैरिति बहुवचनम् । तदेव व्याचष्टे-परम्परवेति ।

अविच्छित्रेन प्रवाहेण तै रेतदुक्तं विनाऽिप विशिष्टपुस्तकेषु विनिवेशनािद्त्यिभिप्रायः। न च बुधा भूयांसोऽनादरणीयं वस्त्वादरेणोपिदिशेयुः; एतक्त्वादरेणोपिदृष्टम्। तदाह्—सम्यगामातपूर्व इति। पूर्वप्रह्णोनेदम्प्रथमता नात्र सम्भाव्यतः
इत्याह, व्याचिष्टे च—सम्यगासमन्ताद् मातः प्रकृटित इत्यनेन। तस्येति। यस्याधिगमाय प्रत्युत यतनीयं, का तत्राभावसम्भावना। अतः किं कुर्मः, अपारं
है, अब सहृदय जनों को उद्धिम करने वाली यह अप्रासिङ्गक चर्चा व्यथं है। एक 'बुध'
का उस प्रकार कथन प्रामादिक भी हो सकता था, किन्तु बहुतों का वह (प्रामादिक कथन) नहीं वन सकता। इसलिये 'बुध' में बहुत्वन हैं। उसी की व्याख्या करते

अभिप्राय यह कि कभी विच्छित्र न होने वाले प्रवाह के क्रम से उन (बुधों) ने इसे कहा है, विशिष्ट पुस्तकों में इसका स्थापन भी नहीं किया है। बहुत से बुध जन किसी अनादरणीय वस्तु को आदरपूर्वक उपदेश नहीं करते, इसे तो आदरपूर्वक उपदेश किया है। उसे कहते हैं—पहले से समाझात किया है—। 'पहले से' ('पूर्व') इस उन्नेख से, यह पहले-पहल नहीं सम्भावित किया है, यह कहते हैं और व्याख्या करते हैं—सम्यक् आ समन्तात् झात, प्रकटित—। उसका।—जिसे प्राप्त करने के लिये प्रत्युत यत्न करना चाहिये उसके अभाव की फिर सम्भावना क्या? इसलिये क्या करें.

हैं-परम्परा से-।

गृहीत होने लगेगा, जो सर्वथा अनभीष्ट है। प्रस्तुत को यदि वाक्यार्थपरामशंक स्वीकार कर लेते हैं तो एक प्रश्न और उठ सकता है जिसकी लोचनकार सम्भावना करके यह निराकरण भी देते हैं। प्रश्न होगा कि ध्वनि के सम्बन्ध में जो विप्रतिपत्तियों निर्दिष्ट की गई हैं, 'ध्वनि' रूप अर्थ को प्रस्तुत में स्वीकार करने पर उनकी सम्भावना नहीं रहेगी, क्यें कि जब कि 'ध्वनि' रूप अर्थ को प्रायः विप्रतिपत्तिकारों ने किसी न किसी रूप में स्वीकार किया ही है, इसके समाधान में कहना है कि ध्वनि रूप अर्थ [धर्मी] के निर्विवाद होने पर भी धर्ममात्र में विप्रतिपत्तियों उपपन्न होंगी। अर्थात 'ध्वनि' रूप अर्थ को स्वीकार करते हुए भी विप्रतिपत्तिकारों ने उसे गळत रूप में समझ लिया है। प्रस्तुत प्रत्य में उनकी गळतियों के निराकरणार्थ ही प्रन्यकार प्रयक्तशील हैं। संक्षेप यह कि ध्वनि के सम्बन्ध में किसी को विप्रतिपत्ति नहीं, प्रस्तुत ध्वनि के स्वरूप के निर्णय में मतभेद अवश्य है। जिस प्रकार 'शब्द' के सम्बन्ध में किसी को सन्देह या विप्रतिपत्ति नहीं, किन्तु उसके नित्यत्व और अनिरयत्व धर्मों के सम्बन्ध में मतभेद अवश्य है। कोई नित्यत्ववादों है और कोई अनित्यत्ववादी। इसी प्रकार ध्वनि को गुण और अल्क्षार में अन्तर्भूतत्व, भाक्तव आदि धर्मों को लेकर विप्रतिपत्तियां अवस्य उपपन्न होंगी।

१. मूल कारिकायन्थ में प्रयुक्त 'बुधैः' के 'बहुक्चन' पर विचार करते हैं। यहाँ यह बात कही जा सकती है कि जब बुध काव्यतत्त्ववेत्ता होकर कुछ भी कहता है तो उसके वचन में अप्रामाण्य की सम्भावना हो ही नहीं सकती, ऐसी स्थिति में यह आवश्यक नहीं कि काव्यतत्त्ववेता

भौर्ब्यमभाववादिनामिति भावः। न चास्माभिरभाववादिनां विकल्पाः श्रुताः, किं तु सम्भाव्य दूषिय्वन्ते, अतः परोक्षत्वम्। न च भविष्यद्वस्तु दूषियतुं युक्तम्, अनुत्पन्नत्वादेव। तदिष बुद्धश्वारोपितं दूष्यत इति चेत्; बुद्धश्वारो-पितत्वादेव भविष्यत्त्वहानिः। अतो भूतकालोन्मेषात् पारोव्त्याद्विशिष्टाद्यतनत्व-प्रतिभानाभावाच लिटा प्रयोगः कृतः—जगदुरिति।

अभाववादियों की मूर्खंता की कोई सीमा नहीं। हमने अभाववादियों के विकल्प नहीं सुने हैं, किन्तु (उनकी) सम्भावना करके दोष देंगे, इससे (उन विकल्पों का) परोक्षत्व (सिद्ध) होता है। जो भविष्य में होने वाली वस्तु है, उसमें दोष तो दिया नहीं जा सकता, क्योंकि वह सर्वथा उत्पन्न ही नहीं है। अगर कहें कि बुद्धि में आरोपित करके दोष देंगे तो बुद्धि में आरोपित होने के ही कारण भविष्य में होने की वात नहीं बनती। अतः भूतकाल के उन्मेष से, परोक्षत्व के कारण और विशिष्ट (कालविशेष रूप) अद्यतनत्व के प्रतिभान के न होने के कारण 'लिट् लकार' से प्रयोग किया है— जगदुरिति?—।

अनेक हों। इस पर छोचनकार का कहना है कि यद्यि बुन 'कान्यतत्त्ववेत्ता' ही यहाँ विविक्षित है, किन्तु सही बात एक मुख से न निकलकर अनेक मुख से कहीं जाय तो उसकी प्रामाणिकता और मो पृष्ट हो जाती है, दूसरे, किब्रित प्रमाद होने की सम्मावना भी जाती रहती है। साथ ही, अन्य शब्द का प्रयोग न करके 'बुन' के प्रयोग का यह तात्पर्य है कि अत्यन्त जह प्रकृति के लोग अगर बहुत भी हों और एक ही बात को कहते हों तब भी उनकी बात आदरणीय नहीं होती, यहाँ ऐसी स्थित नहीं। बल्कि 'ध्वनि' को 'कान्य का आत्मा' उन लोगों ने स्वीकार किया है जो कान्यतत्त्व के पूर्ण जानकार हैं, बुध हैं तथा एक परम्परा (अविच्छित्र प्रवाह) से इस सिद्धान्त को समान्नात करते आ रहे हैं। इस सिद्धान्त के समर्थन में। बुद्धजनों का कथन इस प्रकार क्यापक था कि किसी ने इसके लेखन का अनावश्यक श्रम स्वीकार नहीं किया। वह बात, जो साक्षात उपदेशसिद्ध है, लिखकर व्यक्त करने का क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? यह भी आकलनीय है कि अनेक बुध जन किसी अनादरणीय वस्तु का आदर के साथ उपदेश किसी भी अवस्था में नहीं कर सकते। प्रस्तुत ध्वनितत्त्व का उपदेश उन्होंने आदर के साथ किया है, सम्यगान्नात किया है। यह भी उसके प्रामाणिक और आदरणीय होने का जबदर्रस्त तक है।

१. मूळ कारिका-प्रन्थ 'तस्यामावं जगदुरपरे' के 'जगदुः' इस लिट् 'लकार के प्रयोग पर विचार करते हैं। व्याकरण-शास्त्र के अनुसार 'लिट्' का प्रयोग भूतानधतनपरोक्ष के अर्थ में होता है, अर्थात किया के बहुत पहले परोक्ष भूतकाल में होने पर लिट् लकार प्रयुक्त होता है। प्रस्तुत में, ध्विन के अभाववाद का सिद्धान्त भी बहुत पहले भूतकाल में परोक्ष रूप से सम्भावित किया गया है, अतः आचार्य ने 'जगदुः' यह लिट् लकार का प्रयोग किया है (मैंने हिन्दी की प्रकृति में 'लिट्' लकार के कथिबत अनुरूप प्रयोग 'जगदुः' के अनुवाद के रूप में 'कहा' लिखा है)। परोक्षत्व की पृष्टि के लिए सम्भावना के समर्थन में लोचनकार ध्विनवादी आचार्य की ओर से लिखते हैं कि हमने ध्विन के अभाव पक्ष को नहीं सुना है, इसका अर्थ यह नहीं लयाया जा सकता कि सर्वथा यह विकल्प कभी मौजूद ही नहीं था, ऐसी स्थिति में सम्भावना का आवश्य लेकर उन्हें उद्धृत किया गया है तथा उनमें दोष बताये गये हैं। इस प्रकार सम्भावित

तद्धाख्यानायैव सम्भाव्य दूषणं प्रकटियष्यित । सम्भावनाऽपि नेयमसम्भ-वतो युक्ता, अपि तु सम्भवत एव, अन्यथा सम्भावनानामपर्यवसानं स्यात् दूषणानां च । अतः सम्भावनामभिधापियष्यमाणां समर्थियतुं पूर्व सम्भवन्ती-त्याह । सम्भाव्यन्त इति तूच्यमानं पुनककार्थमेव स्यात् । न च सम्भवस्यापि सम्भावना, अपि तु वर्तमानतेव स्फुटेति वर्तमानेनैव निर्देशः । नतु च सम्भ-बद्ध स्तुमूल्या सम्भावनया यत्सम्भावितं तद् दूषियतुमशक्यमित्याशङ्कश्चाह्— विकल्या इति । न तु वस्तु सम्भवति ताद्यक् यत इयं सम्भावना, अपि तु

उस (लिट्) के व्याख्यान के लिये ही (ग्रन्थकार) सम्भावना करके दोष प्रकट करेंगे। यह सम्भावना भी, जो सम्भव नहीं हो रहा है उसकी, नहीं बनती, अपितु सम्भव होते हुये की ही सम्भावना बनती है, अन्यथा सम्भावनाओं का और दोषों का कभी अन्त ही न हो। अतः (ग्रन्थकार) आगे अभिहित कराई जाने वाली सम्भावना के समर्थन के लिये पहले 'सम्भव हो सकते हैं' यह कहते हैं। यदि 'सम्भावना नहीं होती, अपितु उसका वर्तमान होना ही स्पष्ट है, अतः वर्तमान से ही निर्देश किया है। सम्भव होते हुये वस्तुमूल वाली सम्भावना से जो सम्भावित है उसे दूषित करना शक्य नहीं है, यह आशक्का करके कहते हैं—विकल्प—उस³ प्रकार की वस्तु सम्भव नहीं है

होने के कारण ध्विन के अभाव-विकल्प का परोक्ष होना उपपन्न हो जाता है। बुद्ध्यारोपित करके सम्भावना को भविष्य नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि बुद्ध्यारोपित वही विषय हो सकता है जो भूत में हो, न कि भविष्य में। स्वयं वृत्तिकार ने 'जगदुः' के स्थान पर आगे ही अभाववाद का उपन्यास करते हुए 'आचक्षीरन्' यह सम्भावनार्थक 'लिक्' का प्रयोग किया है, साथ ही 'सम्भवन्ति' का भी प्रयोग करते हैं।

१. यदि यहाँ यही पक्ष स्वीकार्य हो जाय कि सम्मावना असम्मव की होती है तो सम्मावनाओं का कोई पर्यवसान या कोई हद नहीं मिलेगी। और दोषों की भी स्थित वही होगी। इसलिए सम्भावना उसीकी होती है जो सम्भव होता है, यही सिद्धान्त पक्ष है। इसी कारण वृत्तिकार स्वयं 'सम्भवन्ति' शब्द से सम्भावना का अभिधान कर देते हैं, ताकि ऐसी कोई समस्या उपस्थित न हो।

२. वृत्तिकार 'हो सकते हैं' (सम्मवन्ति) कहकर आगे 'आचक्षीरन्' के पश्चात् वस्थमाण सम्मावना का समर्थन करते हैं। तात्पर्य यह कि जो सम्मव है उसीकी सम्मावना हो सकती है, अर्थात् सम्मव सम्मावना का मूळ या विषय होता है। ऐसी स्थिति में, यदि 'सम्मावत होते हैं' [सम्माव्यन्ते] कह देते तो जो सम्मावना [आगे 'आचक्षीरन्' के रूप में] अमिहित होने वाळी है वह यहीं उक्त हो जायगी और इस प्रकार पुनरुक्ति होगी। 'सम्मावत होते हैं' का स्पष्ट अर्थ है कि सम्मावना किये जाते हैं। दूसरे, इसके समर्थन में यह कहना भी गळत होगा कि 'सम्मव' की भी सम्मावना क्यों नहीं कर ळेते हैं ! बल्कि उस सम्मव का वर्तमान होना ही स्पष्ट है, इसी कारण वृत्तिकार ने उसे वर्तमान रूप (ळट् ळकार-सम्मवन्ति) से निर्देश किया है।

३. ऊपर जब यह निर्णय हो गया कि सम्भावना सम्भव की ही होती है तब प्रस्तुत में यह आशक्का होती है कि जो वस्तु सम्भव है उसमें दोष देना कहाँ तक उचित होगा, अर्थात प्रस्तुत में,

विकल्पा एव । ते च तत्त्वावबोधवन्ध्यतयां स्फुरेयुरि, अत एव 'आचक्षीरन्' इत्यादयोऽत्र सम्भावनाविषया लिङ्श्रयोगा अतीतपरमार्थे पर्यवस्यन्ति । यथा—

यदि नामास्य कायस्य यदन्तस्तद्वहिर्भवेत्। दण्डमादाय लोकोऽयं श्चनः काकांश्च वारयेत्॥

इत्यत्र । यद्येवं कायस्य दृष्टता स्यात्तदैवमवलोक्येतेति भूतप्राणतैव । यदि न स्यात्ततः किं स्यादित्यत्रापि, किं वृत्तं यदि पूर्ववन्न भवनस्य सम्भावनेत्यय-मेवार्थ इत्यलमप्रकृतेन बहुना । तत्र समयोपेक्षणेन शब्दोऽर्थप्रतिपादक इति कृत्वा वाच्यव्यतिरिक्तं नास्ति व्यङ्गचम्, सदिप वा तदिभिधावृत्त्याक्षितं शब्दा-वगतार्थवलाकृष्टत्वाद्भाक्तम्, तद्नाक्षिप्तमिप वा न वक्तं शक्यं कुमारीिष्वव भर्तमुखमतद्वित्सु इति त्रय एवैते प्रधानविप्रतिपत्तिप्रकाराः । तत्रांभावित्रकल्पस्य जिस कारण यह सम्भावना होगी अपितु विकल्प ही हैं । और, वे (विकल्प) तत्त्व के ज्ञान के न होने के कारण ही स्फुरित होते हैं, अतएव 'आचक्षीरन्' इत्यादि यहाँ सम्भावनाविषयक लिङ्ग के प्रयोग अतीतपरमार्थं में पर्यवसित होते हैं । जैसे—

'यदि इस शरीर के जो भीतर है वह बाहर हो जाय तो यह संसार डंडा लेकर कुत्तों और कौओं को ही डूलाता रहे।'

इस स्थल में । यदि शरीर इस प्रकार दृष्टिगोचर होता तो ऐसा देखा जाता— इस प्रकार (यहाँ भी) अतीतपरमार्थता ही हैं। 'यदि न होता तो क्या होता' इस स्थल में भी; क्या होता यदि पहले की तरह (बाहर) नहीं होने की सम्भावना है (इस प्रकार निषेघ पक्ष में भी) यही अर्थ हैं। बहुत अप्रकृत चर्चा व्यर्थ हैं। समय (संकेत) की अपेक्षा से शब्द अर्थ का प्रतिपादक होता है, इस कारण बाच्य से अतिरिक्त कोई व्यङ्गच नहीं है, होता हुआ भी वह अभिधावृत्ति से आक्षिप्त होकर, शब्द से अवगत अर्थ के बल से आकृष्ट होने के कारण भाक्त (गौण) है, वह आक्षिप्त न हुआ भी किसी प्रकार वाणी से कहा नहीं जा सकता, क्रांरियों के लिये पित के सुझ के संबंघ में कुछ कहना संभव नहीं, इस प्रकार तीन ही ये विप्रतिपत्ति के प्रधान

जब कि 'ध्विन' के विरुद्ध पक्ष सम्मव हैं तब उनमें दोष दिखाना ठांक नहीं होगा, इस आशङ्का के उत्तर में वृत्तिकार 'विकल्प' शब्द का प्रयोग करते हैं। जैसा कि लोचनकार कहते हैं: 'उस प्रकार की वस्तु सम्भव नहीं जिससे सम्भावना होगी, अपितु विकल्प ही (सम्भव) है' इसका तात्पर्य यह है कि प्रस्तुत में जो वस्तु सम्भावना से सम्भावित है वह यहाँ अमिप्रेत नहीं, बल्कि वह अमिप्रेत है जो तत्त्वशन के अभाव में उभर आई है, अर्थात् 'विकल्प' रूप वस्तु यहाँ सम्भावना करके दूषणीय हैं और उन्हें ही यहाँ 'सम्भव' कहा गया है—वह तो दूषणीय हो ही सकती है।

१. 'जगदुः' का व्याख्यान 'आचक्षीरन्' इस लिक् के प्रयोग से करने से प्रतीत होता है कि सम्भावना के रूप में बुद्धधारोपित रूप अतीत (भूत) के ताल्पर्य में उन (लिक् प्रयोगों) का पर्यवसान है। अर्थात 'ऐसा कुछ लोगों ने कहा हो' ऐसी सम्मावना को बुद्धि में आरोपित करते हैं। इस प्रकार अतीत परमार्थ में लिक्-प्रयोगों के पर्यवसान में इस विचार का लोचनकार एक उदाहरण देते हैं—यदि इस०—। यहाँ अतीतपरमार्थता इस कारण है कि शरीर के भीतरी भाग के बिह्मांव को सम्भावना का विषय करके बुद्धि में आरोपित किया गया है और यह निर्विवाद ही

त्रयः प्रकाराः-शब्दार्थगुणालङ्काराणामेव शब्दार्थशोभाकारित्वाङ्गोकशाकातिरिक्तसुन्दरशब्दार्थमयस्य काव्यस्य न शोभाहेतुः कश्चिद्न्योऽस्ति योऽस्माभिर्नगिणत इत्येकः प्रकारः, यो वा न गणितः स शोभाकार्येव न भवतीति द्वितीयः, अथ शोभाकारी भवति तद्यस्मदुक्तं एव गुणे वाऽलङ्कारे वाऽन्तर्भवति, नामान्त-रकरणे तु कियदिदं पाण्डित्यम्।

अथाप्युक्तेषु गुर्गोष्वलङ्कारेषु वा नान्तर्भावः, तथापि किंचिद्विशेषलेशमाश्रित्य नामान्तरकरणमुपमाविच्छित्तप्रकाराणामसंख्यत्वात्। तथापि गुणालङ्कारव्यिति-रिक्तत्वाभाव एव। तावन्मात्रेण च किं छतम् ? अन्यस्यापि वैचित्र्यस्य शक्यो-प्रकार हैं । उनमें अभाव-विकल्प के तीन प्रकार हैं — शब्दगुण और अर्थंगुण एवं शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कारों के ही शब्द और अर्थं के शोभाकारी होने से लोक और शास्त्र से अतिरिक्त शब्दार्थमय काव्य का शोभाहेतु कोई दूसरा नहीं है, जिसकी हमने गणना नहीं की है, यह (अभाव-विकल्प का) एक प्रकार है; और जिसकी (हमने) गणना नहीं की है वह शोभाकारी ही नहीं होगा, यह दूसरा (विकल्प) है; और वह शोभाकारी होता है तो हमारे कहे हुए ही गुण अथवा अलङ्कार में अन्तर्भूत हो जाता है। केवल दूसरा नाम बदल देने में यह कितना पाण्डित्य है!

माना कि उक्त गुणों अथवा अलङ्कारों में अन्तर्भाव नहीं है, तथापि कुछ विशेष के लेशमात्र को आश्रयण करके नामान्तरकरण है; क्योंकि उपमा के ही वैचित्र्य-(विच्छित्ति—) प्रकार ही असंख्य हैं। तथापि गुण और अलङ्कार से व्यतिरिक्तत्व (उस शोभाकारी तत्त्व का) नहीं बनता। और उतने मात्र से क्या होता है! क्योंकि

है कि जो वस्तु बुद्ध्यारोपित कर ली जाती है उसमें अतीतत्व आ ही जाता है। लोचनकार इस प्रकार विधिरूप से अतीतपरमार्थत्व का निर्देश करके निषेषरूप से भी निर्देश करते हुए लिखते हैं—'यदि न होता तो भी क्या होता'; अर्थात् उस प्रकार शरीर के भीतरी भाग के बाहर होने की सम्भावना न होती तो भी क्या होता, तात्पर्यं यह कि तथापि शरीर जुगुप्सा और घृणा का पाश्र बना ही रहता। सर्वथा शरीर के प्रति आसक्ति के निषेथ में इस पद्य का पार्थनितक तात्पर्यं निहित है। इस प्रकार यहाँ विधि और निषेथ दोनों प्रकारों से 'लिख' का अर्थ सम्भावना है।

'लिक्' के सम्मावना रूप अर्थ का प्रतिपादन प्रस्तुत प्रन्थ के मूल विषय से कोई सम्बन्ध नहीं रखता। यह केवल लिट्प्रयोग का लिक्प्रयोग से आचार्य द्वारा किए गए व्याख्यान के समर्थन में लोचनकार ने प्रपिद्धत किया है, अतः स्वयं यह कहते हुए विरत होते हैं कि बहुत अप्रस्तुत चर्चा व्यर्थ है।

१. यहाँ छोचनकार ने ध्विन के सम्बन्ध में मूळ कारिकाग्रन्थ में निर्दिष्ट तीन विकल्पों का संक्षेप में पहले इस प्रकार निर्देश किया है: —प्रथम अभाववादी विकल्प —इसके अनुसार ध्विन कोई तत्त्व नहीं; क्योंकि शब्द से उसी अर्थ का प्रतिपादन होता है जो संकेतित होता है, अर्थात समय या संकेत के बळ या सहकार से ही शब्द अर्थ का प्रतिपादक होता है और वह अर्थ बाब्य कहलाता है। इसके अतिरिक्त जब शब्द का कोई अर्थ नहीं होता तब एक व्यक्त्य अर्थ की कल्पना गळत पक्ष होगा। इस प्रकार सर्वथा ध्विन कोई तत्त्व नहीं। दितीय भाक्तवादी विकल्प अनुसार किसी प्रकार तथाकथित व्यक्त्य अर्थ मान भी लिया जाय तो यह कहना होगा

त्प्रेक्षत्वात् । चिरन्तनैहिं भरतमुनिप्रभृतिभिर्यमकोपमे एव शब्दार्थालङ्कारत्वेनेष्टे, तत्प्रपञ्चिदिकप्रदर्शनं त्वन्यैरलङ्कारकारैः कृतम् । तद्यथा—'कर्मण्यण्' इत्यत्रं कुम्भ-काराद्युदाहरणं श्रुत्वा स्वयं नगरकारादिशब्दा उत्प्रेत्यन्ते, तावता क आत्मिन बहुमानः । एवं प्रकृतेऽपीति तृतीयः प्रकारः । एवमेकिश्विधा विकल्पः, अन्यौ च द्वाविति पञ्च विकल्पा इति तात्पर्यार्थः ।

दूसरे वैचित्र्य की भी तो उत्प्रेक्षा हो सकती है ? जैसा कि प्राचीन भरतमुनि प्रभृति आचार्यों ने यमक और उपमा को ही शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार के रूप में माना है, उनके प्रपंच की दिशा का प्रदर्शन तो दूसरे अलङ्कारकारों ने किया। वह जैसे—'कर्मण्यण्' इस सूत्र में 'कुम्भकार' आदि उदाहरण को सुनकर स्वयं 'नगरकार' आदि शब्दों की उत्प्रेक्षा कर ली जाती है, केवल उतने से, कौन अपने में बहुत गौरव की बात है ? इस प्रकार प्रस्तुत में भी; यह (अभाव-विकल्प का) तीसरा प्रकार' है। इस प्रकार एक विकल्प तीन प्रकार का और दूसरे दो विकल्प मिलकर पाँच विकल्प हैं, यह तात्पर्यार्थ है।

अभिषावृत्ति से आक्षिप्त ('बालप्रिया' टिप्पणी के अनुसार अभिषा की पुच्छमूत वृत्ति अर्थात् लक्षणा से आक्षिप्त) होता है। इस प्रकार शब्द से अवगत अर्थ के बल से आकृष्ट होने के कारण 'भाक्त' (या गौण) है। तृतीय अलक्षणीयतावादी विकल्प—िकसी प्रकार ('तृष्युतु दुर्जनः' इस न्याय से) उस व्यक्तय अर्थ को लक्षणाशक्ति से आक्षिप्त न मी माना जाय, तथापि उसे शब्द से कहना सम्भव नहीं, वह उस प्रकार जैसे कुमारियों के लिए पति का सुख कहना सम्भव नहीं।

१. अब यहाँ अभाव-विकल्प के वृत्तिप्रन्थ में निर्दिष्ट तीन प्रकारों का संक्षेप में छोचनकार ने उपर्यक्त ढंग से निर्देश किया है। अभाव विकल्प के प्रथम प्रकार में यह कहा जाता है कि कान्यशरीर शब्दार्थमय होता है और गुण तथा अलंकार शब्द-और अर्थ के श्रीमाकारी तत्त्व के रूप में निर्दिष्ट किए गए हैं। इनके अतिरिक्त कोई ऐसा शोआकारी तत्त्व ही नहीं सम्भव है जिसकी इसने गणना नहीं की है। असाव विकल्प के दूसरे प्रकार में यह कहते हैं कि जिसकी इमने गणना नहीं की है वह किसी प्रकार शोमाकारी ही नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में, गुण और अल्ह्यार के अतिरिक्त किसी अन्य तत्त्व की चर्चा करने का यहाँ कोई अर्थ ही नहीं निकलेगा ! अभाव विकल्प के उतीय प्रकार के अनुसार यदि ऐसा कोई शोमाकारी तत्त्व मान भी लिया जाय, तब भी उसका गुण तथा अछङ्कार में ही अन्तर्भाव हो जायगा, यदि छेशमात्र भिन्न कुछ विशेषता के कारण उक्त गुण तथा अलङ्कार में उस शोमाकारी तत्त्व का अन्तर्माव न हुआ तो हम यह स्वीकार करेंगे उपमा आदि के असङ्ख्य विच्छित्ति-प्रकारों में यह भी होगा। फिर ऐसी स्थिति में कोई प्रश्न नहीं उठता जिसके समाधानार्थ किसी मिन्न ही शोभाकारी तस्व की करपनी की जाय यही क्या, बहुत से अन्य वैचिन्त्र्यों की भी कल्पना की जा सकती है। जैसा कि प्राचीन आल्ह्यारिक आचार्यों ने किया भी है। सबसे प्राचीन भरत मुनि प्रसृति आचार्यों ने यमक और उपमा को ही शब्द और अर्थ के अलङ्कार रूप से स्वीकार किया था, और फिर बाद में अन्य आलङ्कारिकों ने इस विषय को और भी प्रपिन्नत करके निर्दिष्ट किया। किसी ने अभी तक किसी भिन्न नये तत्त्व की उद्भावना का डिण्डिमघोष नहीं किया है, जैसा कि यहाँ 'ध्वनि' को लेकर किया जा रहा है। यह तो कुछ वैसी ही वात हुई कि किसी 'सूत्र' के निर्दिष्ट उदाहरण के आधार पर कोई दूसरा उदाहरण बना लिया गया (जैसे 'कुम्मकार' को देखकर नगरकार आदि)। इस

तत्र केचिदाचश्चीरन्—शब्दार्थशरीरन्तावत्काव्यम्। तत्र च शब्दगताश्चारुत्वहेतवोऽनुप्रासादयः प्रसिद्धा एव । अर्थगताश्चोपमादयः।
वर्णसंघटनाधर्माश्च ये माधुर्यादयस्तेऽपि प्रतीयन्ते । तदनतिरिक्तवृत्तयो
वृत्तयोऽपि याः केश्चिदुपनागरिकाद्याः प्रकाशिताः, ता अपि गताः
श्रवणगोचरम् । रीतयश्च वैदर्शीप्रश्रृतयः । तद्यतिरिक्तः कोऽयं घ्वनिनीमेति ।

वहाँ कुछ लोग कहें—कान्य का शरीर तो शन्द और अर्थ है, और, उसमें शन्दगत चारुत्वहेतु अनुप्रास आदि प्रसिद्ध ही हैं और अर्थगत उपमा आदि (प्रसिद्ध ही हैं)। और, वर्णसंघटनाधर्म जो माधुर्य आदि (गुण) हैं वे भी प्रतीत होते हैं। उन (अर्लकार और गुणों) से अभिन्न रहने वाली वृत्तियाँ भी, जो किन्हीं के द्वारा उपनागरिका आदि (नामों से) प्रकाशित की गई हैं, वे भी सुनने में आई हैं और वैदर्भी प्रभृति रीतियाँ भी (सुनने में आई हैं)। उनके अतिरिक्त कीन यह 'ध्वनि' नाम का (नया पदार्थ) है ?

लोचनम्

तानेव क्रमेणाह—शब्दार्थशरीरं ताविद्त्यादिना । तावद्प्रह्णेन कस्याप्यत्र न विप्रतिपत्तिरिति दर्शयति । तत्र शब्दार्थौ न तावद् ध्वनिः, यतः संज्ञामात्रेण

उन्हीं (विकल्पों) को कम से कहते हैं—काव्य का शरीर शब्द और अर्थ है इत्यादि द्वारा। (मूल-वृत्तिग्रन्थ में) 'तावत्' इस शब्द के ग्रहण से दिखाते हैं कि यहाँ किसी की भी विप्रतिपत्ति (विरुद्ध आशक्का) नहीं है। शब्द-अर्थ व्वित नहीं है, क्योंकि संज्ञामात्र से क्या लाभ ? यदि शब्द और अर्थ का चारुत्व व्वित है!;

मात्र से यह गौरव का अनुभव करना कि हमने नई कल्पना की, अत्यन्त उपहसनीय बात है। यहाँ छोचनकार ने 'विच्छित्ति' और 'वैचित्र्य' का प्रयोग किया है, ये शब्द एक ही अर्थ के चोतक हैं, अलक्कारों का भेद-निर्णय विशेष रूप से विच्छित्ति या वैचित्र्य के आधार पर ही साहित्य-शास्त्र में किया गया है।

१. अर्थात् सभी लोग इस सिद्धान्त के पक्षपाती हैं कि शब्द और अर्थ ही काच के शरीर हैं लोचनकार का कहना है कि यह तात्पर्य वृत्तिग्रन्थ में प्रयुक्त 'तावत' शब्द से प्रकट होता है। यह मिन्न बात है कि आगे चलकर किसी आचार्य ने विशिष्ट शब्द को ही काव्य माना है और किसी ने विशिष्ट अर्थ को। कुछ आचार्यों ने शब्द-अर्थ उभय को काव्य माना है। इस प्रकार काव्य-स्वरूप के सम्बन्ध में विभिन्न मतवादों के वावजूद भी, प्रायः काव्य के शरीर के रूप में शब्द और अर्थ को सभी ने स्वीकार किया है।

२. ध्विन या व्यङ्गय तत्त्व का प्रतिपादन सर्वथा काव्य के आत्मा के रूप में अभीष्ट है अतः काव्य के दारीरभूत शब्द और अथे तो किसी प्रकार 'ध्विन' नहीं कहुछ। सकते, क्योंकि यह पक्ष स्वयं ध्विनवादी आचार्य के अपने सिद्धान्त के विरुद्ध होगा। ऐसी स्थिति में भी यदि 'ध्विन' के

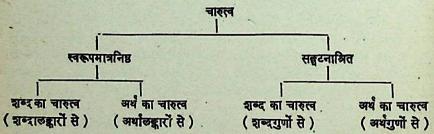
हि को गुणः ? अथ शब्दार्थयोख्राहत्वं स ध्वनिः । तथापि द्विविधं चाहत्वम्— स्वह्नपमात्रनिष्ठं संघटनाश्रितं च । तत्र शब्दानां स्वह्नपमात्रकृतं चाहत्वं शब्दालङ्कारेभ्यः, संघटनाश्रितं तु शब्दगुर्णेभ्यः । एवमर्थानां चाहत्वं स्वह्नप-मात्रनिष्ठमुपमादिभ्यः । संघटनापर्यवसितं त्वर्थगुर्णेभ्य इति न गुणालङ्कारव्य-तिरिक्तो ध्वनिः कश्चित् ।

संघटनाघर्मी इति । शब्दार्थयोरिति शेषः । यद्गुणालङ्कारव्यतिरिक्तं तच्चा-तथापि, चारुत्व दो प्रकार का होता है—स्वरूपमात्रनिष्ठ और संघटनाश्रित । शब्दों का स्वरूपमात्रकृत चारुत्व शब्दालङ्कारों से और संघटनाश्रित (चारुत्व) शब्दगुणों से (होता है)। इस प्रकार अर्थों का स्वरूपमात्रनिष्ठ चारुत्व उपमादि (अर्थालङ्कारों) से और संघटना में पर्यवसित (चारुत्व) अर्थगुणों से (होता है), इस प्रकार गुण और अलङ्कार से अतिरिक्त कोई ध्वनि नहीं है।

संघटनाधर्म—। 'शब्द और अर्थ के' यह शेष है। जो गुण और अलङ्कार से

सद्भाव के प्रति श्रद्धाजाड्य के कारण शब्द-अर्थ को ही 'ध्वनि' संज्ञा देते हों तो यह प्रयास भी व्यर्थ होगा, अर्थात क्योंकि आत्मा को श्रीर का रूप देकर कब तक आत्मा के सच्चे अस्तित्व का समर्थन किया जा सकता है ?

१. जब शब्द-अर्थ ध्वनि नहीं है तो शब्द-अर्थ का जिससे 'चारुत्व' हो वह (अर्थात् चारुत्व का हेतु) ध्वनि हो ही सकता है यह पक्ष अभ्युपगम करके अभाववादी का कहना है कि ऐसी स्थिति में चारुत्व-हेतु ध्वनि तत्त्व निर्दिष्ट शब्दालङ्कार-अर्थालङ्कार एवं शब्दगुण-अर्थगुण के अतिरिक्त कोई तत्त्व नहीं सिद्ध होता, क्योंकि शब्द और अर्थ के चारुत्व का विभाजन दो ही भागों में किया जा सकता है एक तो स्वरूप के दृष्टिकोण से, दूसरा सङ्घटना के आधार पर । इसे इस प्रकार समझ सकते हैं—



[उपर्युक्त छोचन में जहाँ 'अथ शब्दार्थयोश्वारुत्वं स ध्वंनिः' छिखा है वहाँ सामान्यतः अनुवाद यही होगा कि 'यदि शब्द और अर्थ का चारुत्व ध्वनि है!' परन्तु ऐसा ही समझ छेने पर यह अम उत्पन्न हो जाता है कि जब शब्द-अर्थ ध्वनि नहीं है तो शब्द-अर्थ का चारुत्व ध्वनि हो सकता है। इस अम से गढ़कड़ी यह होती है कि जब इस चारुत्व को यहाँ ध्वनि स्वीकार कर छेते हैं तब आगे चलकर अल्ह्नार और गुण, जो स्वयं चारुत्व न होकर चारुत्व के हेतु हैं, उनमें अन्तर्माव विद्यात चारुत्व रूप ध्वनि का करने छग जाते हैं। यह न तो मूल का अभी ष्ट है न छोचनकार का। इस प्रकार इस अम के निवारणार्थ, जैसा कि 'वाल्प्रिया' में भी लिखा है, अयेवन' के उपर्युक्त वाक्य 'अथ शब्दार्थयोक्षारुत्वं स ध्वनिः' में 'यत्रश्वारुत्वम्, अर्थात् यश्वारुत्वहेतुः,

इत्वकारि न भवति, नित्यानित्यदोषा असाधुदुःश्रवादय इव । चारुत्वहेतुश्र ध्वनिः, तन्न तद्व्यतिरिक्त इति व्यतिरेकी हेतुः । नतु वृत्तयो रीतयश्च यथा गुणालङ्कारव्यतिरिक्ताश्चारुत्वहेतवश्च, तथा ध्वनिरिप तद्व्यतिरिक्तश्च चारुत्व-हेतुश्च भविष्यतीत्यसिद्धो व्यतिरेक इत्यनेनाभिश्रायेणाह—तदनतिरिक्तवृत्तय इति । नैव वृत्तिरीतीनां तद्यतिरिक्तत्वं सिद्धम् । तथा खनुश्रासानामेव दीप्तम-सृणमध्यमवर्णनीयोपयोगितया परुषत्वललितत्वमध्यमत्वस्वरूपविवेचनाय वर्गत्रयसम्पादनार्थं तिस्रोऽनुश्रासजातयो वृत्तय इत्युक्ताः, वर्तन्तेऽनुश्रासमेदा आस्विति । यदाह—

व्यतिरिक्त है वह चारुत्वकारी नहीं है, जैसे असाधु और दुःश्रव आदि नित्य-अनित्य दोष । और, व्विन चारुत्व का हेतु है अतः वह उनसे व्यतिरिक्त नहीं, यह व्यतिरेकी हेतु है । शब्द्धा करते हैं कि वृत्तियाँ और रीतियाँ जैसे गुण और अलब्द्धार से व्यतिरिक्त हैं और साथ ही चारुत्व के हेतु हैं, उसी प्रकार व्यतिरेक असिख है, इस अभिप्राय से कहते हैं—उनसे अभिष्य रहने वाली— । वृत्तियों और रीतियों का उनसे व्यतिरिक्तत्व सिख नहीं है । जैसा कि अनुप्रासों के ही दीम, मसृण और मध्यम वर्णनीयों की उपयोगिता के अनुसार परुषत्व, लिलत्व और मध्यमत्व ! स्वरूप के विवेचन के लिए तीन वर्गों के सम्पादनार्थ तीन अनुप्रास निवंदा 'वृत्तियां' कही गई हैं, अर्थात् 'वर्तमान हैं अनुप्रास के भेद इनमें' । क्योंकि कहते हैं—

स ध्वनिः' इतना बढ़ाकर पहले ही संगताथं कर लेना चाहिए। इस प्रकार चारुत्व-हेतु रूप ध्वनि का चारुत्व-हेतु रूप गुण तथा अलङ्कारों में अन्तर्भाव बन जाता है, जो अभाववादी का पक्ष है]।

१. अभाववादी अपने उपर्युक्त मत की पुष्टि के लिए 'केवलन्यतिरेकी अनुमान' का यहाँ प्रयोग करता है। अनुमान के प्रसंद्र में तीन प्रकार के लिड्स या हेतु न्यायशास्त्र में बताये गये हैं—अन्वयन्यितरेकी, केवलन्वयी और केवलन्यतिरेकी। जहाँ केवल न्यतिरेक से न्याप्तिग्रह होता है वह केवलन्यतिरेकी हेतु होता है। जैसे, 'पृथिवी इतरेम्यो भिष्यते गन्धवत्ताद' यहाँ कहा जायगा—'यद् इतरेम्यो न भिष्यते न तद् गन्धवत्, यथा जलम्।' इस प्रकार यहाँ न्यतिरेकदृष्टान्त जल होता है। 'यद् गन्धवत् तदितरिकदृष्टान्त अल होता है। 'यद् गन्धवत् तदितरिकद्रमान् यहाँ अन्वयदृष्टान्त नहीं प्राप्त हो सकता। इसी प्रकार प्रस्तुत में भी अनुमान-प्रयोग इस प्रकार होगा, जैसा कि मेरे पूज्यपाद गुरुजी (पं० महादेव शासीजी) ने अपनी 'दिन्याक्षना' टिप्पणी में निर्देश किया है—'ध्विनः गुणालद्वारन्यतिरिक्तत्वामाववान्, चारुत्वहेतुत्वाद, यो हि गुणालद्वारन्यतिरिक्तो मवति स चारुत्वहेतुनं मवति, यथा असाधुत्वदुःभवत्वादिको होषः।'

२. जैसा कि व्यतिरेक ब जाया गया कि ऐसा कोई चारुत्व का हेतु नहीं जो गुण और अल्ड्रार से व्यतिरिक्त है इसके विरुद्ध यह शङ्का है कि उपनागरिका प्रमृति वृत्तियों और वैदर्भी प्रमृति रितियों तो अवस्य है जो गुण एवं अल्ड्कार से भिन्न हैं एवं चारुत्व-हेतु हैं। इस परिस्थिति में उपर्युक्त व्यतिरेक कहाँ सिद्ध होता है ? इस आशङ्का के निवारणार्थ कहते हैं वृत्तियों और रीतियों गुण एवं अल्ड्कार से भिन्न नहीं हैं। वह कैसे ? इसे स्वयं लोचनकार आगे की पंक्तियों में स्पष्ट करते हैं।

३. जैसा कि मूळ वृत्तिग्रन्थ में वृत्तियों एवं रीतियों को अस्क्रार एवं गुण से अनतिरिक्तवृत्ति

सहराज्यञ्जनन्यासं तिसृब्वेतासु वृत्तिषु । पृथकपृथगनुप्रासमुशन्ति कवयः सदा ॥ इति ॥

पृथकपृथिगित । परुषानुप्रासा नागरिका । मसृणानुप्रासा उपनागरिका, लिलता । नागरिकया विद्ग्धया उपमितेति कृत्वा । मध्यममकोमलपरुष-मित्यथः । अत एव वैद्ग्ध्यविहीनस्वभावासुकुमारापरुषप्राम्यवनितासादृश्यादियं 'इन तीन वृत्तियों में सजातीय (समानरूप) व्यव्जनों के उपनिबन्ध (के रूप में)

पृथक् पृथक् अनुप्रास को सदा कवि लोग चाहते हैं।

पृथक् पृथक्— । परुष अनुप्रास वाली (वृत्ति) नागरिका है, मसृण अनुप्रास वाली वृत्ति उपनागरिका या लिलता है। नागरिका या विदग्धा से उपिमत, यह करके। मध्यम अर्थात् अकोमल एवं अपरुष। अत एव वैदग्ध्य से विहीन स्वभाव वाली होने के कारण असुकुमार एवं अपरुष ग्राम्य वनिता के साहश्य से यह (तृतीया वृत्ति)

अर्थात इन्हें छोड़कर न टिकने वाली वताया है, उन्हीं में पहले यह सिद्ध करते हैं कि किस प्रकार वृत्तियाँ अनुप्रास अलङ्कार की आश्रयभूत जातियाँ हैं। वर्णनीय या वर्णन के विषय अपने स्वभाव के अनुसार तीन प्रकार के होते हैं—दीप्त (तीन्नता या तीखापन लिए हुए, रौद्र आदि रस में), मसण (अर्थात मधुर, जैसे शृङ्कार आदि रस में), मध्यम (दोनों निर्दिष्ट स्वभाव के वीच के स्वभाव का वर्णनीय, जैसे द्वास्य आदि रस में)। इस प्रकार दीप्त के परुपत्व स्वरूप, मधुर के लिलतत्व-स्वरूप एवं मध्यम के मध्यमत्व-स्वरूप के विवेचन के लिए अनुप्रास की तीन जातियाँ वर्ताई हैं। इस प्रकार अनुप्रास इन वृत्तियों का आधारित अलङ्कार हैं। इसी कारण 'अनुप्रास' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए लिखते हैं—'वर्तन्ते अनुप्रासभेदा आधु' अर्थात वर्तमान हैं अनुप्रास के भेद इनमें। इस तथ्य को ल्रोचनकार ने आचार्य उद्घट के 'कान्यालङ्कार-सारसंग्रह' से वचन (१.८) उद्घृत करके प्रमाणित किया है। आचार्य उद्घट के अनुसार अनुप्रास में वृत्तियों के अनुसार सजातीय (समानरूप) व्यक्षनों का उपनिवन्धन पृथक्-पृथक् रूप से कवियों का अभिप्रेत होता है, अर्थात् कित लोग वर्णनीय वस्तु के स्वभाव के अनुसार शब्दचयन करने का प्रयक्त करते हैं। इसी प्रसक्त में आचार्य उद्घट ने अपने प्रक्त मूं तीन वृत्तियों में किस-किस प्रकार के सजातीय व्यक्षन प्रयुक्त होते हैं, इसका निर्देश किया है—

श्रुषाभ्यां रेफसंयोगेष्टवर्गेण च योजिता। परुषा नाम वृत्तिः स्याद् छह्ह्ह्याचैश्च संयुता।।
सरूपसंयोगयुतां मूधिन वर्गान्त्ययोगिभिः। स्पर्शेयुतां च मन्यन्त उपनागरिकां बुधाः॥
शेपैवर्णेर्यथायोगं कथितां कोमलाख्यया। म्राम्यां वृत्तिं प्रशंसन्ति कान्येष्वावृत्तबुद्धयः॥
(१. ५-७)

इसके अनुसार वृत्तियों में निम्न प्रकार के व्यक्षनों का प्रयोग होता है— परुषा—श, प, रेफ के संयोग, टवर्ग, इ, इ, इ आदि ।

उपनागरिका—समानरूप वर्णों के संयोग, वर्ग के अन्त्य अक्षर से द्विरोमाग में युक्त स्पर्श वर्ण (क से लेकर म तक के वर्ण)।

कोमला अथवा ग्राम्या-यथायोग शेष वर्ण ।

१. निर्दिष्ट तीन प्रकार की वृत्तियों के नामकरण की सार्थकरा का निर्देश करते हैं। वह वृत्ति 'नागरिका' कहळाती है जो परुष वर्णों से आरब्ध होने के कारण परुप अनुप्रास से युक्त होती है। 'परुषा' वृत्ति ही 'नागरिका' कहळाती है। मसुण या खिग्ध वर्णों के अनुप्रास वाछी वृत्ति 'उपनागरिका' कहळाती है। इसे 'छळिता' भी कहते हैं। 'उपमिता नागरिकया उपनागरिका' इस

वृत्तिश्रीम्येति । तत्र तृतीयः कोमलानुप्रास इति वृत्तयोऽनुप्रासजातय एव । न चेह वैशेषिकवद् वृत्तिर्विवक्षिता, येन जातौ जातिमतो वर्तमानत्वं न स्यात्, तदनुग्रह एव हि तत्र वर्तमानत्वम् । यथाह कश्चित्—

लोकोत्तरे हि गाम्भीर्ये वर्तन्ते पृथिवीसुजः। इति।

तस्माद् वृत्तयोऽनुप्रासादिभ्योऽनितरिक्तवृत्तयो नाभ्यविकव्यापाराः। अत एव व्यापारभेदासावान्न पृथगनुमेयस्वरूपा अपीति वृत्तिशब्दस्य व्यापारवा-चिनोऽभिप्रायः। अनितरिक्तत्वादेव वृत्तिव्यवहारो सामहादिमिनं कृतः। ग्राम्या है। वहाँ, तीसरा कोमलानुप्रास है। इस प्रकार वृत्तियां अनुप्रास की जातियां ही हैं। यहां वैशेषिक मत की भाँति वृत्ति (वर्तन, आयेयत्वरूप) विवक्षित नहीं है, जिससे जाति में जातिमान् का वर्तमानत्व न होगा, विल्क उस (वृत्ति रूप जाति) द्वारा अनुग्रह ही वहां वर्तमानत्व है। जैसा किसी ने कहा है—

'लोकोत्तर गाम्भीर्य में राजा लोग रहते हैं'।

इसलिए वृत्तियां अनुप्रासादि से अतिरिक्त होकर रहने वाली नहीं हैं एवं अधिक व्यापार वाली नहीं हैं। अत एव व्यापार के भेद के न होने के कारण पृथक् अनुमेय स्वरूप नहीं हैं, यह 'व्यापार' के वाची 'वृत्ति' शब्द का अभिप्राय है। अतिरिक्त न होने के कारण ही भामह आदि आचार्यों ने वृत्ति का व्यवहार नहीं किया। उद्भट आदि

प्रकार इसकी सज्ञा अन्वये हैं। 'मध्यमा' नाम की तृतीया वृत्ति 'प्राम्या' इसलिए कहलाती है किं प्राम्य वनिता की भांति यह भी वैदग्ध्य-विहीन होती है, इसमें न तो सुकुमारता होती है और न परुषता ही। भट्ट उद्भट के अनुसार ग्राम्या वृत्ति की कोमल-संज्ञा भी है जो रूढ है।

१. जैसा कि पहले ही से यह कहते आ रहे हैं कि वृत्तियों अनुप्रास की जातियों हैं और वृत्तियों के लक्षण में वृत्तियों को अनुप्रासों का आश्रय बनाया है; जैसे, जो वृत्ति परुष अनुप्रास को रखती है अर्थात उसका आश्रयभूत है वह परुपा या नागरिका कहलाती है आदि और 'वर्तमान' हैं अनुप्रास के भेद इनमें' यह भी 'वृत्ति' का न्युत्पत्तिलभ्य अर्थ किया है। ऐसी स्थिति में, वैद्येषिक मत, जो जाति में जातिमान् का वर्तमानत्व नहीं स्वीकार करता, से स्पष्ट विरोध होता है (क्यों कि वृत्ति रूप जाति में जातिमान् अनुप्रास का वर्तमानत्व उपपन्न नहीं है)। इस पर लोचनकार लिखते हैं कि प्रस्तुत में वृत्ति या आधेयत्व रूप वर्तन वैद्येषिकमतानुसार विवक्षित ही नहीं है विक वहाँ वर्तमानत्ववृत्तिरूप-जातिकर्तृक अनुग्रह ही है। वृत्तियों को 'जाति' इसी लिए कहा है कि वे गवादि से गोत्वादि जातियों की भाँति परुषत्वादि-विद्याष्ट अनुप्रासों से अभिन्यक्त होती हैं।

'वृत्ति रूप जाति के द्वारा अनुमह' का स्पष्टीकरण यह है कि वृत्तियों के कारण ही अनुमास में परुपत्वादिमेदक धर्म एवं रसामित्र्यक्षन की सामर्थ्य उत्पन्न होती है। इस प्रकार वृत्तियों अनुमासों के प्राणभून तत्त्व हैं, अतः वे अनुमास की जातियों कर के मानी गई हैं। यह अनुमह उसी प्रकार का है जैसे, 'लोकोत्तर गाम्मीर्थ में राजाओं का वर्तमान होना' है। यहाँ गाम्भीर्थकर्षक अनुमह है, विना 'गाम्मीर्थ' के राजा लोग को को मान नहीं कर सकते। 'गाम्मीर्थ' वह माव है, जिसके प्रमाव से कोई विकार नहीं उत्पन्न होता। इस प्रकार पार्यन्तिक वक्तन्य यह है कि बो रसामिन्यक्षनिषयक व्यापार अनुप्रास आदि का है वहीं वृत्तियों का है। ऐसी स्थित में वृक्तियों का पृथक् रूप से पृत्रोंक अनुमान सिद्ध नहीं होता है।

उद्भटादिभिः प्रयुक्तेऽपि तस्मिनार्थः कश्चिद्धिको हृद्यपथमवतीर्ण इत्यभि-प्रायेणाह्—गताः श्रवण्गोचरमिति । रीतयश्चेति । तदनतिरिक्तवृत्तयोऽपि गताः श्रवणगोचरमिति सम्बन्धः। तच्छब्देनात्र माधुर्यादयो गुणाः, तेषां च सम्-चितवृत्त्यपैयो यदन्योन्यमेलनक्षमत्वेन पानक इव गुडमरिचादिरसानां सङ्घात-रूपतागमनं दीप्रललितमध्यमवर्णनीयविषयं गौडीयवैदर्भपाख्वालदेशहेवाकप्रा-चुर्यदशा तदेव त्रिविधं रीतिरित्युक्तम् । जातिर्जातिमतो नान्या, समुदायश्च समुदायिनो नान्य इति वृत्तिरीतयो न गुणालङ्कारव्यतिरिक्ता इति स्थित आचार्यों द्वारा प्रयुक्त होने पर भी कोई अधिक अर्थ हृदयपथ पर अवतीर्ण नहीं होता, इस अभिप्राय से कहते हैं — खुनने में आई हैं —। और रीतियाँ —। उससे अतिरिक्त होकर न रहने वाली (रीतियाँ) भी खुनने में आई हैं, यह सम्बन्ध है। यहाँ 'उस' (तत्) शब्द से माधुर्यादि गुण अभिष्रेत हैं; और उन³ (माधुर्यादि गुणों) का समुचित वृत्ति में अर्पण होने पर, जी परस्पर मिलाने की क्षमता होने के कारण, पानक रस की भांनि, गृह, मरिचादि रसों का संघात (मिलित) रूप में आना है, दीप्त, ललित और मध्यम वर्णनीय विषय रूप, गौडीय, वैदर्भ और पाठचाल देश के स्वभाव (हेवाक) की प्रचुरता की दृष्टि से वही त्रिविध होकर 'रीति' कहा गया है। जाति जातिमान से अन्य नहीं है और समुदाय ससुदायों से अन्य नहीं है; इस प्रकार वृत्ति-रीतियाँ गुण और अलब्हार से व्यतिरिक्त नहीं हैं; इस लिए वह व्यतिरेकी हेत तदवस्थ ही रहा।

१. जिस प्रकार ऊपर वृत्तियों की गतार्थता अनुप्रासों से बताई गई, उसी प्रकार अब रीतियों की गतार्थता को माधुर्य आदि गुणों से अभिद्दित करते हैं। आचार्य वामन, जो रीति-सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक आचार्य हैं, के अनुसार 'विशिष्ट पदरचना' ही 'रीति' है, यहाँ 'वैशिष्टय' गुणों के द्वारा आहित होता है (विशिष्टा पदरचना रीतिः, विशेषो गुणात्मा-वामन) इसी 'रीति' को छोचनकार ने 'समुचित वृत्ति में गुणों का अपँण अर्थात संघातरूपतागमन' कहा है और गुड-मरिचादि के रसों का संघात होने पर पानक रस का उदाहरण दिया है। 'समुचित वृत्ति' से तात्पर्य है दीप्त आदि वर्णनीय के औचित्य से गुक्त वर्णरचना' (जैसा कि 'वार्छाप्रया' में निर्देश है)। ऐसी वर्णरचना में 'गुण' आकर 'रीति' का रूप धारण कर छेते हैं। प्राचीन आचार्यों ने दीप्त, रुखित और मध्यम वर्णनीय विषयों के अनुसार 'रीति' के गौडीय, वैदर्भ और पाञ्चाल, ये तीन दैशिक मेद किए हैं। माधुर्य आदि गुण समुचित वर्णरचना के साथ संहत या समूहताप्राप्त हो जाते हैं तब उनकी स्थिति 'रीति' के रूप में हो जाती है। इस प्रकार यह भी निश्चय हुआ कि रीतियाँ गुणों से व्यतिरिक्त तस्व नहीं हैं।

[.] २. व्यतिरेकी हेतु—पहले जो यह कह चुके हैं कि निर्दिष्ट गुण और अलङ्कारों के अतिरिक्त कोई तस्व नहीं जो चारुत्वहेतु है, इसी प्रसंग में चारुत्वहेतु के रूप में प्राप्त वृत्ति और रीति की कतार्थता अलङ्कार और गुण में बताई गई। इस प्रकार 'ध्विनः, गुणालङ्कार व्यतिरिक्तत्वाभाववान्, धारुत्वहेतुत्वाद, यो हि गुणालङ्कार व्यतिरिक्तो भवित स चारुत्वहेतुनं भविते' यह केवलव्यतिरेकी हेतु अपने रूप में अखिंग्द्रत रहा। और फिर वह बात अभाव वादी पक्ष के अनुसार फिर सामने आई कि आखिर यह 'ध्विन' क्या है ?

अन्ये ब्र्युः—नास्त्येव ध्वनिः । प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकिणः काव्यप्रकारस्य काव्यत्वहानेः सहृद्यहृद्याह्नादिशब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम् । न चोक्तप्रस्थानातिरेकिणो मार्गस्य तत्सम्भवति । न च तत्समतान्तःपातिनः सहृद्यान् कांश्चित्परिकल्प्य तत्प्रसिद्ध्या ध्वनौ काव्यव्यपदेशः प्रवर्तितोऽपि सकलविद्धन्मनोग्राहितामवलम्बते ।

अन्य लोग कहें—नहीं है ध्वनि, क्योंकि प्रसिद्ध प्रस्थान से व्यतिरिक्त कान्य के प्रकार (भेद) में कान्यत्व की हानि है। सहदयहृत्याह्वादिशब्दार्थमयत्व ही कान्य का लच्चण है। उक्त प्रस्थानों से अतिरिक्त मार्ग का वह सम्भव नहीं है। और उस सम्प्रदाय के (मानने वालों के) अन्तर्गत ही कुछ सहदयों को तैयार करके उनके द्वारा प्रसिद्ध कर दिए जाने से ध्वनि में कान्य का न्यवहार प्रवृत्त किया भी जाय तब भी सभी विद्वानों का मनोप्राही नहीं हो सकता।

लोचनम्

एवासौ व्यतिरेकी हेतुः । तदाह—तद्व्यतिरिक्तः कोऽयं ध्वनिरिति । नैष चारु-त्वस्थानं शब्दार्थरूपत्वाभावात् । नापि चारुत्वहेतुः, गुणालङ्कारव्यतिरिक्त-त्वादिति । तेनाखण्डबुद्धिसमास्वाद्यमपि काव्यमपोद्धारबुद्धश्या यदि विभव्यते, तथाप्यत्र ध्वनिशब्दवाच्यो न कश्चिदतिरिक्तोऽर्थो लभ्यत् इति नामशब्देनाह ।

ननु मा भूदसौ शब्दार्थस्वभावः मा च भूत्तचारुत्वहेतुः, तेन गुणालङ्कारव्यतिरिक्तोऽसौ स्यादित्याशङ्क्ष्य द्वितीयमभाववादप्रकारमाह—अन्य इति ।
उसे कहते हैं—उनसे व्यतिरिक्त कौन यह अतिरिक्त ध्विन नाम का (नया)
पदार्थ है ? —। यह (ध्विन) चारुत्व का स्थान नहीं हो सकता, क्योंकि न तो यह
शब्द रूप है और न अर्थरूप। और यह चारुत्व का हेतु भी नहीं है, क्योंकि यह गुण
तथा अलङ्कार से व्यतिरक्त है (उनकी सीमा में नहीं आता)। इसिल्ए अखण्ड बुद्धि
द्वारा समास्वादन के योग्य भी काव्य का विभाग (-अपोद्धार) बुद्धि से यदि विभाग
(खण्ड) करते हैं तथापि यहां 'ध्विन' शब्द का वाच्य कोई अतिरिक्त अर्थ उपलब्ध
नहीं होता, वह (बुक्ति ग्रन्थ में) 'नाम' शब्द से कहा है।

यह (ध्विन) शब्द-अर्थ के स्वभाव का न हो और चारुत्व का हेतु भी न हो,

^{2.} क्रोड्यं ध्विनिर्गमेति —यह पंक्ति अभाववाद के प्रथम विकल्प का निर्णीताथे व्यक्त करती है। इस पक्ष में ध्विन को चारुत्व का स्थान या चारुत्व का हेतु मान कर ध्विन के अस्तित्व को स्वीकार करने की बात उठी थी, परन्तु इसके विरुद्ध इस पक्ष ने सबल तर्क यह उपस्थित किया स्वीकार करने की बात उठी थी, परन्तु इसके विरुद्ध इस पक्ष ने सबल तर्क यह उपस्थित किया कि ध्विन चारुत्व-स्थान तभी हो सकता था जब कि यह शब्द रूप या अर्थ रूप होता और दूसरे, यह चारुत्वहेतु भी तभी हो सकता था जब कि ग्रुण अथवा अलङ्कार से व्यतिरिक्त होता। व तो यह शब्द शब्द शब्द श्वि के स्थिन स्थान यह स्पष्ट है कि 'ध्विन' यह शब्द श्वे स्थान स्थान विद्या स्थान स

भवत्वेवम् ; तथापि नास्त्येव ध्वनिर्यादृशस्तव लिलक्षयिषितः । काव्यस्य ह्यसौ कश्चिद्वक्तव्यः । न चासौ नृत्तगीतवाद्यादिस्थानीयः काव्यस्य कश्चित् । कवनीयं काव्यं, तस्य भावश्च काव्यत्वम् । न च नृत्तगीतादि कवनीयसित्युच्यते ।

प्रसिद्धिति । प्रसिद्धं प्रस्थानं शब्दार्थौ तद्गुणालङ्काराश्चेति, प्रतिष्टन्ते परम्परया व्यवहरन्ति येन मार्गेण तत्प्रस्थानम् । काव्यप्रकारस्येति । काव्यप्रकारत्वेन तव स मार्गोऽभिप्रेतः, 'काव्यस्यात्मा' इत्युक्तत्वात् । ननु कस्मात्तत्काव्यं न भवतीत्याह—सहृदयेति । मार्गस्येति । नृत्तगीताक्षिनिकोचनादिप्रायस्येत्यं । तिर्दित । सहृदयेत्यादिकाव्यलक्षणमित्यर्थः । ननु ये तादृशमपूर्वं इससे वह गुण और अलङ्कार से व्यतिरिक्त तो होगा ! यह आशङ्का करके अभाव-वाद के दूसरे प्रकार को कहते हैं—अन्य—। हो ऐसा; तथापि जैसा कि तुम्हें लक्षणयुक्त बनाना अभिलिषत है वैसा ब्वनि तो है ही नहीं (क्योंकि) वह (ब्वनि) काव्य का कोई कहा जायगा । और, वह नृत्त, गीत, वाद्य आदि स्थानीय कुछ तो नहीं है ! कवनीय काव्य होता है, उसका भाव काव्यत्व है । नृत्त, गीत आदि 'कवनीय' नहीं कहे जाते ।

प्रसिद्ध—। प्रसिद्ध प्रस्थान, अर्थात् शब्दः और अर्थं एवं उनके गुण और अलङ्कार। प्रतिष्ठित होते हैं, परम्परा से जिस मार्ग से व्यवहार करते हैं वह 'प्रस्थान' है। काव्य के प्रकार में—। काव्य के प्रकार के रूप में वह मार्ग तुम्हें अभिप्रेत है, क्योंकि 'काव्य का आतमा' यह कहा है। शङ्का है कि कैसे वह काव्य नहीं हो सकता, इस पर कहते हैं—सहदय॰—। मार्ग का—। अर्थात् नृत्त, गीत, आंखों का मींचना आदि के सहस (मार्ग का)। वह—। अर्थात् सहदय॰ इत्यादि काव्य का लक्षण। जो उस

अब लोचनकार ने मूल वृत्तिमन्य के 'नाम' शब्द का तात्पर्य इस प्रकार निकाला है—ध्वनि तंत्व किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता, अगत्या अखण्ड बुद्धि द्वारा समास्त्राद्य भी काव्य को अपोद्धार या विभाग की बुद्धि से विभक्त करते हैं तब भी ध्वनि' शब्द का बाच्य कोई अतिरिक्त अर्थ नहीं प्राप्त होता है। ऐसी स्थिति में ध्वनि का अभाव ही मानना चाहिए।

१. अभाववाद के प्रथम विवास्प में यहां निर्णय हुआ कि ध्वनि न तो शब्द अथवा अर्थ के रूप में माना जा सकता और न तो चारुत्व के हेतु के रूप में स्त्रीकार किया जा सकता, इस लिए ध्वनि हं ही नहीं। इस पर प्रतिपक्षी की ओर से यह शक्का होती है कि क्यों न ध्वनि को गुण और अलक्कार से अतिरिक्त की तत्त्व स्वीकार किया जाय। इस पर अभाववाद के दूसरे विवास्प में जोर देकर यह खण्डन उपस्थित किया गया है कि माना कि गुण और अलक्कार से व्यतिरिक्त हो को ध्वनि है, लेकिन ऐसे 'ध्वनि' को मानने से लाम क्या होगा? क्यों कि 'ध्वनि' को कान्य का हो तत्त्व होना चाहिए, वही प्रस्तुत में लक्कणीय हो सकता है। और जब कान्य के रूप शब्द-अर्थ और चारुत्वहेतु गुण और अलक्कार से ध्वनि को पृथक् कर देते हैं तब तो निश्चय ही सकता है जिसका कान्य से कोई सक्ता, नृक्त, गीत, वाद्य आदि के समान हो कोई तत्त्व हो सकता है जिसका कान्य से कोई सम्बन्ध नहीं। कान्य 'कवनीय' (कि के प्रयक्ष का साध्य) होता है और नृतन्तीतादि कवनीय नहीं, उसी प्रकार ध्वनि की स्थित हैं।

काव्यरूपतया जानन्ति, त एव सहृद्याः । तद्भिमतत्वं च नाम काव्यलक्षणमुक्तप्रस्थानातिरेकिण एव भविष्यनीत्याशङ्कचाह—न चेति । यथा हि खङ्गलक्षणं
करोमीत्युक्त्वा आतानवितानात्मा प्रात्रियमाणः सकलदेहाच्छाद्कः सुकुमारश्चित्रतन्तुविरचितः संवर्तनविवर्तनसहिष्णुरच्छेद्कः सुच्छेद्य उत्कृष्टः खङ्ग इति
ब्रुवाणः, परैः पटः खल्वेवंविधो भवति न खङ्ग इत्ययुक्तत्या पर्यनुयुज्यमान एवं
ब्रूयात्—ईदृश एव खङ्गो ममाभिमत इति तादृगेवेतत् । प्रसिद्धं हि लच्यं भवति
न कल्पितमिति भावः । तदाह—सकलविद्वदिति । विद्यांसोऽपि हि तत्समयज्ञा
एव भविष्यन्तीति शङ्कां सकलशब्देन निराकरोति । एवं हि कृतेऽपि न किञ्चित्कृतं स्यादुन्मक्तता परं प्रकटितेति भावः ।

यस्त्त्रत्रामिप्रायं व्याचष्टे—जीवितभूतो ध्वनिस्तावत्तवाभिमतः, जीवितं च नाम प्रसिद्धप्रस्थानातिरिक्तमलङ्कारकारेरनुक्तत्त्रात्तच न काव्यमिति लोके प्रकार के अपूर्व को काव्य के रूप से जानते हैं, वे ही—'सहृदय' हैं और उन (सहृदयों) का जो अभिमत है वह काव्यलक्षण कहे हुए प्ररथानों के अतिरिक्त का ही होगा, यह आश्रञ्जा करके कहते हैं—उस ध्वनि—। क्योंकि जैसे, 'खड्ग का लक्षण करता हूँ' यह कह कर, 'आतान-वितान के स्वभाव वाला, प्रावरण किया जाता हुआ, सकल शरीर को ढँक देने वाला, सुकुमार, रंग-विरंगे तन्तुओं से बना हुआ, संकोच और विकास को सह लेने वाला, सुख से छेदन के योग्य उत्कृष्ट खड्ग है' यह कहता हुआ, दूसरों के द्वारा 'ऐसा तो कपड़ा होता है खड्ग नहीं' इस प्रकार अयुक्त होने के कारण, पूछा गया (वह व्यक्ति) इस प्रकार कहे ऐसा ही खड्ग मेरा अभिमत है उसी तरह का यह है। भाव यह कि लक्ष्य प्रसिद्ध होता है, किल्पत नहीं। उसे कहते हैं—सकल विद्वानों के—। विद्वान् भी उस (ध्वनि) के समय (सङ्केत) के जानने वाले ही होंगे, इस शङ्का को 'सकल' शब्द से (युक्तिकार) निकाकरण करते हैं। मतलब यह कि ऐसा करने पर भी कुछ नहीं किया, केवल पागलपन' ही प्रकट किया।

जो व्यक्ति यह (इस) अभिप्राय की व्याख्या करता है—'तुम्हारा अभिमत है कि व्यक्ति (काव्य का) जीवितभूत (अनुप्राणक) तत्त्व है और जीवित रूप (व्विन) प्रसिद्ध प्रस्थानों से अतिरिक्त है और इसे आलङ्कारिकों ने नहीं कहा है अत; वह

१. ध्वन्यभाववादी का दूसरा विकल्प संक्षेप में यह है कि ध्वनि चूंकि परम्परा से व्यवहृत मार्गों में नहीं आता, अतः काव्य के आत्मा या प्रकार के रूप में उसे स्वीकृत नहीं किया जा सकता। दूसरे 'सहदयाह्नादकारिशव्दार्थमयत्व' रूप का य-लक्षण उसमें संघटित भी नहीं होता। अगर कुछ सहदय एक नाक्य होकर ध्वनि को हरयाहादी मान कर 'काव्य' नाम दे भी दें तव भी यह सकल विद्ञान-मनोग्राह्म तत्त्व नहीं हो सकता। इस प्रकार ध्वनि के सम्बन्ध में यह सब कुछ 'पागलपन' के अतिरिक्त कुछ नहीं।

२. छोचनकार ने दितीय अभाववादी के अभिप्राय को कुछ भिन्न रीति से बताने वाले का यह सण्डन किया है। उसके अनुसार अभिप्राय यह है कि पहले आलक्कारिकों ने ध्यनि को आहमार वा सीवित रूप में स्वीकार नहीं किया है और यह 'जीवित' भूत ध्वनि तस्व प्रसिद्ध प्रस्थानों से

पुनरपरे तस्याभावमन्यथा कथयेयुः—न सम्भवत्येव ध्वनिनी-मापूर्वः कश्चित् । कामनीयकमनतिवर्तमानस्य तस्योक्तेष्वेव चारुत्वहेतु-ष्वन्तर्भावात् । तेषामन्यतमस्येव वा अपूर्वसमाख्यामात्रकरणे यत्कि-श्वन कथनं स्यात् ।

फिर अन्य लोग उस (ध्वनि) का अभाव अन्य प्रकार से कहें—'ध्वनि नाम का कोई अपूर्व सम्भव ही नहीं हैं, क्योंकि वह कामनीयक का अतिवर्तन नहीं करता, (इसिल्ए) उसका कहे गए चारुत्व के हेतुओं में ही अन्तर्भाव है। अथवा उन्हीं में से एक की अपूर्व समाख्या (नामकरण) की जाय तो जो-कुछ (तुच्छ) कथन होगा।

लोचनम्

प्रसिद्धमिति । तस्येदं सर्वं स्ववचनविरुद्धम् । यदि हि तत्काव्यस्यानुप्राणकं तेनाङ्गीकृतं पूर्वपक्षवादिना तिचरन्तनैरनुक्तमिति प्रत्युत लक्षणाईमेव भवति । तस्मात्प्राक्तन एवात्राभिप्रायः।

ननु भवत्वसौ चारुत्वहेतुः शब्दार्थगुणालङ्कारान्तर्भूतश्च, तथापि ध्वनिरि-त्यमुया भाषया जीवितमित्यसौ न केनचिदुक्त इत्यभिप्रायमाशङ्कय तृतीयम-भाववादमुपन्यस्यति-पुनरपर इति । कामनीयकमिति कमनीयस्य कर्म । चारुत्वधीहेतुतेति यावत् ।

(जीवितभूत ध्विन) काव्य नहीं है, 'लोक में प्रसिद्ध है।' यह सब कथन उस (व्यक्ति) के अपने ही कथन के विरुद्ध ठहरता है, क्योंकि यदि उस पूर्वपक्षवादी ने यह स्वीकार कर लिया कि (ध्विन) काव्य का अनुप्राणक (जीवितभूत) है तो प्राचीनों द्वारा उक्त न होने के कारण प्रत्युत वह लक्षणाई ही होगा। इस लिए पहला ही यहाँ अभिप्राय (ठीक) है।

माना कि वह (ध्विन चारुत्व का हेतु है और शब्द-अर्थ के गुण और अलङ्कारों के अन्तर्भूत (भी) है; तथापि 'ध्विन' इस भाषा के द्वारा (अर्थात् यह कहकर) 'जीवित' ऐसा वह किसी के द्वारा नहीं कहा गया है इस अभिप्राय की आशङ्का करके तीसरे

अतिरिक्त है। अतः यह काव्य की श्रेणी में नहीं आ सकता। इसे अभाववादी के अनुसार लोक में प्रसिद्ध होना चाहिए, जैसे शब्द, अर्थ, गुण, अलङ्कार लोक में प्रसिद्ध है।

लोचनकार का कहना है कि इस न्याख्याकार का यह सब कथन 'स्ववचनविरुद्ध है। क्योंकि, जबिक यह स्वयं पूर्वपक्षवादी (ध्वन्यभाववादी) ने स्वीकार कर लिया कि ध्वनि कान्य का जीवित या अनुप्राणक तत्त्व है तब तो उसे 'कान्य' होना ही चाहिए। उसे इस कारण न मानना कि प्राचीन किसी आलक्षारिक ने उसे नहीं कहा है, यह कहाँ की दलील है। बल्कि, वह तो सबैधा 'लक्षणाई' अर्थात् लक्ष बनाने के योग्य (लक्षयितन्य) है। अतः उपर्युक्त न्याख्यान स्वीकार्य नहीं। पूर्व न्याख्यान ही दितीय अमाबवादी के अमिप्राय को ठीक न्यक्त करता है।

किञ्च वाग्विकल्पानामानन्त्यात् सम्भवत्यपि वा किस्मिश्चित् काव्यलक्षणविधायिभिः प्रसिद्धैरप्रदिश्चिते प्रकारलेशे ध्वनिध्वनिरिति यदेतदलीकसहृदयत्वभावनाम्रुकुलितलोचनैनृत्यते, तत्र हेतुं न विद्यः ।
सहस्रशो हि महात्मिभरन्येरलङ्कारप्रकाराः प्रकाशिताः प्रकाश्यन्ते
च । न च तेषामेषा दशा श्रूयते । तस्मात् प्रवादमात्रं ध्वनिः ।
न त्वस्य क्षोदक्षमं तन्त्वं किञ्चिदपि प्रकाशियतं शक्यम् । तथा चान्येन
कृत एवात्र श्लोकः—

और भी, वारिवक्ष्मों के अनन्त होने के कारण प्रसिद्ध कान्य-छत्तणकारों द्वारा अप्रदर्शित किसी प्रकार लेश के सम्भव होने पर भी, 'ध्विन-ध्विन' यह जो, सहदयता की आवना से आंखें मूंद कर (ध्विनवादी) नाच रहे हैं उसमें हेतु हम नहीं जानते। अन्य महास्माओं (विद्वानों) ने हजारों अलङ्कारों के भेद बताए हैं और बताते हैं उनको यह स्थिति नहीं सुनाई पड़ती। अतः ध्विन प्रवादमात्र है। इसका कुछ भी विचारयोग्य तस्त्व प्रकाशित नहीं किया जा सकता है। जैसा कि अन्य ने यहाँ श्लोक बनाया ही है—

लोचनम

ननु विच्छित्तीनामसंख्यत्वात्काचित्तादृशी विच्छित्तिरस्माभिर्दृष्टा, या नानुप्रासादी, नापि माधुर्यादाबुक्तलक्ष्योऽन्तर्भवेदित्याशङ्कथाभ्युपगमपूर्वकं परिहरति—वाग्विकल्पानामिति । वक्तीति वाक् शब्दः । उच्यत इति वागर्थः । अभाववाद का उपन्यास करते हैं—फिर अन्य छोग—। 'कामनीयक' अर्थात् कमनीय का कर्म मतलब कि चारुत्व बुद्धि का हेतुत्व ।

विच्छित्तियों (वैचित्र्यों) के असंख्य होने के कारण कोई उस प्रकार की विच्छिति हमने देखी है जो न अनुप्रास आदि अलङ्कारों में और न माघुयं आदि गुणों में, जैसा कि उसके लक्षण कहे गए हैं, अन्तर्भूत हो, यह आशङ्का करके अम्युपगमपूर्वक (इसे स्वीकार

इस पर अभावनार के पक्ष से यह कहना है कि किसी प्रकार ध्वनि उस सीमा का अविक्रमण नहीं कर सकता जिसमें कमनीयता या चारुता को उत्पन्न करते हैं, अर्थात् ध्वनि चारुत्वहेतु ही अन्ततः सिद्ध होकर रह जाता है। ऐसी स्थिति में उन्हीं चारुत्वहेतुओं में अन्तर्भूत एक तस्त्र को

१. तृतीय अभाववाद के अवतरण में लोचनकार का कहना है कि ध्वनिवादी का यहाँ यह पक्ष होगा कि ध्वनि को चारुत्व का हेतु मान कर गुण और अलङ्कार के अन्तर्भूत मान लेते हैं, किन्तु इतना तो सानना हो होगा कि अब तक किसी ने 'ध्वनि' का नाम लेकर उसे 'कान्य का जीवित' (कान्यस्थारमा) बनाने का प्रयास किया हो अतः यह एक अभूतपूर्व बात है, इस प्रकार ध्वनि को स्वीकार करना चाहिए।

उच्यतेऽनयेति वागिसघाव्यापारः। तत्र शब्दार्थवैचित्र्यप्रकारोऽनन्तः। अभि-धावैचित्र्यप्रकारोऽनन्तः । अभिधावैचित्र्यप्रकारोऽप्यसंख्येयः । प्रकारलेश इति । स हि चारुत्वहेतुर्गणो वालङ्कारो वा । स च सामान्यलक्ष्मोन संगृहीत एव । यदाहु:-- 'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः, तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः' इति । तथा 'वक्राभिघेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः' इति । ध्वनिर्ध्वनिरिति वीप्सया सम्भ्रमं सूचयन्नादरं दर्शयति—चृत्यत इति । तन्नक्षणकृद्धिस्तद्युक्तका-व्यविधायिभिस्तच्छ्रवणोद्भूतचमत्कारैश्च प्रतिप्त्तभिरिति शेषः । ध्वनिशब्दे कोऽत्यादर इति भावः। एषा दशेति। स्त्रयं दर्पः परैश्च स्त्यमानतेत्यर्थः। वान्विकल्पाः वाक्प्रवृत्तिहेतुप्रतिभाव्यापारप्रकारा इति वा। तस्मारप्रवादमात्रमिति । सर्वेषामभाववादिनां साधारण उपसंहारः। यतः शोभाहेत्तवे गुणालङ्कारेभ्यो करते हुए) परिहार करते हैं —वाग्विकल्पों के —। ('वाक्' की तीन व्युत्पत्तियों के अनुसार) 'वक्तीति वाक्', जिसे कहता है वह वाक्, अर्थात् शब्द, 'उच्यत इति वाक्' जो कहा जाता है, अर्थात् अर्थ और 'उच्यतेऽनया', जिससे कहा जाता है अर्थात् अभिधा व्यापार (ये तीन अर्थ गृहीत होते हैं)। उनमें शब्द और अर्थ के वैचित्र्य का प्रकार अनन्त है। अभिघा के वैचित्र्य प्रकारों की भी कोई संख्या नहीं। प्रकारलेश-। वह चारुत्व का हेतु गुण हो अथवा अलङ्कार हो, वह सामान्य लक्षण के द्वारा संगृहीत ही (हो जायगा)। जैसा कि (वामन) कहते हैं— 'काव्य के शोभाकारी धर्म गुण हैं, और उस (काव्य की शोभा) के अतिशयकारी हेतु अलङ्कार हैं'। तथा 'वक (विचित्र) अभिषेय (अर्थ) और शब्द की उक्ति वाणियों की अलङ्कृति है।' 'ध्वनि-ध्वनि' इस दो वार (वीप्सा) के कथन से (व्विनवादियों का) सम्ङ्कम (हड़बड़ी) सूचित करते हुए (उनका घ्वनि में) आदर दर्शाते हैं — नाचते हैं —। शेष यह कि (घ्वनि) का लक्षण करने वाले; उससे युक्त काव्य का निर्माण करने वाले; उसके सुनने मात्र से उत्पन्न चमत्कार वाले प्रतिपत्तृजन । भाव यह कि 'घ्वनि' इस शब्द मात्र में आदर का क्या मतलब ? ऐसी दशा-। अर्थात् स्वयं तो दर्प तथा दूसरों से स्तूयमान होना। वाग्विकरूप अर्थात् अथवा वाक्प्रवृत्ति के हेतुभूत प्रतिमा व्यापार के प्रकार । इसिछिए त्रवाद मात्र-। समस्त अभाव-वादियों का यह सामान्य रूप से उपसंहार है। अर्थात्

आपने एक अपूर्व नाम से 'ध्वनि' के नाम से अमिहित कर दिया तो यह कोई महत्त्व का कथन नहीं कहा जा सकता।

१. ऐसा भी सम्भव है 'ध्विन' कोई ऐसी विच्छित्ति या वैचिन्य को छेकर कहा गया है जिसका अन्तर्भाव न किसी ग्रण में होता है और न किसी अल्ङ्कार में। ऐसी स्थिति में 'ध्विन' को स्थीकार करना आवश्यक हो जाता है। यह पूर्वपक्षी की आश्रङ्का को सवैया अभाववादी मान छेता है और अपने पक्ष का समर्थन करते हुए कहता है कि पूर्वाचारों हारा अनन्त प्रकारों में से किसी अप्रदक्षित प्रकार को छेकर इतना प्रपन्न खड़ा नहीं किया जा सकता। यह सवैधा उपहस्तनीय नात होगी।

यिसक्रिस्ति न वस्तु किश्चन मनः प्रह्लादि सालंकृति च्युत्पन्ने रचितं च नैव वचनैर्वक्रोक्तिश्चन्यं च यत् । काच्यं तद्धनिना समन्वितमिति प्रीत्या प्रशंसञ्जडो नो विद्योऽभिद्धाति किं सुमतिना पृष्टः स्वरूपं ध्वनेः ॥ भाक्तमाहुस्तमन्ये । अन्ये तं ध्वनिसंज्ञितं काच्यात्मानं गुण-वृत्तिरित्याहुः ।

जिसमें अलङ्कारयुक्त, मन को आह्वादित करने वाला कोई अर्थ (वस्तु) नहीं है, जिसे व्युत्पन्न वचनों से नहीं रचा गया है और जो वक्रोक्ति से शून्य है, उस कान्य की 'ध्विन से समन्वित' यह (मानकर) प्रेम से प्रशंसा करता हुआ जड़ (मूर्स ध्विनवादी) सुमित जन द्वारा ध्विन का स्वरूप पूछे जाने पर, क्या कहता है, हम नहीं जानते।

अन्य लोग उसे 'भाक्त' कहते हैं; अन्य ले!ग उस 'ध्वनि' नामक कान्यात्मा को 'गुणवृत्ति' कहते हैं।

लोचनम्

न व्यतिरिक्तः, यतश्च व्यतिरिक्तत्वे न शोभाहेतुः, यतश्च शोभाहेतुत्वेऽपि नादरास्पदं तस्मादित्यर्थः। न चेयमभावसम्भावना निर्मूलैव दूषितेत्याह-तथा चान्येनेति । प्रन्थकृत्समानकालभाविना मनोरथनाम्ना कविना । यतो न सालङ्कृति, अतो न मनःप्रह्वादि । अनेनार्थालङ्काराणामभाव उक्तः । न्युत्पचै रचितं च नैव वचनैरिति शब्दालङ्काराणाम् । वक्रोकिः उत्कृष्टा संघटनाः तच्छ्रन्यमिति शब्दार्थगुणानाम् । वक्रोक्तिशून्यशब्देन सामान्यलक्षणाभावेन क्योंकि (यदि व्विन) शोभा का हेतु है (तो) गुण और अलङ्कार से व्यतिरिक्त नहीं है, और क्योंकि (यदि) वह गुण और अलङ्कार से व्यतिरिक्त है तो वह शोभा का हेतु नहीं है, और क्योंकि (यदि वह शोभा का हेतु है (तो भी) आदरास्पद नहीं है, इस कारण। यह नहीं कि विना किसी मूल के (यहां) अभाव की सम्भावना है, कहते हैं — जैसा कि दूसरे ने —। अर्थात् ग्रन्थकार के समसामयिक 'मनोरथ' नाम के कवि ने । क्योंकि (वह) अळङ्कारयुक्त नहीं, अतः (वह) मन को आहळादित करने वाळा नहीं है, इससे अर्थालङ्कारों का अभाव कहा है। और व्युत्पन्न वचनों द्वारा रचित भी नहीं—इससे शब्दालङ्कारों का (अभाव कहा है)। वक्रोक्ति अर्थात् उत्कृष्ट सङ्घटना, उससे शून्य-इससे शब्द और अर्थ के गुणों का (अभाव कहा है)। कुछ लोग कहते हैं कि 'वक्रोक्तिशून्य' शब्द से (अलङ्कारों के इस 'वक्रोक्ति' रूप)

१. मनोरथ कवि — श्रेचनकार ने वृत्ति प्रन्थ में उद्धृत अमावनाद के अनुकूछ श्रोक को किसी 'मनोरथ' कवि, जो प्रन्थकार का समसामयिक था, का कहा है। 'मनोरथ' के नाम से न

सर्वालङ्काराभाव उक्त इति केचित्। तैः पुनक्कत्वं न परिहृतमेवेत्यलम्। ग्रीत्येति । गतानुगतिकानुरागेगोत्यर्थः । सुमतिनेति । जडेन पृष्टो भ्रूभङ्गकटा-श्चादिभिरेवोत्तरं ददत्तत्स्वरूपं काममाचक्षीतेति भावः ।

एवमेतेऽभावविकल्पाः शृङ्खलाक्रमेणागताः, न त्वन्योन्यासम्बद्धा एव । तथा हि तृतीयाभावप्रकारिनरूपणोपक्रमे पुनःशब्दस्यायमेवाभिप्रायः, उपसं-हारैक्यं च सङ्गच्छते । अभाववादस्य सम्भावनाप्राणत्वेन भूतत्वमुक्तम् । भाक्तवादस्त्वविच्छिन्नः पुस्तकेष्वित्यभिप्रायेण भाक्तमाहुरिति । नित्यप्रवृत्तवते-मानापेक्षयाभिधानम् । भज्यते सेव्यते पदार्थेन प्रसिद्धतयोत्प्रेक्यत इति सामान्य छक्षण के न होने के कारण समस्त अछङ्कारों का अभाव कहा है । उन (व्याख्याकारों ने) पुनरुक्ति का परिहार नहीं किया है, अतः (उनका कथन) ठीक नहीं । वहे प्रेम से—। अर्थात् गतानुगतिक (छकीर के फकीर होने के प्रति) अनुराग के कारण । सुछ्झी बुद्धि वालों द्वारा—। अगर कोई मूर्खं उनसे प्रश्न करता तो वे मीं हिला कर और आंख मटका कर ही उस (ब्विन) के स्वरूप को पूरा कह डालते—यह मतलव है ।

इस प्रकार ये अभाव-वाद के विकल्प श्रृङ्खला के कम से प्राप्त हैं, न कि परस्पर असम्बद्ध हैं, जैसा कि तीसरे अभाव-प्रकार के निरूपण के उपक्रम में 'पुनः' (फिर) शब्द का यही अभिप्राय है, और उपसंहार का एकत्व (साधारण्य) भी संगत होता है। अभाववाद के सम्भावना पर आधारित होने के कारण (उसमें) भूतकाल का प्रयोग किया है। किन्तु भाक्तवाद पुस्तकों में अविच्छित्र रूप से चला आ रहा है, इस अभिप्राय से 'भाक्तमाहुः' ('भाक्त' कहते हैं) यह नित्य-प्रवृत्त वर्तमान की अपेक्षा से अभिधान है। भज्यते = सेव्यते, अर्थात् प्रसिद्ध होने के कारण उत्प्रेक्षित होता है जो

कोई प्रन्थ का पता चलता है और न कोई सङ्केत ही मिलता है। 'राजतरङ्गिणी' में कहमीर के राजा जयापीड (अष्टम शताब्दी) के समापण्डितों में 'मनौरथ' का उल्लेख है। और मनौरथ के कुछ छोकों को आचार्य क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य-विचार-चर्चा' में उद्धृत किया है। सम्मव है तीनों 'मनौरथ' किसी एक 'कवि' से सम्बद्ध हों।

रे. अभाववाद के उपर्युक्त तीन विकल्प परस्पर असम्बद्ध नहीं, विल्क एक श्रृङ्खित रूप में प्रस्तुत किए गए हैं, इसी लिए सभी अभाववादियों के मतों का साधारण उपसंहार करते हुए वृत्तिप्रन्थ में आचार्य लिखते हैं—'इसलिए ध्वनि प्रवादमात्र है।' इस प्रकार तीनों विकल्पों की परस्पर सम्बद्धता का संकेत तृतीय अभाव-विकल्प के आरम्भ में 'पुनः' शब्द का प्रयोग स्पष्ट रूप से देता है।

२. अमाववाद चूंकि सम्भावना पर आधारित था इस लिए अन्यकार ने 'जगदुः' यह भूतार्थंक प्रयोग किया था किन्तु प्रस्तुत माक्तवाद अलङ्कार-शास्त्र के प्रन्थों में अविच्छिन्न रूप से स्मरण किया गया है इसलिए उसके लिए 'आहुः' इस नित्यप्रवृत्त वर्तमान के अर्थ में आचार्य ने प्रयोग किया है। भाक्तवाद को प्राचीनों ने विशेष रूप से 'गुणवृत्ति' शब्द से अमिहित किया है, जो

भक्तिर्घर्मोऽभिषेयेन सामीप्यादिः, तत आगतो भाक्तो लाक्षणिकोऽर्थः। यदाहुः—

अभिषेयेन सामीप्यात्सारूप्यात्समवायतः। वैपरीत्यात्क्रियायोगाञ्जस्रणा पञ्जधा मता॥ इति॥

गुणसमुद्दायवृत्तेः शब्दस्यार्थभागस्तै चण्यादिर्भक्तिः, तत आगतो गौणोऽर्थो भाक्तः । भक्तिः प्रतिपाद्ये सामीप्यते चण्यादौ श्रद्धातिशयः, तां प्रयोजनत्वेनो- द्दिश्य तत आगतो भाक्त इति गौणो लाक्षणिकश्च । मुख्यस्य चार्थस्य मङ्गो भक्तिरित्येवं मुख्यार्थबाधा, निमित्तं, प्रयोजनिमिति त्रयसद्भाव उपचारबीज- वह 'मक्ति' है; अभिषेय के द्वारा (तटादि का) सामीप्यादि धर्म (उत्प्रेक्षित होता है), उस (सामीप्यादि निर्मित्त) से आगत (प्रतीत) लाक्षणिक अर्थ (लक्ष्य अर्थ) भाक्त' है । जैसा कि कहते हैं—

'अभिषेय के द्वारा सामीप्य, सारूप्य, समवाय, वैपरीत्य और क्रियायोग रूप सम्बन्ध से लक्षणा पांच प्रकार की मानी गई है।'

गुणों के समुदाय में वृत्ति वाले शब्द का अर्थाश तैक्ष्यादि ('सिंहो माणवकः' इस स्थल में) 'मिक्त' है उससे आगत (प्रतीत) गौण अर्थ 'माक्त' है [सामीप्य] और तैक्ष्य आदि प्रतिपाद्य अर्थ में श्रद्धातिशय 'मिक्त' है। उस (श्रद्धातिशय रूप मिक्त) को प्रयोजन के रूप में उद्देश्य करके उससे आगत 'माक्त' है, इस प्रकार (माक्त) गौण और लाक्षणिक है। मुख्य अर्थ का मञ्ज 'मिक्त' है। इस प्रकार मुख्यार्थ की बाघा, निमित्त और प्रयोजन इन तीनों का सद्भाव उपचार का बीज' है। यह बात

'छक्षगा' ही है। प्राचीनों में विवरणकार उद्मट छिखते हैं—'शब्दानामिश्वानं अभिथान्यापारो मुख्यो गुणवृत्तिश्च।' आचार्य वामन छिखते हैं—'सादृश्याङक्षणा वक्रोक्तिः।' इस प्रकार आचार्य ने नित्य प्रवृत्त वर्तमान कें अर्थ को सूचित करने वाला 'आहुः' इस ल्य् लकार का सार्थक प्रयोग किया है।

१. 'मक्ति' शब्द की व्युत्पत्तियाँ — यहाँ 'मिक्ति' शब्द से आछक्कारिकों की 'छक्षणा' (शुद्धा और गौणी) दोनों प्राह्म हैं । जिस 'छक्षणा' को आछक्कारिकों ने साइस्येतर सम्बन्ध से शुद्धा और साइस्य सम्बन्ध से गौणी माना है उसमें मीमांसकों ने केवल 'गौणी' को छक्षणा से मिन्न इति स्वोकार किया है । मीमांसक लोग 'गौणी' को एक अलग इत्ति ही मानते हैं जो 'छक्षणा' से अतिरिक्त है । इस लिए 'मिक्ति' शब्द से दोनों छक्षणा और गौणी (अर्थात् शुद्धा छक्षणा और गौणी) दोनों अभिहित होते हैं ।

लक्षणा या गौणी के लिए एक दूसरा शास्त्रीय शब्द 'उपचार' मी प्रसिद्ध है। जब कि उपचार 'लक्षणा' के ये तीन बीज-मुख्यार्थ की बाधा, निमित्त और प्रयोजन—जहाँ होंगे वहीं लक्षणा होगी, और प्रस्तुत 'मिक्ति' भी चूँकि 'लक्षणा' हो है तो सामान्यतः 'मिक्ति' शब्द मी 'लक्षणा' के उक्त बीजों में संगत होना चाहिए, इस अभिप्राय से लोचनकार ने 'मिक्ति' शब्द की व्युत्पत्तियाँ लक्षणा-बीज के अनुकल की हैं।

(क) 'निमित्त' परक व्युत्पत्ति-भज्यते सेव्यते पदार्थेन प्रसिद्धतयोत्प्रेक्ष्यत इति मक्तिः।

(ख) 'प्रयोजन' परक व्युत्पत्ति—मक्तिः प्रतिपाचे सामीप्यतैक्ष्ण्यादौ श्रद्धातिश्चयः।

मित्युक्तं भवति । काव्यात्मानं गुण्वृत्तिरिति । सामानाधिकरण्यस्यायं भावः— यद्यप्यविवक्षितवाच्ये ध्वनिभेदे 'निःश्वासान्ध इवादर्शः' इत्यादावुपचारोऽस्ति, कही गई । काव्यात्मा (ध्वनि) को 'गुणवृत्ति' (कहते हैं)—। सामानाधिकरण्य का भाव यह है—यद्यपि 'अविवक्षितवाच्यं' नामक ध्वनि के एक भेद 'निःश्वासान्य इवादशंः'

(ग) 'मुख्यार्थवाथ' परक व्युत्पत्ति-मुख्यार्थस्य भङ्गो मक्तिः।

्ग) मुख्यायमा पर्या चुरा । इन तीनों की हिन्दी 'छोचन' के प्रस्तुत हिन्दी-अनुवाद में अक्षरशः कर दी गई है। साथ ही छोचनकार ने मौमांसकों के अनुसार अलग से 'गौणी' के लिए भी 'भक्ति' की न्युत्पित्त इस प्रकार की है—

गुणसमुदायवृत्तेः शन्दस्यार्थभागस्तैक्ष्ण्यादिर्भक्तिः ।

इस प्रकार 'मिक्ति' शब्द से 'छक्षणा' और 'गौणां' दोनों वृत्तियाँ प्राह्म हैं। और, 'तत आगतः' इस पाणिनीय नियम के अनुसार इस प्रकार की छक्षणारूप या गौणारूप 'भिक्ति' से प्रतीत होने वाला लाक्षणिक या गौण अर्थ प्रस्तुत में 'भाक्त' कहा गया है। यही है 'भाक्तमाहुस्तमन्ये', अर्थात् अन्य छोग उस ब्विन को माक्त अर्थात् लाक्षणिक या गौण अर्थ कहते हैं।

शुद्ध लक्षणा का प्रचलित उदाहरण 'गङ्गायां घोषः' है तथा 'गौणी' का प्रसिद्ध उदाहरण है 'अग्निमीणवकः'। कहा जा चुका है 'उपचारं' वहीं होता है जहाँ उपर्युक्त 'बीज' हों। गङ्गा में घोष इसलिए सम्भव नहीं कि गङ्गा एक जल का प्रवाह है, नदी है, इसलिए प्रवाह में घोष (गाँव या बयान) नहीं रह सकता, यह मुख्यार्थ की वाधा है। चूँिक गङ्गा के समीप गङ्गा का तट है और उस पर घोष रह सकता है इसलिए 'गङ्गा' का सामोप्यरूप निमित्त से तट अर्थ प्रहण किया गया इस 'तट' रूप अर्थ के प्रहण से वक्ता के 'प्रयोजन' रूप शैरय और पावनत्व की सिद्धि होती है अर्थात् 'गङ्गायां घोषः' इसके वक्ता का प्रयोजन यह प्रतीत होता है कि गङ्गा के विलक्षल किनार घोष है जिससे गङ्गा के सभी शैरय, पावनत्व आदि गुण 'तट' में ही प्राप्त होते हैं। इस प्रकार यहाँ लाक्षणिक या लक्ष्य अर्थ 'तट' माना गया।

यहीं स्थित 'गौणी' में भी होती है। उदाहरण है—'अग्निर्माणनकः' अर्थात् नालक अग्नि है। यहाँ मुख्यार्थनाथ होता है कि नालक अग्नि कैसे हे ? तन 'गौणी' द्वारा 'तीक्ष्मतारूप गुण' 'अग्नि' के अर्थभाग के रूप में माना गया (यहाँ यह स्वीकार करना पड़ता है कि अग्नि का गुणरूप अर्थ 'आग्नेप' से नहीं निक 'गौणी' शक्ति से प्रतीत होता है। यहाँ 'तैक्ष्ण्य' रूप गुण 'प्रयोजन' है, जिसकी'सिद्धि के लिए 'अग्नि' यह प्रयोग किया गया है। साहित्य-शास्त्र में प्रसिद्ध 'मुखं चन्द्रः' यह रूपक अलङ्कार का उदाहरण भी इस 'गौणी' का ही विषय है। ऊपर कहा जा चुका है कि यह मीमांसकों के अनुसार ही भिन्न वृत्ति है, अन्यथा इसे 'लक्षणा' का ही एक भेद साहित्य में माना गया है।

[] इस चिह्न से अङ्कित 'सामीप्य' शब्द 'छोचन' के विचारकों के अनुसार 'प्रामाणिक' पाठ है। यह छेखक-प्रमाद के कारण सर्वत्र मुद्रित भिछता है। पण्डितों का कहना है कि 'सामीप्य' छक्षणा के प्रसिद्ध स्थल 'गङ्गायां घोषः' में किसी प्रकार 'प्रतिपाध' या प्रयोजन नहीं हो सकता। क्योंकि उपर्युक्त कारिका को उद्धृत करते हुए छोचनकार ने स्वयं 'सामीप्य' आदि को 'निमित्त' हां माना है। कुछ छोगों ने इस 'सामीप्य' को भी 'पावनत्व' के अर्थ में घसीटने का प्रवद्ध किया है जो अस्वामाविक छगता है। इसके साथ का दूसरा प्रयोग 'तैक्ष्ण्य' गौर्णा के उदाहरण 'अग्निम्पंगक्तः' का प्रयोजन वन जाता है, अतः ठीक है।

१. 'भाक्तमाहुस्तमन्ये' इस मूल ग्रन्थ का व्याख्यान वृत्तिग्रन्थ में 'अन्ये तं ध्वनिसंश्वितं काव्या'

तथापि न तदात्मैव ध्वनिः, तद्यतिरेकेणापि भावात्, विवक्षितान्यपरवाच्य-प्रभेदादौ । अविवक्षितवाच्येऽप्युपचार एव न ध्वनिरिति वच्यामः । तथा च वच्यति—

भक्त्या बिभर्ति नैकत्वं रूपभेदाद्यं ध्वनिः। अतिव्याप्तरथाव्याप्तेने चासौ लच्यते तथा।। इति।। कस्यचिद् ध्वनिभेदस्य सा तु स्यादुपलक्षणम्। इति च।

गुणाः सामीप्यादयो धर्मास्तै चण्यादयश्च । तैरुपायैर्वृत्तिरथान्तरे यस्य, तैरुपायेर्वृत्तिर्वो शब्दस्य यत्र स गुणवृत्तिः शब्दोऽर्थो वा । गुणद्वारेण वा वर्तनं गुणवृत्तिरमुख्योऽभिधाव्यापारः । एतदुक्तं भवति—ध्वनतीति वा, ध्वन्यत इति वा, ध्वननमिति वा यदि ध्वनिः, तथाप्युपचरितशब्दार्थव्यापा-इत्यादि स्थल में 'उपचार' है, तथापि ध्वनि उपचारात्मा ही नहीं है, क्योंकि उपचार के अभाव में भी (ध्वनि) होता है । और विवक्षितान्यपरवाच्य स्प ध्वनि के प्रभेद आदि में । अविवक्षितवाच्य ध्वनि में भी उपचार ही होता है ध्वनि नहीं, यह हम कहेंगे । और उस प्रकार (मूलकार) कहेंगे—

'यह घ्वनि रूपभेद के कारण भक्ति के साथ एकत्व प्राप्त नहीं करता । अतिव्याप्ति और अव्याप्ति के कारण उस प्रकार यह लक्षित नहीं होता ।

हाँ, व्विन के किसी भेद का वह (भक्ति) उपलक्षण हो सकती है।'

सामीप्यादि धर्म और तैक्ष्यादि धर्म गुण हैं। उन निमित्त रूप उपायों द्वारा अर्थान्तर में जिसकी वृत्ति हो, अथवा उन उपायों द्वारा वृत्ति हो शब्द की जहाँ, वह 'गुणवृत्ति' शब्द अथवा अर्थ है। गुण के द्वारा वर्तन गुणवृत्ति, अमुख्य अभिधा व्यापार है। यह बात कही गई—यदि ध्वनन करता है (ध्वनतीति), अथवा ध्वनित होता है (ध्वन्यत इति), अथवा ध्वनन, यह ध्वनि है तथापि उपचरित शब्द, अर्थ और व्यापार के अतिरिक्त वह कुछ नहीं है। मुख्यार्थ में तो अभिधा ही होती है और अन्त में

त्मानं गुणवृत्तित्याद्वः' इन शब्दों में किया गया है। यहाँ प्रश्न उठता है कि 'ध्वनि' और गुण-वृत्ति दोनों का सामानाधिकरण्य बताया गया है। इसका यह तात्पर्य समझना चाहिए कि जहाँ गुणवृत्ति होती है वहाँ ध्वनि होता है, इसका यह तात्पर्य नहीं कि गुणवृत्ति रूप ही ध्वनि है अर्थात् जहाँ गुणवृत्ति है वहाँ ध्वनि है। प्रस्तुत ग्रन्थ में आगे चल कर ध्वनि के दो भेद बताये गये हैं—अविविश्वतवाच्य और विविश्वतान्यपरवाच्य। अविविश्वतवाच्य ध्वनि का उदाइरण दिया गया है—'निःश्वासान्ध इवादशः' इत्यादि। यहाँ तो उपचार या गुणवृत्ति है, अर्थात् यहाँ ध्वनि के साथ गुणवृत्ति का सामानाधिकरण्य (एक ही अधिकरण में उपस्थिति) बन जाता है किन्तु इस सामानाधिकरण्य का यह अर्थ नहीं कि ध्वनि को कोई उपचारात्मा ही कह ढाले। कारण कि ध्वनि वहाँ भी होता है जहाँ उपचार बिलकुल नहीं होता, जैसे विविश्वतान्यपरवाच्य ध्वनि के प्रभेद आदि में। इस प्रकार ध्वनि का गुणवृत्ति के साथ सामानाधिकरण्य तो बन सकता ध्वनि के प्रभेद आदि में। इस प्रकार ध्वनि का गुणवृत्ति के साथ सामानाधिकरण्य तो बन सकता है तादात्म्य या एकरूपता नहीं बन सकता। इसी बात को 'मक्त्या विभर्तिं' इत्यादि कारिका प्रन्थ से भी निर्वेश किया है। यह विषय आगे और भी स्पष्ट होगां।

यद्यपि च ध्वनिशब्दसंकीर्तनेन काव्यलक्षणविधायिभिर्गुणवृत्ति-रन्यो वा न कश्चित्प्रकारः प्रकाशितः, तथापि अग्रुख्यवृत्त्या काव्येषु व्यवहारं दर्शयता ध्वनिमार्गो मनाक्स्पृष्टोऽपि न लक्षित इति परि-कल्प्येवग्रुक्तम्—'भाक्तमाहुस्तमन्ये' इति ।

यद्यपि 'ध्विन' शब्द का उल्लेख करके काष्य के लच्चण बनाने वालों ने गुणवृत्ति अथवा दूसरे किसी अन्य प्रकार को प्रकाशित नहीं किया है, तथापि अमुक्य वृत्ति (ज्यापार) के द्वारा काब्य से ज्यवहार दिखाते हुए (प्राचीन ने) ध्विन-मार्ग को थोड़ा स्पर्श करके भी लिखत नहीं किया है, ऐसी परिकल्पना करके इस प्रकार कहा—'अन्य लोग उसे भाक कहते हैं।'

लोचनम्

रातिरिक्तो नासौ कश्चित्। मुख्यार्थे ह्यभिधैवेति पारिशेष्यादमुख्य एव ध्वनिः,

वृतीयराश्यभावात् ।

ननु केनैतदुक्तं ध्वनिर्गुणवृत्तिरित्याशङ्कषाह—यद्यपि चेति । श्रन्यो वेति ।
गुणालङ्कारप्रकार इति यावत् । दर्शयतेति । भट्टोद्भटवामनादिना। भामहेनोक्तं—
'शब्दाश्च्रन्दोऽभिधानार्थाः' इति अभिधानस्य शब्दाद् भेदं व्याख्यातुं भट्टोद्भटो
बमापे—'शब्दानामभिधानमभिधाव्यापारो मुख्यो गुणवृत्तिश्च' इति । वामनोऽपि
'सादृश्याष्ठ्रश्चणा वक्रःकिः' इति । मनाक्स्पृष्ट इति । तस्तावद् ध्वनिदिगुन्भीलिता,
यथालिखितपाठकेस्तु स्वरूपविवेकं कर्तुमशक्नुवद्भिस्तत्स्वरूपविवेको न कृतःप्रत्युतोपालभ्यते, अभमनारिकेलवद् यथाश्चततद्भन्योद्भहणमात्रेणिति । अत
एवाह—परिकल्प्येवमुक्तमिति । यद्येवं न योज्यते तदा ध्वनिमार्गः स्पृष्ट इति
पूर्वपक्षाभिधानं विरूप्यते ।

केवल बच जाने से (पारिशेष्यात्) अमुख्य ही ध्वनि है, क्योंकि (मुख्य और अमुख्य

इन बीहों के अतिरिक्त) तीसरी राशि का सबंबा अभाव है।

यः शङ्का करके कि किसने 'घ्वनि' को 'गुणवृत्ति' कहा है, कहते हैं—यद्यपि—। यूसरे किसी अन्य प्रकार—। गुण या अलङ्कार का कोई प्रकार । दर्शांते हुए—। अट्ट उद्भट और वामन आदि ने । भामह ने कहा है—'शब्दाश्कुःदोऽभिधानार्थाः ।' यहाँ अभिधान का शब्द से भेद व्याख्यान करते हुए उद्भट ने कहा है—'शब्दों का अभिधान का शब्द से भेद व्याख्यान करते हुए उद्भट ने कहा है—'शब्दों का अभिधान अभिधा व्यापार मुख्य और गुणवृत्ति है ।' वामन ने भी कहा है—'सादश्य से जो लक्षणा होती है वह 'वक्रोक्ति' कहलाती है । थोड़ा स्पर्श करके—। उन काव्यलक्षणकारों ने ध्वनि की दिशा का उन्मीलन किया है । जैसा जो लिख दिया गया है उसे ही पढ़ लेने वाले, अत; स्वरूप का विवेक करने में असमर्थ उन्होंने स्वरूप का विवेक

१. 'भाक्त' शब्द का न्याख्यान वृत्ति प्रन्थ में 'गुजवृत्ति' शब्द से किया गया है। 'गुणवृत्ति' शब्द मी 'ध्यनि' शब्द की मौति शब्द, अर्थ एवं व्यापार इन तीनों में इस प्रकार सङ्गत हो

केचित्पुनर्रुश्वणकरणशालीनबुद्धयो ध्वनेस्तत्त्वं गिरामगोचरं सहदयहृदयसंवेद्यमेव समाख्यातवन्तः । तेनैवंविधासु विमतिषु स्थितासु सहदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपं ज्ञूमः ।

फिर छच्चण वनाने में शाछीनबुद्धि कुछ छोगों ने ध्वनि के तस्त्र को वाणी से परे, केवल सहदय जनों के हदय द्वारा संवेद्य, समाख्यान किया है। इस कारण, इस प्रकार की विमितियों के होने पर सहदय जनों के मन की प्रसन्नता के छिए हम उस (ध्वनि) का स्वरूप कहते हैं।

लोचनम्

शालीनबुद्धय इति । अप्रगल्भमतय इत्यर्थः । एते च त्रय उत्तरोत्तरं भव्यबुद्धयः । प्राच्या हि विपर्यस्ता एव सर्वथा । मध्यमास्तु तद्रूपं जानाना अपि सन्देहेनापह्नुवते । अन्त्यास्त्वनपह्नुवाना अपि लक्ष्यितुं न जानत इति नहीं किया, प्रत्युत उपालम्म ही करने लगे । नहीं मग्न हुए नारियल की माँति जैसा सुना वैसा ही उस ग्रन्थ का उद्ग्रहण (धारण) मात्र कर लिया। अत एव कहते हैं— परिकल्पना करके इस प्रकार कहा है—। यदि इस प्रकार ग्रन्थार्थं की योजना नहीं करते हैं तो 'व्वनि-मार्ग को स्पर्धं करके' यह पूर्वपक्ष का कथन विरुद्ध हो जाता।

शालीनबुद्धि—। अर्थात् अप्रगल्ममित । ये तीनों (विप्रतिपित्तकार उत्तरोत्तर मन्यबुद्धि हैं । क्योंकि पहले वाले (अभाववादी) सर्वथा विपयंय में पड़ गए हैं । मझले (भाक्तवादी) उस (घ्विन) का स्वरूप जानते हुए भी सन्देह के कारण छिपा देते हैं । और अन्त वाले नहीं छिपाते हुए भी (घ्विन को) लक्षित करना नहीं जानते हैं। इस कम से इन (विप्रतिपत्तिकारों) का विपर्यास, सन्देह और अज्ञान का प्राधान्य है।

जाता है। 'गङ्गायां दोपः' आदि स्थल में सामाप्य आदि धर्म 'गुण' हं, उन्हीं गुण रूप उपायों से जिस 'गङ्गा' आदि शब्द की अर्थान्तर 'तीर' आदि में इति हो, यह 'गुणवृत्ति' का शब्दपरक समास है। उन्हीं उपायों से तीरादि अर्थ में जिस शब्द की वृत्ति हो, यह उसका अर्थपरक समास है और 'गुण द्वारा वर्तन गुणवृत्ति है, यह अमुख्य अभिथा व्यापार-परक समास है। 'ध्वनति', 'ध्वन्यते', 'ध्वननम्' इस रूप में 'ध्वनि' शब्द भी शब्द, अर्थ और व्यापार इन तीनों में सङ्गत होता है। इस प्रकार भाक्तवादी के कहने का तात्पर्य है कि 'ध्वनि' तत्त्व उपचिति शब्द, अर्थ और व्यापार के अतिरिक्त कुछ भी नहीं। उनका दृद पश्च यह है कि किसी भी शब्द के दो ही अर्थ हो सकते हैं मुख्य या अमुख्य। जब मुख्य अर्थ में अभिथा को व्यापार स्त्रीकार किया गया, तब अमुख्य अर्थ हो शेष रहा, ऐसी दिश्ति में ध्वनि 'माक्त' हो सिद्ध होता है। क्योंकि अर्थ की कोई तृतीय राशि मुख्य और अमुख्य के अतिरिक्त सम्मव नहीं।

१. जैसा कि वृत्तिग्रन्थ में आचार्य ने जो कहा है कि प्राचीन आचार्यों ने कान्यों में अमुख्य न्यवहार का संकेत किया है उसका स्पष्टीकरण 'हो वन' में आचार्य अभिनवग्रस ने मामह, मद्दोद्भर एवं वामन की उक्तियों को उद्धृत करके किया है। भामह और मट्ट उद्भर ने मुख्य के अतिरिक्त गुणवृत्ति न्यापार को और वामन ने सादृहय से लक्षगा को 'वक्रोक्ति' के रूप में स्वीकार किया है।

क्रमेण विपर्याससन्देहाज्ञानप्राधान्यमेतेषाम् । तेनेति । एकैकोऽप्ययं विप्रति-पत्तिरूपो वाक्यार्थो निरूपणे हेतुत्वं प्रतिपद्यत इत्येकवचनम् । एवंविषासु विमतिष्विति निर्धारणे सप्तमी । आसु मध्ये एकोऽपि यो विमतिप्रकारस्तेनैव हेतुना तत्स्वरूपं वृम इति, ध्वनिस्वरूपमिभेषेयम् , अभिधानाभिषेयलक्षणो इस कारण—। विप्रतिपत्तिरूप एक भी वाक्यार्थं (ध्वनि के) निरूपण में हेतु बन जाता है इसलिए 'एकवचन' का प्रयोग है । 'इस प्रकार की विमतियों में' यहां 'निर्धारण' में सप्तमी है । इन (विमतियों के) बीच में एक भी जो विमति का प्रकार है उसी हेतु से 'उस (ध्वनि) का स्वरूप हम कहते हैं'; (इस ग्रन्थ का) उध्विन-स्वरूप अभिषेय

इस प्रकार उन्होंने ध्वनि की दिशा का उन्मीलन तो ६र ही दिया, क्योंकि जब 'गङ्गायां घोषः' इस स्थल में आचार्य भामह को स्वीकार हो चुका कि 'गङ्गा' का अमुख्य अर्थ 'तीर' है तब वे प्रयोजन रूप शैरय-पावनत्व तक, जो ध्वनि का अपना पक्ष है, पहुँच ही चुके थे, प्रायः स्पर्श तो उन्होंने कर ही लिया था। ऐसी अनुकूल स्थिति में भी, कुछ लोगों ने, जिन्हें स्वरूपविवेक का सामर्थ्य न था, इस प्राचीन 'ध्वनि' को 'भाक्त' कहा और ऊपर से उपालम्भ देना भी शुरू कर दिया। इम ध्वनिवादी 'भाक्त' पक्ष को अस्वीकार कहीं करते हैं। बल्कि हमारा कहना है कि भाक्तवादियों ने तो 'ध्वनि' को स्वीकार ही कर लिया, क्योंकि ध्वनि का एक भेद, जो अविवक्षित-वाच्य है वहीं 'भिक्त' या लक्ष्मणा, जिसे उपचार और गुणवृत्ति भी कहा है, विलक्षल प्राप्त होती है। किन्तु इन बीच के लोगों ने वहीं स्थिति अपनाई जो किसी नारियर के न पोड़े जाने पर उसके सम्बन्ध में होती है। जिस प्रकार नारियल के फल को ऊपर से छील देने के बाद दूसरी स्थिति तक रह जाने से कोई लाम नहीं, उसके बाद उसे फोड़ने की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार ध्वनि-पक्ष के अनुकूल भाक्त-वाद थे स्वीकार करने पर भी एक कदम और आगे बढ़ने की आवश्यकता रह जाती है। वहीं न करके भाक्तवादियों ने 'ध्वनि' का उपालम्भ शुरू कर दिया, अतः उन्हें ध्वनि-पक्ष के प्रतिकूलवादियों में स्थान मिला। छोचनकार का कहना है कि प्रस्तुत वृत्ति ग्रन्थ को कुछ इसी प्रकार लगाना चाहिए।

- १. एकवचन—बृत्तिग्रन्थ में तीनों ध्वनि की विप्रातेपत्तियों की उद्धृत करके ध्वनि के स्वरूप के प्रतिणदन में तीनों एक-एक करके हेतु हैं इस बात को सूचित करने के लिए आचार्य ने 'तेन' ('इस कारण') इस एकवचन का प्रयोग किया है, वस्तुतः बहुवचन प्रासिक्किक था। ध्वनि का निरूपण केवल अनेक विप्रतिपत्तियों के निराकरण के लिए नहीं किया जा रहा है बल्कि प्रत्येक विप्रतिपत्ति इसके द्वारा निराकरणीय है।
- र. 'निर्धारण' में सप्तमी वहाँ होती है जहाँ बहुतों में से किसी एक को निर्धारित करना होता है। प्रस्तुत में अनेक विमतियों में कोई एक भी ध्वनिस्वरूप के निरूपण का हेतु है। ऐसी स्थिति में यहाँ पाणिनीय सूत्र 'यतश्च निर्धारणम्' (२.३.४१) के अनुसार निर्धारण में सप्तमी के विषय है, न कि 'यस्य च भावेन भावळक्षणम्' (पा. सू. २.३.३७) के अनुसार भावळक्षण में सप्तमी का, क्योंकि यहाँ किया से क्रियान्तर के लक्षित होने का कोई प्रसङ्ग नहीं, इससे एक प्रकितिपत्ति का निरूपणहेतुत्व सिद्ध नहीं होता।
- इ. यहाँ लोचनकार ने प्रस्तुतमान प्रन्थ 'ध्वन्यालोक' के 'अनुबन्धचतुष्टय' का उल्लेख किली है। किसी भी प्रन्थ के अध्ययन में श्रोता की प्रवृत्ति तभी हो सकती है जब वह अनुभव करें हैं इस प्रन्थ के अध्ययन से उसका इष्टिसिंद होगा, अर्थात उसे पहले विदित करना चाहिये कि प्रन्थ हैं

तस्य हि ध्वनेः स्वरूपं सकलसत्कविकाव्योपनिषद्भृतमितरमणीयमणीयसीभिरिप चिरन्तनकाव्यलक्षणविधायिनां बुद्धिभिरनुन्मीलितपूर्वम् , अथ च रामायणमहाभारतप्रभृतिनि लक्ष्ये सर्वत्र प्रसिद्धव्यवहारं लक्षयतां सहृद्यानामानन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठामिति
प्रकाश्यते ॥ १ ॥

उस ध्विन का स्वरूप जो सकल सरकवियों के कान्यों का उपनिपद्भत, अति-रमणीय है, जो प्राचीन लच्च गकारों की अणुप्रिमाण (सूचमतम) बुद्धि द्वारा भी उन्मीलित नहीं हुआ है, और, जिसका रामायण, महाभारत प्रसृति लच्च (प्रन्थों) में न्यवहार प्रसिद्ध है, लचित करते हुए सहृद्य जनों के मन में आनन्द प्रतिष्ठित हो इस उद्देश्य से उसे प्रकाशित करते हैं।

लोचनम्

ध्वनिशास्त्रयोर्वकृत्रोत्रोर्व्युत्पाद्यव्युत्पाद्कभावः सम्बन्धः, विमतिनिवृत्त्या तत्स्व-रूपज्ञानं प्रयोजनम्, शास्त्रप्रयोजनयोः साध्यसाधनभावस्सम्बन्ध इत्युक्तम् ।

अथ श्रेःतृगतंत्रयोजनप्रयोजनप्रतिपादकं 'सहृद्यमनःश्रीतये' इति भागं व्याख्यातुमाह्—तस्य हीति । विमतिपद्पतितस्येत्यर्थः । ध्वनेः स्वरूपं लक्ष्यतां सम्बन्धिन मनिस श्रानन्दो निर्वृत्यात्मा चमत्कारापरपर्यायः, प्रतिष्ठां परैर्विप-योसाद्युपहतेरनुन्मूल्यमानत्वेन स्थेमानं, लभतामिति प्रयोजनं सम्पाद्यितुं (विषय) है, ध्वनि और शास्त्र में अभिघानाभिषेय रूप सम्बन्ध और वक्ता एवं श्रोता में व्युत्पाद्यव्युत्पादकभाव रूप सम्बन्ध है, विमतियों की निवृत्ति सहित उस (ध्वनि) का स्वरूपज्ञान प्रयोजन है, शास्त्र और प्रयोजन का सम्बन्ध साध्यसाधनभाव रूप है, यह बात कही गई।

अब श्रोतृगत प्रयोजन के प्रयोजन का प्रतिपादन करने वाले 'सहृदय जवों के मन की प्रीति के लिए' इस भाग के व्याख्यान के लिए कहते हैं—उस ध्विन का—। अर्थात् विमिति के मार्ग में पड़े हुए ध्विन का स्वरूप लिसत करते हुए के मन में आनन्द, जो निवृंति रूप और दूसरे शब्द में 'चमत्कार' है, प्रतिष्ठा को, अर्थात् विपर्यास आदि (कमजोरियों) से उपहत दूसरे (अभाववादी आदि) द्वारा अनुन्यूलित होने के कारण स्थिरता को, प्राप्त करे, इस प्रयोजन के सम्पादन के लिए उस (ध्विन) का स्वरूप

đ

ð

विषय, सम्बन्ध, अधिकारी और प्रयोजन क्या हैं : इन्हों चारों को शास्त्रांव परिभाषा में 'अनु-बन्धचतुष्टय' कहा गया है । इसका निर्देश ग्रन्थारम्भ में भी किया जा चुका है ।

१. आरम्भ में भी कहा जा चुका है कि प्रस्तुत प्रन्थ का प्रयोजन ध्वनिस्वरूप का बाव है. किन्तु इस प्रयोजन का भी प्रयोजन है सहदयजनों की मनःश्रीति। क्वेंके 'काव' के तत्वकाव के लिए ध्वन्यालोक का निर्माग अभीष्ट है और 'कुक्ब' का वरम रूथ्व सहदवजने की मनःश्रीति

तत्स्वरूपं प्रकाश्यत इति सङ्गितिः । प्रयोजनं च नाम तत्सम्पादकवस्तुप्रयोक्तृता-प्राणतयैव तथा भवतीत्याशयेन 'प्रीतये तत्स्वरूपं ब्रूम' इत्येकवाक्यतया प्रकाशित करते हैं, यह सङ्गिति है। और प्रयोजन, जो उस (प्रयोजन) के सम्पादक वस्तु की जो प्रयोक्तृता या प्रयोजकता रूप प्राण है जिसका, इस प्रकार का होता है, इस बाश्य से 'प्रीति के लिए उस (ब्विनि) का स्वरूप हम कहते हैं' इस प्रकार एक वाक्य रूप से व्याख्या करनी चाहिए (अथवा यह व्याख्या है)। 'उसका स्वरूप' इसकी

हीं है। यश आदि साधारण कोटि के प्रयोजन हैं। इसीलिए ध्वन्यालोक का भी मुख्यभूत

प्रयोजन अर्थात् प्रयोजन का प्रयोजन 'सहृदयमनःप्रांति' ही सूचित की गई।

१. ध्वनिस्वरूप के प्रस्तुत निरूपण के दो हां प्रयोजन हैं। एक तो 'ध्वनि' के सम्बन्ध में विमितियों का निराकरण और दूसरा सहदयजनों की प्रांति। यदि 'प्रयोजन' शब्द का ब्युरपित- लम्य' अर्थ देखा जाय तो प्रयोजन वहां होता है जो प्ररणा करता है (प्रेरयतीति प्रयोजनस्) इस आधार पर यहाँ वस्तुतः प्रयोजन 'प्रांति' ही है, क्योंकि ध्वनिस्वरूप का निरूपण सहदयजनों को प्रसन्न करने के लिए ही आचार्य विमितियों के निराकरणपूर्वक करने जा रहे हैं। इसी लिए लोचनकार स्पष्टरूप से 'प्रयोजन' शब्द का प्रतिपादन करते हैं कि प्रयोजन अपने सम्पादक वस्तु की प्रयोजनता से प्रयोजन कहलाता है, प्रस्तुत में ध्वनिस्वरूप का निरूपण प्रीतिरूप प्रयोजन का सम्पादक है। इस प्रकार एक वाक्यरूप से कि प्रांति के लिए 'उसके स्वरूप को हम कहते हैं' व्याख्या करनी चाहिए—(अथवा यदि 'व्याख्येयम्' को 'व्याख्या इयम्' मार्ने तो यहाँ कहना होगा

कि इस प्रकार एकवाक्य रूप से यह न्याख्या है)।

२. मूळ कारिकाग्रन्थ के 'तरस्वरूपम्' की व्याख्या वृत्ति-ग्रन्थ में अनेक विशेषणों से करते हुए आचार्य ने पूर्वनिदिष्ट पांचों विकल्पों के एक प्रकार से निराकरण का अभिप्राय सूचित किया है यह आचार्य अभिनव की सूक्ष्मेक्षिका है। इसे स्पष्टरूप से क्रमशः इस प्रकार समझना चाहिये-वध्यमाण ध्वनिस्वरूप 'सकल सत्कवियों के कान्यों का उपनिषद्भृत है' अर्थात् ध्वनि सभी सत्कवियों के कार्च्यों का परम रहस्यभूत तत्त्व है, काव्यतत्त्वज्ञान से बिन्नत लोग उसे नहीं समझ सकते हैं। जैसा कि पहले अभाववादी के मत में कहा गया था कि वाग्विकरूपों के अनन्त होते के कारण प्रसिद्ध आलङ्कारिकों द्वारा किसी अप्रदर्शित प्रकारलेश की ही लेकर 'ध्वनि' कह िया गया है, यह बात प्रस्तुत विशेषण के 'सकल' और 'सत्कवि' के प्रयोग से निराकृत हो जाती है। यह कोई ऐसा वाग्विकल्प नहीं जो अप्रदिशत हो बल्कि यह तो सभी कवियों के काव्य में पाया जाता है, किन्तु इतना अवस्य है कि वह उपनिषद्भूत या परम रहस्य है उसे साधारण प्रतिभावाले नहीं समझ सकते हैं। दूसरे, इसे 'उपनिषद्भूत' कहने से 'अपूर्व समाख्या' (नया नामकरण) वाला जो दोप दिया गया था उसका निराकरण हो जाता है, क्योंकि जब यह सबसे उत्कृष्ट तत्त्व है ऐसी स्थिति में इसका अपूर्व समाख्यामात्र होना सम्भव नहीं। इसे 'अतिरमणीय' कह कर 'भाक्त' से इसकी विरुक्षणता कहीं गई है। क्योंकि 'गङ्गायां घोषः' आदि में कोई रमणी-यता नहीं है। 'अणुपरिमाण बुद्धि' के कहने से इस बात को सूचित किया कि ध्वनिस्वरूप साधारणबुद्धि-संवेच गुण तथा अलङ्कारों में अन्तर्हित नहीं हो सकता, वह तो ऐसा है कि उसे सुश्म परिमाण बुद्धि से भी समझ पाना कठिन है। जो कि शङ्का कर चुके हैं, कुछ विद्वानों (सहदयों) का दल बनाकर 'ध्यनि' को मान्यता दी जा सकती है, उसे चिरवकाश इस प्रकार प्रस्तुत में आचायं ने किया है कि सर्वत्र रामायण-महाभारत-प्रसृति लक्ष्य में ध्वनिस्वरूप प्रसिद्ध अयवहार है तथा आदिकवि से लेकर सभी सूरियों ने उसका आदर किया है। 'लक्षित करते हुए'

व्याख्येयम् । तत्स्वरूपशब्दं व्याचक्षाणः संचेपेण तावत्पूर्वोदीरितविकल्पपक्क-कोद्धरणं सूचयति-सकलेत्यादिना । सकलशब्देन सत्कविशब्देन च प्रकारलेशे किंसिश्चिदिति निराकरोति। श्रितिरमणीयिमिति भाक्ताद्वः यतिरेकमाह। न हि 'सिंहो बदुः' 'गङ्गायां घोषः' इत्यत्र रम्यता काचित् उपनिषद्भृतरान्देन तु अपूर्वसमाख्यामात्रकरण इत्यादि निराकृतम्। ऋणीयसीमिरित्यादिना गुणाल-ङ्कारानन्तरभूतत्वं सूचयति । श्रथ चेत्यादिना 'तत्समयान्तःपातिन' इत्यादिना यत्सामयिकत्वं शङ्कितं तिन्नरवकाशीकरोति । रामायणमहाभारतशब्देनादिकवैः प्रभृति सर्वे रेव सूरिभिरस्यादरः कृत इति दर्शयति । लच्चयतामित्यनेन वाचां स्थितमविषय इति परास्यति । लच्यतेऽनेनेति लक्षो लभ्रणम् । लच्नेण निरू-पयन्ति लक्षयन्ति, तेषां लक्षणद्वारेण निरूपयतामित्यर्थः। सहृदयानामिति । येषां व्याख्या करते हुए, संक्षेप से, जो पहले पाँच विकल्प कहे जा चुके हैं, उनका निराकरण सुचित करते हैं—सकछ इत्यादि द्वारा। 'सकल' शब्द द्वारा और 'सत्कवि' शब्द द्वारा 'किसी प्रकार लेश में' इसका निराकंरण करते हैं। 'अतिरमणीय' इस विशेषण द्वारा 'भाक्त' से व्यतिरेक (वैलक्षण्य) कहा। क्योंकि 'सिंहो वटुः' और 'गङ्गायां घोषः' इस स्थल में कोई रम्यता नहीं है। 'उपनिषद्भूत' इस विशेषण शब्द द्वारा 'अपूर्व समाख्या (घ्वनि यह नया नाम) मात्र करना' इत्यादि का निराकरण किया है। अणुतर (अणीयसी) इत्यादि इस (बुद्धि के विशेषण) द्वारा (व्वित का) गुण और अलङ्कार में अन्तर्भाव का न होना सूचित करते हैं। 'और भी' इत्यादि से 'उस समय के होने वाले' इत्यादि द्वारा जो सामयिक होने की शङ्का की थी उसे निरवकाश करते हैं। 'रामायण-महाभारत' शब्द से यह दिखाते हैं कि आदिकवि से लेकर समस्त सूरियों (विद्वानों) ने इस ध्वनि का आदर किया है। 'लक्षित' करते हुए' इससे 'वचनों के अविषय में स्थित' इसे निराकरण करते हैं। 'लक्षित करते हैं इससे, अतः 'लक्ष' लक्षण है। लक्ष के द्वारा निरूपण करते हैं, लक्षित करते हैं, उनका अर्यात् लक्षण द्वारा निरूपण करते हए का । सहृद्यों का-। काव्यों के अनुशीलन के अभ्यासवश जिनके विश्वदीमृत मन के दर्पण में वर्णणनीय वस्त के साथ तन्मय हो जाने की

कह कर आचार्य ने तीसरे अलक्षणीयतावादी के मत का निराकरण किया। इस प्रकार प्रायः सभी विप्रतिपत्तियाँ 'ध्वनिस्वरूप' के इन विशेषणों द्वारा निराकृत हो जाती हैं।

१. 'छत्त्वयताम्' ('लक्षित करते हुए') इस शब्द का अर्थ करते हुए लोचनकार लिखते हैं—
'लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षो लक्षणम् , लक्षेण निरूपयन्ति लक्षयन्ति, तेषां लक्षमदारेण निरूपयतामित्वयंः ।'
यहाँ लोचनकार ने 'करण' में धम् करके 'लक्ष' को 'लक्षम' के अर्थ में लिया है, किन्तु पाणिनाय शास्त्र के नियम के अनुसार 'करण' में 'धम्' नहीं होता है क्योंकि 'ल्युट्' उसे बाध लेता है।
फिर भी इसका साधारण समाधान यह है कि जब महामान्यकार ने स्वयं 'करण' में 'धम्' बाइलक के अनुसार मान लिया है। ऐसी स्विति में यहाँ भी कोई विशेष मृटि नहीं कही जा सकता। किन्तु 'दिन्याञ्जना' में मेरे पूज्यपाद गुरु जी (महादेव शास्त्री जी) ने 'लक्षयतान्' इसका ही अर्थ 'निरूप' यताम्' करके अगतिकगति 'वाहुलक' पक्ष को सुवायनों के विकारका बताया है।

कान्यानुशीलनाभ्यासवशादिशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते स्वहृद्यसंवादभाजः सहृद्याः। यथोक्तम्—

योऽर्थो हृदयसंवादी तस्य भावो रसोद्भवः। शरीरं व्याप्यते तेन शुक्कं काष्ट्रमिवाप्निना।। इति॥

त्रानन्द इति । रसचर्वणात्मनः प्राधान्यं दर्शयन् रसध्वतेरेव सर्वत्र मुख्य-भूतमात्मत्वमिति दर्शयति । तेन यदुक्तम्—

ध्वनिर्नामापरो योऽपि व्यापारो व्यञ्जनात्मकः। तस्य सिद्धेऽपि भेदे स्यात्काव्येंऽशत्वं न रूपता॥

इति तद्पहस्तितं भवति । तथा ह्यसिधाभावनारसचर्वणात्मकेऽपि त्रयंशे काव्ये रसचर्वणा तावज्ञीवितभूतेति भवतोऽप्यविवादोऽस्ति । यथोक्तं त्वयेव

काव्ये रसियता सर्वो न बोद्धा न नियोगभाक्। इति।

तद्वस्त्वलङ्कारध्वन्यभिप्रायेणांशमात्रत्वमिति सिद्धसाधनम् । रसध्वन्यभि-योग्यता हो वे, अपने हृदय के साथ सुंवाद को भजन करने वाले जन 'सहृदय' हैं। जैना कि कहा है—

'जो अर्थ (विभावादि रूप वस्तु) हृदय के साथ संवाद रखने वाला होता है उसका भाव (भावना) रस की अभिव्यक्ति का कारण होता है। वह (सहृदय के) शरीर को उस प्रकार व्याप्त कर लेता है जिस प्रकार सूखे काठ को अगि।'

आनन्द—। रसचर्वणा रूप प्राधान्य को दिखाते हुए, 'रसघ्वनि' का ही सर्वत्र मुख्य रूप से आत्मत्व है—यह दिखाते हैं। इसलिए जो कि कहा है—

'घ्विन नाम का जो भी अन्य व्यव्जनात्मक व्यापार है उसका (अभिधा और भावना से) भेद सिद्ध होने पर भी उसका काव्य में अंशत्व होगा, रूपता नहीं।'

वह निराकृत हो जाता है, क्योंकि अभिधा, भावना और रसचर्वणा रूप तीन अंश बाले काव्य में रसचर्वणा प्राणभूत है, यह आपके मत में भी निर्विवाद है। जैसा कि तुमने ही कहा है—

'काव्य में रस लेने वाले सब हो जाते हैं पर जानने वाला नहीं होता और आज्ञा-पालन करने वाला (नियोगभाक्) नहीं होता ।'

वस्तु-व्विन और अलङ्कार-व्विन के अभिप्राय से (उसका) अंशमात्रत्व है तो

१. काव्यं को पढ़ते हुए वर्णनीय वस्तु के साथ तन्मयता होने पर हा 'आनन्द' स्थिति आतां यही 'हृदय का संवाद' है अर्थात् समान हृदय ही सहृदय होता है।

र. आचार मट्टनायक ने कान्य के तीन अंश माने हैं — अभिशा, भावना और ध्विन । उनका यह तात्पय है कि ध्विन न्यञ्जनात्मक न्यापार है और अभिशा एवं भावना से भिन्न है तथापि उसे कान्य में 'अंशत्व' ही प्राप्त है 'रूपता' नहीं 'अंशत्व' से अभिप्राय शब्द के एक न्यापार का जो महत्त्व है वहीं है और 'रूपता' अर्थात् अंशित्व या आत्मत्व । कहने का तात्पर्य यह कि काव्य में 'ध्विन' अशा या आत्मा की स्थित में आने के योग्य नहीं, विक्त वह भी एक शब्द का न्यापार है औम अभिशा और मावना शब्द के न्यापार हैं । इस पर लोचनकार यह विचार करते हैं कि यदि

प्रायेण तु स्वाभ्युपगमप्रसिद्धिसंवेदनविरुद्धिमिति। तत्र कवेस्तावत्कीःयोपि प्रीतिरेव सम्पाद्या। यदाह—'कीर्तिं स्वर्गफलामाहुः' इत्यादि। श्रोतॄणां च व्युत्पत्तिप्रीती यद्यपि स्तः, यथोक्तम्—

धर्मार्थकाममोत्तेषु वैचक्षण्यं कलासु च ! करोति कीर्ति प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवणम् ॥ इति ॥

तथापि तत्र प्रीतिरेव प्रधानम् । अन्यथा प्रभुसंमितेभ्यो वेदादिभ्यो मित्त्र-संमितेभ्यश्चेतिहासादिभ्यो व्युत्पत्तिहेतुभ्यः कोऽस्य काव्यरूपस्य व्युत्पत्तिहे-तोर्जायासंमितत्वलक्ष्णो विशेष इति प्राधान्येनानन्द एवोक्तः । चतुर्वर्गव्युत्पत्ते-रपि चानन्द एव पार्यन्तिकं गुरूयं फलम् ।

श्रानन्द इति च प्रन्थकृतो नाम । तेन स आनन्दवर्धनाचार्य एतच्छास्र-द्वारेण सहदयहृदयेषु प्रतिष्ठां देवतास्त्रनादिवदनश्वरीं स्थिति गच्छत्विति

भावः। यथोक्तम्—

उपेयुषामि दिवं सिन्नबन्धविधायिनाम्। आस्त एव निरातङ्कं कान्तं काव्यमयं वपुः॥ इति॥

यह (कहना) सिद्धसाधन है। और यदि रसघ्विन के अभिप्राय से है तो अपने ही मानी हुई प्रसिद्धि रूप सहदयानुभव संवेदन के विरुद्ध हो जाता है। किव कीर्ति से भी प्रीति का ही सम्पादन करता है। जैसा कि कहा है—'कीर्ति को स्वगं रूप फल वाली कहते हैं' इत्यादि। और श्रोताओं को ब्युत्पित्त और प्रीति दोनों होती हैं, जैसा कि कहा है—

'साधु काव्य के निषेवण से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और कलाओं में कुशलता तथा

कीर्ति और प्रीति फल प्राप्त होते हैं।'

तथापि, वहां प्रीति ही प्रधान है। यदि ऐसा नहीं होता तो प्रभुसिम्मत वेदादि और मित्रसिम्मत इतिहासादि, जो व्युत्पत्ति के हेतु हैं, उनसे व्युत्पत्ति के हेतु काव्य रूप का जायासिम्मतत्व रूप विशेष क्या रहेगा ? अतः प्रधान रूप से आनन्द ही कहा है। धर्मादि चारों वर्गों की व्युत्पत्ति का भी आनन्द ही पार्यन्तिक मुख्य फल है।

और, 'आनन्द' यह ग्रन्थकार का नाम है। इससे यह भाव है कि वह आनन्द-वर्धनाचार्य इस शास्त्र के द्वारा सहृदयों के हृदय में प्रतिष्ठा को, अर्थात् देवालय में देवता की भांति कभी नष्ट न होने वाली शाश्वत स्थिति को, प्राप्त करें। जैसा कि कहा है— 'स्वर्ग में पहुंचे हुए भी सत्काव्य का निर्माण करने वाले कवियों का, बिना किसी

अति क्रू का, सुन्दर काव्यमय शरीर (प्रतिष्ठित) ही रहता है।

महनायक ने वस्तुध्विन और अलङ्कार ध्विन के अभिप्राय से 'ध्विन' को 'अंश' ही माना है अंशों नहीं, वह तो स्वीकार्य है क्यों कि यह बात पहले से सिद्ध हो जुकी है। किन्तु यदि रसचवेणा रूप ध्विन को मन में रखकर उसके अंशित्व या रूपता (आत्मत्व) का निराकरण करते हैं तो यह उनके ही स्वीकृत सिद्धान्त के विरुद्ध होता है।

यथा मनिस प्रतिष्ठा एवंविधमस्य मनः, सहृद्यचक्रवर्ती खल्वयं प्रन्थकृ-दिति यावत् । यथा—'युद्धे प्रतिष्ठा परमाजुनस्य' इति । स्वनामप्रकटीकरणं श्रोतॄणां प्रवृत्त्यङ्गमेव सम्भावनाप्रत्ययोत्पादनमुखेनेति प्रन्थान्ते वद्त्यामः । एवं प्रन्थकृतः कवेः श्रोतुश्च मुख्यं प्रयोजनमुक्तम् ॥ १॥

ननु 'ध्वनिरूपं ब्रूम' इति प्रतिज्ञाय वाच्यप्रतीयमानाख्यौ द्वौ भेदावर्थस्येति वाच्यामिधाने का सङ्गतिः कारिकाया इत्याशङ्कय सङ्गतिं कर्तुमवतरणिकां

जैसे 'मन में प्रतिष्ठा' उसी प्रकार इसका मन है, मतलव यह कि ग्रंथकार तो सहदयचकवर्ती है। जैसे— 'युद्ध में अर्जुन की परम प्रतिष्ठा है'। अपने नाम का प्रकटीकरण श्रोताओं की प्रवृत्ति का अङ्ग सम्मावना-प्रत्यय उत्पन्न करने के द्वारा है, यह हम ग्रन्थ के अन्त में कहेंगे। इस प्रकार ग्रन्थकार, कवि और श्रोता का मुख्य प्रयोजने कहा गया।। १।।

'घ्विन का स्वरूप कहेंगे' यह प्रतिज्ञा करके 'वाच्य और प्रतीयमान ये अर्थ के दो भेद हैं' इस प्रकार 'वाच्य' के कहने में कारिका की क्या सङ्गिति है ? यह आशङ्का

१. यहाँ कि बे, श्रोता और अन्थकार तीनों का पार्यन्तिक उद्देश या फल प्रीति या आनन्द को ही आचार्य ने सिद्ध किया है। कारिका में 'प्रीति' शब्द और वृत्ति में 'आनन्द' शब्द का प्रयोग है। यद्यपि कि के लिए की ति आदि अनेक फलों का निर्देश किया गया है किन्तु की ति से भी प्रीति ही बिन के द्वारा सम्पाद्य होती है। वचन मां है—'की ति को स्वर्गरूप फल वाली कहते हैं' 'स्वर्ग' क्या है ? निरतिशय आनन्द, जिस आनन्द से बढ़ कर कोई आनन्द की स्थिति नहीं रह जाती हो। जो कि श्रोताओं की बात है, उन्हें न्युत्पत्ति (निपुणता) और प्रीति ये दोनों फल प्राप्त होते हैं, उनमें भी प्रधानता प्रीति को ही है। क्यों कि न्युत्पत्ति तो इतिहास आदि के पढ़ने से भी प्राप्त हो जाती है। उपदेश तीन प्रकार के माने गये हैं—प्रभुसम्मित, मित्रसम्मित और जाया सम्मित। वेद प्रभुसम्मित उपदेश करता है, अर्थात् वेद जो आज्ञा कर दे उसमें तर्क करने का अवसर ही नहीं रहता जैसे कि स्वामी की आज्ञा में। इतिहास आदि मित्रसम्मित उपदेश करते हैं, अर्थात् मित्र को भाँति अच्छे बुरे को स्पष्टक्प से निर्देश कर देते हैं और स्वयं निर्णय कर लेने के लिए छोड़ देते हैं। किन्तु इन सब में विलक्षण कान्य जायासम्मित उपदेशक है, उसकी विशेषता यह है कि उसके उपदेश में न्युत्पत्ति के साथ प्राधान्य रूप से आनन्द भी रहता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इस चतुर्वर्ग की व्युत्पत्ति का भी पार्यन्तिक फल प्रीति या आनन्द ही है।

साथ ही आचार्य ने प्रन्थकार का उद्देश्य भी 'आनन्द' इस नाम के प्रकर्शकरण से प्रकर कर दिया। यहाँ प्रन्थकार का उद्देश्य है कि वह सहदयजनों के हृदयों में उस प्रकार प्रतिष्ठा या बहुमान लाभ करे जो किसी देवता के मन्दिर में देवता को प्राप्त होती है। मन्दिर में प्रतिष्ठा तो शाहबत नहीं होती किन्तु मन में प्रतिष्ठा निश्चय ही शाहबत होती है। इसप्रकार जब वह (प्रन्थकार) सहदयजनों के मन में प्रतिष्ठित रहेगा तो उसके इस सम्भावनाप्रत्यय अर्थात बहुमान के प्रति विश्वास करके श्रोतृवर्ग अवश्य उसके नाम से प्रवृत्त होगा। इसी उद्देश्य से आचार्य ने प्रस्तुत प्रथ के अन्त में भी अपना नाम स्थापित किया है। प्रायः ऐसा होता है कि लोग परम्परा से जिस आचार्य के गौरव सुने होते हैं उसी के प्रति उसके नाम से आकृष्ट होकर उसके प्रन्थ का अवण

तत्र ध्वनेरेव लक्षयितुमारब्धस्य भूमिकां रचियतुमिद्ग्रुच्यते— योऽर्थः सहृदयश्चाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः । वाज्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ॥ २॥ अव लक्षित करने के लिए आरम्म किए गए ध्वनि की ही भूमिका रचने के लिए

यह कहते हैं—

'सहृदय जनों के द्वारा प्रशंसनीय जो अर्थ 'काच्य की आत्मा' के रूप में ज्यवस्थित
है उसके वाच्य और प्रतीयमान नाम के दो भेद माने गए हैं ॥ २ ॥

लोचनम्

करोति-तत्रेति । एवंविघेऽभिघेये प्रयोजने च स्थित इत्यर्थः । भूमिरिव भूमिका। यथा अपूर्वनिर्माणे चिकीर्षिते पूर्वं भूमिर्विरच्यते, तथा ध्वनिस्वरूपे प्रतीयमानाख्ये निरूपियतच्ये निर्विवादसिद्धवाच्यामिधानं भूमिः। तत्पृष्ठेऽधि-कप्रतीयमानांशोल्लिङ्गनात् । वाच्येन समशीर्षिकया गणने तस्याप्यनपह्नव-नीयत्वं प्रतिपादयितुम् । समृतावित्यनेन 'यः समाम्नातपूर्व' इति द्रढयति । 'शब्दार्थशरीरं काव्यमि'ति यदुक्तं, तत्र शरीरप्रहणादेव केनचिदात्मना तद्-नुप्राणकेन भाव्यमेव। तत्र शब्दस्तावच्छरीरभाग एव सन्निविशते सर्वजन-संवेद्यधर्मत्वात्स्थूलकृशादिवत् । अर्थः पुनः सकलजनसंवेद्यो न भवति । न ह्यर्थमात्रेण काव्यव्यपदेशः, लौकिकवैदिकवाक्येषु तद्भावात्। तदाह-सहद्य-करके सङ्गति करने के लिए अवतरिणका देते हैं—अब—। अर्थात् इस प्रकार के अभिषेय और प्रयोजन के स्थित होने पर । भूमि के समान = भूमिका। जैसे अपूर्व (वस्तु) का निर्माण करना चाहें तो पहले भूमि बना ली जाती है, बैसे प्रतीयमान नायक व्वित-स्वरूप का निरूपण करिष्यमाण होने पर, उसके लिए निर्विवाद सिद्ध वाच्य का कथन यहां भूमि है, क्योंकि उस (वाच्य) की पीठ पर अधिक प्रतीयमान का उल्लेखन होगा। वाच्य के साथ बराबरी के सिरे से गणन का उद्देश्य है उसके अनपह्नवनीयत्व का प्रतिपादन । (कारिका में) 'स्मृतौ' इससे 'पहले कहे गए हैं' (यः समाम्नात-पूर्वः) इसे हढ़ करते हैं। जैसा कि कहा है 'शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं'; उसके अनुसार शरीर ग्रहण से ही उसे अनुप्राणित करने वाले किसी आत्मा को होना ही चाहिए। ऐसी स्थिति में, शब्द तो शरीर के भाग में ही सिन्नवेश प्राप्त करता है क्योंकि (वह) स्थूल और कृश आदि (शरीर) की भाँति सभी लोगों द्वारा संवेद्य है। अर्थ सभी लोगों द्वारा संवेद्य नहीं होता। न कि अर्थ मात्र से काव्य का व्यपदेश (व्यवहार) होता है, क्योंकि लौकिक और वैदिक वाक्यों में वह (काव्य का व्यपदेश) नहीं होता । इस लिए कहते हैं सहृदय जनों द्वारा प्रशंसनीय । वह एक ही अर्थ

करते हैं। इसीलिए ग्रन्थकार अपना नाम दिया करते हैं। इस प्रकार ग्रन्थकार, कंनि और श्रोता का मुख्य प्रयोजन आनन्द कहा गया।

श्लाप्य इति । स एक एवार्थी द्विशाखतया विवेकिभिर्विभागबुद्धया विभव्यते ।

तथाहि-तुल्येऽर्थरूपत्वे किमिति कस्मैचिदेव सहृदयाः स्राघन्ते । तद्भवि-तव्यं तत्र केनचिद्विशेषेण । यो विशेषः, स प्रतीयमानभागो विवेकिप्तिर्विशेष-हेतुत्वादात्मेति व्यवस्थाप्यते । वाच्यसंवत्नाविमोहितहृद्येस्तु तत्पृथग्भावे विप्रतिपद्यते, चार्वाकैरिवात्मपृथग्भावे । अत एव स्तर्थं इत्येकतयोपक्रम्य सहृद-यश्लाष्य इति विशेषणद्वारा हेतुमिभधायापोद्धारदृशा तस्य द्वौ मेदावंशावित्यु-कम्, न तु द्वावप्यात्मानौ काव्यस्येति ।

दो शाखाओं (अंशों) वाला होने के कारण विवेचनशील लोगों द्वारा विभाग-बुद्धि से

विभाजित किया जाता है।

जैसा कि—दोनों का अर्थरूप होना समान है तब क्यों किसी एक के लिए सहृदय जन प्रशंसा करते हैं ? अतः, वहाँ किसी विशेष को होना चाहिए। जो विशेष है वह प्रतीयमान भाग, विशेष होने के कारण विवेकी लोगों द्वारा आत्मा के रूप में व्यवस्थापित किया जाता है। वाच्य अर्थ की संवलना (वासना) से विमोहित हृदय वाले लोग उस (प्रतीयमान) के अलग होने में विप्रतिपत्ति करते हैं, जिस प्रकार चार्वाक लोग आत्मा को (शरीर से) अलग मानने में। अत एव 'अर्थः' इस एकवचन के रूप से उपक्रम करके 'सहृदयश्लाघ्य' (सहृदय जनों द्वारा प्रशंसनीय) इस विशेषण द्वारा हेतु कहकर विभाग (अपोद्वार) की दृष्टि से उसके दो भेद अर्थात् अंश हैं, यह कहा है; न कि काव्य के दोनों ही अर्थ आत्मा हैं।

१. प्रस्तुत 'कारिका' साधारण विचार वालों को अम में डाल देने वाली है। कुछ लोग अम में पढ़ कर समझ जाते हैं कि आचार्य ने यहाँ 'ध्वनि' का ही भेद करना आरम्भ कर दिया है, फिर यह सोच कर और भी परेशानी होनी है कि ध्वनि का भेद है ती 'वाच्य' अर्थ ध्वनि के भेद के अन्तर्गत कैसे आ सकता है ? इस भ्रम का निवारण 'लोचन' में बढ़ी योग्यता से किया गया है। लोचनकार का कहना है कि यहाँ प्रन्थकार अपने साध्य प्रतीयमान अर्थ को निर्विवाद सिद्ध वाच्य अर्थ की सामान्य कोटि में लाकर प्रतीयमान का भी वाच्य अर्थ की भौति 'अनपह्ववनीयत्व' (प्रतिषेधनीयत्व) प्रतिपादन करना चाहते हैं। शब्द और अर्थ को काव्यं का शरीर माना गया है, ऐसी रिवित में आवश्यक है कि उस काःय-श्रारि का कोई आत्मा भी हो। शब्द और अर्थ में अर्थ की अपेक्षा शब्द अधिक स्थूल होता है, इसलिए साधारण लोग भी उसे जान लेते हैं किन्तु अर्थ को साधारण होग नहीं समझ पाते। किन्तु केवल अर्थ के आधार पर कभी किसी रचना को 'काज्य' नहीं कहा गया है इसलिए अपेक्षित है कि वह अर्थ 'सहृदयजनों के द्वारा प्रशंसा के योश्य' हो--सहृदयरलाध्य हो। इस प्रकार सामान्य अर्थ और सहृदयरलाध्य अर्थ का मेद हर विचारशील व्यक्ति समझ सकता है। इसीलिए आचार्य ने एक ही अर्थ की दी मार्गों में विभक्त किया। किन्त अर्थ की दृष्टि से वाच्य और प्रतीयमान दोनों एक होने पर भी जहाँ तक सहृदयक्लाध्यस्य की बात है उसके अनुसार कान्य की आत्मा प्रतीयमान अर्थ ही होगा, वाच्य अर्थ नहीं। कुछ लोग अवस्य यह विप्रतिपत्ति खड़ी कर सकते हैं कि प्रतीयमान अर्थ ही क्यों, वाच्य अर्थ भी सहृद्यहलाध्य हो सकता है ? जिस प्रकार चार्वाकों ने शरीर को छेकर ही पृथक् आत्मा स्वीकार करने का बाद

काव्यस्य हि लिलतोचितसिन्नवेशचारुणः शरीरस्येवात्मा सार-रूपतया स्थितः सहृदयक्लाघ्यो योऽर्थस्तस्य वाच्यः प्रतीयमानश्चेति हो भेदौ ।

छित और उचित सिश्चवेश के कारण चारु काव्य का, शरोर की आत्मा की भाँति, सार रूप में स्थित होकर सहृद्य जनों द्वारा प्रशंसा के योग्य जो अर्थ है, उसके वाच्य और प्रतीयमान, ये दो भेद हैं।

लोचनम्

कारिकाभागगतं काव्यशब्दं व्याकर्तुमाह—काव्यस्य हीति । लिलतशब्देन
गुणालङ्कारानुम्रहमाह । उचितशब्देन रसविषयमेवौचित्यं भवतीति दर्शयन्
रसध्वनेजीवितत्वं सूचयित । तदभावे हि किमपेक्षयेदमौनित्यं नाम सर्वत्रोद्धोध्यत इति भावः । योऽर्थ इति यदानुवदन् परेणाप्येतत्तावदभ्युपगतमिति दर्शयित । तस्येत्यादिना तदभ्युपगम एव दृष्यंशत्वे सत्युपपद्यत इति दर्शयति ।
तेन यदुक्तम्-'चाकत्वहेतुत्वाद् गुणालङ्कारव्यतिरिक्तो न ध्वनिः' इति, तत्र
ध्वनेरात्मस्वरूपत्वाद्देतुरसिद्ध इति दर्शितम् । न ह्यात्मा चाकत्वहेतुर्देहस्येति

कारिका-भाग में आए हुए 'काव्य' शब्द को व्याकृत करने के लिए कहते हैं— काब्य का—। 'लिलत' शब्द से गुण और अलङ्कार का अनुग्रह (सहायकत्व) कहा है। 'उचित' शब्द से रसिविषयक ही औचित्य होता है यह दिखाते हुए रसघ्विन का जीवितत्व सूचित करते हैं। भाव यह कि उस (रस) के अभाव में किस अपेक्षा से इस औचित्य को सब जगह उद्घोषित करते हैं? 'योऽर्थः' यह 'यत' शब्द द्वारा अनुवाद करते हुए यह दिखाते हैं कि दूसरे ने भी इसे माना है। 'तस्य' इत्यादि द्वारा उसका स्वीकार (अम्युपगम) ही दो अंशों के होने पर उपपन्न हो सकता है, यह दिखाते हैं। उस कारण जो कि कहा है—'चारुत्व के हेतु होने के कारण ध्विन, गुण और अलङ्कार से व्यतिरिक्त (पृथक्) नहीं है'; वहाँ यह दिखा दिया कि 'ध्विन' के आत्मस्वरूप होने के कारण हेतु असिद्ध है। आत्मा शरीर के चारुत्व का

खड़ा किया था। इस प्रकार प्रस्तुत कारिका में आचार्य ने 'अर्थ' के रूप में उपक्रम करके 'सह्दय-दलाध्य' इस विशेषण 'विमाग' की दृष्टि से उस अर्थ के दो मेद बताये हैं न कि यह कहा है कि कान्य के दो आत्मा हैं।

१. यह 'काञ्यलक्ष्मविधायिमिः' इस वृत्तिभाग का अनुवाद है। कुछ संस्करणों में इसे कारिका-भाग ही मानकर छापा है किन्तु 'लोचन' के अनुसार यह वृत्तिभाग है और 'ततो नेह प्रतन्यते' यह कारिका भाग।

लिलत और उचित सिन्निवेश से चारु काव्य काव्य में लिलत सिन्निवेश की सिद्धि गुण और अल्डहार के अनुम्रह से सम्भव होता है और उचित सिन्निवेश तब बनता है जब 'रस' की स्थिति अनुकूछ होता है। इसी से प्रकट होता है कि रसध्यिन आत्मा है, क्योंकि रस का औचित्य रस के

तत्र वाच्यः प्रसिद्धो यः प्रकारैरुपमादिभिः । बहुधा व्याकृतः सोऽन्यैः— काव्यलक्ष्मविधायिभिः ।

—ततो नेंह प्रतन्यते ॥ ३ ॥

केवलमनूद्यते पुनर्यथोपयोगमिति ॥ ३ ॥

अव जो वाच्य अर्थ उपमा आदि के प्रकारों से प्रसिद्ध है उसे अन्य छोगों ने बहुधा व्यास्थान किया है।

काच्य के लच्चणकारों ने। उसकारण से यहाँ विस्तार नहीं करते हैं॥ ३॥ केवल फिर उपयोग कें अनुसार अनुदित करेंगे॥ ३॥

लोचनम्

भवति । अथाप्येवं स्यात्तथापि वाच्येऽनैकान्तिको हेतुः । न ह्यलङ्कार्य एवाल-ङ्कारः, गुणी एव गुणः । एतदर्थमपि वाच्यांशोपत्तेपः । अत एव वत्त्यति— 'वाच्यः प्रसिद्धः' इति ॥ २ ॥

तत्रेति । द्वःचंशत्वे सत्यपीत्यर्थः । प्रसिद्ध इति । वनिताबद्नोद्यानेन्दूदया-दिल्तैकिक एवेत्यर्थः । 'उपमादिभिः प्रकारेः स व्याकृतो बहुषे'ति सङ्गतिः । अन्यैरिति कारिकाभागं काव्येत्यादिना व्याच्छे । 'ततो नेह प्रतन्यत' इति विशेषप्रतिषेषेन शेषाभ्यनुक्तेति दुर्शयति—केवलमित्यादिना ॥ ३ ॥

हेतु नहीं होता है। अगर ऐसा हो भी जाता है तथापि वाच्य में हेतु ⁹व्यभिचारी (अनैकान्तिक) है, क्योंकि अलङ्कार्य ही अलङ्कार नहीं होता। गुणी ही गुण नहीं होता। इस लिए भी वाच्य-अंश का त्याग है। अत एव कहेंगे—, वाच्य अर्थ प्रसिद्ध है'।। २।।

अव— । अर्थात् दो अंशों वाला होने पर भी । प्रसिद्ध— । अर्थात् वनिता का मुख, उद्यान, चन्द्रोदय आदि लौकिक हो । 'उपमादि प्रकारों से वह बहुत प्रकार क्याकृत है' यह सङ्गति है । 'अन्य' इस कारिका-भाग की 'काव्य॰' इत्यादि द्वारा क्याख्या करते हैं । 'उस कारण उसका यहाँ विस्तार नहीं करते हैं' इस प्रकार विशेष के प्रतिषेष द्वारा शेष की अभ्यनुज्ञा (अनुवाद) है, यह दिखाते हैं—केवल इत्यादि ॥ ३ ॥

प्राधान्य में ही वन सकता है, अन्यथा जो ध्विन नहीं स्वीकार करते हैं किसकी अपेक्षा करके औचित्य का उद्घोष करेंगे ? उनके यहाँ तो रस ही नहीं है।

१. यहाँ मी वही प्रश्न है कि जब कारिका में वाच्य और प्रतीयमान दोनों एक अर्थ के मेद हैं फिर यह क्या कि बाच्य को काज्य की आत्मा की सीमा से बाहर कर देते हैं ? इसका समाधान पहले दिया जा जुका है, यहाँ केवल यह कहना है कि जो पहले अभाववाद के प्रसंग में चारुत्व का हेतु

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् । यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥४॥

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वाच्याद्वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् । यत्तत्सहृदयसुप्रसिद्धं प्रसिद्धेभ्योऽलङ्कृतेभ्यः प्रतीतेभ्यो वाऽवयवेभ्यो व्यतिरिक्तत्वेन प्रकाशते लावण्यमिवाङ्गनासु । यथा हाङ्गनासु लावण्यं पृथङ्निर्वर्ण्यमानं निख्लावयवव्यतिरेकि किमप्यन्यदेव सहृदयलोचना-मृतं तस्वान्तरं तद्वदेव सोऽर्थः ।

महाकवियों के वचनों में प्रतीयमान कुछ और ही वस्तु है, जो वह प्रसिद्ध अवयवों से अतिरिक्त रूप में खियों में छावण्य की माँति विशेष मासित होता है ॥॥॥ प्रतीयमान (अर्थ) महाकवियों के वचनों में पुनः कोई अन्य ही वस्तु है। सहदय जनों में सुप्रसिद्ध जो वह प्रसिद्ध अर्थात अल्ड्कृत अथवा प्रतीत अवयवों से सर्वथा अतिरिक्त रूप में खियों में छावण्य की माँति प्रकाशित है। जैसे खियों में छावण्य पृथक् होकर दिखाई देता हुआ, सारे अङ्गों से व्यतिरेक (पार्थक्य) रखने वाला, कोई दूसरा ही सहदय जनों की आँखों का अमृत, एक तस्व है उसी प्रकार वह (प्रतीयमान) अर्थ है।

लोचनम्

श्चन्यदेव वस्त्वित । पुनःशब्दो वाच्याद्विशेषद्योतकः । तद्व-यतिरिक्तं सारभूतं वेत्यर्थः । महाकवीनामिति बहुवचनमशेषविषयव्यापकत्वमाह । एतद्मिधास्य-

दूसरी ही वस्तु— । 'पुनः' शब्द वाच्य से विशेष का द्योतक है, अर्थात् (प्रतीयमान अर्थ) उस (वाच्य) से व्यतिरिक्त और सारभूत है। 'महाकवियों की' यहाँ बहुवचन सारे विषयों में (प्रतीयमान का) व्यापकत्व बताता है। भाव यह कि जिसकी चर्चा

होने के कारण ध्विन गुण और अलङ्कार से अतिरिक्त नहीं है। यह वात तो ध्विन के आत्मा सिद्ध होते ही स्वयं खण्डित हो गई, क्यें कि आत्मा कभी शरीर का चारुत्वहेतु नहीं हो सकता। यदि किसी प्रकार मान भी लिया जाय तो भी यहाँ वाच्य अंश को तो छोड़ना पड़ेगा, क्यों कि शरीर मृत वाच्य अर्थ अलङ्कार्य एवं गुणी होने से स्वयं किसी प्रकार अलंकार और गुण की कोदि में नहीं लाया जा सकता, अर्थात् वाच्य के अंश में चारुत्वहेतु रूप हेतु अनैकान्तिक (अर्थात् व्यक्रिचारी) हो जाता है, कहने का मतलव यह कि वाच्य को चारुत्व का हेतु बना कर गुण अथवा अलङ्कार के अनुसार हेतु क्यिमचारी तमी होता है जब वह वहाँ भी चला जाय जहाँ साध्य का अमाव है, प्रस्तुत में वाच्य गुण और अलङ्कार से व्यतिरिक्त है, किन्तु हेतु चारुत्वहेतुत्व प्रतायनान के साथ सम्बद्ध होने के कारण वाच्य में भी प्राप्त है। कहने का तात्यये यह कि किसी प्रकार वाच्य को प्रतीयमान के सम-कोटिक नहीं बनाया जा सकता।

मानप्रतीयमानानुप्राणितकाव्यनिर्माणनिपुणप्रतिभाभाजनत्वेनैव व्यपदेशो भवतीति भावः। यदेवंविधमस्ति तद्गाति। न ह्यत्यन्तासतो भानमपु-पन्नम्; रजताद्यपि नात्यन्तमसद्भाति। अनेन सत्त्वप्रयुक्तं ताबद्भानमिति भानात्सत्त्वमवगम्यते । तेन यद्गाति तद्स्ति तथेत्युक्तं भवति । तेनायं प्रयोगार्थः-प्रसिद्धं वाच्यं धर्मि, प्रतीयमानेन व्यतिरिक्तेन तद्वत् , भासमानत्वात् लावण्योपेताङ्गनाङ्गवत्। प्रसिद्धशब्दस्य सर्वप्रतीतत्वमलङ्कु-आगे की जायगी उस प्रतीयमान अर्थ से अनुप्राणित काव्य के निर्माण में निपूण प्रतिभा का भाजन होने के कारण ही 'महाकवि' यह व्यपदेश (नाम) होता है। जिस कारण वह (प्रतीयमान) अर्थ इस प्रकार का (व्यतिरिक्त एवं सारमूत) है उस कारण प्रकाशित होता है। क्योंकि जो बिलकुल असत् है उसका भान उपपन्न नहीं, रजत आदि भी अत्यन्त असत् होकर भासित नहीं होता । इस कारण भान वस्तु के अस्तित्व से प्रत्युक्त होता है। इस प्रकार भान से (प्रतीयमान) का सत्त्व (अस्तित्व) अवगत होता है । इससे यह कहा गया कि जो प्रकाशित होता है वह उस प्रकार है। इसलिए यह प्रयोग रूप अर्थ हुआ-प्रसिद्ध जो बाच्य धर्मी है वह अपने से व्यतिरिक्त प्रतीयमान से युक्त है, क्योंकि वह उस प्रकार भासित होता है, जैसे लावस्य से युक्त अङ्गना का अङ्गं। 'प्रसिद्ध' शब्द का अर्थ 'सबको प्रतीत होना' तथा 'अलंकृत होना' है। जो वह- । यह दो

१. प्रस्तुत में आचार्य के सामने प्रतीयमान को 'सत्' सिद्ध करना है। जब कि आचार्य ने उसे 'सत्' सिद्ध करने के लिए उसका 'मान' होना ही प्रमाण बताया तव उनके सामने यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि वह प्रतीयमान, जिसका 'मान' हो रहा है, क्या कोई अपने अस्तित्व की पुष्टि में कोई अपना दृष्टान्त भी रखता है ? इस प्रश्न के समाधान में आचार्य ने कामिनियों के अङ्ग के छावण्य को प्रतीयमान का दृष्टान्त बनाया उनका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार छावण्य कामिनी के अङ्ग से अपूर्यमृत रहते हुए भी उससे भिन्न और कुछ विशेष चमत्कार की वस्तु सा प्रतीत होता है वही स्थिति यहाँ प्रतीयमान अर्थ की है, जो महाकवियों की वाणियों में वाच्य से कुछ अतिरिक्त ही भासित होता है। 'लावण्य' को केवल देख कर समझा जा सकता है, उसे व्यक्त करने के लिए किसी शब्द में सामर्थ्य नहीं, इसी लिए आचार्य ने उसके लिए दो सर्वनाम 'यत्-तत्' ('जो-वह') का प्रयोग किया और वृत्ति ग्रन्थ में 'किमि' ('कुछ') के द्वारा उसकी व्याख्या की। इससे आचार्य को दो बातें छोचनकार के अनुसार अभिप्रेत है। एक तो यह कि जिस प्रकार छावण्य शब्द के माध्यम से व्यक्त नहीं किया जा सकता, अंथीं उसका व्यपदेश नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार प्रतीयमान भी वस्तुतः अन्यपदेश्य तत्त्व है (यह ध्यान रखना चाहिए कि यह बात 'रसध्वनि' के अभिप्राय से कही गयी है)। दूसरे, आचार्य यह निर्देश करना चाहते हैं कि जिस प्रकार अक्रना के अक्र और छावण्य में छोगों नो सामान्यतः अन्यतिरेक या अभेद का भ्रम हो जाता है उसी प्रकार नाच्य और प्रतीयमान में भी होग भेदबुद्धि सी बैठते हैं और दोनों को एक ही समझने उगते हैं। इन दोनों बातों में प्रतीयमान को 'अव्यपदेश्य' निर्दिष्ट करने का उपम यह है कि प्रतीयमान अर्थ छावण्य की भौति ही एक चमत्कार सार तत्त्व है, बस उसे अनुभव ही किया जा सकता है।

तत्वं चार्थः। यत्ति सर्वनामसमुदायश्चमत्कारसारताप्रकटीकरणार्थमव्य-परेयश्त्वमन्योन्यसंवलनाकृतं चाव्यतिरेकश्चमं दृष्टान्तदार्ष्टोन्तिकयोर्द्श्यति। एतच्च किमपोत्यादिना व्याचप्टे। लावण्यं हि नामावयवसंस्थानाभिव्यङ्गचमव-यवव्यतिरिक्तं धर्मान्तरमेव। न चावयवानामेव निर्दोषता वा भूषणयोगो वा लावण्यम्, पृथङ्निर्वण्यमानकाणादिदोषशू-यशरीरावयवयोगिन्यामप्यलङ्क-तायामपि लावण्यशू-येयमिति, अतथाभूतायामपि कस्याख्चिल्लावण्यामृत-चन्द्रिकेयमिति सहृद्यानां व्यवहारात्।

ननु लावण्यं तावद् व्यतिरिक्तं प्रथितम्। प्रतीयमानं किं तिद्त्येव न जानीमः, दूरे तु व्यतिरेकप्रथेति। तथा भासमानत्वमिसद्धो हेतुरित्याराङ्क्रय स ह्यथं इत्यादिना स्वरूपं तस्याभिधत्ते। सर्वेषु चेत्यादिना च व्यतिरेकप्रथां सर्वनामों का (प्रतीयमान अर्थ का) चमत्कार का सार होना प्रकट करने के लिए व्यपदेश (नामकरण) की अशक्यता एवं परस्पर मिश्रण से उत्पन्न (बाच्य और व्यङ्गच तथा अङ्गना का अङ्ग और लावण्य) दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में अव्यतिरेक (अभेद) का भ्रम दिखाता है। और इसे 'कुछ' इत्यादि द्वारा व्याख्यान करते हैं। 'लावण्य'' तो वह धर्म-विशेष ही है जो अवयवों के संघटन (संस्थान) से अभिव्यक्त होकर अवयवों से व्यतिरिक्त (पृथक्) रहता है। अवयवों की निदोषता ही अथवा उनका भूषणों से संयोग 'लावण्य' नहीं है, क्योंकि जो पृथक् दिखाई देते हुए काणत्व आदि दोशों से शून्य स्त्री में सहृदय लोगों का व्यवहार 'यह लावण्यशून्य है' यह होता है और जो उस प्रकार की नहीं है उस किसी स्त्री में (उनका यह व्यवहार होता है कि) यह लावण्यरूपी अमृत की चन्द्रिका है।

लावण्य तो (अङ्गों से) व्यतिरिक्त रूप में प्रसिद्ध है, (किन्तु) वह प्रतीयमान क्या है, यही नहीं जानते, व्यतिरेक (भेद) की स्थिति तो दूर रहे! उस प्रकार भासमानत्व रूप हेतु असिद्ध है, यह आशङ्का करके 'वह अर्थ' इत्यादि द्वारा उस (प्रतीयमान) अर्थ का स्वरूप कहते हैं। 'और सब उनके प्रकारों में' इत्यादि द्वारा

अर्थात् मुक्ताओं में जो छाया की तरलतां की भाँति अङ्गों में कुछ झलकता या दिपता हुआ माल्यम पड़ता है वह 'लावण्य' कहलाता है।

२. जपर प्रतीयमान अर्थ की सिद्धि के लिए 'मासमानत्व' को 'हेतु' दिया गया है, अर्थात् प्रतीयमान अर्थ इसलिए है क्योंकि वह मासित होता है, किन्तु हम यदि यहाँ यह कहें कि यह हेतु 'असिद्ध' है, अर्थात् प्रतीयमान अर्थ की सिद्धि इससे नहीं होगी ऐसी स्थिति में क्या समाधान है ? न्याय-शास्त्र में 'हेतु' के पाँच दोष बताये गये हैं जिनमें 'असिद्धि' भी एक दोष है। पाँच दोषों में किसी एक की भी हेतु में शङ्का मात्र के हो जाने पर उस 'हेतु' से साध्य का निर्णय नहीं किया जा सकता।

8

१. 'लावण्य' के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध श्लोक यहाँ स्मरणीय है— मुक्ताफलेपु च्छायायास्तरलत्विमवान्द्वरा । प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्यमिहोच्यते ॥

साधियव्यति । तत्र प्रतीयमानस्य तावद् द्वौ भेदौ-लौकिकः, काव्यव्यापारै-कगोचरश्चेति । लौकिको यः स्वशब्दवाच्यतां कदाचिद्धिशेते, सच विधिनि-षेधाद्यनेकप्रकारो वस्तुशब्देनोच्यते। सोऽपि द्विविधः —यः पूर्व कापि वाक्यार्थेऽलङ्कारमावमुपमादिकपतयान्वभूत्, इदानीं त्वनलङ्काररूप एवान्यत्र गुणीभावाभावात्, स पूर्वप्रत्यभिज्ञानवलादलंकारध्वनिरिति ब्राह्मणश्रमणन्यायेन । तद्रूपताभावेन तूपलक्षितं वस्तुमात्रमुच्यते । मात्रप्रह्णोन हि रूपान्तरं निराकृतम्। यस्तु स्वप्नेऽपि न स्वशब्दवाच्यो न लौकिकव्यव-हारपतितः, किं तु शब्दसमर्प्यमाणहृद्यसंवादसुन्दरविभावानुभावससुचितप्रा-विविविष्टरत्यादिवासनानुरागसुकुमारस्वसंविदानन्दचर्वणाव्यापाररसनीयरूपो रसः, स कान्यन्यापारैकगोचरो रसध्वनिरिति, स च ध्वनिरेवेति, स एव

मुख्यतयात्मेति । व्यतिरेक की स्थिति को सिद्ध करेंगे। प्रतीयमान के दो भेद हैं—लौकिक और काव्यव्यापारैकगोचर । लौकिक वह है जो कभी स्वशब्दवाच्य होने की स्थिति को प्राप्त करता है; वह विधि-निषेघ आदि अनेक प्रकार का होता और 'वस्तु' शब्द से कहा जाता है। वह भी दो प्रकार का है—जो पहले (वाच्य की अवस्था में) किसी वाक्यार्थं में उपमादिरूप से अलङ्कारभाव को प्राप्त हुआ; इस समय (व्यङ्गच होने की अवस्था में) अलङ्काररूप नहीं ही है, क्योंकि अन्यत्र (वाक्यार्थ में) जो उसका गुणीभाव हो जाता था वह नहीं होता । वह पूर्व प्रत्यभिज्ञान (पूर्व ज्ञात का पुनः ज्ञान) के बल से 'अलङ्कारघ्वनि' के नाम से 'न्नाह्मणश्रमणन्याय' के अनुसार व्यपदिष्ट होता है। उस रूप के (अलङ्काररूप के) अभाव से उपलक्षित वह 'वस्तुमात्र' कहा जाता है। ('वस्तु' के साथ) 'मात्र' को ग्रहण करके दूसरे (अलङ्कार) रूप का निराकरण किया है। जो स्वप्न में भी स्वशब्द से वाच्य नहीं होता और लौकिक के अन्तर्गत नहीं आता । किन्तु शब्दों द्वारा समर्प्यमाण और सहृदयों के हृदय से संवाद (संगति) रखने के कारण सुन्दर विभाव-अनुभाव उनकी समुचित एवं पहले से (आत्मा में विशेषरूप से) रहनेवाली रत्यादि वासनाओं के अनुराग (उद्बोध) के द्वारा सुकुमार एवं सहृदय की संवित् (मन) का, आनन्दमय चर्वणारूप व्यापार के

१. ब्राह्मणश्रमणन्याय-ब्राह्मण जाति का कोई व्यक्ति जब श्रमण अर्थात् बौद्ध मिश्च वन जाता है तब वह 'ब्राह्मण' नहीं रह जाता, फिर भी पूर्वज्ञान (प्रत्यभिज्ञान) के बळ से उसे 'ब्राह्मण' कहते हैं। यही प्रस्तुत न्याय का अभिप्राय है। प्रस्तुत में 'अछङ्कारध्वनि' इस व्यपदेश को लेकर प्रश्न यह उपस्थित हुआ कि जब प्रतीयमान उपमादिरूप से पहले कहीं वाच्य होकर भी अब वही चमत्कारी होने के कारण वाच्य की अपेक्षा प्रधान हो जाता है ऐसी स्थिति में वह किसी का अलङ्कार न होकर स्वयं अलङ्कार्यं की स्थिति में पहुँच जाता है, फिर उसे 'अलङ्कारध्वनि' के नाम से क्यों व्यपदिष्ट किया जाता है ? प्रस्तुत 'ब्राह्मणश्रमण' न्याय इसी प्रश्न का समाधान है। कहने का तात्पर्य यह कि वह प्रधानभूत अलङ्कार्य ही यहाँ पूर्वप्रत्यभिज्ञान के बल से 'अलङ्कार' कहा गया है।

ध्यन्यालोकः

स ह्यथों वाच्यसामध्याक्षिप्तं वस्तुमात्रमलंकाररसादयश्चेत्यनेकप्रभेदप्रभिन्नो दर्शियष्यते। सर्वेषु च तेषु प्रकारेषु तस्य वाच्यादन्यत्वम्।
तथा ह्याद्यस्तावत्प्रभेदो वाच्याद् दूरं विभेदवान्। स हि कदाचिद्वाच्ये
विधिरूपे प्रतिषेधरूपः। यथा—

वह अर्थ वाच्य के सामर्थ्य से वस्तुमात्र, अलङ्कार और रस आदि के, आचिस होकर अनेक प्रभेदों से प्रभिन्न रूप में दिखाया जायगा। और समस्त उन प्रकारों में वह वाच्य से अतिरिक्त है। जैसा कि पहला प्रभेद वाच्य से बहुत दूर तक का भेद रखने वाला है। क्योंकि वह कभी वाच्य अर्थ के विधि रूप होने पर प्रतिपेध रूप होता है। जैसे—

लोचनम्

यदूचे भट्टनायकेन—'अंशत्वं न रूपता' इति, तद्वस्त्वलङ्कारध्वन्योरेव यदि नामोपलम्भः, रसध्वनिस्तु तेनेवात्मत्याङ्गीकृतः, रसचर्वणात्मनस्तृतीयस्यां-शस्याभिधाभावनांशद्वयोत्तीर्णत्वेन निर्णयात्, वस्त्वलङ्कारध्वन्यो रसध्वनिपर्य-न्तत्वमेवेति वयमेव वद्त्यामस्तत्र तत्रेत्यास्तां तावत् । वाष्यसामध्यीद्विप्तमिति द्वारा रसन (आस्वादन) के योग्य रस³ है। काव्य के व्यापार का एकमात्र गोचर 'रसष्ट्वनि' है और वह ध्वनि ही (ध्वनिमात्र) है, वही मुख्यरूप से आत्मा है।

जो कि भट्टनायक ने कहा है—'अंशत्व है रूपता^र नहीं' यदि वह वस्तुष्विन और

१. 'आगे 'रस' का विशद रूपं से सैद्धान्तिक विवेचन होगा, किन्तु प्रस्तुत 'रसध्वनि' के प्रसंग में 'रस' का सामान्य रूप आचार्य अभिनवग्रम ने एक ही 'समास' में च्यक्त कर दिया है। यहाँ प्रयुक्त 'शब्दसमर्प्यमाण', 'इदयसंवाद', 'सुन्दर', 'विभावानुभावसमुचित', 'प्राविनिविष्टरत्यादिवासनानुराग', 'सुकुमार', 'स्वसंविदानन्द', 'चर्वणान्यापार' ये शब्द 'रसिद्धान्त' की विशेष परिभाषा के अनुकूल हैं। जैसा कि आचार्य भरतमुनि का प्रसिद्ध 'रससूत्र' है—'विभावानुभावसंचारिसंयोगाद रसिनष्पत्तिः', इसकी लोचनकार-सम्मत व्याख्या के अनुसार सहृदय के हृदय में जन्म-जन्मान्तर की वासना या संस्कार रूप से रित आदि स्थायी माव विषमान होते हैं, काच्य के शब्दों से विभाव-अनुभाव को प्रहण करके सहृदय अपने हृदय के साथ उनका संवाद कर लेता है, इस प्रकार सहृदय के रत्यादि और काच्य के द्वारा अर्पित विभावानुभाव आदि से सहृदय के सुकुमार आनन्दमय चित्त का टद्दांथ होता है, इसे ही शास्त्रीय परिभाषा में चर्वणारूप व्यापार कहते हैं, इस स्थिति में एकुँचते ही सहृदय जो एक प्रकार का विशेष आस्वादन अनुभव करता है वही 'रस' कहलाता है। 'रस' की स्थिति में स्वश्च्याच्यता का जरा भी सम्पर्क नहीं होता, इसलिए इसे सर्वथा अलीकिक ही कहते हैं, दूसरे यह 'ध्विन' ही है, इसमें न तो वस्तु है और न अलक्तार। अतः 'रसध्विन' को ही मुख्य रूप से काच्य की आःमा का व्यवहार है, अलङ्कारध्विन और वस्तुध्विन में आरमव्यवहार औपचारिक है।

२. भट्टनायक का यह पूरा इलोक पहले 'लोचन' में आ चुका है—
 ६विनर्गमापरो योऽपि व्यापारो व्यञ्जनात्मकः ।
 तस्य सिद्धेऽपि भेदे स्थास्कार्व्येऽशस्वं न रूपता ॥

ध्वन्यालोकः

भम घम्मिअ वीसत्थो सो सुणओ अज मारिओ देण। गोलाणइकच्छकुडङ्गवासिणा दरिअसीहेण्।।

'बाबा जी, तुम इतमीनान से घूमो । वह कुत्ता गोदावरी नदी के छता गहन में रहने वाले पागल शेर द्वारा आज मार डाला गया।'

लोचनम्

भेदत्रयव्यापकं सामान्यलक्षणम्। यद्यपि हि ध्वननं शब्दस्यैव व्यापारः, तथाप्यर्थसामध्यस्य सहकारिणः सर्वत्रानपायाद्वाच्यसामध्यक्षिप्रत्वम्। शब्द्शक्तिः शक्तिमूलानुरणनव्यङ्गचेऽप्यर्थसामध्यदिव प्रतीयमानावगतिः, शब्दशक्तिः केवलमवान्तरसहकारिणीति वच्यामः। दूरं विभेदवानिति। विधिनिषेघौ विरुद्धा-विति न कस्यचिद्पि विमतिः। एतद्र्थं प्रथमं तावेवोदाह्रति—

'भ्रम धार्मिक विस्नब्धः स शुनकोऽच मारितस्तेन । गोदावरीनदीकूललतागहनवासिना दप्तसिंहेन ॥'

कस्याश्चित्सङ्केतस्थानं जीवितसर्वस्वायमानं धार्मिकसञ्चरणान्तरायदोषा-अलङ्कारव्वनि का ही सम्भवतः उपालम्भ है तो (ऐसी स्थिति में) उन्होंने ही 'रसव्वनि' को आत्मा के रूप में स्वीकार कर लिया, क्योंकि उनका निर्णय है कि रस-चर्वणारूप तीसरा अंश अभिधा और भावनारूप दो अंशों से अतिरिक्त (उत्तीणं) है। वस्तुष्विन और अलङ्कारव्वनि का रसव्विन में ही प्यंवसान है यह हम ही उन-उन स्थलों में कहेंगे, बस। 'वाच्य की सामर्थ्य से आचिस' यह (वस्तु, अलङ्कार और रस) इन तीनों भेदों में व्याप्त रहनेवाला सामान्य लक्षण' है। यद्यपि व्वनन शब्द का ही व्यापार है, तथापि सहकारी अर्थसामर्थ्य के सब जगह विद्यमान होने से वाच्य-सामर्थ्याक्षिप्तत्व है। शब्दशक्तिमूल अनुरणनव्यङ्गय में भी अर्थ की सामर्थ्य से ही प्रतीयमान का ज्ञान होता है, शब्दशक्ति केवल अवान्तर सहकारिणी होती है, यह कहेंगे। 'बहुत दूर तक भेद रखनेवाला—'। विधि और निषेष्ठ के परस्पर विरोध में किसी की विमति नहीं है। एतदर्थ पहले उन्हें ही उदाहत करते हैं—

'बाबा जी, तुम इतमीनान से घूमो । वह कुत्ता गोदावरी नदी के लतागहन में रहनेवाले पागल शेर द्वारा आज मार डाला गया।'

प्राणों के सर्वस्व अपने सङ्केत स्थानकी, घार्मिक (बाबाजी) के संचाररूप विध्न के

अर्थात् ध्वनि नाम का जो अन्य व्यञ्जना रूप व्यापार है उसका (वाच्य से) भेद सिद्ध होने पर मी काव्य में अंशल होगा रूपता या अंशित्व (आत्मल) नहीं।

१. छोचनकार का तात्पर्य यह है कि यहाँ ग्रन्थ में 'वाच्यसामर्थ्याक्षिस' को नपुंसक विशेषण समझ कर कोई अम से केवछ इसे 'वस्तुमात्र' में अन्वित न करने छग जाय, बल्कि यह वस्तु, अछद्गार और रसादि इन तीनों में अनुगत सामान्य रूप है। छिद्ग और वचन का विपरिणाम करके सबके साथ इसका अन्वय बैठा छेना चाहिए।

त्तद्वलुप्यमानपञ्चवकुसुमादिविच्छायीकरणाच परित्रातुमियमुक्तिः। तत्र स्वतःसिद्धमपि भ्रमणं श्वभयेनापोदितमिति प्रतिप्रसवात्मको निषेधामावहृदः, न तु नियोगः प्रैषादिहृदगोऽत्र विधिः; अतिसर्गप्राप्तकालयोद्धयं लोट्। तत्र भावतदभावयोविरोधाद् द्वयोस्तावन्न युगपद्वाच्यता, न क्रमेण, विरम्य व्यापारामावात्। 'विशेष्यं नाभिधा गच्छेत्' इत्यादिनाभिधाव्यापारस्य विरम्य व्यापारासंभवाभिधानात्।

दोष एवं उसके तोड़े जाते हुए फूल-पत्तों से छायाहीन कर देने के कार्य से, रक्षा के निमित्त किसी स्त्री की यह उक्ति है। वहाँ, बाबाजी का स्वतः सिद्ध भी श्रमण कुत्ते के भय से प्रतिषिद्ध होने से यहाँ वि घ प्रतिप्रसवरूप , अर्थात् निषेधाभावरूप है, न कि प्रणादिरूप नियोग है। ('श्रम' पद का) जो यह 'लोट्' लकार है वह अतिसगें और प्राप्तकाल के अर्थ में हुआ है। भाव और अभाव में विरोध होने से दोनों की युगपत् (एक समय में) वाच्यता नहीं है। एवं क्रम से (भी) नहीं, क्योंकि विराम होने पश्चात् व्यापार नहीं होता। जैसा कि '(विशेषण में क्षीणशक्ति हो जाने के कारण फिर) अभिधा विशेष्य तक नहीं पहुँचती' इत्यादि द्वारा अभिधा व्यापार के विरत हो जाने पर व्यापार का असम्भव कहा गया है।

१. नायिका पुंश्वली एवं प्रगल्मा है। उसके प्राणसमान प्रिय सङ्केतस्थान पर कोई धार्मिक वावाजी अपनी असामयिक उपस्थिति से विघ्न तो उत्पन्न करने ही छगे साथ ही वहाँ की फूल-पृत्तियाँ भी तोड़-तोड़ कर उस स्थान को नष्ट-भ्रष्ट करने छगे। उससे न रहा गया तो उसने चाल चलते हुए उनसे प्रार्थना की कि वे इतमीनान से अब घूमें, क्योंकि गोदावरी तट के रहने वाले मतवाले सिंह ने उस कुत्ते को मार डाला है। वावाजी एक तो कुत्ते से ही परेशान थे अब सिंह पहुँच आया। यहाँ घूमो या 'श्रम' में छोट् छकार 'विधि' अर्थ का सूचक है, किन्तु यहाँ 'विधि' नियोग या आझारूप नहीं है, क्योंकि वह पुश्चली धार्मिक को आशा नहीं दे रही है कि वह अमण करे, विक्त वह तो स्वयं श्रमण कर रहा है, उसका श्रमण स्वतः सिद्ध है। पुंश्वली धार्मिक के श्रमण का विधान प्रतिपेधक तत्त्व जो कुत्ते का भय था, उसके अमाव द्वारा करती है. इसल्प्य यहाँ 'विधि' प्रतिपेधामाव या 'प्रतिप्रसव' रूप है। इस प्रकार यहाँ 'प्रेषातिसर्गप्राप्तवालेषु कृत्याक्ष' (३.३.१०३) इस पाणिनीय सूत्र के अनुसार अतिसर्ग या प्राप्तकाल में 'लोट्' हुआ है। 'अतिसर्ग' अर्थात् कामचार या स्वेच्छा-विहार।

२. प्रस्तुत उदाइरण में 'धूमो' इस विधिरूप अर्थ के बाद ही 'मत धूमो' यह जो निषेष रूप अर्थ की प्रतीति हो रही है, यहाँ यह कहना गल्य होगा कि दोनों विधि-निषेष रूप अर्थ जब कि ये दोनों एक दूसरे से सर्वथा विरुद्ध हैं, एक ही समय में (युगपत्) वाच्य हो रहे हैं, क्योंकि अभिया जब एक विधिरूप अर्थ को बता चुकी तब उसकी प्रवृत्ति पुनः निषेध रूप अर्थ में नहीं होगा—यह नियम है कि कार्य करके विरत हो जाने पर व्यापार नहीं होता—विशेष्यं भामिधा गच्छेत् चीणशक्तिर्विशेषणे।' शब्द के सङ्गेतित अर्थ के अभियान में जो व्यापार होता है वह 'अभिथा' कहलाता है। इस प्रकार यहाँ यह बात सिद्ध हुई कि 'निषेध' रूप अर्थ (क्योंकि यह अर्थ 'संकेतित' नहीं है) के बोब के लिए किसी अतिरिक्त शक्ति की कल्पना आवस्यक है, वह 'शक्ति' व्यक्षना हो सकती है और इससे प्रतीत निषेध रूप अर्थ 'व्यक्षय' होगा।

ननु तात्पर्यशक्तिरपर्यवसिता विवक्षया द्वप्तधार्मिकतदादिपदार्थोनन्वयह्रप्रमुख्यार्थवाधबलेन विरोधनिमित्तया विपरीतलक्षणया च वाक्यार्थीमूतनिषेध-अतीतिमभिहितान्वयदृशा करोतीति शब्दशक्तिमूल एव सोऽर्थः। एवमनेनोक्त-मिति हि व्यवहारः, तन्न वाच्यातिरिक्तोऽन्योऽर्थ इति ।

नैतत्; त्रयो ह्यत्र व्यापाराः संवेद्यन्ते—पदार्थेषु सामान्यात्मस्वभिधा-व्यापारः, समयापेक्षयार्थावगमनशक्तिर्द्धभिधा। समयश्च तावत्येव, न विशे-षांशे, आनन्त्याद्व-यभिचाराचैकस्य। ततो विशेषक्तपे वाक्यार्थे तात्पर्यशक्तिः परस्परान्विते, 'सामान्यान्यन्यशसिद्धेर्विशेषं गमयन्ति हि' इति न्यायात्।

तात्पर्यं-शक्ति (भ्रमण की विधि में) पर्यवसित न होने के कारण विवक्षा होने से 'मतवाला', 'धार्मिक' (बाबाजी), 'वह' आदि पदार्थों के अनन्वयरूप मुख्यार्थ के बाध के बल से और विरोध के निमित्त वाली विपरीतलक्षणा से अभिहितान्वयवाद की दृष्टि से वाक्यार्थीभूत निषेध की प्रतीति (उत्पन्न) करती है, इस प्रकार वह अर्थ शब्दशक्तिमूलक ही है। 'इस प्रकार इसने कहा' यह ब्यवहार है। इसलिए अन्य अर्थ वाच्य से अतिरिक्त नहीं है!

यह^र नहीं; क्योंिक यहाँ तीन व्यापार जाने जाते हैं। सामान्यरूप पदार्थों में अभिधा व्यापार होता है, क्योंिक समय (सङ्केत) की अपेक्षा से अर्थ के बोध की शक्ति 'अभिधा' है और 'समय' उतने में ही होगा, न कि विशेष अंश (व्यक्ति) में, क्योंिक एक (विशेष व्यक्ति) का आनन्त्य और व्यभिचार है। इस कारण परस्पर अन्वित विशेषरूप वाक्यांथं में तात्पर्यशक्ति है, क्योंिक न्याय है—'विशेष के बिना सामान्य की

१. अभिहितान्वयवाद और ताश्यर्थ-शक्ति —यहाँ यह विचारणाय है कि अमणिनयेथ के अर्थ में यदि प्रकारान्तर से शब्द की शक्ति 'अभिधा' से ही काम चल सकता है तब भिन्न शक्ति की करणना अनावश्यक होगी। एक मीमांसक होते हैं जो 'अभिहितान्वयवादी' कहलाते हैं, उनके अनुसार वाक्यार्थ वहीं होता है जिसमें वक्ता का ताल्पर्य हो। इस प्रकार 'ताल्पर्य' शक्ति से वे लोग वाक्यार्थ का बोध करते हैं और पदार्थ-बोध के लिए 'अभिधा' का उपयोग करते हैं। प्रस्तुत में, वक्ती क्रंथली नायिका का ताल्पर्य अमण के निषेध में है, अर्थात् अमग-निषेध यहीं वाक्यार्थ है। यहाँ मुख्य अर्थ का बाध इस प्रकार होता है कि 'मतवाला' 'धार्मिक' और 'वह' आदि का अन्वय मुख्य अर्थ के साथ नहीं बनता। इस प्रकार यहाँ पदार्थों के अन्वय का अभाव रूप मुख्य अर्थ का बाध हो रहा है, इस बल से विपरीतलक्षगा उपस्थित होती है और ताल्पर्य-शक्ति को, जो अमण-विधि में प्रवंबसान नहीं प्राप्त कर रही थी, सहायता पहुचार्ता है और वह अमग-निषेध की प्रतीति उत्पन्न करती है। ताल्पर्यशक्ति और लक्ष्मगा दोनों अभिधा के हो अधित शक्तियों हैं, अतः अमण-निषेध रूप अर्थ अभियामूलक ही है और इस प्रकार वह वाच्य से अतिरिक्त नहीं है यह बान सिद्ध हुई।

तिपरीतल्खणा का ही अवसर नहीं, अतः ताल्पर्य-शक्ति से 'अमण-निषेध' का कान नहीं होगा—उपयुक्ति 'अभिहितान्वयवाद' के अनुसार 'ताल्पर्यशक्ति' का खण्डन करते हुए आचायं ने 'विपर्गतलक्षगा' को ही यहाँ अप्रसक्त बताया, क्योंकि लोक में तीन व्यापार-अभिया, क्षांत्रप्यं और लक्षणा हैं। अभिया से सामान्य या जाति का बीय होता है वह औं 'सङ्केन' (समय) की

तत्र च द्वितीयकत्त्यायां 'भ्रमे'ति विध्यतिरिक्तं न किञ्चित्प्रतीयते, अन्वयमान्त्रस्येव प्रतिपन्नत्वात् । न हि 'गङ्गायां घोषः' 'सिंहो वदुः' इत्यत्र यथान्वय एव वुभूषन् प्रतिहन्यते, योग्यताविरहात्; तथा तव भ्रमणनिषेद्वा स या सिंहेन हतः, तिद्दानीं भ्रमणनिषेधकारणवैकल्याद् भ्रमणं तवोचितिमत्यन्व-यस्य काचित्क्षतिः । अत एव मुख्यार्थबाधा नात्र शङ्क्रयेति न विपरीतलक्षणाया अवसरः ।

भवतु वाऽसौ । तथापि द्वितीयस्थानसंक्रान्ता तावदसौ न भवति । तथा हि—मुख्यार्थवाधायां लक्षणायाः प्रक्लृप्तिः । बाधा च विरोधप्रतीतिरेव । न चात्र सिद्धि नहीं होने के कारण सामान्य विशेष का बोधन करते हैं' । उस दूसरी कच्या में 'घूमो' इस विधि के अतिरिक्त कुछ नहीं प्रतीत होता है, क्योंकि केवल अन्वय प्रतीत होता है । 'गङ्गायां घोषः' और 'सिंहो वटुः' इन स्थलों में जिस प्रकार अन्वय ही होना चाहता हुआ, योग्यता के अभाव के कारण प्रतिहत हो जाता है, उस प्रकार 'तुम्हारे भ्रमण का निषेध करनेवाला वह कुत्ता सिंह के द्वारा मार डाला गया, अतः इस समय भ्रमण-निषेध के कारण के अभाव में तुम्हारा भ्रमण उचित है' इस अन्वय में कोई क्षति (वाधा) नहीं है । अतएव मुख्यार्थवाधा की आशङ्का नहीं करनी चाहिए । इस प्रकार विपरीतलक्षणा का अवसर नहीं ।

अथवा वह लक्षणा हो। तब भी वह दूसरे स्थान में संक्रान्त नहीं हो सकती। जैसा कि मुख्य अर्थ की बाधा होने पर लक्षणा की कल्पना होती है। और, बाधा-विरोध की प्रतीति ही है। यहाँ पदार्थों का अपने-आपमें विरोध नहीं है। अगर परस्पर

सहायता से। अर्थात अभिधा से 'गोत्व' सामान्य का ज्ञान होगा न कि 'गो' रूप विशेष का। विशेष में अभिधा को स्वीकार करने पर आनन्त्य और व्यभिचार दोष उपस्थित होते हैं, क्योंिक विशेष एक नहीं अनन्त होता है अतः सब में 'सङ्केत' सम्भव नहीं होगा और दूसरे, जिस गोविशेष के साथ सङ्केत का प्रहण नहीं हुआ है उसका भी 'गो' पद से बोध होने की स्थित में 'व्यभिचार' होगा। इसिल्ए 'सामान्य' या 'जाति' में ही अभिधा को माना गया है। दूसरी तात्पर्यशक्ति विशेष रूप परस्पर अन्वत वाक्यार्थ में होती है। इस प्रकार तात्पर्य-शक्ति के द्वारा पदार्थों के परस्पर अन्वय के अतिरिक्त कुछ प्रतीत नहीं होता। जिस प्रकार 'गङ्गायां घोष' आदि लक्षणा के क्षण हैं उस प्रकार प्रस्तुत पद्य लक्षणा-विषय नहीं है, क्योंिक 'गङ्गायां घोष:' आदि में परस्पर अन्वय ही नहीं वन पाता, क्योंिक प्रवाह रूप गङ्गा में 'घोप' के धारण करने की 'योग्यता' नहीं है, किन्तु प्रस्तुत में तो 'अन्वय' अप्रतिहत रूप से वन जाता है, क्योंिक जब सिंह के द्वारा कुत्ता मार डाला गया, जिसके कारण अमण में बाधा होता थी, तब अमण उचित ही है। इस प्रकार अन्वय के उपपन्न हो जाने की स्थिति में मुख्यार्थ-बाधा की शङ्का हो नहीं होनी चाहिए। 'विपरीत- इक्षणा' का यह तमी प्रसंग होता जब कि परस्पर अन्वय के प्रतिहत होने पर मुख्यार्थ की बाधा होती।

अन्ततः, 'भ्रमग-निषेध' रूप अर्थ की प्रतीति के लिए अविरिक्त 'ध्वनन' व्यापार मानना ही पहेगा। (कुछ लोग भ्रम से तारपर्य-शक्ति को 'तात्पर्या' शक्ति के नाम से लिखने लगे हैं, यह सर्वधा अमान्य हैं, जहाँ तक मैं समझता हूँ, किसी प्राचीन आचार्य ने 'तात्पर्या' प्रयोग नहीं किया है)।

पदार्थीनां स्वात्मिन विरोधः। परस्परं विरोध इति चेत्—सोऽयं तर्द्धन्वये विरोधः प्रत्येयः। न चाप्रतिपन्नेऽन्वये विरोधप्रतीतिः, प्रतिपत्तिश्चान्वयस्य नाभिधाशक्त्या, तस्याः पदार्थप्रतिपत्त्युपक्षीणाया विरम्याव्यापारात् इति

तात्पर्यशक्तयैवान्वयप्रतिपत्तिः।

नन्वेवं 'अङ्गुल्यभे करिवरशतम्' इत्यत्राप्यन्वयप्रतीतिः स्यात् । किं न भवत्यन्वयप्रतीतिः दशदाडिमादिवाक्यवत्, किन्तु प्रमाणान्तरेण सोऽन्वयः प्रत्यक्षादिना बाधितः प्रतिपन्नोऽपि शुक्तिकायां रजतिमवेति तद्वगमकारिणो वाक्यस्याप्रामाण्यम् । 'सिंहो माणवकः' इत्यत्र द्वितीयकद्यानिविष्टतात्पर्यशक्ति-समर्पितान्वयबाधकोल्लासानन्तरमिधातात्पर्यशक्तिद्वयव्यतिरिक्ता तावत् तृती-यैव शक्तिस्तद्वाधकविधुरीकरणनिपुणा लक्षणाभिधाना समुक्लसित ।

विरोध है तो वह विरोध अन्वय में प्रतीत होना चाहिए। और, अन्वय (सम्बन्ध) के ज्ञात न होने पर विरोध की प्रतीति नहीं हो सकती और अन्वय का ज्ञान अभिधा-शक्ति से नहीं होगा, क्योंकि पदार्थ की प्रतिपत्ति (ज्ञान) हो जाने पर वह उपश्लीण (नष्ट) हो जाती है, फिर विरत होने पर व्यापार नहीं होता। इस प्रकार तात्पर्य-शक्ति से ही अन्वय की प्रतिपत्ति' होती है।

(शङ्का) इस प्रकार तो 'अंगुलि के अग्रभाग में सैकड़ों हाथी' इस वावय में भी अन्वय निप्रतीति हो जायगी! (समाधान) क्या 'दशदाडिमादि' (महाभाष्य के) वाक्य की भाँति अन्वय की प्रतीति नहीं होगी? किन्तु प्रत्यक्ष आदि प्रमाणान्तर से वह अन्वय कात होकर भी, शुक्ति में रजत की भाँति बाधित है, इस कारण उसके ज्ञान करानेवाले वाक्य का प्रामाण्य नहीं है। 'सिंहो माणवकः' यहाँ दूसरी कद्या में रहनेवाली तात्पर्य- शक्ति से समिपत अन्वय के वाधक (विरोध) के उज्ज्ञास के पश्चात् अभिधा और तात्पर्य इन दोनों शक्तियों से अतिरिक्त, लक्षणा नाम की तीसरी ही शक्ति उस वाधक के वाधन में निपुण समुज्ञसित (प्रवृत्त) होती है।

१. किसी प्रकार मान भी लिया जाय कि यहाँ लक्षणा का अनसर है। परन्तु मुख्याथे की बाधा या विरोध-प्रतीति कहाँ हो रही है ? आपस में यहाँ पदाधों का विरोध नहीं है, परस्पर विरोध है तो अन्वय में विरोध होगा। परन्तु जब तक अन्वय की प्रतीति नहीं हो जाती तब तक विरोध की प्रतीति भी सम्भव नहीं। और यह पहले कहा ही जा चुका है कि अभिधा शक्ति 'अन्वय' में प्रवृत्त नहीं हो सकती, फिर 'तात्पर्य-शक्ति' से ही अन्वय की प्रतीति करनी होगी। इस प्रकार तात्पर्य शक्ति भी अन्वय की प्रतीति करनी होगी। इस प्रकार तात्पर्य शक्ति भी अन्वय की प्रतीति अर्थात् वाक्यार्थ का ज्ञान ही करने में कृतकार्य हो जाती है फिर अतिरिक्त अर्थ 'अमण-निषंध' उसकी सीमा से बाहर हो जाता है।

२. 'ऊपर' जो वाथित स्थल में भी तात्पर्य-शक्ति से अन्वय-प्रतीति को आपने स्वीकार किया ई तब 'अङ्गल्यग्रे करिवरशतम्' में भी वहीं स्थिति आपको स्वीकार होगी। इस शङ्का का भी समाधान स्वीकृत्यात्मक ही हैं। आचार्य का कहना है कि जहाँ तक अन्वय या वाक्या का ज्ञान है वह तो महामाष्य के 'दशदाढिमादि' वाक्य की माँति होगा ही। 'दश दाढिमानि, षडपूपाः, कुण्डम्, अजाजिनम्, पलंलपिण्डः, अधरोक्कमेतत् कुमार्याः, स्कैयकृतस्य पिता प्रतिशीनः' इति (महाभाष्य, १. २. ४५)। किन्तु शुक्ति में रजत का ज्ञान हो जाने पर भी प्रत्यक्षादि प्रमाण से

नन्वेवं 'सिंहो वदुः' इत्यत्रापि काव्यरूपता स्यात्; ध्वननलक्षणस्यात्मनोऽत्रापि समनन्तरं वद्यमाणतया भावात्। ननु घटेऽपि जीवव्यवहारः
स्यात्; आत्मनो विभुत्वेन तत्रापि भावात्। शरीरस्य खलु विशिष्टाधिष्टानयुक्तस्य
सत्यात्मनि जीवव्यवहारः, न यस्य कस्यचिदिति चेत्–गुणालङ्कारौचित्यसुन्दरशब्दार्थशरीरस्य सति ध्वननाख्यात्मनि काव्यरूपताव्यवहारः। न चात्मनोऽसारता काचिदिति च समानम्। न चैवं भक्तिरेव ध्वनिः, भक्तिर्हि लक्षणाव्यापारस्तृतीयकद्यानिवेशी। चतुध्यो तु कद्यायां ध्वननव्यापारः। तथा हित्रितयर्सात्रधौ लक्षणा प्रवर्तत इति ताबद्भवन्त एव वदन्ति। तत्र मुख्यार्थबाधा
तावत्प्रत्यक्षादिप्रमाणान्तरमूला। निमित्तं च यदिभधीयते सामीप्यादि तदिप
प्रमाणान्तरावगम्यमेव।

(शक्का) इस प्रकार 'सिंहो वदुः' इस स्थल में भी काव्य की स्वह्पता' होगी, क्योंकि यहां भी घ्वननहूप आत्मा की, तुरत वक्ष्यमाण होने के कारण स्थिति है। तब तो घट में भी जीव का व्यवहार होगा, क्योंकि आत्मा के विभु (सर्वत्र व्याप्त) होने के कारण (उसमें) भी अस्तित्व है! (यदि कहिए कि) शरीर जब विशिष्ट प्रकार के (इन्द्रिय, मन, अक्ष आदि) अधिष्ठानों से युक्त होता है और उसमें आत्मतत्त्व रहता है तब जीव का व्यवहार हेता है, जिस किसी का नहीं—तो (इधर भी कह सकते हैं कि) गुण और अलक्षार के औचित्य से सुन्दर शब्द और अर्थ के शरीर का घ्वनाख्य आत्मा के होने पर काव्यक्ता व्यवहार है। आत्मा की कोई असारता नहीं, यह दोनों में वराबर है। इस प्रकार भक्ति ही घ्वनि नहीं, क्योंकि 'भक्ति' रूप लक्षणा व्यापार तृतीय कक्ष्या में होता है। चौथी कक्ष्या में तो घ्वनन व्यापार होता है। जैसा कि, तीनों—मुख्यार्थवाध, मुख्यार्थयोग और प्रयोजन के सिन्नधान में लक्षणा व्यापार प्रवृत्त है यह तो आप ही कहते हैं। वहाँ मुख्यार्थ का बाध प्रत्यक्ष आदि प्रमाणान्तर से होता है। और जो कि सामीप्य आदि निमित्त का अभिधान करते हैं वह भी प्रमाणान्तर के द्वारा ही बोध्य है।

बाधित हो जाता है उसी प्रकार 'अञ्चल्यमे करिवरशतम् ०' इत्यादि वाक्य अपने ज्ञात होने के प्रश्नात उत्पन्न वाधज्ञान से विशिष्ट होने के कारण प्रमाण नहीं होंगे। पुनः शङ्का करते हैं कि तब तो 'सिंहो माणवकः' इत्यादि वाक्य भी प्रमाण नहीं होंगे, क्योंकि अन्वय बोध के पश्चात् इनका भी वाध हो जायगा, इसके समाधान में आचार्य का बहना है कि दितीय कक्ष्या में जब तात्पर्य शक्ति के द्वारा अन्वय बोध यहाँ होता है तब वाधक रूप विरोध की प्रतीति उत्पन्न होती है जिसके निराकरणार्थ तृशीय शक्ति 'छक्षगा' हो समुछिसित होती है।

१. यहाँ शक्का यह खड़ी हुई कि जब 'ध्वनन' को ही 'कान्यात्मा' माना जाय तो 'सिंहो बटुः' इस राल में भी 'कान्य' का न्यवहार होगा, क्यें कि 'प्रयोजन', जो 'प्रनीयमान' होने वाला है वह यहाँ भी है। इसका समाधान करते हुये आजार्य कहते हैं कि तब 'घट' में भी जीव-ज्यवहार प्रसक्त होना चाहिये, क्यों कि न्यापक आत्मा की स्थिति घट में भी है ही। तब यदि यह कहा जायगा कि मन और इन्द्रियों के अधिष्ठान से युक्त शरीर में आत्मा के होने पर जीव-ज्यवहार होता है तब हम भी

यत्त्वदं घोषस्यातिपवित्रत्वशीतलत्वसेव्यत्वादिकं प्रयोजनमशब्दान्तर-वाच्यं प्रमाणान्तराप्रतिपन्नम्, बटोर्वा पराक्रमातिशयशालित्वं, तत्र शब्दस्य न तावन्न व्यापारः। तथाहि—तत्सामीप्यात्तद्धर्मत्वानुमानमनैकान्तिकम्, सिंह-शब्दवाच्यत्वं च वटोरसिद्धम्। अथ यत्र यत्रैवंशब्दप्रयोगस्तत्र तत्र तद्धमयोग

जो कि यह घोष का अतिपिवत्रत्व, अतिशीतल्य और अतिसेव्यत्व आदि प्रयोजन, (लाक्षणिक शब्द से) अतिरिक्त शब्द द्वारा अवाच्य एवं (शब्द से) अतिरिक्त प्रमाण के द्वारा अज्ञात है, अथवा 'वद्व' का अतिशयपराक्रमशालित्व (प्रयोजन) है, वहाँ शब्द का व्यापार नहीं है ऐसा नहीं । जैसा कि ('गङ्गायां घोषः' इस स्थल में) 'तत्सामीप्य' के हेतु से तद्धमंत्व का अनुमान अनैकान्तिक (व्यभिचारी) है। और, 'वद्व' का 'सिह' शब्दवाच्यत्व हेतु असिद्ध (स्वरूपासिद्ध) है। (यदि कहते हैं कि) जहाँ-जहाँ इस प्रकार के शब्द का प्रयोग है वहाँ-वहाँ उसके धर्म का योग है, यह

यही उत्तर देंगे कि गुण और अलङ्कार के औचित्य से सुन्दर शब्दार्थ-शरीर जब ध्वनन रूप आत्मा से युक्त होता है तभी 'काव्य' व्यवहार है। इससे तो कोई आत्मा की असारता व्यक्त नहीं होती है। दूसरे यह भी कि भक्ति ही ध्विन है, गलत पक्ष है, क्योंकि भक्ति लक्षणा-व्यापार हे और तृतीय कक्ष्या में यह व्यापार होता है। अर्थात् प्रथम वक्ष्या में अभिधा-व्यापार दूसरी में तात्पर्य-शक्ति और तीसरी में लक्षणा और ध्वनन-स्थापार चतुर्थ कक्ष्या में होता है। इस प्रकार न तो 'सिंहो बद्धः' इत्यादि 'काव्य' को श्रेणी में आर्येंगे और न तो भक्ति या लक्षणा ही 'ध्विन' सिद्ध होगी।

र. प्रसङ्ग यह प्राप्त है कि आखिर यहाँ 'प्रयोजन' को क्या समझा जाय ? इसके उत्तर में आचार्य को सिद्ध करना है कि यह 'प्रयोजन' सर्वथा शब्द के व्यापार का विषय है। इसीलिये आचार्य दृढ़ होकर कहते हैं कि शब्द का व्यापार नहीं है ऐसा नहीं, अर्थात् सर्वथा शब्द का ही व्यापार है। इसके शब्द-व्यापार के विषय होने के दो मुख्य कारण हैं, पहला यह कि प्रयोजन 'अशब्दान्तर वाच्य' है, अर्थात् लाक्षणिक शब्द हीं, जैसे प्रस्तुत में 'गङ्गा' 'सिंह' आदि शब्द, 'प्रयोजन' का प्रतिपादन कर सकते हैं, तथा दूसरा कारण यह है कि 'शब्द' के अतिरिक्त किसी प्रमाण से बात नहीं होता है। इसी उद्देश्य से आचार्य ने आगे की पंक्तियों में 'अनुमान' और 'स्पृति' की आशङ्का करके इनकी विषयता का निराकरण किया है तथा शब्द-च्यापारों में अभिथा, तात्पर्य और लक्षणा का भी निराकरण करके इन शब्द-च्यापारों से अतिरिक्त चतुर्थ 'ध्वनन' व्यापार को माना है।

2. 'गङ्गायां घोषः' और 'सिंहो वद्धः' इन स्थलों में प्रतीयमान 'प्रयोजन' को 'अनुमान' प्रमाण का विषय माना जा सकता है अथवा नहीं यह विचारणीय है। आचार्य का सिद्धान्त पक्ष यह है कि यहाँ 'अनुमान' नहीं हो सकता, क्योंकि पहले स्थल में 'व्यभिचार' है और दूसरे में 'असिद्धि' कैसे ? प्रथम स्थल में 'अनुमान' का रूप यह होगा—'तीर गङ्गागतातिपवित्रत्वादिथमंवत, गङ्गासामी-प्यात्', इस प्रकार का 'अनुमान' करने वाला यह कहना चाहता है कि जो वस्तु गङ्गा के समीप होती हैं वह गङ्गा के समान ही पवित्र आदि होती है, गङ्गा के प्रायः सभी गुण उसमें संकान्त हो जाते हैं, इसका उदाहरण मुनिजन है, जो गङ्गा के समीप रहते हैं और पवित्र होते हैं। किन्तु यहाँ यह प्रतिकृत तर्क न्यूंगें न उपस्थित किया जाय कि शिर की खोपड़ी भी तो गङ्गा के समीप रह सकती है, किन्तु वह अति पवित्र नहीं है, ऐसी स्थिति में 'गङ्गा-सामीप्य' को हेतु मानकर अतिपवित्रत्व आदि को सिद्ध करना व्यभिचार-दोषग्रस्त है। इसी को आचार्य ने 'अनैकान्तिक' कहा है।

इत्यनुमानम्, तस्यापि व्याप्तिप्रहणकाले मौलिकं प्रमाणान्तरं वाच्यम्, त चास्ति । न च स्मृतिरियम्, अन्नुभूते तद्योगात्, नियमाप्रतिपत्तेर्वक्तुरेत-द्विविश्वतिमत्यध्यवसायाभावप्रसङ्गाचेत्यस्ति तावद्त्र शब्दस्यैव व्यापारः। व्यापारश्च नाभिधात्मा, समयाभावात् । न तात्पर्यात्मा, तस्यान्वयप्रतीतावेव परिक्षयात् । न लक्षणात्मा, उक्तादेव हेतोः स्खलद्गतित्वाभावात् । तत्रापि हि अनुमान होगा । उसका भी व्याप्ति-ग्रहण के समय मौलिक प्रमाण कहना चाहिए, पर है नहीं । न कि यह स्मृति है, अननुभूत में क्योंकि उसका योग नहीं और नियम का ज्ञान न होने के कारण 'वक्ता का यह विवक्षित है' इस अध्यवसाय का अभाव-प्रसङ्ग है। इसलिए यहाँ शब्द का हो व्यापार है। और (यहाँ) व्यापार अभिधारूप नहीं है, क्योंकि 'समय' (सम्बन्ध) का अभाव है। और तात्पर्यस्प व्यापार नहीं है, क्योंकि वह 'अन्वय' (सम्बन्ध) का बोध होने पर ही परिक्षीण हो जाता है। लक्षणा रूप (व्यापार) नहीं है, क्योंकि कहे हुए कारण से ही स्खलद्रतित्व' का अभाव है।

दूसरे स्थल में 'सिंहो माणवकः' में अनुमान का रूप यह होगा—वटुः सिंहधमँवान् सिंहशब्दवाच्यत्वात्, सम्प्रतिपन्नसिंहवतः, यहाँ हेतु 'स्वरूपासिद्ध' है, क्योंिक 'सिंह' शब्द से 'वटु'
वाच्य नहीं होता। इसी प्रकार इन स्थलों में कोई अन्य प्रकार का अनुमान भी, जैसे 'जहाँ-जहाँ
ऐसा प्रयोग होता है वहाँ उसके धर्म का योग होता है' यह अनुमान भी नहीं किया जा सकता।
क्योंिक अनुमान तव तक सिद्ध नहीं होता जब तक कि व्याप्ति-प्रहण के समय मीलिक प्रमाणानतर
नहीं हो। प्रस्तुत में, जो भी व्याप्ति सामान्य को लेकर की जायगी वह प्रामाणिक नहीं होगी,
क्योंिक व्याप्ति-प्रह का प्रयोजन कोई प्रत्यक्ष आदि प्रमाण नहीं। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि
अनुमान प्रमाण का विषय किसी प्रकार 'प्रयोजन' को नहीं बनाया जा सकता।

१. आचार्य लिखते हैं कि यह 'स्मृति' नहीं है, अर्थात् गङ्गागत शैत्य-पावनत्व आदि प्रयोजन के ज्ञान को 'स्मृति' मी नहीं कहा जा सकता, अर्थात् 'प्रयोजन' स्मृति का भी विषय नहीं बन सकता, क्योंकि स्मृति उसकी होती है जो पहले कभी अनुभूत हो चुका हो। यहाँ ऐसा कोई पूर्वानुमव विद्यमान नहीं है जिसके आधार पर 'स्मृति' होगी। कथि ज्ञात् मो स्मृति को यहाँ लाया नहीं जा सकता, क्योंकि ऐसा कोई यहाँ नियामक नहीं है जिसके बल से यह समझा जाय कि वक्ता का यही विवक्षित है। अन्ततः जब कि अनुमान भी नहीं और स्मृति भी नहीं, तो स्वीकार करना होगा कि यहाँ शब्द का ही न्यापार है।

२. यहाँ शब्द का व्यापार न 'अभिथा' है, न 'तात्पर्य' है और न 'लक्षणा' है। 'अभिथा' तो इसिलिये नहीं है कि गङ्गा शब्द का 'समय' या संकेत शैत्य-पावनत्व में नहीं मिलता, 'तात्पर्य' इसिलिये नहीं है कि वह केवल अन्वय या परस्पर सम्बन्ध की प्रतीति होते ही समाप्त हो जाता है और लक्षणा व्यापार भी यहाँ नहीं है क्यों कि मुख्यार्थ-वाध आदि हेतु, जो कहा जा जुका है सो यहाँ अवगमन रूप व्यापार स्विलित या प्रतिहत नहीं हो रहा है। 'स्वलद्भितत्व' अर्थात् स्वार्थ-अंशा। लक्षणा-व्यापार वहीं होता है जहाँ स्वलद्भितत्व या स्वार्थअंश होता है। स्पष्टीकरण यह कि 'गङ्गायां घोषः' इस स्थल में 'गङ्गा' शब्द का प्रवाह रूप स्व अर्थ मुख्यार्थ-वाध आदि स्वलित होकर 'तीर' अर्थ को प्रकट करता है अतः 'तीर' अर्थ में लक्षणा-व्यापार है, किन्तु 'प्रयोजन' रूप शैत्य-पावनत्व के अंश में स्वार्थअंश का अनुभव नहीं होता, क्योंकि मुख्यार्थवाध आदि की वहाँ प्रवृत्ति ही नहीं। ऐसी। स्थित में लक्षणा-व्यापार का विषय यह नहीं हो सकता। यदि किसी प्रकार

स्खलद्गतित्वे पुनर्मुख्यार्थबाधा निमित्तं प्रयोजनमित्यनवस्था स्यात् । अत एव यत्केनचिल्लक्षितलक्षग्रेति नाम कृतं तद्यसनमात्रम् । तस्मादिमधातात्पर्यलक्ष-णाव्यतिरिक्तश्चतुर्थोऽसौ व्यापारो ध्वननद्योतनव्यञ्जनप्रत्यायनावगमनादिसोद-रव्यपदेशनिक्तपितोऽभ्युपगन्तव्यः । यद्वस्यति—

'मुख्यां वृत्तिं परित्यज्य गुणवृत्त्यार्थदर्शनम् । यदुद्दिश्य फलं तत्र शब्दो नैव स्खलद्गतिः ॥' इति ॥

तेन समयापेक्षा वाच्यावगमनशक्तिरिमधाशक्तिः। तद्न्यथानुपपित्तसहायाथीववोधनशक्तिस्तात्पर्यशक्तिः। मुख्यार्थवाधादिसहकायपेक्षार्थप्रतिभासनशक्तिलक्षणाशक्तिः। तच्छक्तित्रयोपजनिताथीवगममूलजाततत्प्रतिभासपिवित्रयदि उस तीरादि अर्थं में भी स्वलद्गति (स्वार्थभ्रंश) होना मानते हैं तव पुनः
मुख्यार्थवाधा और निमित्त रूप प्रयोजन होने से अनवस्था होगी। अतएव जो कि किसी ने
(लक्षित तीरादि में पुनः पावनत्वादि प्रयोजन को लक्षित करते हुए) 'लक्षितलक्षणा'
यह नाम रखा है वह तो व्यसनमात्र है। अतः अभिधा, तात्पर्यं, लक्षणा से व्यतिरिक्त
चौथा यह व्यापार, जिसे ध्वनन, द्योतन, व्यंजन, प्रत्यायन, अवगमन आदि पर्याय शब्दों
से निरूपित किया गया है, स्वीकार के योग्य है। जिसे कहेंगे—

'मुख्य वृत्ति (अभिघा व्यापार) को छोड़कर गुणवृत्ति (लक्षणारूप व्यापार) से (अमुख्य) अर्थ अमुख्य अर्थ का दर्शन (ज्ञान) जिस (प्रयोजनरूप) फल को उद्देश्य करके करते हैं उसमें शब्द स्खलदृति नहीं है।'

इस प्रकार समय (सङ्केत) की अपेक्षा रखनेवाली, वाच्य अर्थ के वोधन की शक्ति 'अभिधाशक्ति' है। उसकी अन्ययानुपपत्तिरूप सहायवाली, अर्थावबोधन की शक्ति 'तात्पर्यशक्ति' है। लक्षणाशक्ति मुख्यार्थबाध आदि तीन सहकारियों की अपेक्षा से,

इस प्रयोजन में भा स्खलद्वातित्व मान लिया जाय तो फिर मुख्यार्थ-वाधा, निमित्त और प्रयोजन की कल्पना करनी पड़ेगी और इस प्रकार अनत्रस्था होगी। इसिलये यही स्वीकार करना चाहिये कि 'प्रयोजन' में लक्षणा-ज्यापार नहीं होता। इसी विषय को आचार्य मम्मट ने 'काज्यप्रकाश' के दितीय उछास में इन कारिकाओं द्वारा निरूपित किया है—

नाभिधा, समयाभावात्, हेरवभावात्र रुच्चणा । लक्ष्यं न मुख्यं नाप्यत्र वाधो योगः फलेन नो । न प्रयोजनमेतिस्मन् न च शब्दः स्खलद्वतिः। एवमप्यनवस्था स्याद् या मूलक्षयकारिणी।

'काच्यप्रदीप' में 'स्वच्द्रति' का अर्थ 'मुख्यार्थवाय आदि तानों की अपेक्षा करके वोयक होना' किया हैं—'मुख्यार्थवाधादित्रयमपेक्ष्य वोधकत्वं स्वच्द्रतित्वम् ।'

१. यह वाक्य अत्यन्त उलझा हुआ है। जैसा कि इसका संस्कृत रूप है—'तद्रन्यथानुपपत्ति-सहायार्थाववो बनशक्तिस्तात्पर्यशक्तिः'; एक अर्थ के अनुसार उसके अर्थात् अभिधा के अन्यथा अर्थात् विना जिसकी अनुपपत्ति (असम्भव) सहायक है अर्थात् अभिवाशक्ति की सहायता प्राप्त करके दी तात्पर्यशक्ति कियाशील होती है, और जिस प्रकार अभिधा सङ्गेतित अर्थ के अववोधन की

तप्रतिपत्तप्रतिभासहायार्थद्योतनशक्तिध्वननव्यापारः; स च प्राग्वृत्तं व्यापारत्रयं न्यक्कुवन्प्रधानभूतः काव्यात्मेत्यारायेन निषेधप्रमुखत्या च प्रयोजनविषयोऽपि निषेधविषय इत्युक्तन् । अभ्युपगममात्रेण चैतदुक्तम्; न त्वत्र लक्षणा, अत्यन्तित्तिस्कारान्यसंक्रमणयोरभावात् । न ह्यर्थशक्तिमूलेऽस्या व्यापारः । सहकारि-अर्थ के प्रतिभासन (बोधन) की शक्ति है। इन तीनों शक्तियों से उत्पन्न अर्थवोध के मूल से हुई, (उन अभिवेय आदि अर्थों) के प्रतिभास से पवित्रित प्रतिपत्ता (सहृदय) की प्रतिभा की सहायता से अर्थ के द्योतन की शक्ति 'व्वननव्यापार'' है। और वह पहले हुए तीनों व्यापारों को अभिभूत करता हुआ, प्रधानभूत काव्यात्मा है इस आशय से (वृत्तिकार ने ही व्वनिव्यापार को) निषेध के प्रमुख होने के कारण प्रयोजनविषयक होने पर भी 'निषेधविषयक' कहा है। अम्युपगम (प्रौढिवाद) मात्र से यह कहा है कि यहाँ लक्षणा नहीं है क्योंकि अत्यन्त तिरस्कार और अन्यसंक्रमण यहाँ नहीं हैं। अर्थशिवतमुल में इस (लक्षणा) का व्यापार नहीं है। शक्ति का भेद सहकारी के

शक्ति है उसी प्रकार तात्पर्यशक्ति अन्वय रूप अर्थ के अवनोधन की शक्ति है। दूसरे अर्थ के अनुसार उसकी अर्थात् अन्वय रूप अर्थ की अन्यथा अर्थात् तात्पर्य के अमाव में जो अनुपपत्ति है उसकी सहायता वाली यह तात्पर्यशक्ति है। इस प्रकार यहाँ आचार्य ने तात्पर्यशक्ति को 'व्यतिरेक' (तदभावे तदभावः = कारणाभावे कार्याभावः) के प्रकार से अनिवार्य सिद्ध किया है। मतल्ल यह कि तात्पर्यशक्ति के अभाव में वाक्यार्थ-बोध की अनुपपत्ति होगो यही कारण है कि तात्पर्यशक्ति को स्वीकार करना चाहिए। इस प्रकार यहाँ वाक्यार्थ-बोधाभाव ही तात्पर्यशक्ति की सिद्धि का सहायक है।

१. पूरी एक पंक्ति में आचार्य ने 'ध्वननन्यापार' के प्रति अभिधा आदि तीनों शक्तियों के द्वारा प्रयोज्य अर्थावनोध को सहकारी कारण बताया है और साथ ही यह मी निर्देश किया है कि इस न्यापार से ध्वन्यमान अर्थ का ज्ञान उसी प्रतिपत्ता को हो सकता है जो कान्यार्थ के पुनः पुनः अनुसन्धान (प्रतिमास) से पवित्रित या संस्कृत होकर पूर्ण 'सहृदय' हो जाता है।

२. वृत्तिकार ने 'क्रचिद् वाच्ये विधिरूपे निषेधरूपः' अर्थात् कहीं पर वाच्य विधिरूप होता है तो व्यक्तथ निषेधरूप, यह कह कर 'भ्रम धार्मिक॰' को उदाहृत किया है। यद्यपि 'प्रयोजन' जो सर्वथा 'व्यक्त्र्य' होता है यहाँ 'निषेध' नहीं विल्क 'स्वच्छन्दिविहार' आदि है, चूँिक इस 'प्रयोजन' की प्रतीति 'निषेध' की प्रतीति के द्वारा होती है इस कारण यहाँ वृत्तिकार ने 'निषेध' को व्यक्त्र्य कहा है। इससे यह समझना गळत होगा कि यहाँ 'निषेध' छक्षणा का विषय है, क्योंकि यहाँ न तो अन्यन्त तिरस्कार है और न अन्य सङक्तमण है।

३. अर्थशक्तिम्ल ध्वनि का वह स्थल है जहाँ सहकारी के रूप में वक्त, बोद्धन्य आदि के वैशिष्ट्य की प्रतीति हो, परन्तु लक्षणा में मुख्यार्थ-बाध आदि सहकारी होते हैं इस कारण दोनों का स्थल एक नहीं हो सकता। सहकारिमेद से शिक्त का भेद होता है इस सिद्धान्त के उदाहरण में आचार्य का कहना है कि वही शब्द का, जो अर्थ-बोधन के लिए प्रयुक्त होता है, व्याप्तिस्पृति, पक्षधमंताज्ञान आदि सहकारी की अपेक्षा के बल पर विवक्षा के ज्ञान के लिए अनुमापकत्व व्यापार होता है और जब इन्द्रियसिक्तक आदि सहकारी की अपेक्षा होगो तो 'विकल्पकत्व' व्यापार (सिविकल्पकज्ञान को उत्पन्न करने की शिक्त) होगा। जहाँ अनुमापकत्व व्यापार होगा वहाँ प्रयोग इस प्रकार होगा—'अयं वक्ता एतद्विवक्षः एतच्छव्दप्रयोगात'। शब्द श्रोत्र आदि के

भेदाच शक्तिभेदः स्पष्ट एव, यथा तस्यैव शब्दस्य व्याप्तिस्मृत्यादिसहकृतस्य विवक्षावगतावनुमापकत्वव्यापारः । अक्षादिसहकृतस्य वा विकल्पकत्वव्यापारः । एवमभिहितान्वयवादिनामियदनपह्नवनीयम् ।

योऽप्यन्विताभिधानवादी 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इति हृदये गृहीत्वा शरवद्भिधाव्यापारमेव दीर्घदीर्घमिच्छति, तस्य यदि दीर्घो व्यापारस्तदेकोऽ-साविति कुतः ? भिन्नविषयत्वात् । अथानेकोऽसौ ? तद्विषयसहकारिभेदादस-जातीय एव युक्तः । सजातीये च कार्ये विरम्यव्यापारः शब्दकर्मबुद्धचादीनां पदार्थविद्वितिषद्धः । असजातीये चास्मन्नय एव ।

अथ योऽसौ चतुर्थकक्षानिविष्टोऽर्थः, स एव माटिति वाक्येनाभिधीयत भेद से होता है यह स्पष्ट है। जैसे उसी शब्द के सहकारी व्याप्तिस्मृति आदि हों और उनके द्वारा विवक्षा (वक्ता की इच्छा) का ज्ञान हो, तब अनुमापकत्व व्यापार होगा। अथवा चक्षु आदि सहकारी में तब विकल्पकत्व व्यापार होगा। इस प्रकार अभिहितान्वयवादियों के लिए यह घ्वनन व्यापार का अस्तित्व अनिराकरणीय है।

जो कि अन्विताभिधानवादी 'शब्द का जिसमें तात्पर्य होता है वह शब्द का अर्थ होता है' इस वात को हृदय में रखकर, बाण की भाँति एक अभिधा व्यापार को ही दीर्घ-दीर्घ मानता है, उसका यदि वह दीर्घ व्यापार एक है सो कैसे ? क्योंकि विषय के मिन्न होने से (व्यापार को भी भिन्न होना चाहिए)। यदि वह व्यापार अनेक है तो विषय और सहकारी के भेद से असजातीय ही है यह (मानना) ठीक होगा। और कार्य के सजातीय मानने पर पदार्थविद् छोगों ने शब्द, बुद्धि और कमं के विराम हो जाने के बाद व्यापार का निषेध किया है। और यदि (व्यापार को) असजातीय मानते हैं तो हमारा नय (पक्ष) ही है।

(यदि कहें) जो वह चौथी कक्षा में रहने वाला अर्थ है वह भी झट से वाक्य के

सहकार से अपना प्रत्यक्ष उत्पन्न करता है। इस प्रकार एक ही शब्द के अर्थ-ज्ञान में सहकारी भेद को लेकर व्यापारभेद हो गया है।

१. अमिहितान्वयवादी—अन्वय या पदों के सम्बन्ध के अर्थ के पक्षपाती ये आचार्य मीमांसक हैं और ये 'माट्ट' या 'तौतातिक' मत के अनुयायी माने जाते हैं।

र. अन्वतामिधानवादी—इसे प्रामाकर मत कहते हैं। यहाँ 'अमिधा' के अतिरिक्त कोई व्यापार नहीं माना जाता। जिस प्रकार एक ही वाण दीर्घ-दीर्घ व्यापार के द्वारा अपने लक्ष्य तक पहुँच जाता है उसी प्रकार एक ही अमिधा-च्यापार दीर्घ-दीर्घ होकर वक्ता के अमिप्रेत अर्थ का ज्ञान करा देता है। किन्तु जब आचार्य इस सिद्धान्त को अपने तर्क की कसीटी पर लाते हैं। तब यह विश्वक्कल हो जाता है। क्योंकि किसी प्रकार एक ही व्यापार को नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जिस व्यापार से विधि रूप अर्थ का बोध होता है उसी से निषेध रूप अर्थ करना सम्भव नहीं, अतः मानना पड़ेगा कि व्यापार अनेक है, साथ ही विषय और सहकारी के भेद से उसे असजातीय भी मानना होगा। अनेक व्यापार को सजातीय इसलिए नहीं मान सकते कि शब्द, अदि और कर्म का विरम्य व्यापार नहीं होता।

इत्येवंविधं दीर्घदीर्घत्वं विवक्षितम्, तर्हि तत्र सङ्केताकरणात्कथं साक्षात्प्रति-पत्तिः। निमित्तेषु सङ्केतः, नैमित्तिकस्त्वसावर्थस्संकेतानपेक्ष एवेति चेत्-पश्यत श्रोत्रियस्योक्तिकौशलम्। यो ह्यसौ पर्यन्तकक्षामाग्यर्थः प्रथमं प्रतीतिप-थमवतीर्णः, तस्य पश्चात्तनाः पदार्थावगमाः निमित्तमावं गच्छन्तीति नूनं सीमांसकस्य प्रपौत्रं प्रति नैमित्तिकत्वमिमतम्।

अथोच्यते — पूर्वं तत्र सङ्केतमइणसंस्कृतस्य तथा प्रतिपत्तिर्भवतीत्यमुया वस्तुस्थित्या निमित्तत्वं पदार्थोनाम्, ति तद्नुसरणोपयोगि न किश्चिद्ण्युक्तं द्वारा अभिहित हो जाता है. इस प्रकार का दीघंदीघंत्व विविक्षत है, तब यदि 'वहाँ सङ्केत न करने के कारण कैसे उसकी साक्षात् प्रतिपत्ति हो सकती है? सङ्केत तो निमित्तों में होता है वह अर्थ तो नैमित्तिक होता है, अतः वह सङ्केत की अपेक्षा ही नहीं रखता' यदि यह कहें तब तो देखो जरा वैदिक की वचनचातुरी! जो कि यह (अर्थ) सबसे अन्त (पर्यन्त) की कक्षा में रहने वाला है वह पहले प्रतीति के पथ में अवतीणं होता है, उसके वाद में पदार्थज्ञान निमित्तभाव को प्राप्त करते हैं — इस प्रकार निश्चय ही मीमांसक को प्रपौत्र के प्रति नैमित्तिकत्व अभिमत है!

यदि कहते हैं—'पहले वहां सङ्केतग्रह से संस्कृत (हो जाने पर) उस प्रकार की (पार्यन्तिक अर्थ की) प्रतीति होती है इस वस्तुस्थिति से पदार्थों का निमित्तत्व है।' तव तो फिर उसके अनुसरण^र के उपयोग का कोई निमित्त नहीं वताया गया! दूसरे

१. ऊपर जो कि 'दीर्घ दीर्घ' की बात कही गई है उसमें यदि मीमांसक के पक्ष से यह स्वाकार किया जाय कि चतुर्थ कक्ष्या में रहने वाला प्रतीयमान या व्यक्ष्य अर्थ झटित वाक्ष्य द्वारा अभिहत कर दिया जाता है तब अनेक व्यापार की करपना की स्थित नहीं रह जाती। इस स्थिति में आचार्य कहते हैं कि तब तो और भी गड़बड़ी उपस्थित होगी, क्योंकि चतुर्थ कक्ष्यानिविष्ट अर्थ की साक्षात् प्रतिपत्ति संकेत किए बिना कैसे हो सकती है ? यदि नैमित्तिक रूप उस अर्थ को संकेत की अपेक्षा से रिहत माना गया तब तो एक विचित्र बात होगी। क्योंकि जो चतुर्थ कक्ष्या का अर्थ है सबसे पहले प्रतीत होगा और उसके पश्चात् उत्पन्न होने वाले पदार्थज्ञान उसके निमित्त होंगे ! मीमांसक महोदय अपने पक्ष के समर्थन में यहाँ तक आ पहुँचे कि वे अपने प्रपोत्र को भी अपना कारण बेहिचक स्वीकार कर लेंगे। स्पष्ट यह कि जब कि मीमांसक के अनुसार चतुर्थ कक्ष्या में रहने वाला अर्थ अपने निमित्त रूप पदार्थज्ञान से पहले उत्पन्न होता है तब मीमांसक अपने प्रपोत्र के उत्पन्न होने के बाद में उत्पन्न हुए होंगे यह उन्हें अवश्य अभिमत होगा! इस प्रकार यहाँ आचार्य ने मीमांसकों की लिहाड़ी ली है।

२. पुनः अन्विताभिधानवादी मीमांसक का कहना है कि जहाँ तक यहाँ पदार्थों के निमित्त होने का प्रदन है वह पहले पदार्थों में संकेतग्रह के मान लेने पर हल हो जाता है। इस प्रकार चतुर्थं कक्ष्या में रहने वाला अर्थ पहले पदार्थों में संकेतग्रह से संस्कृत रूप में उत्पन्न होता है। येसा मान लेने पर पदार्थ निमित्त वन जाते हैं। इस पर आचार्य कहते हैं कि उसके अनुसरण का यहाँ आपने कोई उपयोग नहीं कहा! अर्थात् पहले पार्यन्तिक अर्थ को संकेतग्रह से संस्कृत करने का उपयोग तो यहीं होना चाहिए कि पहले पदार्थों का ज्ञान हो तत्पश्चात् चतुर्थं कक्ष्यानिविष्ट अर्थ का ज्ञान हो। इस प्रकार पदार्थों का. निमित्तल भी सार्थक होगा। दूसरे आपके मत में

स्यात् । न चापि प्राक्पदार्थेषु सङ्केतप्रहणं वृत्तम्, अन्वितानामेव सवदा प्रयोगात् । आवापोद्वापाभ्यां तथाभाव इति चेत्-सङ्केतः पदार्थमात्र एवेत्य-भ्युपगमे पाश्चात्येव विशेषप्रतीतिः ।

अथोच्यते—्दृष्ट्रैव माटिति तात्पर्यप्रतिपत्तिः किमत्र कुर्म इति । तदिदं वय-

मपि न नाङ्गीकुर्मः । यद्वच्यामः—

तद्वत्सचेतसां सोऽर्थो वाक्यार्थविमुखात्मनाम् । बुद्धौ तत्त्वावभासिन्यां भटित्येवावभासते ॥ इति ॥

यह कि पहले पदार्थों में सङ्केतग्रह मी नहीं हुआ है, क्योंकि सर्वदा अन्वितों का ही प्रयोग है। यदि कहिए—आवापोद्वाप के द्वारा उस प्रकार (पृथक् पदार्थों में सङ्केतग्रह) होगा, तब तो सङ्केत को पदार्थमात्र में ही स्वीकार करने पर विशेष (वाक्यार्थ) की प्रतीति वाद में ही होगी।

यदि कहते हैं—'झट-से तात्पर्य (पार्यन्तिक अर्थ) की प्रतीति देखी गई है तो

हम क्या करें ?' तो हम भी इसे अस्वीकार नहीं करते ! क्योंकि हम कहेंगे-

'उस प्रकार वाक्यार्थं से विमुख स्वभाव वाले सहृदय जनों की तत्त्वावभासिनी बुद्धि में वह अर्थ (पार्यन्तिक अर्थ) झट से अवभासित हो जाता है।'

पदार्थों में संकेतग्रह होता ही नहीं, क्योंकि अन्वित पदार्थों का ही सर्वदा आप प्रयोग करते हैं। ऐसी स्थिति में संकेतग्रह की पहले मानने का पक्ष सर्वथा अन्वितामिधानवाही मीमांसक के मत में गलत होगा।

१. आवापोद्वाप = प्रक्षेप-निक्षेप; ग्रहण-त्याग। यहाँ अन्वितामिधानवाद का स्पष्टीकरण आवश्यक है। जैसा कि 'अभिहितान्वयवाद' में पहले 'अभिया' शक्ति द्वारा पदार्थी का जान, तत्पश्चात् तात्पर्यं शक्ति द्वारा अन्वय रूप वाक्यार्थं का ज्ञान है वह प्रस्तुत 'अन्विताभिधानवाद' में सर्वथा त्याज्य पक्ष है। इसके अनुसार 'अमिधा' से अन्वित पदार्थ का ही ज्ञान होता है अर्थाद जो वाक्यार्थ है वहां वाच्यार्थ है। ये लोग अन्वयांश में अतिरिक्त शक्ति की कल्पना नहीं करते। जैसे 'गामानय' इस वाक्य में 'गो' शब्द का कोई अर्थ नहीं, बल्कि यहाँ 'गो' की प्रतीति 'आनयन' से अन्वित होकर, एवं 'आनयन' की प्रतीति 'गौ' से अन्वित होकर होती है । यह मत प्रभाकर-मत या गुरुमत के नाम से प्रसिद्ध है। प्रभाकर ने 'व्यवहार' को संकेतमह का प्रधान उपाय माना है। व्यवहार में देखा जाता है कि कोई बढ़ा आदमी (उत्तम वृद्ध) अपने से छोटे आदमी (मध्यम वृद्ध) से 'गामानय' कहता है, उस समय वह दूसरा आदमी 'गो' को लाकर उपस्थित करता है। समीप में स्थित बालक उत्तम वृद्ध के कथन और मध्यम वृद्ध के कार्य दोनों को सुनता और देखता हैं । इस प्रकार वह वालक 'गामानय' इस अखण्ड वाक्य का अर्थ-ज्ञान करता है । तत्पश्चात् उत्तम बृद्ध के द्वारा 'गां वधान, अश्वमानय' (गौ को बाँधो और अश्व को लाओ) यह कहे जाने पर वालक 'गाम्' और 'आनय' का अलग-अलग अर्थ ग्रहण करता है। यही 'आवापोद्गाप' के द्वारा संकेत का ग्रहण है। इस पर आचार्य अभिनवगुप्त का कहना है कि ऐसी स्थिति में आप भी यही स्वीकार कर रहे हैं कि संकेत पदार्थ मात्र में ही होगा, फिर वाक्यार्थ रूप विशेष की प्रतीति पश्चात् ही होगी, पहले नहीं । इसलिथे 'दीर्घदीर्घतरन्यापार' का पक्ष किसी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकता।

किं तु सातिशयानुशीलनाभ्यासात्तत्र सम्भाव्यमानोऽपि क्रमः सजातीय-तद्विकल्पपरम्परानुद्याद्भ्यस्तिविषयव्याप्तिसमयस्पृतिक्रमवन्न संवेदात इति । निमित्तनैमित्तिकभावश्चावश्याश्रयणीयः, अन्यथा गौणलाक्षणिकयोर्मुख्याद् मेदः 'श्रुतिलिङ्गादिप्रमाणषट्कस्य पारदौर्बल्यम्' इत्यादिप्रक्रियाविघातः, निमित्तता-

किन्तु, पर्यालोचन का अभ्यास इतना अधिक हो जाता है कि वहाँ सम्भाव्यमान भी क्रम सजातीय उन (पदार्थविषयक) विकल्पों की परम्परा के उदित न होने से पहले से अभ्यस्त-विषय वाले व्याप्ति और समय (सक्क्रेत) की स्मृति के क्रमों की भांति मालूम नहीं होता। और निभित्तनैमित्तिकभाव का अवश्य आश्रयण करना चाहिए। अन्यथा गौण और लाक्षिणिक अर्थों का मुख्य अर्थं से भेद (मुख्यामुख्य ख्पभेद) एवं (मीमांसा-शास्त्र में उक्त) 'श्रुति' लिङ्ग आदि छः प्रमाणों का क्रमशः दौर्बल्य है' इत्यादि

१. मीमांसाशास के प्रवर्तक आचार्य जैमिनि का यह पूरा सृत्र इस प्रकार है—'हितिलिक्क-वाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदोवं क्यमधंविप्रकर्षांदः'; इस सूत्र को प्रस्तुत 'छोचन' में उद्धृत करते हुये आचार्य का यह तात्पर्य है कि जब 'दीर्घ-दीर्घ' रूप से प्रतीत होने वाले अर्थों के कम में यदि निमित्त-नैमित्तिकमाव (कार्यकारणमाव) स्वीकार नहीं करते हैं तब उक्त मीमांसा-सूत्र में महा्षें जैमिनि ने श्रुति की अपेक्षा जो लिक्ष आदि के दौवं त्य का प्रतिपादन किया है, इस प्रक्रिया का विघात होगा, क्योंकि श्रुतिस्थल की मांति लिक्ष आदि स्थल में भी शब्दश्रवण के पश्चात प्रतीयमान सभी अर्थों की अभिधा से ही प्रतीति होने पर लिक्ष आदि के दौवं त्य का कारण नहीं रह जाता। इसल्यि इस प्रक्रिया का समर्थन एकमात्र—निमित्तता-वैचित्र्य के मानने पर ही हो सकता है। और जब निमित्तता-वैचित्र्य स्वीकार कर लिया गया तो व्यापार का मिन्न होना लाजिमी है। इस प्रकार 'दीर्घ-दीर्घ' रूप से प्रतीत होने वाले सभी अर्थों में केवल अमिधा व्यापार से काम नहीं चलेगा, अतिरिक्त व्यापार मानना ही होगा।

यहाँ हम स्पष्टीकरण के उद्देश्य से 'काव्यप्रदीप' के उछिख के आधार पर उक्त मीमांसा-सूत्र का अर्थ-निर्देश करते हैं—

श्रुति आदि का समवाय अर्थात एकत्र प्राप्ति होने पर उनके बीच जिसकी अपेक्षा जो पर (बाद) में होगा उसकी अपेक्षा वह दुर्बल होगा, क्योंकि अर्थविप्रकर्ष है; अर्थात पूर्व की अपेक्षा पर विलम्ब से अर्थ का प्रत्यायन करता है।

श्रुति—'निरपेक्षो रवः श्रुतिः', अर्थात् वह शब्द 'श्रुति' कहलाता है जो अपने द्वारा किसी के अङ्गल्व-बोध के कार्य में प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं रखता है। दूसरे प्रकार से यह भी कह सकते हैं कि अपने अर्थ के बोध में अन्य शब्द की अपेक्षा न रखने वाला शब्द 'श्रुति' कहलाता है; जैसे 'ब्रोहीनवहन्ति'; किया के फल को प्राप्त करने वाला ही कर्म होता है, इस प्रकार यहाँ 'ब्रीहि' में कर्मत्व का प्रकार करती हुई दितीया विभक्ति किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा के विना ही ब्रीहियों को 'अवधात' का शेष (अङ्ग) प्रतिपादन करती है।

लिक् — 'अर्थिविशेपप्रकाशनस।मर्थ्य लिक्कम्'; अर्थात् शब्द का वह सामर्थ्यं, जिससे अर्थिविशेष का प्रकाशन होता है 'लिक्क' कहलाता है। यह 'सामर्थ्य' रूढि ही है। जैसे—'बहिंदेवसदनं दामि' (देवों के आवास रूप बहिं-कुश को काटता हूँ) इस मन्त्र का 'दामि' (लवन करता हूँ, काटता हूँ) इस श्रुत पद के सामर्थ्यं से कुशच्छेदन में विनियोग है।

वाक्य-'परस्पराकांक्षावद्यात् कचिदेकस्मिन् अर्थे पर्यवसितानि पदानि वाक्यस्'; अर्थात् वद

वैचित्रयेणैवास्याः समर्थितत्वात् । निमित्ततायैचित्रये चाभ्युपगते किमपरम-स्मास्वसूयया । येऽप्यविसक्तं किंतोटं वाक्यं तदर्थं चाहुः, तैरप्यविद्यापद्पतितैः प्रिक्रिया का विधात होगा, क्योंकि निमित्तता के वैचित्र्य से इसका समर्थन किया जा चुका है। जब कि निमित्तताप्रयुक्त वैचित्र्य आप मान लेते हैं तो हम पर असूयां

पदसमूह 'वाक्य' है जो परस्पर आकांक्षाके वश किसी एक अर्थ में पर्यवसित होता है। जैसे— 'देवस्य त्वा सिवेतुः प्रसवेऽिश्वनो बाहुभ्यां पृष्णो हस्ताभ्यामग्नये जुष्टं निर्वेपािम'; इस मन्त्र का 'निर्वेपािम' इस 'लिक्क' द्वारा निर्वाप में विनियोग के साथ ही समवेत अर्थभाग की एकवाक्यता के वल से 'देवस्य त्वा॰' इत्यादि भाग का भी निर्वाप में ही विनियोग है।

प्रकरण—'लब्धवाक्यभावानां पदानां कार्यान्तरापेक्षावशाद् वाक्यान्तरेण सम्बन्ध आकांक्षा-पर्यवसत्त्रं प्रकरणम्' अर्थात् जव पदसमूह 'वाक्य' की स्थिति में होता है तब दूसरे कार्य की अपेक्षा से दूसरे वाक्य के सम्बन्ध में आकांक्षा को 'प्रकरण' कहते हैं। जैसे—'सिमधो यजित'। यह मन्त्र दर्शपूर्णमास यागों के प्रकरण में पढ़ा जाता है। जब यह आकांक्षा उपस्थित होती है कि दर्शपूर्णमास याग कैसे हों तब पाठवश इसका विनियोग होता है।

स्थान—'स्थानं क्रमः', अर्थात अनेक में आम्नात मन्त्र का सिन्निधिविशेष में आम्नात रूप क्रम को 'स्थान' कहते हैं। जैसे—'दब्धिरिसि' इस मन्त्र में आग्नेय, अर्थापोमीय और उपांशु याग क्रम से ब्राह्मण माग में पढ़े गए हैं। मन्त्रभाग में भी क्रम से तीनों अनुमन्त्रण पठित हैं। आग्नेय और अभीपोमीय यागों में लिक्न के ही द्वारा दोनों का विनियोग सिद्ध है, किन्तु 'दब्धिरिस' में लिक्न आदि कोई विनियोजक नहीं है। किन्तु 'ब्राह्मण' में जिस स्थान पर 'उपांशु' याग का विधान किया है उसी स्थान पर मन्त्र में भी इसका पाठ है, इस 'क्रम' से 'उपांशु याग' के अनुमन्त्रण में इसका विनियोग है।

समाख्या—'योगवलम्'; अर्थात्'यौगिक शब्द 'समाख्या' है ।जैसे—'हौत्रम् औद्गात्रम्' इत्यादि । 'होतुरिदं होत्रम्' इस 'योग' के वल से हौत्रादि रूप से समाख्यात कर्म होत्रादि द्वारा अनुष्टेय होते हैं ।

विरोध के उदाहरण—श्रुति और लिक्न के विरोध में लिक्न का दौर्व ल्यः; जैसे—'कदाचन स्तरीरिस नेन्द्र सश्चिस दाशुये' (हे इन्द्र तुम कभी भी हिंसक नहीं होते हो, किन्तु आहुति देने वाले यजमान पर प्रसन्न होते हो); 'अग्निहोन्न' के प्रकरण में यह ऋक् सुनी जाती है। इस ऋक् का विनियोग करने वाली यह 'श्रुति' है—'ऐन्द्रथा गाई पत्य पुपतिष्ठते':; अर्थात इन्द्रसम्बन्धिनी ऋक् के गाई पत्य नाम के अग्नि का आराधन करता है। इस प्रकार इन्द्रप्रकाशन-सामर्थ्यं रूप लिक्न से 'गाई पत्य' की हो 'इन्द्र' के अर्थ में लक्षणा आदि कारक विनियोग होगा। इस प्रकार श्रुति और लिक्न में विरोध होने पर श्रुति द्वारा लिक्न दुर्वल होने के कारण वाध लिया जायगा, क्यों कि 'गाई पत्य म्' में द्वितीया विमक्ति अभिधा द्वारा पहले ही इस ऋक् को गाई पत्य अग्नि के उपस्थान में विनियोग कर देगी। प्रकाशक 'इन्द्र' पद के सामर्थ्य रूप लिक्न के द्वारा विलम्न से इन्द्रोपस्थान में ऋक् का विनियोग स्वाश्वत होता है अतः यह पक्ष दुर्वल है। इसी प्रकार अन्य वाध्य और वाधकों का विचार 'काव्य-प्रकाश' के टीका-प्रन्थों से कर लेना चाहिए। अव रस-प्रसङ्ग को हम अधिक विस्तार के मय से यहाँ ही छोड़ देते हैं।

१. सर्वथा आप (मीमांसक) को भी निमित्ततावैचित्र्य के आधार पर अनेक न्यापारों की किएना करनी ही होगी तब मैंने जो ऐसी कल्पना की है उससे आपको असूया क्यों है ? केवल यहीं न, विवश होकर आपको जिसे स्वीकार करना पड़ता है उसे हमने अपना पक्ष बना लिया है !

सर्वेयमनुसरणीया प्रक्रिया । तदुत्तीर्णत्वे तु सर्वे परमेश्वराद्वयं ब्रह्मेत्यसमच्छा-स्त्रकारेण न न विदितं तत्त्वालोकप्रन्थं विरचयतेत्यास्ताम् ।

यत् तु भट्टनायकेनोक्तप्—इह द्वप्तसिंहादिपदप्रयोगे च धार्मिकपदप्रयोगे च भयानकरसावेशकृतैव निषेधावगतिः तदीयभीक्वीरत्वप्रकृतिनियमावगममन्तरेणेकान्ततो निषेधावगत्यभावादिति तन्न केवलार्थसामध्यं निषेधावगतेर्निम-करने से क्या लाभ ? जो लोग वाक्य और उसके अर्थ को अखण्ड, स्कोट रूप कहते हैं वे भी जब अविद्या या व्यवहार में आग्नेंगे तब उन्हें इस प्रक्रिया का अनुसरण करना होगा। उस (अविद्या या व्यवहार) की स्थिति को पार (उत्तीणं) होने के बाद तो सब कुछ परमेश्वराद्वय ब्रह्म हो जाता है, इसे हमारे शास्त्रकार नहीं जानते हैं ? जब कि उन्होंने 'तत्वालोक' नामक ग्रन्थ की रचना की है ! अस्तु।

जो कि मट्टनायक ने कहा है—यहाँ ('भ्रम धार्मिक' इस स्थल में) निपेध का ज्ञान हप्तसिहादि पद के प्रयोग और 'धार्मिक' पद के प्रयोग में होनेवाले भयानक रस के आवेश के द्वारा ही होता है, क्योंकि उनकी (धार्मिक और सिंह की, क्रमशः) भीकता और वीरतारूप प्रकृति के नियम (अविनाभाव) के ज्ञान के विना एकान्ततः निपेध का ज्ञान नहीं हो सकता, इसलिए केवल अर्थ का सामर्थ्य निषेध के ज्ञान का

१. व्याकरण-दर्शन में स्पोट रूप शब्द-ब्रह्म का सिद्धान्त है उसके अनुसार वाक्य और वाक्यार्थ दोनों अखण्ड होते हैं। शब्द अकेले होकर अनर्थक होता है और समस्त अखण्ड वाक्य से अखण्ड अर्थ का बीय होता है। इसी प्रकार वेदान्ती लोग भी अखण्ड वाक्य और वाक्यार्थ को मानते हैं। पद-पदार्थविभाग के विना किए ही ये लोग 'सत्यं ज्ञानम्' इत्यादि अखण्ड वाक्य को अखण्ड ब्रह्म का वाचक मानते हैं। इस प्रकार इन दोनों सम्प्रदायों के अनुसार अखण्ड वाक्य का अखण्ड वाक्यार्थ वीय सम्पन्न हो जायगा, इतने व्यापारभेद की कल्पना अनावस्यक है यह कहकर प्रस्तुत कार्य का अपलाप नहीं किया जा सकता। आचार्य का कहना है कि इम दोनों मतों को अस्वीकार नहीं करते, बल्कि समर्थन करते हैं, किन्तु जब व्यवहार का प्रसंग है तब तो किसो भी अखण्ड वाक्य को विना किया-कारक-मेद आदि से खण्ड-खण्ड किए अर्थज्ञान नहीं होगा, यहाँ तक कि वैयाकरण को भी नहीं होगा। तथा दूसरे वेदान्ती भी तो 'अविद्या' की स्थिति या व्यावहारिक दुनियाँ में आकर व्यावहारिक सत्य को स्वीकार करते हैं। ऐसी स्थिति में उन्हें भी पद-पदार्थ की करपना अवस्य करनी होगी। हाँ जब वे 'विद्या' की स्थिति की बात करेंगे तब उनका अखण्ड-बाक्य-बाक्यार्थवाद हमें स्वीकार्य होगा, क्योंकि उस स्थिति में एक अहैत ब्रह्म को छोड़ कर और कुछ रह ही नहीं जाता यह विपय क्या 'ध्वन्यालोक' के रचियता आचार्य आनन्दवर्यन को विदित नहीं है ? इस प्रकार व्यवहार-क्षेत्र में वैयाकरण और वेदान्ती दोनों को हमारी सब बातें माननी होंगी। इस विषय का स्पर्धाकरण 'कान्यप्रकादा' के टीका-प्रन्थों में है।

२. अस धार्मिक० में सट्टनायक के कथनानुसार 'दृप्तसिंह' आदि और 'धार्मिक' पद के प्रयोग के होने पर प्रतिपत्ता (बोडा) को जो निपेथ का ज्ञान होता है वह सर्वथा 'स्यानकरस के आवेश के कारण ही होता है, क्योंकि बिना धार्मिक की भीरुता और सिंह की वीरता के ज्ञान के 'निषेथ' रूप अर्थ का ज्ञान नहीं हो सकता है। केवल अर्थ के सामर्थ्य से निषेथ का ज्ञान नहीं होता है। तात्पर्य यह कि प्रतिपत्ता को सयानक रस की अभिन्यक्ति से प्रस्तुत में निषेथ की प्रतीति होती है।

त्तिमिति । तत्रोच्यते-केनोक्तमेतत् 'वक्तृप्रतिपत्तृविशेषावगमविरहेण शब्दगत-ध्वननव्यापारिवरहेण च निषेधावगितः' इति । प्रतिपत्तृप्रतिमासहकारित्वं द्यस्माभिर्चोतनस्य प्राणत्वेनोक्तम् । भयानकरसावेशश्च न निवार्यते, तस्य भयमात्रोत्पत्त्यभ्युपगमात् । प्रतिपत्तुश्च रसावेशो रसाभिव्यक्त्येव । रसश्च व्यङ्गच एव, तस्य च शब्दवाच्यत्वं तेनापि नोपगतिमिति व्यङ्गचत्वमेव । प्रतिपत्तुरिप रसावेशो न नियतः, न ह्यसौ नियमेन भीरुधार्मिकसब्रह्मचारी सहदयः ।

अथ तिष्ठिशेषोऽिप सहकारी कल्प्यते, ति वक्तुप्रतिपत्तृप्रतिभाप्राणितो निमित्त नहीं। इस पर कहते हैं— 'यह किसने कहा है कि वक्ता विशेष और प्रतिपत्ता विशेष के विना जाने और विना शब्दगत घ्वनन व्यापार के, निषेध का ज्ञान होता है ? प्रतिपत्ता की प्रतिभा की (व्यंग्यार्थावगित में) सहकारिता को तो हमने द्योतन (घ्वननव्यापार) का प्राण कहा है। भयानक रस के आवेश का हम निवारण नहीं करते क्योंकि सिर्फ हम उसे भयमात्र की उत्पत्ति के रूप में स्वीकार करते हैं। प्रतिपत्ता को रस का आवेश रस की अभिव्यक्ति से ही होगा। और रस व्यंग्य ही होता है, क्योंकि रस का शब्दवाच्यत्व किसी ने भी नहीं माना है, अतः वह व्यंग्य ही होता है। प्रतिपत्ता को भी नियत रसावेश नहीं होता। क्योंकि वह सहृदय डरपोंक धार्मिक जैसा नियमतः नहीं होता है।

यदि उस (प्रतिपत्ता) विशेष को सहकारी⁹ कल्पित करते हैं तो वक्ता और

इसके खण्डन में लोचनकार का कहना है कि भट्टनायक को समझने में भ्रम हो गया है कि वक्ता और प्रतिपत्ता के वैशिष्ट्य के ज्ञान के विना और शब्दगत ध्वनन-ज्यापार के विना ही हम 'निषेध' रूप अर्थ का ज्ञान करते हैं। विल्क हम तो यह कहते हैं कि प्रतिपत्ता की प्रतिमा रूप विशेषता घोतन या ज्यक्षना का प्राण है। दूसरी उपेक्षणीय वात जो भट्टनायक कहते हैं वह यह कि प्रतिपत्ता को भयानकरस का आवेश होता है, अर्थात् सुनने वाला सहृदय भयानकरस से आविष्ट होकर प्रस्तुत पच के 'निषेध' रूप अर्थ का ज्ञान करता है। यहाँ भयानकरस का आवेश भयमात्र की उत्पत्ति ही हमें स्वीकार्य है। क्योंकि रसावेश रसामिज्यक्ति ही से रस का आवेश हो सकता है। और रस सर्वथा ज्यक्षय ही होता है, शब्द द्वारा वाच्य कदापि नहीं होता है। इसल्लिए 'दृप्तिसिंह' आदि और 'धार्मिक' पद के प्रयोग से जो भयानक रस का आवेश मट्टनायक ने कहा है वह उनकी मूल्तः गलत धारणा है। यह वात भी ध्यान देने योग्य है कि धार्मिक के समान प्रतिपत्ता सहृदय नियमतः भीरु नहीं हो सकता है, वह वीरप्रकृति भी हो सकता है। देसी स्थिति में भयानक-रस का आवेश हो यह आवश्यक नहीं है। तब तो आप ऐसे सहृदय के लिए 'निषेध' रूप अर्थ का ज्ञान नहीं होना ही वताएँगे ? इसलिए यह स्वीकार करना होगा कि भयानक रस की अभिन्यक्ति से 'निषेध' की प्रतीति नहीं होती।

१. ऊपर ध्वनन-व्यापार-खण्डन में भट्टनायक का जो यह मन्तव्य है कि प्रतिपत्तां अर्थात बोद्धा को भयानक रस के आवेश के कारण ही यहाँ 'निषेध' का ज्ञान होता है, उस पर जो आचार्य अभिनवग्रुप्त ने यह कहा कि यह कोई नियम नहीं हो सकता कि सहृदय प्रतिपत्ता सर्वथा इस पद्य को सुन कर भयानक रस से आविष्ट होता है; क्योंकि प्रत्येक सहृदय उस 'धार्मिक' के

ध्वननव्यापारः किं न सह्यते । किं च वस्तुध्वनि दूषयता रसध्वनिस्तद्नुमा-हकः समध्यत इति सुष्ठुतरां ध्वनिध्वंसोऽयम् । यदाह—'क्रोधोऽपि देवस्य वरेण तुल्यः' इति । अथ रसस्यैवेयता प्राधान्यमुक्तम् ; तत्को न सहते । अथ वस्तुमात्रध्वनेरेतदुदाहरणं न युक्तमित्युच्यते, तथापि काव्योदाहरणत्वाद् द्वाव-प्यत्रध्वनी स्तः, को दोषः ।

यदि तु रसानुवेधेन विना न तुष्यति, तद् भयानकरसानुवेधो नात्र सहृद-यहृद्यदर्पणमध्यास्ते; अपि तु उक्तनीत्या सम्भोगाभिलाषविभावसङ्केतस्था-नोचितविशिष्टकाकाद्यनुभावशवलनोदितश्रङ्गाररसानुवेधः। रसस्यालौकिकत्वा-

प्रतिपत्ता की प्रतिभा से प्राणित ब्वननव्यापार को क्यों नहीं सहन करते ? दूसरे यह कि, वस्तुब्विन को तो दूषित करते हैं, रसब्विन का, 'जो उस (वस्तुब्विन) का अनुग्राहक है, समर्थन करते हैं, तो खूब यह ब्विन का ब्वंस है! जो कि कहा है— 'देवता का कोच भी वर के जैसा होता है।' यदि किहए कि अब तक रस का ही प्राधान्य कहा है, तो इस बात को कौन नहीं सहन करता है ? यदि वस्तुमात्र ब्विन का यह उदाहरण ठीक नहीं है, ऐसा कहते हैं तथापि काव्य के उदाहरण होने से दोनों ब्विन यहाँ हैं तो क्या दोष है ?

यदि (सहदय) विना रसानुवेध (रसावेश) के सन्तुष्ट नहीं होता है, तो (कहना यह है कि) सहदय के हृदय-दर्पण में भयानक रस का आवेश अधिष्ठित नहीं होता, बिल्क उक्त प्रकार से सम्भोग की अभिलाषा का उद्दीपन-विभाव जो सङ्केत-स्थान है उसके उचित जो विशिष्ट काकु आदि अनुभाव हैं, उनके शबलन (सम्मिश्रण) से शृङ्काररस का अनुवेध (आवेश) उदित होता है। रस के अलौकिक होने से और उतने मात्र से ही उसका अवगम सम्भव नहीं है, अतएव प्रथम जिनका भेद निर्विवाद

समान 'भीर' नहीं होता है, बल्कि बीरप्रकृति भी होता है। इस पर भट्टनायक के पक्ष का यह कथन है कि यदि प्रतिपत्ता के प्रतिभाविशेष अर्थात् भीरुत्व को यहाँ भयानकरस के आवेश के होने में सेहकारी कारण कल्पित कर लिया जाय तो नियम बन सकता है और उस तरह का प्रत्येक प्रतिपत्ता भयानकरस के आवेश से 'निपेध' का ज्ञान कर सकता है। इस पर लोचनकार का कहना है कि जब आपने प्रतिपत्ता के प्रतिभाविशेष तक को स्वीकार कर लिया तब ध्वननव्यापार को क्यों नहीं सह लेते हैं, क्योंकि ध्वनन में भी तो प्रतिपत्ता का प्रतिभाविशेष सहकारी होता है शाहचर्य तो इस पर होता है कि वस्तुध्विन को स्वीकार नहीं करते और रसध्विन को स्वीकार करते हैं, जब कि स्सध्विन वस्तुध्विन का अनुप्राहक है। यदि आप इस पर अड़े हुए हैं कि यहाँ रसध्विन का प्राधान्य है तो हम आपकी बात को अमान्य नहीं ठहराते। हमें तो बस यही कहना है कि किसी प्रकार 'ध्विन' का निराकरण नहीं होना चाहिए। प्रस्तुत में यदि रसध्विन और वस्तुध्विन दोनों हों, तो क्या हर्ज है!

त्तावन्मात्रादेव चानवगमात्प्रथमं निर्विवाद्सिद्धविविक्तविधिनिपेधप्रदर्शनामि-प्रायेण चैतद्वस्तुध्वनेरुदाहरणं दत्तम् ।

यस्तु ध्वनिव्याख्यानोद्यतस्तात्पर्यशक्तिमेव विवक्षासूचकत्वमेव वा ध्वननम्बोचत्, स नास्माकं हृद्यमावर्जयति । यदाहुः—'भिन्नरुचिर्हि लोकः' इति । तदेतद्रेय यथायथं प्रतनिष्याम इत्यास्तां तावत् । प्रमित् । अतिसृष्टोऽसि प्राप्तस्ते प्रमणकालः । धार्मिकेति । कुसुमाद्युपकरणार्थं युक्तं ते भ्रमणम् । विसव्ध इति शङ्काकारणवैकल्यात् । स इति यस्ते भयप्रकम्प्रामङ्गलतिकामकृत । श्रद्यति । दिष्ट्या वर्धस इत्यर्थः । मारित इति पुनरस्यानुत्थानम् । तेनेति । यः पूर्वं कर्णो-पक्षणिकया त्ययाप्याकणितो गोदावरीकच्छगहने प्रतिवसतीति । पूर्वमेव हि तद्रक्षाये तत्त्रयोपश्रावितोऽसौः स चाधुना तु दृपत्यात्ततो गहनान्निस्सरतीति प्रसिद्धगोदावरीतीरपरिसरानुसरणमपि तावत्कथाशेषीभूतं का कथा तञ्चतागहन-प्रवेशशङ्कयेति भावः ।

सिद्ध है उन विधि और निषेध के प्रदर्शन के अभिप्राय से यह वस्तुष्विनि का उदाहरण दिया है।

जिसने ध्विन का व्याख्यान करने के लिए उद्यत हो, तात्पर्य शक्ति को ही अथवा विवक्षा के सूचकत्व (अनुमापकत्व) को ही घ्वनन कहा है, वह हमारे हृदय को आकृष्ट नहीं करता। जैसा कि कहते हैं — 'लोग भिन्न रुचि के होते हैं।' तो इसे आगे यथावत् विस्तार करेंगे । घूमो-। तुम अतिष्रष्ट हो (तुम्हारी इच्छा पर है घूमो अथवा न घूमो), तुम्हारे घूमने का यह समय है । धार्मिक (बाबाजी)—। फूल आदि सामग्री के लिए तुम्हारा घूमना ठीक है। इतमीनान से--। क्योंकि शङ्का करने का अब कोई कारण नहीं रह गया । वह-। जिसने तुम्हारे अङ्गों को भय से कम्पित कर डाला था। आज-। अर्थात् तुम्हारे भाग्य की वृद्धि है। मार डाला गया-। अव फिर वह नहीं आएगा। उस (सिंह ने)—। जिसे पहले से तुमने भी कानोंकान सुन रखा है कि गोदावरी के गहन कच्छ में रहता है। पहले से ही उस स्वैरिणी ने सङ्क्रेत स्थान की रक्षा के लिए सिंह के गोदावरी के गहन कच्छ में निवास करने का वृत्तान्त धार्मिक को सुना रखा है। भाव यह कि (पहले तो कच्छ गहन में रहता मात्र था) अब ती वह दृप्त (मत्त, पागल) हो जाने के कारण गहन से निकल जाता है, इसलिए प्रसिड गोदावरी नदी के तीर की भूमि के आस-पास धूमना भी बिलकूल बन्द हो गया है (सिफं चर्चा का विषय वन कर रह गया है) वहाँ के लतागहन में प्रवेश की शड़ी की तो बात ही नहीं।

१. सह्दय पर भयानक रस का आवेश तो कर्ना नहीं माना जा सकता, विके यह की सकते हैं कि यहाँ शक्ता रस का अनुवेध है। परन्तु इसे वस्तुःविन का उदाहरण देते हुए आविष का अभिप्राय यह है कि पहले निर्विवादसिद्ध विधि-निषेध का प्रदर्शन हो जाय।

ध्वन्यालोकः

किचिद्राच्ये प्रतिषेधरूपे विधिरूपो यथा— अत्ता एत्थ णिमजइ एत्थ अहं दिअसअं पलोएहि । मा पहिअ रत्तिअन्धन्न सेजाए मह णिमजहिसि ॥

कहीं वाच्य के प्रतिपेधरूप होने पर क्यंग्य विधिरूप; जैसे— सास यहाँ गहरी सोती है, यहाँ मैं (सोती हूँ), दिन में ही देख छो। रात के अन्धे (रतोंधी के रोगी) हे पथिक! कहीं हमारी खाट पर न गिर पड़ना।

लोचनम्

श्रता इति ।

श्वश्रूरत्र शेते अथवा निमज्जित अत्राहं दिवसकं प्रलोकय ।
मा पथिक राज्यन्ध शय्यायामावयोः शियष्ठाः ॥
मह इति निपातोऽनेकार्थवृत्तिरत्रावयोरित्यर्थे न तु ममेति । एवं हि विशेषवंचनमेव शङ्काकारि भवेदिति प्रच्छन्नाभ्युपगमो न स्यात् । कांचित्योषितपितकां तरुणीमवलोक्य प्रवृद्धमदनाङ्कुरः संपन्नः पान्थोऽनेन निषेधद्वारेण तयाभ्युपगत इति निषेधाभावोऽत्र विधिः । न तु निमन्त्रणरूपोऽप्रवृत्तप्रवर्तनास्यभावः सौभाग्याभिमानखण्डनाप्रसङ्गात् । अत एव रात्र्यन्धेति समुचितसमय-

(प्राकृत गाथा में) 'मह' यह निपात अनेकाथं वृत्ति होने के कारण यहाँ 'हमारी' (अर्थात् मेरी और सास की) इस अर्थ में है न कि 'मेरी' इस अर्थ में। ऐसा करने पर ('मम' यह) विशेष वचन ही ध्रश्रू को शिक्कृत कर देने वाला' हो जायगा, ऐसी स्थित में नायिका द्वारा किया गया पिथक का प्रच्छन्नाम्युपगम (छिपे ढंग से साथ सोने की स्वीकृति) नहीं वनेगा। किसी प्रोपित-पितका (जिसका पित परदेश चला गया है) तरुणी को देखकर कोई पिथक विशेष कामासक्त हो गया, तब इस निषेध के प्रकार से उस तरुणी ने उसे शयन के लिए वचन दिया, इस प्रकार यहाँ निषेधाभावस्प विधि है, न कि अप्रवृत्त में प्रवर्तन स्वभाव का निमन्त्रणरूप (विधि) है. क्योंकि (तव तो) सौभाग्य के अभिमान के खण्डित हो जाने का प्रसंग होगा। इसीलिए 'रात के अन्थे' इसके द्वारा योग्य समय में सम्भावित होने वाले विकारों से उसका आकुलित

१. यदि नायिका 'मम' इस विशेष वचन का प्रयोग करेगी तब सुनती हुई उसकी सास को यह शंका हो सकती है यह (बहू) अपनी ही खाट पर पिथक के गिर जाने की बात क्यों करती है ?, जब कि रतींथी बाला पिथक मेरी भी खाट पर गिर सकता है। हो न हो यहाँ दाल में कुछ काला है !

२. प्रस्तुत गाथा में प्रतीयमान विधि को निषेष का अभाव रूप समझना चाहिए, क्यों कि नायिका ने 'खाट पर िर न जाना' इस निषेष के प्रकार से पथिक को मिलन का वचन दिया है। यहाँ आचार्य का निर्देश है कि 'विधि' को निमन्त्रण स्वरूप नहीं समझ लेना चाहिए, अर्थात्र नायिका ने यहाँ अप्रवृत्त पथिक को निमन्त्रण के द्वारा प्रवृत्त नहीं किया है, क्यों के यदि ऐसा माना जायगा तव उसे अपने सीभाग्य का अभिगान क्या रह जायगा। पथिक तो स्वयं नाथिका से

लोचनस्

सम्भाव्यमानविकाराकुलितत्वं ध्वनितम्। भावतद्भावयोश्च साक्षाद्विरोधाद्वा-च्याद्व-चङ्ग-चस्य स्फुटमेवान्यत्वम्।

यत्त्वाह भट्टनायकः - 'अहमित्यभिनयिवशेषेणात्मदशावेदनाच्छाब्दमेतदपी'ति । तत्राहमिति शब्दस्य तावन्नायं साक्षादर्थः; काकः दिसहायस्य च तावित ध्वननमेव व्यापार इति ध्वनेभूषणमेतत् । अत्तेति प्रयत्नेनानिभृतसम्भोगपिरहारः । अथ यद्यपि भवान्मदनशरासारदीर्यमाणहृद्य उपेक्षितुं न युक्तः, तथापि किं करोमि पापो दिवसकोऽयमनुचितत्वात्कुत्सितोऽयमित्यर्थः । प्राकृते पुंनपुंसकयोरनियमः । न च सर्वथा त्वामुपेन्ते, यतोऽत्रेवाहं तत्प्रलोकय नान्यतोऽहं गच्छामि, तदैन्योन्यवद्नावलोकनिवनोदेन दिनं तावद्तिवाह्याव इत्यर्थः । प्रतिपन्नमात्रायां च रात्रावन्धीभूतो मदीयायां शय्यायां मा शिल्षः, अपि होना ध्वनित होता है । भाव और अभाव इन दोनों में साक्षात् विरोध होने के कारण बाच्य से व्यंग्य का भिन्नत्व स्पष्ट ही है ।

जो कि मट्टनायक ने कहा है—(गाथा में प्रयुक्तं) 'अहं' ('मैं') इस पद के द्वारा अभिनय विशेष के बल से अपनी दशा के आवेदन करने के कारण यह (निषेध के द्वारा जो अम्युपगमन) भी वह शाब्द (शब्दाभिषेय) है।' इस पर (कहते हैं कि) 'अहं' ('मैं') इस शब्द का यह (अभिनय विशेषरूप अम्युपगमन) साक्षात् अर्थ नहीं है, बिक काकु की सहायता से ऐसा होता है, ऐसी स्थिति में ध्वनन ही व्यापार (यहाँ ठहरता) है; यह ध्वनि का भूषण है, दूषण नहीं। (गाथा में) 'अत्ता' (श्वश्नू') के प्रयोग द्वारा प्रयत्नपूर्वंक सम्भावित अपने अनिभृत (एकान्त) सम्भोग का परिहार है। यद्यपि तुम काम के बाणों की वर्षा से फटे हृदय वाले किसी प्रकार उपेक्षणीय नहीं हो तथापि यह पापी दिन सम्भोग के लिए अनुचित होने के कारण बड़ा खराब है—यह अर्थ हुआ। प्राकृत में पुंक्षिङ्ग-नपुंसक का नियम' नहीं है। अर्थात् में सर्वथा तुम्हारी उपेक्षा नहीं कर रही हूँ, क्योंकि देखो कहीं अन्यत्र, नहीं जाती हूँ, अतः हम एक दूसरे का मुख देखने के विनोद से इस दिन को वितायें। रात के होते ही अन्धे होकर

मिलने के लिए प्रवृत्त है, उत्सुक है; इसी कारण ही नायिका ने उसे 'राष्ट्रयन्थ' (रतींथी का रोगी या रात का अन्था) कह कर उसके सम्मा यमान विकारों के कारण आकुछता को सूचित किया है! अन्यथा नायिका को क्या पड़ी थी कि उसे 'राष्ट्रयन्थ' कहती, जब कि वह किसी प्रकार पहुँचता स्वयं वह मिल ही लेती। किन्तु ऐसी स्थित ही नहीं है।

१. तात्पर्य यह कि कोई भी शब्द, जो पुछिङ्ग है वह नपुंसक भी हो सकता है और जो नपुंसक है वह पुंछिङ्ग भी हो सकता है, जैसा कि पुंछिङ्ग 'दिवसक' शब्द नपुंसक पढ़ा गया है। किन्तु मेरा विचार है कि 'दिवसकं प्रद्योक्तय'—प्रस्तुत इस स्थल में 'दिवसकम्' यह प्रयोग 'कालाश्वनोर-त्यन्तसंयांगे'के नियम के अनुसार 'दितीया' विभक्ति का प्रयोग हुआ है। इसिलए यहां प्राकृत-शब्द के पुनेपुंसकत्व का विचार हो कोई आवश्यक नहीं है। फिर भी, सम्मव है आचार्य का यह कहना ठीक हो।

ध्वन्यालोकः

कचिद्वाच्ये विधिरूपेऽनुभयरूपो यथा— वच मह व्यित्र एक्केइ होन्तु णीसासरोइअव्वाइं। मा तुज्ज वि तीअ विणा दिक्खण्णहअस्स जाअन्तु॥

कहीं वाच्य के विधिरूप होने पर (ब्यङ्गय) अनुभय रूप (न विधिरूप तथा न निपेधरूप) होता है। जैसे—

तूजा, मुझ ही अकेली के निश्वास और रुदन भाग में हों, उसके विना दाचिण्य (समानुरागिता) से रहित तेरे भी ये (निश्वास, रुदन) मत पैदा हों।

लोचनम्

तु निभृतनिभृतमेवात्ताभिधाननिकटकण्टकनिद्रान्वेषणपूर्वकमितीयदत्र ध्वन्यते। त्रज ममैवैकस्या भवन्तु निःश्वासरोदितव्यानि । मा तवापि तया विना दाक्षिण्यहतस्य जनिषत ।।

अत्र ब्रजेति विधिः। न प्रमादादेव नायिकान्तरसंगमनं तव, अपि तु गाढानुरागात्, येनान्यादृङ्गुखरागः गोत्रस्खलनादि च, केवलं पूर्वकृतानुपालनात्मना दाक्षिण्येनैकरूपत्वाभिमानेनैव त्वमत्र स्थितः, तत्सर्वथा शठोऽसीति
गाढमन्युरूपोऽयं खण्डितनायिकाभिप्रायोऽत्र प्रतीयते। न चासौ ब्रज्याभावरूपो निषेधः, नापि विध्यन्तरमेवान्यनिषेधाभावः।

मेरी कय्या पर मत गिर जाओ, बल्कि बहुत कायदे से यह पता कर लो कि 'श्रश्नू' नाम का निकट वाला काँटा नींद में है, यह इतना ब्वनित होता है।

यहाँ 'जा' यह विधि है। प्रमादवश हो तू दूसरी नायिका से नहीं मिलता, अपितु गाढ़ अनुरागवश तू (उससे) मिलता है, जिससे यह तेरा मुखराग कुछ भिन्न-सा है और गोत्रस्खलन (दूसरी नायिका का नामोचारण) आदि हो रहे हैं। सिर्फ तू यहाँ मेरे पालन का जो पहले वचन कर चुका है उसी दाक्षिण्य के कारण जो एक रूपता का अभिमान तुझे है उसी से तू यहाँ ठहरा है तो तू सर्वथा 'शठ' निकला, इस प्रकार यहाँ 'खण्डिता' नायिका का अधिक कोप रूप अभिप्राय प्रतीत होता है। न तो यहाँ गमनाभाव रूप निषेध है और न तो कोई दूसरा विधि (विष्यन्तर) निषेध का अभाव ही (ब्यंग्य होता है)।

१. 'दाठ' वह नायक कहलाता है जो एक नायिका में वाहर से अनुराग प्रकट करता है और छिपे-छिपे दूसरी से अनुराग करते हुए उसका विप्रिय या अहित करता है—गृढविप्रियक्टच्छठः।

२. 'खण्डिता' वह नाथिका कहलाती है जिसका प्रिय पराई के साथ सम्पन्न मिलन के चिह्न से चिह्न होकर प्रातःकाल उपस्थित होता है और वह उसे देख कर ईर्ब्या से भर जाती है—

पार्श्वमिति प्रियो यस्या अन्यसम्भोगचिह्नितः।

सा खण्डितेति कथिता धीरैरीर्घ्याकषायिता॥ साहित्यदर्पण ३।११७

ध्वन्यालोकः

कचिद्वाच्ये प्रतिपेधरूपेऽनुभयरूपो यथा— दे आ पसिअ णिवत्तसु सहससिजोह्नाविद्धत्ततमणिवहे । अहिसारिआणँ विग्धं करोसि अण्णाणँ वि हआसे ॥

कहीं वाच्य के प्रतिपेधरूप होने पर व्यङ्गय अनुभयरूप होता है। जैसे-

प्रार्थना करता हूँ, प्रसन्न हो, छौट आओ, अरी, अपने मुखचन्द्र की चाँद्नी से अन्धकार-समूह को दूर करनेवाली, इन आशाओं वाली, तू दूसरी अभिसारिकाओं के भी विन्न करती है।

लोचनम्

दे इति निपातः प्रार्थनायाम् । आ इति तावच्छ्रव्दार्थे । तेनायमर्थः—
प्रार्थये तावत्प्रसीद् निवर्तस्व मुखशशिज्योत्स्नाविलुप्ततमोनिवहे ।
अभिसारिकाणां विघ्नं करोष्यन्यासामि हताशे ।।

अत्र व्यवसिताद्रमनान्निवर्तस्वेति प्रतीतेर्निपेधो वाच्यः । गृहागता नायिका गोत्रस्खलिताचप्राधिनि नायके सति ततः प्रतिगन्तुं प्रवृत्ता, नायकेन चादूप-क्रमपूर्वकं निवत्यते । न केवलं स्वात्मनो मम च निवृतिविद्यं करोपि, यावद्-त्यासामपि; ततस्तव न कदाचन सुखलवलामोऽपि भविद्यतीत्यत एव हताशा-सीति वल्लमाभिप्रायह्तपश्चादुविशोषो व्यक्ष्यः ।

यदि वा सख्योपदिश्यमानापि तद्वधीरणया गच्छन्ती सख्योच्यते—न केवलमात्मनो विघ्नं करोपि, लाघवादबहुमानास्पद्मात्मानं कुर्वती, अत एव हताशा, यावद्वदनचन्द्रिकाप्रकाशितमार्गतयान्यासामप्यमिसारिकाणां विघ्नं

(गाथा में) 'दे' यह निपात प्रार्थना के अर्थ में है। 'आ' यह निपात 'तावत्' शब्द के अर्थ में है। इसलिए यह अर्थ हुआ—

प्रार्थना करता हूं।

यहां व्यवसित गमन से 'लौट आओ' इस प्रतीति के कारण गमन का निपेध वाच्य है। जब नायिका घर आई तव नायक गोत्रस्खलन आदि अपराध कर बैठा और वह (नायिका) लौट जाने के लिए प्रवृत्त हुई, तब नायक प्रशंसा की मापा का उपक्रम करके उसे निवृत्त करता है। न केवल तू अपने-आपके और मेरे सुख में विघ्न डालती है, बिक्त दूसरी स्त्रियों के भी; इसलिए तुझे कभी भी सुखलेश का लाभ भी नहीं होगा, अतएव नू हताशा है, इस प्रकार नायक का अभिप्रायहूप चादु विशेष व्यंग्य है।

अथवा सखी के द्वारा उपदेश दिए जाने पर भी उसे न मानकर जाती हुई नायिका के प्रति सखी कहती है—न केवल त् अपना विष्न करती है—इस प्रकार के छुटपन (लचुता) से अपने को अबहुमान का आस्पद वनाती हुई—अतएव हताशा, विक तू अपने मुखचन्द्र की चाँदनी से मार्ग को प्रकाशित करके अन्य अभिसारिकाओं के भी विष्न करती है, यह सखी का अभिप्रायरूप चादुविशेष व्यंग्य है। इन दोनों व्याख्यानों में

करोपीति सस्यभिप्रायरूपश्चादुविशेषो व्यङ्ग्यः । अत्र तु व्याख्यानद्वयेऽपि व्यवसितात्प्रतीपगमनात्प्रियतमगृहगमनाच निवर्तस्वेति पुनरपि वाच्य एव विश्वान्तेर्गुणीभूतव्यङ्ग्यभेदस्य प्रेयोरसवद्तङ्कारस्योदाहरणमिदं स्यात्, न ध्यनेः।

तेनायमत्र भावः—काचिद्रभसाद्गियतममिसरन्ती तद्गृहाभिमुखमाग-च्छता तेनेव हृद्यवल्लभेनेवमुपस्लोक्यतेऽप्रत्यभिज्ञानच्छलेन, अत एवात्मप्रत्य-भिज्ञापनार्थमेव नर्मवचनं हृताश इति । अन्यासाञ्च विष्नं करोषि तव चेप्सित-लाभो भविष्यतीति का प्रत्याशा । अत एव मदीयं वा गृहमागच्छ, त्वदीयं वा गच्छावेत्युभयत्रापि तात्पर्यादनुभयरूपो वल्लभाभिप्रायश्चाद्वात्मा व्यङ्ग्य इयत्येव व्यवतिष्ठते । अन्ये तु—'तटस्थानां सहृद्यानामभिसारिकां प्रतीय-मुक्तिः' इत्याहुः । तत्र हतारो इत्यामन्त्रणादि युक्तमयुक्तं वेति सहृद्या एव प्रमाणम् ।

भी (नायिका द्वारा) व्यवसित प्रतीपगमन (अपने घर के प्रति गमन) और प्रियतम के गृह के गमन से 'लौट आओ'. (निवृत्त हो) यह जो वाच्य है उसमें ही (सखीगत नायिकाविषयकभावरूप रित अथवा नायकगत नायिकाविषयक रित के) विश्वान्त होने के कारण गुणीभूतव्यंग्य के भेद जो ऋमशः प्रेयोऽलङ्कार और रसवदलङ्कार हैं उनका

यह उदाहरण होगा, न कि घ्वनि का।

इसिलए' यहाँ यह भाव है—कोई नायिका झटपट प्रियतम के घर के प्रति अभिसार करती है, उसी समय मार्ग में उसके घर की ओर आता हुआ वही प्रियतम अप्रत्यिभज्ञान (नायिका को न पहचानने) के बहाने उसे इस प्रकार प्रश्नंसा करता है। इसीलिए अपने को पहचानने के लिए ही नर्मवचन 'हताशे' (का प्रयोग) है। दूसरी (अभिसारिकाओं) के विझ पहुँचाती है, फिर तेरा ईप्सित लाभ होगा, इसकी क्या प्रत्याशा है ? अतएव 'मेरे घर आ, या हम दोनों तेरे घर चलें' इन दोनों में तात्पर्य होने के कारण अनुभयरूप चादुगिमत प्रिय का अभिप्राय व्यंग्य इतने में ही व्यवस्थित होता है। दूसरे तो यह कहते हैं कि यह तटस्य सहुदयों का अभिसारिका के प्रति वचन है। वहाँ 'हताशे' यह आमन्त्रणादि ठीक है अथवा ठीक नहीं, सहुदयजन ही प्रमाण हैं।

१. प्रस्तुत गाथा 'दे आ पिसअ०' को आचायं ने वक्ता के भेद्र के अधार पर तीन-चार प्रकार से लगाया है। पहले व्याख्यान के अनुसार नायक के घर पर नायिका पहुँची तब नायक उसके समक्ष गोत्रस्वलन आदि अपराध कर बैठा। इस पर तुनक कर जब वह चल पड़ने के लिए उचन हुई तब नायक उसकी प्रशंसा के द्वारा उसे निवृत्त करने का प्रयत्न करने लगा। उसने कहा कि वह अपने और मेरे सुख में तत्काल विघ्न तो कर ही रही है अन्य अभिसारिकाओं के सुख में भी दिघ्न डाल रही है। 'अभिसारिका' वह नायिका कहलाती है जो अन्यकार आदि में प्रिय का अभिसरण करती है'। यहाँ नायक का चाउक्तप अभिप्राय व्यक्षय है। दूसरे व्याख्यान के अनुसार यह नायिकाकी सखी का वचन है, नायिका को सखी ने मना किया कि वह तत्काल अभिसार न करे,

ध्वन्यालोकः

किचिद्राच्याद्विभिन्नविषयत्वेन व्यवस्थापितो यथा—
कस्स व ण होइ रोसो दट्ड्रण पिआऍ सव्वणं अहरम् ।
सभमरपंजमग्वाइणि वारिअवामे सहसु एिक्कम् ॥
अन्ये चैवंप्रकारा वाच्याद्विभेदिनः प्रतीयमानभेदाः सम्भवन्ति ।
तेषां दिङ्गात्रमेतत्प्रदर्शितम् । द्वितीयोऽपि प्रभेदो वाच्याद्विभिन्नः
सप्रपञ्चमग्रे दर्शयिष्यते ।

कहीं वाच्य से विभिन्न-विषय रूप में व्यवस्थापित व्यक्तय, जैसे— अथवा प्रिय के अणयुक्त अधर को देखकर किसे क्रोध नहीं होता, री, मना करने पर भी भौरे सहित कमल को सूंघने वाली, अब तू उसका दुप्परिणाम अुगत !

वाच्य से भेद रखने वाले प्रतीयमान के दूसरे इस प्रकार के भेद सम्भव हैं। उन्हें दिख्मात्र यहाँ प्रदर्शित किया है। वाच्य से विभिन्न दूसरा भी प्रभेद आगे प्रपञ्च के साथ दिखायेंगे।

लोचनम्

एवं वाच्यव्यक्क स्योधीर्मिकपान्धप्रियतमाभिसारिकाविषयैक्येऽपि स्वरूप-भेदाद्भेद इति प्रतिपादितम् । अधुना तु विषयभेदादिप व्यक्क स्य वाच्याद्भेद इत्याह—कि चिद्वाच्यादिति । व्यवस्थापित इति । विषयभेदोऽपि विचित्ररूपो व्यवतिष्ठमानः सहृद्येव्यवस्थापयितुं शक्यत इत्यर्थः ।

कस्य वा न भवति रोषो ह्या प्रियायाः सत्रणमधरम्। सभ्रमरपद्माद्राणशीले वारितवामे सहस्वेदानीम्।।

इस प्रकार (इन निर्दिष्ट उदाहरणों में) घार्मिक, पान्य, प्रियतम और अभिसारिका के वाच्य और व्यंग्य के एकविषय होने पर भी स्वरूप के भेद से भेद है यह प्रतिपादन

किन्तु जब यह नायिका ने नहीं माना तब सखीं ने कहा कि हताशा वह अपना विघन तो करती ही है साथ ही अपने मुखचन्द्र की चिन्द्रका से मागे को प्रकाशित करके अन्य अभिसारिक।ओं के भी विष्न करने के छिए प्रस्तुत है। यहाँ सखी का चाड़ रूप अभिप्राय व्यक्तय है।

अचार्य के कथनानुसार इन दोनों व्याख्यानां में प्रस्तुत गाथा 'ध्विन' का उदाहरण न होकर गुणीमूत व्यक्त्य का उदाहरण हो जाती है। सखी के बचन के पक्ष में 'प्रेयोऽलक्कार' हो। माब के पराङ्ग होने पर 'प्रेयोऽलक्कार' होता है। यहाँ सखी की नाथिका में 'रिति' व्यक्त्य है एवं 'छोट आओ' (निवर्तस्व) इस वाच्य के प्रति अक्त हो हि। इसी प्रकार नायक के बचन के पक्ष में यह रसवदलक्कार है। क्योंकि रस जब पराङ्ग होता है तब 'रसवदलक्कार' होता है। यहाँ नायक की नाथिकागत रित प्रस्तुत वाच्य के प्रति अक्त हो रही है।

इसलिए आचार्य ने तृतीय व्याख्यान किया कि नाथिका को उस समय भिम्सार करते हुए नायक अंधेरे में मार्ग में पाता है जब वह स्वयं नाथिका के घर उससें मिलने के लिए जा रहा था। नाथिका को पहचान कर भी न पहचानने का बहाना करके नायक ने प्रस्तुत बचन कहा।

कस्य वेति । अनीर्घ्यालोरिप भवित रोषो दृष्ट्वैवः अकृत्वापि कुत्रिश्चित्वापूर्वतया प्रियायाः सत्रणमधरमवलोक्य । सभ्रमरपद्मात्राण्शीले शीलं हि कथंचिदिप वारियतुं न शक्यम् । वारिते वारणायां,वामे तदनङ्गीकारिणि । सहस्वैदानीमुपालम्भपरम्परामित्यर्थः । अत्रायं भावः—काचिदिवनीता कुत्रिश्चत्खण्डताधरा निश्चिततत्सविधसंनिधाने तद्भर्तरि तमनवलोकमानयेव कयाचिद्विद्ग्धसख्या तद्घाच्यतापरिहारायेवमुच्यते सहस्वैदानीमिति वाच्यमविनयवतीविषयम् ।
भर्त्विषयं तु-अपराधो नास्तीत्यावेद्यमानं व्यङ्गन्थम् । सहस्वेत्यिप च तद्विषयं
व्यङ्गन्थम् । तस्यां च प्रियतमेन गाढमुपालभ्यमानायां तद्व्यलीकशङ्कितप्रातिवेशिकलोकविषयं चाविनयप्रच्छादनेन प्रत्यायनं व्यङ्गन्थम् । तत्सपत्न्यां च तदुकिया गया । अव विषय के भेद से भी व्यंग्य का भेद है, यह कहते हैं—कहीं पर—।
व्यवस्थापित—। अर्थात् विषय का भेद भी विचित्रकृप से रहता हुआ सहृदयजनों के
द्वारा व्यवस्थापित किया जा सकता है।

अथवा प्रिया के व्रणयुक्त

ईप्यां से रहित व्यक्ति के भी क्रोध देखकर ही चढ़ आता है। न करके भी किसी कारण अपूर्व भाव से प्रिया के व्रणयुक्त अघर को देखकर। भोंरे सहित कमल को सूँघने के शील वाली—। शील किसी प्रकार हटाया नहीं जा सकता। वारित में, निवारण में, वामा अर्थात् निवारण को अङ्गीकार न करनेवाली। अब सहन कर (दुप्परिणाम भुगत)—। अर्थात् उलहनों की परम्परा को सहन कर (अपने किए का दुष्परिणाम भुगत)। यहाँ भाव यह है—कोई चालाक (विदम्ध) सखी किसी अविनीत नायिका से, जो कहीं से (जार आदि के द्वारा) अपना अधर-खण्डित करा चुकी है, उसके पित को निश्चितत्व्य से सिन्निहित जानकर, उसे (उसके पित को) न देखती हुई-सी, पित के द्वारा उपालम्भ मिलने के परिहार के लिए (जिससे कि उसका पित खण्डित-अधर देखकर उसे न डाँटे) कहती है। 'सहन कर' (दुष्परिणाम भुगत) यह वाच्य अविनयवती उस नायिका के प्रति है। पित के प्रति तो—'इसका अपराध नहीं है' यह आवेद्यमान (निरपराधत्व) व्यंग्य होता है। प्रियतम के द्वारा अधिक उपालम्भ प्राप्त उस नायिका के होने पर पित का अप्रिय करने से शिकत आस-पास के लोगों के प्रति नायिका के अविनय के प्रच्छादन के द्वारा (नायिका के निरपराध

यहाँ 'निवर्तस्व' वाच्य है, किन्तु नायक का यह तात्पयं व्यक्तय है कि मेरे घर आ अथवा हम दोगों ही तुम्हारे घर चलें, इस प्रकार यह अनुभय रूप व्यक्तय है। चतुर्थ व्याख्यान के अनुसार यहाँ तटस्थ सहदयों का किसी अभिसारिका के प्रति वचन है। आचार्य के कथानानुसार इस अंश में 'हताशे' यह आमन्त्रण आदि ठीक वैठ जाता है या नहीं इसका निर्णय तो सहदय स्वयं कर सकते हैं!

१. व्यङ्गय और वाच्य ने विषयमेद और स्वरूपमेद इन दो ही मेदों का दिङ्मात्र प्रदर्शन 'ध्वन्यालोक' में किया गया है। मन्मट आदि अन्य आचार्यों ने और भी कई मेद बतलाए हैं। 'साहित्यदर्पण' में सबका संग्रह एक कारिका में किया गया है—

पालम्भतद्विनयप्रहृष्टायां सौभाग्यातिशयख्यापनं प्रियाया इति शब्द्वलादिति सपत्रीविषयं व्यङ्गश्यम् । सपत्रीमध्ये इयता खलीकृतास्मीति लाघवमात्मिन प्रहोतुं न युक्तं; प्रत्युतायं बहुमानः, सहस्य शोभस्वेदानीमिति सौभाग्यप्रख्यापनं व्यङ्गचम्। अद्येयं तव प्रच्छन्नानुरागिणी हृद्यवल्लभेत्थं रक्षिता, पुनः प्रकटरदनदंशनविधिर्न विघेय इति तच्चीर्यकामुकविषयसम्बोधनं व्यङ्गचम् । इत्थं मयैतद्पह्नुतमिति स्ववैद्ग्ध्यख्यापनं तटस्थविद्ग्धलोकविषयं व्यङ्गश्रमिति । तदेतदुक्तं व्यवस्थापितशब्देन । श्रम इति द्वितीयोदयोते 'असं-लच्यक्रमन्यङ्गचः क्रमेणोइचोतितः परः' इति विविध्तान्यपरवाच्यस्य द्वितीय-होने का) बोधन व्यंग्य है। उसकी सपत्नी के प्रति जो उसे उपालम्म मिलने के कारण और उसके अविनय से प्रसन्न है, 'प्रियायाः' इस शब्द के बल से नायिका के अतिशय सौभाग्य का ख्यापन व्यङ्गच है। 'सपितनयों के बीच इस तरह (अविनय के साफ जाहिर करने से) मैं गौरवहीन कर दी गई हूँ' इस प्रकार का लघुमाव अपने में रखना ठीक नहीं है, बल्कि यह (बहुमान-गौरव) की बात है, 'सहस्व' अर्थान् इस समय शोभित हो, इस प्रकार सखी के प्रति सौभाग्य का प्रख्यापन व्यङ्ग्य है। 'आज तो तुम्हारी इस प्रच्छन्नानुरागिणी हृदयवल्लभा को इस प्रकार बचा लिया, फिर कहीं स्पष्ट रूप से दन्तक्षत नहीं करना' इस प्रकार उस नायिका के चौर्य-कामुक के प्रति सम्बोधन व्यक्तच है। और तटस्थ विदग्ध लोगों के प्रति 'अपना यह वैदग्व्य-ख्यापन कि मैंने इस प्रकार इसे छिपा लिया' व्यङ्गच है। इसीलिए वृत्तिग्रन्थ में 'व्यवस्थापित' कहा है। आगे--। दूसरे 'उद्द्योत' में 'असंलक्ष्यक्रमव्य ङ्गयः क्रमेणोद्द्योतितः परः' इस प्रकार

> बोद्धृस्वरूपसंख्यानिमित्तकार्यप्रतीतिकालानाम् । आश्रयविषयादीनां भेदाद् मिन्नोऽभिधीयते व्यङ्गयः ॥

१. प्रस्तुत गाथा में व्यङ्गब विषय के भेद से मित्र रूप में 'व्यवस्थापित' है। 'व्यवस्थापित' कहने का तात्पर्य है कि यहाँ कोई आचार्य के द्वारा अपनी ओर से नहीं जोड़ा गया है, विका ऐसा है

⁽क) बोद्धृमेद; वाच्य अर्थ को तो पद-पदार्थ की व्युत्पत्ति रखने वाले वैयाकरण आदि भी समझ लेते हैं, किन्तु व्यक्तथ को वही समझता है जो सर्वथा 'सहृदय' है ('सहृदय' वैयाकरण आदि भी हो सकते हैं!)। (ख) स्वरूपमेद; वाच्य विधि रूप होता है तो व्यक्तथ निपेध रूप आदि! स्वरूपमेद के कई उदाहरण 'ध्वन्यालोक' में दिए गए हैं। (ग) संख्यामेद; यदि वाच्य एक है तो व्यक्तथ अनेक मी हो सकते हैं, जैसे 'गतोऽस्तमकं:' में वाच्य अर्थ एक है और व्यक्तध अर्थ अनेक हैं।(घ) निमित्तमेद; वाच्य अर्थ के ज्ञान के कारण (निमित्त) संकेत-प्रह आदि हैं किन्तु व्यक्तथ अर्थ के बोध के लिए निमल प्रतिमा होनी चाहिए, सहृदयता आदि होनी चाहिए। (छ) कार्यभेद; वाच्य अर्थ केवल प्रतिति को उत्पन्न करता है और व्यक्तथ चमत्कार को भी उत्पन्न करता है।(च) कार्यभेद; वाच्य अर्थ पहले प्रतित होता है और व्यक्तथ अर्थ वाद में। (छ) आश्रयमेद; वाच्य अर्थ शब्द के आश्रित होता है किन्तु व्यक्तय शब्द के एक देश प्रकृति, प्रत्यय, वर्ण, संघटना आदि के भी आश्रित हो सकता है। (ज) विपयमेद; इसका उदाहरण मूल में 'कर्य न वा भवति?' इस गाथा में दिया है, यहाँ वाच्यार्थ-बोथ का विपय नायिका है और व्यक्तथार्थ का विपय नायक है।

प्रभेदवर्णनावसरे । यथा हि विधिनिपेधतदनुभयात्मना रूपेण संकलय्य वस्तु-ध्वनिः संन्तेपेण सुवचः, तथा नालङ्कारध्वनिः, अलङ्काराणां भूयस्त्वात् । तत एवोक्तम्-सप्रपञ्चमिति ।

तृतीयस्तित । तुशवदो व्यतिरेके । वस्त्वलंकाराविप शव्दाभिधेयत्व-मध्यासाते तावत् । रसभावतदाभासतत्त्रशमाः पुनर्न कदाचिद्भिधीयन्ते, अथ चास्त्राद्यमानताप्राणतया भान्ति । तत्र ध्वननव्यापाराद्यते नास्ति कल्प-नान्तरम् । स्खलद्गतित्वाभावे मुख्यार्थवाधादेलेक्षणानिबन्धनस्यानाशङ्कनीय-त्वात् । औचित्येन प्रवृत्तौ चित्तवृत्तेरास्वाद्यत्वे स्थायिन्या रसो, व्यभिचारिण्या 'विवक्षितान्यपरवाच्य' नामक दूसरे प्रभेद के वर्णन के अवसर में । जिस प्रकार विधि, निषेध और विधिनिपेवानुभय रूप प्रकार के द्वारा सङ्कलित करके वस्तुव्विन को संक्षेप में कहा जा सकता है, उस प्रकार अलङ्कारध्विन को नहीं कह सकते, क्योंकि अलङ्कारों की संख्या बहुत है । उसी कारण से कहा—प्रपद्म के साथ—।

तीसरा प्रभेद तो—। 'तो' ('तु') शब्द व्यितरेक में प्रयुक्त है। अभिप्राय यह कि वस्तु और अलङ्कार शब्द के द्वारा अभिषेय होते भी हैं, लेकिन रस, भाव, रसाभास, भावा-भास, भावप्रशम कभी-कभी शब्द के द्वारा अभिहित नहीं होते और केवल प्राण रूप में विद्यमान जो उनकी आस्वाद्यमानता है उसी के कारण वे प्रकाशित होते हैं। वहाँ व्वनन व्यापार को छोड़ कोई दूसरी कल्पना नहीं है। स्खलद्गितित्व के न होने से मुख्यार्थवाय आदि लक्षणा के कारणों की आशङ्का नहीं की जा सकती। औचित्यपूर्वक प्रवृत्ति के होने पर जब चित्तवृत्ति का आस्वाद होता है तब स्थायिनी चित्तवृत्ति से रस, व्यभिचारिणी से भाव, एवं (स्थायिनी चित्तवृत्ति से) अनौचित्य-पूर्वक प्रवृत्त होने पर रसाभास

हीं। नायिका किसी जार से अपना अधर खण्डित करा कर पहुँची है। यह स्वामाविक है कि उसका 'अपराध' प्रकट हो जायगा और उसका पति उस पर वेहद कुपित होगा। उसकी सखी ने उसे निरपराथ सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत 'वचन' कहा, जिसका व्यङ्गय उसके पति, सुनने वाले आस-पढ़ोस के छोग, सौत, स्वयं नायिका, चौर्यकामुक जार एवं तटस्थ विद्रुप्थ जन के प्रति विभिन्न रूप में प्रतीत होता है। नायिका की सखी उसके पति से यह कहना चाहती है कि इसका कोई अपराध नहीं है, अन्यथा समझ कर कहीं क्रोध मत कर बैठना । आस-पड़ोस के लोगों से उसके इस कथन का तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि यदि इसका पित इसे उपाछम्म मी दे तो भी इसका अविनय नहीं समझना चाहिए। सपली, जो नायिका के उपालम्म और अविनय से प्रसन्न है, के प्रति 'प्रियायाः' इस शब्द के वल सं नायिका का सौमाग्यातिशय ख्यापन व्यङ्गय है। नायिका के प्रति व्यक्तय है कि यह न समझना कि सपित्तयों के बीच वह इस तरह इल्की कर दी गई ही है बल्कि 'सहस्व' का दूसरा अर्थ यह है कि अब उनके वीच शोमा की प्राप्त कर । 'प्राक्टत' में 'सर्सु' का दूसरा रूप 'शोमस्त्र' भी हो सकता है। चौर्यकामुक के प्रति व्यक्त्य यह प्रतीत होता है कि आज तो किसी प्रकार प्रसन्नानुसगिणी तेरी इस प्रियतमा की रक्षा मेंने कर दीं, अव फिर कहीं स्पष्ट रूप से इसका अधर मत काट देना। तटस्थ सहृदय लोगों के प्रति इस नायिका-सखी का व्यङ्गय प्रतीत होता है कि मैंने सफेद झूठ वोड़ कर किस प्रकार जाहिर बात को छिपा दिया !

भावः, अनौचित्येन तदाभासः, रावणस्येव सीतायां रतेः । यद्यपि तत्र हास्यरसरूपतेव, 'शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यः' इति वचनात् । तथापि पाश्चात्येयं सामाजिकानां स्थितिः, तन्मयीभवनदशायां तु रतेरेवास्याद्यतेति शृङ्गारतेव भाति पौर्वापर्यविवेकावधारणेन 'दूराकर्षणमोहमन्त्र इव मे तन्नाम्नि याते श्रुतिम्' इत्यादो । तदसौ शृङ्गाराभास एव । तदङ्गं भावाभासश्चित्तवृत्तेः प्रशम एव प्रक्रान्ताया हृदयमाह्णाद्यति यतो विशेषेण, तत एव तत्संगृहीतोऽपि पृथगाणितोऽसौ । यथा—

एकस्मिन् शयने पराङ्मुखतया वीतोत्तरं ताम्यतो-रन्योन्यस्य हृद्दि स्थितेऽप्यनुनये संरक्षतोर्गौरवम् । दंपत्योः शनकैरपाङ्गवलनामिश्रीभवश्वक्षुषो-भूमो मानकलिः सहासरभसव्यावृत्तकण्ठप्रहम् ॥

इत्यत्रेर्घ्यारोघात्मनो मानस्य प्रशमः । न चायं रसादिरर्थः 'पुत्रस्ते जातः' इत्यतो यथा हर्षो जायते तथा । नापि लक्षणया । अपि तु सहृद्यस्य हृदयहोता है, जैसे रावण की सीता में रित से । यद्यपि वहां 'हास्यरस' का ही ढंग है, जैसा कि वचन है—'शृङ्गार से हास्य होता है'; तथापि यह सामाजिकों की पाश्चात्य (अन्त में होने वाली) स्थिति है । तन्मय होने की स्थिति में तो रित का ही आस्वाद होता रहता है, इस प्रकार शृङ्गारता ही भासित होती है, पौर्वापयं (क्रम) के विवेक के अभाव के कारण—जैसे 'दूर ही से आकर्षण करनेवाले मोहमन्त्र के समान उसके नाम के कणंगोचर होने पर॰' इत्यादि में । तो यह शृङ्गाराभास ही' है । उस (शृङ्गार आदि रसाभास का) अङ्ग जो भावाभास है, चित्तवृत्ति जब प्रशम की अवस्था में प्रकान्त होती है तभी विशेष रूप से हृदय को आङ्कादित करता है, इसी लिए 'भाव' शब्द से वह संगृहीत हुआ भी अलग से गणित है । जैसे—

'एक ही सेज पर एक दूससे से मुँह फेर छेने के कारण निद्रा के समाप्त हो जाने के बाद सन्तप्त होते हुए, परस्पर एक दूसरे के प्रति अनुनय उनके हृदय में मौजूद था, तब भी गौरव की रक्षा करते हुए पित और पत्नी के नेत्र जब घीरे से अपाङ्ग की ओर झुकने के कारण मिल गए, तभी उनका प्रणय-रोष भग्न हो गया और वे हँस कर वेग-पूर्वक एक दूसरे का कष्ठग्रह कर पड़े।'

यहाँ ईर्ष्या-रोष रूप मान का प्रशम है। यह रसादि अर्थ 'तुम्हें लड़का हुआ है' इस वाक्य के श्रवण से जैसे हर्ष होता है, उस प्रकार नहीं है। और न लक्षणा से (वह प्रकाशित होता है)। अपितु, सहृदय जनों के हृदय के संवाद के बल से

१. क्योंिक रावण की सीताविषयक रित जब सहृदयों की रित से तन्मयीभाव प्राप्त करेगी तब स्वार की चवणा होगी। तत्पश्चात उन्हें यह माल्स होगा कि यह रित अनुचित आलम्बन में हो रही है। तभो हास का उद्घोष होगा, तभी श्वकार की चवणा श्वकाराभास-चवणा का रूप छे छेगी।

ध्वन्यालोकः

तृतीयस्तु रसादिलक्षणः प्रभेदो वाच्यसामध्यीक्षिप्तः प्रकाशते, न
तु साक्षाच्छब्दव्यापारविषय इति वाच्याद्विभिन्न एव । तथा हि वाच्यत्वं
तस्य स्वशब्दिनवेदितत्वेन वा स्यात् । विभावादिप्रतिपादनश्रुखेन वा ।
पूर्वस्मिन् पक्षे स्वशब्दिनवेदितत्वाभावे रसादीनामप्रतीतिप्रसङ्गः ।

रसादिरूप तीसरा प्रमेद तो वाज्य की सामर्थ्य से आजिप्त हो प्रकाशित होता है, न कि वह साज्ञात् शब्द-व्यापार का विषय होता है, इसिएए वह भी वाज्य विभिन्न ही है। जैसा कि उसका वाज्यत्व अपने शब्दों से निवेदित होने के रूप से अथवा विभाव आदि के प्रतिपादन के द्वारा हो सकता है। पहले पन्न में यदि अपने शब्द (रस अथवा श्रङ्गार आदि नामों) के द्वारा निवेदित न होने पर रसादिकों की अप्रतीति का प्रसङ्ग होगा।

लोचनम्

संवाद्बलाद्विभावानुभावप्रतीतौ तन्मयीभावेनास्वाद्यमान एव रस्यमानतैकप्राणः सिद्धस्वभावसुखादिविलक्षणः परिस्फुरति । तदाह—प्रकाशत इति । तेन तत्र शब्दस्य व्वननमेव व्यापारोऽर्थसहकृतस्येति । विभावाद्यर्थोऽपि न पुत्रजन्म- हर्षन्यायेन तां चित्तवृत्तिं जनयतीति जननातिरिक्तोऽर्थस्यापि व्यापारो ध्वननभेवोच्यते । स्वशब्देति । शृङ्कारादिना शब्देनाभिधाव्यापारवशादेव निवेदित- त्वेन । विभावादीति । तात्पर्यशक्त्येत्यर्थः ।

विभाव-अनुभाव की प्रतीति होने पर तृन्मयीभाव के प्रकार से आस्वादित होता हुआ ही, सर्वथा रस्यमान रूप, सिद्ध स्वभाव वाला एवं सुखादिकों से विलक्षण (वह रसादि अर्थ) परिस्फुरित होता है। उसे कहा है—प्रकाशित होता है—। इससे वहां अर्थ-सहकृत शब्द का ध्वनन ही व्यापार है। पुत्रजन्म से हुए हर्ष के समान विभावादि अर्थ भी उस चित्तवृत्ति को उत्पन्न नहीं करता इस लिए 'जनन' से अतिरिक्त अर्थ का भी व्यापार 'ध्वनन' ही कहा जाना है। अपना शब्द—। 'श्वुङ्गार' आदि शब्द द्वारा अभिधा व्यापार के वश निवेदित होने के कारण। विभाव आदि—। अर्थात तात्पर्य-शक्ति के द्वारा।

१. रसादि अथं उत्पन्न नहीं होता ह बल्कि प्रकाशित होता है। सहदय के हृदय में स्थित रत्यादि स्थायीमान ही रस रूप में परिणत हो जाते हैं। स्थायीमानों की रस रूप में परिणित के पूर्व सहदय के हृदय का संवाद द्वारा जब विभाव आदि की प्रतीति हो जाती है तब तन्मयीमान होता है, यह सुखादि से विरुक्षण आस्मिक आनन्दानुभूति है।

उसके रहने पर कार्य हो, यह 'अन्वय' है (दे॰ पृ॰ ८२) और उसके अभाव में कार्य न हो यह 'ब्यतिरेक' है—'तत्सत्त्वे कार्यसत्त्वमन्वयः, तदभावे कार्यामावो ब्यतिरेकः।' प्रस्तुत में आचार्य आनन्दवर्धन ने स्वशब्द के अन्वयव्यतिरेक का निराकरण किया है अर्थात् 'श्रक्तार' आदि शब्द के रहने पर रसादि की प्रतीति नहीं होती है और उसके अभाव में भी रसादि की प्रतीति हो जाती है। किन्तु जहाँ ध्वनन ब्यापार होता है वहीं रसादि की प्रतीति होती है।

ध्वन्यालोकः

न च सर्वत्र तेषां स्वशब्दिनवेदितत्वम् । यत्राप्यस्ति तत्, तत्रापि विशिष्टविभावादिप्रतिपादनमुखेनैवेषां प्रतीतिः ।

स्वशब्देन सा केवलमनूद्यते, न तु तत्कृता विषयान्तरे तथा तस्या अदर्शनात ।

किन्तु सर्वत्र उन (ररादिकों) का अपने शब्दों द्वारा निवेदितत्व नहीं। जहाँ कहीं भी वह है, वहाँ भी विशेष प्रकार से विभाव आदि के प्रतिपादन के द्वारा ही उनकी प्रतीति है।

अपने शब्द से वह प्रतीति केवल अनूदित हो जाती है, उस (शब्द के बदौलत) कृत नहीं होती। क्योंकि विषयान्तर में उस प्रकार उसे नहीं देखते।

लोचनम्

तत्र स्वशब्दस्यान्वयव्यतिरेकौ रस्यमानतासारं रसं प्रति निराकुर्वन्ध्वन-नस्यैव ताविति दर्शयति—न च सर्वत्रेति । यथा भट्टेन्दुराजस्य—

यद्विश्रम्य विलोकितेषु बहुशो निःस्थेमनी लोचने
यद्गात्राणि दरिद्रति प्रतिदिनं छ्नाब्जिनीनालवत् ।
दूर्वोकाण्डविडम्बकश्च निविडो यत्पाण्डिमा गण्डयोः
कृष्णे युनि सयौवनासु वनितास्वेषैव वेषस्थितिः ॥

इत्यत्रानुभावविभावावबोधनोत्तरमेव तन्मयीभवनयुक्त्या तद्विभावानुभावो-चितचित्तवृत्तिवासनानुरश्चितस्वसंविदानन्दचर्वणागोचरोऽर्थो रसात्मा स्फुरत्ये-वाभिलाषचिन्तौत्सुक्यनिद्राष्ट्रतिग्लान्यालस्यश्रमस्मृतिवितर्कादिशब्दाभावेऽपि।

एवं व्यतिरेकाभावं प्रदश्यीन्वयाभावं दर्शयति-यत्रापीति । तदिति । स्वश-ब्दिनवेदितत्वम् । प्रतिपादनमुखेनेति । शब्द्प्रयुक्तया विभावादिप्रतिपस्येत्यर्थः ।

वहाँ स्वशब्द (म्युङ्गार आदि शब्द) के अन्वयव्यतिरेक को रस्यमानताप्राण रूप रस के प्रति, निराकरण करते हुए वे दोनों (अन्वय ओर व्यतिरेक) हैं यह दिखाते हैं—सर्वत्र वे शब्द द्वारा निवेदित नहीं होते हैं— । जैसे मट्ट इन्दुराज का—

'जो कि रुक-रुक कर विलोकनों में बहुत बार आंखें स्थेयंरहित हो जाती हैं, जो कि अङ्ग-अङ्ग कटे हुए कमिलिनी के नाल की भाँति प्रतिदिन सूखते जा रहे हैं, जो कि गालों पर दूर्वाकाण्ड का अनुकरण करने वाला घना पीलापन छाया हुआ है, युवक कृष्ण के प्रति युवतियों की यही वेषरचना है।'

यहाँ अनुभाव-विभाव के बोधन के बाद ही तन्मयीभाव की युक्ति से उस विभाव-अनुभाव के अनुरूप वासना रूप चित्तवृत्ति से अनुरक्षित स्वसंविदानन्द की चर्चणा का गोचर रस रूप अर्थ अभिलाष, चिन्ता, औत्सुक्य, निद्रा, धृति, ग्लानि, आलस्य, श्रम, स्मृति, वितकं आदि शब्द के अभाव में भी स्फुरित होता ही है। इस प्रकार व्यतिरेक का अभाव दिखाकर अन्वय का अभाव दिखाते हैं—जहाँ भी—। वह—। अर्थात् स्वशब्द द्वारा निवेदितत्व। प्रतिपादन के जरिए—। अर्थात् शब्द से प्रयुक्त विभाव की प्रतिपत्ति के द्वारा।

सा केवलिमिति । तथाहि— याते द्वारवर्ती तदा मधुरिवौ तद्दत्तमम्पानतां कालिन्दीतटरूढवञ्जुललतामालिङ्गच सोत्कण्ठया । तद्गीतं गुरुवाष्पगद्गदगलत्तारस्वरं राधया येनान्तर्जलचारिभिजलचरैरप्युत्कमुत्क्रुजितम् ॥

इत्यत्र विभावानुभावावम्लानतया प्रतीयते। उत्कण्ठा च चर्वणागोचरं प्रतिपद्यत एव। सोत्कण्ठाशब्दः केवलं सिद्धं साधयति, उत्कमित्यनेन तूकानुभावानुकर्षणं कर्तुं सोत्कण्ठाशब्दः प्रयुक्त इत्यनुवादोऽपि नानर्थकः, पुनरनुभाव-प्रतिपादने हि पुनरुक्तिरतन्मयीभावो वा न तु तत्कृतेत्यत्र हेतुमाह—विषायान्तर इति। 'यद्विश्रम्य' इत्यादौ। न हि यद्भावेऽपि यद्भवति तत्कृतं तदिति भावः।

वह केवल- । जैसा कि-

'कृष्ण के द्वारिका चले जाने पर उनके आस्फालनों के कारण फुकी हुई, कालिन्दी-तट में उत्पन्न वेतसलता को आलिङ्गन करके उत्कष्ठायुक्त राधा ने अधिक बाष्प के कारण गद्गद एवं स्खलित होती हुई आवाज में वह गान किया जिससे कि भीतर पानी में रहने वाले जीव उत्कष्ठित हो शब्द करने लगे ।'

यहाँ विभाव-अनुभाव अम्लान रूप से प्रतीत होते हैं और उत्कण्ठा चर्वणा का गोचर वनती है। 'सोत्कण्ठा' शब्द केवल सिद्ध का साधन करता है। 'उत्क' के द्वारा उक्त अनुभावों को खींचने के उद्देश्य से 'सोत्कण्ठा'' शब्द का प्रयोग है, इस लिए अनुवाद भी अनर्थक नहीं। क्योंकि पुनः अनुभाव के प्रतिपादन के होने पर पुनक्क्ति अथवा अतन्मयीभाव होगा। जो कि (वृत्तिग्रन्थ में) 'न तु तत्कृता' (उसके द्वारा नहीं की गई है) कहा है उसका हेतु कहते हैं—विषयान्तर में—। 'जो कि

१. 'याते द्वारवतीं' इस पद्य में विभाव का भी वर्णन है और अनुभाव का भी वर्णन है। मधुरिपु और कालिन्दीतट आदि यहाँ कमशः आलम्बन और उद्दीपन विभाव हैं। और साथ हो उत्कण्ठा भी चर्वणा का गोचर हो रहीं है। किन्तु यहाँ अम नहीं होना चाहिए कि उत्कण्ठा की प्रतीति स्वशब्द 'सोत्कण्ठा' से हो रहां है, बिक्त पूर्वसिद्ध उत्कण्ठा की प्रतीति का यह शब्द अनुवादक मात्र है अर्थात् यह केवल सिद्ध का साधन करता है। ऐसी स्थिति में अनुवाद को अनर्थक समझना ठोंक न होगा, क्योंकि कि ने आगे उत्कण्ठित होकर जलचारियों के कूजन का जिक्र किया है और पहले जो 'उत्कण्ठा' का प्रयोग करता है उससे दोनों स्थानों के अनुभावों का समन्वय कि का यहाँ अभीष्ट है। इसलिए आचार्य लिखते हैं कि आगे के 'उत्क' से उक्त अनुभाव के अनुकर्षणार्थ 'सोत्कण्ठा' शब्द का प्रयोग किया है। अन्यथा केवल पुनः अनुभाव का प्रतिपादन मात्र यहाँ कि को अभी माना जाय तो पुनरुक्ति होगी और तन्मयीभाव भी नहीं सिद्ध होगा। यह सारी बातें जिस तात्पर्य से कही गई हैं वह यह है कि स्वशब्द के साथ रसादि की प्रतीति के अन्वय-व्यितिक का अभाव है। प्रस्तुत में 'सोत्कण्ठा' रूप स्वशब्द के निवेदन होने पर भी उत्कण्ठा की प्रतीति लतालिक्तन आदि रूप अनुभाव के प्रतिपादन के द्वारा ही होती है। 'सोत्कण्ठा' शब्द केवल इस प्रतीति का अनुवादक मात्र है। यह अनुवाद भी, जैसा कि आवार्य का कहना है, अवर्थक नहीं।

ध्वन्यालोकः

न हि केवलशृङ्गारादिशब्दमात्रभाजि विभावादिप्रतिपादनरहिते काव्ये मनागिष रसवस्वप्रतीतिरस्ति । यतश्र स्वाभिधानमन्तरेण केवले-भ्योऽपि विभावादिभ्यो विशिष्टेभ्यो रसादीनां प्रतीतिः । केवलाच स्वाभिधानादप्रतीतिः । तस्मादन्वयव्यतिरेकाभ्यामभिधेयसामध्यीक्षि-सत्वमेव रसादीनाम् । न त्वभिधेयत्वं कथश्चित्, इति तृतीयोऽपि प्रभेदो वाच्याद्भिन्न एवेति स्थितम् । वाच्येन त्वस्य सहेव प्रतीति-रित्यप्रे दर्शयिष्यते ।

उस कान्य में, जहाँ केवल श्रङ्गार आदि शब्दमात्र प्रयुक्त हों और विभावादि का प्रतिपादन न हुआ हो, थोड़ी मात्रा में भी रसवत्ता की प्रतीति नहीं होती। क्यों कि स्वशब्द का अभिधान न हो तो भी केवल विशिष्ट विभाव आदि द्वारा रसादि की प्रतीति होती है। केवल स्वशब्द के अभिधान से प्रतीति नहीं होती। इस कारण अन्वय और न्यतिरेक के द्वारा रसादिकों का अभिधेय (वाच्य) के सामर्थ्य से आचिसत्व ही सिद्ध होता है, न कि किसी प्रकार अभिधेयत्व (वाच्यत्व) है। इस प्रकार तीसरा भी प्रभेद वाच्य से भिन्न ही है, यह ठहरा। वाच्य से इसकी साथ ही जैसी प्रतीति होती है, इसे आगे चलकर दिखायेंगे।

लोचनम्

अदर्शनमेव द्रढयति—न हीति । केवलशब्दार्थं स्फुटयति—विभावादीति । काव्य इति । तव मते काव्यरूपतया प्रसच्यमान इत्यर्थः । मनागपीति ।

श्रृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः । बीमत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ॥

इत्यत्र । एवं स्वशब्देन सह रसादेव्यतिरेकान्वयाभावमुपपत्त्या प्रदृश्यं तथैवोपसंहरति—यतश्रेत्यादिना कथिश्रीद्रत्यन्तेन । अभिषेयमेव सामध्यं सहकारिशक्तिक्षपं विभावादिकं रसध्वनने शब्दस्य कर्तव्ये, अभिषेयस्य च कक-रक करके इत्यादि स्थल में । भाव यह कि उसके अभाव में भी जो होता है वह उसके द्वारा किया नहीं जाता है। (विषयान्तर में होनेवाले) अदर्शन पर ही जोर देते हैं—न कि—। केवलं शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हैं—विभावादि—। काव्य में —। अर्थात् तुम्हारे मत में काव्य के रूप में प्रसज्यमान। थोड़ा भी—।

'श्रुङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स और अद्भुत नाम के ये आठ रस नाट्य में माने गए हैं।'

यहां। इस प्रकार स्वशब्द के साथ रसादि का व्यतिरेकाभाव और अन्वयाभाव उपपत्तिपूर्वक दिखाकर उसी प्रकार उपसंहार करते हैं—क्योंकि से लेकर—किसी प्रकार—तक के ग्रन्थ से। जब शब्द का रसम्बनन व्यापार कर्तव्य होगा तब

पुत्रजन्महर्षभिन्नयोगत्तेमतया जननव्यतिरिक्ते दिवाभोजनाभावविशिष्टपीन-त्वानुमितरात्रिभोजनविलक्षणतया चानुमानव्यतिरिक्ते ध्वनने कर्तव्ये सामध्ये शक्तिः विशिष्टसमुचितो वाचकसाकल्यमिति द्वयोरपि शब्दार्थयोध्वननं व्यापारः। एवं द्वौ पक्षावुपक्रम्याद्यो दूषितः, द्वितीयस्तु कथिबद्धद् दूषितः कथ-ब्रिट्कीकृतः, जननानुमानव्यापाराभिन्नायेण दूषितः, ध्वननाभिन्नायेणाङ्गीकृतः।

यस्त्वत्रापि तात्पर्यशक्तिमेव ध्वननं मन्यते, स न वस्तुतत्त्ववेदी । विभावानुभावप्रतिपादके हि वाक्ये तात्पर्यशक्तिभेदे संसर्गे वा पर्यवस्येत्; न तु रस्यमानतासारे रसे इत्यलं बहुना । इतिशब्दो हेत्वर्थे । 'इत्यिप हेतोस्तृतीयोऽपि
प्रकारो वाच्याद्वित्र एवे'ति सम्बन्धः । सहेवैति । इवशब्देन विद्यमानोऽपि क्रमो
न संलक्यत इति तद्दर्शयति—अप इति । द्वितीयोहकोते ।। ४ ।।

अभिषेय (वाच्य अर्थ) ही सामर्थ्य सहकारिशक्ति रूप विभाव त्रादि होगा। और जब अभिषेय का घ्वनन रूप कार्य होगा, ऐसी स्थित में पुत्रजन्म के हर्ष से भिन्न होने के कारण जो घ्वनन होगा वह उत्पत्ति से अतिरिक्त होगा, तथा दिन में भोजनाभावविशिष्ट पीनत्व द्वारा अनुमित रात्रिभोजन से विलक्षण होने के कारण अनुमान' से भी घ्वनन व्यापार अलग होगा, फिर सामर्थ्य अर्थात् शक्ति, विशिष्ट एवं समुचित अर्थात् वाचक से परिपूर्णत्व रूप सिद्ध होती है। इसलिए घ्वनन व्यापार शब्द और अर्थ दोनों का है। इस प्रकार दो पक्षों को उपक्रम करके पहले पक्ष को दूषित किया और कुछ अंश में अङ्गीकार किया। जनन (उत्पत्ति) और अनुमान के व्यापार के अभिप्राय से दूषित किया और 'घ्वनन' के अभिप्राय से अङ्गीकार किया।

जो कि यहाँ 'तात्पर्य-शक्ति' को 'घ्वनन' मानता है वह वस्तुतत्त्व (यथार्थ) को जानने वाला नहीं है, क्योंकि विभावानुभाव के प्रतिपादक वाक्य में तात्पर्य-शक्ति भेद में अथवा संसर्ग में पर्यवसित होगी, न कि रस्यमानतासार रस में। इस पर अब ज्यादा कहना व्यर्थ है। 'इति' (इस प्रकार) शब्द हेत्वर्थंक है। सम्बन्ध यह है कि इस हेतु से भी तीसरा प्रकार भी वाच्य से भिन्न ही ठहरता है। 'साथ की तरह'—। 'इव' ('तरह') शब्द के द्वारा यह दिखाते हैं कि रहता हुआ भी कम संलक्षित नहीं होता—आगे—। दूसरे उद्योत में।

१. वृत्तिग्रन्थ में रसादि को जो अभिधेय के सामर्थ्य से आश्विप्त कहा है वह सर्वथा ध्वनन व्यापार से ही गम्य है। जब शब्द से रस का ध्वनन होता है तब अभिधेय या वाच्य ही विभावादि रूप से सहकारि शक्ति रूप सामर्थ्य होता है और इससे होने वाला ध्वनन न तो पुत्रजन्म से उत्पन्न हर्प जैसा उत्पन्न होता है और न तो उसे दिन के मोजन के अभाव में रात्रि के मोजन के अनुमान जैसा अनुमान कहा जा सकता है। ध्वनन शब्द और अर्थ दोनों का व्यापार है। इस प्रंकार आचार्य ने यहाँ रसादि का शब्द-शब्दनिवेदितत्व को दूषित किया है और विभावादि प्रतिपादन के ढंग को जनन और अनुमान के अभिप्राय से दूषित करके भी ध्वनन के अभिप्राय से स्वीकार किया है, क्योंकि ध्वनन इन दोनों से भिन्न व्यापार है।

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा। क्रौश्रद्धन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥ ५॥

काव्य का आरमा वहां अर्थ है, जैसा कि पुराकाल में क्रौद्ध-पत्ती के जोड़े के वियोग से उत्पन्न शोक आदिकवि का श्लोक बन गया॥ ५॥

लोचनम्

एवं 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव' इतीयता ध्वनिस्वरूपं व्याख्यातम् । अधुना काव्यातम्त्वमितिहासव्याजेन च दर्शयति—काव्यस्यात्मेति । स एवेति प्रतीय-मानमात्रेऽपि प्रकानते तृतीय एव रसध्वनिरिति मन्तव्यम् , इतिहासबलात् प्रकानतवृत्तिप्रन्थार्थबलाच । तेन रस एव वस्तुत आत्मा, वस्त्वलङ्कारध्वनी तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्यते इति वाच्यादुत्कृष्टौ तावित्यभिप्रायेण 'ध्वनिः काव्यस्यात्मे'ति सामान्येनोक्तम् । शोक इति । क्रौद्धस्य द्वन्द्ववियोगेन सहचरी-

इस प्रकार 'प्रतीयमान फिर दूसरा ही' इतने से घ्वनि के स्वरूप का व्याख्यान किया। अब घ्वनि का काव्यात्मत्व इतिहास के व्याज से दिखाते हैं—काव्य का आत्मा—। 'वही' यह (कथन) यद्यपि प्रतीयमान मात्र में प्रकान्त है तथापि तीसरा 'रसघ्वनि' ही (काव्यात्मा) रूप मन्तव्य है। एक तो इतिहास के बल से और दूसरे प्रकान्त वृत्तिग्रन्थ के अर्थ के बल से। इस लिए रस ही वस्तुतः आत्मा है, वस्तुघ्वनि और अलङ्कार-घ्वनि सर्वेषा रस के प्रति पर्यवस्तित होते हैं अतः वे वाच्य से उत्कृष्ट हैं। इस अभिप्राय से 'घ्वनि काव्य का आत्मा है' यह सामान्य रूप से कहा है। क्षोक—। क्रीख के इन्द्रवियोग से अर्थात् सहचरी क्रीखी के मारे जाने से, साहचर्य

वाच्य-सामर्थ्य से आक्षिप्त होते हैं, तो ऐसा क्यों न माना जाय कि 'ध्वनन' तास्पर्य शक्ति ही है। इस प्रकार चतुर्थं कक्षा में रहने वाले अतिरिक्त व्यापार की कल्पना का गौर्व नहीं करना पड़ता है ? क्योंकि तात्पर्य शक्ति वहीं है जो अभिषेय या वाच्य के अविनाभाव की सहायता से अर्थबोषन की शक्ति है। इस पर आचार्य का कहना है कि जैसा हम पहले कह चुके हैं तात्पर्य शक्ति या तो भेद में पर्यवसित होती है, अर्थात् कर्मान्तर और क्रियान्तर के भेद रूप वाक्यार्थ में पर्यवसित होती है, अर्थात् परस्पर पदार्थों के संसर्थ में पर्यवसित होती है और रस को सर्वथा आस्वाद्यमान रूप है ऐसी स्थिति में उसका रस में पर्यवसान असम्भव है। इस प्रकार अन्वय-अतिरेक्ष के अतिरिक्त यह भी एक हेतु है जिससे रसादि तृतीय प्रकार वाच्य से सर्वथा भिन्न ही ठहरता है।

वाच्य की प्रतीति और रसादि रूप व्यक्तय की प्रतीति कुछ इस शीव्रता से होती है जिससे उन दोनों का क्रम अभिकक्षित नहीं होता। इसिक्षण रसादि को 'असंकक्ष्यक्रमन्यक्तय' कहा गया है। इसी दिए दृत्तिकार ने वाच्यादि के साथ इसकी प्रतीति 'साथ की तरह' होती है यह कहा है। ऐसा नहीं कि वाच्यादि के साथ रस की प्रतीति होती है। यह विषय 'द्वितीय उद्योत' में निर्दिष्ट होगा।

हननोद्भूतेन साहचर्यध्वसनेनोत्थितो यः शोकः स्थायिभावो निरपेश्वभावत्वा-द्विप्रलम्भशृङ्गारोचितरतिस्थायिभावाद्न्य एव, स एव तथाभूतविभावतदुत्था-क्रन्दाद्यनुभावचर्यणया हृद्यसंवादतन्मयीभवनक्रमादास्वाद्यमानतां प्रतिपन्नः करुणरसरूपतां लौकिकशोकव्यतिरिक्तां स्वचित्तदुतिसमास्वाद्यसारां प्रतिपन्नो रसपरिपूर्णकुम्भोचलनविच्चतृत्तिनःष्यन्दस्वभाववाग्विलापादिवच्च समयानपेश्व-त्वेऽपि चित्तवृत्तिव्यञ्जकत्वादिति नयेनाकृतकतयैवावेशवशात्समुचितशब्दच्छ-न्दोवृत्तादिनियन्त्रितस्रोकरूपतां प्राप्तः—

(साथ) के ब्वंस हो जाने के कारण उत्पन्न जो शोक रूप स्थायीभाव, निरपेक्षभाव होने के कारण विप्रलम्भ श्रुङ्गार के उचित रित रूप स्थायीभाव से अतिरिक्त ही है। वही (शोक) उस प्रकार के विभाव और उससे उत्पन्न आकन्द आदि अनुभाव की चवंणा द्वारा, हृदय के संवाद और फिर तन्मयीभाव के कम से आस्वाद्यमान अवस्था को प्राप्त, लोकिक शोक के अतिरिक्त, चवंियता के अपने चित्त की दृति के द्वारा समास्वाद्य-सार करूणरसरूपता को प्राप्त, जैसे जल से भरा घड़ा झलकता है और जैसे चित्तवृत्ति के निष्यन्द रूप वाग्विलाप आदि होते हैं उसी प्रकार 'समय' (शब्द के सङ्केत) की अपेक्षा न रखने पर भी (वचन) चित्तवृत्ति के व्यव्यक्त होते हैं इस न्याय से अकृत्रिम रूप से ही, आवेश के कारण, समुचित शब्द, छन्द, वृत्त आदि से नियन्त्रित हुआ, 'श्लोक' की अवस्था को प्राप्त होता हैं —

तामभ्यगच्छद् रुदितानुसारी कविः कुशेष्माहरणाय यातः। निपादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमाप्यत यस्य शोकः॥

प्रस्तुत में आचार्य ने 'रस' को काच्य का आत्मा सिद्ध करने के उद्देश से स प्रसंग का उल्लेख किया है। लोचनकार ने इस प्रसंग का जो व्याख्यान किया है उसका स्पष्टीकरण यह है— यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि निप्रलम्म शृङ्गार का स्थायीमान रित तन होती है जन नायक-नायिका दोनों निधमान रहते हैं, केवल दोनों का एकमिलन न सम्पन्न होने के कारण दोनों में सापेक्षता रहती है अर्थात् निप्रलम्म शृङ्गार की रित सापेक्ष मान है। इसके निपरीत शोक रूप स्थायीमान में ओलम्बन निमान नायिका और नायक में कोई एक दिवङ्गत हो जाता है और पुनर्मिलन की आशा समाप्त हो जाती है अर्थात् शोक रूप स्थायीमान निरपेक्ष होता है। प्रस्तुत पर्ध 'मा निपाद' में कोच्च के जोड़े में से एक व्याध के नाण से मारा गया है इस प्रकार साहचर्य के ध्वंस होने से यहाँ निप्रलम्म शृङ्गार का स्थायीमान रित न होकर करण का स्थायी भाव शोक ही माना गया है।

१. 'शोक क्षोक की अवस्था को प्राप्त है' आचाये आनन्दवर्धन का यह निर्देश एक ऐतिहासिक घटना को सूचित करता है, जो 'वाल्मीकीय रामायण' से विदित होती है। किसी समय वाल्मीकि अपने आश्रम से समित्कुशाहरण के छिए निकल कर वनप्रान्त में घूम रहे थे। तभी उन्होंने व्याप्त के द्वारा वाण से विधे एक कौझ को देखा, जिसके वियोग-व्यथा से व्याकुल होकर कौझी अत्यन्त कातर होकर चिछा रही थी। तत्काल ऋषि के मुख से शापशुक्त छन्शेमयी वाणी निकल पढ़ी, जो निर्दिष्ट 'मा निषाद' के रूप में प्रसिद्ध है। इसे ही 'शोकः। क्षोकत्वमागतः' कहा गया है। महाकिव कालिदास ने भी 'रघुवंश महाकाव्य' के चौदहवें सगे में इस घटना का स्मरण किया है—

.मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः । यत्कौद्धमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥ इति ।

न तु मुनेः शोक इति मन्तव्यम् । एवं हि सति तद्दुःखेन सोऽपि दुःखित इति कृत्वा रसरयात्मतेति निरवकाशं भवेत् । न च दुःखसन्तप्तस्येषा दशेति । एवं चर्वणोचितशोकस्थायिभावात्मककृषणरससमुञ्चलनस्यभावत्वात्स एव काव्यस्यात्मा सारभूतस्यभावोऽपरशाब्दवैलक्षण्यकारकः ।

एतदेवोक्तं हृदयदर्पणे—'यावत्पूर्णो न चैतेन तावन्नैव वमत्यमुम्' इति । हि व्याघ, काम से मोहित कौञ्च पक्षी के जोड़े में से एक को तू ने मार डाला है

इसलिए अनन्तकाल तक प्रतिष्ठा को प्राप्त न हो।'

न कि मुनि का शोक है यह मानना चाहिए । क्योंकि ऐसा होने पर उस (क्रीक्च) के दुःख से वह भी दुखित हो जाते हैं, फिर रसात्मकता की वात नहीं बनेगी। दुःख से जो प्राणी सन्तप्त हो उसकी ऐसी दशा (कि शाप देने के लिए क्लोक का निर्माण करे) नहीं होती। इस प्रकार चवंणा के योग्य शोकरूप स्थायीभाव वाले करुणरस से प्रवाहित हैं ने के स्वभाव के कारण वहीं काव्य का आत्मा अर्थात् सारभूतस्वभाव एवं दूसरे शाब्दबोब से वैलक्षण्य करने वाला है।

'हृदयदर्पण' में इसे ही कहा है— 'जब तक इस रस से भर नहीं जाता तव तक

यहाँ को ब्र रूप आलम्बन में उत्पन्न शोक आकृत्यन आदि अनुमानों की चनणा से अलीकिक स्थिति में हृदय-संनाद और तन्मयीमान के क्रम से आ जाता है। इस प्रकार ऋषि ने उस अलीकिक शोक को चित्त की द्रुति द्वारा आस्वादन किया। यह आस्वादन उस शोक का परिवर्तित रूप 'करुण रस' ही है। इस प्रकार जब ऋषि ने करुण रस का अनुमन किया तभी उनके मुख से छन्दोमयी नाणी अनायास निकल पड़ी, यह उसी प्रकार हुआ जैसे दी भरा हुआ घड़ा छलक पड़ता है अथना जैसे दुःख आदि की चित्तवृत्ति के होने पर अनायास नुंह से शब्द निकल पड़ते हैं। इस प्रकार शोक करुण रस की स्थिति में पहुँच कर क्षीक बन गया।

क्रोझ वाल्मीकि | | शोक (छौकिक) शोक (अछौकिक) | | (इदयसंवाद और तन्मयीमाव) | | करुणरस

१. आचार्य का यह भी निर्देश है कि शोक को अम से मुनि का नहीं समझ छेना चांहिए। अन्यथा क्रीश्च के दुःख से सन्तांत ऋषि के मुख से इस प्रकार श्लोक-रचना अस्वाभाविक प्रतीत होती है। अतः वह शोक वस्तुतः ऋषि के द्वारा आस्वाधमान होकर अछौकिक हो गया और ऋषि ने चित्तद्वृति के द्वारा उसे करुण रस की स्थिति में अनुभव किया, जो सर्वथा आनन्दमयता की स्थिति है। इस प्रकार इस युक्ति से करुण रस ही प्रस्तुत छन्दोमयी वाणी का सार होने के कारण आव्य का आस्था निश्चित होता है।

विविधवाच्यवाचकरचनाप्रपञ्चचारुणः काव्यस्य स एवार्थः सारभूतः । चादिकवेर्वाटमीकेः निहतसहचरीविरहकातरक्रौश्चाक्रन्द-जनितः शोक एव श्लोकतया परिणतः ।

विविध वाच्य, वाचक और रचना के प्रपन्न से सुन्दर कान्य का वही अर्थ सारभूत है। जैसा कि आदिकवि वालमीकि का निहत सहचरी के वियोग से कातर क्रौन्न की चीख (आक्रन्द) से उत्पन्न शोक ही श्लोकरूप से परिणत हो गया।

लोचनम्

अगम इति च्छ्रान्दसेनाडागमेन । स एवैत्येवकारेगोदमाह—नान्य आत्मेति । तेन यदाह भट्टनायकः—

शब्दप्राधान्यमात्रित्य तत्र शास्त्रं पृथग्विदुः । अर्थतत्त्वेन युक्तं तु वदन्त्याख्यानमेतयोः ॥ द्वयोर्गुणत्वे व्यापारप्राधान्ये काव्यधीर्मवेत् ।

इति तद्पास्तम् । व्यापारो हि यदि ध्वननात्मा रसनास्वभावस्तन्नापूर्व-मुक्तम् । अथाभिधैव व्यापारस्तथाप्यस्याः प्राधान्यं नेत्यावेदितं प्राक् ।

स्रोकं व्याच्छे—विविधेति । विविधं तत्तद्भिव्यञ्जनीयरसानुगुण्येन विचित्रं कृत्वा वाच्ये वाचके रचनायां च प्रपञ्जेन यज्ञारु शब्दार्थोलङ्कारगुण्युक्त- उसे वमन नहीं करता है।' (बाल्मीकि के पद्य में) 'अगमः में वैदिक नियमानुसार अडागम हुआ है। 'वही' इस 'एव' ('ही') कहने से यह कहा है—दूसरा आत्मा नहीं है। इस लिए जो कि 'भट्टनायक' कहते हैं—

'शब्द के प्राधान्य का आश्रयण करके शास्त्र को अलग मानते हैं, अर्थतत्त्व से युक्त को 'आख्यान' कहते हैं और इन दोनों (शब्द-अर्थ) के गुणीभूत होने की स्थिति

में व्यापार का प्राधान्य होने पर काव्य की घी होती है।

वह निरस्त हो जाता है। यदि घ्वनन रूप व्यापार रसना-स्वभाव है आपने अपूर्व नहीं कहा। यदि अभिषा ही व्यापार है तथापि उसका प्राधान्य नहीं है, यह पहले बताया जा चुका है।

रलोक की व्याख्या करते हैं — विविध — । विविध अर्थात् उस-उस अभिव्यव्जनीय रस के आनुगुण्य से विचित्र बनाकर, वाच्य, वाचक और रचना में प्रपञ्च जो चार

१. बाल्मीकि रामायण' में उल्लिखित 'क्रीब्रवध' घटना के अनुसार क्रीब्र के जोड़े में से नर क्रीब्र का ही वध निर्दिष्ट है और उसके वियोग में क्रीब्री रुदन करती है—'तं शोणितपरीताक चेष्टमानं महीतले । दृष्ट्वा क्रीब्री रुरोदार्ता करुणं खे परिश्रमा ॥' प्रस्तुत प्रन्थ में क्रीब्रयुगल में सहचरी के वध और क्रीब्र के आकृत्य का उल्लेख है, इतना ही नहीं, 'लोचन' से भी सहचरी सहचरी का वध और होता है। साथ ही 'काल्यमीमांसा' में राजशेखर ने भी 'निषादनिहतसह-क्रीब्री का वध ही सिद्ध होता है। साथ ही 'काल्यमीमांसा' में राजशेखर ने भी 'निषादनिहतसह-चरीकं क्रीब्रयुगनम्' उल्लेख द्वारा क्रीब्री का वध माना है। यहाँ यह प्रक्ष उठना स्वामाविक है चरीकं क्रीब्रयुगनम्' उल्लेख द्वारा क्रीब्री का वध माना है। यहाँ यह प्रक्ष उठना स्वामाविक है

मित्यर्थः । तेन सर्वत्रापि ध्वननसङ्गावेऽपि न तथा व्यवहारः । आत्मस-द्भावेऽपि कचिदेव जीवव्यवहार इत्युक्तं प्रागेव। तेनैतन्निरवकाशम्; यदुक्तं हृद्य-द्पीं — 'सर्वत्र तर्हि काव्यव्यवहारः स्यात्' इति । निहतसहचरीति विभाव उक्तः । श्राक्रन्दितशब्देनानुमावः । जनित इति । चर्वणागोचरत्वेनेति शेषः ।

अर्थान् शब्द और अर्थ के अलब्क्कार और गुणों से युक्त है। इस लिए सर्वत्र ध्वनन के होते हुए भी काव्य का व्यवहार नहीं होता है। पहले ही कह चुके हैं कि आत्मा के सद्भाव में भी कहीं-कहीं पर ही 'जीव' का व्यवहार होता है। इस लिए इस बात का कोई अवकाश ही नहीं जो कि 'हृदयदर्पण' में कही गई है—'तब तो सर्वत्र काव्य का व्यवहार होगा।' 'निहतसहचरी' के द्वारा विभाव कहा है, 'आक्रन्दित' से अनुभाव। उत्पन्न—। शेप यह कि चर्वणा के गोचर होने से।

कि यदि वृत्तिकार, कोचनकार एवं राजशेखर तीनों ने यह जानते हुए कि 'रामायण' में क्रीब्र के हो वध का निर्देश हैं, प्रस्तुत में जो विरुद्धार्थ का प्रतिपादन किया है, उसमें निमित्त क्या है ?

दीथितिकार ने मूल वृत्तिग्रन्थ और छोचन का पाठ ही परिवर्तित कर दिया है, उनका पाठ है—'निइतसहचर-विरहकौञ्च्याक्रन्दजनितः ।' परन्तु कुछ लोगों ने क्विष्ट समास करके मूल का परिवर्तन न करते हुए भी न्याख्यान किया है जिससे उनका अभिमत क्रौच्च का वध और क्रौच्ची का आक्रन्द सिद्ध हो जाता है, इसके अनुसार—'निहतः सहचरीविरहकातरः यः क्रीञ्चः तदुहेश्यकः क्रोज्जीकर्त्को यः आकन्दः तब्जनितः' होगा। इस प्रकार रामायण का विरोध भी नहीं होता और न यथास्थित मूळ का परिवर्तन ही करना पढ़ता है। कुछ विद्वानों का तीसरा पक्ष यह है कि क्यों न यहां माना जाय कि रामायण का विरोध होने पर भी थथास्थित मूल का पाठ ही ठीक है ? यह इस लिए भी कह सकते हैं कि ध्वन्याबोक और बोचन की प्रायः सभी प्रतियों में देसा ही पाठ मिलता है। उसे सबैथा 'गलत' करार देना ठीक नहीं कहा जा सबता। दूसरे, उपपत्ति यह मिलती है कि 'ध्वन्यालोक' प्रन्थ प्रधान रूप से ध्वनि का प्रतिपादन करता है, अतः इसे ध्वन्यर्थं ही अभिन्नेत है। 'मा निषाद०' का भी ध्वन्यर्थं है कि 'हे निपाद! (रावण!) राम और सीता के जोड़े में से एक को (अर्थात् सीता को) जो तू ने वध किया (बल्कि वंध से भी अधिक पीड़ादी) उस कारण तू (रुक्का में अधिष्ठान रूप) प्रतिष्ठाको न प्राप्त कर।' तो, नहीं स्त्रीकार किया जाय कि ध्वन्याछोककार ने जानवृझ कर रामायण की घटना की अपने अनुकूल ढालकर. ध्वन्यर्थ के उचित यह उदाहरण प्रस्तुत किया है! यह ध्वन्यर्थ 'रामायण' के प्राचीन टीकाकारों के अनुसार एवं करुण रस के अनुकूछ है। अतः यह पक्ष बहुत अंश में मन्तव्य

१. यह तो सिद्धान्त, ही है कि ध्विन काव्य का आत्मा है, सारभूत तस्त्र है। किन्तु सारभूत उस ध्विन तस्त्र के रहने मात्र से काव्य की पूर्णता नहीं होती, किन्तु उसके साथ ही उस काव्य को अभिव्यक्षनीय रसं के आनुगुण्य से वाच्य, वाचक और रचना के प्रपन्न से 'चार' होना चाहिए। तात्पर्य यह है कि रस के अनुकूल शब्द और अर्थ के अलङ्कार और गुण का भी वहाँ योग होना चाहिए। अन्यथा ध्विन तो विलकुल साधारण किसी वाक्य में भी हो सकता है, ऐसी स्थिति में सर्वत्र 'ध्विन' के व्यवहार की आपित्त का वारण नहीं हो सकता। जैसा कि लोक में भी देखते हैं कि आत्मा के सद्भाव होने पर भी जीव का व्यवहार सर्वत्र नहीं, विलक कहीं-कहीं पर ही होता है। वहीं स्थिति प्रस्तुत में समझनी चाहिए। इसी उद्देश्य से मूल वृत्तिग्रन्थ में 'काव्य' के विशेषण रूप में 'विविधवाच्यव्यचक-रचनाप्रपञ्चचार' कहा है।

शोको हि करुणस्थायिभावः । प्रतीयमानस्य चान्यभेददर्श-नेऽपि रसभावमुखेनैवोपलक्षणं प्राधान्यात् ।

शोक करुण का स्थायीमाव है। प्रतीयमान के अन्य भेदों के रहते हुए भी प्राधान्य के कारण रस और भाव द्वारा ही उनका उपलक्षण (बोधन) है।

लोचनम्

यदि शोक की चर्वणा से क्लोक उद्भूत हुआ तो प्रतीयमान (रसहप) वस्तु 'काव्य का आत्मा' कैसे है ? यह आशक्का करके कहते हैं—शोक । उस (शोक) की चर्वणा के विषय रूप करुण का स्थायीभाव । शोक के स्थायीभाव होने पर जो विभाव, अनुभाव हैं उनके समुचित चित्तवृत्ति चर्व्यमाण रूप रस हो जाती है, इस औचित्य के बल से स्थायीभाव रस की अवस्था को प्राप्त करता है, ऐसा कहा जाता है । पहले अपने में संविदित (अनुभूत) और दूसरे में अनुमित चित्तवृत्तिसमूह संस्कार के कम से हृदय-संवाद को प्राप्त करता हुआ चर्वणा' में उपयोगी होता है । जब कि प्रतीयमान रूप आत्मा है, उसमें तीन मेदों का प्रतिपादन हुआ है न कि एकमात्र रस रूप प्रतीयमान (ही प्रतिपादित है) और इस इतिहास से रस का ही आत्मभूतत्व कहा गया है, यह आशक्का करके अम्युपगम द्वारा ही उत्तर कहते हैं— प्रतीयमान के— । अन्य भेदै अर्थात् वस्तु और अलङ्कार रूप भेद । 'भाव ' के ग्रहण से चर्वणा के गोचर व्यभिचारीभाव की उतने मात्र में विभान्ति न होने पर भी, स्थायी-

१. 'चवणा' एक पुनः पुनः आस्वादन रूप अलोपेक व्यापार हं। इसा के द्वारा चित्तवृत्ति का रसानुभृति की अवस्था में आस्वादन होता है। इसके पूर्व चित्तवृत्ति हृदय-संवाद की स्थिति में आकर तन्मयीभाव को प्राप्त करती है। तभी उसकी 'चवणा' होती है। यह प्रसंग पहले भी आ चुका है।

२. रस के साथ भाव के उल्लेख का तात्पर्य यह है कि भाव के व्यक्षित होने पर भी कान्यात्मत्व सुरक्षित रहता है। यद्यपि व्यभिचारी भाव, चर्वणा की स्थिति में न तो स्वरूप मात्र में विश्नान्त होगा और न रस की प्रतिष्ठा को, जो स्थायी भाव की चर्वणा से प्राप्त होती है, प्राप्त करेगा। तथापि उस व्यभिचारी भाव की चर्वणा से भी चमत्कार अवश्य होता है इस लिए भाव आदि भी संप्राह्य हैं।

सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम् । अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविद्योषम् ॥६॥

उस स्वादु (रसस्वभावरूप) अर्थ वस्तु को प्रवर्तित करती (प्रवाहित करती) हुई महाकवियों की सरस्वती (वाणी) अलौकिक, परिस्फुरित होते हुए प्रतिभा-विशेष को अभिन्यक्त करती है॥ ६॥

लोचनम्

व्यभिचारिणोऽपि चर्व्यमाणस्य तावन्मात्राविश्रान्तावपि स्थायिचर्वणापर्यव-सानोचितरसप्रतिष्ठामनवाप्यापि प्राणत्वं भवतीत्युक्तम् । यथा—

नखं नखाप्रेण विघट्टयन्ती विवर्तयन्ती वलयं विलोलम् । आमन्द्रमाशिक्षितनूपुरेण पादेन मन्दं भुवमालिखन्ती ॥

इत्यत्र लज्जायाः। रसभावशब्देन च तदाभासतत्प्रशमाविष संगृहीतावेवः अवान्तरवैचित्र्येऽपि तदेकरूपत्वात्। प्राधान्यादिति। रसपर्यवसानादित्यर्थः। तावन्मात्राविष्ठान्ताविप चान्यशाब्द्वैलक्षण्यकारित्वेन वस्त्वलङ्कारध्वनेरिप जीवितत्वमौचित्यादुक्तमिति भावः॥ ४॥

एवमितिहासमुखेन प्रतीयमानस्य काव्यात्मतां प्रदर्श्यं स्वसंवित्सिद्धमप्येत-दिति दर्शयति—सरस्वतीति । वाग्ह्यां भगवतीत्यर्थः । वस्तुशब्देनार्थशब्दं तत्त्वशब्देन च वस्तुशब्दं व्याचष्टे—निःष्यन्दमानेति । दिव्यमानन्दरसं स्वयमेव प्रस्तुवानेत्यर्थः । यदाह भट्टनायकः—

भाव की चर्वणा के पर्यवसान रूप उचित रस की प्रतिष्ठा को न प्राप्त करके भी प्राणत्व वन जाता है, यह कहा है। जैसे—

'नख को नखाग्र से लिखती, चंचल वलय को घुमाती और गम्भीर स्वर में बजते नूपुरों से युक्त अपने पैर से धीरे-धीरे जमीन पर लिखती हुई ।'

यहाँ लज्जा का। 'रसमाव' शब्द से उनके आभास और प्रशम भी संगृहीत ही हुए; क्योंकि अवान्तर वैचित्र्य होने पर भी वे एक ही रूप के हैं। प्राधान्य से—। अर्थात् रस में पर्यवसान से। भाव यह कि वस्तु अलङ्कार के स्वरूप मात्र में विश्वान्ति के न होने पर भी दूसरे शब्द से वैलक्षण्यकारी होने के कारण वस्तुष्विन और अलङ्कार ष्विन का भी जीवितत्व औचित्य से कहा है।

इस प्रकार इतिहास के प्रकार से 'प्रतीयमान' का काव्यात्मत्व प्रदिशत करके (सहृदय जनों के) अपने अनुभव से भी सिद्ध है' यह दिखाते हैं—सरस्वती—। वस्तु' शब्द से 'अर्थ शब्द की और 'तत्त्व' शब्द से 'वस्तु' शब्द की व्याख्यां करते हैं'—प्रवाहिन करती हुई—। अर्थात् दिव्य आनन्द को स्वयं ही प्रस्तुत करती हुई। जैसा कि भट्टनायक ने कहा है—

१. कारिकाग्रन्थ में 'अर्थवस्तु' का प्रयोग है और वृत्तिग्रन्थ में उसको व्याख्या 'वस्तु' शब्द से

वाग्वेनुदुंग्ध एतं हि रसं यद्बालतृष्णया।
तेन नास्य समः स स्याद् दुद्यते योगिभिर्हि यः।।
तदावेशेन विनाप्याकान्त्या हि यो योगिभिर्दुद्यते । अत एव—
यं सर्वशैलाः परिकल्प्य वत्सं मेरौ स्थिते दोग्धरि दोहदत्ते।
भास्वन्ति रत्नानि महौधधीश्च पृथुपदिष्टां दुदुहुर्धरित्रीम्।।

इत्यनेन साराप्रचवस्तुपात्रत्वं हिमवत उक्तम्। 'अभिव्यनक्ति परिस्फु-रन्तिम'ति । प्रतिपत्तृन् प्रति सा प्रतिभा नानुनीयमाना, अपि तु तदावेशेन भासमानेत्यर्थः । यदुक्तमस्मदुपाध्यायभट्टतीतेन—'नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः।' इति । 'प्रतिभा' अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञाः तस्या

(सहदय जन रूप) वत्स में स्नेह के कारण वाणीरूप धेनु इस रस को जो कि प्रस्तुत करती है, इस लिए इसके समान वह (रस) रस नहीं हो सकता जिसे योगी लोग दुहा करते हैं।'

जिसे योगी लोग रसावेश के विना ही केवल बलात्कारपूर्वक दुहा करते हैं। अत एव⁹—

'दोहन कार्य में चतुर दुहने वाले मेरुपर्वत के विद्यमान रहने पर सारे पर्वतों ने जिस हिमालय को वत्स बनाकर पृथु के द्वारा प्रदर्शित पृथिवी से प्रदर्शित चमकदार रत्नों और महौषिधयों का दोहन किया।'

इससे सारवस्तुओं का पात्रत्व हिमवान् का कहा है। 'परिस्फुरित होते हुए को अभिव्यक्लित करती है।' अर्थात् प्रतिपत्ता (सहृदय) जनों के प्रति वह प्रतिमा अनुमीयमान नहीं होती, बल्कि उसके (प्रतिमा के विषयीभूत रस के) आवेश से मासित होता है। जैसा कि हमारे उपाच्याय भट्ट तौत ने कहा है—'नायक, किव और श्रोता का उससे (उस कारण) समान अनुभव होता है।' अपूर्व वस्तु के निर्माण में समर्थ प्रज्ञा 'प्रतिभा' (कहलाती) है, उसका 'विशेष' रसावेश के कारण

की गई है। छोचनकार का कहना है कि 'वस्तु' शब्द 'अर्थ' की व्याख्या है और 'तत्त्व' शब्द 'वस्तु' की व्याख्या है। तात्पर्य यह कि वस्तु, अछङ्कार और रस रूप अर्थों अर्थात् वस्तुओं में जो वस्तु अर्थात् तत्त्व या सार।

१. आचार्य ने महाकवियों की वाणी को व्यक्तधार्थ को प्रवाहित करने वाली कहा है। यह एक प्रकार की धेनु है जो सहृदयरूपी वत्सों को स्वयं दिव्य रस पिलाकर आनिन्दत करती है। यहाँ लोचनकार ने 'वचन' उद्धृत करके यह निर्देश किया है कि वह आनन्द, जो सहृदयों को किवता से प्राप्त होता है, तथा वह आनन्द, जो योगियों को समाधि में मिलता है, दोनों में बहुत अन्तर है। इस प्रकार किवयों के प्रतिमा-विशेष का पता चलता है। जो किवता जितना ही रस का अनुभव कराती है उतना ही उससे किव की प्रतिमाविशेष का अन्दाजा मिलता है। और उसी अभिन्यक्त प्रतिमा-विशेष के आधार पर ही किव की महाकिव को दोट में गणना होती है। संसार में हजारों की संख्या में किव होते आए हैं, किन्तु वह प्रतिमा-विशेष का ही चमस्कार है जो कालिदास प्रभृति कुछ ही किव महाकिव की श्रेणी में आते हैं।

तत् वस्तुतस्वं निःष्यन्दमाना महतां कवीना भारती अलोसामान्यं प्रतिभाविशेषं परिस्फुरन्तमभिव्यनक्ति । येनास्मिन्नतिविचित्रकविपर-म्परावाहिनि संसारे कालिदासप्रभृतयो द्वित्राः पश्चषा वा महाकवय इति गण्यन्ते ।

इदं चापरं प्रतीयमानस्यार्थस्य सद्भावसाधनं प्रमाणम् — दाब्दार्थद्यासनज्ञानमाञ्जेणैव न वेद्यते । वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम् ॥ ७॥

उस वस्तुतस्व को प्रवाहित करती हुई महान् कवियों की सरस्वती (वाणी) परिस्फुरित होते हुए अछोकसामान्य प्रतिभा-विशेष को अभिन्यक्त करती है। जिससे अतिविचित्र कवियों की परम्परा से युक्त इस संसार में कालिदास प्रसृति दो-तीन अथवा पाँच-छ: महाकवि गिने जाते हैं।

और यह दूसरा प्रतीयमान अर्थ के सद्भाव का साधन प्रमाण है— केवछ शब्द-अर्थ के शासनों (नियमों) के ज्ञानमात्र से नहीं जाना जाता है, बिक केवल वह तो काव्यार्थ के तत्त्वज्ञ लोगों द्वारा ही जाना जाता है। ७॥

लोचनम्

'विशेषो' रसावेशवैशद्यसौन्दर्यं काव्यनिर्माणक्षमत्वम् । यदाह् मुनिः—'कवेर-न्तर्गतं भावम्' इति । येनेति । अभिव्यक्तेन स्फुरता प्रतिभाविशेषेण निमित्तेन महाकवित्वगणनेति यावत् ॥ ६ ॥

इदं चिति । न केवलं 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव' इत्येतत्कारिकासूचितौ स्वरूप-विषयभेदावेव; यावद्भिन्नसामप्रीवेद्यत्वमिप वाच्यातिरिक्तत्वे प्रमाणिमिति यावत् । वैद्यतः इति । न तु न वेद्यते, येन न स्याद्साविति भावः । काव्यस्य तत्त्वभूतो योऽर्थस्तस्य भावना वाच्यातिरेकेणानवरतचर्वणा तत्र विमुखानाम् । उत्पन्न वैशद्यप्रयुक्त सौन्दर्यं रूप काव्य-निर्माण की क्षमता है । जैसा कि मुनि ने कहा है—'कवि के अन्तर्गत भाव को ।' जिससे— । मतलव यह कि अभिव्यक्त या स्फुरित होते हुए प्रतिभा विशेष रूप निमित्त से महाकवित्व की गणना (कहाकवियों में गणना) होती है ।

और यह— । न केवल 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव' इस कारिका से सूचित स्वरूप और विषयगत भेद, बिल्क भिन्न सामग्री द्वारा वेद्यत्व भी (प्रतीयमान = व्यङ्गच के) वाच्य से अतिरिक्त (पृथक्) होने में प्रमाण है। जाना जाता है— । भाव यह कि न कि नहीं जाना जाता है जिससे वह नहीं होता। काव्य का तत्त्वभूत जो अर्थ उसकी भावना, वाच्य के अतिरेकपूर्वक निरन्तर चर्वणा उसमें विमुख। स्वर, षड्ज

सोऽथों यस्मात्केत्रलं काव्यार्थतत्त्वज्ञेरेव ज्ञायते। यदि च वाच्यरूप एवासावर्थः स्यात्तद्वाच्यवाचकरूपपरिज्ञानादेव तत्प्रतीतिः स्यात्। अथ च वाच्यवाचकलक्षणमात्रकृतश्रमाणां काव्यतत्त्वार्थभाव-नात्रिम्रखानां स्वरश्रुत्यादिलक्षणमिवाऽप्रगीतानां गान्धर्वलक्षणविदाम-गोचर एवासावर्थः।

वह अर्थ जिस कारण कान्यार्थ के तस्त्रज्ञ लोगों द्वारा ही जाना जाता है। और, यिद वह अर्थ वान्यरूप ही होता तो वान्य और वाचक के रूप के परिज्ञान से ही उसकी प्रतीति होती। और भी, वान्य-वाचक के लग्नगमात्र में जिन्होंने श्रम किया है तथा कान्यतस्त्रार्थ की भावना से पराख्यल हैं उनके लिए यह अर्थ, गाने में असमर्थ किन्तु सङ्गीतशास्त्र (गान्धर्व) के लग्नणों को जाननेवालों के लिए स्वर और श्रुति आदि के तस्त्र की माँति, अगोचर ही है।

लोचनम्

स्वराः षड्जादयः सप्त । श्रुतिर्नाम शब्दस्य वैलक्षण्यमात्रकारि यद्रपान्तरं तत्परिमाणा स्वरतदन्तरालोभयभेदकिल्पता द्वाविंशतिविधा । आदिशब्देन जात्यंशकप्रामरागभाषाविभाषान्तरभाषादेशीमार्गा गृह्यन्ते । प्रकृष्टं गीतं गानं येषां ते प्रगीताः, गातुं वा प्रारब्धा इत्यादिकर्मणि क्तः । प्रारम्भेण चात्र फलप-र्यन्तता लक्त्यते ॥ ७॥

आदि सात । शब्द का वैलक्षण्यकारी जो रूपान्तर है उसके परिमाण की 'श्रुति' होती है वह स्वर, स्वरान्तराल, और उभय के भेद से बाईस' प्रकार की होती है। 'आदि' शब्द से जात्यंश, ग्राम, राग, भाषा, विभाषा, अन्तरभाषा, देशी मार्ग गृहीत होते हैं। प्रकृष्ट गीत या गान है जिनका वे 'प्रगीत' हैं अथवा गाने के लिए 'प्रारब्ध' इस प्रकार 'आदिकर्म' में 'क्त' प्रत्यय है। यहाँ 'प्रारम्भ' से फलपर्यन्तता लक्षित होती है।

१. मूल में अप्रगीत' और 'प्रगीत' दोनों पाठ हैं। लोचनकार ने दोनों के अनुसार व्याख्यान किया है; 'अप्रगीत' का अर्थ करते हैं कि वे लोग प्रगीत नहीं अर्थात प्रकृष्ट गान नहीं करते हैं। 'प्रगीत' का व्याख्यान है कि जिन्होंने गान का प्रारम्भ ही किया है अर्थात जो अमी गाने में सफल नहीं हैं। स्पष्टार्थ यह कि जिस प्रकार गान-विद्या में निपुणता हासिल कर लेने वाला यदि गान का अभ्यास न करने पर स्वर और श्रुति आदि के तस्त्वों से अपरिचित रहता है उसी प्रकार केवल वाच्य-वाचक मात्र में अम करने वाले तथा काव्यतत्त्वार्थ की मावना से विग्रुख लोग उस प्रतीयमान अर्थ को नहीं समझ सकते। स्वर और श्रुति आदि सङ्गीत-शास्त्रीय तत्त्वों का विश्वकलन यन्थान्तर से अवगत करना चाहिए। 'सङ्गीतरहाकर' में इनका विवेचन विश्वद रूप से मिलता है।

एवं वाच्यव्यतिरेकिणो व्यङ्गचस्य सद्भावं प्रतिपाद्य प्राधान्यं तस्यैवेति दर्शयति—

इस प्रकार वाच्य से व्यतिरेक (पार्थवय) रखनेवाले व्यंग्य का सद्भाव प्रतिपादन करके 'प्राधान्य उसका ही है' यह दिखलाते हैं—

लोचनम्

एविमिति । स्वरूपभेदेन भिन्नसामग्रीज्ञेयत्वेन चेत्यर्थः । प्रत्यभिज्ञेयावि त्यर्हार्थे कृत्यः, सर्वो हि तथा यतते इतीयता प्राधान्ये लोकसिद्धत्वं प्रमाण-मुक्तम् । नियोगार्थेन च कृत्येन शिक्षाक्रम उक्तः । प्रत्यभिज्ञेयशब्देनेदमाह— 'काव्यं तु जातु जायेत कस्यचित्प्रतिमावतः ।'

इस प्रकार — । अर्थात् स्वरूप-भेद और भिन्न सामग्री द्वारा ज्ञेय होने के कारण । 'प्रत्यभिज्ञेय' यहाँ अर्हार्थं में 'कृत्य' प्रत्यय हुआ है, सब लोग इस अंश में प्रयत्न करते हैं, 'सहृदयों द्वारा प्रत्यभिज्ञेय है' इतने से व्यङ्ग्य के प्राधान्य के सम्बन्ध में लोकसिद्धत्व को प्रमाण कहा है। नियोगार्थंक 'कृत्य' प्रत्यय द्वारा शिक्षा का क्रम सूचित किया है। 'प्रत्यभिज्ञेय' शब्द से यह कहते हैं—

'काव्य तो कदाचित् किसी प्रतिभावान् से उत्पन्न होता है।'

१. 'उन अर्थ और शब्द महाकि के प्रत्यिमंत्रेय हैं' आचार्य के इस कथन का एक अभिप्राय यह भी हो सकता है कि सहृदय लोगों द्वारा महाकि को शब्द-अर्थ प्रत्यिमित्रेय या पहचानने योग्य हैं और दूसरा यह भी हो सकता है कि महाकि को स्वयं उन्हों शब्द-अर्थ का प्रत्यिमित्रान करना चाहिए। 'प्रत्यिमित्रेय' 'अहाँथें' में 'कृत्य' प्रत्य मानने पर प्रथम पक्ष के अनुकूल व्याख्यान होगा। इसलिए लोचनकार ने यहाँ यह अर्थ उद्घावित किया है कि व्यङ्गय अर्थ का प्राथान्य इसलिए है कि सभी लोग उस प्रकार के शब्द अर्थ के ज्ञान की इच्छा से प्रयक्त करते हैं। इस प्रकार तथाविथ अर्थ और शब्द के प्राथान्य में लोकिसिद्धत्व यह प्रमाण या हेतु कहा गया। किसी भी अप्रधान वस्तु के लिए लोकप्रवृत्ति नहीं होती। यहाँ 'लोक' शब्द से 'सहृदय' ही समझना चाहिए। दूसरे अभिप्राय के अनुसार यहाँ कृत्य-प्रत्यय नियोगार्थक है। अर्थात् आचार्य किवियों को यह शिक्षा देते हैं कि उन्हें पूर्वोक्त शब्द-अर्थ का प्रत्यिमित्रान करना चाहिए। क्योंकि जैसा वृत्तिग्रन्थ भी निर्देश करता है कि व्यङ्गय अर्थ और व्यञ्जक शब्द का ही सुप्रयोग करके महाकि महाकि वनता है अतः उसके लिए उनका प्रत्यिक्षान अनिवार्थ है।

र. 'प्रत्यभिश्चेय — लोचनकार की दृष्टि में प्रन्थकार का यह प्रयोग विशेष तात्पर्य रखता है। प्रन्थकार का कहना है कि शब्द अर्थ जो सामान्य रूप से व्यवहार में विदित होते हैं उन्हें काव्य के क्षेत्र में उसी रूप में नहीं जानना चाहिए। यद्यपि 'प्रत्यभिश्चान' श्चात वस्तु का ही पुनः श्चान होता है, तथापि यहाँ शान का विशेष रूप से अनुसन्थान को ही 'प्रत्यभिश्चान' से समझना चाहिए। जब तक लोकन्यवहार की स्थिति है, शब्द-अर्थ अपने 'साधारण रूप से होते हैं किन्तु काव्य के क्षेत्र में उनकी सीमा का विस्तार हो जाता है और उनका स्वरूप भी बहुत कुछ निखर जाता है अतः केवल शात का पुनः श्चान न करके शात का पुनः पुनः अनुसन्थान रूप विशेष निरूपण या प्रत्यभिश्चान करना चाहिए। यह प्रतिभावान् महाकवि के लिए उतना ही अपिक्षित है जितना सहदय के लिए। लोचनकार ने प्रस्तुत वक्तव्य को अपने रंग में ढालते हुए

सोऽर्थस्तद्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन । यक्षतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः ॥ ८ ॥ व्यङ्गचोऽर्थस्तद्यक्तिसामर्थ्योगी शब्दश्च कश्चन, न शब्दमात्रम् । तावेव शब्दार्थौ महाकवेः प्रत्यभिज्ञेयौ । व्यङ्गचव्यञ्जकाभ्यामेव सुप्रयुक्ताभ्यां महाकवित्वलाभो महाकवीनां, न वाच्यवाचकरचनामात्रेण ।

'वह अर्थ है और उसकी अभिव्यक्ति की सामर्थ्य रखनेवाला कोई शब्द है। वे

शब्द और अर्थ महाकवि के यत्तपूर्वक प्रत्यभिज्ञेय हैं'॥ ८॥

व्यंग्य अर्थ है और उसकी अभिन्यक्ति की सामर्थ्य रखनेवाला कोई शब्द है, न कि शब्दमात्र। वे ही शब्द-अर्थ महाकवि के प्रत्यभिज्ञान के योग्य हैं। क्योंकि, व्यंग्य और व्यंजक के ही सुन्दर ढङ्ग से प्रयोग करने पर महाकवियों को महाकवित्व का लाम है, न कि वाच्य-वाचक-रचनामात्र से ॥ ८॥

लोचनम्

इति नयेन यद्यपि स्वयमस्यैतत्परिस्फुरति, तथापीदमिश्यमिति विशेषतो निरूप्यमाणं सहस्रशाखीभवति । यथोक्तमस्मत्परमगुरुभिः श्रीमदुत्पलपादैः— तस्तैर्प्यपयाचितेरूपनतस्तन्च्याः स्थितोऽप्यन्तिके

कान्तो लोकसमान एवमपरिज्ञातो न रन्तुं यथा।

लोकस्यैष तथानवेक्षितगुणः स्वात्मापि विश्वेश्वरो

नैवालं निजवैभवाय तिदयं तत्प्रत्यभिज्ञोदिता ।। इति ।। तेन ज्ञातस्यापि विशेषतो निरूपणमनुसन्धानात्मकमत्र प्रत्यभिज्ञानं, न तु तदेवेदमित्येतावन्मात्रम् । महाकवैरिति। यो महाकविरहं भूयासमित्याशास्ते।

इस न्याय से यद्यपि स्वयं उसे (किव को) यह स्फुरित होता है, तथापि 'यह इत्थं है' इस प्रकार विशेष रूप से निरूपण करने पर हजारों शासाओं का हो जाता

है। जैसा कि हमारे परमगुरु श्रीमदुत्पलपाद ने कहा है-

'अपरिज्ञात एवं उन-उन प्रार्थनाओं द्वारा कृशाङ्गी के समीप में आया हुआ भी कान्त साधारण व्यक्ति के समान जिस प्रकार रमणकार्य नहीं कर पाता उस प्रकार जिसके गुण पहले नहीं देखे गए हैं ऐसा स्वात्मरूप भी विश्वेश्वर लोक के (समक्ष) अपना वैभव (विकास) नहीं कर पाता; इस कारण यह उसकी प्रत्यभिज्ञा बताई गई है।'

इस लिए ज्ञात का भी विशेष रूप से अनुसन्धानात्मक निरूपण यह 'प्रत्यिक्शाम' पदार्थ है, न कि 'वही यह है' केवल इतना ही । महाकवि के— । जो आखा करना है

अपने गुरु श्रीमदुत्पलाचार्य का जो श्लोक उद्भृत किया है। कल्पना कीजिए कि कोई ना स्का किसी व्यक्ति को विना देखे हो उसके रूप का वर्णन सुन कर अपना 'प्रिय' मान केती है कर

इदानीं व्यङ्गयव्यञ्जकयोः प्राधान्येऽपि यद्वाच्यवाचकावेत्र प्रथम-ग्रुपाददते कत्रयस्तदपि युक्तमेवेत्याह—

आलोकार्थी यथा दीपशिखार्या यहावाञ्जनः। तदुपायतया तद्वदर्थे वाच्ये तदाहतः॥१॥

ं अब जो कि न्यंग्य और न्यंजक के प्राधान्य में भी कवि छोग पहले वाच्य और वाचक का ही उपपादन करते हैं वह भी ठीक ही है, यह कहते हैं—

जिस प्रकार आलोक चाहनेवाला व्यक्ति उसका उपाय होने के कारण दीपशिखा के लिए यह करता है, उसी प्रकार उस (व्यंग्य अर्थ) के प्रति आद्रयुक्त जन वाच्य अर्थ के लिए यह करता है ॥ ९ ॥

लोचनम्

एवं व्यङ्ग-यस्यार्थस्य व्यञ्जकस्य शब्दस्य च प्राधान्यं वदता व्यङ्ग-यव्यञ्जक-भावस्यापि प्राधान्यमुक्तमिति ध्वनति, ध्वन्यते, ध्वननमिति त्रितयमप्युपपन्न-मित्युक्तम् ॥ ८॥

नतु प्रथमोपादीयमानत्वाद्वाच्यवाचकतद्भावस्यैव प्राधान्यमित्याशङ्कचोपा-यानामेव प्रथममुपादानं भवतीत्यभिप्रायेण विरुद्धोऽयं प्राधान्ये साध्ये हेतुरिति दर्शयति-इदानीमित्यादिना । आलोकनमालोकः; वनितावदनारविन्दादिविलो-कनमित्यर्थः। तत्र चोपायो दीपशिखा ॥ ६॥

कि मैं महाकवि होऊं। इस प्रकार व्यङ्गच अर्थ और व्यञ्जक शब्द का प्राधान्य कहते हुए व्यङ्गचव्यव्जकसाव (व्यञ्जना व्यापार) का भी प्राधान्य सूचित किया। इस तरह व्वनन करता है', व्यनित होता है' और 'व्यनन' ये तीनों उपपन्न हो जाते हैं, यह कहा गया।

प्रथम उपादीयमान होने कं कारण वाच्य, वाचक और उनके व्यापार (साव) का ही प्राधान्य है, यह आश्रङ्का करके उपायों का ही पहले प्राधान्य होता है, इस अभिप्राय से प्राधान्य रूप साध्यं में यह हेतु (प्रथमोपादीयमानत्व रूप)

पत्र-छेखनादि उपायों द्वारा उसे अपने पास बुलाने के लिए प्रयत्तशांल रहती है। अकस्मात् वह कान्त उसके समक्ष पहुँच आता है। ऐसी स्थिति में क्या सम्भव है कि नायिका उसके साथ रमण करें ? नहीं। क्योंकि जब तक नायिका को यह विशेष रूप से ज्ञान नहीं हो जाता कि जिस व्यक्ति के मिलन के लिए वह बहुत दिनों से प्रयत्न कर रही है वहीं यह उपस्थित है तब तक वह व्यक्ति उसके लिए अन्य साथारण व्यक्ति के समान हीं रहता है। यहीं वात आध्यात्मिक क्षेत्र में मी है कि ईश्वर आत्मा से अमिन्न होकर मी अपना विशेष रूप से प्रत्यमिज्ञान न किए जाने पर अपना वैभव नहीं प्रकट करता। यह यहाँ ज्ञातव्य है कि आचार्य अमिनवगुप्त 'प्रत्यमिज्ञा-दर्शन' के परभमान्य आचार्य हैं अतः स्वाभाविक है कि उनके प्रायः प्रस्तुत साहित्यिक विवेचनों में उनके दार्शनिक सिद्धान्त का भी प्रभाव पड़ा है।

यथा ह्यालोकार्थी सन्निप दीपिशकायां यत्नवाञ्जनो भवति तदुपा-यतया । न हि दीपिशकामन्तरेणालोकः सम्भवति । तद्वस्रक्षयमर्थं प्रत्यादतो जनो वाच्येऽर्थे यत्नवान् भवति । अनेन प्रतिपादकस्य कवेर्व्यक्षयमर्थं प्रति व्यापारो दिश्चितः ॥ ९ ॥

प्रतिपाद्यस्यापि तं दर्शयितुमाह—

यथा पदार्थद्वारेण वाक्यार्थः सम्प्रतोयते । वाच्यार्थपूर्विका तद्वत्प्रतिपत्तस्य वस्तुनः ॥ १०॥

जैसे प्रकाश को चाहने वाला होता हुआ भी व्यक्ति दीपशिखा के लिए उस (आलोक) का उपाय होने के कारण यक्षवान् होता है, क्योंकि दीपशिखा के बिना आलोक सम्भव नहीं, उसी प्रकार व्यंग्य अर्थ के प्रति आव्रयुक्त जन वाष्य अर्थ में यक्षवान् होता है। इससे प्रतिपादक (वक्ता) कवि का व्यंग्य अर्थ के प्रति व्यापार दिखाया॥ ९॥

प्रतिपाण के भी उस (व्यापार) को दिखाने के लिए कहते हैं— जिस प्रकार पदार्थ के द्वारा वाक्यार्थ प्रतीत किया जाता है उसी प्रकार उस वस्तु की प्रतिपत् (प्रतीति) वाच्यार्थपूर्विका होती है ॥ १०॥

लोचनम्

प्रतिपदिति भावे किए। 'तस्य वस्तुन' इति व्यङ्ग यरूपस्य सारस्येत्यर्थः । अनेन ऋोकेनात्यन्तसहृदयो यो न भवति तस्येष स्फुटसंवेद्य एव क्रमः। विरूद्ध है यह दिखाते हैं—अब इत्यादि द्वारा। आलोकन (देखना) आलोक है, अर्थात् विनिता के मुखारविन्द आदि का विलोकन। उसके लिए उपाय दीपशिखा है ॥९॥ 'प्रतिपत्' इसमें भाव में 'किए' प्रत्यय है। 'उस वस्तु की' अर्थात् स्यङ्गप रूप

१. आशक्का होती है कि जब वाच्य, वाचक और अभिधा व्यापार का पहले उपादान किया जाता है तब इसी कारण क्यों नहीं इन्हें ही प्रधान मानते हैं ? व्यक्त्य के प्राधान्य का पक्ष इस प्रकार ठीक नहीं। इसके समाधान में यह कहना है कि जो आप प्रथम उपादान को प्राधान्य का हेतु मानते हैं वह विरुद्ध है, अर्थात इस हेतु द्वारा अप्रधान्य भी सिद्ध हो जाता है। मतल्ब यह कि किसी वस्तु को प्रधान इस लिए माना नहीं जा सकता कि उसका उल्लेख पहले होता है। तब तो जो उपाय होता है वह उपेय से पहले उल्लिखित होता है, ऐसी स्थिति में आप उपाय को भी प्रधान कहेंगे! प्रस्तुत में वाच्य-वाचक-भाव भी प्रधानभूत व्यक्त्य-व्यक्त-भाव के उपाय है अतः उनका पहले उपादान होता है। इस प्रकार प्रथम उपादान मात्र से उन्हें प्रधान नहीं कहा जा सकता। जिस प्रकार आदमी जब किसी वस्तु को रात्रि में देखना चाहता है तब वह दीपिश्चला के लिए यलवान होता है। इस प्रकार दीपिश्चला प्रथम उपादीयमान होने पर भी उपेयभूत वस्तु के दर्शन का उपाय होने के कारण अप्रधान है।

२. निर्णयसागरीय संस्करण में 'प्रतिपत्तव्यस्य' पाठ माना है, किन्तु 'खेचन' के प्रस्तुत

यथा हि पदार्थद्वारेण वाक्यार्थावगमस्तथा वाच्यार्थप्रतीतिपूर्विका व्यङ्गचस्यार्थस्य प्रतिपत्तिः ॥ १०॥

इदानीं वाच्यार्थप्रतीतिपूर्वकत्वेऽिप तत्प्रतीतेर्व्यङ्गचस्यार्थस्य प्राधान्यं यथा न व्याळुप्यते तथा दर्शयति—

जिस प्रकार पदार्थ के द्वारा वाक्यार्थ का अवगम होता है उसी प्रकार व्यंग्य अर्थ की प्रतिपत्ति वाच्यार्थप्रतीतिपूर्विका होती है ॥ १० ॥

अब, उस (ब्यंग्य) की प्रतीति के वाच्यार्थप्रतीतिपूर्वक होने पर भी, ब्यंग्य अर्थ का प्राधान्य जिस प्रकार ब्यालुप्त नहीं होता, वह दिखाते हैं—

लोचनम्

यथात्यन्तराब्दवृत्तक्को यो न भवति तस्य पदार्थवाक्यार्थक्रमः । काष्ठाप्राप्तसह-दयभावस्य तु वाक्यवृत्तकुरालस्येव सन्नपि क्रमोऽभ्यस्तानुमानाविनाभावस्यु-त्यादिवदसंवेद्य इति दर्शितम् ॥ १०॥

न व्यालुप्यत इति । प्राधान्यादेव तत्पर्यन्तानुसरणरणरणकत्वरिता मध्ये विश्रान्ति न कुर्वत इति क्रमस्य सतोऽप्यलक्षणं प्राधान्ये हेतुः । स्वसामध्ये-सार पदार्थं की । इस रलोक से यह दिखाया कि जो व्यक्ति अत्यन्त सहृदय नहीं है उसके लिए यह कम स्फुट संवेद्य है । जिस प्रकार जो व्यक्ति अत्यन्त शब्दवृत्तक्ष (वाक्य को जानने वाला) नहीं है उसके लिए पदार्थं और वाक्यार्थं का कम है । और जो सहृदयता की काष्ठा (उत्कर्ष) तक पहुंचा है, उस वाक्यवृत्त-कुशल पुरुष की मौति होता हुआ भी कम उस प्रकार असंवेद्य है जिस प्रकार अनुमान, व्याप्तिस्मृति पादि के अभ्यस्त व्यक्ति के लिए ॥ १० ॥

च्यालुस नहीं होता—। प्राधान्य के कारण ही उस (व्यङ्गय अर्थ) तक अनुसरण के रणरणक (औत्सुक्य) से त्वरित हुए (सहृदय लोग) बीच में विश्राम

निर्देश से वह प्रामादिक समझना चाहिए। दूसरे यदि निर्णयसागरीय पक्ष को ही मानते हैं तो मूल कारिका में 'वाच्यार्थपूर्विका' इस विशेषण के लिए 'प्रतिपत्तिः' इस विशेषण के आक्षेप का गौरव करना पड़ता है।

१. नियमतः पदार्थ के ज्ञान के द्वारा वाक्यार्थ का ज्ञान होता है अर्थात् पहले पदार्थ का ज्ञान होता है तब वाक्यार्थ का यह क्रम है। किन्तु जो व्यक्ति वाक्यवृत्तकुञ्चल है उसे यह क्रम स्पष्ट रूप से संवेध नहीं होता है। उसी प्रकार पहले वाच्य अर्थ की प्रतीति होती है और तब व्यक्त्य अर्थ की, यह क्रम है। किन्तु जो अत्यन्त सहृदय व्यक्ति है उसे यह क्रम नहीं प्रतीत होता है। इस लिए आगे ध्वनि को 'असंलक्ष्यक्रम' भी कहा गया है। अनुमान आदि में भी जिसे विषय का अभ्यास होता है उसे व्याप्तिस्पृति और अनुमिति का क्रम स्पष्ट ज्ञात नहीं होता। 'संकेत'-ज्ञान और 'अर्थ' ज्ञान के क्रम के सम्बन्ध में भी यही बात है।

हुन्तु भरन बद वदान ।रबाधर

प्रथम उद्देशोतः

ध्वन्यालीकिकांक

स्वसामध्यवदोनैव वाक्यार्थ प्रतिपिदियन्। यथा व्यापारनिष्पत्ती पदार्थी न विभाव्यते ॥ ११ ॥ यथा स्वसामध्यवदोनैव वाक्यार्थं प्रकाशयत्रिप पदार्थो व्यापार-निष्पत्ती न भाव्यते विभक्ततया ॥ ११ ॥

अपनी सामर्थ्य के वश ही वाक्यार्थ का प्रतिपादन करता हुआ पदार्थ जिस प्रकार व्यापार के निष्पन्न (पूर्ण) हो जाने पर विभावित नहीं होता (अलग प्रतीत नहीं होता)॥ ११॥

जिस प्रकार अपनी सामर्थ्य के वश ही वाच्यार्थ को प्रकाशित करता हुआ भी पदार्थ व्यापार की निष्पत्ति की स्थिति में विभक्तरूप से भावित (प्रतीत) नहीं होता।

लोचनम्

माकाङ्कायोग्यतासन्निधयः । विमाव्यत इति । विशब्देन विभक्ततोक्ताः विभक्तत्ते तया न भाव्यत इत्यर्थः । अनेन विद्यमान एव क्रमो न संवेद्यत इत्युक्तम् । तेन यत्स्फोटाभिप्रायेणासन्नेव क्रम इति व्याचक्षते तत्प्रत्युत विरुद्धमेव । वाच्येऽर्थे विमुखो विश्वान्तिनिबन्धनं परितोषमल्यमान आत्मा हृद्यं येषामित्यनेन सचेतसामित्यस्यवार्थोऽभिव्यक्तः । सहृद्यानामेव तद्धायं महिमास्तु, नहीं करते हैं, इस प्रकार होते हुए भी क्रम का लक्षित नहीं होना (व्यङ्गय अर्थं के) प्राधान्य में हेतु है । अपनी सामर्थ्यं अर्थात् आकांक्षा, योग्यता, सन्निष्ठि । विभावित होता है— । 'वि' शब्द से 'विभक्तता' कही गई; अर्थात् विभक्त रूप में नहीं मावित (प्रतीत) होता है । इससे जो 'स्फोट के अभिप्राय से नहीं रहता हुआ भी क्रम' ऐसा व्याख्यान करते हैं, वह (व्याख्यान) प्रत्युत विरुद्ध ही है । वाच्य अर्थ में विमुख अर्थात् विश्वान्तिमूलक परितोष को न पाये आत्मा (हृदय) है जिनका, इससे 'सहदयों का' इतने का ही अर्थ अभिव्यक्त है । तब तो यह सहृदयों की ही महिमा

१. पदार्थों में जब तक योग्यता, आकांक्षा और सिकिष ये तीनों विश्वमान नहीं रहते तब तक वाक्य स्वरूप-छाम नहीं करता। 'योग्यता' पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध में बांधा का अमाव है। पदसमूह में इस 'योग्यता' के अभाव में किसी प्रकार वह वाक्य नहीं कहा जा सकता, जैसे 'विह्वना सिक्षति'। यह पदसमूह योग्यतारिहत है, क्योंकि सेचन कार्य की योग्यता अग्नि में नहीं है, इसिछिए यह वाक्य नहीं है। पदसमूह को वाक्य बनने में 'आकांक्षा' भी होनी चाहिए, अर्थात एक पद से दूसरे पद के अन्वय का अनुभावन होना चाहिए, आकांक्षारिहत पदसमूह, जैसे 'गीरब: पुरुषो हस्ती शकुनिर्धुगो माह्मणः' इत्यादि। यहाँ एक पद से दूसरे का अन्वय प्रतीत नहीं होता। 'सिक्षिथ' या 'आसिप्त' बुद्धि का अविच्छेद है, अर्थात एक पद का दूसरे से सामयिक व्यवधान नहीं होना चाहिए। जैसे कोई पदसमूह अंशतः घण्टे-घण्टे के व्यवधान से कहा जाय तब उसमें सिक्षिध का अभाव होता है अतः वह वाक्य नहीं कहला सकता। जैसे 'घटम्' कहने के एक घण्टे बाद यदि 'आनय' कहा तो यह पदसमूह वाक्य नहीं हो सकता। इस प्रकार वे तीनों ही पदसमूह के वे धर्म हैं जिनसे वाक्य स्वरूपलाम करता है। यद्यपि 'आकांक्षा' मोता की

तद्वत्सचेतसां सोऽथीं बाच्यार्थविसुखात्मनाम् । बुद्धौ तत्त्वार्थदर्शिन्यां झटित्येवावभासते ॥ १२॥ एवं वाच्यव्यतिरेकिणो व्यङ्गचस्यार्थस्य सद्भावं प्रतिपाद्य प्रकृत उपयोजयन्नाह—

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थम्रपसर्जनीकृतस्वार्थौ।

व्यक्तः काव्यविद्योषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥१३॥ उसी प्रकार वह अर्थ वाच्यार्थ से विमुख आत्मा वाले सहदयजनों की तस्वार्थ-

वर्शिनी बुद्धि में झट से ही अवभासित हो जाता है ॥ १२ ॥

इस प्रकार वाष्यार्थ से अतिरिक्त व्यव्यार्थ के सन्नाव का प्रतिपादन करके प्रकृत सें उसका उपयोग करते हुए कहते हैं---

जहाँ अर्थ अपने-आपको अथवा शब्द अपने अर्थ को गुणीभूत करके (प्रतीयमान) अर्थ को व्यक्त (अभिव्यक्त) करते हैं वह 'काव्यविशेष' विद्वान् छोगों द्वारा 'ध्वनि' कहा जाता है ॥ १३॥

लोचनम्

न तु काव्यस्यासौ कश्चिवतिशय इत्याशङ्कयाह—श्रवभासत इति । तेनात्र विभक्ततया न भासते, न तु वाच्यस्य सर्वथैवानवभासः। अत एव तृतीयोद्द्योते घटप्रदीपदृष्टान्तवलाद्वयङ्कयप्रतीतिकालेऽपि वाच्यप्रतीतिर्न विघटत इति यद्वस्यति तेन सहास्य प्रन्थस्य न विरोधः॥ ११-१२॥

सद्भाविमिति । सत्तां साधुभावं प्राधान्यं चेत्यर्थः । द्वयं हि प्रतिपिपाद्यि-है, न कि यह, कोई काव्य का अपना अतिशय है, यह आशक्का करके कहते हैं— अवभासित होता है— । इस लिए यहां विभक्त रूप से भासित नहीं होता, न कि बाच्य का सर्वेषा ही अनवभास होता है । अत एव तृतीय 'उद्योत' में घट और प्रदीप के दृष्टान्ते के वल से जो यह कहेंगे कि व्यङ्गध की प्रतीति के काल में भी बाच्यप्रतीति नहीं विघटित होती है उसके साथ इस गन्य का विरोध नहीं है।॥११-१२॥ सद्भाव —। सत्ता अर्थात् साधुभाव और प्राधान्य । क्योंकि दोनों ही प्रतिपादन की

जिश्वासा रूप है तथापि परम्परा-सम्बन्ध द्वारा पदार्थ का भी धमें हं। अपनी इस 'सामर्थ्य' के द्वारा ही पदार्थ वाक्यार्थ का बोध कराते हैं।

रे. बाच्यार्थ से व्यङ्गधार्थ का घोतन होता है। इसका मतलब है कि जिस प्रकार दीपक अपने प्रकाश से घट को प्रकाशित करता हुआ अपने को भी प्रकाशित करता है उसी प्रकार वाच्यार्थ मां व्यङ्गध अर्थ को प्रतीत कराता हुआ स्वयं भी प्रतीत होता है। वाच्यार्थ से विमुख सहदय छोग झटिति उस व्यङ्गध अर्थ का ज्ञान करते हैं। इससे कम रहता हुआ भी उन्हें कम अभिलक्षित नहीं होता है। यहाँ यह अम नहीं होना चाहिए कि सहदयों की विशेषता है जो इस प्रकार व्यङ्गध अर्थ का ज्ञान करते हैं, बल्कि व्यङ्गधार्थ उन्हें इस प्रकार अवभासित होता है।

. २. 'सद्भाव' शब्द सत्ता या अस्तित्व के अर्थ में प्रयुक्त होता है, साथ ही उस वस्तु की

षितम् । प्रकृत इति लक्ष्मणे । उपयोजयन् उपयोगं गमयन् । तमर्थमिति चायसुप-योगः । स्वशब्द आत्मवाची । स्वश्चार्थश्च तौ स्वार्थीः तौ गुणीकृतौ याभ्याम्, यथासंख्येन तेनार्थो गुणीकृतात्मा, शब्दो गुणीकृताभिषेयः। तमर्थमिति। 'सरस्वती स्वादु तद्रथवस्तु' इति यदुक्तम् । व्यङ्कः द्योत्तयतः । व्यङ्क इति द्विवचनेनेदमाहँ यद्यप्यविवक्षितवाच्ये शब्द एवं व्यञ्जकस्तथाप्यर्थस्यापि सहकारिता न त्रुट्यति, अन्यथा अज्ञातार्थोऽपि शब्दस्तव्यञ्जकः स्यात्। विवक्षितान्यपरवाच्ये च शब्दस्यापि सहकारित्वं भवत्येव, विशिष्टशब्दाभि-घेयतया विना तस्यार्थस्याव्यक्षकत्वादिति सर्वत्र शब्दार्थयोक्तमयोरपि ध्वननं व्यापारः । तेन यद्गदृनायकेन द्विवचनं दूषितं तद् गजनिमीलिकयैव । अर्थः शब्दो वेति त विकल्पाभिधानं प्राधान्याभिप्रायेण । काव्यं च तद्विशेषश्चासी काव्यस्य वा विशेषः । काव्यम्रहणाद् गुणालङ्कारोपस्कृतशब्दार्थपृष्ठपाती ध्वनि-इच्छा के विषय हैं। प्रकृत में-। अर्थात् लक्षण में। उपयोग बताते हुए-। 'उस प्रतीयमान अर्थ का' यह उपयोग है। स्व और अर्थ दोनों स्वार्थ हुए, वे स्वार्थ जिनके द्वारा गुणीभूत हए। उस क्रम से अर्थ अपने आपको गुणीभूत करता है और शब्द अभिषेय (वाच्य) का गुणीभूत करता है। उस अर्थ को-। जिसे 'सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु' कहा है। 'व्यक्त करते हैं' अर्थात् द्योतन करते हैं। 'व्यक्तः' (व्यक्त करते हैं) इस द्विवचन से यह कहते हैं - यद्यपि 'अविवक्षितवाच्य' घ्वनि में शब्द ही व्यव्जक है, तथापि अर्थ की भी सहकारिता नहीं ट्रटती है, अन्यथा जिस शब्द का अर्थ ज्ञात नहीं है वह भी उसका व्यव्जक हो जाता। और विवक्षितान्यपर-वाच्य' व्विन में शब्द भी सहकारी होता ही है, क्योंकि विशिष्ट शब्द द्वारा अभिवान नहीं किया जायगा तो ऐसी स्थिति में वह शब्द उस अर्थ का व्यव्जक नहीं हो सकता। इस प्रकार सर्वत्र 'व्वनन' शब्द और अर्थ दोनों का ही व्यापार है। इस लिए जो कि भट्टनायक ने 'द्विवचन' में दोष बताया था वह तो गजनिमीलिका के कारण ही । 'अर्थ अथवा शब्द' इस प्रकार जो विकल्प कहा है वह प्राधान्य⁹ के अभिप्राय से ।

जच्छाई और श्रष्ठता भी इस शब्द से अभिद्दित होती है—सद्भावे साधुमावे च सदित्येतत्प्रयुच्यते। प्रस्तुत में बढ़े विस्तार से आचार ने ध्विन के सद्भाव का जो प्रतिपादन किया है उससे केवल ध्विन का अस्तित्व या मवजूदगी हो सिद्ध नहीं की है बल्कि उसे साधु और प्रधान भी सिद्ध किया है।

१. 'अर्थ अथवा शब्द' यह विकल्पं प्राधान्य के अभिप्राय से कहा है। अर्थात जैसा कि यह जगर की पंक्तियों में कह चुके हैं कि केवल शब्द या केवल अर्थ व्यक्तक नहीं होते, विकासक दूसरे की सहायता से व्यक्तक होते हैं। इस प्रकार जब अर्थ प्रधान रूप से व्यक्त्य की व्यक्तना करता है तब शब्द उसका सहकारों होता है और जब शब्द प्रधान रूप से व्यक्त्य होता है तब अर्थ उसका सहकारों होता है। इसी प्राधान्य के अभिप्राय से आचार्य ने 'विकल्प' का प्रयोग किया है और शब्द-अर्थ की इसी सम्मिलित व्यक्तकता के कारण 'व्यक्तः' इस दिवचन के प्रयोग की भी सार्थकता है। मट्टनायक द्वारा 'दिवचन' का दृषण उनका अञ्चान प्रकट करता है।

यत्रार्थों वाच्यविशेषः वाचकविशेषः शब्दो वा तमर्थे व्यङ्कः, स काव्यविशेषो ध्वनिरिति ।

जहाँ अर्थ याने वाच्यविशेष अथवा वाचकविशेष शब्द उस अर्थ को अभिन्यक्त करते हैं वह कान्यविशेष 'ध्वनि' (कहलाता) है।

लोचनम्

लक्षण 'आत्मे'त्युक्तम् । तेनैतन्निरवकाशं श्रुतार्थापत्ताविप ध्वनिव्यवहारः स्यादिति । यद्योक्तम्—'चारुत्वप्रतीतिस्तर्हि काव्यस्यात्मा स्यात्' इति तद्ङ्गी-कुर्म एव। नाम्नि खल्वयं विवाद इति । यद्योक्तम्—'चारुणः प्रतीतिर्यदि काञ्यात्मा प्रत्यक्षादिप्रमाणादिप सा भवन्ती तथा स्यात्' इति । तत्र शब्दार्थ-मयकाव्यात्माभिधानप्रस्तावे क एष प्रसङ्ग इति न किञ्चिदेतत्। स इति । अर्थो वा शब्दो वा, व्यापासे वा । अर्थोऽपि वाच्यो वा ध्वनतीति, शब्दोऽप्ये-'काव्य और उसका विशेष' इस प्रकार (कर्मधारय समास) है, या 'काव्य का विशेष' इस प्रकार (षष्टी तत्पुरुष समास) है। 'काव्य' के ग्रहण से यह कहा कि जो ष्वित रूप आत्मा है वह गुण और अलङ्कार से उपस्कृत शब्द और अर्थ का पृष्ठपाती है। इस लिए इस बात का कोई अवकाश नहीं कि (स्थूलकाय देवदत्त दिन में भोजन नहीं करता' इस) 'श्रुतार्थापत्ति' में भी 'काव्य' का व्यवहार होने लगेगा। और जो कि कहा है- 'तब तो चारुत्व की प्रतीति काव्य का आत्मा होगा' यह हम स्वीकार करते ही हैं। यह विवाद तो नाम में हैं! और जो कि कहा है—'चार की प्रतीति यदि काव्य का आत्मा है तो प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से भी चार की होतीं हुई प्रतीति उस प्रकार (काव्य का आत्मा) होगी।' वहाँ जब कि शब्दार्थरूप काव्यात्मा के कथन का प्रसङ्ग है, फिर यह कौन प्रसङ्ग है ? अतः यह कुछ भी नहीं। (कारिका में प्रयुक्त) वह—। अर्थ अथवा शब्द, अथवा व्यापार । व्वनित' या व्वनन करता है, (इस ब्युत्पत्ति के अनुसार) वाच्य अर्थ 'ध्वनि' है, इस प्रकार शब्द भी । 'ध्वन्यते'

१. आचार्य का यह निर्देश पहले मी हो चुका है कि 'ध्वनि' कान्य का आत्मा अवश्य है किन्तु केवल ध्वनि से कान्य का व्यवहार नहीं होता। बिल्क 'ध्वनि' के साथ शब्द-अर्थ का ग्रुण और अल्हार से उपस्कृत भी होना आवश्यक है। इस प्रकार प्रकृत 'कारिका' में 'काव्य' यह सामिप्राय है। यदि केवल ध्वनि के अस्तित्व मात्र से 'काव्य' मान लेने की छूट दे दी जाय तो मीमांसकों के यहाँ प्रसिद्ध 'श्वतार्थापत्ति' का स्थल भी 'काव्य' के रूप में व्यवहृत होगा। जैसे 'यह मोटा ताजा देवदत्त दिन में नहीं खाता है' (पीनोऽयं देवदत्तो दिवा न अक्को) इस श्वत वाक्य से जो दिन में भोजन के अभाव में पीनत्व रूप अर्थ जात होता है उसकी अन्यवानुपपत्ति को लेकर 'रात्रि में भोजन करता है' (रात्री मुक्को) इस रात्रिमोजन रूप अर्थ के प्रतिपादक अन्य वाक्य को कल्पना करते हैं। परन्तु यहाँ 'ध्वनि' होते हुए भा गुण-अल्ह्वार से उपस्कृत शब्द-अर्थ का अभाव है अतः यहाँ काव्य-व्यवहार नहीं हो सकता। इसका निर्देश 'काव्यस्यात्मा स एवार्थः' (११५) कारिका की वृत्ति में 'विविधवाच्यवाचकरचनाप्रपञ्चचारणः काव्यस्य' में किया है। इस स्थल के लेकन में इसका स्पष्टीकरण दर्शनीय है।

अनेन वाच्यवाचकचारुत्वहेतुभ्य उपमादिभ्योऽनुप्रासादिभ्यश्च विभक्त एव ध्वनेविषय इति दिश्वतम् । यद्प्युक्तम्—'प्रसिद्धप्रस्थाना-तिक्रमिणो मार्गस्य काव्यहानेध्विनिर्नास्ति' इति, तद्प्ययुक्तम् । यतो लक्षणकृतामेव सकेवलं न प्रसिद्धः, लक्ष्ये तु परीक्ष्यमाणे स एव सहृद्य-हृदयाह्वादकारि काव्यतत्त्वम् । ततोऽन्यिच्यमेवेत्यग्रे दर्शयिष्यामः।

इससे वाच्य और वाचक की चाहता के हेतु उपमा आदि और अनुप्रास आदि से प्विन का विपय विभक्त ही है, यह दिखाया। जो कि कहा है—'प्रसिद्ध प्रस्थानों को अतिक्रमण करनेवाला मार्ग कान्यत्व से रहित होता है, अतः ध्विन नहीं है।' वह भी ठीक नहीं; क्योंकि लच्चणकारों के लिए हो वह केवल प्रसिद्ध नहीं है, लच्च की परीचा करने पर वहीं सहद्यजनों के हृद्य को आह्वादित करनेवाला कान्यतस्व है। उससे दूसरा हो 'चित्र' है, यह आगे चलकर दिखायेंगे।

लोचनम्

वम् । व्यङ्ग-यो वा ध्वन्यत इति व्यापारो वा शब्दार्थयोर्ध्वननिमिति । कारिकया तु प्राधान्येन समुदाय एव काव्यक्षपो मुख्यतया ध्वनिरिति प्रतिपादितम् । विभक्त इति । गुणालङ्काराणां वाच्यवाचकभ वप्राणत्वात् । अस्य च तद्न्यव्यङ्ग-य-व्यञ्जकभावसारत्वान्नास्य तेष्वन्तभाव इति । अनन्यत्र भावो विषयशब्दार्थः । एवं तद्व-चितिरक्तः कोऽयं ध्वनिरिति निराकृतम् । लद्म्यकृतामेवैति । लक्षण-(इस व्युत्पत्ति के अनुसार) व्यंग्य 'ध्वनि' है, और शब्द और अर्थं का व्यापार 'ध्वननम्' (इस व्युत्पत्ति के अनुसार) 'ध्वनि' है। कारिका द्वारा तो प्रधानतया समुदाय' ही काव्यक्ष्य मुख्यरूप से 'ध्वनि' है, ऐसा प्रतिपादन किया है। विभक्त—। क्योंकि गुण और अलङ्कार का प्राणभूत तत्त्व वाच्यवाचकभाव है, और इस घ्वनि का सार उसके अतिरिक्त व्यंग्यव्यच्यक्षकभाव है, इसलिए इसका उनमें अन्तर्भाव नहीं है। 'विषय' शब्द का अर्थ है अन्यत्र सद्भाव का अभाव। इस प्रकार उन (गुण और अलङ्कार) से व्यतिरिक्त यह 'ध्वनि' क्या है, इसका निराकरण किया। लक्षणकारों के लिए ही—।

१. मूल कारिकायन्थ में जिस कांच्य विशेष को 'ध्विन' कहा गया है वह मुख्य रूप से रूढि द्वारा समुदाय रूप ध्विन है। 'ध्वनित', 'ध्वन्यते' और 'ध्वननम्' शब्द, वाच्य, व्यङ्गय और व्यञ्जन इनका समुदाय यहाँ 'ध्विन' है। पहले मी 'लोचन' में ध्विन की व्युत्पत्तियों का निर्देश हो चुका है।

२. युत्पत्ति के अनुसार 'विषय' शब्द का यह अर्थ है कि जो अपने सम्बन्ध के पदार्थ को वांध देता है, सीमित कर देता है (विशेषण सिनोति वध्नातीति विषयः)। प्रस्तुत में ध्वनि का भी अपनी सीमा से वाहर सद्भाव नहीं है, अर्थात् वह सीमा में बँधा हुआ है। अतः ध्वनि को उपमा आदि के अन्तर्गत नहीं छाया जा सकता है। उपमा आदि वाच्य और वाचक के चारुत्व के हेतु हैं किन्तु ध्वनि का प्राण व्यक्तय-व्यक्षक माव है और यहाँ स्वयं यह चारुत्व की प्रतीति है।

काराप्रसिद्धता विरुद्धो हेतुः, तत एव हिं यन्नेन लक्षणीयता। लच्ये त्वप्रसिद्धत्व-मसिद्धो हेतुः। यच नृत्तगीतादिकल्पं, तत्काव्यस्य न किञ्चित्। चित्रमिति। विस्मयकृद्धृत्त्यादिवशात्, न तु सहृद्याभिलषणीयचमत्कारसाररसनिः व्यन्द्मय-मित्यर्थः। काव्यानुकारित्वाद्वा चित्रम्, आलेखमात्रत्वाद्वा, कलामात्रत्वाद्वा। श्रम इति।

लक्षणकारों में अप्रसिद्धतारूप विरुद्ध हैतु है; इसी कारण यल्लपूर्वक (आचार्य ने ध्वित को) लक्षणीय किया है! लच्य में 'अप्रसिद्धत्व' रूप हेनु असिद्ध है। और जो कि मृत्त, गीत आदि के समान है, वह काव्य का (ध्वित के रूप में लिक्षत काव्य का) कुछ नहीं है। चित्र—। अर्थात् मृत्त आदि के कारण विस्मय उत्पन्न करने वाला, न कि सहृदयजनों द्वारा अभिलवणीय चमत्कारसार रसका निष्यन्दमय। काव्य का अनुकरण करनेवाला होने के कारण 'चित्र' है, अथवा आलेखमात्र अथवा कलामात्र होने के कारण! आगे—।

३. छोचन में 'वृत्तादि' छपा है, 'वालप्रिया' में 'वृत्त' शब्द से यमक-उपमा आदि का परिग्रह किया है। क्योंकि यमक-उपमा आदि अल्ह्वारों के कारण 'विस्मय' होता है। परन्तु 'दिव्याश्चना'

१, पहले ध्वनि के निराकरण के प्रसङ्ग में यह कह चुके हैं कि प्रसिद्ध प्रस्थान (अर्थात् वह मार्ग जो परम्परा से व्यवहार में आता है, जैसे प्रस्तुत में शब्द-अर्थ तथा उनके गुण और अलङ्कार आदि) में 'ध्वनि' का निर्देश न होने के कारण उसे काव्य नहीं माना जा सकता। तात्पर्य यह कि ध्वनि इस कारण नहीं है कि वह प्रसिद्ध प्रस्थानों में नहीं आता उन्हें अतिक्रमण करने वाला है, इस प्रकार ध्वनि का विरोध किया गया है। इसी को 'न्याय' की भाषा में इस प्रकार कह सकते हैं—ध्वनिर्नाम कान्यप्रकारो नास्ति, प्रसिद्धप्रस्थानातिकामित्वात । इस 'हेतु' के तात्पर्य के रूप में दो बार्ते प्रतीत होती हैं, एक यह कि प्राचीन अलङ्कार-शास्त्र के लक्षणकारों में यह 'ध्विन' तत्त्व प्रसिद्ध नहीं था और दूसरी यह कि यह कोई अप्रसिद्ध लक्ष्य था । इन दोनों का निराकरण करते हुये मूल वृत्ति प्रन्थ में जैसा कहा है कि लक्षणकारों के लिये ही वह केवल प्रसिद्ध नहीं है, किन्तु लक्ष्य की परीक्षा करने पर वहीं सहदयों को आह दित करने वाला कात्र्य तत्त्व है। इस प्रकार 'लक्षणकाराप्रसिद्धता' रूप हेतु विरुद्ध है और 'लक्ष्याप्रसिद्धता' रूप हेतु असिद्ध है। ध्वनि लक्षणकारों के लिये अप्रसिद्ध है तो इसका यह अर्थ नहीं कि वह नहीं है, बल्कि इससे तो यह समझना चाहिये कि वह यलपूर्वक रुक्षणीय है, क्योंकि वह सिर्फ 'काव्य' नहीं बल्कि 'काव्यविशेष' है। अतः यह हेतु विरुद्ध है। दूसरे यह कहना कि वह लक्ष्य में प्रसिद्ध नहीं, विलकुल ठीक नहीं, क्योंकि परीक्षा करके छक्ष्य में देखने पर वड़ी सहदयहृदयाहादकारी तत्त्व दिखाई देता है। अतः यह हेत् असिद्ध है।

२. जैसे नाटक आदि में शोमा के लिये नृत्त, गीत आदि का आयोजन करते हैं उसी प्रकार यह ध्विन भी कोई शोमाकारी तत्त्व हो सकता है। जिस प्रकार नृत्त-गीत क्वनीय न होने के कारण काव्य नहीं हैं उसी प्रकार ध्विन भी काव्य नहीं हैं यह पहले ध्विन के काव्य के रूप में लिखित करने के प्रसङ्ग में कह चुके हैं। प्रस्तुत में 'ध्विन' को 'काव्यिवशिप' रूप में सिद्ध करके यह निर्णय कर दिया कि वह एक कवनीय तत्त्व है अतः वह 'काव्य' है। ऐसी स्थिति में उसे नृत्त-गीतादि की समानता की कोटि में नहीं ला सकते हैं, क्योंकि नृत्त-गीत आदि काव्य से कोई सम्बन्ध नहीं रखते, वे सर्वया कवनीय नहीं हैं और ध्विन कवनीय है, कि वे व्यापार का विषय है।

यद्प्युक्तम्—'कामनीयकमनतिवर्तमानस्य तस्योक्तालङ्कारादि-प्रकारेष्वन्तर्भावः' इति, तद्प्यसमीचीनम् ; वाच्यवाचकमात्राश्रयिणि प्रस्थाने व्यङ्गयव्यञ्जकसमाश्रयेण व्यवस्थितस्य घ्वनेः कथमन्तर्भावः, वाच्यवाचकचारुत्वहेतवो हि तस्याङ्गभूताः, स त्वङ्गिरूप एवेति प्रति-पाद्यिष्यमाणत्वात् ।

जो कि कहा है—'कमनीयता का अतिक्रमण न करने के कारण (विशेष कमनीय न होने के कारण) उस ध्वनि का उक्त अलङ्कार आदि प्रकारों में अन्तर्भाव है।' वह भी समीचीन नहीं। (क्योंकि अलङ्कार आदि) प्रस्थान जब कि एकमात्र वाच्यवाचकभाव पर आश्रित हैं तो उनका ध्वनि, जो व्यङ्गयव्यक्षकभाव का आश्रयण करके व्यवस्थित है, में कैसे अन्तर्भाव होगा? क्योंकि यह प्रतिपादन करेंगे कि वाच्य और वाचक के चाक्यहेतु (अलङ्कार आदि) उस (ध्वनि) के अङ्गभूत हैं, और वह (ध्अनि) तो अङ्गी रूप ही है।

लोचनम्

प्रधानगुणभावाभ्यां व्यङ्गश्यस्यैवं व्यवस्थितम्। द्विधा काव्यं ततोऽन्यद्यत्तित्रमभिधीयते॥

इति तृतीयोइ योते वच्यति । परिकरार्थं कारिकार्थस्याधिकावापं कर्तुं श्लोकः

'इस प्रकार व्यंग्य का प्रघानभाव और गुणभाव के कारण' काव्य दो प्रकार से व्यवस्थित है, उससे जो अतिरिक्त है वह 'चित्र' कहलाता है।

यह 'तृतीयोद्योत' में कहेंगे। परिकर के लिए अर्थात् कारिका के अर्थ का अधिक आवाप (अर्थात् कारिका में नहीं कहे गए अधिक अर्थ का प्रक्षेप) करने के लिए जो

टिप्पणी में 'वृत्त्यादि' पाठ माना है और 'वृत्ति' शब्द से उपनागरिका आदि का ग्रहण किया है। इस पाठपरिवर्तन का अभिप्राय में समझ नहीं पा रहा हूँ। 'वृत्त' के द्वारा अलङ्कारों का ग्रहण करना मुझे ठीक लगता है। क्येंकि चमत्कार या तो रस से होता है या अलङ्कार से। 'चमत्कार विस्मय की ही उत्कृष्ट भूमि है।

ध्वनि और गुणीभूतव्यक्त्य के स्थलों में चमत्कार 'रस' के कारण अनुभव में आता है किन्तु जहाँ केवल अलक्कारों के कारण चमत्कार होता है वह 'विस्मय'का ही एक रूप है अतः विस्मयकारी

होने के कारण अल्ह्यार-प्रधान काव्य को 'चित्रकाव्य' कहने की परम्परा है।

अलङ्कार-प्रधान कान्य को 'चित्र' कहने के और भी कारण हो सकते हैं जैसे वह वस्तुतः कान्य नहीं बल्कि कान्य का अनुकरण करता है। जैसे घोड़े के चित्र वस्तुतः घोड़ा नहीं, किन्तु घोड़े का अनुकरण करता है। इसी प्रकार आलेखमात्र अथवा कलामात्र होने के कारण यह 'चित्र' कहा गया है।

परिकरश्लोकश्रात्र-

व्यङ्गयव्यञ्जकसम्बन्धनिबन्धनतया ध्वनेः । वाच्यवाचकचारुत्वहेत्वन्तःपातिता कुतः ॥

नतु यत्र प्रतीयमानस्यार्थस्य वैश्वधेनाप्रतीतिः स नाम मा भृद् ध्वनेर्विषयः । यत्र तु प्रतीतिरस्ति, यथा-समासोक्त्याक्षेपानुक्त-निमित्तविशेषोक्तिपर्यायोक्तापह्नुतिदीपकसङ्करालङ्कारादौ, तत्र ध्वनेरन्त-भीवो भविष्यतीत्यादि निराकर्तुमभिहितम्-'उपसर्जनीकृतस्वार्थौ' इति ।

अर्थो गुणीकृतात्मा, गुणीकृताभिधेयः शब्दो वा यत्रार्थान्तर-मभिव्यनक्ति स ध्वनिरिति । तेषु कथं तस्यान्तर्भावः । व्यङ्गय-प्राधान्ये हि ध्वनिः । न चैतत्समासोक्तयादिष्वस्ति ।

और यहाँ एक परिकर स्रोक है-

'ध्वनि के मूल में व्यक्त्यव्यक्षकभाव के सम्बन्ध के होने के कारण वाच्य और

वाचक के चारत्व के हेतुओं में उसका अन्तर्भाव कैसे हो सकता है ?'

जहाँ प्रतीयमान अर्थ की विशदतापूर्वक प्रतीति नहीं होती है वह ध्वनि का विषय मत हो, किन्तु जहाँ प्रतीति है, जैसे—समासोक्ति, आचेप, अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति, अपह्नुति, दीपक, सङ्कर आदि में, वहाँ ध्वनि का अन्तर्भाव होगा, इत्यादि (शङ्का) के निवारण के लिए अभिहित किया है—'उपसर्जनीकृतस्वार्थों।'

अर्थात् अर्थ अपने आपको (आत्मा को) गुणीमूत करके, जहाँ दूसरे अर्थ को अभिन्यक्त करता है वह 'ध्वनि' है। उनमें उसका अन्तर्भाव कैसे हो सकता है ? क्योंकि व्यक्त्य अर्थ के प्राधान्य में ध्वनि होता है। और यह समासोक्ति आदि में नहीं है।

लोचनम्

परिकरश्लोकः । यत्रेत्यलङ्कारे । वैश्रधेनिति । चारुतया स्फुटतया चेत्यर्थः । अमिहितमिति । भूतप्रयोग आदौ व्यङ्क इत्यस्य व्याख्यातत्वात् । गुणीकृता-त्मिति । आत्मेत्यनेन स्वशब्दस्यार्थो व्याख्यातः । न चैतिति । व्यङ्कश्रस्य प्राधान्यम् । प्राधान्यं च यद्यपि ज्ञप्तौ न चकास्तिः 'बुद्धौ तत्त्वावभासिन्याम्' श्लोक होता है वह परिकर श्लेक है । जहाँ—। अलङ्कार में । विशदतापूर्वक—। अर्थात् चाख्तापूर्वक और स्फुटतापूर्वक । 'अमिहित' यह 'भूत' प्रयोग है, क्योंकि पहले 'व्यङ्क्तः' ('व्यज्ञित करते हैं') इसका व्याख्यान किया गया है । गुणीकृतात्मा—। 'आत्मा' द्वारा 'स्व' शब्द का अर्थ व्याख्यान किया है । यह '' नहीं है —। व्यंग्य का प्राधान्य (नहीं है) । यद्यपि व्यंग्य का प्राधान्य ज्ञप्ति (ज्ञान) में नहीं भासित होता है, क्योंकि

समासोक्तौ तावत्— उपोढरागेण विलोलतारकं तथा गृहीतं शशिना निशामुखम्। यथा समस्तं तिमिरांशुकं तथा पुरोऽपि रागाद्गलितं न लक्षितम्॥

समासोक्ति में—प्रवृद्धराग शशी ने निशा के मुख को इस प्रकार प्रहण किया कि उस (निशा) ने राग के कारण (सामने = पूर्व दिशा में) ढले हुए पूरे अन्धकार के अंग्रुक को नहीं लिखत किया।

लोचनम्

इति नयेनाखण्डचर्वणाविश्रान्तेः, तथापि विवेचकैर्जीवितान्वेषणे क्रियमाणे यदा व्यङ्गशोऽर्थः पुनरपि वाच्यमेवानुप्राणयन्नास्ते तदा तदुपकरणत्वादेव तस्यालङ्कारता। ततो वाच्यादेव तदुपस्कृताचमत्कारलाम इति। यद्यपि पर्यन्ते रसध्वनिरस्ति, तथापि मध्यकक्षानिविष्टोऽसौ व्यङ्गशोऽर्थो न रसोन्मुखीमविति स्वातन्त्रयेणं, अपि तु वाच्यमेवार्थं संस्कर्तुं धावतीति गुणीमूतव्यङ्गश्वतोक्ता। समासोकाविति।

यत्रोक्तौ गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत्समानैविशेषणैः। सा समासोक्तिरुदिता संक्षिप्तार्थतया बुधैः॥

इत्यत्र समासोक्तिक्षणस्वरूपं हेतुनीम ति प्रविचनिमिति पाद्चतुष्टयेन क्रमादुक्तम्। उपोढो रागः सान्ध्योऽरुणिमा प्रेम च येन। विलोलास्तारका ख्योतींषि नेत्रत्रिभागाश्च यत्र। तथिति। मिटित्येव प्रेमरभसेन च। गृहीतमाभा-सितं परिचुम्बितुमाक्रान्तं च। निशाया मुखं प्रारम्भो वद्नकोकनदं चेति। यथिति। मिटिति प्रह्णोन प्रेमरभसेन च। तिमिरं चांशुकाश्च सूर्मांशवस्तिमि-'बुढौ तत्त्वावभासिन्याम्' इस न्याय के अनुसार अखण्ड चवंणा में विश्रान्ति होती है, तथापि विवेचक लोगों द्वारा जीवित (आत्मा) के अन्वेषण किए जाने पर जब व्यंग्य अर्थ फिर भी वाच्य ही को अनुप्राणन करता है तब उस (वाच्य) का उपकरण होने के कारण उसका अलङ्कारत्व माना जाता है। ऐसी स्थिति में, उस व्यंग्य के द्वारा उपस्कृतं उस वाच्य से ही चमत्कार का लाभ होता है। यद्यपि पर्यवसान में रसष्विन है, तथापि बीच वाली कक्षा में पड़ा व्यंग्य अर्थ रस की ओर उन्मुख नहीं होता, बल्क स्वतन्त्रतापूर्वक वाच्य अर्थ को ही संस्कृत करने के लिए दौड़लगाता है, इसलिए(उसका) गुणीभूतव्यंग्यत्व कहा है। समासोक्ति में—।

जिस उक्ति में अन्य अर्थं (प्रस्तुत से अतिरिक्त अप्रस्तुत अर्थं) समान विशेषणों से प्रतीत होता है उसे विद्वान् लोग संक्षितार्थं होने से समास कहते हैं '

यहाँ श्लोक के चार चरणों द्वारा क्रम से समासोक्ति का लक्षण-स्वरूप, हेतु, नाम और उसका निर्वचन (व्युत्पत्ति) बताया गया है। प्रवृद्ध है राग अर्थात् सन्ध्याकाल की लाली और प्रेम जिससे। विलोल (चंचल) तारक अर्थात् तारे और नेत्रतिभाग हैं जहाँ। तथा—। झट ही और प्रेम के वेग से। गृहीत (ग्रहण किया) अर्थात् आभासित और

इत्यादौ व्यङ्गचेनानुगतं वाच्यमेव प्राधान्येन प्रतीयते समारो-पितनायिकानायकव्यवहारयोर्निज्ञाज्ञज्ञिनोरेव वाक्यार्थत्वात् ।

इत्यादि (उदाहरण) में न्यङ्गय से अनुगत वाच्य ही प्राधान्यतः प्रतीत होता है, क्योंकि जिस पर नायिका और नायक के न्यवहारों का आरोप किया गया है ऐसे विशा और शशी ही वाक्यार्थ हैं।

लोचनम्

रांशुकं रिमशबलीकृतं तमःपटलं, तिमिरांशुकं नीलजालिका नवोढाप्रीढवधू-चिता। रागाद्रक्तत्यात् सन्ध्याकृतादनन्तरं प्रेमरूपाञ्च हेतोः। पुरोऽपि पूर्वस्यां दिशि अमे च। गिलतं प्रशान्तं पिततं च। राज्या करणभूतया समस्तं मिश्रि-तम्; उपलक्षणत्वेन वा। न लिलतं रात्रिप्रारम्भोऽसाविति न ज्ञातं, तिमिर-संविततांशुदर्शने हि रात्रिमुखमिति लोकेन लच्चते न तु स्फुट आलोके। नायिकापचे तु तयेति कर्रपदम्। रात्रिपचे तु अपिशब्दो लिक्षतिमत्यस्यान-त्तरः। अत्र च नायकेन पश्चाद्गतेन चुम्बनोपक्रमे पुरो नीलांशुकस्य गलनं पतनम्। यदि वा 'पुरोऽमे नायकेन तथा गृहीतं मुखिन'ति सम्बन्धः। तेनात्र च्यक्कचे प्रतीतेऽपि न प्राधान्यम्। तथाहि नायकव्यवहारो निशाशिशानवेव

परिचुम्बन के लिए आक्रान्त । निशा का मुख अर्थात् प्रारम्भ और मुख-कमल । यथा-। झट पकड़ लेने से और प्रेम के वेग से। तिमिर और अंशुक (चन्द्र की सूइम किरणें)। तिमिरांशुक अर्थात् रिम से मिला-जुला अन्वकार-पटल, तिमिरांशुक अर्थात् नवोढा प्रौढवघू द्वारा पहनी हुई नीली साड़ी। राग अर्थात् सन्व्या की लाली के कारण अौर प्रेमरूप राग के कारण । 'पुरोऽपि'-पूर्व दिशा में, और सामने । गलित अर्थात् प्रशान्त और पतित (ढला हुआ)। रात्रि करणभूत रात्रि द्वारा समस्त अर्थात् मिश्रित, अथवा उपलक्षण के रूप में रात्रि से। नहीं लिखत किया-। यह रात्रि का प्रारम्भ है यह नहीं जाना, क्योंकि अन्धकार से मिश्रित किरणों को देखने पर ही 'रात्रिमुख' को लोग लक्षित करते हैं-समझते हैं, न कि स्फुट आलोक में। नायिका-पक्ष में 'तया' (उसने) यह कर्तृपद है। रात्रिपक्ष में 'अपि' (मी) शब्द 'लक्षितम्' के बाद है। यहाँ पीछे की ओर से पहुँचे हुए नायक के द्वारा चुम्बन का उपक्रम किए जाने पर सामने नीलांशुक का गलन या पतन है। यदि वा, 'आगे नायक ने उस प्रकार मुख को पकड़ा' यह सम्बन्ध करते हैं, ऐसी स्थिति में यहाँ व्यंग्य के प्रतीत होने पर भी उसका प्राधान्य नहीं बनेगा। क्योंकि नायक का व्यवहार श्रृंगार के विभावरूप निशा और शशी को ही उपस्कृत करता हुआ अलङ्कारभाव को प्राप्त कर रहा है, तब तो विभावीभूत वाच्य से रसिनव्यन्द होगा। जिसने व्याख्यान किया है—'तया निशया' यह कर्तृपद है, निशा के अचेतन होने के कारण उसका कर्तृत्व वन नहीं सकता, इस प्रकार यहाँ शब्द ही के द्वारा नायक का व्यवहार उन्नीत होने से अभिषेय ही है न कि व्यंग्य,

आक्षेपेऽपि व्यङ्गयविशेषाक्षेपिणोऽपि बाच्यस्यैव चारुत्वं प्राघान्येन वाक्यार्थ आक्षेपोक्तिसामध्यदिव ज्ञायते । तथाहि-तत्र शब्दोपारूढो विशेषाभिधानेच्छया प्रतिवेधरूपो य आक्षेपः स एव व्यङ्गयविशेषमाक्षि-पन्मुख्यं काव्यशरीरम् ।

'आचेप' अलङ्कार में भी ज्यङ्गयविशेष का आचेप करने वाले वाच्य अर्थ की ही चारता है, प्राधान्यतः वाक्यार्थ आचेपोक्ति की सामर्थ्य से ही जाना जाता है। जैसा कि—विशेष वात कहने की इच्छा से शब्द द्वारा वाच्य जो प्रतिषेध रूप आचेप है वही ज्यङ्गय विशेष को ज्यक्षित करता हुआ मुख्य काज्यशरीर है।

लोचनम्

श्रृङ्गारिवभावक्तपौ संस्कुर्वाणोऽलङ्कारतां भजते, ततस्तु वाच्याद्विभावीभूताद्र-सिनः ह्यन्दः । यस्तु व्याचष्टे—'तया निशयेति कर्तृपदं, न चाचेतनायाः कर्तृ-त्वयुपपन्नमिति शब्देनैवात्र नायकव्यवहार उन्नीतोऽभिषेय एव, न व्यङ्गय इत्यत एव समासोक्तिः' इति । स प्रकृतमेव प्रन्थार्थमत्यजद्व-चङ्गयेनानुगत-मिति । एकदेशिववर्ति चेत्थं कृपकं स्यात्, 'राजहंसैरवीज्यन्त शरदेव सरोनृपाः' इतिवत्, न तु समासोक्तिः; तुल्यविशेषणाभावात् । गम्यत इति चानेनामि-घाव्यापारिनरासादित्यलमवान्तरेण बहुना । नायकाया नायके यो व्यवहारः स निशायां समारोपितः; नायिकायां नायकस्य यो व्यवहारः स शशिनि समारोपित इति व्याख्याने नैकशेषप्रसङ्गः । श्राच्नेप इति ।

अतएव समासोक्ति है। ' उस (व्याख्याता) ने 'व्यंग्येनानुगतम्' यह प्रस्तुत अयं छोड़ दिया है। इस प्रकार 'एकदेशविवित' रूपक होगा, जैसा कि—'सरोवररूपी राजे राजहंसरूपी शरत्काल द्वारा हवा दिए गए।' समासोक्ति नहीं है, क्योंकि समान विशेषण नहीं है। समासोक्ति में 'गम्यते' (प्रतीत होता है') इस पद का प्रयोग करके अभिधा व्यापार का निराकरण किया है। यह बहुत अवान्तर चर्चा व्यथं है! नायिका का नायक में जो व्यवहार है उसका निशा में समारोप किया है और जो व्यवहार नायिका में नायक का है उसका शशी में समारोप किया है, इस प्रकार व्याख्यान करने पर एकशेष का प्रसंग नहीं उपस्थित होगा। आचेप—।

१. स्वय लोचनकार ने प्रस्तुत 'समासोक्ति' के उदाहरण 'उपोडरागेण' का विशद व्याख्यान प्रस्तुत कर दिया है। यहाँ वृत्तिग्रन्थ में 'नायिका और नायक' जो कहा गया है वहाँ पाणिनि के 'पुमान क्षिया' इस नियम के अनुसार एकशेष होना चाहिए यह शङ्का उपस्थित होती है मतलव यह कि 'नायक' कह देने मात्र से स्वतः नायिका का भी ग्रहण हो सकता था। इस शङ्का के समाधान में आचार्य अभिनवग्रुप्त ने इस प्रकार व्याख्यान किया है दोनों के उच्लेख की आवश्यकता हो जाती है। उनका कहना है कि कवि ने नायिका के नायक में नीलांशुक के गलन को लक्षित न करने आदि व्यवहार (व्यापार) को निशा में आरोपित किया है और नायिका में नायक के

प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषामिधित्सया। वच्यमाणोक्तविषयः स आचेपो द्विधा मतः॥

तत्राद्यी यथा-

अहं त्वां यदि नेत्त्रेय क्षणमप्युत्सुका ततः। इयदेवास्त्वतोऽन्येन किसुक्तेनाप्रियेण ते॥

इति वच्यमाणमरणविषयो निषेधात्माच्चेपः। तत्रेयदस्त्वत्येतदेवात्र स्रिये इत्याक्षिपत्सचारुत्वनिबन्धनमित्याच्चेप्येणाच्चेपकमलङ्कृतं सत्प्रधानम्। उक्तवि-

षयस्तु यथा ममैव-

भो भोः किं किमकाण्ड एव पतितस्त्वं पान्थ कान्या गति-स्तत्ताद्यक्तिषतस्य मे खलमितः सोऽयं जलं गूहते। अस्थानोपनतामकालसुलमां तृष्णां प्रति क्रुध्य भो-स्त्रेलोक्यप्रथितप्रभावमहिमा मार्गः पुनमीरवः॥

अत्र कश्चित्सेवकः प्राप्तः प्राप्तव्यमस्मात्किमिति न लभ इति प्रत्यशाविशस्य-मानहृद्यः केनचिद्मुनाचेपेण प्रतिबोध्यते । तत्राचेपेण निषेधरूपेण

विशेष कथन की इच्छा से इष्ट वस्तु का प्रतिषेष-सा किया जाय तो वह 'वस्यमाण-विषय' और 'उक्तविषय' के भेद से दो प्रकार का 'आक्षेप' होता है।

उसमें पहला जैसे-

'यदि उत्सुक मैं क्षण भर भी तुझे न देखूँ तव "इतना ही रहने दो, इसके बाद की

इसरी तेरी अप्रिय बांत कहने से क्या लाभ ?'

यह बक्ष्यमाण मरणविषय निषेषरूप आक्षेप है। 'इतना रहने दो' केवल यही यहाँ 'मर जाऊँगी' इस बात को आक्षिप्त (व्यक्ति) करता हुआ चारुत्व का निबन्धन (आधार) है। इस प्रकार आक्षेप्य द्वरा आक्षेपक अलंकृत होता हुआ प्रधान ठहरता है। 'उक्तविषय', जैसे मेरा ही—

'हे हे पियक ! तुम क्यों गलत जगह में आ पहुंचे ?' 'मुझे ऐसी प्यास ही लगी है, मैं क्या करता ?' यह दुष्ट मार्ग तो जल को लिपा लेता है !' अरे गलत जगह में उत्पन्न हुई अकाल सुलम मेरी तृष्णा के प्रति क्रोध करो, अन्यथा (किसे नहीं मालूम कि) यह तीनों लोकों में प्रसिद्ध प्रभाव और महिमा वाला मक् का मार्ग है (यहाँ जल की आशा व्यथं है)।'

यहाँ कोई सेवक अपने मालिक के पास पहुंचा है, इस प्रत्याशा से कि क्यों नहीं इससे वह अपने प्राप्तव्य का लाभ करेगा ? उसका हृदय विश्वास कर रहा है, तभी कोई उसे इस 'आक्षेप' के द्वारा प्रतिवोधन करता है। वहाँ निषेधरूप आक्षेप के द्वारा

मुखचुम्बनादि न्यापार को शशी में आरोपित किया हैं। यदि पक्शेप कर दिया जायगा तब इस प्रकार नायिका और नायक के शशी और निशा में न्यवहार के समारोपण का स्पष्टीकरण नहीं हो सकेगा।

बाच्यस्यैवासत्पुरुषसेवातद्वैफल्यतत्कृतोद्वेगात्मनः शान्तरसस्थायिमृतनिर्वेद-विभावरूपतया चमत्कृतिदायित्वम् । बामनस्य तु 'उपमानास्त्रेपः' इत्यासेपलक्ष-णम् । उपमानस्य चन्द्रादेशसेपः; अस्मिन्सति कि त्यचा कृत्यमिति । यथा—

तस्यास्तन्युखमस्ति सीम्यसुभगं कि पार्वयोनेन्दुना सीन्दर्यस्य पदं दृशी यदि च तैः कि नाम नीतोत्पतैः। कि वा कोमलकान्तिभिः किसलयैः सत्येच तत्राघरे ही धातुः पुनकक्तवस्तुरचनारम्भेष्वपूर्वो ब्रहः।

अत्र व्यक्त योऽप्युपमार्थी वाच्यस्यैवोपस्कुद्धते । किं तेन कृत्यमिति त्वप-हस्तनारूप आद्येपो वाच्य एव चमत्कारकारणम्। यदि वोपमानस्याद्येपः सामर्थ्यादाकर्षणम्। यथा—

ऐन्द्रं धनुः पाण्डुपयोधरेण शरह्धानाह्र् नखक्षतासम्।
असत्पुरुष की सेवा और उसके वैफल्य तथा उससे उत्पन्न उद्वेगरूप बाच्य का शान्तरस के स्थायीभाव निर्वेद के (उद्दीपक) विभाव होने के कारण चमत्कृतिकारित्व है। परन्तु वामन का आक्षेप' लक्षण 'उपमान का आक्षेप' है। उपमान चन्द्र आदि का आक्षेप, इसके रहते तुझसे क्या होगा ? जैसे—

'सौम्य एवं सुभग उस रमणी का वह मुख विद्यमान है तो पूर्णिमा के चन्द्र से क्या ? यदि सौन्दर्य का स्थानभूत उसकी आँखें हैं तब उन नीले कमलों से क्या ? वहाँ उसके अघर के रहते कोमल कान्ति वाले किसलयों से क्या ? बोह ! एक वस्तु के बाद पुनः उसी के समान दूसरी वस्तु के निर्माण में विधाता का अपूर्व आग्रह है !'

यहाँ उपमारूप अर्थ व्यंग्य होता हुआ भी वाच्य का ही उपस्कारक है। 'उससे क्या काम ?' यह 'अपहस्तना' (निराकरण) रूप 'आसेप' बाच्य होकर ही जमत्कार का कारण है। अथवा यदि उपमान का आसेप अर्थाद '(अर्थ की) सामर्थ्य से आकर्षण' है। जैसे—

'अपने पाण्डु वर्ण वाले पयोधर (मेघ, पक्ष में स्तन) 'से गीले नखकत की माँति

१. पहले प्रस्तुत उदाहरण के मूल स्वरूप पर विचार कर लेना चाहिए। इसका दूसरा चरण, जैसा कि 'तत्ताहक तृषितस्य में खलमितः सोऽयं जलं गृहते' मुद्रित है, अथं होगा 'उस प्रकार मुझ प्यासे की और दूसरी गित क्या हो सकती है ?' यह वृष्ट मित का (मार्ग अथवा व्यक्ति) जल को छिपा लेता है। किन्तु 'वालप्रिया' में इस चरण के अन्य पाठमेद को मानकर कि 'भे खल ! स्तिः सेयं' अथांत् रे दुष्ट पथिक ! मुझ प्यासे के लिए और दूसरी गित क्या है ?' 'यह मार्ग (सिते) जल को छिपा लेता है।' ज्याख्या किया है। मेंने इन दोनों पाठों से कुछ मिलता-जुलता अर्थ किया है। यहाँ असत्पुरुष की सेवा की विफलता वाच्य हो रही है और शान्तरस व्यक्त्य है। 'अस्थान में पहुँचने से इष्ट का लाम होनेवाला नहीं' इस 'आक्षेप' से वाच्य की शोभा हो रही है। चमरकार के कम-वेश होने पर ही अप्रधानता और प्रधानता का निर्णय होता है यह सिद्धान्य मूल विचय उक्त है।

चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यङ्गचयोः प्राधान्यविवक्षा। यथा---

> अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत्पुरस्सरः। अहो दैवगतिः कीदक्तथापि न समागमः॥

अत्र सत्यामि व्यङ्गचप्रतीतौ वाच्यस्यैव चारुत्वमुत्कर्पविति तस्यैव प्राधान्यविवक्षा ।

क्योंकि, वाष्य और व्यक्नय के प्राधान्य की विवत्ता चारुत्व के उत्कर्प के आधार पर होती है। जैसे—

सन्ध्या (नायिका) अनुराग (सन्ध्याकालीन लाली, अर्थवा प्रेम) से भरी है सौर दिवस (नायक) उसके सामने सरक रहा है। अहो, दैव की गति वैसी है कि तब भी समागम नहीं होता।

यहाँ व्यक्तव की प्रतीति होने पर भी वाच्य का ही चारुव उत्कर्पयुक्त है, अतः उसीके प्राधान्य की विवज्ञा है।

लोचनम्

प्रसादयन्ती सकलङ्कमिन्दुं तापं रवेरभ्यधिकं चकार।।

इत्यत्रेर्ध्याकलुषितनायकान्तरमुपमानमाक्षिप्तमिप वाच्यार्थमेवालङ्करोतीत्येषा तु समासोक्तिरेव । तदाह—चारुत्वोत्कर्षेति । अत्रैव प्रसिद्धं दृष्टान्तमाह—
अनुरागवतीति । तेनाक्तेपप्रमेयसमर्थनमेवापिरसमाप्तमिति मन्तव्यम् । तत्रोदाहरणत्वेन समासोक्तिश्लोकः पठितः । श्रहो दैवगतिरिति । गुरुपारतन्त्र्यादिनिमित्तोऽसमागम इत्यर्थः । तस्यैवैति । वाच्यस्यैवेति यावत् । वामनाभिप्रायेइन्द्र-धनुष को घारण किए हुई और सकलंक चन्द्रमा को प्रसन्न करती हुई शरद् ने
सुर्यं के ताप को बढ़ा दिया।'

यहाँ ईर्ष्या से कलुषित अन्य 'नायकरूप उपमान आक्षिप्त होकर भी वाच्यार्थ को ही अलंकृत करता है। इस प्रकार यह तो 'समासोक्ति' ही है। जैसा कि कहा है— चारुत्व के उत्कर्ष—। यहीं पर प्रसिद्ध दृष्टान्त को कहते हैं— सन्ध्या अनुराग से—। इसलिए यह मानना चाहिए कि 'आक्षेप' अलङ्कार के प्रमेय (उदाहरण) का समर्थन अभी पूरा समाप्त नहीं हुआ है। वहाँ उदाहरण के रूप में 'समासोक्ति' का रलोक पढ़ा है। अहो दैवगितः—। अर्थात् गुरुजनों की परतन्त्रता आदि के कारण समागम नहीं होता। उसी के—मतलब कि वाच्य की ही। वामन के अभिप्राय से यह 'आक्षेप'

१. ऋरद् नायिका है और चन्द्र उसका प्रिय नायक । सूर्य उसका ईर्म्यां नायक है। यह नायक:नायिका व्यवहार यहाँ जो श्रिष्ट प्रयोगों से व्यक्तित हो रहा है उससे वाच्य की शोमा हो

यथा च दीपकापह्नुत्यादौ व्यङ्गचत्वेनोपमायाः प्रतीताविप प्राधान्येनाविवक्षितत्वास्र तथा व्यपदेशस्तद्वदत्रापि द्रष्टव्यस् ।

और, जैसे दीपक, अपद्नुति आदि में व्यङ्गव रूप से उपमा की प्रतीति होने पर भी प्राधान्यतः विविच्चत न होने के कारण उससे व्यपदेश नहीं होता, उसी प्रकार यहाँ भी देखना चाहिए।

लोचनम्

णायमाचेपः, भामहाभिप्रायेण तु समासोक्तिरित्यमुमाशयं हृद्ये गृहीत्वा समासोक्त्याचेपयोः युक्त्येदमेकमेवोदाहरणं व्यतरद् प्रन्थकृत्। एषापि समासोक्तिवाऽस्तु आचेपो वा, किमनेनास्माकृष्। सर्वथालङ्कारेषु व्यङ्गश्रं बाच्ये गुणीभवतीति नः साध्यमित्यत्राशयोऽत्र प्रन्थेऽस्मद्गुक्भिर्निकृपितः।

एवं प्राधान्यविवक्षायां दृष्टान्तमुक्त्वा व्यपदेशोऽपि प्राधान्यकृत एव भवतीत्यत्र दृष्टान्तं स्वपरप्रसिद्धमाह—यथा चेति । उपमाया इति । उपमानो-पमेयभावस्येत्यर्थः तयेत्युपमया । दीपके हि 'आदिमध्यान्तविषयं त्रिधा दीपकमिष्यते' इति लक्षणम् ।

> मिणः शाणोल्लीढः समरविजयी हेतिद्वितः कलाशेपश्चन्द्रः सुरतमृदिता बालललना। मदक्षीणो नागः शरिद सिरदाश्यानपुलिना तिन्ना शोभन्ते गलितविभवाश्चार्थिषु जनाः॥

है, किन्तु 'भामह' के अभिप्राय से समासोक्ति है, इस आशय को हृदय में रखकर ग्रन्थकार ने युक्ति से समासोक्ति और आक्षेप का यह एक ही उदाहरण दिया है। यह 'समासोक्ति' हो अथवा आक्षेप, इससे हमें क्या ? सर्वथा हमारा साध्य यह है कि अलङ्कारों में व्यंग्य वाच्य में गुणीभूत होकर रहता है—इस आशय को इस ग्रन्थ में हमारे गुरुदेव ने निरूपण किया है।

इस प्रकार प्राधान्य की विवक्षा के सम्बन्ध में दृष्टान्त कहकर व्यपदेश (नाम का व्यवहार) भी प्राधान्य के कारण ही होता है, इसका यहाँ अपने और दूसरे के अनुसार प्रसिद्ध दृष्टान्त देते हैं—और जैसे—। उपमा की—। अर्थात् उपमानोपमेयभाव की। उससे—। अर्थात् उपमा से। 'दीपक' में, 'आदिविषय, मध्यविषय और अन्तविषय के भेद से तीन प्रकार का दीपक होता है' यह लक्षण है।

शान पर निखारा हुआ मणि, शस्त्रों के प्रहार से आहत समरविजयी वीर, एक कलामात्र शेषवाला चन्द्र, सुरत के प्रसंग में मसली हुई बालललना, क्षीण मद वाला

रही है। इस प्रकार वामन के पक्ष से यहाँ 'आक्षेत्र' है किन्तु भामह के मान्य मत के अनुसार 'समासोक्ति' है। वामन का लक्ष्म सर्वमान्य नहीं हो सका।

इत्यत्र दीपनकृतमेय चारुत्वम्। 'अपह्नुतिरभीष्टस्य किञ्चिदन्तर्गतोपमा' इति । तत्रापद्वुत्यैव शोभा । यथा—

नेयं विरौति भृङ्गाली मदेन मुखरा मुहुः। अयमाकृष्यमाणस्य कन्दर्पधनुषो ध्वनिः॥ इति।

एकमाचेपं विचार्योद्देशक्रमेणैव प्रमेयान्तरमाह्-श्रनुक्तनिमित्तायामिति । एकदेशस्य विगमे या गुणान्तरसंस्तुतिः।

विशेषप्रथनायासौ विशेषोक्तिरिति स्मृता।। यथा---

स एकक्षीणि जयति जगन्ति कुसुमायुधः। इरतापि तनुं यस्य शम्भुना न द्वतं बलम्।।

इयं चाचिन्त्यनिमित्तेति नास्याँ व्यङ्गग्यस्य सद्भावः। उक्तनिमित्तायामिष वस्तुस्वभावमात्रत्वे पर्यवसानमिति तत्रापि न व्यङ्गग्यसद्भावशङ्का। यथा—

कर्पूर इव दग्धोऽपि शक्तिमान् यो जने जने। नमोऽस्त्ववार्यवीर्याय तस्मै कुसुमधन्वने॥

हाथी, अरत्काल में सूखे पुलिन वाली सरिता और याचकों को दान देकर क्षीण घन वाले लोग अपनी कृशता से शोभित होते हैं।

यहाँ चारुत्व दीपन—(अनेक में एक धर्म का अन्वयरूप दीपन—) कृत है। 'अभीष्ट (अर्थात् वर्ण्यंविषय) का निषेध, जिसमें उपमा व्यंग्य होती हो, अपह्नुति कहलाता है।' वहाँ अपह्नुति (निषेध) से ही शोभा होती है। जैसे—

'यह मदमुखर भ्रमर-पङ्क्ति बार-बार नहीं गुजार कर रही है, बल्कि यह खींचे हुए कामदेव के धनुष की आवाज है।'

इस प्रकार 'आक्षेप' का विचार करके निर्दिष्ट क्रम के अनुसार ही प्रमेयान्तर को कहते हैं अनुस्तिनिमत्ता—।

'एकदेश के न रहने पर, कुछ अतिशय बात के ख्यापन के लिए जो गुणान्तर का कथन होता है उसे 'विशेषोक्ति' कहते हैं।'

जैसे-

'वह फूल को वाणों वाला कामदेव अकेले ही तीनों जगत् पर विजय प्राप्त करता है, जिसके खरीर को नष्ट करते हुए भी शिवजी ने बल को नष्ट नहीं किया।

यह विशेषोक्ति अविन्त्यनिमित्ता है (क्योंकि शरीर के हरण होने पर भी बल के हरण न होने का कारण नहीं कहा जा सकता)। इसलिए इसमें व्यंग्य का सद्भाव नहीं है। 'उक्तनिमित्ता' (अर्थात् जिस विशेषोक्ति में निमित्त या कारण का कथन किया गया होता है) में भी वस्तु के स्वभावमात्र में पर्यवसान हो जाता है, इसलिए वहां भी व्यंग्य के सद्भाव की शंका नहीं। जैसे—

'कपूर के समान जला हुआ भी जो जन-जन में शक्तिमान है उस फूलों के घनुषवाले अवार्यवीय कामदेव के लिए नमस्कार है।'

अनुक्तनिमित्तायामि विश्वेषोक्ती—
आहृतोऽिष सहायैरोमित्युक्तवा विश्वक्तनिद्रोऽिष ।
जन्तुमना अपि पथिकः सङ्कोचं नैव श्विथिलयति ॥
इत्यादौ व्यङ्गयस्य प्रकरणसामध्यीत्प्रतीतिमात्रं न द्व तत्प्रतीतिनिमित्ता काचित्वारुत्वनिष्पत्तिरिति न प्राधान्यम् । पर्यायोक्तेऽिप यदि

अनुक्तनिमित्ता 'विशेषोक्ति' में भी-

'अपने साथियों द्वारा पुकारे जाने पर भी, 'हाँ' कहकर नींद छोद देने पर भी एवं जाने की इच्छा रखता हुआ भी पिथक अधिक संकोच को शिथिक नहीं करता है।' इत्यादि (उदाहरण) में प्रकरण की सामर्थ्य से व्यङ्गय की प्रतीतिमान्न हो जाती है, न कि उस प्रतीति के कारण कोई चारुव की निष्पत्ति होती है अतः (ब्यङ्गय का) प्राधान्य नहीं है। 'पर्यायोक्त' में भी यदि प्राधान्यतः ब्यङ्गय है तो उसका 'ब्वनि' में लोचनम

तेन प्रकारद्वयमवधीय तृतीयं प्रकारमाशङ्कते—अनुक्रनिभित्तायामपीति । व्यङ्गयस्येति । शीतकृता खल्वार्तिरत्र निमित्तिमिति भट्टोद्भटः, तद्भिप्रायेणाह्— न त्वत्र काचिचारुत्वनिष्पत्तिरिति । यत्तु रसिकैरपि निमित्तं कल्पितम्—'काम्ता-समागमे गमनादिप लघुतरमुपायं स्वप्नं मन्यमानो निद्रागमन्नुद्भया सङ्कोचं नात्यजत्' इति तदिप निमित्तं चारुत्वहेतुतया नालङ्कारविद्भिः कल्पितम्, अपि तु विशेषोक्तिमाग एव न शिथिलयतीत्येवस्मूतोऽभिव्यज्यमाननिमित्तोपस्कृत-आरुत्वहेतुः । अन्यथा तु विशेषोक्तिरेवेयं न भवेत् । एवमिम्रायद्भयपि साधारणोक्त्या प्रन्थकुन्न्यरूपयन्न त्यौद्भटेनैवाभिप्रायेण प्रन्थो व्यवस्थित इति मन्तव्यम् । पर्यायोक्तेऽपीति—

(यहाँ 'अवार्यवीयें' इस निमित्त का कथन है, अत: यह 'उक्तनिमित्ता' है)।

अतः (विशेषोक्ति के इन) दोनों प्रकारों को छोड़कर तीसरे प्रकार की आश्रक्का करते हैं—अनुक्तिनिसत्ता में भी—। व्यक्त्य की—। 'सट्ट उद्भट' के अनुसार 'यहां शीत के कारण कष्ट निमित्त है।' इस अभिप्राय से कहते हैं—न कि उस व्यक्त्य की प्रतीति के कारण छोई चारूव की निष्पत्ति होती है—। जो कि रिसक जनों ने भी (यहां) 'निमित्त' की कल्पना की है, कि—'कान्ता के समागम के लिए गमन करने से भी लघुतर (शीघतर) उपाय स्वप्न को मानते हुए पियक ने, जिससे कि नींद लग जाय, इस बुद्धि से, सङ्कोच नहीं छोड़ा।' इस निमित्त को भी अलङ्कारकों ने चारूवहेतु के रूप में नहीं स्वीकार किया है, बल्कि अभिव्यक्त होते हुए निमित्त के द्वारा उपस्कृत नहीं होता 'नहीं शिथल करता है' इस प्रकार का विशेषोक्ति—अंश ही चारूव का हेतु है। अन्यथा, यह विशेषोक्ति ही न होगी। इस प्रकार (उद्भट और रिसकों के) दो अभिप्रायों को ग्रन्थकार ने सामान्य उक्ति ('व्यक्त्य की' यह उक्ति) द्वारा निरूपण

प्राधान्येन व्यङ्गयत्वं तद्भवतु नाम तस्य ध्वनावन्तर्भावः । न तु ध्वने-अन्तर्भाव हो भी जाय, परन्तु ध्वनि का उसमें अन्तर्भाव नहीं होगा । क्योंकि उसका

लोचनम्

पर्यायोक्तं यद्नयेन प्रकारेणामिधीयते। बाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना।।

इति लक्षणम् । यथा— शत्रुच्छेदृदृढेच्छस्य मुनेरुत्पथगामिनः ।

रामस्यानेन धनुषा देशिता धर्मदेशना ॥ इति ।

अत्र भीष्मस्य भागवप्रभावाभिभावी प्रभाव इति यद्यपि प्रतीयते, तथापि तत्सहायेन देशिता धर्मदेशनेत्यभिधीयमानेनेव काव्यार्थोऽलंकुतः। अत एव पर्यायेण प्रकारान्तरेणावगमात्मना व्यङ्ग-येनोपलक्षितं सद्यद्भिधीयते तद्भिधी-यमानमुक्तमेव सत्पर्यायोक्तमित्यभिधीयत इति लक्षणपद्म्, पर्यायोक्तमिति लद्यपद्म्, अर्थोलङ्कारत्वं सामान्यलक्षणं चेति सर्व युज्यते। यदि त्वभिधीयत इत्यस्य बलाड्याख्यानमभिधीयते प्रतीयते प्रधानतयेति, उदाहरणं च भम धिम्मअ' इत्यादि, तदालङ्कारत्वमेव दूरे सम्पन्नमात्मतायां पर्यवसानात्। तदा चालङ्कारमध्ये गणना न कार्या। भेदान्तराणि चास्य वक्तव्यानि। तदाह—यदि प्राधान्येनेति। धनाविति। आत्मन्यन्तभीवादात्मैवासी नालङ्कारस्स्यादि-किया है, न कि उद्घट के ही अभिप्राय से ग्रन्थ व्यवस्थित है, ऐसा मानना चाहिए।

'जो प्रकारान्तर से अभिधान किया जाता है, अर्थात् और वाचक के व्यापारों से

रहित, व्यञ्जन रूप व्यापार से जो कहा जाता है वह पर्यायोक्त (अलङ्कार) है।'
यह लक्षण है। जैसे—'शत्रु के विनाश की हढ़ इच्छा वाले, उन्मार्गगामी मुनि
(परशुराम) को (भीष्म के) इस धनुष ने धर्म-पालन की शिक्षा दी।'

यहाँ यद्यपि भीष्म का भागंव-परशुराम के प्रभाव को अभिभूत करने वाला प्रभाव प्रतीत होता है, तथापि उस (प्रतीयमानार्थ) की सहायता से 'धर्म-पालन की शिक्षा दी' इस अभिधीयमान (वाच्यार्थ) से ही काव्यार्थ अलङ्कृत है। अत एव पर्याय अर्थात् प्रकारान्तर से अवगम रूप व्यङ्ग्य से उपलक्षित होकर जो अभिहित होता है वह अभिधीयमान उक्त ही होकर 'पर्यायोक्त' कहलाता है, यह लक्षण-पद है, एवं 'पर्यायोक्त' यह लक्ष्य-पद है। और इसका अर्थालङ्कारत्व रूप अलङ्कार का सामान्य लक्षण है। यह सब कुछ उसमें लग जाता है। यदि—'अभिधीयते' ('अभिहित होता है') इंसका बलाइ व्याख्यान 'प्रधान रूप से प्रतीत होता है, यह करते हैं, और 'मम धिमान' इत्यादि का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं तब इसका अलङ्कारत्व ही दूर हट जायगा, क्योंकि 'आत्मा' के रूप में इसका पर्यवसान होगा। तब अलङ्कारों के बीच गणना न होगी। इसके भेदान्तर भी कहे जायेंगे। इसे कहते हैं—यदि प्रधान रूप से—। ध्विन में—। अर्थात् आत्मा में अन्तर्भाव होने से वह आत्मा ही होगा,

स्तंत्रान्तर्भावः । तस्य महाविषयत्वेनाङ्गित्वेन च प्रतिपादयिष्यमाण-त्वात् । न पुनः पर्यायो भामहोदाहृतसदृशे व्यङ्गयस्यैव प्राधान्यम् । वाच्यस्य तत्रोपसर्जनाभावेनाविवक्षित्वात् ।

महाविषय रूप एवं अङ्गीरूप से प्रतिपादन करेंगे। ऐसा नहीं कि जैसा भामह ने जिस 'पर्यायोक्त' को कहा है उसके सदश पर्यायोक्त में व्यङ्गय का ही प्राधान्य है, क्योंकि वहाँ वाज्य के उपसर्जनीभाव (गुणीभाव) की विवन्ना नहीं की गयी है। लोचनम

त्यर्थः । तत्रेति । यादृशोऽलङ्कारत्वेन विविश्वतस्तादृशे ध्वनिर्नान्तर्भवति, न तादृगस्माभिध्वनिरुक्तः । ध्वनिर्हि महाविषयः सर्वत्र भावाद्यापकः समस्तप्र-तिप्रास्थानत्वाचाङ्गी । न चालङ्कारो व्यापकोऽन्यालङ्कारवत् । न चाङ्गी, अलङ्कार्यतन्त्रत्वात् । अथ व्यापकत्वाङ्गित्वे तस्योपगम्येते, त्यव्यते चालङ्का-रता, तद्धस्मन्नय एवायमवलम्व्यते केवलं मात्सर्यप्रहात्पर्यायोक्तवाचेति भावः । न चेयद्पि प्राक्तनैर्द्धमपि त्वस्माभिरेवोन्मीलित्मिति दर्शयति – पुनिरिति । भामम्स्य याद्यकृतीयं रूपमभिमतं ताद्यगुदाहर्योन दर्शितम् । तत्रापि नैव व्यङ्गचस्य प्राधान्यं चारुत्वाहेतुत्वात् । तेन तद्वुसारितया तत्सदृशं यदुदाहर-णान्तरमपि कर्य्यते तत्र नैव व्यङ्गयस्य प्राधान्यमिति सङ्गतिः ।

यदि तु तदुक्तमुदाहरणमनादृत्य 'भम धिम्मअ' इत्याद्यदाहियते, तद्स्मकिछ यतेवं। केवलं तु नयमनवलम्ब्यापश्रविधानात्मसंस्कार इत्यनायचेष्ठितम्।
अलङ्कार नहीं। वहाँ—। अलङ्कार के रूप में जैसा विविक्षित है वैसे में घ्विन का
अन्तर्भाव नहीं होगा, हमने उस प्रकार 'घ्विन' को नहीं कहा है। क्योंकि 'घ्विन'
महाविषय है, सर्वत्र होने से व्यापक और सबका प्रतिष्ठान (आधार) होने से अङ्गी
है। अलङ्कार दूसरे अलङ्कारों को तरह व्यापक नहीं है और अङ्गी भी नहीं है, क्योंकि
वह अपने अलङ्कार्य के अधीन होता है। अगर उस (अलङ्कार) का व्यापकत्व एवं
अङ्गित्व मानते हैं और अलङ्कारता छोड़ देते हैं तो केवल मात्सर्यग्रह के कारण
'पर्यायोक्त' के कथन द्वारा भी हमारा पक्ष ही अवलम्बन किया जाता है—यह
मतलब है। न कि इतना भी (व्यङ्गय का प्राधान्य भी) प्राचीनों ने देखा है,
अपितु हमने ही उसका उन्मीलन किया है, इस बात को दिखाते हैं—ऐसा नहीं—।
मामह को जैसा उसका (पर्यायोक्त का) रूप अभिमत या वैसा उदाहरण से दिखाया
जा चुका है। वहाँ भी व्यङ्गय का प्राधान्य नहीं है, क्योंकि व्यङ्गय वहाँ चारत्व का
कारण नहीं है। इसलिए उसका अनुसरण करके जो कुछ दूसरा भी तत्सहश
उदाहरण देंगे वहाँ भी व्यङ्ग का प्राधान्य नहीं होगा—यह (ग्रन्थ की) सङ्गित है।

यदि उन (भामह) के कहे उदाहरण को हटाकर 'भम धिम्मअ०' इत्यादि को उदाहरण देते हैं तो हमारा शिष्य ही बनते हैं। केवल न्याय का अवलम्बन न करके

सोचनम्

थदाहुरैतिहासिकाः—'अवस्याप्यवच्छाद्य ऋण्वन्नरकमृच्छति' इति । आमहेन खुवाहतम्—

'गृहेष्यध्वसु वा नाजं सुञ्ज्यहे यदधीतिनः। विप्रा न सुद्धते' इति।

एति अगबद्वासुद्देववयनं पर्यायेण रसदानं निषेधित । यत्म एवाह—'त्रध्व रसदानिन्धृत्तये' इति । न चास्य रसदानिनषेधस्य व्यङ्गयस्य किश्चिषाकृत्व-स्नित्त येन प्राधान्यं शङ्क्येत । अपि तु तस्वङ्गयोपोद्धिततं विप्रभोजनेन विना अभ्रभोजनं नदेवोक्तप्रकारेण पर्यायोक्तं सत्प्राकरणिकं भोजनार्थमलङ्कुरुते । न स्नस्य निर्विषं भोजनं भवत्विति विवक्षितमिति पर्यायोक्तमलङ्कार एवेति वष्मचष्म द्वारा आत्मा का संस्कार यह अना'यं-वेष्टा है । जैसा कि ऐतिहासिकों ने फहा है—'(विद्या में एवं गुरु के प्रति) अवज्ञा से आत्मापह्नव करके सुनता हुआ स्निक्त नरक जाता है ।' मामह ने उदाहरण दिया है—

'जिख अन्न को स्वाच्याय करने वाले विप्रलोग नहीं खाते उसे हम लोग घरों में और मार्गों में नहीं खाते हैं।'

यह मगवान् बासुदेव का वचन 'पर्याव' द्वारा (प्रकारान्तर से) रसदान (विषदान) का निषेघ करता है। जो कि वे ही कहते हैं— 'रसदान (विषदान) की निष्टित के लिए।' इस विषदान के निषेघ रूप व्यक्त्रय का कोई चारुत्व नहीं है, जिससे उसके प्राधान्य की राक्क्षा होगी। बल्कि उस व्यक्त्रय से उपोद्द्वलित 'विष्ठभोजन के विना जो नहीं मोजन है' वही उक्त (पर्याय के) प्रकार से पर्यायोक्त होकर प्राकरणिक सोजन के अर्च को अल्क्ष्मुत करता है। वासुदेव श्रीकृष्ण का (विश्वपाल के प्रति) वह विवक्षित नहीं है कि विषरहित मोजन हो इस' प्रकार पर्यायोक्त अलक्ष्मार ही

१. यह निर्देश पहछे ही कर चुके हैं कि आचार्य भामह ने जो 'पर्यायोक्त' अछक्कार का उदाहरण दिया है उसमें ज्यक्तय की प्रधानता नहीं है। स्वयं उन्होंने 'अभिधीयते' कह-कर ज्यक्तय की अधानता दी है। यदि इस बात को न स्वीकार करके 'भम धीमाअ' इत्यादि को उदाहरण के स्प में प्रस्तुत करते हैं तब स्वयं ध्वनिमार्ग के पश्चपाती बनकर हमारी शिष्यता स्वीकार करते हैं। क्योंकि इस स्थळ में ज्यंय की प्रधानता है और तद्देश्वया वाच्य गुणीभृत है। इस प्रकार वह 'ध्वनि' का उदाहरण है। ऐसी स्थिति में 'प्यायोक्त' कोई अछक्कार नहीं रह जाता है बिस्त वह अछक्कार नहीं रह जाता है विस्त वह अछक्कार नहीं रह जाता है। इस प्रकार वह 'ध्वनि' का उदाहरण है। ऐसी स्थिति को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार अनायास ध्वनि का यहाँ प्रसंग उपस्थित हो जाता है। इस प्रकार वादों ने स्वयं ध्वनि को स्वीकार कर लिया और ध्वनिवादी आचार्य का वेदंया 'शिष्य' हुआ। 'बेदंगा' इसिछए कि उसने परम्परा से गुरु के यहाँ उपस्थित होकर अध्ययन नहीं किया और स्वयं गुरु की बात तक जैसे-तैसे पहुँच गया। निवमतः शिष्य को गुरु के गुरु से शुरू से ही शास्त्रायं का अवण करना चाहिएं, यही आयं-परम्परा है। यदि शिष्य ने ऐसा न किया और विद्या प्रहण कर लिया तो उसके इस प्रयक्त को 'अपअवण' और 'अनायंचेष्टित' कहा जाता है।

२. अगवान् कृष्ण का यह अभिप्राय है कि शिशुपाल कहीं अन्न के साथ सुझे विष न दे दे, इस छिए वह पहले बाह्मणों को खिला कर स्वयं खाने की वात करते हैं। इस प्रकार प्रस्तुत उदाहरण में

चन्यासोकः

अपह्नुतिदीपकयोः पुनर्वाच्यस्य प्राधान्यं व्यङ्गयस्य चानुयायित्वं प्रसिद्धसेव ।

और फिर अपहाति और दीपक (अलङ्कारों) में वाच्य का प्राधान्य और व्यङ्गय का अनुयायित्व प्रसिद्ध ही है।

लोचनम्

चिरन्तनानामभिमत इति तात्पर्यम् । श्रपह्नुतिदीपकयोरिति । एतत्पूर्वमेच निर्णीतम् । अत एवाह—प्रसिद्धमिति । प्रतीतं प्रसाधितं प्रामाणिकं चेत्यर्थः । पूर्वं चैतद्वपमादिव्यपदेशभाजनमेव तद्यथा न भवतीत्यमुया छायया दृष्टान्त-त्रयोक्तमप्युद्देशक्रमपूरणाय प्रन्थशय्यां योजयितुं पुनरप्युक्तं 'व्यङ्ग-यप्राधान्या-भावान्न ध्वनिरि'ति छायान्तरेण वस्तु पुनरेकमेवोपमाया एव व्यङ्ग-यत्वेन ध्वनित्वाशङ्कनात् । यत्तु विवरणकृत्—दीपकस्य सर्वत्रोपमान्वयो नास्तीति बहुनोदाहरणप्रपद्धेन विचारितवांस्तदनुपयोगि निस्सारं सुप्रतिचे्तं च ।

प्राचीनों का अभिमत है, यह तात्पर्य है। अपह्नुति और दीपक में—। यह पहले ही निर्णय कर चुके हैं। अत एव कहते हैं—प्रसिद्ध—। अर्थात् प्रतीत, प्रसाधित एवं प्रामाणिक है। पहले तो यह 'उपमादि के व्यपदेश का भाजन ही जिस प्रकार नहीं हो सकता' इस प्रकार से दृष्टान्त के रूप में उक्त होकर भी उद्देश कम की पूर्ति के लिए एवं ग्रन्थशय्या की योजना' के लिए फिर भी कहा है—'व्यक्ष्य का प्राधान्य न होने के कारण घ्यनि नहीं है।' प्रकारान्तर से (अप्राधान्य रूप) वस्तु एक ही है इस प्रकार उपमा के व्यक्ष्य होने से 'ध्यनि' की सक्का नहीं। जो कि विवरणकार ने—'वीपक का सर्वत्र उपमा से सम्बन्ध नहीं है' यह बहुत से उदाहरण—प्रपञ्च द्वारा विचार किया है, वह उपयोगी नहीं, तथा निःसार एवं सहज ही निराकरणीय है।

रस अर्थात् विष के दान का निषेध पर्याय या प्रकारान्तर से है व्यंग्य, किन्तु यह व्यक्तध आगे की 'तच रसदाननिवृत्त्वये' (विषदान की निवृत्ति के लिए) इस उक्ति से अभिहित हो जाता है। इस प्रकार यह पर्यायोक्त अलक्कार है। क्यों कि अभिहित हो जाने के कारण व्यंग्य का चमस्कार जाता रहता है।

१. पहले 'समासोक्ति' और 'आक्षेप' के प्रसंग में यह भी सिद्धान्ततः आचार्य ने कहा था कि व्यंग्य और वाच्य में जो चारुत्वयुक्त होने के कारण प्रधान होता है उसी के आधार पर व्यपदेश भी होता है। इसके उदाहरणस्त्ररूप उन्होंने वहाँ दांपक और अपह्रति की चर्चा की थीं, जिनमें उपमा व्यंग्य होतां हुई भी प्राधान्यतः निवक्षित नहीं है। प्रस्तुत में पुनः अपह्रति और दांपक अलङ्कारों के उल्लेख पहले उद्घिखत अलङ्कारों के उल्लेख पहले उद्घिखत अलङ्कारों के उहेशकम की पूर्ति करने एवं ग्रन्थश्चरण की थोजना के उद्देश्य से ग्रन्थकार ने किया है। समासोक्ति, आक्षेप, अनुक्तनिमित्त विशेषोक्ति, पर्यायोक्त, अपह्रति, दांपक और सङ्कर अलङ्कारों का नामोक्लेख किया है। इसी क्रम में पर्यायोक्त के बाद अपह्रति और दांपक की यहाँ चर्चां हुई है।

सङ्करालङ्कारेऽिय यदालंकारोऽलंकारान्तरच्छायामनुग्रह्णाति, तदा च्यङ्गचस्य प्राधान्येनाविवक्षितत्वात्र ध्वनिविषयत्वम् ।

सङ्करालङ्कार में भी जब अलङ्कार दूसरे अलङ्कार की छाया (सौन्दर्य) को अनुगृहीत (पुष्ट) करता है तब ब्यङ्गय के प्राधान्यतः विवित्तित न होने पर ध्विन का विषय नहीं होता।

लोचनम्

मदो जनयति प्रीति सानङ्गं मानभञ्जनम्। स प्रियासङ्गमोत्कण्ठां सासद्यां मनसः ग्रुचम्।। इति।।

अत्राप्युत्तरोत्तरजन्यत्वेऽप्युपमानोपमेयभावस्य सुकंल्पत्वात् । न हि क्रमिकाणां नोपमानोपमेयभावः । तथा हि—

> राम इव दशरथोऽभूदशरथ इव रघुरजोऽपि रघुसदृशः। अज इव दिलीपवंशश्चित्रं रामस्य कीर्तिरियम्॥

इति न न भवति । तस्मात्क्रमिकत्वं समं वा प्राकरणिकत्वमुपमां निरुणद्वीति कोऽयं त्रास इत्यलं गर्दभीदोहानुवर्तनेन । सङ्गरालङ्कारेऽपीति ।

'मद प्रीति उत्पन्न करता है, वह (प्रीति) मान को दूर करने वाले अनङ्ग को, वह (अनङ्ग) प्रियतमा के सङ्गम की उत्कण्ठा को और वह (उत्कण्ठा) मन के शोक को।'

यहाँ उत्तरोत्तर उत्पन्न होने पर भी उपमानोपमेयभाव सहज ही बन सकता है। यह नहीं कि क्रमिकों का उपमानोपमेयभाव नहीं होता। जैसा कि—

राम के सहश दशरथ हुए, दशरथ के सहश रघु, रघु के सहश अज एवं अज के समान दिलीप का वंश । इस प्रकार राम की कीर्ति आश्चर्ययुक्त है ।

यहाँ (उपमानोपमेयभाव) नहीं है यह नहीं । इस लिए क्रमिकत्व, सम अथवा प्राकरिणकत्व उपमा को रोक छेता है, यह कौन सा त्रास है । अब गर्दभी को बार-बार दुहना ठीक नहीं । सङ्करा छ क्कार में भी— ।

जैसा कि 'सन्देह' सङ्कर का उदाहरण 'सरसिजबदना' आदि है वहाँ रूपक के अनुसार समास कर ने पर, कि 'शर्शा एव वदनं यस्याः सा' और उपमा के अनुसार समास करने पर, 'शशिबद् वदनं यस्याः सा' रूप होगें। तीनों विशेषण क्रमशः आकाश, जल और स्थल से सम्बन्ध होने से नायिका का उसमें सन्भव होना बोधित होता है। यहाँ पर कोई प्रमाण नहीं जिसके आवार पर

[ं] लोचन' में निर्दिष्ट 'सङ्करालङ्कार' के सम्बन्ध में संक्षिप्त किन्तु छाथं विचार यह है कि भामह आदि ने 'सङ्कर' के चार प्रकार गिनाए हैं, जब कि आगे चल कर उसके तीन ही प्रकार निदिष्ट किए जाते हैं। तीन प्रकार हैं—अङ्गाङ्गिमावसङ्कर, एकाश्रयानुप्रवेशसङ्कर और सन्देहसङ्कर । भामह ने एकाश्रयानुप्रवेश को एकवाक्यानुवर्तन और एकवाक्यांशसमावेश इन दो रूपों में विभक्त कर दिया है।

विरुद्धालंकियोञ्जेले समं तद्वृत्त्यसम्भवे। एकस्य च प्रहे न्यायदोषाभावे च सङ्करः।।

इति लक्षणादेकः प्रकारः। यथा ममैव-

शशिवद्नाऽसितसरसिजनयना सितकुन्द्दशनपङ्किरियम् । गगनजलस्थलसम्भवहृद्याकारा कृता विधिना ॥

गगनजलस्थलसम्भवहृद्याकारा कृता विधिना ॥ इति ॥ अत्र शशी वद्नमस्याः तद्वद्वा वद्नमस्या इति रूपकोपमोल्लेखाद्युगपद् द्वयासम्भवदिकतरपक्षत्यागप्रह्णे प्रमाणाभावात्सङ्कर इति व्यङ्गच्याच्यताया एवानिश्चयात्का ध्वनिसम्भावना । योऽपि द्वितीयः प्रकारः—शब्दार्थालङ्काराणा-मेकत्रभाव इति तत्रापि प्रतीयमानस्य का शङ्का । यथा—'स्मर स्मरमिव प्रियं रमयसे यमालिङ्गनात्' इति । अत्रैव यमकमुपमा च । तृतीयः प्रकारः—यत्रैकत्र वाक्यांशेऽनेकोऽर्थालङ्कारस्तत्रापि द्वयोः साम्यात्कस्य व्यङ्गन्यता । यथा—

सिरुद्ध दो अलङ्कारों के उपस्थित होने पर, एक ही स्थान में दोनों की स्थिति सम्भव न होने पर और उनमें से एक को छोड़कर दूसरे के ग्रहण करने में साधक एवं बाधक के अभाव में सङ्कर (सन्देह सङ्कर) होता है।

इस लक्षण से एक प्रकार का सङ्कर हुआ। जैसे, मेरा ही-

'शशिवदना, नीलकमलनयना, उज्ज्वलकुंन्ददन्तावली इस नायिका को विधाता ने आकाश, जल और स्थल में उत्पन्न होने वाले मनोहर पदार्थों के आकार वाली बनाया है।'

यहाँ शशी वदन है इसका, अथवा शशी के समान वदन है इसका, यह रूपक और उपमा दो अलङ्कारों के उन्नेख से एक स्थान में दोनों के सम्भव न होने के कारण तथा एकतर पक्ष के त्याग अथवा ग्रहण में प्रमाण के अभाव होने से 'सङ्कर' अलङ्कार है, इस प्रकार जब 'सङ्कर' के व्यङ्गय होने अथवा वाच्य होने में ही कोई निश्चय नहीं तव इसके 'ब्विन' होने की सम्भावना कैसी? जो कि दूसरा (सङ्कर अलङ्कार का) प्रकार है—शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार का एकत्र भाव, वहाँ भी प्रतीयमान की सम्भावना कैसी? जैसे—'काम के सहश प्रिय को याद कर जिसे आलिङ्गन के द्वारा तू रमाती है।' यहीं यमक और उपमा है। तीसरा प्रकार—जहाँ एक वाक्यांश में अनेक अर्थालङ्कार हैं, वहाँ भी दो के बराबर होने से किसकी व्यङ्गयता होगी? जैसे—

यह माना जाय कि उपमा और रूपक में से कोइ एक हं। इस प्रकार यहाँ दोनों का सन्देह रूप सङ्गर है।

दूसरा प्रकार है, शब्द और अर्थ के अलङ्कारों का एक वाक्य में प्रवेश । तीसरा प्रकार है एक वाक्यांश में अनेक अर्थालङ्कार । द्वितीय प्रकार के उदाहरण में 'स्मर-स्मर' इस आवृत्ति से यमक (शब्दालङ्कार) हैं और 'स्मर' (काम) के सदृश्य' (स्मरिमव) यह उपमा (अर्थालङ्कार)। इस प्रकार दोनों का एकाश्रय। नुवेश हैं। तीसरे प्रकार के उदाहरण में सूर्य स्वामी हैं और वासर सेक हैं। सूर्य का अस्त होना स्वामी पर दिपत्ति हैं और वासर का तनोग्रहा में प्रवेश समुचित

तुल्योदयावसानत्वाहतेऽस्तं प्रति भास्वति । वासाय वासरः क्वान्तो विशतीव तमोगुहाम् ॥ इति ॥

अत्र हि स्वामिविपत्तिसमुचितव्रतमहणहेवाकिकुलपुत्रकरूपणमेकदेशविव-तिस्वपकं दशयति । उत्प्रेक्षा चेवशब्देनोक्ता । तदिवं प्रकारद्वयमुक्तम् ।

शब्दार्थवर्त्यलङ्कारा वाक्य एंकत्र वर्त्तिनः । सङ्करश्चैकवाक्यांशप्रवेशाद्वाऽभिषीयते ॥ इति च ॥

चतुर्थस्तु प्रकारो यत्रानुप्राह्मानुप्राह्कभावोऽलङ्काराणाम् । यथा— प्रवातनीलोत्पलनिर्विशेषमधीरविष्ठेक्षितमायताच्या । तया गृहीतं न मृगाङ्गनाभ्यस्ततो गृहीतं न मृगाङ्गनाभिः ॥

अत्र मृगाङ्गनावलोकनेन तदवलोकनस्योपमा यद्यपि व्यङ्गन्या, तथापि वाच्यस्य सा सन्देहालङ्कारस्याभ्युत्थानकारिणीत्वेनानुप्राहकत्वाद् गुणीभूता, अनुप्राह्यत्वेन हि सन्देहे पर्यवसानम्। यथोक्तम्—

'जिसका उदय और अस्त दोनों समान ही हैं ऐसे सूर्य के अस्त जाते होने पर म्लान वासर मानों अन्वकार की गुहा में प्रवेश कर रहा है।'

यहाँ ('अन्धकार की गुहा' इस स्थल का) एकदेशविवातिरूपक स्वामी की विपत्ति के समय समुचित व्रतग्रहण में प्रयत्नशील कुलपुत्र के रूपण की दर्शाता है। और 'इव' शब्द से उत्प्रेक्षा उक्त है। इस सङ्कर के दो प्रकार कहे गए।

एक ही बाक्य में शब्दाल द्कार और अर्थाल द्कार दोनों होते हैं, यह सङ्कर है, अथवा एक ही बाक्यांस में अनेक अर्थाल द्कारों का प्रवेश होता है तब भी सङ्कर कहा जाता है।

चौथा प्रकार वह है अलङ्कारों का अनुग्राह्मानुग्राहकभाव होता है, जैसे-

'दीर्घ लोचनों वाली उस (पार्वती) ने बायु से हिलते हुए नीलोत्बल के सहश अधीर दृष्टिपात को मृगाङ्गनाओं से ग्रहण किया है अथवा भृगाङ्गनाओं ने उससे ग्रहण किया।'

यहाँ मृगाङ्गनाओं के अवलोकन से पार्वती के अवलोकन की उपमा अखिष व्यङ्गय हो रही है, तथापि वाच्य सन्देहालङ्कार के अम्युत्यान करने वाली होने के कारण वह (व्यङ्गय उपमा) गुंणीमूत है। क्योंकि अनुग्राह्य होने के कारण सन्देह में उसका (अनुग्राहिका व्यङ्गय उपमा का) पर्यवसान है। जैसा कि कहा है—

मतमहण है। पर इनका आरोप नहीं हुआ हैं, केवल 'तमोग्रहा' में एकदेशविवतीं रूपक है। 'विश्तिव' 'मानों प्रवेश करता है', यहाँ उत्प्रेक्षा है। यहाँ रूपक और उत्प्रेक्षा दोनों समानरूप से वाच्य हैं।

चतुर्थ प्रकार है अङ्गाङ्गिमावरूप सङ्कर । उदाहरण में जो पार्वती के चन्नळ नेत्रों और हरिणी के चन्नळ नेत्रों में जो अवीर-विप्रेक्षित के आदान-प्रदान का सन्देह किन ने किया है वहाँ 'पार्वती की चन्नळ ऑखं हरिणी की ऑखों के समान हैं, यह उपमा व्यंग्य हो रही है, किन्तु वह वाच्य सन्देह अळङ्कार का अभ्युत्थान करती है अतः अनुप्राहक होने के कारण गुणीभूत हो गई है। उसका प्रयंवसान सन्देह में होता है।

अलङ्कारद्वयसम्मावनायां तु वाच्यव्यङ्गचयोः समं प्राधान्यम् । अथ वाच्योपसर्जनीभावेन व्यङ्गचस्य तत्रावस्थानं तदा सोऽपि ध्यनिविषयोऽस्तु, न तु स एव ध्वनिरिति वक्तुं शक्यम् । पर्यायोक्त-निर्दिष्टन्यायात् ।

दो अलङ्कारों की सम्भावना में तो वाच्य और व्यङ्गय का प्राधान्य बरावर है। यदि कहिये कि वाच्य को गुणीभूत करके भ्यङ्गय का वहाँ अवस्थान है तब वह भी 'ध्वनि' का विषय हो सकता है, न कि वही 'ध्वनि' है, ऐसा कह सकते हैं। जैसा कि 'पर्यायोक्त' में ढंग दिखा खुके हैं।

लोचनम्

परस्परोपकारेण यत्रालङ्कतयः स्थिताः। स्वातन्त्रयेणात्मलामं नो लभन्ते सोऽपि सङ्घरः॥

तदाइ-यदालङ्कार इत्यादि। एवं चतुर्थेऽपि प्रकारे ध्वनिता निराकृता। मध्यमयोस्तु व्यङ्गन्यसम्भावनैव नास्तीत्युक्तम्। आद्ये तु प्रकारे 'शशिवदने'त्या-चुदाहृते कथि द्विदित सम्भावनेत्याराङ्क्षय निराकरोति—श्रलङ्कारद्वयेति। समिति। द्वयोरप्यान्दोल्यमानत्वादिति भावः। नतु यत्र व्यङ्गचमेव प्राधान्येन भाति तत्र किं कर्तव्यम्। यथा—

होइ ण गुणाणुराओ खलाणँ णवरं पसिद्धिसरणाणम्। किर पहिणुसइ ससिमणं चन्दे पिआमुहे दिट्ठे॥

अत्रार्थान्तरन्यासस्तावद्वाच्यत्वेनाभाति, व्यतिरेकापहुती तु व्यङ्गचत्वेन प्रधानतयेत्यभिप्रायेणाशङ्कते—श्रथेति । तत्रोत्तरम्—तदा सोऽपीति । सङ्करा-

'जहाँ परस्पर उपकार-पूर्वक अलङ्कार स्थित हैं और स्वतन्त्र रूप से आत्मलाम नहीं प्राप्त करते हैं, वह भी 'बन्हर' है।'

उसे कहते हैं—जब अलङ्कार इत्यादि—। इस प्रकार (सक्कर) के चौथे प्रकार में भी व्वन्तित्व का निराकरणीय किया। विचले दो प्रकारों में तो व्यङ्गय की सम्भावना ही नहीं है, यह कहा। 'बबिवदना॰' इत्यादि उदाहुत (सक्कर के) पहले प्रकार में किसी प्रकार सम्भावना है, यह आग्रक्का करके निराकरण करते हैं—दो अलङ्कारों—। बराबर—। भाव यह कि क्योंकि दोनों ही जान्दोल्यमान (सन्दिह्ममान) हैं। जहाँ व्यङ्गच ही प्राधान्यतः मालूम होता है—वहाँ क्या करेंगे ? जैसे—

किवल प्रसिद्धि पर ही व्यान देने वाले (वस्तुतत्त्व का विचार न रखने वाले) खल जनों के भुणानुराग नहीं होता । चन्द्रकान्त मिण चन्द्र को देखकर प्रस्तुत होता है.

प्रिया के मुख को वेखकर नहीं प्रस्तुत होता।'

यहाँ 'अर्थान्तरत्यास' बाच्यरूप से माञ्चम पड़ता है, किन्तु 'व्यतिरेक' और

१. सामान्य का विशेष से समर्थनरूप यहाँ 'अर्थान्तरन्यास' अलङ्कार है, जो वाच्य है। क्योंकि

अपि च सङ्करालङ्कारेऽपि च कवित् सङ्करोक्तिरेव ध्वनि-सम्भावनां निराकरोति ।

दूसरे यह कि सर्वत्र 'सङ्करालङ्कार' में (कहीं भी सङ्करालङ्कार में) 'सङ्कर' यह कथन ही ध्वनि की सम्भावना का निराकरण कर देता है।

लोचनम्

लङ्कार एवायं न भवति, अपि त्वलङ्कारध्वनिनामायं ध्वनेर्द्वितीयो भेदः। यद्व पर्यायोक्ते निरूपितं तत्सर्वमत्राप्यनुसरणीयम् । अथ सर्वेषु सङ्करप्रभेदेषु व्यङ्ग-च-सम्भावनानिरासप्रकारं साधारणमाह—श्रिप चेति । 'कचिदिप सङ्करालङ्कारे चे'ति सम्बन्धः, सर्वभेदिभन्न इत्यर्थः । सङ्कीणता हि मिश्रत्वं लोलीभावः, तत्र कथमेकस्य प्राधान्यं श्लीरजलवत् ।

अधिकाराद्पेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुतिः। अप्रस्तुतप्रशंसा सा त्रिविधा परिकीर्त्तता॥

'अपह्नुति' व्यङ्गच रूप से प्रधानतया मालूम पड़ते हैं, इस अभिप्राय से आशङ्का करते हैं—यदि कहिए कि—। उस सम्बन्ध में उत्तर है—तन चंह भी:—। सङ्करालङ्कार ही यह नहीं है, अपितु अलङ्कार-ध्विन नाम का यह 'ध्विन' का दूसरा मेद हैं। और पर्यायोक्त के प्रसङ्ग में जो निरूपण किया है वह सब यहाँ अनुसरणीय है। अब, 'सङ्कर' के समस्त प्रभेदों में व्यङ्गच की सम्भावना के साधारण निरास का प्रकार कहते हैं—'कहीं भी सङ्करालङ्कार में' यह वाक्य का सम्बन्ध है, अर्थात् सब मेदों से मिन्न (सङ्कर के किसी मेद में)। क्योंकि सङ्कीणंता अर्थात् मिश्चित होना, लोलीमाव (बिलकुल एक में मिलकर एकाकार हो जाना) है। वहाँ क्षीर और जल की भौति एक ही प्रधानता कैसे होगी?

'अधिकार (प्रस्तुतत्व) से रहित (अप्रस्तुत) अन्य वस्तु की जो स्तुति (कथन या वर्णन) होती हैं उसे 'अप्रस्तुत करोसा' कहते हैं, वह तीन प्रकार की कही जाती है।'

यहाँ प्रसिद्धि के पक्षपाती खल्जनों का गुणों में अनुराग नहीं होता इस सामान्य अर्थ का समयेन 'चन्द्रकान्त चन्द्र के दिखने पर पिघलता है, प्रियामुख के नहीं' इस विशेष अर्थ द्वारा समर्थन अभिदित हुआ है। इससे 'प्रियामुख चन्द्र से भी ज्यादा सुन्दर है' यह 'व्यतिरेक' तथा यह चन्द्र नहीं है प्रियामुख ही चन्द्र है यह 'अपह्नति' व्यंग्य प्राधान्यतः प्रतीत होता है।

१. अप्रस्तुत प्रशंसा अर्थात् अप्रस्तुत से प्रस्तुत का आक्षेप । तात्पर्य यह कि अप्रस्तुत अभिषाय-मान होता है और प्रस्तुत प्रतायमान । किन्तु इतने से 'ध्विन' का प्रसंग उपस्थित नहीं होता, बिक्त अभिषीयमान से प्रतीयमान में अधिक चारुत्व होना चाहिए, तत्प्रशुक्त प्राधान्य होना चाहिए । अप्रस्तुत प्रशंसा के तीन मेद हैं—सामान्यिविशेषभावमूळक, कार्यकारणभावमूळक (निमित्तनिमित्तिभावमूळक) और साहृइयमूळक । पहळे दो मेदों के दो-दो रूप हैं—अप्रस्तुत सामान्य से प्रस्तुत विशेष का आक्षेप और अप्रस्तुत विशेष से प्रस्तुत सामान्य का आक्षेप तथा अप्रस्तुत कारण से प्रस्तुत कार्य का आक्षेप और अप्रस्तुत कार्य से प्रस्तुत कारण का आक्षेप । ये चार

अप्रस्तुतप्रश्नंसायामि यदा सामान्यित्रशेषभावािकिमित्तिनिमित्ति-भावाद्वा अभिधीयमानस्याप्रस्तुतस्य प्रतीयमानेन प्रस्तुतेनाभिसम्बन्ध-स्तदाभिधीयमानप्रतीयमानयोः सममेव प्राधान्यम् ।

'अप्रस्तुतप्रशंसा' में भी जब सामान्य विशेष भाव से अथवा निमित्त-निमित्तिभाव से अभिधीयमान अप्रस्तुत का प्रतीयमान प्रस्तुत से सम्बन्ध होता है तब अभिधीय-मान और प्रतीयमान का प्राधान्य सम (बराबर) ही होता है।

लोचनम्

अप्रस्तुतस्य वर्णनं प्रस्तुतात्तेपिण इत्यर्थः । स चात्तेपिस्त्रिविधो भवति—सामान्यविशेषभावात्, निमित्तनिमित्तिभावात्, सारूप्याच । तत्र प्रथमे प्रकार-द्वये प्रस्तुताप्रस्तुतयोस्तुल्यमेव प्राधान्यमिति प्रतिज्ञां करोति—अप्रस्तुतेत्यादिना प्राधान्यमित्यन्तेन । तत्र सामान्यविशेषभावेऽि द्वयी गतिः—सामान्यमप्राकर-रिणकं शब्देनोच्यते, गम्यते तु प्राकरणिको विशेषः स एकः प्रकारः । यथा—

अहो संसारनैर्घुण्यमहो दौरात्म्यमापदाम्। अहो निसर्गेजिह्यस्य दुरन्ता गतयो विघेः॥

अत्र हि दैवप्राधान्यं सर्वत्र सामान्यरूपमप्रस्तुतं वर्णितं सत्प्रकृते वस्तुनि कापि विनष्टे विशेषात्मनि पर्यवस्यति । तत्रापि विशेषांशस्य सामान्येन व्याप्त-

अर्थात् प्रस्तुत का आक्षेप करने वाले अप्रस्तुत का वर्णन । वह 'आक्षेप' तीन प्रकार का होता है—सामान्यविशेषमाव से, निमित्तनिमित्तिभाव से और सारूप्य से । उनमें प्रथम दो प्रकारों में प्रस्तुत और अप्रस्तुत का प्राधान्य तुल्य (वराबर) ही है, यह प्रतिज्ञा करते हैं—अप्रस्तुत से लेकर प्राधान्य—इस अन्त तक । उनमें, सामान्य-विशेषभाव में भी दो अवस्थाएं हैं—जहाँ सामान्य अप्राकरणिक है और शब्द से कहा जाता है, तथा विशेष प्राकरणिक है और व्यक्तित होता है, वह एक प्रकार है । जैसे—

'उफ, संसार की यह कितनी कठोरता है, उफ, आपत्तियों की यह कितनी क्रूरता

है, उफ स्वमावतः कुटिल दैव की गतियों का पार पाना कितना कठिन है !

यहाँ दैव (विधाता) का प्राधान्य सामान्यरूप अप्रस्तुत कहा जाता हुआ किसी प्रकृत विनष्ट वस्तु के विशेष रूप में पर्यवसन्न होता है। वहाँ भी विशेष अंश के सामान्य से व्याप्त होने के कारण व्यङ्गच विशेष की भौति वाच्य सामान्य का भी

भेद तथा एक साइश्यमूलक भेद मिलकर अप्रस्तुतप्रशंसा पाँच प्रकार की होता है। साइश्यमूलक के भी तीन प्रभेद किए गए हैं—संविनिमित्तक, समासोक्तिनिमित्तक एवं साइश्यमात्रनिमित्तक। इनमें साइश्यमूलक भेद को छोड़कर अन्य चार भेदों में अप्रस्तुत (वाच्य) और प्रस्तुत (प्रतीयमान) दोनों सम-प्राधान्य होते हैं। इसलिए उनमें ध्विन का अत्रसर ही नहीं। किन्तु साइश्यमूलक भेद में जब अभिधीयमान अप्रस्तुत का अप्राधान्य और प्रतीयमान प्रस्तुत का प्राधान्य विविक्षित होगा तब अल्झ्रारध्विन का प्रसंग होगा और यदि विविक्षित नहीं होगा तब केवल अप्रस्तुतप्रशंसा अल्झ्रार होगा।

यदा तावत्सामान्यस्याप्रस्तुतस्याभिषीयमानस्य प्राकरणिकेन विशेषेण प्रतीयमानेन सम्बन्धस्तदा विशेषप्रतीतौ सत्यामि प्राधान्येन तत्सामान्येनाविनाभावात्सामान्यस्यापि प्राधान्यम् । यदापि विशेषस्य सामान्यनिष्ठत्वं तदापि सामान्यस्य प्राधान्ये सामान्ये सर्वविशेषाणा मन्तर्भावाद्विशेषस्यापि प्राधान्यम् ।

और जब सामान्य अप्रस्तुत अभिधीयमान का प्राकरणिक विशेष प्रतीयमान के साथ सम्बन्ध होगा तब प्राधान्यतः विशेष की प्रतीति होने पर भी उसका सामान्य से अविनाभाव (न्याप्ति) होने के कारण सामान्य का भी प्राधान्य होगा। जब कि विशेष सामान्यिनष्ठ होगा तच भी सामान्य के प्राधान्य होने पर समस्त विशेषों का (सामान्य में) अन्तर्भाव होने के कारण विशेष का भी प्राधान्य होगा।

लोचनम्

त्वाब्यङ्गश्विशेषवद्वाच्यसामान्यस्यापि प्राधान्यम्, न हि सामान्यविशेषयो-युगपत्प्राधान्यं विरुध्यते। यदा तु विशेषोऽप्राकरणिकः प्राकरणिकं सामान्य-माक्षिपति तदा द्वितीयः प्रकारः। यथा—

एतत्तस्य मुखात्कियत्कमितनिपञ्चे कणं पाथसो यन्मुक्तामणिरित्यमंस्त स जिंडः शृण्वन्यद्स्मादिपे। अङ्गुल्यप्रलघुक्रियाप्रविलयिन्यादीयमाने शनै-स्तत्रोड्डीय गतो हहेत्यनुदिनं निद्राति नान्तः शुचा॥

अत्रास्थाने महत्त्वसम्भावनं सामान्यं प्रस्तुतम्, अप्रस्तुतं तु जलबिन्दौ मणित्वसम्भावनं विशेषक्तपं वाच्यम् । तत्रापि सामान्यविशेषयोयुगपत्प्राधान्ये न विरोध इत्युक्तम् । एवमेकः प्रकारो द्विभेदोऽपि विचारितः, यदा ताविदत्या-प्राधान्य है। न कि सामान्य और विशेष में एक काल में प्राधान्य विरुद्ध है। जब कि विशेष अप्राकरणिक प्राकरणिक सामान्य का आक्षेप करता है तब दूसरा प्रकार है। जैसे—

(किसी मूर्ख के बृत्तान्त को कहीं से सुनकर बिस्मब से कहते हुए किसी के प्रति

किसी का वचन-)

'उसके मुख से यही कितना सुना ! जो कि उस मूर्ख ने कमिलनी के पत्ते पर स्थित जलकण को मोती समझ लिया । इससे भी ज्यादा और सुनो । जब वह जलकण को मोती समझकर उठाने लगा तब उंगली के स्पर्ध होते ही शनैः उस जलकण के विलीत हो जाने पर 'हाय ! हाय ! उड़कर चला गया !' इस अन्तःशोक से वह कई दिनों से नहीं सोता है।'

यहाँ अस्थान (वेजगह) में महत्त्व का सम्भावन रूप सामान्य प्रस्तुत है और अप्रस्तुत जलविन्दु में मणित्व का सम्मावन विशेष रूप वाच्य (या अभिघीयमान) है।

निमित्तनिमित्तिभावे चायमेव न्यायः । निमित्तनिमित्तिभाव में भी यही नियम छागू होगा।

लोचनम्

दिना विशेषस्यापि प्राधान्यमित्यन्तेन । एतमेव न्यायं निमित्तनैमित्तिकभावेऽति-दिशंस्तस्यापि द्विप्रकारतां दर्शयति—निमित्तेति । कदाचिन्निमित्तमप्रस्तुतं सद्भिधीयमानं नैमित्तिकं प्रस्तुतमाश्चिपति । यथा—

ये यान्त्यभ्युदये प्रीतिं नोज्मन्ति व्यसनेषु च । ते बान्धवास्ते सहदो लोकः स्वार्थपरोऽपरः॥

अत्राप्रस्तुतं सुदृद्बान्धवरूपत्वं निमित्तं सज्जनासक्तया वर्णयति नैमित्तिकीं श्रद्धेयवचनतां प्रस्तुतामात्मनोऽभिव्यक्कुम्; तत्र नैमित्तिकप्रतीताविप निमित्त-वहां भी, सामान्य और विशेष के युगप्त प्राधान्य में विरोध नहीं है, यह कहा जा चुका है। इस प्रकार दो भेदों वाला भी पहला प्रकार विचार कर लिया गया, जब इत्यादि से लेकर विशेष भी प्राधान्य—तक। इसी नियम को निमित्तनैमित्तिकभाव में भी अतिदेश (लागू) करते हुए उसका द्विविधत्व दिखाते हैं—निमित्त । कभी निमित्त (कारण) अप्रस्तुत अभिधीयमान होकर नैमित्तिक कार्य (अप्रस्तुत) का आक्षेप करता है। जैसे—

'जो अम्युदय होने पर प्रसन्न होते हैं और दुःख पड़ने पर त्याग नहीं करते वे

बान्धव हैं, वे सुहृद हैं, दूसरे लोग स्वार्थपरायण हैं।

यहाँ अप्रस्तुत सुहृद्—वान्धव रूप निमित्त को प्रस्तुत नैमित्तिक श्रद्धेयवचनता के व्यव्जनार्थ सज्जन के प्रति गौरव के कारण वर्णन करते हैं। वहाँ नैमित्तिक की

१. जैसा कि वृत्तिप्रन्थ का निर्देश है, अप्रस्तुतप्रशंसा के सावृत्त्यमुलक भेद के अतिरिक्त चार भेदों में ध्वनि का अवसर क्यों नहीं है उसे यहाँ स्पष्टरूप से अवगत कर छेना चाहिए। अप्रस्तुत से प्रस्तुत का आक्षेप ही 'अप्रस्तुतप्रशंसा' है। जब कोई अप्रस्तुत और प्रस्तुत अर्थात अमिधीयमान और प्रतीयमान में सामान्यिविश्वमावरूप या निमित्तिनिमित्तिभावरूप सम्बन्ध होगा तब दोनों बराबर प्रधान होंगे। क्योंकि सम्बन्ध की स्थिति में दोनों का बराबर होना अनिवार्य है। और जब प्रधानता समानरूप से दोनों में रहेगी तो किसी प्रकार 'ध्वनि' का प्रसंग हो नहीं सकता, क्योंकि बाच्य के गुणीमाव और व्यंग्य के प्रधान्य की विवक्षा में ही 'ध्वनि' का प्रसंग होता है। सामान्य और विशेष के खुगपत प्रधान्य में विरोध नहीं है, अर्थात एक स्थान में, एक समय में दोनों प्रधान हो सकते हैं। सम्बन्ध की बात को छेकर यह कह सकते हैं कि जब सामान्यरूप अप्रस्तुत अभिधीयमान होगा और विशेषरूप प्रस्तुत प्रतीयमान होगा तब, क्योंकि सामान्य के अन्तर्गत समी विशेष आ जाते हैं (निविशेषं न सामान्यरूप अप्रस्तुत अभिधीयमान का भी प्राधान्य होगा। इसी प्रकार जब विशेषरूप अप्रस्तुत अभिधीयमान से सामान्यरूप अप्रस्तुत का आक्षेप होगा। इसी प्रकार जब विशेषरूप अप्रस्तुत अभिधीयमान से सामान्यरूप प्रस्तुत का आक्षेप होगा तब किस प्रकार सामान्य का प्राधान्य होगा उसी प्रकार विशेष का भी होगा, क्योंकि सामान्य में तब किस प्रकार सामान्य का प्राधान्य होगा उसी प्रकार विशेष का भी होगा, क्योंकि सामान्य में तब किस प्रकार सामान्य का प्राधान्य होगा उसी प्रकार विशेष का भी होगा, क्योंकि सामान्य में

प्रतीतिरेव प्रधानीभवत्यनुप्राणकत्वेनेति व्यङ्ग-यव्यञ्जकयोः प्राधान्यम् । कदा-चित्तु नैमित्तिकमप्रस्तुतं वर्ण्यमानं सत्प्रस्तुतं निमित्तं व्यनक्ति । यथा सेतौ—

सागं अपारिजाअं कोत्थुहलिन्छरिह्अं महुमहस्स उरम्। सुमरामि महणपुरओ अमुद्धअन्दं च हरजडापब्सारम्॥

अत्र जाम्बवान् कौस्तुभलक्मीविरहितहरिवक्षःस्मरणादिकमप्रस्तुतनैमिन्तिकं वणयति प्रस्तुतं वृद्धसेवाचिरजीवित्वव्यवहारकौशलादिनिमित्तभूतं मन्त्रिन्तायामुपादेयमिनव्यक्कुम् । तत्र निमित्तप्रतीताविप नैमित्तिकं वाच्यभूतं प्रत्युत तिन्निम्तानुप्राणितत्वेनोद्धुरकन्धरीकरोत्यात्मानमिति समप्रधानतेव वाच्यव्यक्षययोः। एवं द्वौ प्रकारौ प्रत्येकं द्विविधौ विचार्य तृतीयः प्रकारः परीक्यते साह्य्यलक्ष्णः। तत्रापि द्वौ प्रकारौ—अप्रस्तुतात्कदाचिद्वाच्यावमन्त्रमारः, व्यक्षयं तु तन्मुखप्रेक्षम्। यथास्मद्रुपाध्यायभट्टेन्दुराजस्य—

प्रतीति में भी निमित्त की प्रतीति ही अनुप्राणक होने के कारण प्रधान हो जाती है, अतः व्यङ्गध और व्यञ्जक, दोनों का प्राधान्य है। कभी तो नैमित्तिक अप्रस्तुत अभिधीयमान होता हुआ प्रस्तुत निमित्त को व्यक्त करता है। जैसे 'सेतुवन्ध' में—

'समुद्रमथन से पहले पारिजात वृक्ष से रिहत स्वगं को, कौस्तुभ और लक्ष्मी से रिहत मधुसूदन (विष्णु) के वक्ष को तथा सुन्दर चन्द्र से रिहत शिवजी के जटाभार को स्मरण करता हूँ।'

यहाँ जाम्बवान् वृद्धसेवा, चिरजीवितत्व एवं व्यवहारकौशल आदि निमित्तभृत प्रस्तुत को मन्त्रित्व में उपादेय के रूप में व्यक्त करने के लिए कौस्तुभ और लक्ष्मी (अथवा कौस्तुभमणि की शोभा) से रहित विष्णु के वक्ष के स्मरण आदि अप्रस्तुत नैमित्तिक का वर्णन करते हैं । वहाँ नैमित्तिक की प्रतीति में भी वाच्यभूत नैमित्तिक (?) प्रत्युत उस निमित्त से अनुप्राणित होने के कारण अपने कन्चे को ऊपर उठाता है (अर्थात् प्रधान होता है)। अतः वाच्य और व्यङ्गच की समप्रधानता ही है। इस प्रकार दोनों प्रकारों को, प्रत्येक के दो-दो प्रभेदों के साथ विचार करके 'सारूप्य' नामक तीसरे प्रकार की परीक्षा करते हैं। वहाँ भी दो प्रकार हैं—कभी अप्रस्तुत वाच्य से चमत्कार होता है, व्यङ्गच तो वाच्य का मुँह ताकता है (अर्थात् अप्रधान होता है)। जैसे हमारे उपाच्याय मट्टेन्दुराज का—

सभी विशेषों का अन्तर्भाव हो जाता है। यही नियम अप्रस्तुत से प्रस्तुत के निमित्तनिमित्तिभाव अर्थात् कार्यकारणमावरूप सम्बन्ध के होने पर छागू होगा।

१. प्रस्तुत उदाहरण में निमित्त या कारणरूप अप्रस्तुत सुहृद्द्-नान्थव का वर्णन है तथा उससे प्रस्तुत नैमित्तिक या कार्य 'सुहृद्-नान्थव का श्रद्धेय-चचनत्व' आक्षिप्त होता है अर्थात व्यञ्जन से प्रतीत होता है। परन्तु व्यञ्जना प्रतीत होनेमात्र से ध्वनि का प्रसंग नहीं होता, बल्कि उसके प्राधान्य के साथ अमिधीयमान का गुणीमाव भी होना चाहिए। किन्तु यहाँ अमिधीयमान अप्रस्तुत निमित्त प्रतीयमान प्रस्तुत नैमित्तिक के अनुप्राणक होने के कारण गुणीमूत न होकर प्रधान हो जाता है। इस प्रकार यहाँ व्यंग्य और व्यञ्जक दोनों का प्राधान्य है। इसी प्रकार आगे के

प्राणा येन समर्पितास्तव बलाचेन त्वमुत्थापितः स्कन्चे यस्य चिरं स्थितोऽसि विद्षे यस्ते सपयोमपि । तस्यास्य स्मितमात्रकेण जनयन् प्राणापहारक्रियां भ्रातः प्रत्युपकारिणां धुरि परं वेताल लीलायसे ॥

अत्र यद्यपि सारूप्यवशेन कृतन्नः कश्चिद्न्यः प्रस्तुत आश्चिप्यते, तथाप्य-प्रस्तुतस्यैव वेतालवृत्तान्तस्य चमत्कारकारित्वम् । न ख्रचेतनोपालम्भवदस-म्भाव्यमानोऽयमर्थो न च न हृद्य इति वाच्यस्यात्र प्रधानता । यदि पुनर-चेतनादिनात्यन्तासम्भाव्यमानतदर्थविशेषग्रेनाप्रस्तुतेन वर्णितेन प्रस्तुतमा-श्चिप्यमाणं चसत्कारकारि तदा वस्तुष्वनिरसौ । यथा ममैब—

भावत्रात हठाज्जनस्य हृद्यान्याक्रम्य यन्नर्तयन् भङ्गीभिविविधाभिरात्महृद्यं प्रच्छाद्य संक्रीहरोः। स त्वामाह जडं ततः सहृद्यम्मन्यत्वदुःशिक्षितो मन्येऽमुष्य जडात्मता स्तुतिपदं त्वत्साम्यसम्भावनात्।।

'भाई बेताल ! जिसने तुम्हें बाणों को अपित किया, बलपूर्वक जिसने तुम्हें उठाया, जिसके कन्घे पर देर तक तुम बैठे रहे, जिसने तुम्हारी पूजा भी की, उस प्रकार के इसका स्थितमात्र में प्राणापहार करते हुए तुम प्रत्यपकार करने वालों के आगे पहुँच जाते हो।'

यहाँ यद्यपि सारूप्यवश कोई दूसरा कृतम्न आक्षिप्त होता है, तथापि अप्रस्तुत वेताल-वृत्तान्त की ही चमत्कार-कारिता है। न कि अचेतन के उपालम्म की भाँति यह अर्थ असम्भाव्यमान होने से हुद्य नहीं है, इस लिए वाच्य की प्रधानता है। फिर यदि अत्यन्त असम्भाव्यमान उस (अप्रस्तुत अर्थ) के विशेषण वाले विणित अचेतन आदि से प्रस्तुत आक्षिप्यमाण हो करके चमत्कारकारी हो तब वह वस्तुष्विन होता है। असेत, मेरा ही—

हि पदार्थंसमूह, लोगों के हृदयों को हठपूर्वंक आक्रान्त करके उन्हें विविध चेष्टाओं से नचाते हुए अपने रहस्य को ढंककर जो कि तुम खेला करते हो तब भी अपने आपको सहृदय मानने के कारण दुर्लेलित जन तुम्हें 'जड़' कहता है, वस्तुत; वह जड़ है, पर मैं मानता हूँ कि उसे जड़ कहना भी उसकी स्तुति है क्योंकि इस अंग्र में तुमसे उसकी समानता की सम्भावना होती है।'

खदाहरण में अभिधीयमान अप्रस्तुत नैमित्तिक से प्रस्तुत निमित्त की प्रतीति में निमित्त के द्वारा अनुप्राणित होने के कारण वाच्यभूत नैमित्तिक की प्रधानता मी होने के कारण वाच्य और व्यंग्य का समप्रधान्य समझना चाहिए।

१. सारूप्य का साइश्य के वश अप्रस्तुत से प्रस्तुत के आक्षेप में यदि अधिक चमत्कारकारी प्रस्तुत होता है तब वहाँ वस्तुध्विन का प्रसंग होता है। वह अप्रस्तुतप्रशंसा का स्थल नहीं है। यह बात भी मान्य है कि जो बात अत्यन्त असम्मव होती है उसके कथन में स्वभावतः चमत्कार

कश्चिन्महापुरुषो वीतरागोऽपि सरागवदिति न्यायेन गाढिववेकालोकतिरस्कृतिसिरप्रतानोऽपि लोकमध्ये स्वात्मानं प्रच्छादयल्लोकं च वाचालयआत्मन्यप्रतिभासमेवाङ्गीकुर्वस्तेनेव लोकेन मूर्खोऽयमिति यद्वज्ञायते तदा
तदीयं लोकोत्तरं चितं प्रस्तुतं व्यङ्ग-यतया प्राधान्येन प्रकाश्यते । जडोऽयमिति
स्यानेन्दूदयादिभावो लोकेनावज्ञायते, स च प्रत्युत कस्यचिद्विरिहण
औत्युन्यचिन्तादूयमानमानसतामन्यस्य प्रहर्षपरवशतां करोतीति हठादेव
लोकं यथेच्छं विकारकारणामिनंत्यति । न च तस्य हृद्यं केनापि ज्ञायते
कीहगयमिति, प्रत्युत महागम्भीरोऽतिविद्यधः सुष्टु गवहीनोऽतिशयेन क्रीडाचतुरः स यदि लोकेन जड इति तत एव कारणात्प्रत्युत वेद्रग्ध्यसम्भावननिमित्तात्सम्भावितः, आत्मा च यत एव कारणात्प्रत्युत जाड्येन सम्भाव्यस्तत
एव सहृद्यः सम्भावितस्तद्स्य लोकस्य जडोऽसीति यद्युच्यते तदा जाड्यमेवंविधस्य भावत्रातस्याविद्रधस्य प्रसिद्धमिति सा प्रत्युत स्तुतिरिति । जडादिप

'वीतराग भी सराग-जैसा' इस नियम के अनुसार कोई महापुरुष अपने अतिशय विवेक के आलोक से फैले अन्धकार को तिरस्कृत करके भी लोगों के बीच अपने को छिपाता हुआ, लोगों को मुखर करता हुआ, अपने में अज्ञान को स्वीकार करता हुआ, उन्हीं लोगों द्वारा 'यह मूर्ख है' कहकर जो तिरस्कृत होता है, ऐसी स्थिति में उसका प्रस्तुत लोकोत्तर चरित व्यङ्गच के रूप में प्राधान्यतः प्रकाशित होता है। क्योंकि उद्यान, चन्त्रोदय आदि भाव (पदार्थ) लोगों द्वारा 'यह जड़ है' कह कर तिरस्कृत होता है। बिक वह किसी विरही के मन को औत्सुक्य, चिन्ता से दुःखी करता है, दूसरे को खुश करता है, इस प्रकार स्वेच्छा से लोगों को विकार के प्रवर्तनों द्वारा नचाता रहता है। 'यह कैसा है' इस प्रकार कोई भी उसके भेद को नहीं समझता है, प्रत्युत महागम्भीर, अतिविदग्ध, शोभन, गवंहीन, अतिशय क्रीड़ा में चतुर वह (भावव्रात चप्दार्थ समूह) लोगों द्वारा 'जड़' रूप में उस कारण उसी वैदग्ध्य के सम्भावन रूप निमित्त से ही सम्भावित किया जाता है। जिस कारण से आत्मा को जड़ रूप से सम्भावन किया जाय उसी कारण यदि लोग 'सहृदय' सम्भावित हैं तो उन लोगों की, यदि 'तुम जड़ हो' तो इस प्रकार के अविदग्ध भावव्रात का जाड्य प्रसिद्ध है, इस प्रकार स्तुति' ही है। ध्वनित होता है कि यह लोक (संसार के लोग) जड़ से

नहीं होता। इसे प्रकार जहाँ अत्यन्त असम्भान्यमान के विशेषणों से युक्त अपस्तुत अर्थ द्वारा प्रस्तुत का आक्षेप करते हैं वहाँ वाच्य की अपेक्षा व्यंग्य अधिक चमत्कारकारी होगा ही।

१. 'मावब्रात' यह उदाहरण कुछ छिष्ट हो गया है। यह वस्तुष्विन का उदाहरण है। यहाँ अभिधीयमान प्रस्तुत से अप्रस्तुत का आक्षेप है। जैसा कि अभिधीयमान प्रस्तुत है कि मावब्रात या चन्द्र, उचान आदि पदार्थसमूह को छोग 'जड़' कहा करते हैं और स्वयं को 'सहदय' कहते हैं। उन्हें यह जब विदित नहीं कि ये पदार्थ संसार को अनेक प्रकार से बचाया करते हैं और स्त प्रकार अत्यन्त वैदग्ध्यपूर्ण हैं, ऐसी स्थिति में उन्हें 'जड़' कहना अपने को 'जड़' कहना हुआ। दूसरे अजड़ को 'जड़' कहना अजड़ का जड़ को निन्दा नहीं, बर्टिक स्तुति है। यह उक्त स्रोक का

यदा तु सारूप्यमात्रवशेनाप्रस्तुतप्रश्चंसायामप्रकृतप्रकृतयोः सम्ब-न्धस्तदाप्यप्रस्तुतस्य सरूपस्याभिधीयमानस्य प्राधान्येनाविवक्षायां ध्वनावेवान्तःपातः । इतरथा त्वलङ्कारान्तरमेव । तदयमत्र सङ्क्षेपः—

जब कि केवल सारूप्यवश अप्रस्तुतप्रशंसा में अप्रकृत और प्रकृत का सम्बन्ध है तब अभिधीयमान अप्रस्तुत सरूप का प्राधान्यतः विवन्ता न करने पर ध्विन में ही अन्तर्भाव है। इतरथा (ऐसा न होने पर) एक प्रकार का अलङ्कार ही है। तो यह यहाँ संनेप है—

लोचनम्

पापीयानयं लोक इति ध्वन्यते । तदाह—यदा तिति । इतरथा तिति । इतरथैव पुनरलंकारान्तरत्वमलङ्कारविशेषत्वं न व्यङ्गग्यस्य कथंचिदपि प्राधान्य इति भावः । उद्देशे यदादिप्रहणं कृतं समासोक्तीत्यत्र द्वन्द्वे तेन व्याजस्तुतिप्रभृतिर-लङ्कारवर्गोऽपि सम्भाव्यमानव्यङ्गग्रानुवेशः सम्भावतः । तत्र सर्वत्र साधारण-मुक्तरं दातुमुपक्रमते—तद्यमत्रेति । कियद्वा प्रतिपदं लिख्यतामिति भावः । तत्र व्याजस्तुतिर्थथा—

किं वृत्तान्तैः परगृहगतैः किन्तु नाहं समर्थ-स्तूर्की स्थातुं प्रकृतिमुखरो दाक्षिणात्यस्वभावः। गेहे गेहे विपणिषु तथा चत्वरे पानगोष्ठशा-मुन्मत्तेव भ्रमति भवतो वञ्जभा हन्त कीर्तिः॥

अधिक पापी है। तो कहते हैं—जबिक—। इतरथा—। भाव यह कि अन्यया ही, किसी प्रकार व्यङ्गय का प्राधान्य न होने पर अलङ्कारान्तरत्व अर्थात् अलङ्कार-विशेषत्व होगा। नाम-निर्देश में जो 'आदि' ग्रहण किया है, समासोक्ति॰ के द्वन्द्व समास में उस कारण व्याजस्तुति प्रभृति अलङ्कार-वर्ग में भी सम्भाव्यमान व्यङ्गय का अनुवेश है। वहाँ, सबका साधारण उत्तर देने का उपक्रम करते हैं—तो यह यहाँ—। भाव यह कि अथवा कितना पद-पद पर लिखें! वहाँ, व्याजस्तुति, जैसे—

'दूसरे आदमी के घर की बातों की चर्चा से क्या फायदा, फिर भी मैं चुपचाप बैठने में असमर्थं हूँ, क्योंकि बड़बड़ाना दाक्षिणात्यों का स्वभाव है। हन्त ! हे राजन् आपकी प्रिया कीर्ति घर-घर में, बाजारों में तथा मुहक्कों में, पानगोष्ठी में, पांगल जैसी घुमती रहती है!'

अप्रस्तुत अभिधीयमान हैं। इससे किसी महापुरुष का छोबोत्तर चरित प्रस्तुतरूप में प्रतीत हो रहा है। जैसे कोई बीतराग महापुरुष अपने विवेक के प्रकाश से अश्वान के तिमिर को नष्ट कर देता है, फिर भी अपनी महानता को छिपाए रहता है। देखकर उसे छोग 'मूर्खं' कहा करते हैं और उसकी अवशा करते हैं। यहाँ यह प्रस्तुत ब्यंग्य अर्थ अप्रस्तुत वाच्य से निश्चय ही चमत्कारकारी है। क्योंकि अप्रस्तुत वाच्य अर्चतन 'भावन्नात' को छेकर कहे जाने के कारण

अत्र व्यङ्गश्चं स्तुत्यात्मकं यत्तेन वाच्यमेवोपस्क्रियते । यत्तूदाहृतं केनचित्-आसीन्नाथ पितामही तथ मंही जाता ततोऽनन्तरं माता सम्प्रति साम्बुराशिरशना जाया कुलोद्भूतये। पूर्णे वर्षशते भविष्यति पुनः सैवानवद्या स्नुषा युक्तं नाम सममनीतिविदुषां कि भूपतीनां कुले।।

इति, तदस्माकं प्राम्यं प्रतिभात्यत्यन्तासभ्यस्मृतिहेतुत्वात्। का चानेन स्तुतिः कृता ? त्वं वंशक्रमेण राजेति हि कियदिदम् ? इत्येवंप्राया व्याजस्तुतिः सहृद्यगोष्ठीषु निन्द्तेत्युपेच्यैव।

यस्य विकारः प्रभवन्नप्रतिबन्धस्तु हेतुना येन। गमयति तमभिप्रायं तत्प्रतिबन्धं च भावोऽसौ ॥ इति ।

अत्रापि बाच्यप्राधान्ये भावालङ्कारता । यस्य चित्तवृत्तिविशेषस्य सम्बन्धी वाग्व्यापारादिविकारोऽप्रतिबन्धो नियतः प्रभवंस्तं चित्तवृत्तिविशेषरूपमभिप्रायं येन हेतुना गमयति स हेतुर्यथेष्टोपभोग्यत्वादिलक्षणोऽर्थो भावालङ्कारः। यथा-एकाकिनी यदबला तरुणी तथाहमस्मिन्गृहे गृहपतिश्च गतो विदेशम्।

यहाँ जो स्तुति रूप व्यङ्ग्य है उससे वाल्य ही उपस्कृत होता है। जो कि किसी ने चदाहरण दिया है-

'हे राजन, पहले पृथ्वी तुम्हारी पितामही हुई, इसके बाद तुम्हारी माता हुई, इस समय समुद्र की रशना वाली यह कुलोत्पत्ति के लिए तुम्हारी पत्नी है और जब सौ वर्ष पूरे हो जायेंगे तब यह तुम्हारी अनिन्छ पुत्रवधू (पतोहू) हो जायगी। क्या समग्र नीतियों के जानकार कुल में यह ठीक कहा जा सकता है ?'

यह (उदाहरण) हमें प्राम्य लगता है, क्योंकि यह अत्यन्त असम्य स्मृति को उत्पन्न करता है। और भी, इससे स्तुति ही क्या की ? 'तुम खान्दानी राजा हो' यह कितनी स्तुति है! इस प्रकार की व्याजस्तुति सहृदय जनों की गोष्ठियों में निन्दित होने के कारण उपेक्षणीय ही है।

'जिसका विकार अप्रतिबन्ध (नियत) होता हुआ जिस हेतु से उस अभिप्राय को

तथा उसके-प्रतिबन्ध को व्यक्त्रित करता है वह 'भाव' है।'

यहाँ भी वाच्य का प्राधान्य होने पर भावालङ्कारता है। जिस चित्तवृत्ति विशेष का सम्बन्धी वाख्यापार आदि विकार अप्रतिबन्ध अर्थात् नियत होता हुआ उस चित्तवृत्ति विशेष रूप अभिप्राय को जिस हेतु से व्यञ्जित करता है वह हेतु अर्थात् यथेष्ट उपभोग्यत्वादि रूप तर्भ (मैं तुम्हारे यथेष्ट उपभोग के योग्य हूँ, कोई प्रतिबन्धक नहीं है, इस प्रकार का नाविका के मनीवत आदि अर्थ) 'भावालक्कार' है। जैसे-

'इस घर में जो कि मैं अकेली अबला तना तरुणी हूँ, घर के मालिक परदेस गये हैं।

उणीभूत हो जाता है। इस प्रक्षः वाच्यं के गुणीभाव और व्यंग्य के प्राधान्यतः प्रतीत होने के करण यहाँ वस्तुध्वनि है, न कि अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्गार है।

व्यङ्गग्रस्य यत्राप्राधान्यं वाच्यमात्रानुयायिनः । समासोक्त्यादयस्तत्र वाच्यालङ्कृतयः स्फुटाः ॥ व्यङ्गग्रस्य प्रतिभामात्रे वाच्यार्थानुगमेऽपि वा । न ध्वनिर्यत्र वा तस्य प्राधान्यं न प्रतीयते ॥

वाच्य मात्र का अनुगमन करने वाले व्यङ्गय का जहाँ अप्राधान्य है, वहाँ समासोक्ति आदि अलङ्कार स्पष्ट हैं। व्यङ्गय की सिर्फ प्रतिमा (आभास) हो अथवा वह वाच्य अर्थ का अनुगम करे अथवा जहाँ व्यङ्गय का प्राधान्य प्रतीत नहीं होता

लोचनम्

कं याचसे तिद्द वासिमयं वराकी श्वश्रम्भमान्धविधरा नतु मूढ पान्थ ॥ अत्र व्यङ्गचमेकैकत्र पदार्थे उपस्कारकारीति वाच्यं प्रधानम् । व्यङ्गचप्रा-धान्ये तु न काचिदलङ्कारतेति निरूपितमित्यलं बहुना ॥

यत्रेति काव्ये । श्रलङ्कतय इति । अलङ्कृतित्वादेव च वाच्योपस्कारकत्वम् । प्रतिभामात्र इति । यत्रोपमादौ मिलष्टार्थप्रतीतिः । वाच्यार्थानुगम इति ।
वाच्येनार्थेनानुगमः समं प्राधान्यमप्रस्तुतप्रशंसायामिवेत्यर्थः । न प्रतीयत
इति । स्फुटतया प्राधान्यं न चकास्ति, अपि तु बलात्कल्प्यते, तथापि हृद्ये
नानुप्रविशति । यथा—'देआ पिसअणिआतासु' इत्यत्रान्यकृतासु व्याख्यासु ।
तेन चतुर्षु प्रकारेषु न ध्वनिव्यवहारः सद्भावेऽपि व्यङ्गयस्य अप्राधान्ये मिलष्टहे मूढ़ पिक ! किससे रहने के लिए स्थान मांगते हो, यह मेरी सास अन्धी भी है
और बहरी भी।'

यहाँ व्यङ्गच एक-एक पदार्थ में उपस्कारकारी है, अतः वाच्य प्रधान है, व्यङ्गच के प्रधान होने पर भी कोई अलङ्कारता नहीं, यह निरूपण कर चुके हैं, बहुत कहना व्यर्थ है !

जहाँ—। काव्य में। अलङ्कार—। अलङ्कार होने से ही वाच्य का उपस्कारकत्व है। प्रतिभामात्र—। जहाँ उपमा आदि में मिलन (अस्पष्ट) अर्थ की प्रतीति है। वाच्य अर्थ का अनुगम—। अर्थात् वाच्य अर्थ के साथ अनुगम; बराबर प्राधान्य, अप्रस्तुतप्रशंसा की भाँति। प्रतीत नहीं होता है—। स्फुट रूप से प्राधान्य मासित नहीं होता है, अपितु बलात् कल्पित किया जाता है, तथापि हृदय में अनुप्रविष्ट नहीं होता। जैसे 'प्रायंये तावत् प्रसीद ०' इस गाथा में दूसरों द्वारा की गई व्याख्याओं में। अतः चार प्रकारों में व्याङ्मय के रहते हुए भी 'ब्विन' का व्यवहार नहीं होता है, (१) व्याङ्मय के अप्राधान्य में, (२) व्याङ्मय की मिलन या अस्पष्ट प्रतीति होने पर, (३) वाच्य के साथ बराबर प्राधान्य होने पर और (४) अस्फुट प्राधान्य के

तत्परावेव शब्दार्थी यत्र व्यङ्गर्य प्रति स्थितौ । ध्वनेः स एव विषयो मन्तव्यः सङ्करोज्झितः ॥

तस्मान्न ध्वनेरन्यत्रान्तर्भावः । इतश्च नान्तर्भावः; यतः काव्य-विशेषोऽङ्गी ध्वनिरिति कथितः । तस्य पुनरङ्गानि—अलंकारा गुणा वृत्तयश्चेति प्रतिपादियिष्यन्ते । न चावयव एव पृथग्भूतोऽत्रयवीति है, (वहाँ) ध्वनि नहीं है। जहाँ शब्द और अर्थ ब्यङ्गय के प्रति तस्पर होकर ही स्थित हों उसी को संकर रहित ध्वनि का विषय मानना चाहिये।

इसिक्टिये ध्विन का अन्यत्र अन्तर्भाव नहीं है। और इस कारण भी अन्तर्भाव नहीं है, क्योंिक ध्विन को कान्य विशेष रूप अङ्गी कहा है। उसके अङ्ग-अलङ्कार, गुण और वृत्तियाँ-प्रतिपादन किये जायेंगे। न कि अवयव ही पृथरभूत होकर अवयवी के रूप में प्रसिद्ध है। पृथरभाव न होने पर भी उस (अलङ्कारादि) का उस (ध्विन) का

१. 'ध्विन' सबेधा अलङ्कारों से अतिरिक्त हैं। दोनों का तादास्य या एकरूपता किसा प्रकार सम्भव नहीं। इसीलिए कृत्तिग्रन्थ के परिकार स्रोक में ध्विन के विषय को 'सङ्करोजिञ्चत' कहा है। अर्थाद समासोक्ति आदि उक्त अलङ्कारों में ध्विन के सङ्कर अर्थाद अनुप्रवेश की सम्भावना नहीं है। अलङ्कार वाच्यवावकभाव पर आश्रित होते हैं और ध्विन व्यंग्य-ध्यक्षकभाव पर आश्रित है, केवल यही कारण नहीं कि दोनों का तादास्य सम्भव नहीं, विक्त स्वामी और मृत्य की तरह अङ्किस्य और अङ्कर्प होने के कारण भी विरोध है अतः उन दोनों में तादास्य नहीं है। ध्विन काज्यविश्चेप होने के कारण अर्क्षा है और अलङ्कार, गुग तथा वृत्तियों उसके अङ्क हैं। २. यहाँ अलङ्कार आदि को ध्विन के अङ्क या अवयव कहने पर यह शङ्का उठ खड़ी हुई कि

प्रसिद्धः । अपृथग्भावे तु तदङ्गत्वं तस्य । न तु तत्त्वमेव । यत्रापि वा तत्त्वं तत्रापि ध्वनेमहाविषयत्वाञ्च तिष्ठष्ठत्वमेव । 'स्र्रिभिः कथित' अङ्ग होना है, न कि अङ्गी ही होना । जहीं कहीं भी अङ्गी होना है वहीं भी ध्वनि के महाविषय होने के कारण उन (अलङ्कार आदि) में अन्तर्भाव नहीं है। 'स्रियों ने

लोचनम्

मध्यनिपतितस्तर्द्धस्तु तथेत्याशङ्कचाह—अपृथग्भावे त्त्रिति । तदापि न स एक एव समुदायः, अन्येषामपि समुदायिनां तत्र भावातः तत्समुदायिमध्ये च प्रतीयमानमप्यस्ति, न च तदलङ्काररूपं, प्रधानत्वादेव। तत्त्वलङ्काररूपं तदप्रधानत्वान्न ध्वनिः। तदाह—न तु तत्त्वमेवैति। नन्वलङ्कारं एव कश्चित्त्वया प्रधानताभिषेकं दत्त्वा ध्वनिरित्यात्मेति चोक्त इत्याशङ्क्याह—यत्रापि वेति। न हि समासोक्त्यादीनामन्यतम एवासौ तथास्माभिः कृतः, तद्विविक्तत्वेऽपि तस्य भावात्, समासोक्त्याद्यलङ्कारस्यरूपस्य समस्तस्याभावेऽपि तस्य दर्शितत्वात् 'अत्ता एत्थ' इति 'कस्स वा ण' इत्यादिः तदाह-न तिषष्ठत्वमेवैति । बीच रहे, यह आशङ्का करके कहते हैं-पृथयभाव न होने पर-। तब भी वह एक ही समुदाय नहीं है, अन्य समुदायियों का भी वहाँ अस्तित्व है। और समुदायियों के बीच में प्रतीयमान भी है, न कि वह अलङ्कार रूप है, क्योंकि वह प्रधान है। जो कि अलङ्कार रूप है वह अप्रधान होने के कारण व्विन नहीं है। इस लिए कहा-न कि अङ्गी ही होना-। किसी अलङ्कार ही को तुमने प्रधानता का अभिषेक देकर 'ध्विन' और 'आत्मा' कहा है, यह आशङ्का करके कहते हैं-जहाँ कहीं भी-। न कि यह घ्वनि समासोक्ति आदि अलङ्कार में कोई अन्यतम है जिसे उस प्रकार हमने किया है. क्योंकि समासोक्ति आदि के अभाव में भी उस (ब्विन) का अस्तित्व है। समासोक्ति आदि अलङ्कार के स्वरूप के समान स्वरूप वाले अलङ्कार के अभाव में भी उसे (व्विन को) दिखाया है, 'अत्ता एत्य ०', 'कस्स वा ण ०' इत्यादि । इस लिए

अवयव के अतिरिक्त जब कि कोई अवयवी नहीं प्राप्त होता तो क्यों नहीं यह स्वीकार किया जाय कि अवयवरूप अछङ्कार भी अवयवी ध्वित हैं? इसका निराकरण करते हैं कि पृथक् पृथक् रूप से अवयव किसी प्रकार अवयवी नहीं बन सकता, अर्थात् एक-एक अवयव को छेकर उसे अवयवी की संद्या नहीं दी जा सकती। इस पर पुनः शङ्का होती है कि क्यों नहीं तव समुदायमध्यपतित अवयव को ही अवयवों कहते हैं? इसके निराकरण में छोचनकार का स्पर्धाकरण यह है कि समुदाय किसी प्रकार एक को नहीं कहते हैं, क्योंकि समुदायी में अनेक और भी समुदायियों का अस्तित्व होता है जैसे कि प्रस्तुत में ही प्रतीयमान भी एक समुदायी है, वह अपनी प्रधानता की स्थिति में 'ध्विन' हो जाता है। वह अछङ्काररूप अप्रधान होने के कारण होता है। इस प्रकार न तो पृथक्-पृथक् रूप से अवयव को अवयवी कह सकते हैं और न समुदायरूप से। तात्पर्य यह कि 'ध्विन' सर्वथा अङ्गी एवं प्रधान तत्त्व है और अछङ्कार आदि अङ्ग या अप्रधान हैं। इसी अंश में अछङ्कार आदि ध्विन के अङ्ग है कि वह काव्यविशेष है और अछङ्कार आदि उसमें रहा करते हैं, न कि वह ध्विन स्वयं-अछङ्कार आदि में अन्तर्भुत्त हो सकना है।

इति विद्वदुपन्नेयम्रक्तिः, न तु यथाकथित्रवृत्तेति प्रतिपाद्यते । प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः, व्याकरणमूलत्वात्सर्वविद्यानाम् । ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ष्वनिरिति व्यवहरन्ति ।

कहा है' अर्थात् यह उक्ति विद्वानों के मतानुसार (विद्वदुपज्ञा) है, न कि जिस किसी प्रकार चल पड़ी है, कि इसे प्रतिपादन कर रहे हैं। मुख्य विद्वान् वैयाकरण हैं, क्योंकि समस्त विद्याओं का मूल व्याकरण है। वे (वैयाकरण विद्वान्) श्रूयमाण वर्णों में 'ध्वनि' यह व्यवहार करते हैं।

लोचनम्

विद्वदुपन्निति । विद्वद्गश्च उपज्ञा प्रथम उपक्रमो यस्या उक्तिरिति बहुत्रीहिः । तेन 'उपज्ञोपक्रमम्' इति तत्पुरुषाश्रयं नपुंसकत्वं निरवकाशम् । श्रूयमाणेष्विति । श्रोत्रशष्कुर्ली सन्तानेनागता अन्त्याः शब्दाः श्रूयन्त इति प्रक्रियायां शब्दजाः शब्दाः श्रूयमाणा इत्युक्तम् । तेषां घण्टानुरणनरूपत्वं ताबद्स्तिः ते च ध्वनिश्वदेनोक्ताः । यथाह भगवान् भर्तृहरिः—

कहा— उसमें अन्तर्भाव नहीं है— । विद्वतुपज्ञा— । विद्वानों से उपज्ञा अर्थात् सबसे पहले उपक्रम (आरम्भ) है जिस उक्ति का—यह बहुव्रीहि है । इस लिए 'उपजोपक्रमं तदाद्याचिख्यासायाम्' (पा. सू. २. ४. २१) इसके अनुसार तत्पुरुष में होने वाले नपुंसकत्व का कोई अवसर नहीं । श्रूयमाण — । शष्कुली सहश श्रोत्रदेश के आकाश में सन्तानक्रम से (वीचीतरक्ष की भाँति) आकर अन्त वाले शब्द सुने जाते हैं, इस प्रक्रिया में शब्द से उत्पन्न शब्द 'श्रूयमाण' होते हैं, यह कहा गया है । उन (श्रूयमाण अन्त्य शब्दज शब्दों) का घण्टानुरणन का साहश्य है । वे 'ब्विन' शब्द से कहे गये हैं । जैसा कि भगवान् भर्तृहरि ने कहा है—

१. प्रस्तुत में विषय के स्पष्टांकरण के लिए संक्षेप में 'स्पोट' के स्वरूप को जान लेना आवश्यक है। स्प्तोटवाद मारतीय वैयाकरणों की निजी कल्पना है। अलङ्कारशास्त्र में 'ध्वनि' की कल्पना का आधार न्याकरणों का स्प्तोट-सिद्धान्त हीं है। 'स्प्तोट' का अर्थ है जिससे अर्थ का स्फुटन होता हो (स्फुटत्यस्मादर्थ इति स्प्तोट:)। इस 'स्प्तोट' को भी समझने के पूर्व हमें शब्द-अवण की प्रक्रिया से परिचित होना चाहिए। शब्द की उत्पत्ति तीन प्रकार से होती है—संयोग से, वियोग से एवं शब्द से। इस प्रकार उत्पत्ति के अनुसार शब्द तीन प्रकार के हैं—संयोगज, वियोगज (या विमागज) और शब्द । किसी वस्तु का किसी वस्तु के साथ जोर से संयोग होने पर भी शब्द उत्पन्न होता है और कागज या किसी वस्तु के विभाग में भी शब्द उत्पन्न होता है। इसी प्रकार जिह्ना आदि के संयोग-वियोग द्वारा भी शब्द की उत्पत्ति होती है। मूलतः उत्पन्न शब्द 'स्प्तोट' कहलाता है। किन्तु जो शब्द उत्पन्न होता है वहीं श्रोता को नहीं सुन पढ़ता है। जैसे कुछ दूरी पर वेठ कर जो कोई वोलता है वहीं शब्द श्रोता को सुनाई नहीं देता विस्त वह उत्पन्न होकर इसरा शब्द तीसरे शब्द को, तीसरा चौथे को एवं चौथा पांचवे को आदि। इसको 'वीचीसन्तान-व्याय' कहते हैं। अर्थात् जैसे सरोवर के स्थिर जल में ठिकरा डालने पर एक वर्तुलाकार छोटा

यः संयोगवियोगाभ्यां करणैरुपजन्यते । स स्फोटः शब्दजाश्शब्दा ध्वनयोऽन्येरुदाहृताः ॥ इति ।

एवं घण्टादिनिर्हाद्स्थानीयोऽनुरणनात्मोपलक्षितो व्यङ्गचोऽप्यथों घ्वनि-रिति व्यवहृतः। तथा श्रूयमाणा ये वर्णा नादशब्दवाच्या अन्त्यबुद्धिनिर्माह्य-स्फोटाभिव्यञ्जकास्ते ध्वनिशब्देनोक्ताः। यथाह भगवान् स एव—

'करणों अर्थात् जिह्नादि स्थानों के साथ संयोग और वियोग के कारण जो उत्पन्न होता है वह 'स्फोट' है और (श्रूयमाण) शब्दों से उत्पन्न शब्दों को अन्यों (उत्पत्ति वादियों) ने 'ध्वनि' कहा है।'

इस प्रकार घण्टा आदि की आवाज के समान अनुरणनरूपोपलक्षित व्यंग्य अर्थ 'घ्वनि' के नाम से व्यवहृत है। तथा श्रृ्यमाण जो 'नाद' शब्दवाच्य एवं अन्तिम बुद्धि से नितरां ग्राह्य स्फोट को व्यक्तित करनेवाले जो वर्ण हैं वे 'घ्वनि' शब्द से कहे गए हैं। जैसा कि उन्हीं भगवान् भर्तृहरि ने कहा हैं—

सा घेरा पैदा हो जाता है, वही एक से दूसरी तरंग को उत्पन्न करते हुए समस्त सरोवर में व्याप्त हो जाता है। इसी प्रकार शब्द से उत्पन्न शब्द घण्टानुरणन रूप होने के कारण 'ध्वनि' कहलाते हैं। भर्तृहरि की यह कारिका इसी अभिप्राय को व्यक्त करती है—

> यः संयोगवियोगाभ्यां करणैरुपजन्यते । स स्फोटः शब्दजाः शब्दा ध्वनयोऽन्येरुदाहृताः ॥

यह भी कल्पना है कि 'स्फोट' एक नित्य शब्द के रूप में हमारे मन में विद्यमान रहता है। हम जिस अनित्य शब्द को सुनते हैं उससे उस नित्य 'स्फोट' रूप शब्द का उद्योध होता है और उसके द्वारा हम अर्थ का ज्ञान करते हैं। वर्णस्फोट, पदस्फोट, वाक्यस्फोट आदि भेद भी हैं।

घण्टा के एक नार नज जाने के नाद उसमें जिस प्रकार ध्विन रूप अनुरणन होता है उसी प्रकार अनुरणन रूप से उपलक्षित व्यङ्गय अर्थ मी अलङ्कार-शास्त्र में 'ध्विन' कहा गया है। इस प्रकार वैयाकरणों के 'ध्विन' को अनुरणनरूपता के आधार पर आलङ्कारिकों ने अपने अनुरूप नना लिया।

केवल व्यक्त अर्थ ही 'ध्विन' नहीं बिल्क 'ब्यक्षक' भी 'ध्विन' कहा जाता है। इस प्रकार व्यक्षक होने के कारण वाचक शब्द और वाच्य अर्थ भी 'ध्विन' पद से वाच्य होते हैं। इस मन्तव्य को सिद्ध करने के लिए वैयाकरणों के 'नाद' को लिया है। 'नाद' अयमाण वर्णों को कहते हैं। जिस कम से वर्ण अयमाण होते हैं उसी कम से 'स्फोट' रूप नित्य शब्द की अभिव्यक्ति होती है। जैसे हमने 'घट' शब्द को सुना तो 'घ्' के पश्चात् 'अ' तव 'ट्' और तव 'अ' की हमें प्रतीत होती है। पूर्व वर्ण उत्पन्न होकर अपना संस्कार उत्पन्न करके अग्रिम वर्ण के उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाता है। नैयायिक लोग इसे वर्णों का नाश मानते हैं, किन्तु वैयाकरण लोग इसे 'तिरोभाव' कहते हैं। इस प्रकार 'स्फोट' को पूर्व पूर्व वर्ण के अनुभव से उत्पन्न संस्कार के सहयोग से, जो हमें अन्त्य वर्ण की बुद्धि होतो है उसके द्वारा ग्रहण करते हैं। इस प्रकार 'स्फोट' रूप नित्य शब्द के ये वर्ण अभिन्यक्षक होने के कारण 'ध्विन' कहे जाते हैं। मर्तृहरि ने इसे इन शब्दों में कहा है—

प्रत्ययेरनुपाख्येयेर्घहणानुगुणस्तथा । ध्वनिप्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते ॥

प्रत्ययैरनुपाख्येयैर्प्रहणानुगुणैस्तथा । ध्वनिप्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते ॥ इति ।

तेन व्यञ्जकौ शब्दार्थावपीह ध्वनिशब्देनोक्तौ । किञ्च वर्णेषु तावन्मात्रपरि-मागोष्वपि सत्सु । यथोक्तम्—

अल्पीयसापि यत्नेन शब्दमुचारितं मतिः। यदि वा नैव गृह्वाति वर्णं वा सकलं स्फुटम्।। इति।

तेषु तावत्स्वेव श्रूयमागोषु वक्तुर्योऽन्यो द्रुतविलम्बितादिवृत्तिभेदात्मा प्रसि-द्धादुचारणव्यापारादभ्यधिकः स ध्वनिरुक्तः। यदाह स एव—

शब्दस्योर्ध्वमभिव्यक्तेर्वृत्तिभेदे तु वैकृताः। ध्वनयः समुपोहन्ते स्फोटात्मा तैर्न भिद्यते ॥ इति ।

'अनिर्वचनीय एवं व्यक्तरूप स्फोट के ग्रहण के अनुकूल प्रत्ययों से उस शब्द में, जो व्वनियों द्वारा प्रकाशित होता है, स्फोट का स्वरूप ज्ञात होता है।'

इसलिए व्यक्षक शब्द और अर्थ को भी 'ध्विन' शब्द से कहा है। और भी, जिस रूप से श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा गृहीत होते हैं उस परिमाण के वर्णों में भी ('ध्विन' शब्द से व्यवहार होता है)। जैसा कि कहा है—

मित थोड़े भी प्रयत्न से उचिरित शब्द को नहीं ग्रहण करती है, यदि वा सकल वर्ण को स्फुटरूप से ग्रहण कर लेती है।

उतने ही अंश में श्रूयमाण वर्णों में वक्ता का जो अन्य द्रुत, विल्लिम्बित आदि वृत्ति भेद रूप प्रसिद्ध उच्चारण व्यापार से अधिक है वह 'ध्विन' कहा गया है। जो कि उन्होंने ही कहा है—

'(स्फोटरूप) शब्द की अभिव्यक्ति के पहले जो वैकृत शब्द (द्रुत आदि) वृत्तियों के भेद में 'व्विन' मालूम पड़ते हैं, स्फोट उनसे भिन्न नहीं होता।'

अर्थात् अनिर्वचनीयं, व्यक्तरूप स्फोट के ग्रहण के अनुकूल, प्रत्ययों से उस शब्द में, जो ध्वनियों द्वारा प्रकाशित होता है, स्फोट का स्वरूप ज्ञात होता है। मतलव यह कि जो शब्द अयुमाण वर्ण रूप ध्वनियों से ग्रहण के अनुकूल, अनिर्वचनीय प्रत्ययों द्वारा प्रकाशित होता है उसे ही स्पोट' का स्वरूप अवधारण किया जाता है। इस प्रकार जव वैयाकरणों ने 'व्यक्षक' को 'ध्वनि' माना तव आलक्कारिकों ने उसी समानता पर व्यक्षक शब्द और अर्थ को भी अपने यहाँ 'ध्वनि' कहा। यहाँ तक 'ध्वनि' को लेकर व्यक्कय अर्थ, व्यक्षक शब्द और व्यक्षक अर्थ को 'ध्वनि' कहने की प्रवृत्ति की चर्चों हुई।

अब व्यक्षकत्व रूप व्यापार को 'ध्विन' कहने की प्रवृत्ति किस आधार पर है, इसे स्पष्ट करते हैं। वैयाकरणों के अनुसार जिन वर्णों का हम उच्चारण करते हैं उसकी अभिव्यक्ति में द्वुत एवं विलिक्ति आदि प्रकारों से अन्तर पड़ जाता है। अर्थात् हम कभी धीरे धीरे और कभी शीव उच्चारण करते हैं। इस प्रकार शब्द में अन्तर होते हुए भी अर्थ में अन्तर नहीं होता। वैयाकरणों ने शब्द के दो रूप माने हैं एक प्राष्ट्रत दूसरा वैकृत। हम जो उच्चारण करते हैं वे वैकृत शब्द हैं और प्राकृत शब्द उत्पन्न होने वाला नित्य स्फोट रूप शब्द है। द्वुत, विलिक्ति आदि वृत्तियाँ या स्वरभेद वैकृत शब्दों में हुआ करते हैं। इस प्रकार वक्ता को

तथैवान्यैस्तन्मतानुसारिभिः स्र्रिभिः काव्यतस्वार्थदिशिभिर्वाच्य-उसी प्रकार उनके मत का अनुसरण करने वाले, काव्य-तस्व के द्रष्टा स्रियों ने लोचनम्

अस्मामिरिप प्रसिद्धेभ्यः शब्द्व्यापारेभ्योऽभिधातात्पर्येलक्षणारूपेभ्योऽति-रिक्तो व्यापारो ध्वनिरित्युक्तः । एवं चतुष्कमिप ध्वनिः । तद्योगाच्च समस्तमिप काव्यं ध्वनिः । तेन व्यतिरेकाव्यतिरेकव्यपदेशोऽपि न न युक्तः । वाच्यवाचक-संमिश्र इति । वाच्यवाचकसिहतः संमिश्र इति मध्यमपदलोपी समासः । 'गामश्वं पुरुषं पशुम्' इतिवत्समुच्चयोऽत्र चकारेण विनापि । तेन वाच्योऽपि ध्वनिः, वाचकोऽपि शब्दो ध्वनिः, द्वयोरिप व्यञ्जकत्वं ध्वनतीति कृत्वा । संमि-

हमने भी प्रसिद्ध अभिधा, तात्पर्यं, लक्षणारूप शब्दव्यापारों से अतिरिक्त व्यापार को 'घ्विन' कहा है। इस प्रकार (व्यंग्यादि) चारों घ्विन हैं। और उनके योग से समस्त काव्य भी 'घ्विन' है। इस कारण भेदव्यपदेश और अभेदव्यपदेश भी अयुक्त नहीं है। वाच्यवाचकसिमश्र—। वाच्य-वाचक सिंहत सिम्मश्र' यह मध्यमपदलोपी समास है। 'गौ, अश्व, पुरुष, पशु' को भौति यहाँ 'चकार' (अर्थात् 'और') का प्रयोग न होने पर भी समुचय (सङ्कलन) है। इसलिए वाच्य अर्थ भी ध्विन है और वाचक शब्द भी घ्विन है, दोनों का व्यञ्जकत्व 'ध्विनन करता है' ('ध्विनती'ति) इस व्युत्पत्ति के

श्रूयमाण वर्णों के उच्चारण रूप प्रसिद्ध ज्यापार के अतिरिक्त द्भुत, विलम्बित आदि वृत्तिमेद रूप अधिक ज्यापार करना पड़ता है। इस अतिरिक्त ज्यापार को भी वैयाकरणों ने 'ध्वनि' माना है। इसी आधार पर आल्ङ्कारिकों ने भी प्रसिद्ध अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा रूप शब्द ज्यापारों के अतिरिक्त ज्यञ्जकत्व ज्यापार को भी 'ध्वनि' कहा है। इस प्रकार वैयाकरणों के अनुसार ज्यङ्गथ अर्थ, ज्यञ्जक शब्द, ज्यञ्जक अर्थ और ज्यञ्जकत्व ज्यापार, इन चारों के 'ध्वनि' कहने के साथ ही आल्ङ्कारिकों ने इन चारों के समुदाय रूप अर्थात् ज्यङ्गथ-वाच्य-वाचक-ज्यापार समुदाय रूप काज्य को भी 'ध्वनि' की संज्ञा दी है।

१. प्रायः ध्वन्यालोक के सामान्य अध्येता को कहीं पर 'ध्विन कान्य का आत्मा है' (कान्य-स्यात्मा ध्विनः) इस प्रकार के ध्विन के साथ कान्य के मेद या न्यतिरेक के न्यपदेश को और कहीं पर 'वह कान्य-विशेष ध्विन है' इस प्रकार के अमेद या अन्यतिरेक के न्यपदेश को देख कर अम हो जाता है। कभी ध्विन कान्य की आत्मा है तो कभी स्वयं कान्य ही है? छोचनकार के उपर्शुक्त पञ्चविध ध्विन को देखकर इस प्रकार का अन्य में अमेद और मेद का न्यवहार ठीक लग जाता है। जहाँ पर ध्विन को कान्य का आत्मा कहा गया है वहाँ समझना चाहिए कि 'ध्विन' से 'न्यङ्ग्य' अर्थ अभिप्रेत है और जहाँ स्वयं ध्विन को कान्य कहा गया है वहाँ समझना चाहिए कि यहाँ वाच्य, वाचक, न्यञ्चना और न्यङ्ग्य के समुदाय रूप कान्य यहाँ 'ध्विन' से अभिप्रेत है।

२. ऊपर निर्दिष्ट पाँच प्रकार के ध्वनि को संक्षेप में वृत्तिकार ने 'वाच्यवाचकसमिनाकः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यः' इन शब्दों से निर्देश किया है। 'ध्वनि' शब्द की विभिन्न व्युत्पत्ति से सभी को संगृहीत करके छोचनकार ने स्पष्टीकरण किया है। 'ध्वनतीति ध्वनिः' इससे वाच्य अर्थ और वाचक शब्द दोनों को संगृहीत किया है। 'ध्वन्यते इति ध्वनिः से व्यक्त्य अर्थ संगृहीत है एवं 'ध्वननं ध्वनिः' से व्यक्त्या रूप शब्द का व्यापार गृहीत है, जिसे वृत्तिकार ने यहाँ 'शब्दात्मा' कहा है।

वाचकसम्मिश्रः श्रब्दात्मा काञ्यमिति न्यपदेश्यो ज्यञ्जकत्वसाम्याद् ध्वनिरित्युक्तः । न चैवंविधस्य ध्वनेवंध्यमाणप्रमेदतः द्वेदसंकलनया महाविषयस्य यत्प्रकाशनं तदप्रसिद्धालंकारविशेषमात्रप्रतिपादनेन वाच्य, वाचक, सिम्मश्र (अर्थात् न्यङ्गधार्थ) शब्द रूप (न्यञ्जना न्यापार) और कान्य' कहे जाने वाले को (अर्थात् कान्य को) न्यञ्जकत्व की समानता के कारण 'ध्वनि' कहा है। वच्यमाण भेद-प्रमेद के सङ्गलन से महाविषय (न्यापक) ध्वनि का जो प्रकाशन है वह अप्रसिद्ध किसी अलङ्कार मात्र के सहश नहीं

लोचनम् श्र्यते विभावानुभावसंवलनयेति व्यङ्गचोऽपि ध्वनिः, ध्वन्यत इति कृत्वा।

शब्दनं शब्दः शब्दव्यापारः, न चासावभिधादिरूपः, अपि त्वात्मभूतः, सोऽपि ध्वननं ध्वनिः। काव्यमिति व्यपदेश्यश्च योऽर्थः सोऽपि ध्वनिः, उक्तप्रकारध्व-निचतुष्ट्रयमयत्वात् । अतएव साधारणहेतुमाह्—व्यक्षकत्वसाम्यादिति । व्यङ्गश्च-व्यञ्जकमावः सर्वेषु पत्तेषु सामान्यरूपः साधारण इत्यर्थः। यत्पुनरेतदुक्तं 'वाग्विकल्पानामानन्त्यात्' इत्याद्, तत्प्रिहरति—न चैवं विघस्येति । वन्त्य-माणः प्रभेदो यथा-मुख्ये द्वे रूपे। तद्भेदा यथा-अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यः, अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य इत्यविवक्षितवाच्यस्य, असंलद्यक्रमव्यङ्गयः संलद्य-क्रमन्यक्कच इति विविश्वतान्यपरवाच्यस्येति । तत्राप्यवान्तरभेदाः । महाविषय-स्येति—अशोषलच्यव्यापिन इत्यर्थः । विशेषप्रह्गोनाव्यापकत्वमाह । मात्रशब्दे-नाङ्गित्वामावम्। तत्र ध्वनिस्वरूपे भावितं प्रणिहितं चेतो येषां तेन वा अनुसार है। विभावानुभाव के संवलन से जो सम्मिश्रित होता है, वह व्यंग्य भी 'व्विनि' है। शब्दन शब्द, अर्थात् शब्द का व्यापार, वह अभिधादिरूप नहीं, बल्कि आत्मभूत है, वह भी 'घ्वननं' (ब्युत्पत्ति के अनुसार) 'घ्वनि' है । और 'काव्य' शब्द से व्यपदेश्य जो अर्थ है वह भी 'ब्बिन' है, क्योंकि वह कथित प्रकार चार प्रकार के ध्विनयों से युक्त है। अतएव साघारण हेतु कहते हैं व्यक्षकत्व की समानता के कारण-। अर्थात् व्यंग्यव्यक्षकभाव सब पक्षों में सामान्यरूप या साधारण है। जो कि यह कहा है—'वाणी के विकल्पों (भेदों) के आनन्त्य के कारण'—इत्यादि, उसका परिहार करते हैं इस प्रकार के । वक्ष्यमाण प्रभेद, जैसे - मुख्य दो रूप। उनके भेद, जैसे—'अविविधातवाच्य' के अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य; 'विवक्षितान्यपरवाच्य' के असंज्ञक्ष्यक्रमव्यंग्य और संज्ञक्ष्यक्रमव्यंग्य । उनके भी अवान्तर मेद । महाविषय-। अर्थात् पूरे लच्यों में व्याप्त रहनेवाला । 'विशेष' ('किसी' अलङ्कार) इस कथन से (उसका) अव्यापकत्व कहा है । 'मात्र' शब्द से अङ्कित्व का असाव कहा है। उस घ्वनि-स्वरूप में भावित अर्थात् प्रणिहित चित्त है जिनका,

तुल्यमिति तद्भावितचेतसां युक्त एव संरम्भः। न च तेषु कथश्चि-दीर्घ्यया कछिषतशेम्रुषीकत्वमाविष्करणीयम्। तदेवं घ्वनेस्तावदभाव-वादिनः प्रत्युक्ताः।

अस्ति ध्वनिः । स चासाविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्य-श्रेति द्विविधः सामान्येन ।

है, ऐसी स्थिति में उस (घ्वनि) के प्रति भावित चित्त वालों का संरम्भ ठीक ही है। उन लोगों के प्रति ईर्ष्या से अपनी बुद्धि का कालुप्य आविष्कृत करना नहीं चाहिये। इस प्रकार ध्वनि के अभाववादियों का निराकरण किया।

ध्विन है। वह विविश्वतवाच्य और विविश्वतान्यपरवाच्य भेद से सामान्यतः दो प्रकार का है।

लोचनम्

चमत्काररूपेण भावितमधिवासितमत एव मुकुलितलोचनत्वादिविकारकारणं चेतो येषामिति । श्रमाववादिन इति । अवान्तरप्रकारत्रयमित्रा अपीत्यर्थः ।

तेषां प्रत्युक्तौ फलमाह—श्रस्तीति । उदाहरणपृष्ठे भाक्तत्वं सुराङ्कं सुपरिहरं च भवतीत्यभिप्रायेणोदाहरणदानावकाशार्थं भाक्तत्वालक्षणीयत्वे प्रथमं परिहरणयोग्ये अप्यप्रतिसमाधाय भविष्यदुद्दं योतानुवादानुसारेण वृत्तिकृदेव प्रभेद्दिष्णणं करोति—स चेति । पञ्चधापि ध्वनिशब्दार्थे येन यत्र यतो यस्य यस्मै इति बहुत्रीह्यर्थाश्रयेण यथोचितं सामानाधिकरण्यं सुयोज्यम् । वाच्येऽर्थे अथवा उस चमत्काररूप से भावित अर्थात् अधिवासित चित्त है जिनका, अतएव मुकुलित-लोचन होना आदि विकारों का कारण चित्त है जिनका। अभाववादी—। अर्थात् अवान्तर तीन प्रकारों से भिन्न भी।

उनके निराकरण का फल कहते हैं—ध्विन है—। उदाहरण देने पर भाक्तत्व की शक्का और परिहार भी सुकर हो जायगा, इस अभिप्राय से उदाहरण देने के अवसर के लिए 'भाक्तत्व' और अलक्षणीयत्व के पहले परिहरण योग्य होने पर भी उनका प्रतिसमाधान न करके आगे के 'उद्योत' में अनुवाद (द्विचिक्त) के अनुसार वृत्तिकार ही प्रभेदों' का निरूपण करते हैं—वह—। 'व्विन' शब्द से पश्चिविष अर्थं में 'जिससे',

१. ध्विन के असाववादियों का निराकरण करके आचाये ने 'ध्विन है' यह कहकर ध्विन के अस्तित्व को सिद्ध कर दिया तब भाक्तत्ववादियों और अळक्षणीवतावादियों के निराकरण का प्रसंग क्रमप्राप्त है। किन्तु वृत्तिग्रन्थ में यहाँ ध्विन के दो प्रभेदों की चर्चा करते हैं तथा उनके उदाहरण भी देते हैं, इसका क्या असिप्राय है ? इस प्रश्न के समाधान में छोचनकार कहते हैं कि 'भाक्तवाद' का आधार 'छक्षणा व्यापार' है और ध्विन के अविविक्षतवाच्यरूप प्रभेद में छक्षणा का परिचय जब प्राप्त हो जायगा तब आगे ध्विन के भाक्तत्व की शक्का भी द्विषा से बन जायगी और उसका परिहार भी द्विषा से हो जायगा। दूसरे यह भी कि आगे दितीय उद्योत में कारिका ग्रन्थ में ध्विन के

तु ध्वनौ वाच्यशब्देन स्वात्मा तेनाविवश्चितोऽप्रधानीकृतः स्वात्मा येनेत्यविव-क्षितवाच्यो व्यञ्जकोऽर्थः। एवं विवक्षितान्यपरवाच्येऽपि। यदि वा कर्मधार-येणार्थपत्ते अविवक्षितश्चासौ वाच्यश्चेति । विवक्षितान्यपरश्चासौ वाच्यश्चेति । तत्रार्थः कदाचिद्नुपपद्यमानत्वादिना निमित्तेनाविवक्षितो भवति । कदाचि-दुपपद्यमान इति कृत्वा विवक्षित एव, व्यङ्गचपर्यन्तां त प्रतीति स्वसौभाग्य-महिम्ना करोति। अत एवार्थोऽत्र प्राधान्येन व्यञ्जकः, पूर्वत्र शब्दः। ननु च विवक्षा चान्यपरत्वं चेति विरुद्धम् । अन्यपरत्वेनैव विवक्षणात्को विरोधः १ सामान्येनेति । वस्त्वलङ्काररसात्मना हि त्रिभेदोऽपि ध्वनिक्रभाभ्यामेवाभ्यां 'जहां'. 'जिससे', जिसका', 'जिसमें' इस प्रकार बहुवीहि समास के अर्थ के आधार से जहाँ जो उचित लगे उसका सामानाधिकरण्य? बना लेना चाहिए। वाच्य अर्थ में ध्वनि का प्रयोग होगा तब 'वाच्य' शब्द से 'स्वात्मा' (कहा जायगा), इस प्रकार अविवक्षित या अप्रधानीकृत है स्वारमा जिससे, इस प्रकार अविवक्षितवाच्य व्यञ्जक अर्थ है। इसी प्रकार विवक्षितान्यपरवाच्य में भी। अथवा कर्मधारय-समास से अर्थ के पक्ष में 'अविवक्षितश्चासौ वाच्यश्च' यह होगा । और 'विवक्षितान्यपरश्चासौ वाच्यश्च' होगा । वहाँ अर्थं कभी अनुपपद्यमानत्व आदि निमित्त से अविवक्षित होता है, कभी उपपद्यमान करके विवक्षित होता है, किन्तु व्यंग्य-पर्यंन्त प्रतीति को अपने सौभाग्य की महिमा से उत्पन्न करता है। अतएव यहाँ अर्थ प्राधान्यतः व्यक्तक है, और पहले में शब्द।

शङ्का होती है कि 'विवक्षा' और 'अन्यपर' ये दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। तब प्रश्न यह होगा कि 'अन्यपर' रूप से ही विवक्षा करने पर कौन-सा विरोध होगा ? (वस्तुतः कोई-कोई विरोध नहीं)। सामान्यरूप से—। भाव यह कि वस्तु, अलङ्कार और रस

इन दो मेदों का प्रतिपादन न करके उनका अवान्तर मेद आरम्म कर दिया है। ऐसा करने से कारिकाकार का तात्पर्य यही प्रतीत होता है कि पहले जो ध्वनि के अविविक्षितवाच्य और विविक्षितान्यपरवाच्य मेद कर चुके हैं उनके अब अवान्तर प्रमेद के प्रतिपादनार्थ कहते हैं। इस प्रकार द्वितीयोद्योत का अनुवाद उपपन्न करने के उद्देश्य से भी यहाँ स्वयं वृत्तिकार कारिकाकार की जगह पर स्थित होकर ध्वनि के मेदों का पहले ही प्रतिपादन कर देते हैं।

१. पीछे 'ध्विन' शब्द के पाँच अधाँ का निर्देश कर चुके हैं। प्रस्तुत में 'अविविक्षितवाच्य' आदि के द्वारा 'ध्विन' शब्द के किस अर्थ को लेकर कहा गया है इसके समाधान में लोचनकार 'बहुवीहिसमास' के आश्रयण का उपाय निर्देश करते हैं। इस प्रकार 'ध्विन' शब्द के जिस अर्थ के साथ सामानाधिकरण्य बैठ जाय उससे बना लेना चाहिए। उदाहरण के लिए, 'अविविक्षितः बाच्यो यस्य' इस बहुवीहि समास के द्वारा 'ध्विन' के 'शब्द' रूप अर्थ के अनुसार यह भेद बन जाता है। इसी प्रकार अन्य अर्थों में समझ लेना चाहिए। 'बहुवीहि' में अन्य पदार्थ प्रधान होता है, ऐसी स्थिति में ध्विन के अर्थ व्यङ्गय, व्यञ्जन और काव्य में तो बहुवीहि बन जाती है किन्द्रा 'बाच्य' रूप अर्थ में नहीं बनती है क्योंकि यह अन्य पदार्थ नहीं बल्कि समास की कुक्षि में स्थित है। उसके समाधान में लोचनकार ने 'बाच्य' का अर्थ 'स्वारमा' किया है, और समास किया है अविविक्षितः स्वारगा येन (बाच्येन) ऐसा समास किया है।

तत्राद्यस्योदाहरणम्-

सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः। शूर्थ कृतविद्यश्च यथ जानाति सेवितुम्॥

उनमें प्रथम का उदाहरण-

तीन प्रकार के लोग सुवर्णंपुष्पा पृथ्वी को चयन करते हैं, एक तो शूर, दूसरा विद्वान और तीसरा जो सेवा करना जानता है।

लोचनम्

सङ्गृहीत इति भावः। ननु तन्नामपृष्ठे एतन्नामनिवेशनस्य कि फलम् १ डच्यते—अनेन हि नामद्वयेन ध्वननात्मिन न्यापारे पूर्वप्रसिद्धामिघातात्पर्यः लक्षणात्मकन्यापारित्रतयावगतार्थप्रतीतेः प्रतिपत्तृगतायाः प्रयोक्त्रमिप्राय- क्ष्पायात्र विवक्षायाः सहकारित्वमुक्तमिति ध्वनिस्वरूपमेव नामभ्यामेवः प्रोजीवितमः।

सुवर्णपुष्पामिति । सुवर्णानि पुष्प्यतीति सुवर्णपुष्पा, एतच वाक्यमेवा-सम्भवत्स्वार्थमिति कृत्वाऽविविश्वतवाच्यम् । तत एव पदार्थमिभधायान्वयं च तात्पर्यशक्त्यावगमय्येव बाधकवशेन तमुपहत्य साहश्यात्सुलभसमृद्धिसम्भार-क्ष्म से तीन भेदों वाला भी यह घ्वनि इन्हीं दोनों से संगृहीत हो जाता है। शक्का है कि 'घ्वनि' नाम के पश्चात् इस नाम के रखने का लाभ क्या है? कहते हैं—इन दोनों नामों से घ्वननष्प व्यापार में पूर्वप्रसिद्ध अभिधा, तात्पर्यं, लक्षणाष्ट्रप तीनों व्यापारों से अवगत अर्थं की प्रतीति का और प्रतिपत्ता या ज्ञाता में रहनेवाली प्रयोक्ता के अभिप्रायष्ट्य विवक्षा का सहकारित्व कहा है, इस प्रकार दोनों नामों से घ्वनि का स्वष्ट्य ही प्रोज्जीवित है।

सुवर्णपुष्पा—। 'सुवर्णों को पुष्पित करती है, अतः 'सुवर्णपुष्पा' यह वाक्य ही ऐसा है जिसका स्वार्थ सम्भव नहीं हो रहा है, इस कारण (यह वाक्य) 'अविवक्षित-वाच्य' है। उसी से पदार्थ का अभिधान करके और तात्पर्य-शक्ति से अन्वय को ज्ञात कराके बाधक के कारण उस अन्वय का उपहनन करके साहश्य के बल से सुल्भ

२. लोचनकार ने 'सुवर्णपुष्पा' का अर्थ 'सुवर्णानि पुष्प्यति' के अनुसार 'सुवर्णों को पुष्पित

14

१. अिविक्षितवाच्य और विविक्षितान्यपरवाच्य इन दोनों नामों के निर्देश का अमिप्राय यह है कि केवल व्यक्षना व्यापार से 'ध्विन' की पूर्णता सिद्ध नहीं होती है विल्क सहायक या सहकारी रूप से प्रतिपत्ता को अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा के अभी की एवं प्रयोक्ता के विवक्षा की भी आवश्यकता होती है। इसीलिए दोनों नाम आचार्य ने रखे हैं। अविविक्षितवाच्य ध्विक लक्षणामूल होता है, अतः लक्षणा की सहकारिता के लिए एवं विविक्षितान्यपरवाच्य में प्रयोक्ता के विवक्षा की सहकारिता को व्यक्त किया है। क्योंकि इनके विना केवल व्यक्षना व्यापार से प्रतिपत्ता प्रतिपिपादिषित अर्थ का ज्ञान नहीं कर सकता। इसी उद्देश्य से लोचनकार लिखते हैं कि वस्तुतः यहाँ इन नामों से ध्विन का स्वरूप प्रोज्जीवित हो गया है।

द्वितीयस्यापि-

शिखरिणि क नु नाम कियचिरं किमभिधानमसावकरोत्तपः।
तरुणि येन तवाधरपाटलं दश्चति निम्नफलं शुकशावकः॥१३॥
इसरे का भी—

है तहिण, यह सुग्गे का बच्चा किस पर्वंत पर, कितने दिनों तक कौन सा तप किया है जो तेरे अधर के समान छाछ वर्ण वांछे बिम्बफल को काट रहा है ॥ १३॥

लोचनम्

माजनतां लक्ष्यति । तल्लक्षणाप्रयोजनं शूरकृतविद्यसेवकानां प्राशस्त्यमशब्द्-वाच्यत्वेन गोप्यमानं सन्नायिकाकुचकलशयुगलमिव महार्घतामुपयद् ध्वन्यत इति । शब्दोऽत्र प्रधानतया व्यक्षकः, अर्थस्तु तत्सहकारितयेति चत्वारो व्यापाराः ।

शिखरिणीति। न हि निर्विन्नोत्तमसिद्धयोऽपि श्रीपर्वतादय इमां सिद्धिं विद्ध्युः। दिव्यकल्पसहस्नादिश्चात्र परिमितः कालः। न चैवंविधोत्तमफलजन-समृद्धि-सम्मार-भाजनता को लक्षणा द्वारा वोधन कराता है। उस लक्षणा का प्रयोजन शूर, कृतविद्य (विद्वान्) एवं सेवकों का जो प्राशस्त्य है, वह शब्द से वाच्य न होने के कारण गोप्यमान होकर नायिका के कुचकलशयुगल की भांति चारुत्व (महाघंता) को प्राप्त करता हुआ ब्वनित होता है। यहाँ शब्द प्रधान रूप से व्यक्षक है और अर्थ शब्द के सहकारी होने के कारण व्यक्षक है, इस प्रकार (अभिधा आदि) चारो व्यापार हो जाते हैं।

पर्वत पर—। जहाँ बिना किसी विझ के उत्तम सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं ऐसे श्रीपर्वत आदि भी इस सिद्धि को नहीं दे सकेंगे। (इस प्रकार की सिद्धि प्राप्त करने के लिए) दिव्य कल्प-सहस्र आदि तो बहुत परिमित काल है। और इस काल के

करनेवाली' किया है। 'दिव्याश्चना' टिप्पणी में मेरे गुरुजी का कहना है कि यह केवल आचार्य ने अर्थ का प्रदर्शनमात्र किया है, विग्रह नहीं। अन्यथा यहाँ उनके व्याख्यान के आधार पर 'कंमेण्यण' इस सूत्र से 'अण्' प्रत्यय तथा 'टिट्ढाण्व्' इत्यादि से डीप् होकर 'सुवर्णपुष्पी' रूप सिद्ध होगा। इसल्लिए 'सुवर्णमेव पुष्पं यस्याः' यह विग्रह संगत होगा।

अभिधा से पदार्थ-ज्ञान के पश्चात तात्पर्य-शक्ति से अन्वय-बीध होता है। फिर भी यहाँ मुख्यार्थ के बाध को स्पष्ट करने के लिए लोचनकार का ही ढंग ठीक लगता है। 'पृथ्वी' कोई ऐसी लता नहीं है जो मुन्नों के फूल खिलाती है' यह इस प्रकार मुख्यार्थ का बाध होता है तत्पश्चात साढ़श्य के बल से शूर, कृतविद्य और सेवक, ये तीनों की मुल्ससमृद्धिसम्भारभाजनता लक्षित होती है, अर्थात् जो लोग शूर, कृतविद्य एवं सेवक होते हैं उन्हें महती समृद्धि मुल्म हो जाती है यह स्वयार्थ है और स्वक्षणा के प्रयोजन के रूप में तीनों का प्राशस्त्य प्रतीत होता है।

र. 'श्रीपर्वत' यह दक्षिण देश का प्रसिद्ध पर्वत है। प्राचीन काल में, विशेषकर जब भारत में तान्त्रिक साधना का प्रचार था, यह पर्वत उसका महान् केन्द्र था। बौद्धों के वज्रयान का प्रचलन

कत्वेन पद्धाप्तिप्रभृत्यपि तपः श्रुतम्। तवेति भिन्नं पद्म्। समासेन विगलिततया प्रतीयेत, तव दशतोत्यभिप्रायेण। तेन यदाहुः—'वृत्तानुरोधात्त्वद्धरपाटल-मिति न कृतम्' इति, तदसदेवः दशतीत्यास्वादयति अविच्छिन्नप्रबन्धतया, न त्वौदिक्वत्रपरं मुङ्क्तेः अपि तु रसज्ञोऽत्रेति तत्प्राप्तिबदेव रसज्ञताप्यस्य तपः-प्रभावादेवेति। शुकशावक इति तारुण्यादुचितकाललामोऽपि तपस एवेति। अनुरागिणश्च प्रच्छन्नस्वाभिप्रायख्यापनवैद्ग्ध्यचादुविरचनात्मकविमावोदीपनं व्यङ्गचम्।

अत्र च त्रय एव व्यापारा:—अभिधा तात्पर्य ध्वननं चेति । सुख्यार्थबाधाउत्तम फल के जनक के रूप में पञ्चाप्ति प्रभृति तप को भी नहीं सुना है। 'तुम्हारा'
यह पद भिन्न' (असमस्त) है। समास से बिगलित (साधारण) रूप में प्रतीत होगा,
अतः 'तुम्हारा दशन करता है (काटता है)' इस अभिप्राय से (युष्मदर्थं को असमस्त
या भिन्न करके रखा)। अतः, जो कि कहते हैं—'छन्द के अनुरोध से 'त्वदधरपाटलम्'
ऐसा नहीं किया है, वह तो ठीक ही नहीं; दशन करता है (काटता है) अर्थात्
अविच्छिन्न रूप से आस्वादन कर रहा है, न कि पेट्र आदमी की तरह पूरा खा जाता है
अपि तु रसन्न है, जिस प्रकार उस (अधर) की प्राप्ति तपस्या के प्रभाव से हुई उसी
प्रकार उसकी रसन्नता भी तपःप्रभाव से ही है। 'शुकशावक' की ही स्थिति में उचित्
काल का लाम भी तप के कारण ही है। यहाँ अनुरागी का अपने प्रच्छन्न अभिप्राय
के ख्यापन के वैदम्ब्य से चादुरचना द्वारा विभाव (त्रुणी रूप आलम्बन विभाव) का
उदीपन व्यक्त्रध है।

यहाँ तीन व्यापार हैं - अभिघा, तात्पर्यं और व्वनन। क्योंकि मुख्यार्थवाध आदि का

इस पद्य से किसी कामुक नायक का नायिका के प्रति अभिछाप व्यक्तिय हो रहा है, मैं भी तेरे अथर को दशन करता।

यहीं से हुआ था। प्राचीन साहित्य में इस पर्वत के सम्बन्ध में यह धारणा थी कि वहाँ पर जाकर तप करने से अलैकिक सिद्धियाँ सहज ही प्राप्त हो जाती हैं।

१. प्रस्तुत पद्य में 'तव अथरपाटलं दशति' पर ही विशेष रूप से विचार किया गया है। यहाँ लोचनकार ने 'तव' के प्रयोग को विशेष अर्थ का व्यक्षक माना है। जिस नायिका से यह बात कही जा रही है उसके सम्बन्ध को 'अधर' पदार्थ के साथ बोधन बक्ता का अभीष्ट है। इसी कारण 'तव' को 'अधरपाटलम्' से यह मिन्न या समासरिहत रखा है। समास कर देने पर नायिका के सम्बन्ध का बोध नहीं होता, बल्कि साधारणरूप से उसके अधरपाटल को शुकशावक काटता है यह अर्थ प्रतीत होता। इस प्रकार अविमृष्टविषयांश दोष का यहाँ अमाव है। 'तव' इस असमस्त पद से नायिका के सम्बन्ध के प्रतीत होने से क्षोक के अर्थ में एक अद्भुत विशेषता शलकने लगती है तब मतलब यह हो जाता है कि तेरा अधर तेरे कारण और भी स्वादु हो गया है अतः उसके समान यह विम्बफल शुकशावक और भी मस्ती से काट रहा है। ऐसा नहीं कि पेटू आदमी की तरह रसास्वादन का मजा लिए बिना काट-काट कर खाये जा रहा है। इससे शुक-शावन और रसज्ञता भी व्यक्षित हो रही है। किसी ने 'त्वदधरपाटलम्' इस समस्तरूप से न कहने का कारण हुतविलिम्बत छन्द का अनुरोध बताया था, पर यह पक्ष ठीक नहीं।

यदप्युक्तं भक्तिध्वनिरिति, तत्प्रतिसमाधीयते— जो कि 'भक्तिध्वनि है' यह कहा है उसका प्रतिसमाधान करते हैं— लोचनम

यभावे मध्यमकत्त्यायां लक्षणायास्तृतीयस्या अभावात् । यदि वाऽऽकिस्मकितिशिष्टप्रश्नार्थानुपपत्तेर्मुख्यार्थबाधायां सादृश्याञ्चक्षणा भवतु मध्ये । तस्यास्तु प्रयोजनं ध्वन्यमानमेव, तत्तुर्यकत्त्यानिवेशि, केवलं पूर्वत्र लक्षणेव प्रधानं ध्वननव्यापारे सहकारि । इह त्वभिधातात्पर्यशक्ती । वाक्यार्थसौन्द्र्यादेव व्यङ्गचप्रतिपत्तेः केवलं लेशेन लक्षणाव्यापारोपयोगोऽप्यस्तीत्युक्तम् । असंल्द्य-क्रमव्यङ्गचे तु लक्षणासमुन्मेषमात्रमि नास्ति, असंल्द्यत्वादेव क्रमस्येति वद्यामः । तेन द्वितीयेऽपि भेदे चत्वार एव व्यापाराः ॥ १३॥

अत एवोभयोदाहरणपृष्ठ एव भाक्तमाहुरित्यनुभाष्य दूषयति । अयं भावः— भक्तिश्च ष्वनिश्चेति किं पर्यायवत्ताद्र्प्यम् ? अथ पृथिवीत्विभव पृथिव्या अन्यतो व्यावर्तकधर्मरूपतया लक्षणम् ? उत काक इव देवदत्तगृहस्य सम्भवमात्रादुप-लक्षणम् ? तत्र प्रथमं पक्षं निराकरोति—

अभाव होने से बीच की कच्या में तीसरी लक्षणा वृत्ति यहाँ नहीं है। अथवा आकिस्मक (असम्मावित) एवं विशिष्ट (शुक द्वारा तप करने के स्थान को लेकर) प्रश्नार्थं की उपपत्ति न बनने के कारण मुख्यार्थं बाघ के हो जाने पर सादृश्य से बीच में लक्षणा हो सकती है। उस (लक्षणा का) प्रयोजन ध्वन्यमान ही है, वह (ध्वन्यमान प्रयोजन) चौथी कच्या में रहने वाला है। (अगर दोनों उदाहरणों में भेद करें तो) पहले उदाहरण में केवल लक्षणा ही प्रधान होकर ध्वनन व्यापार में सहकारिणी है, और यहाँ अभिधा या तात्पर्य ये दोनों शक्तियाँ (ध्वनन व्यापार में) सहकारिणी हैं। क्योंकि वाक्यार्थ के सौन्दर्य से ही व्याय की जब प्रतीति हो जाती है, ऐसी स्थिति में केवल लेशक्प से यहाँ लक्षणा व्यापार का उपयोग भी है ऐसा कहा गया। 'असंलच्य-कमव्यांग्य' (जहाँ व्यांग्य के बोध का कम संलक्षित नहीं होता) में लक्षणा का समुन्मेष मात्र भी, कम के संलक्ष्य न होने के कारण ही, नहीं है, यह कहेंगे। इस प्रकार दूसरे भी भेद में चार ही व्यापार हैं।। १३।।

इसीलिए दोनों के उदाहरणों के बाद ही 'माक्तमाहुः' इसका अनुवाद करके दोष देते हैं। भाव यह है—'मिक्ति' और घ्विनि' इस प्रकार क्या (इन्द्र, शक्त आदि) पर्याय की मॉित दोनों का ऐक्य या अमेद है ? अथवा पृथिवी के 'पृथिवीत्व' की मॉित अतिरिक्त के व्यावर्तक धर्मरूप होने के कारण, लक्षण है ? 'या कौए की माँति देवदत्त के गृह का सम्भवमात्र से, उपलक्षण है ? उनमे प्रथम पक्ष का निराकरण करते हैं—

१. 'भक्ति' और 'ध्विन' को तीन प्रकार से अभिन्न कह सकते हैं—पर्याय, लक्षण और उपलक्षण। अर्थात माक्तवादी क्या ध्विन और मक्ति को पर्याय मानते हैं, जैसे घट और कलश शब्द एक ही अर्थ के बोधक हैं, अथवा 'भक्ति' ध्विन का लक्षण है, जैसे पृथिवीत्व पृथिवी का

भक्त्या विभित्तं नैकत्वं रूपभेदादयं ध्वनिः अयमुक्तप्रकारो ध्वनिर्भक्तया नैकत्वं विभित्तं भिन्नरूपत्वात्। वाच्यव्यतिरिक्तस्यार्थस्य वाच्यवाचकाभ्यां तात्पर्येण प्रकाशनं यत्र व्यङ्गचप्राधान्ये स ध्वनिः। उपचारमात्रं तु भक्तिः।

'यह ध्वनि रूप भेद के कारण 'भक्ति' के साथ एकस्व (अभेद) को धारण नहीं करता।'

यह उक्त प्रकार का ध्विन भिन्न रूप होने के कारण भक्ति से एकस्व (अर्थात् अभेद) प्राप्त नहीं करता। वाच्य से व्यतिरिक्त अर्थ का वाच्य और वाचक द्वारा तात्पर्य रूप से प्रकाशन जहाँ व्यक्षय के प्राधान्य में हो वह 'ध्विन' है। 'भक्ति' तो उपचार मात्र है।

लोचनम्

भक्त्या विभर्ती ति । उक्तप्रकार इति पद्मस्वर्थेषु योज्यम् —शब्देऽर्थे व्यापारे व्यङ्गये समुदाये च । रूपभेदं दर्शयितुं ध्वनेस्तावद्रूपमाह् —वाच्येति । तात्पर्येण् विश्रान्तिधामतया प्रयोजनत्वेनेति यावत् । प्रकाशनं द्योतनिमत्यर्थः । उपचारमा- त्रमिति । उपचारो गुणवृत्तिर्वक्षणा उपचरणमतिशयितो व्यवहार इत्यर्थः ।

यह ध्विति—। 'उक्त प्रकार' को पाँची अर्थों में लगाना चाहिए—शब्द में, अर्थ में, व्यापार में; व्यंग्य में और समुदाय (रूप काव्य) में। रूपभेद को दिखाने के लिए ध्विनि का स्वरूप कहते हैं—वाच्य से—। 'तात्पर्यरूप से' अर्थात् विश्राम लेने का स्थान होने के कारण प्रयोजनरूप होने से। 'प्रकाशन' अर्थात् द्योतन। उपचारमात्र—। उपचार

ज्यावर्तक धर्म रूप छक्षण है। अथवा 'उपछक्षण' अर्थात सूचक मात्र है, जैसे 'काकवद देवदत्तस्य गृहम्' अर्थात देवदत्त का घर कीवे वाला है, यह उसी समय बात कही गई है जब देवदत्त के घर पर कीआ वैठा है, इस प्रकार 'काकवत्त्व' देवदत्त के घर का सूचक मात्र होने से 'उपछक्षण' है। इन तीनों विकल्पों में 'भिक्त' ध्विन का क्या है ? यह प्रश्न भाक्तवादी से स्वयं उद्भावित करते हैं। समायान में, आचार्य ने तीनों विकल्पों का निराकरण कर दिया। प्रथम विकल्प 'पर्याय' के सम्बन्ध में आचार्य कहते हैं कि भिक्त और ध्विन किसी प्रकार एक दूसरे के पर्याय नहीं हो सकते हैं, क्योंकि दोनों में रूपमेद है अर्थात ध्विन का स्वरूप भिन्न है और भिक्त का स्वरूप भिन्न है और भिक्त का स्वरूप भिन्न। किर प्रस्तुत कारिका के उत्तरार्थ में आचार्य ने भिक्त को ध्विन का 'छक्षण' भी अमान्य ठहराया है, क्योंकि 'छक्षण' वही होता है जिसमें अतिब्याप्ति और अव्याप्ति आदि दोष उत्पन्न होंगे। इसे आगे स्वयं स्पष्ट करेंगे। फिर तीसरे विकल्प 'उपछक्षण' को आचार्य ने १९ वी कारिका के पूर्वार्थ में स्वीकार करते हुए यह स्पष्ट कह दिया है कि इससे यह नहीं कह सकते हैं कि गुणवृत्ति या भिक्त से ही ध्विन छिता होता है। यह विषय आगे के पूर्वो में स्पष्ट होगा।

१. 'उपचार' का अर्थ लोचनकार ने 'अतिशयित व्यवहार' करके यह व्यक्त किया है कि जिस शब्द का जिस अर्थ में संकेततः व्यवहार प्रसिद्ध है उसे छोड़ कर उससे सम्बद्ध अर्थ में

मा चैतत्स्याद्भक्तिर्रुक्षणं ध्वनेरित्याह—

अतिव्यासंरथाव्यासेर्न चासौ लक्ष्यते तया ॥ १४ ॥ नैन भक्तया ध्वनिर्लक्ष्यते । कथम् १ अतिव्यासेरव्यासेश्र । तत्रातिव्याप्तिध्वनिव्यतिरिक्तेऽपि विषये भक्तेः सम्भवात् । यत्र हि व्यक्तयकृतं महत्सौष्ठवं नास्ति तत्राप्युपचरितशब्दवृत्त्या प्रसिद्ध्यनुरोध-

प्रवर्तितव्यवहाराः क्वयो दृश्यन्ते । यथा—
'भक्ति' ध्वनि का छत्तण है, यह भी नहीं हो सकता, यह कहते हैं—
'भतिष्याप्ति और अन्याप्ति के कारण यह (ध्वनि) उस (भक्ति) से छित्तत्वि हो सकता।'॥ १४॥

मिक से ध्वनि नहीं ही छिन्नत होता है। कैसे ? अतिन्यासि और अव्यासि के कारण ! वहाँ, ध्वनि से भिन्न स्थल में भी भिन्न का सम्भव है, यह अतिन्यासि है। जहाँ व्यंग्यकृत अधिक (महत्) सौष्ठव नहीं है वहाँ भी कविजन प्रसिद्धिवश उपचरित शब्द-व्यापार (गौणी वृत्ति) से व्यवहार करते देखे जाते हैं। जैसे—
लोचनम

भात्रशब्देनेदमाह—यत्र लक्षणाव्यापारात्ततीयाद्न्यश्चतुर्थः प्रयोजनयोतनात्मा व्यापारो वस्तुस्थित्या सम्भवन्नप्यनुपयुज्यमानत्वेनानाद्रियमाणत्वादसत्कल्पः। 'यमर्थमिषकृत्य' इति हि प्रयोजनलक्षणम्। तत्रापि लक्ष्णास्तीति कथं ध्वननं लक्षणा चेत्येकं तत्त्वं स्यात्। द्वितीयं पक्षं दूषयति—श्वतिव्याप्तरिति । असाविति ध्वनिः। तयेति भक्त्या। ननु ध्वननमवश्यम्भावीति कथं तद्व्यतिरिक्तांऽस्ति विषय इत्याह—महत्तौष्ठविमिति । अत एव प्रयोजनस्यानाद्रणीयत्वाद् व्यञ्जकृत्वेन न कृत्यं किञ्चिदिति भावः। महद्महर्योन गुणमात्रं तद्भवति। यथोक्तम्—अर्थात् गुणवृत्ति, लक्षणा। 'उपचरण' अर्थात् अतिशयित व्यवहार। 'मात्र' शब्द से यह कह सकते हैं—जहां तीसरे लक्षणा व्यापार से अतिरिक्त प्रयोजन-द्योतनहम् चौथा व्यापार वस्तुस्थिति के साथ सम्भव होता हुआ भी उपयुज्यमान न होने के कारण वादर का पात्र न होकर नहीं के बराबर है। 'प्रयोजन' का लक्षण यह है—'जिस वस्तु को लेकर कोई प्रवृत्त होता है वह प्रयोजन है' (यमर्थमिषकृत्य प्रवर्तते तत् प्रयोजनम्)। वहां भी लक्षणा है। इस प्रकार कैसे ध्वनन और लक्षणा एक तत्त्व हो सकते हैं?

दूसरे पक्ष में दोष देते हैं—अतिब्याप्ति होने के कारण—। 'यह' अर्थात् व्विन । उससे अर्थात् मिक्त से । शङ्का है कि (लक्षणा में) व्वनन अवश्यम्भावी है, ऐसी स्थिति में कैसे उस (व्विन) से भिन्न-विषय है ? इस पर कहते हैं—अधिक सौष्ठव (या

शन्द का व्यवहार ही अतिशयित व्यवहार है। यद्यपि इस उपचार रूप गुणवृत्ति या लक्षणा में 'प्रयोजन' भी होता है, किन्तु वहां उपयोगी न होने के कारण न होने के समान (असत्कल्प) ही माना जाता है। इसलिए वृत्तिग्रन्थ में 'उपचार' के साथ 'मान' का प्रयोग है।

परिम्लानं पीनस्तनजघनसङ्गादुभयत-स्तनोर्भध्यस्यान्तः परिमिलनमप्राप्य हरितम् । इदं व्यस्तन्यासं श्लथञ्जलताञ्चेपवलनैः कुशाङ्गचाः सन्तापं वदति बिसिनीपत्रश्चयनम् ॥

दोनों ओर मोटे स्तन और जघन के सम्पर्क से अधिक मुर्झाया हुआ, मध्यभाग (कटि) के बीच सम्पर्क प्राप्त न करके हरा ही बना हुआ एवं शिथिछ भुजलता के फेंकने और मोड़ने की क्रियाओं से इधर-उधर अस्तन्यस्त, कमिलनी के पत्तों का यह शयन कृश अङ्गोवाली का विरहसन्ताप कह रहा है।

लोचनम्

'समाधिरन्यधर्मस्य काप्यारोपो विवक्षित' इति दर्शयति । ननु प्रयोजनाभावे कथं तथा व्यवहार इत्याह—प्रसिद्धचनुरोधित । परम्परया तथैव प्रयोगात् ।

वयं तु ब्रूमः—प्रसिद्धिया प्रयोजनस्यानिगृहतेत्यर्थः । उत्तानेनापि रूपेण तत्प्रयोजनं चकासित्रगृहतां निधानवद्पेक्षत इति भावः । वदतीत्युपचारे हि स्फुटीकरणप्रतिपत्तिः प्रयोजनम् । यद्यगृहं स्वशब्देनोच्येत, किमचारुत्वं स्यात् ? गृहतया वर्णने वा किं चारुत्वमधिकं जातम् ? अनेनेवारायेन वच्यति—सौन्दर्यं)—। अतएव भाव यह कि प्रयोजन के आदरणीय न होने के कारण व्यक्षक होने से (व्यक्षना व्यापार से) कुछ नहीं होता जाता । 'अधिक' (महत्) महण से (यह ज्ञात होता है कि वह (व्यक्षकत्व या व्यक्षना व्यापार), कोई गुणमात्र (अप्रधान) होता है । जैसा कि कहा है—'दूसरे के (अप्रस्तुत के) घमं का कहीं पर जब आरोप विवक्षित हो तब 'समाधि' (नाम का गुण) कहते हैं' इसे दिखाते हैं । शक्का है कि प्रयोजन के अभाव में कैसे उस प्रकार व्यवहार होगा ? इस प्रकार कहते हैं—प्रसिद्धिवश—। क्योंकि परम्परा से उसी प्रकार प्रयोग है ।

हम तो कहते हैं—प्रसिद्धि वह है जो प्रयोजन की अनिगूढता (प्रकटरूपता) है। भाव यह कि उत्तानरूप से प्रकाशित होता हुआ प्रयोजन खजाने की मौति निगूढता की अपेक्षा करता है। 'वदित' ('कह रहा है') इस 'उपचार' में स्फुटीकरण की प्रतीति प्रयोजन है। यदि अनिगूढ या प्रकटरूप से शब्दतः उक्त कर दिया जाए तो क्या

१. 'वदित' अर्थात् 'प्रकटयित'। 'वदित' का प्रयोजन है प्रकटन का हान। यदि किन ने 'प्रकटयित' ही लिख दिया होता तन भो कोई अचारत नहीं होता और 'वदित' इस उपचित ज्यवहार या गृदरूप से वर्णन से कोई अधिक चारुत्व भी सिद्ध नहीं होता। यह कभी भी ध्वनि का विषय नहीं हो सकता, किन्तु मिक का विषय तथापि माना जा सकता है। इस प्रकार अतिन्याप्ति के कारण मिक को ध्वनि का लक्षण नहीं बहा जा सकता।

तथा—

चुम्बिज्जइ असहुत्तं अवरुन्धिज्जइ सहस्सहुत्तम्म । विरमिअ पुणो रमिज्जइ पिओ जणो णत्थि पुनरुत्तम् ॥ (शतकृत्वोऽवरुष्यते सहस्रकृत्वश्चम्ब्यते । विरम्य पुना रम्यते प्रियो जनो नास्ति पुनरुक्तम् ॥ इति च्छाया)

तथा--

कुविआओ पसन्नाओ ओरण्ण ग्रुहीओ विहसमाणाओ। जह गहिओ तह हिअअं हरन्ति उच्छिन्तमहिलाओ।।

उसी प्रकार-

प्रिय को सौ बार चुम्बन करते हैं; हजार बार अवरोधन (आलिङ्गन) करते हैं, विराम करके रमण करते हैं, फिर भी पुनरुफ़ नहीं होता !

उसी प्रकार—

लिसियानी, खुश, रुआंसी या हँसती, चाहे जिस रूप में ग्रहण करो मनचली औरतें दिल हर होती हैं।

लोचनम्

यत उक्त्यन्तरेणाशक्यं यदिति । अवरुन्धिज्ञइ आलिङ्गचते । पुनरुक्तमित्यनुपा-देयता लक्त्यते, उक्तार्थस्यासम्भवात् ।

कुपिताः प्रसन्ना अवरुदितवद्ना विहसन्त्यः। यथा गृहीतास्तया हृद्यं हरन्ति स्वैरिण्यो महिलाः॥

अचारत हो जाता है ? अथवा गूढ या अप्रकटरूप से वर्णन करने पर क्या चारत अधिक हो जाता है ? इसी आशय से कहेंगे—'क्योंकि 'दूसरी उक्ति से जो अशक्य है—' इत्यादि । अवरोधन करता है अर्थात् आलिङ्गन करता है । 'पुनरुक्त'' इससे अनुपादेयता लक्षित होती है, क्योंकि वचनरूप उक्त अर्थ का (प्रियजन के अर्थ में) सम्भव नहीं।

१. पुनरक्त और पुनर्वचन, किसी बात को दुबारा बहना। प्रिय तो कोई बचन नहीं है जो पुनरक्त होता है, इस प्रकार यहाँ मुख्यार्थ का बाध होकर छक्षणा होती है और उससे छक्षित होती है अनुपादेयता, अर्थात प्रिय की तब भी किसी प्रकार अनुपादेयता नहीं होती, बल्कि उसकी उपादेयता सब प्रकार से बनी रहती है। यहाँ पर अधिकर्फ़ळशाळित्व रूप प्रयोजन प्रतीत होता है किन्तु चमत्कारी न होने के कारण आदरणीय नहीं है। इसछिए पूर्ववत् यह भी ध्वनि का विषय नहीं है।

तथा-

अज्ञाऍ पहारो णवलदाए दिण्णो पिएण थणवट्टे । मिउओ वि दूसहो व्विश्व जाओ हिअए सवत्तीणम् ॥ (भार्यायाः प्रहारो नवलतया दत्तः प्रियेण स्तनपृष्ठे । मृदुकोऽपि दुःसह इव जातो हृदये सपत्नीनाम् ॥ इति च्छाया)

उसी प्रकार-

'प्रिय ने नवलता से जब भार्या के स्तन पर प्रहार दिया तब वह (प्रहार) सृदु होकर भी सीतों के हृदय में दुःसह हो गया।'

लोचनम्

अत्र प्रह्णोनोपादेयता लच्यते । हरणेन तत्परतन्त्रतापत्तिः ।

तथा-श्रज्जेति । कनिष्ठभायीयाः स्तनपृष्ठे नवलतया कान्तेनोचितक्रीडा-योगेन मृदुकोऽपि प्रहारो दत्तः सपन्नीनां सौभाग्यसूचकं तत्क्रीडासंविभागम-प्राप्तानां हृदये दुःसहो जातः, मृदुकत्वादेव । अन्यस्य दत्तो मृदुः प्रहारोऽन्यस्य च सम्पद्यते । दुस्सहश्च मृदुरपीति चित्रम् । दानेनात्र फलवत्त्वं लच्यते ।

यहाँ 'ग्रहण' ³ सें उपादेयता लक्षित होती है और 'हरण' से उसके परतन्त्र हो जाने की स्थिति (लक्षित होती है)।

'उसी प्रकार' भार्या—। छोटी भार्या के स्तन पर नवलता से प्रिय द्वारा उचित कीड़ा के सम्बन्ध से दिया हुआ मृदु भी प्रहार सौभाग्य के सूचक उस कीड़ा-संविभाग को नहीं पाई हुई सौतों के हृदय में दु:सह हो गया मृदु होने के कारण ही। दूसरे को दिया हुआ मृदु प्रहार दूसरे को प्राप्त होता है। मृदु होकर भी दु:सह है यह आक्चर्य है। यहाँ (प्रहार के) 'दान' या दिए जाने से फल्लबस्व (सफल होना) लक्षित होता है।

१. 'गृहोताः' में ग्रहण से स्वैरिणी महिलाओं (मनचली औरतों) की उपादेयता लक्षित होती हैं और 'हरन्ति' में हरण से परतन्त्रता लक्षित होती है, हर लेती है अर्थात अपने दश में कर लेती हैं। यहां भी व्यक्ष्य अर्थ के प्राधान्य के अभाव में ध्विन नहीं है।

२. 'दत्तः में 'दान' तो किसी पदार्थ का होता है, यह 'दान' का मुख्य अर्थ प्रस्तुत में 'प्रहार के दान' में बाधित होने के कारण फलवत्त्व लक्षित होता है। पूर्ववत् यह भी ध्वनि का कियम नहीं।

तथा—

परार्थे यः पीडामनुभवति भङ्गेऽपि मधुरो यदीयः सर्वेषामिह खद्ध विकारोऽप्यभिमतः । न सम्प्राप्तो वृद्धि यदि स भृशमक्षेत्रपतितः किमिक्षोदों बोडसौ न पुनरगुणाया मरुश्चवः ॥ इत्यत्रेक्षुपक्षेऽनुभवतिश्रब्दः। न चैवंविधः कदाचिद्पि ध्वनेविषयः।

उसी प्रकार-

जो दूसरों के लिए पीड़ा (कष्ट या पीड़न अर्थात् रस निकालने के लिए यन्त्र में पीड़ित होने) का अनुभव करता है, टूट जाने पर भी मधुर (मीठा) बना रहता है, सबों को जिसका विकार (रस अथवा दोष) भी अच्छा लगता है वह ईख यदि ऊसर जमीन में पड़कर नहीं बढ़ा तो क्या यह ईख का दोष (अपराध) है, गुणहीन मरुभूमि का नहीं ?

यहाँ ईख के पच में 'अनुभव करता है' यह शब्द (उपचरित है), इस प्रकार का शब्द कभी ध्वनि का विषय नहीं होता॥ १४॥

लोचनम्

तथा-परार्थेति । यद्यपि प्रस्तुतमहापुरुषापेक्षयानुभवतिशब्दो मुख्य एव, तथाप्यप्रस्तुते इक्षी प्रशस्यमाने पीडाया अनुभवनेनासम्भवता पीडावत्त्वं लच्यते; तच पीड यमानत्वे पर्यवस्यति ।

नन्वस्त्यत्र प्रयोजनं तत्किमिति न ध्वन्यत इत्याशङ्कश्याह—न चैवं-विघ इति ॥ १४ ॥

उसी प्रकार-दूसरों के लिए-। प्रस्तुत महापुरुष की अपेक्षा यद्यपि 'अनुभव करता है' शब्द मुख्य ही है, तथापि अप्रस्तुत इक्षु की प्रशंसा की जाने पर नहीं सम्भव होते हुए पीड़ा के अनुभव से पीड़ावान् होना लक्षित होता है, और वह पीड्यमान होने में पर्यवसित होता है। शिक्का करते हैं कि यदि प्रयोजन यहाँ है तो क्यों नहीं व्वनित होता है ? यह आशङ्का करके कहते हैं—इस प्रकार का—। ॥ १४ ॥

इन पाँचो उदाहरणों का यही अभिप्राय है कि अतिन्यास होने के कारण 'मक्ति' ध्वनि का

उक्षण नहीं हो सकती।

१. यद्यपि प्रकृत 'महापुरुष' के पक्ष में 'अनुभवति' शब्द उपपन्न है, तथापि अप्रकृत 'इसु' के पक्ष में असम्भव होता हुआ (क्योंकि जड़ पदार्थ इक्षु अनुभव करने की सामर्थ्य नहीं रखता) पीडावत्त्व को लक्षित करता है। यहाँ भी न्यङ्गय के अप्राधान्य में ध्वनि का अभाव है।

यतः--

उक्त्यन्तरेणादाक्यं यत्तचारुत्वं प्रकादायन् । दान्दो व्यञ्जकतां बिभ्रद् ध्वन्युक्तेर्विषयीभवेत् ॥ १५॥ अत्र चोदाहृते विषये नोक्तयन्तराज्ञक्यचारुत्वव्यक्तिहेतुः ज्ञब्दः। किश्च-

क्योंकि-

जो चारुख दूसरी उक्ति (उक्त्यन्तर) से प्रकाशित नहीं किया जा सकता उसे प्रकाशित करने वाला एवं व्यक्षकता (व्यक्षनाच्यापार) को धारण करने वाला शब्द 'ध्वनि' इस उक्ति का विषय होता है ॥ १५ ॥

और यहाँ उदाहत विषय में शब्द दूसरी शक्ति से अशक्य चारुत्व की व्यक्षना

का हेतु नहीं है। और भी,

लोचनम्

यत उक्त्यन्तरेगोति । उक्त्यन्तरेण ध्वन्यतिरिक्तेन स्फुटेन शब्दार्थव्यापार-विशेषेग्रोत्यर्थः । शब्द इति पञ्चस्वर्थेषु योज्यम् । ध्वन्युक्तेविषयीभवैदिति—ध्वनि-शब्देनोच्यत इत्यर्थः । उदाहृत इति । वदतीत्यादौ ॥ १४ ॥

एवं यत्र प्रयोजनं सद्पि नादरास्पदं तत्र को ध्वननव्यापार इत्युक्त्वा यत्र मूलत एव प्रयोजनं नास्ति, भवति चोपचारस्तत्रापि को ध्वननव्यापार इत्याह्—किञ्चेति । लावण्याचा ये शब्दाः स्वविषयाञ्जवणरसयुक्तत्वादेः स्वार्था-दन्यत्र हृद्यत्वादौ रूढाः, रूढत्वादेव त्रितयसन्निध्यपेक्षणव्यवधानशून्याः । यदाह—

'निक्ढा लक्षणाः काश्चित्सामध्यीदभिधानवत्।'

इति । ते तस्मिन् स्वविषयादन्यत्र प्रयुक्ता अपि न ध्वतेः पदं भवन्तिः न क्योंकि—दूसरी उक्ति से—। दूसरी उक्ति से अर्थात् ध्विन से अतिरिक्त स्फुट शब्द और अर्थ के व्यापार-विशेष से । 'शब्द' को पाँचो अर्थों में लगाना चाहिए 'ध्विन' इस उक्ति का विषय होता है—। अर्थात् 'ध्विन' शब्द से कहा जाता है । उदाहत—। 'वदित' इत्यादि में।

इस प्रकार जहाँ प्रयोजन रहता हुआ भी आदरास्पद नहीं है वहाँ घ्वनन-व्यापार क्या ? यहाँ कहकर जहाँ मूलतः ही प्रयोजन नहीं है किन्तु उपचार है, वहाँ भी घ्वननव्यापार क्या ? यह कहते हैं—और भी—। 'लावण्य' आदि जो शब्द 'लवणरस से युक्तत्व' आदि अपने विषयरूप स्वार्थ से अन्यत्र हृद्यत्व अर्थ आदि में रूढ़ हैं, रूढ़ होने के कारण ही त्रितय (अर्थात् मुख्यार्थवाध, मुख्यार्थयोग और प्रयोजन) के सिष्ठधान की अपेक्षारूप व्यवधान से रहित हैं। क्योंकि कहा है—

'कुछ निरूद रुक्षणाएँ प्रयोग की सामर्थ्य से अभिधान के सहशा ही होती हैं।' वे ('रुप्रकथ' आदि प्रयुक्त शब्द) अपने विषय से अन्यत्र प्रयुक्त होकर सी 'ब्वनि' के

रूढा ये विषयेऽन्यत्र शब्दाः स्वविषयादिष । लावण्याचाः प्रयुक्तास्ते न भवन्ति पदं ध्वनेः ॥ १६॥ तेषु चोपचरितशब्दवृत्तिरस्तीति । तथाविधे च विपये क्वचि-त्सम्भवन्नपि ध्वनिव्यवहारः प्रकारान्तंरेण प्रवर्तते । न तथाविध-शब्दमुखेन ।

अपने विषय से भी अन्यत्र विषय में शब्द दूसरी उक्ति से अशक्य चारुख की व्यक्षना का हेतु नहीं है। और भी, अपने विषय से भी अन्यत्र विषय में जो शब्द रूढ़ हो जाते हैं, जैसे कि 'छावण्य' आदि प्रयुक्त शब्द, वे ध्वनि के विषय नहीं होते॥ १६॥

उनमें उपचरित शब्दवृत्ति है। उस प्रकार के विषय में कहीं पर सम्भव होता हुआ भी ध्वनि का व्यवहार प्रकारान्तर से होता है, उस प्रकार के शब्द के द्वारा नहीं।

लोचनम्

तत्र व्वनिव्यवहारः । उपचरिता शब्दस्य वृत्तिगौँणीः; लाक्षणिकी चेत्यर्थः । आदिप्रह्णेनानुलोम्यं प्रातिकूल्यं सत्रह्मचारीत्येवमादयः शब्दा लाक्षणिका गृह्यन्ते । लोम्नामनुगतमनुलोमं मर्दन्म् । कूलस्य प्रतिपक्षतया स्थितं स्रोतः प्रतिकूलम् । तुल्यगुरुः सत्रह्मचारी इति मुख्यो विषयः । अन्यः पुनरूपचरित एवं। न चात्र प्रयोजनं किश्चिदुद्दिश्य लक्षणा प्रवृत्तेति न तद्विषयो ध्वननव्यवहारः ।

नतु 'देविडिति लुणाहि पलुत्रिमगिमिञ्चालवणुञ्चलं गुमिरिफेक्षपरण्य' (?) इत्यादौ लावण्यादिशब्दसित्रधानेऽस्ति प्रतीयमानाभिव्यक्तिः; सत्यम्, सा तु न लावण्यशब्दात् । अपि तु समप्रवाक्यार्थप्रतीत्यनन्तरं ध्वननव्यापारादेव । अत्र हि प्रियतमामुखस्यैव समस्ताशाप्रकाशकत्वं ध्वन्यत इत्यलं बहुना । विषय नहीं होते हैं, 'ध्विन' व्यवहार उनमें नहीं होता । उपचारिता शब्द-वृत्ति गौणी है अर्थात् लाक्षणिकी । 'आदि' ग्रहण से 'आनुलोम्य, प्रातिकृत्य, सब्रह्मचारी' इत्यादि प्रकार के लाक्षणिक शब्द गृहीत होते हैं । लोकों का अनुगत अनुलोम है अर्थात् मर्दन । कुल के प्रतिपक्ष होकर स्थित स्रोत प्रतिकृत्य होता है । तुल्यगुरु सब्रह्मचारी । इस प्रकार मुख्य विषय है । दूसरा फिर तो उपचरित ही है । यहां कोई प्रयोजन को उद्देश्य करके लक्षणा प्रवृत्त नहीं है, अतः तिद्वषयक ध्वननव्यापार नहीं है ।

शक्का करते हैं कि 'देवडिति' (?) इत्यादि में 'लावण्य' आदि शब्द के सिन्नधान में प्रतीयमान की अभिव्यक्ति है ? ठीक है, परन्तु वह (अभिव्यक्ति) 'लावण्य' शब्द से नहीं है, अपितु समग्र वाक्यार्थ की प्रतीति के अनन्तर ध्वननव्यापार से ही है। यहाँ प्रियतमा के मूख का ही समस्त आशा का प्रकाशकृत्व ध्वनित होता है, इस प्रकार

अपि च-

मुख्यां वृत्तिं परित्यज्य गुणवृत्त्याऽर्थदर्शनम्। यदुद्दिइय फलं तत्र शब्दो नैव स्वलद्गतिः॥१७॥

और भी,

जिस फल को उद्देश्य करके मुख्य वृत्ति को छोड़ कर गुणवृत्ति से अर्थ का ज्ञान कराया जाता है वहाँ (उस फल के बोधन में) शब्द स्खलद्गति अर्थात् वाधि-तार्थ नहीं है।

लोचनम्

तदाह—प्रकारान्तरेगोति । व्यञ्जकत्वेनैव । न तूपचरितलावण्यादिशब्दप्रयोगाः वित्यर्थः ॥ १६ ॥

एवं यत्र यत्र भक्तिस्तत्र तत्र ध्वनिरिति तावन्नास्ति । तेन यदि ध्वनेर्भक्तिर्लक्षणं तदा भक्तिसिन्नधौ सर्वत्र ध्वनिव्यवहारः स्यादित्यितव्याप्तिः । अभ्युपगन्यापि न्नूमः—भवतु यत्र यत्र भक्तिस्तत्र तत्र ध्वनिः । तथापि यद्विषयो
लक्षणाव्यापारो न तद्विषयो ध्वननव्यापारः । न च भिन्नविषययोधमधर्मिभावः,
धर्म एव च लक्षणिमत्युच्यते । तत्र लक्षणा तावदमुख्यार्थविषयो व्यापारः ।
ध्वननं च प्रयोजनविषयम् । न च तद्विषयोऽपि द्वितीयो लक्षणाव्यापारो युक्तः,
लक्षणासामग्य्यभावादित्यभिप्रायेणाह—अपि चेत्यादि । मुख्यां वृत्तिमिभधाव्यापारं परित्यच्य परिसमाप्य गुणवृत्त्या लक्षणारूपयार्थस्यामुख्यस्य दर्शनं
प्रत्यायना, सा यत्फलं कर्मभूतं प्रयोजनरूपमुद्दिश्य क्रियते, तत्र प्रयोजने
अधिक कहना व्यर्थं है । अतः कहते हैं—प्रकारान्तर से—। व्यजनाव्यापार से ही ।
अर्थात न कि उपचरित लावण्य आदि शब्द के प्रयोग से (ध्वनित होता है) ।

इस प्रकार जहाँ-जहाँ भक्ति है वहाँ-वहाँ घ्विन है, ऐसा नहीं । इसिल घविन का यदि भिक्ति' लक्षण है तब तो 'भिक्त' के समीप सर्वत्र 'घ्विन' का व्यवहार होना चाहिए (पर नहीं होता) अत; अतिव्याप्ति (अलक्ष्य में लक्षण का संक्रमण) है। अम्युगम करके (मान करके) भी कहते हैं—जहाँ-जहाँ 'भिक्ति' है वहाँ-वहाँ 'घ्विन' हो, तथापि लक्षणाव्यापार जिस विषय का है उस विषय का घ्वननव्यापार नहीं है। भिन्न विषय वालों का धर्मधर्मिमाव नहीं होता। और धर्म ही 'लक्षण' भी कहा जाता है। लक्षणा अमुख्यार्थविषयक व्यापार है और घ्वनन प्रयोजनविषयक व्यापार। लक्षणाव्यापार को प्रयोजनविषयक मानना ठीक नहीं' क्योंकि लक्षणा की (मुख्यार्थवाघ आदि) सामग्री का अभाव है, इस अभिप्राय से कहते हैं—और भी—। मुख्य वृत्ति अर्थात् अभिघा व्यापार को छोड़कर अर्थात् परिसमाप्त कर, लक्षणारूप गुणवृत्ति से अमुख्य अर्थ की प्रत्यायना (बोधन) है, वह जिस फल या कर्मभूत प्रयोजन को उद्देश्य करके की जाती

तत्र हि चारुत्वातिशयविशिष्टार्थप्रकाशनलक्षणे प्रयोजने कर्तव्ये यदि शब्दस्यामुख्यता तदा तस्य प्रयोगे दुष्टतैव स्यात् । न चैवम्; तस्मात्-

क्योंकि वहाँ चारुत्वातिशय से विशिष्ट अर्थ के प्रकाशन रूप प्रयोजन के कर्त्तव्य होने पर यदि शब्द की अमुख्यता ही रह गई तो उसके प्रयोग में दुष्टता ही होगी। परन्तु ऐसा नहीं है इस कारण—

लोचनम्

तावद् द्वितीयो व्यापारः। न चासौ लक्षणैवः यतः स्खलन्ती बाधकव्यापारेण विधुरीक्रियमाणा गतिरवबोधनशक्तिर्यस्य शब्दस्य तदीयो व्यापारो लक्ष्णा। न च प्रयोजनमवगमयतः शब्दस्य बाधकयोगः। तथाभावे तत्रापि निमित्ता-न्तरस्य प्रयोजनान्तरस्य चान्वेषयोनानवस्थानात्। तेनायं लक्षणलक्षणाया न विषय इति भावः। दर्शनमिति ण्यन्तो निर्देशः। कर्तव्य इति । अवगमिय-तव्य इत्यर्थः । श्रमुख्यतेति । बाधकेन विधुरीकृततेत्यर्थः । तस्येति शब्दस्य । दुष्टतैवैति । प्रयोजनावगमस्य सुखसम्पत्तये हि स शब्दः प्रयुज्यते तस्मित्र-मुख्यार्थे। यदि च 'सिंहो बदुः' इति शौर्यातिशयेऽप्यवगमयितव्ये स्खलद्गतित्वं शब्दस्य तर्हि तत्प्रतीति नैव कुर्यादिति किमर्थं तस्य प्रयोगः। उपचारेण करि-ष्यतीति चेत्तत्रापि प्रयोजनान्तरमन्वेष्यं तत्राप्युपचार इत्यनवस्था। अथ न तत्र स्खलद्रतित्वं, तर्हि प्रयोजनेऽवगमयितव्ये न लक्षणाख्यो व्यापारः तत्सा-है, उस प्रयोजन में दूसरा व्यापार है। वह लक्षणा ही नहीं है, क्योंकि स्खलित होती हुई अर्थात् वाधक व्यापार से कुण्ठित हो रही गति अर्थात् अवबोधनशक्ति जिस शब्द की है, उसका व्यापार लक्षणा है। परन्तु जो शब्द प्रयोजन का बोघ कर रहा है, उसका वाघक के साथ योग नहीं है। वैसा होने पर (अर्थात् यदि बाघक को स्वीकार करते हैं तो) वहाँ भी दूसरे निमित्त या दूसरे प्रयोजन का अन्वेषण किया जायगा, ऐसी स्थिति में अनवस्था होगी। तब (जब कि वाघकयोग नहीं है) यह लक्षणलक्षणा का विषय नहीं है, यह तात्पर्य है। 'दर्शन' यह ण्यन्त निर्देश है (अर्थात् दिखाना या बोधन करना)। कर्तंच्य अर्थात् अवगमयितच्य । अमुख्यता-। अर्थात् बाधक से विधुर (कुष्ठित) हो जाना । उस शब्द के । दुष्टता ही--। सुखपूर्वक प्रयोजन का अवगम हो इसलिए वह शब्द अमुख्य अर्थ में प्रयुक्त होता है। और यदि 'सिहो बटुः' यहाँ बोधनीय शौर्यातिशय में भी शब्द का स्खलद्रतित्व (बाधकयोग) है, तब तो (लक्षक शब्द) उस शौर्यातिशय की प्रतीति को नहीं उत्पन्न करेगा, ऐसी स्थिति में उसका प्रयोग ही क्योंकर होगा ? यदि कहिए कि 'उपचार' से करेगा, तब तो वहाँ भी दूसरा प्रयोजन ढूँढ़ना चाहिए, फिर वहाँ भी उपचार होगा, इस प्रकार अनवस्था होगी। जब स्खलद्रतित्व (वाषकयोग) नहीं है, तब तो प्रयोजन के बोधन में 'स्रक्षणा' नाम का

वाचकत्वाश्रयेणैव गुणवृत्तिव्यवस्थिता । व्यञ्जकत्वैकसूलस्य ध्वनेः स्याल्लक्षणं कथम् ॥ १८॥ तस्मादन्यो ध्वनिरन्या च गुणवृत्तिः । अव्याप्तिरप्यस्य लक्षणस्य ।

'वाचकत्व (अर्थात् आंभघा न्यापार) के आश्रय से ही गुणवृत्ति (या छत्तणा) न्यवस्थित है, फिर न्यक्षकत्व (न्यक्षनान्यांपार) जिसका एकमात्र मूछ है, उस ध्वनि का वह छत्तण कैसे हो सकती है ?

इस कारण ध्वनि भिन्न है और गुणवृत्ति भिन्न है। इस छन्नण की अन्याप्ति लोचनम्

मम्रथमावात्। न च नास्ति व्यापारः। न चासाविभिधा, समयस्य तत्राभावात्। यद्वः वापारान्तरमिधालक्षणातिरिक्तं स ध्वननव्यापारः। न चैवमिति। न च प्रयोगे दुष्टता काचित्, प्रयोजनस्याविष्नेनेव प्रतीतेः। तेनाभिधैव मुख्येऽर्थे वाधकेन प्रविवित्सुर्निरुध्यमाना सती अचरितार्थत्वाद्न्यत्र प्रसरति। अत एव अमुख्योऽस्यायमर्थं इति व्यवहारः। तथैव चामुख्यत्या संकेतम्रहणमपि तत्रा-स्तीत्यभिषापुच्छभूतैव लक्षणा।। १७।।

जपसंहरति—तस्मादिति । यतोऽभिधापुच्छभूतैव लक्षणा, ततो हेतोर्वाच-कत्वमभिधाव्यापारमाश्रिता तद्बाधनेनोत्थानात्ततपुच्छभूतत्वाच गुणवृत्तिः गौणलाक्षणिकप्रकार इत्यर्थः । सा कथं ध्वनेव्यंक्षनात्मनो लक्षणं स्यात् ? भिन्नविषयत्वादिति । एतद्वपसंहरति—तस्मादिति ।

यतोऽितव्याप्तिरुक्ता तत्प्रसङ्गेन च मिन्नविषयत्वं तस्मादित्यर्थः । एवम् व्यापार नहीं है, क्योंकि उसकी सामग्री बहाँ नहीं है। ऐसा नहीं कह सकते कि (वहाँ) व्यापार ही नहीं। फिर वह व्यापार अभिघा नहीं, क्योंकि 'समय' (सङ्केत) का वहाँ अभाव है। जो अभिघा और लक्षणा से अतिरिक्त व्यापार है, वह घ्वनन व्यापार है। परन्तु ऐसा नहीं—। न कि प्रयोग में कोई दोष है, क्योंकि प्रयोजन की बिना किसी विन्न के, प्रतीति हो जाती है। इसलिए अभिघा ही मुख्य अर्थ में बाधक के कारण बोघ की इच्छा रखनेवालों द्वारा रोक दी गई होकर अचरितार्थं होने के कारण अन्यत्र (दूसरे अर्थ में) फैलती है। इसलिए 'यह इसका मुख्य अर्थ है' यह व्यवहार चलता है। उसी प्रकार अमुख्यरूप से संकेत ग्रहण भी वहाँ है, इस प्रकार लक्षणा अभिघा की पुच्छमृत ही है।

उपसंहार करते हैं—इस कारण से—। जिस कारण लक्षणा अभिघा की पुच्छभूत ही है, उस कारण वाचकत्वरूप अभिघाव्यापार पर आश्रित, उसके (अभिघा को) पुच्छभूत होने के कारण गुणवृत्ति अर्थात् गौण-लाक्षणिक प्रकार है। वह (गुणवृत्ति) व्यञ्जनारूप 'व्विन' का लक्षण कैसे हो सकती है ? क्योंकि (उसका) विषय भिन्न है। इसका उपसंहार करते हैं—उस कारण—। अर्थात् जिस कारण अतिव्याप्ति कही गई

'अतिव्याप्तरथाव्याप्तेनं चासौ लच्यते तया' इति कारिकागतामितव्याप्तिं व्याख्यायाव्याप्तिं व्याच्छे—अव्याप्तिरप्यस्येति । अस्य गुणवृत्तिरूपस्येत्यर्थः । यत्र यत्र ध्वनिस्तत्र तत्र यदि मिक्तभवेत्र स्याद्व्याप्तिः । न चैवम् अविवक्षितवाच्येऽस्ति भिक्तः 'सुवर्णपुष्पाम्' इत्यादौ । 'शिखरिणि' इत्यादौ तु सा कथम् । ननु लक्षणा तावद्गौणमिष व्याप्नोति । केवलं शब्दस्तम्थं लक्षयित्वा तेनैव सह सामानाधिकरण्यं भजते—'सिहो बदुः' इति । अर्थो वाऽर्थान्तरं लक्षयित्वा स्ववाचकेन तद्वाचकं समानाधिकरणं करोति । शब्दार्थों वा युगपत्तं लक्षयित्वा अन्याभ्यामेव शब्दार्थाभ्यां मिश्रीभवत इत्येवं लाक्षणिकाद् गौणस्य भेदः । यदाह—'गौरो शब्दप्रयोगः, न लक्षणायाम्' इति, तत्रापि लक्षणास्त्येवेति सर्वत्र सेव व्यापिका । सा च पञ्चविधा । तद्यथा—अभिषयेते कृत्वा तेन अमरशब्दः द्वौ रेफो यस्येति कृत्वा तेन अमरशब्देन यस्य संयोगः सम्बन्धः षट्पदलक्षणस्यार्थस्य सोऽर्थो द्विरेफशब्देन लच्यते, अभिष्येसम्बन्धं व्याख्या-तरूपं निमित्तीकृत्य । सामीप्यात् 'गङ्गायां घोषः' समवायादिति सम्बन्धा-तरूपं निमित्तीकृत्य । सामीप्यात् 'गङ्गायां घोषः' समवायादिति सम्बन्धाः

और उसके प्रसंग से (गुणवृत्ति और व्विन का) भिन्न-विषयत्व है उस कारण। इस प्रकार 'अतिब्याप्ति' और अब्याप्ति के कारण वह घ्वनि उसं (भक्ति) से लक्षित नहीं हो सकता (अर्थात् 'मिक्त' व्विन का लक्षण नहीं हो सकती)' इस 'कारिका' में आई हुई अतिव्याप्ति का व्याख्यान करके अव्याप्ति (लद्य में लक्षण की अप्राप्ति) का व्याख्यान करते हैं-अन्याप्ति भी इसका-। इसका अर्थात् गुणवृत्तिरूप (लक्षण) का जहाँ-जहाँ 'घ्वनि' है वहाँ-वहाँ 'भिक्ति' हो तो अव्याप्ति न हो। पर ऐसा नहीं है। अविवक्षितवाच्य में 'भक्ति' है; जैसे 'सुवर्णपुष्पाम् ०' इत्यादि में । 'शिखरिणि ०' इत्यादि में वह कैसे है ? शङ्का है कि लक्षणा गौण स्थल को भी व्याप्त करती है। केवल ('सिंह') आदि शब्द उस ('बट्ट' आदि) अर्थ को लक्षित करके उसी ('बट्ट' आदि शब्द) के साथ सामानाधिकरण्य को प्राप्त करता है। अथवा, ('सिंह' आदि) अर्थ ('वटु' आदि) अर्थान्तर को लक्षित करके अपने वाचक से उसके वाचक को समाना-धिकरण कर देता है। अथवा शब्द और अर्थ दोनों एक ही काल में उस 'बट्ट' आदि अर्थ को लक्षित करके दूसरे शब्द और अर्थ के साथ मिल जाते हैं। इस प्रकार लाक्षणिक से गौण का भेद है। जैसा कि कहते हैं—'गौण में शब्दप्रयोग होता है, लक्षणा में नहीं।' उस (गौण स्थल) में भी लक्षणा है ही, इस प्रकार वही सर्वत्र व्याप्त रहनेवाली है। वह पाँच प्रकार की है, वह जैसे कि, अभिधेय के साथ संयोग होने से; 'द्विरेफ' शब्द का जो अभिषेय 'भ्रमर' शब्द है ('दो रेफ हैं जिसके' इसके अनुसार) उस 'भ्रमर' शब्द के साथ जिसका संयोग अर्थात् सम्बन्ध (वाच्यवाचकभावरूप सम्बन्ध) 'पट्पद' रूप अर्थ का है, वह अर्थ व्याख्यात अभिषेय सम्बन्ध को निमित्त करके द्विरेफ' शब्द द्वारा लक्षित होता है। सामीप्य से; जैसे 'गङ्गा में घोष है'। समवाय

न हि ध्वनित्रभेदो विविश्वतान्यपरवाच्यलक्षणः। अन्ये च वहवः प्रकारा भक्त्या व्याप्यन्तः, तस्माद्भक्तिरलक्षणम् ॥ १८॥

(अपने रुचय में न संगत होना) भी है, क्योंकि विविधतान्यपरवाध्य रूप (अभि-धामूल) ध्वनि का प्रमेद और अन्य बहुत से (ध्वनि के) प्रकार असि (छन्नजा) से व्यास नहीं हैं, अतः भक्ति ध्वनि का रुचण नहीं है ॥ १८॥

लोचनम्

दित्यर्थः, 'यष्टीः प्रवेशय' इति यथा । वैपरीत्यात् यथा—रात्रुमुहिश्य कश्चिद् व्रवीति—'किमिवोपकृतं न तेन मम' इति । क्रियायोगादिति कार्यकारणभावा-दित्यर्थः । यथा-अन्नापहारिणि व्यवहारः प्राणानयं हरति इति । एवसनया लक्षणया पक्षविधया विश्वमेव व्याप्तम् । तथाहि—'शिखरिणि' इत्यन्नाकस्मिकप्रश्नविशेषादिबाधकानुप्रवेशे साहश्याङ्गक्षणास्त्येव । नन्वन्नाङ्गीकृतेव मध्ये लक्षणा, कथं तह्युक्तं विविश्वतान्यपरेति ? तद्भेदोऽत्र मुख्योऽसंलक्ष्यक्रमात्मा विविश्वतः । तद्भेदोऽत्र सुख्योऽसंलक्ष्यक्रमात्मा । तथाहि—विभावानुभावप्रतिपादके काव्ये मुख्येऽर्थे तावद्बाधकानुप्रवेशोऽप्यसम्माव्य इति को लक्षणावकाशः ?

ननु किं वाधया, इयदेव लक्षणास्वरूपम्—'अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्ष-णोच्यते ।' इति । इह चाभिघेयानां विभावानुभावादीनामविनाभूता रसादय इति लक्त्यन्ते,विभावानुभावयोः कारणकार्यह्रपत्वात्, व्यभिचारिणां च तत्सह-अर्थान् सम्बन्ध से, जैसे 'लाठियों को प्रवेश करो ।' वैपरीत्य से, जैसे-शत्रु को उद्देश्य करके कोई कहता है 'क्या नहीं उसने मेरा उपकार किया है !' क्रियायोग से अर्थात् कार्यकारणभाव से; जैसे-अन्न को चुरानेवाले के प्रति यह व्यवहार करते हैं कि 'यह प्राणहरण करता है'। इस प्रकार इस पंचिवध लक्षणा से सारा विश्व ही व्याप्त हो जाता है। जैसा कि 'शिखरिणि॰' इस स्थल में आकिस्मिक प्रश्न-विशेष आदि बावक का योग करने पर (भी) साहस्य से लक्षणा है ही। (इस पर पूछते हैं कि) अगर यहाँ मध्य में लक्षणा मान भी लिया तो यह कहिए कैसे फिर 'विवक्षितान्यपर' ऐसा कहा है (क्योंकि लक्षणा के होने पर वाच्य का विवक्षित होना सम्भव नहीं)। उस विवक्षि-तान्यपरवाच्य का मुख्य भेद असंलद्ध्यक्रमरूप विवक्षित है। 'तझेद' शब्द से रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावप्रशम आदि उसके अवान्तरभेद भी हैं, उनमें लक्षणा की उपपत्ति नहीं है। इस प्रकार—विभावानुभाव का प्रतिपादन करनेवाले काव्य में युख्य अर्थ में वाधक का योग भी सम्भावनीय नहीं, ऐसी स्थिति में लक्षणा का अवसर ही क्या है ?

शक्ता है कि वाघा की क्या जरूरत ? लक्षणा का इतना ही स्वरूप है—'अभियेष के साथ अविनाभूत की (अर्थात् किसी भी सम्बन्ध से सम्बद्ध की) प्रतीति (या प्रतीति का हितु) लक्षणा है।' और यहाँ रसादि विभाव-अनुभाव आदि अभियेषों के अविनाभूत

११ ध्वा ः

5

कारित्वादिति चेत्—मैवम् ; धूमराब्दाद् धूमे प्रतिपन्ने ह्याग्निस्मृतिरिप लक्षणाः कृतेव स्यात्, ततोऽग्नेः शीतापनोदस्मृतिरित्यादिरपर्यवसितः शब्दार्थः स्यात्। धूमशब्दस्य स्वार्थविश्रान्तत्वान्न तावति व्यापार इति चेत्, आयातं तिह्यां सुख्यार्थवाधो लक्षणाया जीवितिमिति, सति तिस्मन्स्वार्थविश्रान्त्यभावात्। न च विभावादिप्रतिपादने वाधकं किञ्जिदस्ति।

नन्वेवं धूमावगमनानन्तराप्रिस्मरणवद्धिभावादिप्रतिपत्त्यनन्तरं रत्यादिचित्त-वृत्तिप्रतिपत्तिरिति शब्दव्यापार एवात्र नास्ति । इदं तावद्यं प्रतीतिस्वरूपह्मी मीमांसकः प्रष्टव्यः-किमत्र परचित्तवृत्तिमात्रे प्रतिपत्तिरेव रसप्रतिपत्तिरिभ-मता भवतः ? न चैवं भ्रमितव्यम्; एवं हि लोकगतचित्तवृत्त्यनुमानमात्रमिति का रसता ? यस्त्वलौकिकचमत्कारात्मा रसास्वादः काव्यगतविभावादि चर्वणाः प्राणो नासौ स्मरणानुमानादिसाम्येन खिलीकारपात्रीकर्तव्यः । किं तु लौकि केन कार्यकारणानुमानादिना संस्कृतहृदयो विभावादिकं प्रतिपद्यमान एव न ताटस्थ्येन प्रतिपद्यते, अपि तु हृद्यसंवादापरपर्यायसहृद्यत्वपरवशीकृततया हैं अतः लक्षित होते हैं, क्योंकि रसादि के विभाव और अनुभाव ऋमशः कारण <mark>एव</mark>ं कार्य हैं, और व्यभिचारी भाव उस रसादि के सहकारी हैं। (इस पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं—) इस प्रकार नहीं, क्योंकि ऐसी स्थिति में 'धूम' शब्द से धूम के जात होने पर अग्नि की स्मृति भी लक्षणाकृत होने लगेगी, तव अग्नि के द्वारा शीतापनोद की स्मृति होने लगेगी, इस प्रकार ('घूम') शब्द का अर्थं पर्यवसित (विश्रान्त) नहीं होगा। यदि कहिए कि 'धूम' शब्द के अपने अर्थ (धूमत्व या धूमविशिष्ट अर्थ) में विश्रान्त होने के कारण अप्ति आदि के अर्थ में व्यापार नहीं है, तव तो मुख्यार्थवाष लक्षणा का जीवित है, यह बात आ गई, उस (मुख्यार्थवाघ) के रहते अपने अर्थ में विश्रान्ति नहीं हो सकती। और विभाव आदि के प्रतिपादन में कोई वाघक नहीं है।

शक्का है कि जिस प्रकार घूम के ज्ञान के पश्चात् अग्नि का स्मरण होता है उसी प्रकार विभाव आदि की प्रतीति के पश्चात् रत्यादि चित्तवृत्ति की प्रतीति होती है इस प्रकार यहाँ शब्द का व्यापार ही नहीं है। (इस शंका पर) प्रतीति के इस स्वरूप को जानने वाले मीमांसक (विचारक) से यह पूछना चाहिये—क्या यहाँ आपको दूसरे की चित्तवृत्ति मात्र (के सम्बन्ध) में जो प्रतीति होती है वही इसकी प्रतीति के रूप में आपको अभिमत है? परन्तु इस प्रकार आपको भ्रम में नहीं पड़ना चाहिये, क्योंकि ऐसी स्थिति में लोकगत चित्तवृत्ति का (यह) अनुमानमात्र है, रसता कैसी? जो कि अलौकिक चमत्कार रूप रसास्वाद, जिसका प्राण विभाव आदि की चवंणा है, वह स्मरणजनित अनुमान के समान खिलीकार (असम्मान) का पात्र करना नहीं चाहिये। किन्तु लौकिक कार्य और कारण के अनुमान आदि से संस्कृत हृदय वाला व्यक्ति विभावादि को (काव्य या नाट्य से) अवगत करता हुआ तटस्थभाव से (अर्थात् ये दूसरे के हैं मेरे नहीं, इस भाव से) अवगत करता। अपितु हृदय-संवाद नामक

पूर्णीभविष्यद्रसास्वादाङ्कुरीभावेनानुमानस्मरणादिसरणिमनारुद्धेव तन्मयीभ-वनोचितचर्वणाप्राणतया। न चासौ चर्वणा प्रमाणान्तरतो जाता पूर्व, येने-दानी स्मृतिः स्यात्। न चाधुना कुतश्चित्प्रमाणान्तरादुत्पन्ना, असौिकके प्रत्यक्षाद्यव्यापारात्। अत एवालौिकक एव विभावादिव्यवहारः। यदाह—'विभावो विज्ञानार्थः लोके कारणमेवाभिधीयते न विभावः। अनुभावोऽप्य-लौिकक एव। 'यदयमनुभावयति वागङ्गसत्त्वकृतोऽभिनयस्तस्मादनुभाव' इति। तिचत्तवृत्तितन्मयीभवनमेव ह्यनुभवनम्। लोके तु कार्यमेवोच्यते नानुभावः। अत एव परकीया न चित्तवृत्तिर्गम्यत इत्यभिप्रायेण 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' इति सूत्रे स्थायिप्रहणं न कृतम्। तत्प्रत्युत शल्यभूतं स्यात्। स्थायिनस्तु रसीभाव औचित्यादुच्यते, तिद्वभावानुभावोचितिचत्तवृत्तिसंस्कारसुन्दर्रचर्वणोद्यात्। हृद्यसंवादोपयोगिलोकचित्त-यृत्तिपरिज्ञानावस्थायामुद्यानपुलकािदभः स्थायिभूतरत्याद्यवमगाच। व्यभिचारी तु चित्तवृत्त्यात्मत्वेऽपि मुख्यचित्तवृत्तिपरवश एव चर्व्यत इति विभावानुभावमध्ये गणितः। अत एव रस्यमानताया एषैव निष्पत्तः, यत्प्रबन्धप्रवृत्त-

सहदयत्व के परवश होने के कारण पूर्णता को प्राप्त करने वाले रसास्वाद के अंकुरी-भाव से, अनुमान और स्मरण आदि की सरणि पर आरूढ़ हुये विना ही, तन्मय होने के उचित चर्वणा के उपयोग से (विभावादि को अवगत करता है)। पहले वह 'चर्वणा' प्रमाणान्तर से उत्पन्न नहीं हो चुकी होती है, जिससे इस समय उसे 'स्मृति' कहते, और न कि इस समय प्रमाणान्तर से उत्पन्न हो रही है, क्योंकि अलौकिक वस्तु में प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का व्यवहार नहीं होता। जैसा कि कहा है—विभाव विशेष ज्ञान की वस्तु है-वह लोक में 'कारण' ही कहा जाता है, विभाव नहीं। अनुभाव भी अलौकिक ही होता है। जो कि यह वाणी, अञ्ज और सत्त्व से किया हुआ अभिनय अनुभवन कराता है, उस कारण अनुभाव है।' उन चित्तवृत्तियों से तन्मय हो जाना ही अनुभवन है। उसे लोक में कार्य ही कहते हैं, न कि अनुभाव। इसीलिये परकीय चित्तवृत्ति को (सामाजिक लोग) नहीं अनुभव करते, इस अभिप्राय से 'विभाव' अनुभाव और व्यभिचारी के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है' इस सूत्र में स्थायी का ग्रहण नहीं किया। उसका ग्रहण प्रत्युत शल्यभूत (विरुद्ध) हो जाता। स्थायी भाव का रसीभाव (रस के रूप में परिणत होना) औचित्य के कारण कहा जाता है, क्योंकि वह (औचित्य) विभाव, अनुभाव और उचित चित्तवृत्ति के संस्कार से सुन्दर चर्वणा के उदय से होता है। और हृदय-संवाद की उपयोगिनी लोक-चित्तवृत्ति के परिज्ञान की अवस्था में उद्यान और पुलक आदि द्वारा स्थायीभूत रित आदि के अवगम से (औचित्य) होता है। चित्तवृत्ति रूप होने पर भी व्यभिचारी मुख्य चित्तवृत्ति के परवश ही होकर चर्वित होता है, अतः उसकी गणना विभाव-अनुभाव के बीच ही की गई है। अतएव रस्यमानता की यही निष्पत्ति है कि जो समय से प्रवृत्त बन्धु-समागम आदि कारण से

सोचनम्

बन्धुसमागमादिकारणोदितहर्षादिलोकिकचित्तवृत्तिन्यग्भावेन चर्वणाह्यप् त्वम् । अत्रश्चर्यणात्राभिन्यञ्जनमेव, न तु ज्ञापनम्, प्रमाणन्यापारवत् । नाष्यु-त्पादनम्, हेतुन्यापारवत् ।

ननु यदि नेयं इप्तिनं वा निष्पत्तः, तर्हि किमेतत् ? न न्वयमसावलौकिको रसः । ननु विभावादिरत्र किं झापको हेतुः, उत कारकः ? न झापको न कारकः, अपि तु चर्वणोपयोगी । ननु क्वैतद् दृष्टमन्यत्र । यत एव न दृष्टं तत एवालौकिकमित्युक्तम् । नन्वेवं रसोऽप्रमाणं स्यात् ; अस्तु, किं ततः ? तच्चवणात एव प्रीतिव्युत्पत्तिसिद्धेः किमन्यद्र्थनीयम् । नन्वप्रमाणकमेतत् ; न, स्वसंवेदनिसद्धत्वात् । झानविशेषस्यैव चर्वणात्मत्वात् इत्यलं बहुना । अतश्च रसोऽयम् लौकिकः । येन लितपक्षानुप्रासस्यार्थामिधानानुपयोगिनोऽपि रसं प्रति व्यञ्चकत्वम् ; का तत्र लक्षणायाः शङ्कापि ? काव्यात्मकशब्दनिष्पीडनेनैव तच्चवणा दृश्यते । दृश्यते हिं तदेव काव्यं पुनः पुनः पुनः पुनः पुनः सहद्यो लोकः, न तु काव्यस्य; तत्र 'उपादायापि ये हेया' इति न्यायेन कृतप्रतीतिकस्यानुपयोग एवति शब्दस्यापीह ध्वननव्यापारः । अत एवालक्यक्रमता । उत्पन्न हर्षं आदि लौकिक चित्तवृत्ति के त्यग्माव से चर्वणा की स्थिति है। इसलिये चर्वणा यहां अभिव्यंजन ही है न कि ज्ञापन, (इन्द्रिय आदि) प्रमाणों के व्यापार की भौति, और (चर्वणा) उत्पादन रूप (व्यापार) भी नहीं है, (दण्ड, चक्र आदि) हेतु के व्यापार की भांति ।

शङ्का है कि यदि यह (रसंचर्वणा) न ज्ञप्ति है और न तो निष्पत्ति है, तो फिर है क्या ? (उत्तर में कहते हैं कि) रस तो अलौकिक है। तब जब प्रश्न उठता है कि विभावादि यहाँ ज्ञापक हेतु है अथवा कारक हेतु ? (इसका उत्तर यह है कि) वह न तो ज्ञापक हेतु है और न तो कारक, बल्कि वह चर्वणा का उपयोगी है। (तब प्रश्न है कि) यह कहाँ देखा है ? (इसका उत्तर यह है कि) जिस कारण नहीं देखा उसी कारण 'अलौकिक' कहा। तब तो इस प्रकार रस अप्रमाण होगा! (उत्तर है कि) हो, उससे क्या ? जब उसकी चर्वणा से ही प्रीति और व्युत्पत्ति सिद्ध हो जाती हैं तो और क्या चाहिये ? (शक्का है कि) इस कथन का कोई प्रमाण नहीं, (समाधान है) कि नहीं, यह बात अपने संवेदन से सिद्ध है, क्यों के चवंणा ज्ञानविशेष रूप ही है। अब बहुत कहना व्ययं है। इसलिये यह रस आलौकिक है। जिस कारण अयं के अभिघान के उपयोगी न होने वाले ललित एवं परुष अनुप्रास का भी रस के प्रति व्यंजकत्व है फिर लक्षणा की शंका भी कैसे सम्भव है। काव्यात्मक शब्द के निष्पीडन से ही रस की चर्वणा देखी जाती है। क्योंकि सहृदय को बार-बार काव्य पढ़ते हुये और चर्वणा करते हुये देखते हैं, न कि काव्य रूप शब्द का (चर्वण करते हुये देखते हैं); इस प्रकार वहाँ 'उपादान करके भी जो त्याज्य हैं' इस न्याय के अनुसार जिसकी प्रतीति कर ली गई उसका उपयोग ही नहीं, इसलिये शब्द का भी 'घ्वनन' व्यापार

यत्त वाक्यभेदः स्यादिति केनचिद्रक्तप् , तदनिमञ्जतया । शास्त्रं हि सकृद्धाः समयबत्तेनार्थं प्रतिपादयद्यगपद्विरुद्धानेकसमयस्मृत्ययोगात्कथमर्थद्वयं प्रत्याययेत । अविरुद्धत्वे वा तावानेको वाक्यार्थः स्यात् । क्रमेणापि विरम्य-व्यापारायोगः । पुनक्षारितेऽपि वाक्ये स एव, समयप्रकरणादेस्ताद्वस्थ्यात् । व्रकरणसमयप्राप्यार्थेतिरस्कारेणार्थान्तरप्रत्यायकत्वे नियमाभाव इति तेन 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः' इति श्रुतौ 'खादेच्छ्रमांसमित्येष नार्थ इत्यत्र का प्रमें ति प्रसच्यते । तत्रापि न काचिदियत्तेत्यनाश्वासता इत्येवं वाक्यभेदो दूषणम् । इह तु विभावाद्येव प्रतिपाद्यमानं चर्वणाविषयतोन्मुस्तमिति समया-द्युपयोगाभावः। न च नियुक्तोऽहमत्र करवाणि, कृतार्थोऽहमिति शास्तीयप्रती-तिसदशमदः। तत्रोत्तरकर्तव्यौन्मुख्येन लौकिकत्वात्। इह तु विभावादिचर्व-णाद्भुतपुष्पवत्तत्कालसारैवोदिता न तु पूर्वोपरकालानुबन्धिनीति लौकिकादा-स्वादाद्योगिविषयाचान्य एवायं रसास्वादः। अत एव 'शिखरिणि' इत्यादावपि मुख्यार्थबाधादिक्रममनपेच्यैव सहृद्या वक्रभिप्रायं चादुप्रीत्यात्मकं संवेदयन्ते । है। अतएव उसकी अलक्ष्यक्रमता है। जो कि वाक्यभेद होगा (अर्थात् एक ही काव्य-वाक्य के वाच्य और व्यंग्य टोनों अर्थों के बोघक होने के कारण वाक्यभेद होगा) यह किसी ने कहा है, वह अनिभन्नता के कारण है, क्योंकि शास्त्र एक बार उचिरत होकर समय (संकेत) के वल से अर्थ का प्रतिपादन करता हुआ एक ही काल में विरुद्ध अनेक संकेतों की स्मृति के न होने के कारण कैसे दो अर्थों का प्रत्यायन करेगा ! अविरुद्ध होने पर उतना एक ही वाक्यार्थ होगा । ऋम से भी, एक व्यापार के विरत हो जाने के पश्चात व्यापार नहीं होता । यदि पुनः वाक्य का उचारण कीजिएगा तब भी वही समय (संकेत) और प्रकरण आदि उसी प्रकार बने रहेंगे। प्रकरण और समय (संकेत) से प्राप्त होनेवाले अयं को तिरस्कार करके दूसरे अर्थ के प्रत्यायक (वोंयक) होने में कोई नियम नहीं है। इस कारण 'अप्रिहोत्रं जुहुयात स्वगंकामः' इस वेदवाक्य में 'श्वमांस का मक्षण करे' यह अर्थ नहीं है, यहां कौन प्रमा है यह बात प्रसक्त होगी। वहाँ दूसरे अर्थ में भी कोई इयत्ता नहीं है, इस प्रकार (अनिश्चितार्थक होने के कारण वाक्य में बोधकता नहीं, इस प्रकार) वाक्यमेद दोष ठहरता है। यहाँ (काव्य में) दिभावादि ही प्रतिपाद्यमान होकर चवंणा के विषय होने के लिए उन्मुख हैं, ऐसी स्थिति में संकेत आदि का कोई उपयोग नहीं। 'मैं इसमें नियुक्त हूँ', 'मैं कर रहा हूँ', 'मैं कर चुका' इस प्रकार की शास्त्रीय प्रतीति के समान काव्यज्न्य प्रतीति नहीं है, क्योंकि शास्त्रीय प्रतीति में उत्तरकाल में जो कर्त्तव्य है उसके प्रति उन्मुखता होने के कारण लौकिकता है। परन्तु यहाँ (काव्य में) ऐन्द्रजालिक पुष्प की भौति विभावादि चर्वणा उसी समय ही पूर्णरूप से उदित होती है, न कि पूर्वापरकाल की अनुबन्धिनी है, इस प्रकार यह रसास्वाद लौकिक आस्वाद से और योगी के विपय से दूसरा ही है। दसीलिए 'शिखरिणि॰' इत्यादि 'पद्य में भी मुख्यायं के बाध आदि की

अत एव प्रन्थकारः सामान्येन विव्धितान्यपरवाच्ये ध्वनौ भक्तेरभावमध्य-धात् । अस्माभिस्तु दुर्दुरूदं प्रत्यायितुमुक्तम्-भवत्वत्र लक्ष्णा, अलक्ष्यक्रमे तु कुपितोऽपि किं करिष्यसीति । यदि तु न कुप्यते 'सुवर्णपुष्पाम्' इत्यादाविवद् क्षितवाच्येऽपि मुख्यार्थबाधादिलक्ष्णासामग्रीमनपेदयैव व्यङ्ग-यार्थविश्रान्तिरि-त्यलं बहुना । उपसंहरति—तस्माङ्गकिरिति ॥ १८ ॥

अपेक्षा न करके ही सहृदय लोग चाटुप्रीतिरूप वक्ता के अभिप्राय को समझते हैं। अतएव ग्रन्थकार ने सामान्यरूप से विविधातान्यपरवाच्य ध्विन में भिक्त का अभाव कहा है। हमने तो नास्तिकता की वाणी के ग्रह से ग्रस्त व्यक्ति को समझाने के लिए कहा है—'हो यहाँ लक्षणा, परन्तुं अलक्ष्यक्रमध्विन में कुपित होकर भी क्या करोगे? यदि कुपित नहीं होते हो तो 'सुवर्णपुष्पाम् ०' इत्यादि अविविधातवाच्य ध्विन में भी मुख्यांचंबाध आदि लक्षणा की सामग्री की अपेक्षा न करके ही व्यङ्गच अर्थ की विश्वान्ति हो जाती है। बहुत कहना व्यर्थ है। उपसंहार करते हैं—इसिल्डए भक्ति—।

१. विस्तृत 'लोचन' का कुछ स्पष्टीकरण यह है कि लक्षणा का वहीं विषय हो सकता है जहाँ किसी प्रकार का बाधक उपस्थित होता है। जैसे 'गङ्गा में घोप' इस स्थल में गङ्गा और घोप में आधाराधेयभाव की अनुपपत्तिरूप बाधक का थोग है अतः यहाँ लक्षणा व्यापार कियाशील होता है। अब यदि चतुर्थ व्यञ्जना व्यापार के विषय प्रयोजन को भी तृतीय लक्षणा व्यापार का विषय बनाने की चेष्टा करते हैं तो किहिए कि यहाँ बाधक का थोग या स्खलद्गति क्या है? स्वयं 'प्रयोजन' शब्द ही इस बात का सूचक है कि यहाँ कोई बाधा नहीं, क्यों कि जिस उद्देश्य को सूचित करने के लिए कोई बाधित बात कही जाय तो स्वयं उद्देश्य कैसे वाधक-योग से युक्त होगा? किसी प्रकार यदि 'प्रयोजन' में भी लक्षणा को ही मानते हैं तब प्रयोजन के प्रयोजन की बात उपस्थित होती है, इस प्रकार अनवस्था होगी अतः 'प्रयोजन' को एक मात्र व्यञ्जना का ही विषय मानना होगा, न कि लक्षणा का। यह विषय 'काव्यप्रकाद्दा' में भी निर्दिष्ट है।

छक्षणा थे अभिधा का 'पुच्छभूत' कहा है। क्योंकि जब अभिधा मुख्य अर्थ में बाधक से रोक दी जाती है तब स्वयं एक प्रकार से अचिरतार्थ हो कर अन्य अर्थ की ओर चल पढ़ती है। इस प्रकार छक्षणा उपस्थित होकर अमुख्य अर्थ की बोधित करती है। वहाँ भी अमुख्य रूप से संकेत प्रहण होता है। ऐसी स्थित में बिना अभिधा के छक्षणा का कोई अवसर ही नहीं, इस कारण लक्षणा अभिधापुच्छभूत कहां जाती है। कहने का तात्पर्य यह कि जब छक्षणा अभिधा की पूंछ बन कर रहती है तब वह न्यक्षन रूप ध्वनि का मुकाबला क्या कर सबती है? अतः छक्षणा (भक्ति) को ध्वनि का छक्षण नहीं माना जा सकता। ध्वनि का विषय भिन्न होता है और छक्षणा का भिन्न। इस प्रकार छक्ष्य से अतिरिक्त स्थल में भी छक्षण की प्राप्तिरूप अतिस्थाप्ति होण ध्वनि का छक्षण 'भक्ति' को मानने पर होणा। तथा ऐसा करने पर छक्ष्य में अप्राप्तिरूप अव्याप्ति भी होगी। उसे विविश्वतान्यपरवाच्य रूप ध्वनि में छक्षणा का प्रसंग न होने के कारण ध्वनि का भक्ति' रूप छक्षण अव्याप्ति होगा।

पुनश्च, 'होचन' में हक्षणा के इन पाँच रूपों का निर्देश आचार्य ने उदाहरण के साथ किया है—

कस्यचिद् ध्वनिभेदस्य सा तु स्यादुपलक्षणम्। वह ध्वनि के किसी भेद का उपलक्षण हो सकती है।

. लोचनम्

ननु मा भूद् ध्वनिरिति भक्तिरिति चैकं रूपम्। मा च भूद्रक्तिध्वनेर्लक्षणम्। उपलक्षणं तु भविष्यति; यत्र ध्वनिर्भवति, तत्र भक्तिरप्यस्तीति भक्त्युपलक्षितो ध्वनिः। न तावदेतत्सर्वत्रास्ति, इयता च किं परस्य सिद्धं ? किं वा नः ब्रुटितम्?

शङ्का है कि ध्विन और मिक्त दोनों एक रूप न हों और 'मिक्त' ध्विन का लक्षण भी न हो, परन्यु उपलक्षण तो होगी? जहाँ ध्विन है वहाँ मिक्त भी है, इस प्रकार ध्विन मिक्त से उपलक्षित है। (इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि) यह (उपलक्षण)

> अभिधेयेन सामीप्यात् संयोगात्समवायतः। वैपरीत्यातः क्रियायोगाङक्षगा पञ्चभा मता॥

इस प्रकार 'शिखरिणि०' इस स्ठोक में आकरिमक प्रश्न-विशेष आदि रूप बाधक को छेकर सादृश्य से छक्ष गा होगी, ऐसी स्थिति में छक्षणा या भक्ति को विविक्षतान्यपरवाच्य रूप में घ्विन के स्थल में भी व्याप्त होने पर अव्याप्ति न होगी। इस षर 'लोचनकार' ने विशेष रूप से अन्तं में यह कहा है कि यहाँ यद्यपि मुख्यार्थ का बाध सम्भन है किन्तु सहृदय को उसकी अपेक्षा ही नहीं होती, विशेष वे लोग यहाँ वक्ता के—चाडु प्रीति रूप अभिप्राय को ही यहाँ विदित करते हैं। अतः यहाँ छक्षणा के प्रसंग की करपना अनावश्यक है। अस्ल में ध्विन के जिस स्थल में छक्षणा का कोई सम्पर्क सम्भावित नहीं, वह है असंलक्ष्यकमन्यक्ष्य, अर्थात् रसादि ध्विन। कान्य द्वारा विभावातुन भाव का जो प्रतिपादन होता है वहाँ रंचमात्र भी बाधक का अनुप्रवेश नहीं। ऐसी स्थिति में 'भक्ति' रूप छक्षण अपने छक्ष्य में प्राप्त न होने से अन्याप्त होगा।

तब मीमांसक-पश्च से शङ्का करते हैं, कि हमें 'लक्षणा' पूर्वोक्त स्वरूप की मान्य नहीं, बिक, लक्षणा अभिषेय की अविनाभूतप्रतीति है। अर्थात् अभिषेय के साथ किसी न किसी सम्बन्ध से सम्बद्ध की प्रतीति ही लक्षणा है। इस प्रकार अभिषेय रूप विभाव-अनुमाव के अविनाभूत रसादि लक्षणा का विषय होंगे। फिर यह समस्या नहीं जाती है कि असंलक्ष्यक्रमन्यङ्गय में लक्षणा की प्राप्ति नहीं है।

उसके उत्तर में आचार्य ने पहले 'छक्षणा' के इस छक्षण का ही खण्डन किया। उनके अनुसार जब अभिषय की अविनाभूतप्रतीति ही छक्षणा होगी तब तो 'धूम' शब्द से धूम के शान होने पर उससे अविनाभूत अग्निस्मृति को भी आप छक्षणा का कार्य ही स्वीकार करेंगे और तत्पश्चात अग्नि से शीतापनीदन की स्मृति को भी 'धूम' का शब्दार्थ मानेंग, इस प्रकार इतने शब्दार्थों की करपना करनी पड़ेणीं कि जिसका कोई अन्त नहीं। अन्ततोगत्वा आपको सुख्यार्थ वाथ को छक्षणा का बीज मानना हो पड़ेगा। इस प्रकार विभाव आदि में वाथक का अभाव होने से छक्षणा का सम्पर्क नहीं है, यह बात गदवस्थ रहती है।

सा पुनर्भक्तिर्गरूयमाणप्रभेदमध्यादन्यतमस्य भेदस्य यदि नामोष-लक्षणतथा सम्भान्येतः यदि च गुणवृत्त्येव ध्वनिर्लक्ष्यत इत्युच्यते तदिभिधान्यापारेण तदितरोऽलङ्कारवर्गः समग्र एव लक्ष्यत इति प्रत्येक-मलङ्काराणां लक्षणकरणवैयध्यप्रसङ्गः । किं च

वह मिक बष्यमाण प्रभेदों में से किसी एक भेद के यदि उपलक्षण रूप से सक्मावित हो सके; और यदि 'गुणवृत्ति से ही ध्वनि छित होता है' यह कहते हैं ती अभिवा ज्यापार से ही समप्र अलङ्कार वर्ग छित्त हो सकता है, ऐसी स्थिति में अलग-अलग अलङ्कारों का छन्नण करना व्यर्थ होगा। और भी,

लोचनम्

इति तदाह—कत्यचिदित्यादि । ननु भक्तिस्ताविश्वरन्तनैकक्ता, तदुपलक्षणमुखेन च ध्वनिर्माप सममभेदं लक्ष्यिष्यन्ति ज्ञास्यन्ति च । किं तल्लक्ष्योनेत्याशः द्वाह—यदि चेति । अभिधानाभिष्येयभावो द्वालङ्काराणां व्यापकः; ततश्वाभिः सर्वत्र नहीं है, इतने से (अर्थात् भक्ति के ज्यलक्षणमात्र हो जाने से) भक्तिवादी का क्या मतलव तिद्व हो गया ? और हमारा क्या विगड़ गया ? इसी को कहते हैं —वह ध्वनि के इत्यादि । किर शङ्का करते हैं कि भक्ति को प्राचीनों ने कहा है, उसके उपलक्षणरूप से समग्र भेदसहित ध्वनि को भी लक्षित करेंगे और ज्ञान करेंगे। अतः उस (ध्वनि) के लक्षण से क्या ? यह आशङ्का करके कहते हैं—और चिद्ने—। अलङ्कारों का

इस प्रकार अपनी बात के कट जाने से चिढ़ कर मीसांसक यह कह उठता है कि रत्यादि चित्तवृत्ति के शान में हम शब्द-व्यापार को ही नहीं मानते, बिक जिस प्रकार धूम के शान से अग्नि का स्मरण करते हैं उसी प्रकार विभावादि की प्रतीति के पश्चात् रसादि चित्तवृत्ति की प्रतीति होती है।

इस पर लोचनकार का कहना है कि तब तो परिचत्तवृत्तिश्चान हो रस का श्चान आप स्त्रीकार करते हैं। किन्तु यह तो दूसरे की चित्तवृत्ति का अनुमान मात्र है इसमें रसत्व केसा ? बिक का अगुमान आदि की चत्रीणा के काण जो अलीकिक चमत्काररूप रसास्त्राद है उसे स्मरण और अनुमान आदि की कोर्ट में लाकर हीन बनाना ठीक नहीं। रस की अनुभृति के लिए अनुमान और स्मरण आदि की कोर्ट केंद्र नहीं है। केवल दर्शक दृश्यमान के साथ हृद्रयसंत्राद का अनुभव करता हुआ चवंणा के बल से बिलकुल तन्मय हो जाता है और तब उसे पता नहीं रहता कि वह किसी भित्र या तरस्थ व्यक्ति के सुख से सुन्नी या दुःख से दुःखां हो रहा है। यहाँ रसभूमि की अलीकिकता है। यहाँ दुःख का भी आनन्द के रूप में ही अनुभव होता है। इस प्रकार आलक्कारिक आचार्यों ने 'चवंणा' को रस की अनुभृति के लिए अनिवार्य माना है, बल्कि यहाँ तक वे लोग कहते हैं कि चवंणा और रसेंनुभृति में कोर्ट अन्तर नहीं होता। अब यदि कोर्ट कहे कि 'चवंणा' किसी प्रभाव से उत्पन्न होती है तब यही उत्तर है कि वह अलौकिक है अतः वहाँ लीकिक प्रस्थ

लक्षणेऽन्यैः कृते चास्य पक्षसंसिद्धिरेव नः ॥ १९॥ कृतेऽपि वा पूर्वमेवान्यैर्ध्वनिलक्षणे पक्षसंसिद्धिरेव नः; यस्माद ध्वनिरस्तीति नः पक्षः । स च प्रागेव संसिद्ध इत्ययत्नसम्पन-अगर दूसरे छोगों ने ध्वनि का छच्चण कर दिया है तो हमारे पच की सिद्धि ही

होती है ॥ १९॥

पहले ही दूसरों द्वारा ध्वनि के छन्नण कर दिए जाने पर हमारे पन्न की सिद्धि ही है, क्योंकि 'ध्वनि है' यह हमारा पच है, और वह पहले से ही सिद्ध हो चुका, इस

लोचनम

थावृत्ते वैयाक्रणमीमांसकैर्निरूपिते कुत्रेदानीमलङ्कारकाराणां व्यापारः। तथा हेतुक्लात्कार्यं जायत इति तार्किकैरुक्ते किमिदानीमीश्वरप्रभृतीनां कर्तृणां ज्ञातुणां वा कृत्यमपूर्वं स्यादिति सर्वो निरारम्भः स्यात्। तदाह—लज्ञणकरण-वैयर्ध्वप्रसङ्ग इति । मा भृद्वाऽपूर्वीन्मीलनं पूर्वीन्मीलितमेवास्माभिः सम्यङ्नि-क्षितं, तथापि को दोष इत्यसिप्रायेणाह—कि चेत्यादि । प्रागेवैति । अस्मत्प्रय-अभिधानाभिधेयभाव व्यापक है, ऐसी स्थिति में वैयाकरण और मीमांसक आचार्यी द्वारा अभिधा व्यापार के निरूपण कर दिये जाने पर आलंकारिक आचार्यों का व्यापार क्या महत्त्व रखता है। उसी प्रकार हेतु के बल से कार्य होता है ऐसा तार्किकों के कह देने पर ईश्वर प्रभृति कर्ताओं और ज्ञाताओं का कार्य क्यों अपूर्व होगा ? इस प्रकार निरारम्भ होने लगेगा। उसे कहते हैं - छत्तग करना व्यर्थ होगा-। तब शङ्का करते हैं कि अपूर्व वस्तु का उन्मीलन न हो, जो पहले से उन्मीलित है उसे ही हमने सम्यक् प्रकार से निरूपण किया, तब भी क्या दोष है ? इस अभिप्राय से कहते हैं - और भी -। इत्यादि । पहले ही -। अर्थात् हमारे प्रयत्न से । इस प्रकार तीन प्रकार के अभाववाद को, और घ्वनि के भक्ति में अन्तर्भृतत्व का निराकरण

आदि प्रमार्गों का कोई उपयोग नहीं रह जाता । छोक में जो कारण और कार्य होते हैं वेही अलौकिक काच्य में विभाव और अनुभाव हो जाते हैं। चर्वणा स्थायी भाव को रस्यमान बनाती है, इसका यह अभिप्राय नहीं चर्वणा प्रमाण के व्यापार की भांति ज्ञापन अथवा हेतु के व्यापार की भांति उत्पादन रूप है, बल्कि वह अमिन्यञ्जन है। चर्वणा के माध्यम से विभावादि रस का हेतु अवस्य है कि अलौकिक है अतः उसे न तो ज्ञापक हेतु कह सकते और न तो कारक। रस जब कि स्वसंवेदनसिद्ध है तो उसकी सिद्धि के लिए किसी अतिरिक्त प्रमाणरहित कहने से कुछ भी बिगडता नहीं।

अस्तु, जब कि आप छक्षणा से रस के बोब की बात करते हैं तो यह कहना है कि जहाँ अर्थामिथान का अनुपयोगी अनुप्रास भी रस का व्यञ्जक है वहाँ तो अभिधा का भी प्रसंग नहीं फिर छक्षणा की शहा भी क्या हो सकती है ?

समीहितार्थाः संवृत्ताः स्मः । येऽपि सहृदयहृदयसंवेद्यमनाख्येयमेव ध्वनरात्मानमाश्रासिषुस्तेऽपि न परीक्ष्य वादिनः । यत उक्तया नीत्या वक्ष्यमाणया च ध्वनेः सामान्यविशेषलक्षणे प्रतिपादितेऽपि यद्यनाख्ये-प्रकार विना यत्न के हमारा अभीष्ट कार्य सिद्ध हो गया। जिन लोगों ने सहृदय जनों के हृदय द्वारा संवेद्य एवं अनिर्वचनीय ध्वनि के स्वरूप को आन्नात किया है वे भी परीचा करके कहने वाले नहीं हैं। क्योंकि कथित और वच्चमाण नीति के अनुसार ध्वनि के सामान्य एवं विशेष लच्चण के प्रतिपादित होने पर भी यदि उसका अनि-

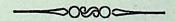
लोचनम्

ब्रादिति शेषः । एवं त्रिप्रकारमभाववादं, भक्त्यन्तर्भूततां च निराकुर्वता अलक्ष-णीयत्वमेतन्मध्ये निराकृतमेव। अत एव मूलकारिका साक्षात्तन्निराकरणार्था न श्रूयते । वृत्तिकृतु निराकृतमपि प्रमेय्रशय्यापूरणाय कण्ठेन तत्पक्षमनूद्य निरा-करोति-वेऽपीत्यादिना । उक्तया नीत्या 'यत्रार्थः शब्दो वा' इति सामान्यलक्षणं प्रतिपादितम् । वद्त्यमाणया तु नीत्या विशेषलक्षणं भविष्यति 'अर्थान्तरे सङ्क्रमितम्' इत्यादिना । तत्र प्रथमोद्द्योते ध्वनेः सामान्यलक्षणमेव कारिका-कारेण कृतम्। द्वितीयोद्द्योते कारिकाकारोऽवान्तरविभागं विशेषलक्ष्णं च विद्धद्नुवाद्मुखेन मूलविभागं द्विविधं सूचितवान्। तदाशयानुसारेण तु करते हुए उसके अलक्षणीयत्व का भी इसमें निराकरण किया ही। अत एव मूलक।रिका साक्षात् रूप से अलक्षणीयत्व के निराकरण के सम्बन्ध की नहीं श्रुत है, परन्तु वृत्तिकार स्वतः निराकृत उस पक्ष को प्रमेय के सिन्नवेश विशेष की पूर्ति के लिए कण्ठतः अनुवाद करके निराकरण करते हैं -- जिन छोगों ने-। इत्यादि द्वारा। उक्त नीति के अनुसार 'यत्रायः शब्दो वा॰' यह साभान्य लक्षण प्रतिपादित है, वक्ष्यमाण नीति के अनुसार विशेष लक्षण होगा — 'अर्थान्तरे सङ्क्रमितम् ॰ 'इत्यादि द्वारा। प्रथम 'उद्योत' में कारिकाकार ने घ्वनि का सामान्य लक्षण ही किया है। दूसरे 'उद्योत' में कारिका-कार ने अवान्तर विभाग और विशेष लक्षण को करते हुए अनुवाद द्वारा मूल का द्विविध विभाग सूचित किया है। उनके आशय के अनुसार वृत्तिकार ने इसी उद्योत में

अन्त में, आचार्य ने किसी की यह शक्का उद्माधित की है कि काय्य की वाच्य और व्यक्षय दो अर्थों का बोधक मानते हैं, इस प्रकार हम 'वाक्यभेद' करेंगे। इसके उत्तर में आचार्य अभिनव स्नुप्त का कहना है कि वाक्यार्थ कभी दो नहीं हो सकता, क्योंकि एक काल में दो वाक्यार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता। प्रकरण आदि की सहायता दूसरे वाक्य में भी लेती हो पड़ेगी, क्योंकि ऐसा न करने से कान नहीं चलेगा। और भी यदि आर प्रकरण आदि की नियासक स्वीकार नहीं करेंगे तो 'अग्निहोत्रं जुहुयात स्वर्गकामः' इस श्रुति वाक्य का अर्थ 'कुत्ते के मांस को खाना चाहिए' यह

यत्वं तत्सर्वेपामेव वस्त्नां तत्त्रसक्तम्। यदि पुनर्ध्वनेरतिश्चयोक्त्यानया काव्यान्तरातिशायि तैः स्वरूपमाख्यायते तत्तेऽपि युक्ताभिधायिन एव ॥ र्वचनीयत्व है तव तो वह (अनिर्मंचनीयत्व) समग्र वस्तुओं के सम्बन्ध में प्राप्त है। पुनः यदि वे लोग इस अतिशयोक्ति द्वारा ध्वनि का कोई दूसरे कार्बों से वद कर स्वरूप कहते हैं तो वे भी ठीक ही कहते हैं।

इति श्रीराजानकानन्दवर्धनाचार्यविरचिते ध्वन्यालोके प्रथम उद्दयोतः ॥



लोचनम्

वृत्तिकृद्त्रैवोद्द्योते मूलविभागमवोचत्—'स च द्विविधः' इति । सर्वेषामिति । लौकिकानां शास्त्रीयाणां चेत्यर्थः । श्रितिशयोक्त्येति । यथा 'तान्यक्षराणि हृद्ये किमपि स्फुरन्ति' इतिवद्तिशयोक्त्यानाख्येयतोक्ता सारह्णपतां प्रतिपाद्यितु-मिति दशितमिति शिवम् ॥ १९ ॥

किं लोचनं विनालोको भाति चिन्द्रकयापि हि । तेनाभिनवगुप्तोऽत्र लोचनोन्मीलनं व्यथात्।।

मूल का विभाग कहा है—'स च द्विविधः' ('और वह दो प्रकार का है')। समग्र वस्तुओं का—। अर्थात् लौकिक एवं शास्त्रीय वस्तुओं का। अतिशयोक्ति द्वारा—। जैसे—'तान्यक्षराणि हृदये किमिप स्फुरन्ति' ('वे अक्षर हृदय में कुछ स्फुरित हो रहे हैं) इसके समान अतिशयोक्ति द्वारा साररूपता के प्रतिपादनार्थं अनारूयेयता (अनिर्वचनीयत्व) कही गई है, यह दिखाया गया। (शिवम्)

क्या लोचन के बिना लोक (संसार) चिन्द्रका से भी उद्गासित होता है ? (ब्यङ्गच यह कि क्या 'लोचन' व्याख्या के बिना आलोक—ध्वन्यालोक—'चिन्द्रका' व्याख्या से स्फुरित होता है ?) उस कारण अभिनवगुप्त ने यहाँ 'लोचन' का उन्मीलन किया है।

किया जाय तो आपके सामने क्या प्रमाण होगा ? आपको विवश होकर प्रकरण को स्वीकार करके ही इसका अर्थ करना होगा। अतः 'वाक्यभेद' की वात दोषपूर्ण है। रसास्वाद की स्थिति में छोकिक स्थितियों की मौति पूर्वोपर-काल की चिन्ता नहीं होती, वह सर्वेश अलोकिक स्थिति है।

जैसा कि वृत्तिकारने सामान्यतः 'विविक्षितान्यपरवाच्य ध्विन' में भक्ति के अभाव का निर्देश किया है उस पर लोजनकार कहते हैं कि माना कि विविद्यतान्यपरवाच्य के संलक्ष्यक्रम रूप भेद में रूक्षणा को हम किसी प्रकार स्वांकार कर भो लें, किन्तु रसादि रूप अलक्ष्यक्रम में क्या उपाय निकालों और यदि अपना हठ छोड़ कर वादी आचार्य की वात सुने तो वह भी कहते हैं कि

यदुन्मीलनशक्त्यैव विश्वमुन्मीलति क्षणात्। स्वात्मायतनविश्रान्तां तां वन्दे प्रतिभां शिवाम्।।

इति श्रीमहामाद्देश्वराचार्यवर्याभिनवगुप्तोन्मीलिते सहृदयालोकलोचने व्वनिसङ्केते प्रथम उद्देशोतः ॥



जिसकी उन्मीलन-शक्ति से ही क्षण में विश्व उन्मीलित हो जाता है उस अपने आयतम में स्थित शिवा प्रतिभा की वन्दना करता हूँ।

महामाहेश्वराचार्यंवर्यं अभिनवगुप्त द्वारा उन्मीलित सहृदयालोकलोचन रूप व्यनिसङ्केत में प्रथम उद्योत समाप्त हुआ।

विविक्षतान्यपरवाच्य ही क्या, अविविक्षितवाच्य ध्वनि, जो छक्षणामूल है, में भी मुख्यार्थ-वाष आदि छक्षणा की सामग्री की अपेक्षा न करके ही व्यङ्गय अर्थ में विश्रान्ति होती है।

यह बात सिद्ध हुई कि 'भिक किसी प्रकार ध्वनि का लक्ष्मण नहीं हो सकती।

१. आचार्य अभिनवगुप्त ने अपने शैव-दर्शन की कल्पनाओं के अनुसार यहाँ प्रतिमा रूप शिवाख्या परा शक्ति की वन्दना की है। शैव कल्पना के अनुसार परमशैव कूटस्थ तत्त्व हैं, किन्तु उन्हें आयतन बना कर विश्वान्त रहने वाली परा शक्ति ही अपनी उन्मीलन-शिक्त से विश्व का उन्मीलन क्षण भर में कर देती है। प्रस्तुत काव्य-पश्च में इसका अर्थ यह व्यक्तित होता है कि कि की प्रतिभा या नवनवोन्मेषशालिनी प्रश्चा है, उसे प्रणाम है; जो कि वह नित्य अपने आयतन कि में विराजती है और अपनी शक्ति हारा एक अलग ही संसार का उन्मीलन करती रहती है।

यह आकरुनीय है कि आचार्य अभिनवगुद्ध ने अपनी 'लोचन' टीका के प्रत्येक 'उद्योत' के अन्त में क्रमझः परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी को नमन किया है।

द्वितीय उद्योतः

ध्वन्यालोकः

एवमविवक्षितवाच्यविवक्षितान्यपरवाच्यत्वेन घ्वनिर्द्विप्रकारः प्रका-शितः । तत्राविवक्षितवाच्यस्य प्रभेदप्रतिपादनायेदम्रुच्यते—

इस प्रकार अविविश्वतवाच्य और विविश्वतान्यपरवाच्य के रूप से ध्विन दो प्रकार से प्रकाशित है। उनमें अविविश्वतवाच्य के प्रभेद के प्रतिपादन के लिए यह कहते हैं—

लोचनस्

या स्मर्यमाणा श्रेयांसि सूते घ्वंसयते रुजः। तामभीष्टफलोदारकल्पवल्लीं स्तुवे शिवाम्॥

वृत्तिकारः सङ्गतिमुद्द्योतस्य कुर्वाण उपक्रमते—एविमत्यादि । प्रकाशित इति । मया वृत्तिकारेण सतेति भावः । न चैतन्मयोत्सूत्रमुक्तम्, अपि तु कारि-काकाराभिप्रायेणेत्याह—तत्रेति । तत्र द्विप्रकारप्रकाशने वृत्तिकारकृते यन्निमित्तं बीजभूतिमिति सम्बन्धः । यदि वा—तत्रेति पूर्वशेषः । तत्र प्रथमोद्द्योते वृत्तिकारेण प्रकाशितः अविवक्षितवाच्यस्य यः प्रभेदोऽवान्तरप्रकारस्तत्प्रतिपादनाये-दमुच्यते । तद्वान्तरभेद्प्रतिपादनद्वारेणेव चानुवादद्वारेणाविवक्षितवाच्यस्य यः प्रभेदो विवक्षितान्यपरवाच्यात्प्रभिन्नत्वं तत्प्रतिपादनायेदमुच्यते । भवति

जो शिवा (शिव की शक्ति) [लोगों द्वारा] स्मर्यमाण होकर कल्याणों को उत्पन्न करती है और आपदाओं को नष्ट करती है उस अभीष्ट फल की उदार कल्पलता को स्तवन करता हूँ।

वृत्तिकार उद्योत की सङ्गित बैठाते हुए आरम्भ करते हैं—इस प्रकार—। इत्यादि। प्रकाशित—। मान यह कि मैंने वृत्तिकार के रूप में (ध्विन के दो प्रकारों को प्रकाशित किया है)। मैंने इस सूत्र (कारिका) की सीमा के बाहर होकर नहीं कहा है, बिल्क कारिकाकार के अभिप्राय से कहा है—वहाँ—। सम्बन्ध (पूर्वापर की संगति) यह है कि वृत्तिकार द्वारा ध्विन के दो प्रकारों के प्रकाशन में जो निमित्त है या बीजभूत है (उसे कहते हैं)। अथवा—'वहाँ' यह प्रथम उद्योत में कहे हुए का शेष है। वहाँ प्रथम उद्योत में वृत्तिकार ने अविवक्षित वाच्य का जो प्रभेद (विक्षितान्यपरवाच्य से भिन्नत्व) प्रकाशित किया था उसके अवान्तर प्रकार के प्रतिपादनाथ यह कहते हैं। उसके अवान्तर भेद के प्रतिपादन के द्वारा ही और अनुवाद के कार्य विवक्षित वाच्य का जो प्रभेद अर्थात् विवक्षितान्यपरवाच्य से प्रश्चित्रत्व है, उसके प्रतिपादन के जिए यह कहते हैं। मान यह कि मूलरूप से दो भेद होना

अर्थान्तरे सङ्क्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम् । अविवक्षितवाच्यस्य ध्वनेर्वाच्यं द्विधा मतम् ॥ १॥ तथाविधाम्यां च ताम्यां व्यङ्गचस्यैव विशेषः ।

अर्थान्तर में सङ्क्रमित और अत्यन्त तिरस्कृत, इस रूप से अविवित्तवाच्य ध्वनि का वाच्य दो प्रकार का माना गया है॥ १॥

क्योंकि उन (दोनों प्रकार के वाच्यों) से व्यङ्गय का ही विशेष (उत्कर्ष) है।

लोचनम्

मूलतो द्विभेदत्वं कारिकाकारस्यापि सम्मतमेवेति भावः। सङ्क्रमितमिति णिचा व्यञ्जनाव्यापारे यः सहकारिवगस्तस्यायं प्रभाव इत्युक्तं तिरस्कृतशब्देन च । येन वाच्येनाविवक्षितेन सताऽविवक्षितावाच्यो ध्वनिव्यपदिश्यते तद्वाच्यं द्विधेति सम्बन्धः। योऽर्थं उपपद्यमानोऽपि तावतैवानुपयोगाद्धर्मान्तरसंवलन-यान्यतामिव गतो लच्यमाणोऽनुगतधर्मी सूत्रन्यायेनास्ते स रूपान्तरपरिणत उक्तः। यस्त्वनुपपद्यमान उपायतामात्रेणार्थोन्तरप्रतिपत्ति कृत्वा पलायत इव स तिरस्कृत इति । ननु व्यङ्गचात्मनो यदा ध्वनेर्भेदो निरूप्यते तदा वाच्यस्य द्विधेति भेदकथनं न सङ्गतमित्याशङ्कचाह—तथाविधाभ्यां चेति । चो यस्मा-कारिकाकार को भी सम्मत ही है। 'सङ्क्रमित' इस 'णिच्' प्रत्यय से और 'तिरस्कृत' शब्द से व्यक्तना व्यापार में जो सहकारी वर्ग है उसका प्रभाव है, यह कहा है। सम्बन्य यह है कि जिस वाच्य के अविवक्षित होने से अविवक्षितवाच्य घ्विन कहा जाता है वह वाच्य दो प्रकार का है। जो अर्थ उपपन्न होता हुआ भी, उतने ही अंश में उपयोग के न होने से धर्मान्तर के मिल जाने के कारण, दूसरा बना-जैसा मालूम पड़ता हुआ, धर्मी के अनुगत होने की स्थिति में सूत्र की भाँति, होता है, वह रूपान्तर-परिणत (अर्थान्तरसङ्क्रमित) कहा गया है । परन्तु जो कि अनुपपन्न होता हुआ, उपायमात्र होने के कारण (क्योंकि मुख्यार्थ का सम्बन्ध भी लक्षण का निमित्त है) दूसरे अर्थ की प्रतीति उत्पन्न करके जैसे पलायन कर जाता है, वह तिरस्कृत कहा जाता है। (शंका) जब कि व्यङ्गच रूप व्विन का मेद-निरुपण करते हैं, तव याच्य का 'द्विधा' यह भेदकथन सङ्गत नहीं होता है, यह आशङ्का करके कहते हैं—उन दोनों प्रकार कें—। 'च' 'और' का प्रयोग ('यस्मात्') या

१. वाच्य अर्थान्तर में सङ्कान्त नहीं होता, प्रत्युत सङ्क्रान्त कराया जाता है अर्थांत 'सङ्क्रमित' होता है, इस प्रकार यहाँ 'णिच्' प्रत्यय के प्रयोग से प्रयोजक कर्ता को अपेक्षा है, यहाँ प्रयोजक कर्ता है व्यञ्जना-ज्यापार में सङ्कारिवर्ग, अर्थात् छक्षणा और वक्ता की विवश्ना आदि । विना इनकी सहायता से वाच्य अर्थान्तर में सङ्कान्त नहीं होता । यहीं स्थिति 'तिरस्कृत' शब्द की भी हैं। प्रस्तुत अविवक्षित वाच्य ध्वनि को इसी कारण 'छक्षणामूछ ध्वनि' भी कहते हैं ।

तत्रार्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यो यथा— स्निग्धक्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्वलाका घना वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः ।

अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य, जैसे-

क्षिग्ध एवं रयामल कान्ति से आकाश को लिस कर देने वाले और वेश्वित होती हुई वक्षपङ्क्तियों वाले मेघ, फुहारों वाले वायु और मेघ के साथ मयूरों की अब्यक्त-लोचनम्

द्थें। व्यञ्जकवैचित्र्याद्धि युक्तं व्यङ्गखवैचित्र्यमिति भावः। व्यञ्जके त्वर्थे यदि

ध्वनिशब्दस्तदा न कश्चिद्दोष इति भावः।

भेदप्रतिपादकेनैवान्वर्थनाम्ना लक्षणमि सिद्धमित्यभिप्रायेणोदाहरणमे-वाह—श्रथनितरसङ्क्रमितवाच्यो यथेति । अत्र ऋोके रामशब्द इति सङ्गतिः। क्रिग्थया जलसम्बन्धसरसया श्यामलया द्रविडवनितोचितासितवर्णया कान्त्या चाकचक्येन लितमाच्छुरितं वियन्नभो यैः। वेङ्गन्त्यो विजुम्भमाणास्तथा चलन्त्यः परभागवशात्प्रहर्षवशाच बलाकाः सितपिश्चिवशेषा येषु त एवंविधा 'क्योंकि' के अर्थ में है। भाव यह कि व्यक्षक के वैचित्र्य से व्यङ्गय का वैचित्र्य वनता है। परन्तु यदि व्यक्षक के अर्थ में 'स्विन' शब्द का प्रयोग हो, तव कोई दोष नहीं।

भेद का प्रतिपादन करने वाले यथार्थ नाम से लक्षण भी सिद्ध हो गया है, इस अभिप्राय से उदाहरण को ही कहते हैं—अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य, जैसे—। इस क्लोक में 'राम' 'शब्द' है, यह सङ्गति है। िक्षाय अर्थात् जल के सम्बन्ध के कारण सरस, क्यामल अर्थात् द्रविड़ देश की िक्षयों के समान वर्ग वाली कान्ति अर्थात् चाकचिक्य या चकमक उससे लिप्त अर्थात् आच्छुरित आकाश है जिन मेघों से। वेिक्षत होती हुई अर्थात् विजृम्भमाण तथा परभाग के कारण (मेघों के क्याम वर्ण होने और अपने सित वर्ण होने के कारण) और प्रहर्ष के कारण चलती हुई वलाकार्ये

होते हैं। इसे स्पष्ट समझने के लिए प्रस्तुत में 'लक्षणा' के सम्बन्ध में कुछ और भी विदित करना आवश्यक है।

कहा जा चुका है कि 'लक्षणा' शब्द की वह आरोपित शक्ति है जिससे मुख्यार्थ के वाध, मुख्यार्थ के योग एवं रूढ़ि अथवा प्रयोजन में अन्यतर के होने पर अन्य अर्थ लक्षित होता है। यह लक्षणा दो प्रकार की है—उपादान लक्षणा और लक्षणलक्षणा। जहाँ अपनी सिद्धि के लिए दूसरे का आक्षेप होता है वह उपादान लक्षणा और जहाँ दूसरे अर्थ की सिद्धि के लिए अपने अर्थ का त्याग (समर्पण) होता है वह लक्षणलक्षणा है। 'कुन्ताः प्रविश्वन्ति' यह उपादानलक्षणा है, क्योंकि कुन्त अपने प्रवेश की सिद्धि के लिय कुन्ति कुन्त अपने प्रवेश की सिद्धि के लिय कुन्ति आधाराध्यमाव की सिद्धि के लिए यहाँ 'गङ्गा' शब्द अपने अर्थ का त्याग कर देता है। इस प्रकार पहले में कुन्तवारियों के आक्षेप से एवं दूसरे में 'गङ्गा' के प्रवाह रूप अर्थ के त्याग से अन्वयानुपपत्ति दूर होती है। ये दोनों लक्षणा के मेद कमशः

कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे वेदेही तु कथं भविष्यति हृहा हा देवि धीरा भव ॥

मञ्जर केका, ये सब जितना चाहें खूब हों, मैं तो राम हूँ, सब कुछ सहन करता हूँ, परन्तु विदेहपुत्री सीता कैसे होगी ? हा हा, देवि, तुम धेर्य धारण करो ।

लोचनम्

मेघाः । एवं नभस्तावद् दुरालोकं वर्तते । दिशोऽपि दुःसहाः । यतः सूदमजल-कणोद्गारिणो वाता इति मन्दमन्दत्वमेषामनियतदिगागमनं च बहुवचनेन सृचितम्। तर्हि गुहासु कचित्प्रविश्यास्यतामित्यत आह—पयोदानां ये सुहृदः स्तेषु च सत्सु ये शोभनहृद्या मयूरास्तेषामानन्देन हर्षेण कलाः षड्जसंबा-दिन्यो मधुराः केकाः शब्दविशेषाः तास्त्र सर्वं पयोदवृत्तान्तं दुस्सहं स्मारयन्तिः स्वयं च दुस्सहा इति भावः । एवमुद्दीपनविभावोद्घोधितविप्रलम्भः परस्पराधि-ष्टानत्वाद्रतेः विभावानां साधारणतामिमन्यमानः इत एव प्रशृति प्रियतमां हृद्ये निधायैव स्वात्मवृत्तान्तं तावदाह—कामं सन्त्वित । दृढमिति सातिश् यम् । कठोरहृदय इति । रामशब्दार्थध्वनिविशेषावकाशदानाय कठोरहृदयपदम्। अर्थान् उज्ज्वल पांखों वाली बकपंक्तियां जिनमें हैं वे, इस प्रकार के मेघ। इस प्रकार आकाश बिलकुल दिखाई नहीं देता है और दिशाएं भी दु:सह हो रही हैं। क्योंकि जब जल में फुहारों को फैलाने वाले वायु हैं, यह कह कर उनका मन्द-मन्द और अनियत दिशा से आगमन को 'बहुवचन' द्वारा सुचित किया। ऐसी स्थिति में कहीं कन्दराओं में घुस कर बैठना चाहिए, इस कारण से कहते हैं — मेघों के जो मित्र हैं, उनके विद्यमान होने पर जो शोभनहृदय वाले मयूर हैं उनके आनन्द या हर्ष से षड्य-कार्ये स्वर से मेल खाती हुई अव्यक्त-मधुर के मांस (शब्द-विशेष), वे मेघ के समस्त दु:सह वृत्तान्त को याद दिलाती हैं और स्वयं दु:सह हैं, यह भाव है। इस प्रकार उद्दीपन विभाव के कारण विप्रलम्भ के उद्दोधित हो जाने पर एक-दूसरे नायक-ना में अधिष्ठित रित के होने से विभावों के साधारण्य को मानते हुए (नायक) यहाँ है ही लेकर प्रियतमा को हृदय में रखकर ही अपना वृतान्त कहता है—जो चाहे हो—। दृढ अर्थात् बहुत कुछ । कठोर हृद्य वाला— । 'राम' शब्द के अर्थ को ध्वनि-विशेष के अवकाश देने के लिए 'कठोर हृदय' पद को रखा है । जैसे 'तद्गेहम्' यह कहकर मी

अर्थान्तरसङ्गित वाच्य और अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य ध्वनियों के मूल में होते हैं। पहले में आहें अर्थात् अर्थान्तर में सङ्क्षमण और दूसरे में अपना त्याग (तिरस्कार) होता है। इस प्रकार 'सङ्क्षमित' इस णिजन्त प्रयोग से व्यञ्जना की सहकारिणों लक्षणा के प्रभाव को प्रन्थकार के सूचित किया है, यह लोचनकार के कथन का तापर्य है। आगे दोनों ध्वनियों के उदाहरणों है यह विषय और भी स्पष्ट हो जायगा। स्वयं लोचनकार ने दोनों ध्वनियों के स्वरूप को कृष्टी कर दिया है।

इत्यत्र रामशब्दः । अनेन हि व्यङ्गश्रधर्मान्तरपरिणतः सञ्ज्ञी प्रत्याय्यते, न संज्ञिमात्रम् ।

यह 'राम' शब्द । इस ('राम' शब्द) से व्यक्षित होते हुए दूसरे धर्म से परिणत व्यक्ति प्रतीत कराया जाता है, केवल व्यक्ति नहीं ।

लोचनम्

यथा 'तद्रेहम्' इत्युक्तेऽपि 'नतिमित्ति' इति । अन्यथा रामपदं दशरथकुलोद्भवत्वकौसल्यास्नेहपात्रत्वबाल्यचिरतजानकीलाभादिधर्मान्तरपिरणतम्यं कथं न
ध्वनेदिति । श्रस्मीति । स एवाहं भवामीत्यर्थः । भविष्यतीति क्रियासामान्यम् ।
तेन किं करिष्यतीत्यर्थः । अथ च भवनमेवास्या असम्भाव्यमिति । उक्तप्रकारेण हृदयनिहितां प्रियां स्मरणशव्दविकल्पपरम्परया प्रत्यक्षीभावितां हृदयस्फोटनोन्मुखीं ससंभ्रममाह—हृहा हेति । देवीति । युक्तं तब धैर्यमित्यर्थः ।
श्रमेनेति । रामशब्देनानुपयुज्यमानार्थेनेति भावः । व्यङ्गयं धर्मान्तरं प्रयोजनकृपं राज्यनिर्वासनाद्यसङ्ख्येयम् । तज्ञासङ्ख्यत्वादिभधाव्यापारेणाशक्यसमपणम् । क्रमेणार्थमाणमप्येकधीविषयभावाभावान्त्र चित्रचर्वणापदिमिति न
चारुत्वातिशयकृत् । प्रतीयमानं स्नु तद्सङ्ख्यमनुद्भिन्नविशेषत्वेनेव किं कि सप
न सहत इति चित्रपानकरसापूपगुडमोदकस्थानीयविचित्रचर्वणापदं भवति
यथोक्तम्-'उन्त्यन्तरेणाशक्यं यत्' इति । एष एव सर्वत्र प्रयोजनस्य प्रतीय-

'नतमित्ति' कहा है। अन्यथा 'राम' पद दशरथ के कूल में उत्पन्न होना, कौसल्या के स्नेह का पात्र होना, बाल्यचरित और जानकीलाम आदि धर्मान्तर में परिणत अर्थ को कैसे नहीं ध्वनित करता ! 'हैं' अर्थात् वही मैं हूँ । 'होगी' यह किया सामान्य है, इससे अर्थ है कि फिर क्या करेगी ? और ऐसी स्थिति में उसका होना (अस्तित्व) ही असम्भव हो जायगा । कहे प्रकार के अनुसार (मेघ आदि उद्दीपकों का प्रियतमा के पास भी होने का) स्मरण, ('वैदेही' यह) शब्द और 'कैसे होगी' यह विकल्प या वितकं, इन सबों की परम्परा से प्रत्यक्ष हुई एवं हृदय के स्फोटनार्य उन्मुख प्रियतमा से सम्भ्रम-सहित कहते हैं - हा हा देवि -। अर्थात् तुम्हें घैर्य धारण करना ठीक है। इससे- । भाव यह कि जिसका अर्थ उपयोग में नहीं आ रहा है ऐसे 'राम' शब्द से। व्यङ्गय धर्मान्तर अर्थात् राज्य से निर्वासन आदि असङ्ख्रयेय प्रयोजन रूप धर्मान्तर और वह असंख्य होने के कारण अभिधान्यापार से समर्पित (अवगत) होना सम्भव नहीं। क्रम से अर्प्यमाण (अवगत) होने पर भी, एक बुद्धि की विषयता के अभाव में चित्र (विलक्षण) चर्वणां के स्थान (विषय) को नहीं पहुंच सकता, ऐसी स्थिति में अतिशय चारुत्व को नहीं करता है। परन्तु वह असङ्ख्य प्रतीयमान अनुझिन्न होने की विशेषता के कारण ही क्या-क्या रूप नहीं सहन (भारण) करता ? इस प्रकार वह चित्रपानकरस, अपूप, गुड़ और मोदक की माँति विचित्र चर्वणा का पद (अधिष्ठान)

यथा च ममैव विषमबाणलीलायाम्—
ताला जाअन्ति गुणा जाला दे सहिअएहिं घेप्पन्ति ।
रहिकरणानुग्गहिआहँ होन्ति कमलाहँ कमलाहँ ॥
(तदा जायन्ते गुणा यदा ते सहदयैग्रेह्यन्ते ।
रिविकरणानुग्रहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि ॥ इति च्छाया)
हत्यत्र द्वितीयः कमलज्ञाब्दः ।

और जैसे, मेरा ही (उदाहरण श्लोक) 'विषमवाणलीला' में— तब गुण होते हैं जब सहदय लोग प्रहण करते हैं, सूर्य की किरणों से अनुगृहीत होकर ही कमल कमल होते हैं। यहाँ दूसरा 'कमल' शब्द।

लोचनम्

मानत्वेनोत्कर्षद्देतुर्मन्तव्यः । मात्रश्रह्णेन संज्ञी नात्र तिरस्कृत इत्याह । यथा चेत्यादि । ताला तदा । जाला यदा । घेप्पन्ति गृह्यन्ते । अर्थान्तरन्यासमाह—रिविकरणेति । कमलशन्द इति । लद्मीपात्रत्वादिधर्मान्तरशतिचत्रतापरिणतं संज्ञिनमाद्देत्यर्थः । तेन शुद्धेऽर्थे मुख्ये बाधानिमित्तं तत्रार्थे तद्धर्मसमवायः । तेन निमित्तेन रामशब्दो धर्मान्तरपरिणतमर्थं लक्ष्यति । व्यङ्गश्चान्यसाधारणान्यशब्दवाज्यानि धर्मान्तराणि । एवं कमलशब्दः । गुणशब्दस्तु संज्ञिमात्रमान्वरावि । तत्र यद्धलात्केश्चिदारोपितं तद्प्रातीतिकम् । अनुपयोगबाधितो ह्यर्थोऽस्य ध्वनेविंषयो लक्षणा मूलं ह्यस्य ।

होता है। जैसा कि कहा है—दूसरी उक्ति से अशक्य जिस चारुख को०—। प्रयोजन के प्रतीयमान होने के कारण उत्कर्ष का हेतु इसे (अर्थात् विचित्र चर्यणा विषयत्व) ही मानना चाहिए। 'मात्र' ग्रहण से कहते हैं कि संज्ञी (राम) यहाँ तिरस्कृत नहीं है। और जैसे—। ताला तब। जाला जब। घेप्पन्ति ग्रहण किए जाते हैं (सामाय के समर्थन रूप) 'अर्थान्तरन्यास' को कहते हैं—सूर्य की किरणों से—। 'कमल' अब्द—। अर्थात् लक्ष्मी या शोभा का पात्रत्व—आश्रय होना आदि धर्मान्तरों की सेकड़ों विचित्रताओं में परिणत संज्ञावान् (कमल) को कहता है। इस लिए शुद्ध मुख्य अर्थ में बाधा का कारण जस अर्थ में (अर्थात् 'राम' पद के मुख्यार्थ के धर्मी राम में) जन धर्मों का समवाय (सम्बन्ध) है। जस निमित्त से 'राम' शब्द धर्मान्तर में परिणत अर्थ को लक्षित करता है। असाधारण एवं अशब्दवाच्य धर्मान्तर (निवेद, क्लानि आदि)—व्यक्तम हैं। इसी प्रकार 'कमल' शब्द है। (दूसरे क्लोक में) 'गुण' शब्द केवल प्र'ज्ञी को अभिहित करता है। उक्त जदाहरणों में जो बल-पूर्वक कुछ

यत्तु हृदयद्र्पण उक्तम्—'हहा हेति संरम्भार्थोऽयं चमत्कारः' हित । तत्रापि संरम्भः आवेगो विप्रलम्भव्यभिचारीति रसध्वनिस्तावदुपगतः । न च राम-शब्दाभिव्यक्तार्थसाहायकेन विना संरम्भोक्षासोऽपि । अहं सहे तस्याः किं वर्तत इत्येवमात्मा हि संरम्भः । कमलपदे च कः संरम्भ इत्यास्तां तावत् । अनुपयोगात्मिका च मुख्यार्थवाधात्रास्तीति लक्षणामूलत्वाद्विवक्षितवाच्यभेद्-लोगों ने आरोप करके कहा है', वह प्रतीतिसिद्ध नहीं । क्योंकि अनुपयोग रूप बाधा के कारण अर्थ रस घ्वनि का विषय होता है, उसका मूल लक्षणा है ।

जो कि 'हृदयदर्पण' में कहा है—'हृहा हा' यह 'संरम्भ' के अये में यह चमत्कार व्यक्त किया है।' वहां भी संरम्भ या आवेग विप्रलम्भ का व्यभिचारी है इस प्रकार 'रसम्बनि' स्वीकार किया है। 'राम' शब्द से अभिव्यक्त अथों की सहायता के बिना संरम्भ का उल्लास भी नहीं होगा। 'मैं तो सह लेता हूँ' परन्तु उसका क्या होगा? इस प्रकार का संरम्भ है। 'कमल' पद में कौन 'संरम्भ' है? अतः इसे रहने दीजिए! अनुपयोगरूप मुख्यायं बाधा यहां है, इस लिए लक्षणामूल होने के कारण इसका अविवक्षितवाच्य ध्विन का भेद होना उपपन्न ही है क्योंकि शुद्ध (मुख्य अयं) की

१. जैसा कि प्रस्तुत उदाहरणों में 'राम' शब्द और 'कमल' शब्द अनुपयुक्त होने के कारण वाधितार्थ होकर लक्षण के द्वारा धर्मान्तर में परिणत अर्थ को लक्षित करते हैं, तो इसका अर्थ यह नहीं कि व्यक्षित होते होते सभी धर्मान्तरों को लक्ष्यण के द्वारा ही प्रतीत किया जाय। कुछ लोगों ने बलात लक्षण द्वारा हो प्रतीत करने की कोशिश की थी। किन्तु यह प्रकार सहृदय जनों की प्रतीति के विश्व है। कारण यह है कि लक्षणा से एक ही धर्म से अन्वित को प्रतीति हो सकती है, क्योंकि लक्षणा की इसो अंश में सार्थकता है कि वह शब्द के 'अनुपयोग' को हटा दे और उपयुक्त अर्थ को प्रस्तुत कर दे। किन्तु लक्षणा द्वारा उपयुक्त अर्थ के प्रतीत होने के पश्चात मी जब अनेक धर्मान्तर प्रतीत होने लगते हैं तब उन्हें भी विरत-व्यापार लक्षणा का विषय किसी प्रकार नहीं माना जा सकता। अतः यहाँ अनेक धर्मान्तरों को प्रस्तुत अविविद्यतवाच्यव्वित का विषय मानतें हैं, जिसका मूल लक्षणा है। इस प्रकार लक्षणा यहाँ सहकारिणी शक्ति है।

२. 'इहा हा' इस चमत्कार के प्रयोग से संरम्भ या आवेग व्यक्त होता है। यहाँ श्लोक का विशेष छक्ष्य है। यह बात 'इद्रयदर्गण' में कही गई है। इसका यह अभिप्राय है कि जो यहाँ 'राम' शब्द की व्यक्षकता की चर्चा है वह अनावस्थक है। इस पर लोचनकार का कहना है कि जो यहाँ 'संरम्भ' या आवेग का आप अनुमव करते हैं, वह भी तो विप्रलम्म-शक्षार का व्यभिचारी है! अतः आप ने स्वयं 'रसध्वनि' को स्वीकार कर लिया है। और साथ ही, यह संरम्भ भी 'राम' शब्द से अभिव्यक्त अर्थों की सहायता के बिना उल्लित नहीं होगा। क्योंकि राम में आवेग तभी आ सक्ता है जब वह अपनी समर्थता को और सीता की असमर्थता को अनुभव करेंगे। अतः 'राम' पद की व्यक्षना यह 'संरम्भ' के उल्लास की सहायिका है। और, माना कि यह यहाँ 'संरम्भ' है किन्तु दूसरे उदाहरण के 'कमल्' पद में कौन सा 'संरम्भ' है ? अन्ततः यह मानना ही पढ़ेगा। कि इन उदाहरणों में अनुपयोगात्मक मुख्यार्थ बाधा है, अतः लक्षणामूलक अविविश्वतवाच्य ध्वित का यह अर्थन्तरसल्क्रमितवाच्य रूप एक भेद है। यहाँ 'राम' और 'कमल्' शब्द के केवल शुद्ध या बाच्य अर्थ की विवक्षा ही नहीं।

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यो यथादिकवेर्वाल्मीकेः— रविसंक्रान्तसौभाग्यस्तुषाराष्ट्रतमण्डलः । निःश्वासान्ध इवाद्श्रीश्चन्द्रमा न प्रकाशते ॥ इति ।

अत्यन्तितरस्कृतवाच्यं, जैसे आदिकवि वास्मीिक का— सूर्यं में जिसका सौभाग्य संक्रान्त हो गया है, एवं तुषार से जिसका मण्डल हँक गया है, ऐसा चन्द्रमा निःश्वास से अन्ध आइने की भांति प्रकाशवान् नहीं है।

लोचनम्

तास्योपपन्नेव, गुद्धार्थस्याविवक्षणात् । न च तिरस्कृतत्वं धर्मिरूपेण, तस्यापि तावत्यनुगमात् । अत एव च परिणतवाचोयुक्त्या व्यवहृतम् आदिकवैरिति । ध्वनेर्वक्त्यप्रसिद्धतामाह त्वीति । हेमन्तवर्णने पञ्चवट्यां रामस्योक्तिरियम् । अन्ध इति चोपहृतहृष्टिः । जात्यन्धस्यापि गर्भे दृष्टचुपघातात् । अन्धोऽयं पुरोऽपि न पश्यतीत्यत्र तिरस्कारोऽन्धार्थस्य न त्वत्यन्तम् । इह त्वाद्शंस्यान्ध-त्वमारोप्यमाणमपि न सद्धामिति । अन्धशब्दोऽत्र पदार्थस्फुटीकरणाशक्तवं नष्टदृष्टिगतं निमित्तीकृत्याद्शं लक्षणया प्रतिपाद्यति । असाधारणविच्छायत्वानुपयोगित्वादिधमंजातमसंख्यं प्रयोजनं व्यनक्ति । भट्टनायकेन तु यदुक्तम्

विवक्षा यहाँ नहीं है। (अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य ध्विन में) धर्मी (व्यक्ति) रूप से तिरस्कार नहीं है, क्योंकि उस धर्मी (व्यक्ति) का भी अनुगम (ज्ञान) होता है।

इसीलिए 'परिण्त' इस वाचोयुक्ति से व्यवहार किया है।

आदिकवि—। 'ध्विन' की लक्ष्य में प्रसिद्धि को कहते हैं—सूर्यं—। हेमन्तवर्णन के प्रसङ्ग में पञ्चवटी में राम की यह उक्ति है। 'अन्ध' अर्थात् जिसकी दृष्टि नष्ट हो गई हो। क्योंकि जो जात्यन्थ होता है, उसकी भी दृष्टि का गर्भ में उपघात (नाश) हो जाता है। 'यह अन्धा आगे भी नहीं देखता है' इस कथन में 'अन्ध' शब्द के अर्थ का तिरस्कार है, किन्तु अत्यन्त रूप से (तिरस्कार) नहीं है। किन्तु यहाँ आइने का अन्धत्व आरोप्यमाण होकर भी सह्य नहीं। यहाँ 'अन्ध' शब्द नष्टदृष्टि पुरुष में रहने वाले किसी पदार्थं के स्फुटीकरण में अशक्यत्वरूप धर्म को निमित्त करके, आदर्श की लक्षणा से प्रतिपादन करता है; इस प्रकार असाधारण छायाहीनत्व और अनुपयोगित्व आदि असङ्ख्य धर्म-समूह रूप प्रयोजन को (वह) व्यक्त करता है। परन्तु मट्टनायक ने जो कहा है—'इव' शब्द के योग के कारण गीणता (गीणी

१. 'अस्यन्तितरस्कृतवाच्य' का यह अर्थ नहीं है कि धर्मी का तिरस्कार होता है, बिस्क छह्य और व्यक्तय अर्थों के ज्ञान में धर्मी का भी ज्ञान अनुप्रविष्ट होता है, अतः 'तिरस्कार' धर्म का ही असीट है, न कि धर्मी का। इसी छिए 'परिणतः' शब्द का प्रयोग आचार्य ने किया है, अर्थाद धर्मी स्वयं स्थित रहता हुआ अनेक व्यक्तय धर्मान्तरों से परिणत रूप में प्रतीत होता है। २. अन्या वह होता है जिसकी दोनों आँखें फूट गई हों और जो जन्मान्य होता है उसकी

अत्रान्धशब्दः ।

गअणं च मत्तमेहं घाराछिलअञ्जुणाइँ अ वणाइँ । णिरहङ्कारमिअङ्का हरन्ति नीलाओ वि णिसाओ ॥ अत्र मत्तनिरहङ्कारशब्दौ ॥ १॥

यहाँ 'अन्ध' शब्द ।

मत्त मेघों से भरा आकाश भी, धारावृष्टि से किन्पत अर्जुन वृत्तों वाले वन भी और निरहङ्कार चन्द्रवाली काली रातें भी मन को हर लेती हैं॥ यहाँ 'मत्त' और 'निरहष्टार' शब्द ।

लोचनम्

'इवशव्दयोगाद् गौणताप्यत्र न काचित्' इति, तच्छ्लोकार्थमपरामृश्य । आद्र-शंचन्द्रमसोर्हि सादृश्यमिवशब्दोः द्योतयति । निःश्वासान्ध इति चाद्रशंविशेष-णम् । इवशब्दस्यान्धार्थेन योजने आदृश्ध्यन्द्रमा इत्युदाहरणं मवेत् । योजनं चैतदिवशब्दस्य क्षिष्टम् । न च निःश्वासेनान्ध इवाद्रशः स इव चन्द्र इति कल्पना युक्ता । जैमिनीयसूत्रे ह्येवं योज्यते न काव्येऽपीत्यलम् । गन्न्यण्मिति ।

लक्षणा) भी यहाँ नहीं सम्भव है', वह श्लोकार्थ को विचार करके नहीं (कहा है)। आदर्श (आइना) और चन्द्रमा इन दोनों का सादृश्य 'इन' शब्द द्योतित करता है। और 'नि:श्वासान्ध' यह आदर्श (आइना) का विशेषण है। 'इन' शब्द को 'अन्ध' अर्थ के साथ जोड़ने में 'आदर्श रूप चन्द्रमा' यह उदाहरण होगा। लेकिन 'इन' शब्द का यह योजना क्षिष्ट है। 'नि:श्वास से अन्ध के समान आदर्श और उसके समान चन्द्रमा' यह कल्पना भी ठीक नहीं। 'जैमिनीयसूत्र' में इस प्रकार योजना होती है, न कि

आँखें गर्भ में ही फूट गई होती हैं। किन्तु आदर्श का अन्धत्व कदापि सम्मव नहीं, यदि आदर्श पर अन्धत्व का आरोप मी किया जाय तब भी सहा नहीं। अतः इस अर्थ का तिरस्कार कर देते हैं और जिसके पास आँखें नहीं होती हैं वह किसी भी पदार्थ को नहीं स्पष्ट कर सकता इस पदार्थ-स्फुटीकरणाशक्यत्व रूप अर्थ को निमित्त करके वही 'अन्ध' शब्द आदर्श को लक्षणा से बोधन करता है। इस प्रकार यहाँ छायाहीनत्व, अनुपयोगित्व आदि अनेक धर्मसमूह प्रयोजन के रूप में प्रतीयमान हैं। यहाँ 'अन्ध' शब्द के अर्थ के तिरस्कृत हो जाने के कारण प्रस्तुत ध्वनि को 'अत्यन्तितरस्कृतवाच्य' कहा है।

भट्टनायक ने 'अन्य' अर्थ के से 'इव' शब्द को जोड़ कर यहाँ गौणी लक्षण का मी निषेष किया है। क्योंकि आदर्श अन्या के समान हो हो सकता है, ऐसी स्थिति में मुख्यार्थ-बान न होने के कारण लक्षण का प्रसंग नहीं होगा। किन्तु उन्होंने श्लोक के अर्थ का विचार नहीं किया है। यहाँ 'निःश्वासान्य' शब्द आदर्श का विशेषण है, ऐसी स्थिति में 'इव' का योग उसके साथ नहीं होगा, यदि करते हैं तो यह योजना क्षिष्ठ एवं अनुपयुक्त है। ऐसी कस्पना तो मट्टनायक अपने भीमांसा शाख' में ही करें तो अच्छा है, काच्य में इसे अच्छा नहीं समझा जाता। अतः यहाँ

गगनं च मत्तमेघं धारालुलितार्जुनानि च वनानि। निरहङ्कारसृगाङ्का हरन्ति नीला अपि निशाः॥

इति च्छाया। चशब्दोऽपिशब्दार्थे। गगनं मत्तमेघमपि न केवलं तार-कितम्। धारालुलितार्जुनवृक्षाण्यपि वनानि न केवलं मलयमारुतान्दोलितसह-काराणि। निरहङ्कारमृगाङ्का नीला अपि निशा न केवलं सितकरकरधवलिताः। इरन्ति उत्सुकयन्तीत्यर्थः। मत्तराब्देन सर्वथैवेहासम्भवत्स्वार्थेन बाधितमद्यो-पयोगक्षीबात्मकमुख्यार्थेन साहश्यान्मेघाल्ँ तक्ष्यताऽसमञ्जसकारित्वदुर्निवारत्वा-दिधमसहस्रं ध्वन्यते। निरहङ्कारशब्देनापि चन्द्रं लक्षयता तत्पारतन्त्रयविच्छा-यत्योज्जिगमिषारूपजिगीषात्यागप्रभृतिः॥ १॥

अविविश्वतवाच्यस्य प्रभिन्नत्विमिति यदुक्तं तत्कुतः ? न हि स्वरूपादेव भेदो भवतित्याशङ्कर्थ विविश्वतवाच्यादेवास्य भेदो भवति, विवश्वा तद्भावयो-काव्य में भी—। अलम्। आकाश—। 'और' (च) शब्द 'भी' (अपि) शब्द के अर्थ में है। मतवाले मेघों वाला भी आकाश, न केवल तारों भरा। धारावृष्टि से कम्पित अर्जुन वृक्षों वाले वन, न केवल मलयमास्त से कम्पित सहकार वृक्षों वाले। अहङ्कार-हीन चन्द्रवाली काली भी रातें, न केवल चन्द्र की किरणों से धवलित। हर लेती हैं अर्थात् उत्सुक करती हैं। यहाँ 'मत्त' शब्द, जिसका अर्थ सर्वथा ही सम्भव नहीं हो रहा है और जिसका मुख्य अर्थ मद्य (मिदरा) के उपयोग से क्षीव (पागल) क्ष्म होने के कारण वाधित है, साहस्य सम्बन्ध से मेघों को लक्षित कर रहा है, जिससे असमञ्जसकारित्व दुनिवारत्व आदि हजारों धर्म ध्वनित होते हैं। चन्द्र को लक्षित करता हुआ 'निरहङ्कार' शब्द भी उसमें पारतन्त्र्य, छायाहीनत्व, उदय लेने की इच्छा रूप जिगमिया का त्याग प्रभृति को ध्वनित करता है॥ १॥

जो कि (आरम्भ के वृत्तिग्रत्थ में) 'अविवक्षितवाच्य का प्रभेद' यह कहा है वह कैसे ? क्योंकि स्वरूप से ही (स्वयं अपने से ही अपना) भेद नहीं होता, ऐसी आशक्का करके इस अभिप्राय से, कि विवक्षितवाच्य से ही इस (अविवक्षितवाच्य) का भेद है, क्योंकि विवक्षा के भाव और अभाव दोनों का विरोध है, कहते हैं—

कक्षणा सर्वथा उपपन्न है। तात्पर्य यह कि 'इव' शब्द 'चन्द्रमा' के साथ अन्वित होगा। यहाँ चन्द्रमा आदर्श के समान है, न कि अन्थ के समान आदर्श है। इस प्रकार 'अन्ध' शब्द अपने बाद्यार्थ के बाधित होने पर छक्षणा से आदर्श का बोधन करता है और प्रयोजन रूप छायाहीनत्व आदि अनेक धर्म प्रतीयमान होते हैं।

१. 'मत्त' और 'अहङ्कार' के मुख्य अर्थ प्रस्तुत में अनुपपन्न हैं, क्योंकि मेघ तो जड़ है मत्त कैसे होगा और चन्द्रमा भी अहङ्कार कैसे करेगा ? इस प्रकार ये शब्द सादृश्य से लक्षणा द्वारा कमन्नः मेघ और चन्द्र को लक्षित करते हैं और तब उनसे अनेक निर्दिष्ट धर्म प्रतीयमान होते हैं। वहाँ भी मुख्यार्थ का तिरस्कार है।

असंलक्ष्यक्रमोद्द्योतः क्रमेण चोतितः परः। विवक्षिताभिधेयस्य ध्वनेरात्मा द्विधा मतः॥ २॥ मुख्यतया प्रकाशमानो व्यङ्गचोऽथों ध्वनेरात्मा। स च वाच्यार्था-पेक्षया कश्चिदलक्ष्यक्रमतया प्रकाशते, कश्चित्क्रमेणेति द्विधा मतः॥२॥ तत्र

> रसभावतदाश्रासतत्प्रज्ञान्त्यादिरक्रमः । ध्वनेरात्माङ्गिभावेन भासमानो व्यवस्थितः॥ ३॥

जिसका अभिधेय विविचित है, ऐसा ध्विन दो प्रकार का होता है, एक वह जिसके व्यङ्गय का क्रम संलचित नहीं होता है, दूसरी वह जिसके व्यङ्गय का क्रम संलचित होता है।। २॥

मुख्य रूप से प्रकाशमान व्यङ्गय अर्थ ध्विन का आत्मा है। वह कोई वाच्य अर्थ की अपेचा अलच्यक्रम रूप से प्रकाशित होता है और कोई क्रम से, इस प्रकार हो प्रकार भी माना गया है। वहाँ—

अङ्गी रूप से भासमान ध्वनि का आत्मा (स्वरूप) रस, भाव, रसामास, भावा-भास, भावप्रशम, भावशान्ति, आदि अक्रम (असंख्यक्रम) रूप से व्यवस्थित है।

लोचनम्

विरोधादित्यिभप्रायेणाह—असंलद्धित । सम्यङ् न लक्ष्यितुं शक्यः क्रमो यस्य तादृश उद्योत उद्योतनव्यापारोऽस्येति बहुव्रीहिः । ध्वनिशब्दसांनिध्याद्विविष्ठताभिधेयत्वेनान्यपरत्वमत्राक्षितिमिति स्वकण्ठेन नोक्तम् । ध्वनेरिति । व्यङ्गयस्य स्योत्यर्थः । आत्मेति । पूर्वऋोकेन व्यङ्गयस्य वाच्यमुखेन भेद् उक्तः । इदानीं तु योतनव्यापारमुखेन योत्यस्य स्वात्मितिष्ठ एवेत्यर्थः । व्यङ्गयस्य ध्वनेर्योतिने स्वात्मिनि कः क्रम इत्याशङ्कर्थाह—वाच्यार्थिक्वयेति । वाच्योऽर्थो विमावादिः ॥ तत्रेति । तयोर्मध्यादित्यर्थः । यो रसादिर्थः स एवाक्रमो ध्वनेरात्मा त

असंख्य— । सम्यक् प्रकार से लक्षित न किया जा सके क्रम जिसका उस प्रकार का उद्योत अर्थात् उद्योतनव्यापार वाला, यह 'बहुन्नीहि' समास है। 'ध्वनि' शब्द के सान्निध्य से, अभिध्य के विवक्षित होने के कारण 'अन्यपरत्व' आक्षेपतः यहाँ आ जाता है, अतः उसे कण्ठतः नहीं कहा है। ध्वनि का— । अर्थात् व्यङ्गयं का । आत्मा— । पहले श्लोक से व्यङ्गयं का वाच्य के प्रकार से भेद कहा है। किन्तु अब द्योतन व्यापार के प्रकार से द्योत्य अर्थात् व्यङ्गयं का स्वात्मनिष्ठ भेद ही कहते हैं, यह अर्थ है। व्यङ्गयं ध्वनि के द्योतन में, स्वयं में कौन—सा क्रम है ? यह आश्रद्धां करके कहते हैं,—वाच्य अर्थ की अपेक्षा से। वाच्य अर्थ विभाव आदि।

वहाँ —। अर्थांत् उन दोनों में से। जो रसादिरूप अर्थ है वही अश्रम् होकर

त्वक्रम एव सः । क्रमत्वमि हि तस्य कदाचिद्भवति । तदा चार्थशक्त्युद्भवानुस्वानुरूपभेद्तेति वन्यते । आत्मशब्दः स्वभाववचनः प्रकारमाह् । तेन रसादियोऽर्थः स ध्वनेरक्रमो नाम भेदः । असंलद्ध्यक्रम इति यावत् । ननु कि सर्वदैव रसादिर्थो ध्वनेः प्रकारः ? नेत्याहः किं तु यदाङ्गित्वेन प्रधानत्वेनावभासमानः । एतच्च सामान्यलक्ष्यो 'गुणीकृतस्वार्थावि त्यत्र यद्यपि निह्निपतम्, तथापि रसवदाद्यलङ्कारप्रकाशनावकाशदानायानूदितम् । स च रसादिर्ध्वनिव्यवस्थित एवः न हि तच्छून्यं काव्यं किश्चिद्दित । यद्यपि च रसेनैव सर्वं जीवित काव्यम् , तथापि तस्य रसस्यक्षयनचमत्कारात्मनोऽपि कुतिश्चदंशाद्रयोजकीभृताद्धिकोऽसौ चमत्कारो भवित । तत्र यदा कश्चिद्दिक्तावस्थां प्रतिपन्नो व्यभिचारी चमत्कारातिश्यप्रयोजको भवित, तदा भावध्वनिः । यथान

तिष्ठेत्कोपवशास्त्रभाविषित्ता दीर्घं न सा कुप्यति स्वर्गायोत्पतिता भवेन्मिय पुनर्भावार्द्रमस्या मनः। तां हर्जुं विबुधद्विषोऽपि न च मे शक्ताः पुरोवर्तिनीं सा चात्यन्तुम्मोचरं नयनयोर्थातेति कोऽयं विधिः।।

अत्र हि विप्रलम्भरससद्भावेऽपीयति वितर्कोख्यव्यभिचारिचमत्क्रियात्रयुक्त आस्वादातिश्यः। व्यभिचारिण उद्यस्थित्यपायत्रिधर्मकाः। यदाह—'विविध-ध्वित का आत्मा है, न कि वह अक्रम ही है, क्योंकि उसका कभी कमत्व भी होता है। तब अर्थ हप शक्ति से उत्पन्न अनुरणन रूप भेद होता है, यह कहेंगे। स्वभाव के अर्थ में आत्मा' शब्द प्रकार बताता है। उससे, रसादि रूप जो अर्थ है वह ध्विन का अक्रम नामक भेद है, अर्थात् असंलद्ध्यक्रम है। शङ्का है कि क्या रसादि अर्थ हमेशा ही ध्विन का प्रकार है? उत्तर में कहते हैं कि, नहीं। किन्तु जब अङ्गी या प्रधान रूप से प्रतीत होता है, (तव ध्विन का प्रकार है)। इस बात को यद्यपि (ध्विन के) सामान्य लक्षण में 'गुणीकृतस्वार्थों॰' इस स्थल पर निरूपण कर दिया है, तथापि रसवन् आदि अलङ्कारों के प्रकाशन का अवकाश देने के लिए अनुवाद किया है। वह रस आदि ध्विन के हप में व्यवस्थित ही है, क्योंकि उससे शून्य काव्य कोई चीज नहीं है। यद्यपि रस से ही सारा काव्य जीवित रहता है. तथापि एकघन चमत्कार रूप भी उस रस के कहीं प्रयोजक अंश से अधिक चमत्कार होता है। वहां जब कोई व्यभिचारी माव उद्विक्त या निष्पन्न अवस्था को प्राप्त करके अतिशय चमत्कार का प्रयोजक होता है, तब भावध्विन होता है। जैसे—

वह (उर्वशी) भले ही कुछ कोप से अन्तर्हित हो जाय पर वह **अधिक कु**पित नहीं होती, भले ही वह स्वर्ग चली गई हो, फिर भी उसका मन मेरे प्रति भावाई है, मेरे सामने स्थित उसे असुर भी हरण नहीं कर सकते, और वह आँखों के अत्यन्त अविषय हो गई है, यह कैसा प्रकार है ?

यहाँ विप्रलम्भ रस के होने पर भी वितर्क नामक व्यभिचारी भाव के चमत्कार से प्रयुक्त वितशय आस्वाद हो रहा है। व्यभिचारी भावों के तीन धर्म हैं—उदय,

माभिमुख्येन चरन्तीति व्यमिचारिणः' इति । तत्रोद्यावस्थाप्रयुक्तः कदा-

याते गोत्रविपर्यये श्रुतिपथं शय्यामनुप्राप्तया निध्योतं परिवर्तनं पुनरपि प्रारब्धुमङ्गीकृतम् । भूयस्तत्प्रकृतं कृतं च शिथिलक्षिप्तैकदोर्लेखया तन्वङ्गया न तु पारितः स्तनभरः कृष्टं प्रियस्योरसः ॥

अत्र हि प्रणयकोपस्योज्जिगमिषयैव यदवस्थानं न तु पारित इत्युद्याव-काशनिराकरणात्तदेवास्वादजीवितम् । स्थितिः पुनरुदाहृता—'तिष्ठेत्कोपवशात्' इत्यादिना । कचित्तु व्यभिचारिणः प्रशमावस्थया प्रयुक्तश्चमत्कारः । यथोदा-हृतं प्राक् 'एकस्मिन् शयने पराङ्मुखतया' इति । अयं तत्प्रशम इत्युक्तः । अत्र चेष्योविप्रलम्भस्य रसस्यापि प्रशम इति शक्यं योजयितुम् । कचित्तु व्यभिचा-रिणः सन्धिरेव चर्वणास्पदम् । यथा—

अे सुरु सुन्ठि आइं मुहु चुन्बिड जेण । अभिअरसघोण्टाणं पहिजाणिड तेण ।।

इत्यत्र श्रुत्युक्ते तु कोपे कोपकवायगद्भदमन्दरुदिताया येन मुखं चुन्बितं स्थिति और अपाय। जो कि कहते हैं—'विविध प्रकार (अर्थात् तीन प्रकार से) अभिमुख रूप से चरण करते हैं, अतः व्यभिचारी कहे जाते हैं'। उनमें कभी उदयावस्था से प्रयुक्त व्यभिचारी भाव होता है, जैसे—

सेज पर आई कृश अङ्गों वाली (नायिका) ने गोत्रविपर्यय (प्रिय द्वारा दूसरी नायिका के नामोचारण) कर दिए जाने पर सोचा कि करवट बदल ले और फिर करवट बदलना आरम्भ किया, फिर करवट बदलने का प्रयत्न किया, लेकिन एक हाथ को शिथिल करके अलग हटाया, किन्तु प्रिय के वक्ष से अपने स्तन के भार को खींच न पाई।

यहाँ नायिका का प्रणय-कोप उदय लेना ही चाहता है, ऐसी स्थिति को प्राप्त है 'नहीं वह खींच पाई' इस कथन द्वारा उसके हृदय के अवकाश का निराकरण कर देने से वही (उदय लेने की स्थिति में अवस्थान) आस्वाद का प्राण है। 'स्थिति' का उदाहरण दे चुके हैं—'तिष्ठेत कोपवशात्०' इत्यादि से। कहीं पर व्यभिचारी भाव की प्रश्नम अवस्था से प्रयुक्त चमत्कार होता है। जैसा कि पहले उदाहरण दे चुके हैं—'एकस्मिन् शयने पराङ्मुखतया०।' यह व्यभिचारी भाव का प्रश्नम कहा गया है। यहाँ ईर्ष्याविप्रलम्भ रस का प्रश्नम है, ऐसी योजना कर सकते हैं। कहीं पर तो व्यभिचारी भाव की सन्धि ही चर्वणा (आस्वाद) प्रतिष्ठान होती है। जैसे—

ईर्प्याजनित अशु से शोभित नायिका के मुख को जिसने चुम्बन किया है, उसने अमृत-रस के निगलने (रुक-रुक कर पीने) की तृष्ति को जान लिया। (?)

यहाँ 'ईर्ष्या' शब्द से अभिहित कोप में 'कोप के मिश्रण से गद्गद एवं मंद-मंद रोती हुई नायिका के मुख को जिसने चुम्बन किया उसने अभृतरस के निगलने की

तेनामृतरसिनगरणविश्रान्तिपरम्पराणां तृतिर्ज्ञातेति कोपप्रसादसिन्धश्रमत्कार-स्थानम् । कचिद्यभिचार्यन्तरशबलतेव विश्रान्तिपदम् । यथा—

काकार्यं शशलदमणः क च कुलं भूयोऽपि दृश्येत सा दोषाणां प्रशमाय मे श्रुतमहो कोपेऽपि कान्तं मुखम्। किं वच्यन्त्यपकल्मषाः कृतिधयः स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा चेतः स्वास्थ्यमुपैहि कः खलु युवा घन्योऽधरं घास्यति।।

अत्र हि वितकौत्सुक्ये मतिस्मरणे शङ्कादैन्ये धृतिचिन्तने परस्परं बाध्य-बाधकभावेन द्वन्द्वशो भवन्ती, पर्यन्ते तु चिन्ताया एव प्रधानतां दृद्ती परमास्वादस्थानम्। एवमन्यदृष्युत्प्रेद्वयम्। एतानि चोद्यसन्धिशबत्तत्वादि-

कानि कारिकायामादिप्रहरोन गृहीतानि ।

नन्वेवं विभावानुभावमुखेनाप्यधिकश्चमत्कारो दृश्यत इति विभावध्वनिरतु-भावध्वनिश्च वक्तव्यः । मैवम्; विभावानुभावौ तावत्स्वशब्दवाच्यावेव । तद्य-वणापि चित्तवृत्तिष्वेव पर्यवस्यतीति रसभावेभ्यो नाधिकं चर्वणीयम् । यदा तु विभावानुभावावपि व्यङ्गयौ भवतस्तदा वस्तुध्वनिरिप किं न सद्धते । यदा तु विभावाभासाद्रत्याभासोदयस्तदा विभावानुभासाद्यवणाभास इति रसाभासस्य विश्वान्ति अर्थात् आनन्द की परम्पराओं की तृष्ति को जान लिया' इस प्रकार कोप और प्रसाद की सन्धि चमत्कार का स्थान है।

कहीं पर व्यभिचारी का एक-दूसरे व्यभिचारी में मिल जाना (शबलता) ही विश्रान्ति (आनन्द) का पद (प्रतिष्ठान) होता है । जैसे—

(यह ब्राह्मण-कन्या में आसक्ति रूप) अकार्य (गृलत कार्य) कहाँ और चन्द्र का वंश कहाँ ? काश, वह फिर और भी दिख जाती ! मैंने दोषों के शमन करने के लिए शास्त्र पढ़ा है, अहो ! उसका मुख कोप की अवस्था में भी सुन्दर लगता है; मालिन्य से रहित एवं सुन्दर आचरण वाले लोग क्या कहेंगे ? वह स्वप्न में भी दुलंभ है; है चित्त, तू धीरज धारण कर, कौन धन्य युवक होगा जो उसके अधर का पान करेगा ?

यहाँ, वितकं और औत्सुक्य, मित और स्मरण, शङ्का और दैन्य, घृति और चिन्तन भाव परस्पर बाघ्य-बाधक रूप में रहते हुए पर्यन्त में चिन्ता को प्रधान करते हुए परम आस्वाद के प्रतिष्ठान हैं। इसी प्रकार और की भी उत्प्रेक्षा कर लेनी चाहिए। ये उदय,

सन्यि, शबलता आदि कारिका में 'आदि' शब्द से ग्रहण किए गए हैं।

शक्का है कि इस प्रकार विभाव और अनुभाव के प्रकार से भी अधिक चमत्कार देखा जाता है, ऐसी स्थित में विभाव ब्विन और अनुभाव ब्विन को कहना चाहिए ! उत्तर है कि, ऐसा नहीं; विभाव और अनुभाव अपने शब्द से ही वाच्य होते हैं, उनकी चवणा भी चित्तवृत्तियों में ही पर्यवसित होती है, इस लिए रस और भावों से अधिक (दूसरा) चवणा के योग्य नहीं है। जब कि विभाव और अनुभाव व्यक्त्य होते हैं, तब वस्तु ब्विन को क्यों नहीं मान लेते हैं ? जब कि विभाव भाव से रत्याभास का उदय होगा तब विभाव के भी साथ भासित होने के कारण चवणाभास होगा,

विषयः । यथा रावणकान्याकर्णने शृङ्गारामासः । यद्यपि 'शृङ्गारानुकृतिर्यो तु स हास्यः' इति मुनिना निकृपितं तथाप्यौत्तरकालिकं तत्र हास्यरसत्वम् ।

दूराकर्षणमोहमन्त्र इव मे तन्नान्नि याते श्रुतिं चेतः कालकलाम्पि प्रकुरुते नावस्थितिं तां विना।

इत्यत्र तु न हास्यचर्वणावसरः । ननु नात्र रितः स्थायिभावोऽस्ति । परस्परास्थावन्धाभावात् केनैतदुक्तं रितिरिति । रत्याभारो हि सः । अत्रश्चा- भासता येनास्य सीता मय्युपेक्षिका द्विष्टा वेति प्रतिपत्तिहृद्यं न स्पृशत्येव । तत्स्पर्शे हि तस्याप्यभिलाषो विलीयेत । न च मयीयमनुरक्तेत्यपि निश्चयेन कृतं, कामकृतान्मोहात् । अत एव तदाभासत्वं वस्तुतस्तत्र स्थाप्यते ग्रुक्तौ रजता- भासवत् । एतच शृङ्कारानुकृतिशब्दं प्रयुद्धानो मुनिरिप सूचितवान् । अनुकृतिरमुख्यता आभास इति ह्येकोऽर्थः । अत एवाभिलाषे एकतरिनष्ठेऽपि शृङ्का- रशब्देन तत्र तत्र व्यवहारस्तदाभासत्या मन्तव्यः । शृङ्कारेण वीरादीनामप्या- भासक्ष्यतोपलिक्षितेव । एवं रसध्वनेरेवामी भावध्वनिप्रभृतयो निष्यन्दाः । आस्वादे प्रधानं प्रयोजकमेवमंशं विभज्य पृथग्व्यवस्थाप्यते । यथा गन्धयुक्तिः इस प्रकार रसाभास का विषय होगा । जैसे रावणकाव्य के श्रवण करने में शृङ्काराभास होगा । यद्यपि भरत मुनि ने निक्षण किया है कि 'जो शृङ्कार का अनुकरण हो उसे हास्य कहना चाहिए', तथापि हास्यरस की स्थिति (शृङ्कार के) उत्तर काल में होती है ।

'दूर ही से आकर्षण कर लेने वाले मोहमन्त्र की मौति उसके नाम के कान में प्रवेश करते ही चित्त थोड़ी देर भी उसके बिना नहीं ठहर पाता है।'

यहाँ हास्यरस की चवंणा का अवसर नहीं है। जब कि रित स्थायिभाव यहाँ नहीं है क्योंकि एक-दूसरे के प्रति (परस्पर) आस्था बन्ध का अभाव है फिर किसने कहा कि यह रित है ? क्योंकि वह रत्याभास है। इस कारण से भी रित की आभासता जाहिर होती है कि रावण के हृदय को यह ज्ञान छू तक नहीं सका है, कि सीता मेरे प्रति उपेक्षा का भाव रखती है या द्वेष का। यदि उसे ऐसा ज्ञान होता तो उसका अभिलाष विलीन हो जाता। 'मुझ में यह अनुरक्त है' यह निश्चय भी नहीं है, क्योंकि कामजित मोह हो चुका है। इसिलए रित की आभासता को वस्तुतः वहाँ स्थापित करते हैं, जैसे शुक्ति में रजत का आभास होता है। इसे 'म्युक्तार की अनुकृति' इस शब्द का प्रयोग करते हुए मुनि ने भी सूचित कर दिया है। अनुकृति, अमुख्यता और आभास एक ही अर्थ है। इस लिए अभिलाष जब किसी एक (पक्ष) में ही रहे, तब 'म्युक्तार' शब्द से व्यवहार उसके आभास के रूप में मानना चाहिए। एक म्युक्तार के कहने से बीर आदि रसों की भी आभासरूपता उपलक्षित ही है। इस प्रकार ये भावच्वित प्रमृति रसच्वित के ही निष्यन्द हैं। आस्वाद के इस प्रकार प्रधान अंश को विभक्त करके अलग व्यवस्थापित करते हैं। जिस प्रकार गन्य योजना की कला के जानकार लोग एक रस के आस्वाद से व्याप्त आमोद (गन्ध) के

रसादिरथों हि सहेव वाच्येनावभासते । स चाङ्गित्वेनावभासमानो ध्वनेरात्मा ।

रसादि रूप अर्थ वाच्य के साथ हीसा प्रतीत होता है। और वह अङ्गी (प्रधान) रूप से प्रतीत होता हुआ ध्वनि का आत्मा (स्वरूप) है।

लोचनम्

ज्ञैरेकरससम्मूर्चिक्रतामोदोपभोगेऽपि शुद्धमास्यादित्रयुक्तमिदं सौरभमिति। रसध्वनिस्तु स एव योऽत्र मुख्यतया विभावानुभावव्यभिचारिसंयोजनोदित-स्थायिप्रतिपत्तिकस्य प्रतिपत्तुः स्थाय्यंशचर्षणाप्रयुक्त एवास्वाद्प्रकर्षः। यथा—

कृच्छ्रेणोरुयुगं व्यतीत्य सुचिरं भ्रान्त्वा नितम्बस्थले मध्येऽस्यास्त्रिवलीतरङ्गविपमे निःष्पन्दतामागता । मद्दष्टिस्तृषितेव सम्प्रति शनैरारुह्य तुङ्गौ स्तनौ साकाङ्क्षं सुहुरीश्चते जललवप्रस्यन्दिनी लोचने ॥

अत्र हि नायिकाकारानुवर्ण्यमानस्वात्मप्रतिकृतिपवित्रितचित्रफलकावलो कनाद्धत्सराजस्य परस्परास्थाबन्धकृपो रतिस्थायिभावो विभावानुभावसंयोजन्वशेन चर्वणाकृढ इति । तद्लं बहुना ! स्थितमेतत्—रसादिरर्थोऽङ्गित्वेन भासमानोऽसंल्द्यक्रमव्यङ्गचस्य ध्वनेः प्रकार इति । सहेवैति । इवशब्देनासंल्द्यता विद्यमानत्वेऽपि क्रमस्य व्याख्याता । वाच्येनेति । विभावानुभावादिना ।

जपभोग में भी कहते हैं कि यह गन्ध शुद्ध मांसी (एक प्रकार का गन्ध द्रव्य) आदि से तैयारं है। रसष्वित तो वही है जो यहाँ मुख्य रूप से विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी के संयोग से उत्पन्न स्थायी भाव की प्रतिपत्ति या ज्ञान वाले ज्ञाता या सहृदय का स्थायी के अंश की चवंणा के कारण ही प्रकृष्ट आस्वाद है। जैसे—

'प्यासी हुई सी मेरी दृष्टि कठिनाई से प्रिया के ऊरुयुगल को पार कर, नितम्ब के स्थल में देर तक अमण कर, इसके त्रिवली की तरङ्गों से विषम मध्यभाग में निश्चलभाव को प्राप्त कर गई, अब इन उन्नत स्तनों पर धीरे से चढ़ कर हसरत के

साथ अश्रुजल को बरसने वाली आंखों को वार-वार देख रही है।'

यहाँ, नायिका (रत्नावली) के आकार रूप चित्र से देखी गई अपनी प्रतिकृति (चित्र) से पवित्र हुए फलक को देखने के कारण वरसराज (उदयन) का परस्पर आस्थारूप रित-स्थायिभाव विभाव और अनुभाव के संयोजन के कारण चर्वणा की स्थिति तक आरूढ़ हो गया है। बहुत कहने से फायदा नहीं! बात यह हुई—रसादि अथं अङ्गी या प्रधान रूप से भासमान होकर असंलच्यकम व्यङ्गय घ्विन का प्रकार है। साध जैसा—। 'जैसा' या 'सा' (इव) शब्द से कम के रहते हुए भी उसका संलक्ष्यता व्याख्यान की गई है। वाच्य के साथ —। अर्थात् विभाव, अनुभाव आदि के साथ।

रे. वृत्तिग्रन्थ के 'सहेव' का 'निर्णयसागर' के संस्करण का पाठ 'सहैव' है। इसके अनुसार

इदानीं रसवदलङ्कारादलक्ष्यक्रमद्योतनात्मनो ध्वनेविंभक्तो विषय इति प्रदर्श्यते—

वाच्यवाचकचारुत्वहेतृनां विविधात्मनाम् । रसादिपरता यत्र स ध्वनेर्विषयो मतः॥ ४॥

अब रसवद् अलङ्कार से अलच्यक्रमभ्यङ्गय रूप ध्वनि का विषय अलग है, यह दिखाते हैं—

नाना प्रकार के वाच्य, वाचक और उनके चारुख-हेतुओं का जहाँ रस आदि में तारपर्य हो, वह 'ध्वनि' का विषय माना गया है ॥ ४ ॥

लोचनम्

नन्वक्षित्वेनावभासमान इत्युच्यते; तत्राङ्गत्वमि किमस्ति रसादेर्येन तिन्नराकरणायेतिहिशेषणिमत्यभिग्रायेणोपक्रमते—इदानीमित्यादिना । अङ्गत्व-मस्ति रसादेगेन रसवत्रेयऊर्जस्विसमाहितालङ्काररूपतायामिति भावः । अनया च भङ्गया रसवदादिष्वलङ्कारेषु रसादिष्वनेर्नान्तर्भाव इति सूचयति ।

शङ्का है कि जब 'अङ्गी या प्रधान रूप से अवभासमान' (व्वित को) कहते हैं तो वहाँ रसादि का अङ्गत्व भी क्या है ? जिससे उसके (अङ्गत्व) के निराकरण के लिए यह विशेषण है, इस अभिप्राय से उपक्रम करते हैं— 'अब'इत्यादि द्वारा। भाव यह कि रसवत्, प्रेयस्, ऊर्जेंस्व, समाहित अलङ्कार के रूपों में रसादि का अङ्गत्व है। इस अङ्गी के द्वारा सुचित करते हैं कि रसवद् आदि अलङ्कारों में रसादि विवित करा है।

'रसादि अर्थ वाच्य के साथ ही प्रतीत होता है' यह अर्थ होता है। किन्तु यह पाठ अमपूर्ण ही है। क्योंकि वाच्य विभावादि और रसादि अर्थ की प्रतीति में क्रम अवश्य होता है किन्तु वह व्यक्त्य रसादि की प्रतीति हतनी शीव्रता से होती है कि वह क्रम संलक्षित नहीं हो पाता। जैसे कमल के सैकड़ों पत्तों को एक वार सूचिका से छेदने पर क्रम की प्रतीति नहीं होती। इस प्रकार वाच्य के साथ ही रसादि की प्रतीति न होकर वाच्य के साथ जैसी ही प्रतीति होती है, अतः 'एव' (ही) के स्थान पर 'इव' (जैसा) पाठ ही जिचत है। दूसरे यह भी कि वाच्य के साथ ही व्यक्त्य अर्थ की प्रतीति कैसे सम्भव है ? क्योंकि दो अर्थों का एक ही समय में ज्ञान मन की सामर्थ्य से बाहर है। छोचनकार ने 'सहेव' पाठ को ही निर्देष्ट किया है।

?. जब रस प्रधान होता है अर्थात अङ्गी होता है तब रसादि ध्विन होती है, किन्तु जब रस की स्थिति अप्रधान या अङ्ग की होती है तब वह रसवत् आदि अलङ्कार की कोटि में आता है। अलङ्कारों में ध्विन के अन्तर्भाव का सम्भव न होने की बात पहले कह चुके हैं। समासोक्ति आदि अलङ्कारों में ध्विन का सामान्यतः अन्तर्भाव तो है ही नहीं, इसी प्रकार रसवद् अलङ्कार में भी रसादि ध्विन का अन्तर्भाव नहीं है। यह भी बात पहले कही गई है कि वस्तुध्विन का समासोक्ति आदि अलङ्कारों में अन्तर्भाव नहीं। कहने का तात्पर्यं यह कि ध्विन तत्त्व सर्वथा एक अलग अस्तित्व रखता है।

पूर्व हि समासोक्त्यादिषु वस्तुष्वनेनीन्तर्भाव इति दर्शितम्। वाच्यं च वाचकं च ताचारुत्वहेतवस्रोति द्वन्द्वः। वृत्ताविप शब्दाश्चालङ्कारास्रार्थाश्चालङ्कारास्रोति द्वन्द्वः। मत इति। पूर्वमेवैतदुक्तमित्यर्थः। ननूक्तं भट्टनायकेन—'रसो यदा अन्तर्भाव नहीं है। पहले दिसा चुके हैं कि समासोक्ति आदि अलङ्कारों में वस्तुष्वित का अन्तर्भाव नहीं है। 'वाच्य और वाचक और उनके चारुत्वहेतु' यह द्वन्द्व समास है। वृक्ति में भी 'शब्द, अलङ्कार और अर्थालङ्कार' यह द्वन्द्व समास है। माना गया है।—अर्थात् पहले ही यह कहा जा चुका है। शङ्का—भट्टनायक ने कहा है 'रस यदि परगत

१. इसके सम्बन्ध में विभिन्न आचार्यों के सैद्धान्तिक विचारों के जानने के पूर्व सामान्यतः यहाँ मरत मुनि के 'रससूत्र' से परिचित होना आवश्यक है, क्यें कि प्राचीन सभी व्याख्याएँ उन्हीं के रस-सूत्र पर आधारित हैं। भरतमुनि कहते हैं—'विभावानुभावसङ्चारिसंयोगाद् रस-निष्पत्तिः।' अर्थात् विभाव, अनुभाव तथा सद्चारी या व्यभिचारी भाव के संयोग से (स्थायीमाव) रस रूप में निष्पन्न होता है। इसके पूर्व कि हमें इस सूत्र की विभिन्न व्याख्याएँ विदित हों, विभाव आदि को समझ छेना आवश्यक है।

स्थायीमाव—वासना के रूप में बहुत काल तक प्राणियों के, विशेष रूप से मनुष्य के मीतर स्थिर रहने वाली चित्तवृत्तियों 'स्थायीमाव' कहलाती हैं। साहित्य-शास्त्र में आठ स्थायीमावों का निर्देश है—

> रतिर्हासस्य शोकस्य क्रोधोत्साही भयं तथा। जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिमावाः प्रकीर्तिताः॥

कुछ छोगों ने 'निवेंद' (वैराग्य) को भी एक स्थायीभाव माना है।

विभाव—वे पदार्थ, जिनसे स्थायीमाव उद्बुद्ध होते हैं 'विभाव' कहळाते हैं। वे दो प्रकार के हैं—आलम्बन और उद्दोपन। नायक-नायिका आलम्बन-विभाव हैं और उद्यान, चन्द्रोदय आदि उद्दोपन-विभाव हैं। आलम्बन-विभाव से स्थायीमाव उद्बुद्ध हो जाता है और उद्दोपन-विभाव से अक्टुरित हो जाता है। अक्टुरण भी उद्वोधन का ही एक रूप है।

अनुमान--वाद्य कटाक्ष आदि चेष्टाएँ 'अनुमान' कहलाती हैं। इनसे स्थायीमान प्रतीत होने लगता है। विभाव स्थायीमान के कारण माने जाते हैं अनुमान कार्य। चेष्टाएँ स्थायीमान या उद्दुद्ध वासना के अनुसार होती हैं अतः पश्चात् होने के कारण उन्हें 'अनुभाव' कहते हैं (अनु पश्चाद् मवन्तीत्यनुमानाः)। इन कार्य रूप अनुमानों अर्थात् कटाक्षादि चेष्टाओं से रत्यादि स्थायीमान शीघ्र अवगत हो जाते हैं।

सञ्चारी माव या व्यभिचारी भाव-ये स्थिर न रहनेवाली चित्तवृत्तियों हैं। जब कि स्थायीमाव स्थायी होते हैं तो ये व्यभिचारीमाव अस्थायी होते हैं।

इस प्रकार आलम्बन और उद्दीपन विमानों से स्थायीमान उद्बुद्ध होता है, अनुमानों से प्रतीति के योग्य होता है और व्यभिचारियों से परिपोष प्राप्त कर आस्वाद्यमान हो 'रस' हो जाता है। इस प्रकार साहित्यिक आचार्यों ने रस आठ माने हैं—

> शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः । वीमत्साद्भुतसंत्रौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्पृताः ॥

जिन्होंने 'निर्वेद' को भी स्थायीमाव माना है, वे 'शान्त' को नवम रस मानते हैं।

परगततया प्रतीयते तर्हि ताटस्थ्यमेव स्यात् । न च स्वगतत्वेन रामादिच-रितमयात्काव्यादसौ प्रतीयते । स्वात्मगतत्वेन च प्रतीतौ स्वात्मनि रसस्यो-

रूप से (अर्थात् सहृदय से अतिरिक्त में) प्रतीत होता है, 'तब ताटस्थ्य (सहृदय से असम्बन्ध) ही होगा (अर्थात् स्वयं सहृदय को ऐसी स्थिति में रसप्रतीति नहीं होगी)।

भट्टनायक का रस-विचार---भरत के रस-सूत्र के अनुसार विभाव आदि के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। इस पर मट्टनायक पहले 'प्रतीति' की दृष्टि से निचार करते हैं और तत्पश्चाद उसकी प्रक्रिया का अपने अनुसार निरूपण करते हैं। पहले यह विचार करते हैं कि रस की प्रतीति 'परगत' रूप से होती है या 'स्वगत' रूप से। अर्थात् सहृदय को रस का वीध अनुकार्य राम या अनुकर्ता नट में होता है अथवा अपने में। मट्टनायक के विचार में दोनों पक्षों में किसी को स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि यदि रस को अनुकार्य या अनुकर्ता में मानते हैं तो सहृदय एक तटस्थ व्यक्ति हो जाता है, ऐसी स्थिति में, उसे क्या आ पड़ी है कि वह भिन्न के रस से स्वयं आनन्द का अनुभव करे। और यदि 'स्वगत' रूप से अर्थात् सहृदय में रस को मानते हैं तब यह स्वीकार करना पड़ता है कि रस सहृदय में उत्पन्न होता है। किन्तु यह ठीक इसिछिए नहीं है कि सीता तो सहदय या सामाजिक का 'विभाव' नहीं है और रस जब मी उत्पन्न होगा तव विभाव से ही उत्पन्न होगा। सहदय या सामाजिक को जब तक यह मावना है कि सीता राम की पत्नी है तब तक सीता की रामविषयक रति की चर्वणा कैसे कर सकता है ? यदि साधारण कान्तात्व की भावना यहाँ मानते हैं तब भी जो कि सीता आदि में पूज्य-बुद्धि है वह किसी प्रकार सहृदय की रित का उद्वोध नहीं होने देगी। दूसरे यह भी नहीं कि सहृदय तत्काळ अपनी पत्नी को स्मरण करने छगता है। पुनश्च राम आदि अछौकिक पात्रों के समुद्रवन्थन आदि विभावों का साधारण्य कैसे बन सकता है ? इस प्रकार साधारणीकरण के सम्भव न होने के कारण स्वगतरूप से भी रस की प्रतीति नहीं होगी।

राम के उत्साह आदि के स्मरण यदि साधारणीकरण में सहायक मानते हैं तब भी पूर्व अनुभव के न होने के कारण स्मरण भी नहीं बनता है और काव्यरूप शब्द से यदि प्रतीति करते हैं तब तो छोक में प्रत्यक्ष नायिका-नायक को देखकर भी द्रष्टा को रस उत्पन्न होना चाहिए। सामाजिकों में रस की उत्पत्त मानने में यह एक और कठिनाई है कि करुण रस के उत्पन्न होने कर दुःखी होने के कारण किसी प्रकार पुनः वे करुण-रस की प्रेक्षा में प्रवृत्त न होंगे। इन अनेक कारणों से सहदयों में रस की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती। इसी प्रकार उनमें रस की अभिव्यक्ति भी नहीं होगी। क्योंकि श्वजार जो वासना या शक्ति के रूप में सहदयों के अन्तःकरण में विद्यमान रहता है उसकी अभिव्यक्ति स्वीकार करने पर कान्ता आदि उपार्थों के तारतम्य की स्थिति में भी अभिव्यक्ति स्वीकार करने पर कान्ता आदि उपार्थों के तारतम्य की स्थिति में भी अभिव्यक्ति में भी तारतम्य होगा। जिस प्रकार अन्यकार में पड़ी वस्तु की अभिव्यक्ति अधिक से अधिक तमी होगी जब अधिक से अधिक उस अभिव्यक्ति के उपायभूत आछोक को सम्पादित करेंगे, उसी प्रकार रस की भी अभिव्यक्ति तारतम्य-युक्त होगी यह एक दोष, दूसरा दोष यह कि अभिव्यक्ति को परगत मानते हैं या स्वगत, यह झगड़ा तव भी रह ही जाता है।

इस प्रकार मट्टनायक कान्य से रसं के प्रतीत, उत्पन्न या अभिन्यक्त होने के सिद्धान्तों का निराकरण करके अपने मत का प्रतिष्ठापन करते हैं कि कान्यात्मक शब्द, चूँकि अन्य शब्दों से विकक्षण होते हैं, के अभिधायकत्व, मावकत्व और मोजकत्व ये तीन अंशभूत न्यापार हैं। प्रथम अर्थविषयक न्यापार है, दूसरा रसादि-विषयक और तीसरा सहृदय-विषयक न्यापार है। और को न मानकर यदि केवल शुद्ध अभिधा को ही यहाँ मानते हैं तो शास्त्र के 'तन्त्र' आदि

त्पत्तिरेवाभ्युपगता स्यात् । सा चायुक्ता, सीतायाः सामाजिकं प्रत्यविभाव-त्वात् । कान्तात्वं साधारणं वासनाविकासहेतुविभावतायां प्रयोजकमिति चेत्-देवतावर्णनादौ तदपि क्रथम्। न च स्वकान्तास्मरणं मध्ये संवेद्यते। अलोक-सामान्यानां च रामादीनां ये समुद्रसेतुब्न्धादयो विभावास्ते कथं साधारण्यं भजेयुः। न चोत्साहादिमान् रामः स्मयते, अननुभूतत्वात्। शब्दादपि तह्य-तिपत्तौ न रसोपजनः। प्रत्यक्षादिव नायकमिथुनप्रतिपत्तौ। उत्पत्तिपत्ते च करुणस्योत्पादाद् दुःखित्वे करुणप्रेक्षासु पुनरप्रवृत्तिः स्यात् । तम्र उत्पत्तिरिष, नाप्यभिव्यक्तिः, शक्तिरूपस्य हि शृङ्गारस्याभिव्यक्ती विषयार्जनतारतम्यप्रवृत्तिः स्यात्। तत्रापि किं स्वगतोऽभिव्यज्यते रसः परगतो वेति पूर्ववदेव दोषः। और स्वगत रूप से (अर्थात् सहृदय में) वह (रस) राम आदि के चरित रूप काव्य से नहीं प्रतीत होता है, क्योंकि अपने आप में प्रतीति मान लेने पर सहृदय में रस की उत्पत्ति माननी होगी । परन्तु वह ठीक नहीं, क्योंकि सामाजिक (या सहृदय) के प्रति सीता विभाव नहीं है। यदि कहिए कि साधारण कान्तात्व रत्यादि वासना के विकास के हेतुभूत विभावना में प्रयोजक है। तो वह भी देवता के वर्णन आदि में कैसे होगा? ऐसा नहीं कि बीच में अपनी कान्ता के स्मरण का संवेदन होता है। और, आलोक सामान्यः चरित वाले राम आदि में जो समुद्र के सेतुबन्ध आदि विभाव हैं, वे कैसे साधारण्य को प्राप्त कर सकते हैं ? और उत्साह आदि से युक्त राम का तत्काल स्मरण भी नहीं होता, क्योंकि उनका पहले कभी अनुभव नहीं हुआ रहता है। शब्द रूप काव्य से यदि उस रामगत उत्साह की प्रतीति करते हैं, तब मी (सहुदयों के) रस उत्पन्न नहीं होगा, जैसे नायक-नायिका को प्रत्यक्ष देखकर (किसी के रसोत्पत्ति नहीं होती)। रस की उत्पत्ति को (सहृदयों में) मान लेने पर करुण रस के उत्पन्न होने से दुः बी होने पर पुनः वे (सहृदय) करुण रस-प्रधान नाटकों में प्रवृत्त नहीं होंगे। इस लिए जरपत्ति भी नहीं, अभिव्यक्ति भी नहीं। शक्ति या वासना रूप श्रुङ्गार (और वीर आदि बन्य रस) की अभिव्यक्ति में विषय के अर्जन (ग्रहण) में अनुभव के अंश में तारतम्य की

से और कान्य के 'शेष' अलङ्कार से मेद रह जायगा ? (अनेक अर्थ के वोध की इच्छा से एक पर का एक वार उच्चारण 'तन्त्रं' कहलाता है 'इल्न्यम' में दो अर्थ हैं।) यदि कहिए कि शास के शन्दों में नागरिका आदि वृत्तियों का विचार नहीं होता और श्रुतिदृष्ट आदि दोषों का वर्जन नहीं होता, यही दोनों का मेद या अन्तर है। तो इतने मात्र से कुछ भी नहीं होगा। इसिल्यर रसमावनाख्य या मावकत्व रूप दितीय न्यापार की कल्पना करते हैं। इस न्यापार से अभिश्वाविष्ठ हो जाती है। यह न्यापार रसिवयक होकर विभावादि को 'साधारण' वना देता है। इस प्रकार रस के भावित होने पर सहदय को भोजकत्व न्यापार से रस का 'भोग' होता है। वह 'भोग' अनुभव और स्मरण से विल्ड हुण, द्वृतिक्तरिवकासरूप, रजस्तमोवैचित्र्यानुविद्धसत्त्वम्य, चित्रस्वमाव, निवृति या आनन्दरूप, परमहास्वादसहोदर एवं विश्वान्ति या विगल्जितवेषान्तर' स्थिति रूप है। इस प्रकार मोजकत्ववादी मट्टनायक का मत है।

लोचनम

तेन न प्रतीयते नोत्पद्यते नाभिन्यज्यते कान्येन रसः । किं त्वन्यशब्द्वैलक्षण्यं कान्यात्मनः शन्दस्य त्र्यंशताप्रसादात् । तत्राभिधायकत्वं वाच्यविषयम्, भागकृत्त्वं सहृद्यविषयमिति त्रयोंऽशभूता न्यापाराः। तत्राभिधाभागो यदि शुद्धः स्यात्तत्तन्त्रादिभ्यः शाखन्यायेभ्यः श्लेषाद्यलङ्काराणां को भेदः ? वृत्तिभेदवैचित्र्यं चाकिश्चित्करम् । श्रुतिदुष्टादिवर्जनं च किमर्थम् ? तेन रसभावनाख्यो द्वितीयो न्यापारः; यद्वशाद्मिधा विलक्षणेव । तचैतद्भाव-कत्वं नाम रसान् प्रति यत्कान्यस्य तद्विभावादीनां साधारणत्वापादनं नाम । भाविते च रसे तस्य भोगः योऽनुभवस्मरणप्रतिपत्तिभ्यो विलक्षण एव द्रुति-विस्तरविकासात्मा रजस्तमोवैचित्र्यानुविद्धसत्त्वमयनिजचित्स्वभावनिवृतिवि-श्रान्तिलक्षणः परत्रद्धास्वादसविधः । स एव च प्रधानभूतोंऽशः सिद्धकृपं इति । न्युत्पत्तिनीमाप्रधानमेवे'ति ।

अत्रोच्यते-रसस्वरूप एव ताबद्विप्रतिपत्तयः प्रतिबादिनाम्। तथाहि-प्रवृत्ति करनी पड़ेगी। वहाँ भी, क्या स्वगत (सहृदयातमगत) रस अभिव्यक्त होगा, या परगत, यह दोष पहले के समान ही है। इस लिए काव्य से रस न प्रतीत होता है. न उत्पन्न होता है, न अभिव्यक्त होता है। किन्तु तीन अंशों वाला होने के प्रसाद से काव्य रूप शब्द की अन्य शब्दों से विलक्षणता है। वहाँ अभिधायकत्व (अभिधा) वाच्यविषयक व्यापार है भावकत्व रसादिविषयक व्यापार है और भोगकूत्व (भोजकत्वं) सहृदयविषयक व्यापार है, इस प्रकार काव्यरूप शब्द के ये तीन अंश-भूत व्यापार हैं। वहाँ यदि अभिधा के अंश को शुद्ध (अर्थात् इतर व्यापार से अनालिङ्गित) मान लिया जाय तो तन्त्र आदि शास्त्र के प्रकारों से श्लेष आदि अलङ्कारों का क्या भेद होगा? उपनागरिका आदि वृत्तियों के भेदों का वैचित्र्य (विलक्षणता) कुछ नहीं कर सकती। और फिर श्रुतिदुष्ट आदि दोषों का वर्जन किस काम का होगा ? इस लिए रसभावनारूप दूसरा व्यापार है, जिसके कारण अभिघा विलक्षण ही हो जाती है। वह यह भावकत्व रसों के प्रति जो काव्य के उन रसों के विभावादि के साधारणीकरणत्व आपादन है। रस के मावित होने पर, उसका भोग, जो अनुभव, स्मरण और प्रतिपत्ति से विलक्षण ही है, और वह द्वृति, विस्तार और विकास रूप है, तथा रजस् और तमस् के वैचित्र्य से अनुविद्ध स्वात्मचैतन्य रूप लोकोत्तर आनन्द है, अर्थात् विगलित वेद्यान्तररूप में अवस्थिति रूप वाला एवं परब्रह्म के आस्वाद का समीपवर्ती हैं। वही प्रधानभूत अंश सिद्धरूप है। (सहृदयों को) व्युत्पत्ति (चतुर्वंगैं फल की प्राप्ति रूप फल) मिलता है, वह तो अप्रधान है।

इस प्रसङ्ग में कहते हैं—रस के स्वरूप के सम्बन्ध में ही प्रतिवादियों के विभिन्न मत हैं। जैसा कि—कुछ लोग कहते हैं। 'पूर्व अवस्था' में जो 'स्थायी' है, वही व्यभि-

रे. मट्ट छोछट आदि का उत्पत्तिवाद—विमानादि के संयोग से रस की निष्पत्ति या उत्पत्ति होती है। यह रस की उत्पत्ति अनुकार्य राम में होती है। इस विचार को 'काव्य-प्रकाश' में इस १३ क्व

लोचनम्

पूर्वावस्थायां यः स्थायी स एव ज्यभिचारिसम्पातादिना प्राप्तपरिपोषोऽनुकार्यः गत एव रसः । नाट्ये तु प्रयुज्यमानत्वाष्ट्राट्यरस इति केचित् । प्रवाह्धर्मिण्यां चित्तवृत्तेः चित्तवृत्त्यन्तरेण कः परिपोषार्थः ? विस्मयशोकक्रोधादेश्व चारी भावों के सम्पात आदि से परिपोष प्राप्त करके अनुकार्यं (राम आदि) में हो 'रस' होता है । परन्तु नाट्य में प्रयोग किए जाने के कारण नाट्य का रस होता है । कुछ लोग कहते हैं कि—''चित्तवृत्ति के प्रवाहधमं होने से एक चित्तवृत्ति का दूसरी चित्तवृत्ति हो

प्रकार कहा है कि रत्यादि स्थायीमाव छलना आदि आलम्बन विभावों से उत्पन्न होता है, उद्यान आदि उद्दीपन विभावों से उद्दीपित होता है, कटाक्ष आदि अनुभावों से प्रतीतियोग्य होता है और उत्कण्ठादि व्यभिचारियों से परिपोषित हुआ 'रस' रूप में अनुकार्य में होता है। और नटकें सामाजिक छोग राम आदि के रूप के अनुसन्थान के कारण आरोप करते हैं। इस प्रकार अनुकार्यगत रस का अनुकर्ता नट में आरोप हां उनके चमत्कार का कारण होता है। मुख्यरूप हे रामादि अनुकार्य में और गौणरूप से अनुकर्ता नट में रस की प्रतीति होती है, यह अट्ड छोड़ य मत 'छोचन' में बहुत संक्षिप्तरूप से कहा है। भरतमुनि ने नाट्य से सम्बद्ध होने के कारण 'नाट्यरस' कहा है। इसका यह अर्थ नहीं कि रस नाट्य में उत्पन्न होता है।

१. श्रीश्कुक का अनुमितिबाद —यद्यि 'लोचन' में उपर्युक्त मत और प्रस्तुत मत के आचारों के नाम का उछेख नहीं है तथि 'अमिनवभारतीं और 'काव्यप्रकाश' आदि प्रन्थों के अनुसार आचारों का मैंने नामोक्लेख किया है। अस्तु, प्रस्तुत मत के आचार्य श्रीशङ्क महलोछट प्रभृति के 'अनुकार्यगत रस' के सिद्धान्त का खण्डन करते हैं। उनके अनुसार स्थायीमाव का व्यभिचारों आदि मानों से परिपोष जैसा कि उपर्युक्त मत में कहा गया है, सम्भव नहीं, क्यों कि जब हि चित्तवृत्तियाँ प्रवाहधर्म होती हैं, कभी एक सी नहीं रहतीं, फिर कैसे एक से दूसरी का परिपोष बन सकेगा। बल्कि इसके विपरीत क्रमशः चित्तवृत्तियाँ शिथिल ही हो जाती हैं। इसिंहर व्यभिचारी आदि द्वारा स्थायीमाव के परिपोष के न बनने के कारण अनुकार्य में रस की बार गळत हो जाती है।

दूसरे यदि कहते हैं कि तब अनुकर्ता नट में रस की सत्ता मान लिया जाय तो यह भी का नहीं, क्योंकि जब नट में रस की सत्ता ही सिद्ध हो गई तो उसके द्वारा लय आदि के अनुसर्प की बात नहीं बनती। वह अनुकर्ता नट इसलिए लय आदि का अनुसरण करता है कि उसते ए का अनुभव हो; जब रस उसमें पहले से सिद्ध है तो उसका यह उद्योग व्यर्थ सिद्ध हो जाता है। और तीसरे यदि सामाजिक में रस मानते हैं तो उसे चमत्कार क्या मिलता है ? प्रेम किसी और ने किया, मुख किसी और को मिला, उससे सामाजिक को क्या मिला ? बल्कि करण आदि में ते सामाजिक को दुःख ही अनुभव होना चाहिए, क्योंकि रस उसमें उत्पन्न होता है ! इस प्रकार की पद्ध नहीं।

यदि 'स्थायी का अनुकरण रस है' यह कहेंगे तब भी स्थायी के अनन्त होने के कारण किं नियत स्थायी का अनुकरण ही नहीं बन सकेगा और उसका न तो उस स्थायी के अनुकरण के कोई प्रयोजन ही प्रतीत होता है। और यदि सामाजिकों को यह प्रतीत होता है कि नट किं विशिष्ट स्थायी का अनुकरण कर रहा है तो तटस्थ नट के प्रति उनकी उदासीनता होगी और इस प्रकार उन्हें चतुवंग की न्युत्पत्ति भी नहीं होगी।

अपने मत के अनुसार श्री शहुक का यह कहना है कि रस नाट्य में रहता है। क्यों

लोचनम

क्रमेण तावश्च परिपोष इति नानुकार्ये रसः । अनुकर्तरि च तद्भावे लयाद्यननु-सरणं स्यात् । सामाजिकगते वा कश्चमत्कारः ? प्रत्युत करुणादौ दुःखप्राप्तिः । तस्माष्ट्रायं पश्चः । कस्तर्हि ? इहानन्त्याश्चियतस्यानुकारो न शक्यः, निष्प्रयोज-नश्च, विशिष्टताप्रतीतौ ताटस्थ्येन व्युत्पत्त्यभावात् ।

तस्मादनियतावस्थात्मकं स्थायिनमुद्दिश्य विभावानुभावव्यभिचारिभिः संयुज्यमानैरयं रामः सुस्रीति स्युतिविलक्षणा स्थायिनि प्रतीतिगोचरतयास्वा-दृह्पा प्रतिपत्तिरनुकर्त्रोलम्बना नाट्येकगामिनी रसः। स च न व्यतिरिक्तमा-धारमपेक्षते। किं त्वनुकार्याभिक्षाभिमते नर्तके आस्वाद्यिता सामाजिक इत्येतावन्मात्रमदः। तेन नाट्य एव रसः, नानुकार्यादिष्विति केचित्।

परिपोष क्य फल क्या होगा ? दूसरे यह कि विस्मय, शोक और कोष आदि का कम से परिपोष नहीं होता है, अतः अनुकार्य में रस नहीं हो सकता । यदि अनुकर्ता नटमें रस को मानेंगे तो नट में रस जब सिद्ध ही है तब उसके द्वारा रसोपयोगी ताल-स्रय आदि का अनुसरण नहीं बनेगा । और यदि सामाजिक में रस स्वीकार करेंगे तब कौन-सा चमत्कार होगा ? प्रत्युत करुण आदि रस में (सामाजिक को) दुःस की प्राप्ति होगी । अतः यह पक्ष नहीं हो सकता । फिर कौन होगा ? तत्तद्गत रत्यादि माब के अनन्त होने के कारण नियत (निश्चित, एक अवस्था वाले स्थायी) का अनुकरण नहीं किया जा सकता और वह निष्प्रयोजन भी है, क्योंकि स्थायी के वैधिष्य की प्रतीति में (नट के) तटस्व होने के कारण (चतुवंगं, धमं, अर्थं, काम, मोक्ष के उपाय रूप) ब्युत्पत्ति नहीं होगी।

इस लिए जिसकी अवस्था नियत नहीं है ऐसे स्थायी को उद्देश करके संयोग प्राप्त करते हुए विश्वाय, अनुभाव और व्यभिचारी से 'यह राम सुखी है' यह स्मृति से विलक्षण, स्थायों के प्रतीतिगोचर होने के कारण आस्वादरूप, अनुकर्ता नट में आलम्बित, एकमात्र नाट्य में रहने वाली प्रतिपत्ति (ज्ञान) 'रस' है। वह रस दूसरे आधार की अपेक्षा नहीं करता किन्तु अनुकार्य (राम आदि) से अभिन्न रूप में मान लिए गए नर्तंक में सामाजिक आस्याद प्राप्त करता है, यह इतना मात्र है। इस लिए नाट्य में ही रस है अनुकार्य आदि में नहीं।'

अनियत अवस्था वाले स्थायी को उद्देश कर के संयोग प्राप्त करते हुए विभावानुभावन्यभिचारी भावों के द्वारा अनुकर्त्ता नट को आलम्बन करके जो स्थायी की नाट्यगत प्रतीति है, वही रस है। सामाजिक अनुकर्ता नट को देख कर अनुभव करता है कि यह (नर्तक या नट) सीताविषयकर रितमान् राम है, इस प्रकार नर्तक को वह राम आदि अनुकार्य से अभिन्न मान लेता है। रस एक आस्वादरूप प्रतीति है जो सामाजिक की विशिष्ट बुद्धि को होने पर मानी जाती है। सामाजिक नट को देख कर अनुमान द्वारा अनुकार्य रामादि से उसे अभिन्न मान लेता है, उसके स्थायी का आस्वाद प्राप्त करता है। इस प्रकार भी शहुक के अनुसार 'रस' नट के आभित रूप में नाट्य के आभित है।

लोचनम्

अन्ये तु—अनुकर्तरि यः स्थाय्यवभासोऽभिनयादिसामग्न्यादिकृतो भित्ता विव हरितालादिना अश्वावभासः, स एव लोकातीतत्यास्त्रादापरसंज्ञया प्रतीत्या रस्यमानो रस इति नाट्याद्रसा नाट्यरसाः । अपरे पुनर्विभावानुभावमात्रमेव विशिष्टसामग्न्या समर्प्यमाणं तद्विभावनीयानुभावनीयस्थायिरूपचित्तवृत्त्युचितः वासनानुषक्तं स्वनिर्वृतिचर्वणाविशिष्टमेव रसः। तन्नाट्यमेव रसाः। अन्ये तु अतं विभावम्, अपरे शुद्धमनुभावम्, केचित्तु स्थायिमात्रम्, इतरे व्यभिचारिणम्

अन्य लोग कहते हैं — अनुकर्ता नट में अभिनयादि सामग्री आदि से उत्पन्न को स्थायी का अवभास (मिथ्या ज्ञान), भीत पर हरिताल आदि से अवन के मिथ्या ज्ञान की भौति, है, बही लोकातीत होने के कारण 'आस्वाद' नामक प्रतीति से रस्यमान हो 'रस' है, इस प्रकार नाट्य से रस 'नाट्यरस' कहलाते हैं। और लीगों के अनुसार विभाव-अनुभाव मात्र ही, विशिष्ट सामग्री के द्वारा (सामाजिकों) में समर्पित, उनके विभावनीय एवं अनुभावनीय स्थायी रूप चित्तवृत्ति के उचित वासना में सम्बद्ध, एवं सामाजिक की निवृति या आनन्दरूप चवंणा से विशिष्ट होकर ही रस है। इस प्रकार नाट्य ही रस है। वन्य लोग शुद्ध विभाव को, दूसरे शुद्ध अनुभाव को, कुछ लोग स्थायी

सामाजिक नट को राम समझता है और नट के शिक्षाभ्यास से प्रदिश्त कृत्रिम विभाव अनुमाव-व्यक्तिचारी के द्वारा नट में रस का अनुमान करता है। श्री शङ्कक रस की 'अनुमिति' मानते हैं। सामाजिक की नट में जो रामबुद्धि उत्पन्न होती है उसे 'स्मृति' आदि से विकास मानते हैं, वह सम्यग् ज्ञान, मिथ्याज्ञान, संशय और सादृश्य आदि सभी प्रतीतियों से विकास चित्र के तुरग की जैसी प्रतीति है। चित्र का घोड़ा घोड़ा नहीं है तथापि सभी प्रतीतियों से उसे प्रतीति विकक्षण होती है।

१. इस मत में अभिनयदि सामग्री द्वारा अनुकर्ता नट में स्थायी का मिथ्याञ्चान सामानि का आस्वाद रूप 'रस' है। जिस प्रकार हरिताल आदि से भीत पर अश्व आदि का वित्र वि दिया जाता है उससे अश्व का मिथ्या ज्ञान होता है उसी प्रकार स्थायी का मिथ्या ज्ञान अनुक नट में उत्पन्न होकर सामाजिक के चमरकार को उत्पन्न करता है।

र. यहाँ विभाव-अनुभाव ही 'रस' होते हैं, नाट्यादि सामग्री से वे सामाजिकों ने एं जाते हैं और उनके द्वारा विभावनीय अनुभावनीय स्थायिरूप चित्तवृत्ति की बासना से सम्बद्ध जाते हैं और फिर सामाजिक की निर्वृति रूप चवणा से विशिष्ट होकर 'रस' की स्थिति को म करते हैं। इस प्रकार इस मत में नाट्य से रस नहीं, बल्कि नाट्य ही रस है, यह माना गवा है।

और मी, किसी ने शुद्ध निभाव को, किसी ने शुद्ध अनुभाव को, किसी ने स्थायी माव को, किसी ने व्यक्तियारी भाव को, किसी ने श्रन्कार्य को और किसी

सकल समुदाय को 'रस' कहा है।

३. 'नाट्यरस' का प्रयोग भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में किया है। विभिन्न न्यास्त्राकारी अपने अपने अनुसार इसका अर्थ किया है। उत्पत्तिवादी छोड़ट के अनुसार अनुकार्यकार होने के कारण 'नाट्ये प्रयुक्त्यमानत्वाचाट्यरसः' यह विभ्रह है। श्री श्रङ्क के यहाँ अनुकार रूप में अभिमत नतंक या नट में सामाजिक विख्यण अनुमान द्वारा रस का आस्वादन कर्ता अतः 'नाट्या, नाट्याअये नटे रसः' यह विभ्रह है। उपर्युक्त अन्य मर्तो में 'नाट्याब् रसः' का कात्याअये नटे रसः' यह विभ्रह है। उपर्युक्त अन्य मर्तो में 'नाट्याब् रसः' का कात्याअये नटे रसः' यह विभ्रह है।

लोचनम

अन्ये तत्संयोगम्, एकेऽनुकार्यम्, केचन सकलमेव समुदायं रसमाहुरित्यलं बहुना।

कार्वेऽपि च लोकनाट्यधर्मिस्थानीयेन स्वभावोक्तिवक्रोक्तिप्रकारद्वयेना-लौकिकप्रसक्षमधुरौजिस्वशब्दसमर्प्यमाणिवभावादियोगादियमेव रसवार्ता। अस्तु वात्र नाट्याद्विचित्ररूपा रसप्रतीतिः; उपायवैलक्षण्यादियमेव तावद्त्र सरिणः। एवं स्थिते प्रथमपक्ष एवतानि दूषणानि, प्रतीतेः स्वपरगतत्वादिविकल्पनेन । सर्वपत्तेषु च प्रतीतिरपिरहार्या रसस्य। अप्रतीतं हि पिशाचवद्व्यवहार्यं स्यात् । किं तु यथा प्रतीतिमात्रत्वेनाविशिष्टत्वेऽपि प्रात्यक्षिकी आनुमानिकी आगमोत्था प्रतिभानकृता योगिप्रत्यक्षजा च प्रतीतिक्षपायवैलक्षण्याद्व्येव, तद्वदियमपि प्रतीतिश्वर्यणास्वादंनभोगापरनामा भवतु। तिन्नदानभूताया हृद्यसंवादायुपकृताया विभावादिसामग्या लोकोत्तरक्षपत्वात्। रसाः प्रतीमात्र को, इतरं लोग व्यभिचारी को, दूसरे लोग इनके संयोग को, कुछ लोग अनुकार्यं को वौर कुछ लोग समुदाय रूप समस्त को 'रस' कहते हैं। वलं बहना।

काव्य में भी लोकधर्मी और नाट्यधर्मी के समान, (क्रम से) स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति इन दोनों प्रकारों से अलौकिक, प्रसन्न, मधुर और ओजस्वी शब्द से समप्यंमाण विभावादि के योग से इसी प्रकार रस की वार्ता (प्रतीति) है। यहाँ (काव्य में) नाट्य से रस की प्रतीति विचित्र है, तथापि उपाय के विलक्षण होने के कारण यही यहाँ भी प्रकार है। इस प्रकार स्थित होने पर, पहले पक्ष में ही ये दोष हैं, क्योंकि प्रतीति स्वगत होती है या परगत होती है यह विकल्प करते हैं। सभी पक्षों में रस की प्रतीति का निराकरण नहीं है। क्योंकि अप्रतीत वस्तुं पिशाच की भौति, व्यवहार में नहीं आती। किन्तु जिस प्रकार प्रतीति मात्र होने से अविषट (समान) होने पर भी प्रात्यक्षिकी, आनुमानिकी, आगमोत्या, प्रतिभानकृता, योगिप्रत्यक्षजा गे प्रतीतियाँ उपाय के विलक्षण होने से पृथक्-पृथक् हो जाती हैं, उसी प्रकार यह भी प्रतीति, जिसके नाम चर्चणा, आस्वादन, भोग आदि हैं, (अन्य प्रतीतियों से विलक्षण) है। क्योंकि इस प्रतीति का निदानभूत जो हृदयसंवाद आदि से उपकृत, विभावादि सामग्री है, वह लोकोत्तर है। 'रस प्रतीत होते हैं' यह 'ओदनं पचित' (भात की

१. नाट्य दो प्रकार के होत हैं — लोकधर्मी और नाट्यधर्मी। जिसमें अभिनय स्वामानिक होता है, अर्थात पुरुप का अभिनय पुरुप करता है और स्त्री का अभिनय स्त्री, वह लोकधर्मी नाट्य है। और जिसमें स्वर, अलंकार और स्त्री-पुरुषादि अपने वेष का परिवर्तन करते हैं वह नाट्यधर्मी नाट्य है।

र. दृश्यकां व्य रूप नाट्य में जो रस की प्रतीति का प्रकार है उससे विचित्र प्रकार अव्यकाव्य में है। अव्यकाव्य में विभागीद उपाय दृष्टिगोचर नहीं होते हैं, अपित शब्द के द्वारा समर्पित होते हैं। इस प्रकार केवल विभागीद के उपस्थापन को लेकर दोनों का भेद हो जाता है, और बातें सब एक सी हैं। जिस प्रकार नाट्य में लोकशर्मी और नाट्यक्मी रूप भेद होते हैं उसी प्रकार काव्य में भी कमश्चः स्वभागोंक द्वारा और बक्रोंकि द्वारा विभागटि का उपस्थापन होता है।

लोचनम्

यन्त इति ओदनं पचतीतिवद् व्यवहारः, प्रतीयमान एव हि रसः। प्रतीतित विशिष्टा रसना। सा च नाटखे लौकिकानुमानप्रतीतेर्विलक्षणाः, तां च प्रमुखे उपायतया सन्द्धाना। एवं काव्ये अन्यशाब्दप्रतीतेर्विलक्षणाः, तां च प्रमुखे उपायतया सन्द्धाना।

तस्माद्नुत्यानोपहतः पूर्वपक्षः । रामाद्चिरितं तु न सर्वस्य हृद्पसंवादीति महत्साहसम् । चित्रवासनाविशिष्ठत्वाचेतसः । यदाह— 'तासामनादितः मारिाचो नित्यत्वात् । जातिदेशकाल्व्यविहतानामप्यानन्तयं स्यृतिसंस्कार्यो रेकरूपत्वात्' इति । तेन प्रतीतिस्तावद्रसस्य सिद्धा । सा च रसनारूप प्रवाता है) के समान व्यवहार है, क्योंकि रस प्रतीयमान ही होता है, विशिष्ट प्रतीति ही 'रसना' है । वह नाट्य में लौकिक अनुमानजन्य प्रतीति से विलक्षण प्रतीति है। उस (लौकिक अनुमानजन्य प्रतीति) को (वह प्रतीति) पहले अपने उपाय के रूप में अपेक्षा करती है। इस प्रकार काव्य में अन्य (लौकिक-वैदिक) शब्दजन्य प्रतीति है। विलक्षण प्रतीति है, उस (शब्दप्रतीति) को पहले में उपायरूप से अपेक्षा करती है।

इस लिए पूर्वपक्ष न उत्थित होने के कारण उपहत हो गया। यह कहना बरे साहस की बात है कि राम आदि का चिरत सबका हृदयसंवादी नहीं है, क्योंकि कि नानाविष्ठ वासना से विशिष्ट होता है। जैसा कि (योगसूत्रकार कहते हैं)—'वें (बासनाएँ) अनादि होती हैं क्योंकि आशिष या संकल्प विशेष (कि हमें सुख मिला रहे कभी सुख के साधनों से वियोग न हो) नित्य होते हैं।' 'अतः जाति, देश और काल के व्यवधान होने पर भी (वासनाओं का) आनन्तर्यं (क्रम) वना रहता है क्योंकि स्पृति और संस्कार दोनों एक इप होते हैं।' उस कारण रस की प्रतीति सि

१. जैसा कि अट्टनायक ने कहा है कि रस प्रतीत नहीं होता है, यह बात निर्मृत्त हो जा है। न्योंकि रस की प्रतीति को सभी ने अपने-अपने ढंग से स्वीकार किया है। जब वह प्रती नहीं होता है तो मट्टनायक उसे व्यवहार कैसे करेंगे ? जिस प्रकार उपाय की विकक्षणता से विका प्रतीतियों होती हैं उसी प्रकार यह भी एक विकक्षण प्रतीति है। इस प्रतीति की चवणा और अनेक संशार हैं। इसकी उपायसामग्री विभावादि हैं। 'रस की प्रतीति' यह उसी प्रकार प्रयोग है जैसे 'भात को पकाता है' यह व्यवहार है; भात तो पका हुआ ही होता है, किर भी के प्रयोग सुना जाता है। रस प्रतीयमान ही होता है, अतः रस को प्रतीति रस से भिन्न नहीं। नाट्य के क्षेत्र में वह प्रतीति जैकिक अनुमान की प्रतीति से विकक्षण होती है, किन्तु उस लैकि अनुमान-प्रतीति को वह अपना उपाय बनाती है और काव्य के क्षेत्र में वह प्रतीति अन्य शर्म प्रतीति से विकक्षण होती है और उस शाब्द प्रतीति को अपना उपाय बनाती है।

२. मानव-चित्त में अनन्तानन्त संस्कार वासना के रूप में जन्मजन्मान्तर से एकत्र होते। किन्तु जब उनकी अभिन्यञ्चक सामग्री एकत्र होती है तभी वे प्रकट होते हैं। इस प्रकार वार्ष को अनादि माना गवा है। वासना रूप संस्कार, जो चित में विषमान होते हैं, अपनी अभिन्य सामग्री के प्रत्यक्ष होते ही स्त्रुत हो उठते हैं। अनादि-अनन्त संस्कारों का आदि गृष्ठ है प्रार्क मन की मुखेच्छा। वही उसे कार्य के लिए प्रवृत्त करती है और वह कर्म द्वारा अनुवर्ग है संस्कार के रूप में अपने चित्त में आहित करता है। इस प्रकार आचार्य अष्ट्रनायक ने उठारि

लोचनम

प्रतीतिकत्पद्यते । वाच्यवाचकयोस्तत्राभिधादिविविक्तो व्यक्षनात्मा ध्वननद्या-पार एव । भोगीकरणव्यापारश्च काव्यस्य रसविषयो ध्वननात्मैव, नान्यत्कि-ख्रित । भावकत्वमपि समुचितगुणालङ्कारपरिश्रहात्मकमस्माभिरेव वितत्य बच्यते। किमेतदपूर्वम् ? काव्यं च रसान् प्रति भावकिमिति यदच्यते, तत्र भवतेव भावनादुत्पत्तिपक्ष एव प्रत्युजीवितः । न च काव्यशब्दानां केवलानां भावकत्वम्, अर्थापरिज्ञाने तद्भावात्। न च केवलानामर्थानाम्, शब्दान्तरे-णार्द्यमाणत्वे तदयोगात् । द्वयोस्त भावकत्वमस्माभिरेवोक्तम् । 'यत्रार्थः शब्दो है। वह रसना रूप उत्पन्न होती है। उसमें वाच्य और वाचक (काव्य) का अभिधा से व्यतिरिक्त व्यञ्जना (व्यनन) ही रूप व्यापार है। (भट्टनायक का अभिमत) भोगी-करण (भोजकत्व) व्यापार काव्य का रसविषयक व्यापार होने के कारण व्वनन रूप ही है, दूसरा कुछ नहीं। समुचित गुणों और अलङ्कारों का परिग्रह रूप भावकत्व व्यापार को भी हम ही विस्तार करके करेंगे। फिर यह अपूर्व क्या है ? यदि आप कहते हैं कि रसों के प्रति काव्य भावक होता है, वहाँ आप ही ने भावन करने (अर्थात काव्य को रस का उत्पादक मान लेने) से उत्पत्तिगक्ष को पूनक्रजीवित कर दिया है। केवल काव्य के शब्दों का भावकत्व नहीं बन सकता, क्योंकि अर्थ के परिज्ञान न होते. से उनका भावकत्व नहीं बनेगा । केवल अथों का भी (भावकत्व) नहीं सम्भव है शब्दान्तर (लोकिक वाक्य) से भी उन अर्थों के उपस्थित होने पर उनमें भावकत्व का योग नहीं। दोनों का भावकत्व तो हमने ही कहा है 'जहाँ अर्थ अथवा शब्द उस

गलत सिद्ध होतो है, क्योंकि प्राणियों का चित्त नानाविध वासनाओं से युक्त होता है। अतः लोकोत्तर चरित के पात्रों के साथ भी सामाजिकों का 'हृदयसंवाद' वन जाता है।

१. भट्टनायक ने काव्यरूप शब्द के तीन अंश (ब्यापार) माने हैं-अभिधायकत्व, भारकत्व और भोगकृत्व । लोचनकार तृतीय न्यापार भोगकृत्व या भोजकृत्व को 'ध्वनन' न्यापार रूप ही मानते हैं, क्योंकि 'रस' ध्वन्यमान तत्त्व है और भोगकृत्व उस ध्वन्यमान रस का साधन है। 'भोग' भी वह चमत्कार है जो रस की रस्यमानता से उत्पन्न होता है। द्वितीय व्यापार मावकत्व भी समुचित गुणालङ्कार का परिग्रह रूप है। क्योंकि जब तक काव्य समुचित गुण-अलङ्कार-परिगृहीत नहीं होता तब तक रस के प्रति भावक नहीं होता । यहाँ लोचनकार ने मीनांसकों की तीन अंशों वाली 'भावना' से प्रस्तुत में काव्य के द्वारा रसों के भावन वी संगत किया है। जैसा कि भीमांसक लोग कहते हैं, जैसे 'यजेत' इस वैदिक प्रयोग में 'भावना' के ये तीन अंश साध्य, साधन और इतिकर्त्तत्र्यता प्रत्यय के आख्यातत्व और लिङ्गत्त्र रूप अंदों से प्रतीत होते हैं। तात्पर्य यह कि यहाँ 'यजेत' के द्वारा यह भावना प्रतीत होता है कि क्या करे, किससे करे और कैसे करे! इन आकांक्षाओं के उत्पन्न होने पर स्वर्गादि इष्ट को साध्य रूप से, स्वर्गादि को यागादि करण या साधन रूप से और प्रयाज आदि क्रियाकलाप को इतिकर्तव्यता रूप से भावन करें। इसी प्रकार प्रस्तुत में भी भावक काव्य व्यक्षकत्व व्यापार रूप करण से, गुणालक्कार के ओचिस्य रूप इतिकर्तभ्यता द्वारा रसों को भावन करता है अर्थात सहदयों को रस का आस्वादन कराता है। शास्त्र से शासन और इतिहास से प्रतिपादन होता है, किन्तुः इनसे भी विलक्षण काव्य का व्युत्पादन है। अर्थात् सहृदय वो अपनी प्रतिमा से काव्य द्वारा

लोचनम्

वा तमर्थं व्यङ्कः' इत्यत्र । तस्माद्र यञ्जकत्वाख्येन व्यापारेण गुणालङ्कारौचित्वा दिकयेतिकतं व्यतया काव्यं भावकं रसान् भावयति, इति व्यंशायामिष मार नायां करणांशे ध्वननर्सेव निपतित्। भोगोऽपि न काव्यशब्देन क्रियते, औ त घनमोहान्ध्यसङ्कटतानिवृत्तिद्वार्णास्वादापरनाम्नि अलौकिके दुतिविस्तरि कासात्मिन भोगं कर्तव्ये लोकोत्तरं ध्वननव्यापार एव मूर्धाभिषिकः। वह भोगकृत्वं रसस्य ध्वननीयत्वे सिद्धे दैवसिद्धम् । रस्यमानतोदितचमत्कारान तिरिक्तत्वाद्गोगस्येति । सत्त्वादीनां चाङ्गाङ्गिभाववैचित्र्यस्यानन्त्याद् दुत्याह त्वेनास्वादगणना न युक्ता। परब्रह्मास्वादसब्रह्मचारित्वं चास्त्वस्य रसास्व दस्य। व्युत्पादनं च शासनप्रतिपादनाभ्यां शास्त्रेतिहासकृताभ्यां विलक्षणा यथा रामस्तथाहमित्युपमानातिरिक्तां रसास्वादोपायस्वप्रतिभाविज्ञम्भात्व व्यत्पत्तिमन्ते करोतीति कमुपालभामहे । तस्मात्स्थितमेतत् -अभिव्यव्यते रसाः प्रतीत्यैव च रस्यन्त इति । तत्राभिव्यक्तिः प्रधानतया भवत्वन्यथा वा अर्थं को व्यक्तित करते हैं' इस कारिका में। इस लिए व्यक्तकत्व नामक व्यापार से ग्र और अलङ्कार के औचित्य आदि रूप इतिकर्तव्यता के द्वारा भावक काव्य रसों के भावित करता है। इस प्रकार तीन अंशों (साध्य, साधन और इतिकर्तव्यता) वाले 'भावना' में करण (साधन) अंश में 'ध्वनन' ही आता है। भोग भी काव्य-शब्द है नहीं किया जाता है ? (अर्थात् अवस्य किया जाता है)। अपि तु वह भोग, जो को मोहान्यकार की आवृति (सङ्कटता) भन्न हो जाने के द्वारा आस्वाद नामधारा एं द्रुत, विस्तर और विकास रूप है, जब (उत्पन्न) किया जाता है, उस स्थिति लोकोत्तर 'ध्वनन' व्यापार ही मूर्घामिषिक्त (प्रधान हेतु) होता है। वह यह भोगहरी (मोजकत्व व्यापार) रस की व्वननीयता के सिद्ध हो जाने पर दैवसिद्ध (स्वयंसिद्ध) क्योंकि भोग रस्यमानता के कारण उत्पन्न चमत्कार से अनितिरिक्त (अभिन्न)है। सत्त्व आदि का अङ्गाङ्गिभावप्रयुक्त वैचित्र्य अनन्त हो जाता है, अतः दृति आ रूप से आस्वाद की गणना ठीक नहीं। इस रसास्याद का परव्रह्म के आस्वाद के समा होना माना गया है। (इस काव्य का) व्युत्पादन, शास्त्र के शासन और इतिहास प्रतिपादन से विलक्षण है। 'जैसा राम वैसा मैं हूँ' इस प्रकार के उपमान से अतिरि रसास्वाद के उपायभूत अपनी प्रतिभा की विजृम्मा (विकास) रूप व्युत्पत्ति की पर्वे में (उत्पन्न) करता है, ऐसी स्थिति में हम किसे उलहना दें। इसलिए यह स्थिर हुआ रस अभिव्यक्त होते हैं, और प्रतीति के द्वारा ही आस्वादित होते हैं, वह अभिव्यक्ति

रसास्वाद प्राप्त करने के पश्चात् पर्यन्त में एक विलक्षण व्युत्पत्ति अनुमव होती है, जिसे 'जैसे हैं हैं वैसा मैं हूं, इस उपमान से अतिरिक्त कहा गया है।

ध्वनिवादी छोचनकार का अभिमत यह है कि रस की अभिज्यक्ति होती है और उस अभिज्यक्ति साथन है ज्यक्षना ज्यापार । जब वहीं अभिज्यक्ति प्रधान होती है तब उसे 'ध्वनि' कहते हैं और अप्रधान की स्थिति में रसादि अङक्कार ।

रसभावतदाभासतत्प्रश्चमलक्षणं ग्रुख्यमर्थमनुवर्तमाना यत्र शब्दार्था-लङ्कारा गुणाश्च परस्परं ध्वन्यपेक्षया विभिन्नरूपा व्यवस्थितास्तत्र काव्ये ध्वनिरिति व्यपदेशः ॥ ४॥

प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रसादयः। काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मितः॥ ५॥ यद्यपि रसवदलङ्कारस्यान्यैर्दिशितो विषयस्तथापि यस्मिन् कान्ये

जहाँ रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावप्रशम रूप सुख्य अर्थ का अनुगमन करते हुए शब्द, अर्थ और उनके अलङ्कार और गुण परस्पर ध्वनि की अपेशा मिश्व स्वरूप से व्यवस्थित होते हैं उस काव्य में 'ध्वनि' यह व्यपदेश (व्यवहार) होता है॥

अन्यत्र जहाँ वाक्यार्थ के प्रधान होने पर रस आदि अङ्ग हो जाते हैं उस कान्य में रसादि अलङ्कार हैं, यह मेरी मति (सिद्धान्त) है।

बचपि रसवत् अलङ्कार का विषय दूसरों ने दिखाया है तथापि प्रधान रूप से लोचनम्

प्रधानत्वे ध्वनिः, अन्यथा रसाचलङ्काराः । तदाह—मुख्यमर्थमिति । व्यवस्थिता

इति । पूर्वोक्तयुक्तिभिविभागेन व्यवस्थापितत्वादिति भावः ॥ ४॥

श्रान्यतेति । रसस्वरूपे वस्तुमात्रेऽलङ्कारतायोग्ये वा । मे मितिरित्यन्यपद्यं दूष्यत्वेन हृदि निधायाभीष्ठत्वात्स्वपक्षं पूर्वं दर्शयति—तथापीति । स हि पर्दिशितो विषयो भाविनीत्या नोपपन्न इति भावः । यिसम् काव्ये इति स्पष्टत्वेन्नासङ्गतं वाक्यमित्थं योजनीयम्—यिसम् काव्ये ते पूर्वोक्ता रसाद्योऽङ्गभूता वाक्यार्थीभूतश्चान्योऽर्थः, चराव्दस्तुराव्दस्यार्थः; तस्य काव्यस्य सम्बन्धिनो ये रसाद्योऽङ्गभूतास्ते रसादेरलङ्कारस्य रसवदाद्यलङ्कारशब्दस्य विषयाः; स एवालङ्कारशब्दवाच्यो भवति योऽङ्गभूतः, न त्वन्य इति यावत् । अत्रोदाहरण-प्रधान रूप से हो अथवा अन्यथा (अप्रधान) रूप से । प्रधान होने पर 'व्वनि' होगीः अन्यथा रसादि अलङ्कार । उसे कहते हैं—मुख्य अर्थ— । व्यवस्थित— । भाव यह कि पहले कही गई युक्तियों से विभाग के द्वारा व्यवस्थापित किए जा चुके हैं ॥ ४ ॥

अन्यत्र—। रसस्वरूप, वस्तुमात्र अथवा अलङ्कारता के योग्य वाक्यायं। मेरी
मित—। इस कथन से दूसरे पक्ष को हृदय में दूषणीय मानकर, अभीष्ट होने के कारण
अपने पक्ष को पहले दिखाते हैं—तथापि—। भाव यह कि वह परदिशत विषय
वच्यमाण नीति के अनुसार उपपन्न नहीं है, जिस काव्य में यह स्पष्ट रूप से
असङ्गत वाक्य इस प्रकार लगाना चाहिए—जिस काव्य में वे पूर्वोक्त रसादि अङ्गभूत
हों और अन्य अर्थ वाक्यार्थीभूत (प्रधान अर्थ) हो, ('च' शब्द 'तु' शब्द के अर्थ में हैं);
उस काव्य के सम्बन्धी जो रसादि अङ्गभूत हैं, वे रसादि अलङ्कार के—'रसवदादि—अलङ्कार' शब्द के—विषय हैं; वही 'अलङ्कार' शब्द का वाच्य होता है जो विश्वभूत

ष्रधानतयाऽन्योऽमि वाक्यार्थीभृतस्तस्य चाङ्गभृता ये रसादयस्ते रलादेरलङ्कारस्य विषया इति मामकीनः पक्षः । तद्यथा चाडुषु प्रेयोऽ-लङ्कारस्य वाक्यार्थत्वेऽपि रसादयोऽङ्गभृता दृश्यन्ते ।

धन्य अर्थ जिस कान्य में वाक्यार्थ हो और उसके जो रसादि अङ्ग हों वे रसादि अलङ्कार के विषय हैं यह मेरा पच है। वह जैसा कि चाडु के विषयों में प्रेयोऽलङ्कार के मुख्य वाक्यार्थ होने पर भी रसादि अङ्गभूत देखे जाते हैं।

लोचनम्

भाह—तद्यथेति । तदित्यङ्गत्वम् । यथात्र वद्यमाणोदाहर्गो, तथान्यत्रापीत्यर्थः । भामहामित्रायेण चादुषु प्रेयोऽलङ्कारस्य वाक्यार्थत्वेऽपि रसादयोऽङ्गभूता हृत्यन्त इतीदमेकं वाक्यम् । भामहेन हि गुरुदेवनृप्तिपुत्रविषयप्रीतिवर्णनं प्रेयोलङ्कार इत्युक्तम् । तत्र प्रयानलङ्कारो यत्र स प्रेयोलङ्कारोऽलङ्करणीय इहोक्तः । न त्वलङ्कारस्य वाक्यार्थत्वं युक्तम् । यदि वा वाक्यार्थत्वं प्रधानत्वम् । चमत्कारहोता है, न कि दूसरा । यहां उदाहरण कहते हैं—वह, जैसा कि— । 'वह' अर्थात् अङ्गत्व । अर्थात् जैसे यहां वक्ष्यमाण उदाहरण में, उसी प्रकार अन्यत्र भी । भामह' के अभिप्राय से 'चादु के विषयों में प्रेयोऽलङ्कार के वाक्यार्थं होने पर भी रसादि अङ्गभूत देखे जाते हैं' यह एक वाक्य है । क्योंकि भामह ने कहा है कि गुरु, देवता, वृपति, पुत्र के विषय में प्रीति का वर्णन 'प्रेयोऽलङ्कार' है, यह कहा है । 'प्रयान (प्रियतम) जहां अलङ्कार है वह 'प्रेयोऽलङ्कार' अलङ्कारणीय यहां कहा गया है । क्योंकि 'अलङ्कार' का वाक्यार्थत्व ठीक नहीं । यदि वा वाक्यार्थत्व अर्थात् प्रधानत्व या क्वत्कारकारिता । उद्घट' के मतानुयायी लोग (इस वाक्य को) टुकड़े करके व्याक्ष्यान

१. मामह के अभिप्राय से यह एक ही वाक्य है कि चाड़ या प्रशंसाविषयक स्थलों में प्रेयोकहार की होती है अतः वहां रसादि अङ्गभूत हो जाते हैं। भामह के अनुसार गुरु, देवता,
कृपति, पुत्र के सम्बन्ध में प्रीति का वर्ण 'प्रेयोलङ्कार' हं। इसलिए भामह के अनुसार 'प्रेयोलङ्कार'
का विप्तह होगा 'प्रेयान् अलङ्कारो यत्र' अर्थात् जहां अतिशय प्रिय प्राणी अलङ्कार या वर्णन का
विषय हो वह 'प्रेयोलङ्कार' है। इसलिए प्रस्तुत में 'प्रेयोलङ्कार' वाक्यार्थ होने के कारण अलङ्कार
वहीं बल्कि स्वयं अलङ्करणीय है। 'वाक्यार्थ' का दूसरा अर्थ प्रधानस्व है, अर्थात् चमत्कारकारी
होना।

२. इस न्याख्यान के विषरीत उद्घट के मतानुयायी लोग इसका वाक्यभेद करके व्याख्यान करते हैं। उनका कहना है कि पूर्व वाक्य में रसवदलङ्कार के विषय होने की चर्चा है, यहां उत्तर वाक्य में चाडुओं के वाक्यार्थ होने की स्थित में प्रयोलङ्कार का भी विषय है, यह बात कही गई है। यह तात्पर्य 'अपि' या 'भी' शब्द के वाक्य में प्रयोग से प्रतीत होता है, अर्थाद केवल रसवदलङ्कार का ही नहीं, अपितु प्रयोलङ्कार का भी विषय है। उद्घट के मत में 'भावालङ्कार' (जिनमें रत्यादि मार्वो का वर्णन हो) ही प्रयोलङ्कार है।

स च रसादिरलङ्कारः शुद्धः सङ्कीणों वा । तत्राद्यो यथा— किं हास्येन न से प्रयास्यिस पुनः प्राप्तश्चिरादर्शनं केयं निष्करुण प्रवासरुचिता केनासि द्रीकृतः ।

वह रसादि-अल्हार ग्रुख अथवा सङ्कीर्ण (दो प्रकार का) होता है। उनमें पहला, जैसे--

'मजाक से क्या जाम ! बहुत देर के बाद दर्शन देकर फिर तुम मुझ से दूर नहीं जा सकते । हे निष्करुण, यह प्रवास में तेरी रुचि कैसी ? किसने तुन्हें दूर कर दिया ?'

लोचनम्

कारितेति यावत् । उद्घटमतानुसारिणस्तु भक्कत्वा व्याचक्षते—चादुषु चादु-विषये वाक्यार्थत्वे चाटूनां वाक्यार्थत्वे प्रेयोलङ्कारस्यापि विषय इति पूर्वेण सम्बन्धः । उद्घटमते हि भावालङ्कार एव प्रेय इत्युक्तः, प्रेम्णा भावानामुपलक्ष-णात् । न केवलं रसवदलङ्कारस्य विषयः यावत्प्रेयःप्रभृतेरपीत्यपिशब्दार्थः । रसवच्छाच्देन प्रेयःशब्देन च सर्व एव रसवदायलङ्कारा उपलक्षिताः, तदेवाह— रसादयोऽङ्गभूता दृश्यन्त इति । उक्तविषय इति शेषः ।

शुद्ध इति । रसान्तरेणाङ्गभूतेनालङ्कारान्तरेण वा न मिश्रः, आमिश्रस्तु सङ्गीणः । स्वप्तस्यानुभूतसदृशत्वेन भवनमिति इसन्नेव प्रियतमः स्वप्नेऽवलोकितः । न मे प्रयास्यिति पुनिरिति । इदानीं त्वां विदितशठभावं वाहुपाशवन्धान्न करते हैं—चादु अर्थात् चादुविषय के वाक्यायं होने पर 'प्रेयोऽलङ्कार' का भी विषय है, यह पहले से सम्बन्ध (अन्वय) है । क्योंकि उन्नट के मत में भावालङ्कार ही 'प्रेयस्' कहा गया है, प्रेम से भाव का उपलक्षण है । 'अपि' (या 'भी') शब्द का अर्थ है कि न केवल रसवदलङ्कार का, अपितु प्रेयः प्रभृति अलङ्कार का भी विषय है । 'रसवत्' शब्द से और 'प्रेयस्' शब्द से सभी 'रसवदादि—अलङ्कार उपलक्षित हैं, उसी को कहते हैं—'रसादि अङ्गभूत देखे जाते हैं' यह उक्त विषय है ।

छ्य- । अर्थात् बङ्गभूत किसी रस अथवा किसी अलङ्कार से न मिला हुआ; और जो मिला हुआ (बामिश्र) है वह 'सङ्कीर्ण' है। अनुभव किए हुए के सदद्य ही स्वप्न होता है, अतः हंसता हुआ ही प्रियतम स्वप्न में देखा गया। किर तुम सुझसे दूर वहीं आ खड़से—। जब तुम्हारा शठभाव (छिपकर प्रतिकृत आवरण) जान किया है, ऐसी स्थिति में बाहुपाश के बन्धन से नहीं छोड़्ंगी। अतएव रिक्सबाहु-

१. जहां भी 'रक्षाध्य' शब्द का प्रयोग है उससे रस के साथ भाव, तदाभास (रसामास और भावाभास) तथा भावशान्त्यादि (यहां 'आदि' पद से भावोदय, भावसंन्धि और भावश्वकता पृष्ठीत हैं। ये रसादि किसी के अङ्ग के रूप में होने पर क्रमशः रसवत, प्रेय, कर्षाष्ट्र और समाहित अलङ्कार के नाम से अभिहित होते हैं। अर्थात रस, अङ्ग होने पर 'रसवदंख्द्वह्वि', भाव, अङ्ग होने पर 'प्रेयोऽलङ्कार', तदाभास (रसाभास और भावाभास) अङ्ग होने

स्वमान्तेष्विति ते वदन् प्रियतमव्यासक्तकण्ठब्रहो बुद्धा रोदिति रिक्तबाहुवलयस्तारं रिपुस्तीजनः ॥

इस प्रकार स्वम में प्रिय के कण्ठ में वाहें डाले कहती हुई तुरहारी रिकाबाहुवलक वाली रिपु-स्नियाँ जन कर जोर से रुदन करती हैं।

लोचनम्

मोच्यामि । अत एव रिकवाहुवलय इति । स्वीकृतस्य चोपालम्भो युक्त इत्याहकेयं निष्करुणेति । केनासीति । गोत्रस्खलनादाविप न मया कदाचित्खेदितोऽसि।
स्वमान्तेषु । स्वमायितेषु सुप्तप्रलिपतेषु पुनःपुनकद्भृततया बहुष्विति बदन्युष्माकं
सम्बन्धी रिपुक्कीजनः प्रियतमे विशेषेणासक्तः कण्ठमहो येन ताष्टश एव सम्
बुद्ध्वा शून्यवलयाकारीकृतबाहुपाशः सन् तारं मुक्तकण्ठं रोदितीति । अत्र शोकस्थायिभावेन स्वमदर्शनोद्दीपितेन करुणरसेन चर्च्यमाणेन सुन्दरीमूतो नरपितप्रमावो भातीति करुणः शुद्ध एवालङ्कारः । न हि त्वया रिपवो हता इति यादगनलक्कृतोऽयं वाक्यार्थस्तादृगयम्, अपितु सुन्दरतरीमूतोऽत्र वाष्यार्थः, सौन्दर्यः
च करुणरसकृतमेवेति । चन्द्रादिना वस्तुना यथा वस्तवन्तरं वदनाधलक्कियते
तदुपमितत्वेन चारुतयावभासात् । तथा रसेनापि वस्तु वा रसान्तरं वोपस्कृतं
सुन्दरं भाति इति रसस्यापि वस्तुन इवालङ्कारत्वे को विरोधः ?

बर्ख्य—। अपने आदमी को उत्तहना उचित है, इसलिए कहते हैं—हे निष्करण यह प्रवास में—। किस ने—। कभी मैंने गोत्रस्खलन (अन्य प्रिय का नामप्रहण) आदि द्वारा भी तुम्हें खिल्ल नहीं किया है। स्वप्नान्त अर्थात् सपनाने की स्थिति के प्रलापों में, बार-बार उत्पन्न होने के कारण बहुत से, इस प्रकार प्रलाप करती हुई तुम्हारी रिपु-खिया, प्रियतम में विशेष रूप से आसक्त किया है कण्ठग्रह को जिन्होंने, ऐसी ही अवस्था में जग कर, वल्य से शून्यता की स्थिति को प्राप्त बाहुपाश वाली वे अधिक स्वर में अर्थात् मुक्तकण्ठ, रुदन करती हैं। यहाँ शोक जिसका स्थायी भाव है, और जो स्वप्न-दर्शन से उदीपित है ऐसे चितत होते हुए करुणरस से सुन्दर बना राजा का प्रभाव शोभावान् होता है, इस प्रकार करुण शुद्ध अवस्था में ही अलङ्कार है। 'तुमने शत्रुओं को मार डाला है' यह जिस प्रकार का अलङ्कारहीन वाक्याय है उस प्रकार का यह नहीं है, बल्कि यहां सुन्दरतर वाक्याय बन पड़ा है, और सौन्दर्य करुणरस के द्वारा ही है। चन्द्रादि पदायों से उस प्रकार दूसरा पदार्थ मुख आदि अलङ्कार होता है, क्योंकि चन्द्र द्वारा उपमित होने से वह बाबरूप से मालूम होने लगता है। उसी प्रकार रस से भी वस्तु अथवा रसान्तर उपस्कृत होकर सुन्दर हो जाता है, इस प्रकार रस का भी, वस्तु की भाँति, अलङ्कार होने में क्या विरोध है ?

पर 'ऊर्जस्वि' और मावशान्त्यादि, अङ्ग होने पर 'समाहित' कहलाते हैं। इस प्रकार 'रसादि' और 'रसवदाबल्ड्यार' को प्राथान्य और अप्राथान्य मूलक रूप में सर्वत्र समझना चाहिए।

इत्यत्र करुणरसस्य ग्रुद्धस्याङ्गभावात्स्पष्टमेव रसवदलङ्कारत्वम् । एवमेवंविधे विषये रसान्तराणां स्पष्ट एवाङ्गभावः ।

यहाँ शुद्ध करुण रस के अङ्ग हो जाने के कारण स्पष्ट ही रसवद्छक्कारता है। इस प्रकार ऐसे विषय में दूसरे रसों का भी स्पष्ट ही अङ्गभाव है।

लोचनम्

ननु रसेन किं कुर्वता प्रकृतोऽर्थोऽलङ्कियते। तर्हि उपमयापि किं कुर्वत्या-लङ्कियत। ननु तयोपमीयते प्रस्तुतोऽर्थः। रसेनापि तर्हि सरसीक्रियते सोऽर्थ इति स्वसंवेद्यमेतत्। तेन यत्केचिद्चूचुदन्-'अत्र रसेन विभावादीनां मध्ये किमलङ्कियते' इति तदनभ्युपगमपराहतम्; प्रस्तुतार्थस्यालङ्कार्यत्वेना-भिधानात्। अस्यार्थस्य भूयसा लद्दये सद्भाव इति दर्शयति-एविपिति। यत्र राजादेः प्रभाषख्यापनं तादृश इत्यर्थः।

शक्दा—स्या करता हुआ रस प्रकृत अर्थ को अलड्कृत करता है? (समाधान में प्रकृत करते हैं कि) स्या करती हुई उपमा अलड्कृत करती है? (यदि कहिए कि) प्रस्तुत अर्थ उसके द्वारा उपमित किया जाता है! तब तो यह स्वयं ही समझा जा सकता है कि रस के द्वारा भी वह अर्थ सरस किया जाता है। इसलिए, जो कि कुछ लोगों ने कहा है—'यहाँ रस के द्वारा विभाव आदि के बीच किसे अलड्कृत किया जाय?' वह अमान्य होने के कारण निराकृत है। क्योंकि प्रस्तुत' अर्थ को अलङ्कृत कहा गया है। इस अर्थ का बहुत प्रकार से लक्ष्य में सद्भाव है, यह दिखाते हैं— इस मकार—। अर्थात् जहाँ राजा आदि के प्रभाव का व्यापन हो वैसा।

१. यहां ध्वनिकार के 'रसवदलङ्कार' को लेकर दो प्रकार के मतमेद उपस्थित हैं, जिनका संकेत कारिका में 'मे मितः' (मेरी मित या सिद्धान्त है) तथा वृत्तिग्रन्थ में 'रसवदलङ्कारस्थान्ये-देशितो विषयः' (अन्य लोगों ने रसवदलङ्कार का विषय दिखाया है) विदित होता है।

प्रथम मतमेद यह है कि तथाकथित 'रसवदलक्कार' को अलक्कार की कोटि में गणना तभी हो सकती है जब कि 'अलक्कार' का सामान्य लक्षण उसमें संगत हो। जैसा कि अलक्कार को कहा जाता है कि वह कटक-कुण्डलादि के समान हैं, जिस प्रकार कटक-कुण्डल आदि द्वारीर के साक्षाद उपकारक होते हुए परम्परया आत्मा के उपकारक हैं उसी प्रकार काव्य क्षेत्र में वाच्य-वाचक के साक्षाद उपकारक और परम्परया रस के उपकारक को अलक्कार कहते हैं। 'काव्यप्रकाश' में वही कहा है—

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित् । हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥ १०।१ ॥

'अल्क्कार' का यह लक्ष्मग 'रसवदलक्कार' में संगत नहीं होता, क्योंकि रसवदलक्कार वाच्य-वाचक का उपकारक नहीं होता है विलेक साक्षात रस का उपकारक होता है, अतः उसकी गणना अल्क्कारों में न होकर 'गुणीभृतव्यक्वय' के 'अपराक्त' नामकं प्रमेद में है।

तव प्रश्न उठता है कि जब 'रसवदलङ्कार' अलङ्कार नहीं है तो उसे 'अलङ्कार' क्यों कहा गया ? इसके समाधान में कुछ छोग कहते हैं कि जब प्राचीनों ने इसे अल्ड्कार के रूप में व्यवहार

सङ्कीर्णो रसादिरङ्गभूतो यथा-

क्षिप्तो इस्तावलगः प्रसभमभिहतोऽप्याददानोऽश्चकान्तं गृह्मन् केशेष्वपास्तश्ररणनिपतितो नेक्षितः सम्अक्षेण । आलिङ्गन् योऽवधृतस्त्रिपुरयुवतिभिः साश्चनेत्रोत्पलाभिः कामीवाद्रीपराधः स दहतु दुरितं शाम्भवी वः श्वराश्चिः ॥

सङ्घीर्ण रसावि अङ्गभूत, जैसे-

आर्द्रापराध कामी की भांति वह भगवान् शङ्कर का बाणाधि खाए के पाए का वहन करे, जो सजलनेत्रकमलों वाली त्रिपुरयुवतियों द्वारा क्षटकने पर क्षाथ में स्मा गया, जोर से पीटने पर कपड़े के अन्त-भाग को पकदने लगा, शिरस्कृत होकर बाह पकद पदा, नहीं देखने पर चरणों पर धदफदा कर पद गया, और आलिक्कम करता हुआ तिरस्कार पाया।

लोचनम्

द्यिप्त इति । कामिपचेऽनादृतः, इतरत्र धुतः । अवधूत इति न प्रतीब्सितः प्रत्यालिङ्गनेन, इतरत्र सर्वोङ्गधूननेन विशराह्यकृतः । साश्चत्वमेकत्रेर्व्यया अन्यप्र निष्प्रत्याशतया। कामीवेत्यनेनोपमानेन श्लेषानुगृहीतेनेष्यीविप्रलम्ओ आकृष्टस्तस्य श्लेषोपमासहितस्याङ्गत्वम्, न केवलस्य । यद्यप्यत्र कहलो रसो वास्तवोऽप्यस्ति तथापि स तशारुत्वप्रतीत्यै न व्याप्रियत इत्यनेनाभिप्रायेण श्लेषसहितस्येत्येतावदेवावोचत्, न तु करुणसहितस्येत्यपि । एतमर्थमपूर्वतः

चिस-। कामी के पक्ष में अनाहत और अन्यत्र (बाणामि के पक्ष में) झटका गया । अवधूत, अर्थात् प्रत्यालिङ्गन द्वारा प्रत्यमिलियत न हुआ, अन्यत्र पक्ष में समी अङ्गों के अकझोरने से विशीणं किया गया। सजल नेत्र होना, एक जगह ईर्घ्या के कारण और अन्यत्र प्रत्याशारहित होने के कारण। 'कामी की आति' इस बलेव अलङ्कार-द्वारा अनुगृहीत उपमान से ईर्ष्याविप्रलम्म, जो खिचकर आता है, श्लेषीयमा सहित वह 'ईर्प्याविप्रलम्भ' यहां अङ्ग बन रहा है, अकेला नहीं। यद्यपि यहाँ करणरह भी वास्तव में है, लेकिन वह उस (विप्रलम्भ) के चारुत्व की प्रतीति के लिए, नहीं लगता है, इस अभिप्राय से 'श्लेषसहित' इतना ही कहा है न कि 'करुणसहित' यह भी

दूसरे लोग इसका समाधान यह देते हैं कि अलङ्कार का मुख्य लक्षण रसोपकारकत्व मात्र है अतः रसवदलङ्कार में गौणरूप से 'अलङ्कार' का व्यवहार नहीं।

'कान्यप्रकाश' में रसवदलङ्कारों को अलङ्कारों के प्रसंग में न रखकर गुणीभूतन्यक्रय के प्रसंग

में निर्दिष्ट किया है।

किन्तु ध्वनिकार और छोचनकार दोनों रसवदछङ्कारों को अङङ्कार के ही रूप में सीकार

कर दिया है तब रसोपकारक होने मात्र से उसमें गौण 'अलङ्कार' का व्यवहार कथिया मान लेना चाहिए।

ध्वन्यात्नोकः

इत्यत्र त्रिपुररिपुप्रभावातिशयस्य वाक्यार्थत्वे ईर्ष्याविप्रलम्भस्य श्लेषसहितस्याङ्गभाव इति, एवंविध एव रसवदाद्यलङ्कारस्य न्याय्यो यहाँ त्रिपुर-शत्रु (शिवजी) का अतिशय प्रभाव वास्यार्थ (अङ्गी) है, और श्चेषसहित ईर्ष्या विप्रलम्भ का अङ्गमाव है। इस प्रकार ही रसवद् आदि अलङ्कार का लोचनम

योत्प्रेश्चितं द्रढीकर्तुमाह-एवंविष एवैति । श्रत एवैति । यतोऽत्र विप्रलम्भस्याल-द्धारत्वं न तु वाक्यार्थता, अतो हेतोरित्यर्थः । न दोष इति । यदि ह्यन्यतरस्य रसस्य प्राधान्यमभविष्यन्न द्वितीयो रसः समाविशेत्। रतिस्थायिभावत्वेन त सापेक्षभावो विप्रलम्भः, स च शोकस्थायिभावत्वेन निरपेक्षभावस्य करुणस्य (कहा है)। अपूर्व ढंग से उत्प्रेक्षित इस बात को दृढ़ करने के लिए कहते हैं—इस प्रकार ही- । इसो लिए- । अर्थात् जिस कारण यहाँ विप्रलम्भ का अलङ्कारत्व है, न कि वाक्यार्थत्व है उस कारण । दोष नहीं है--। क्योंकि यदि दो में से किसी एक रस का प्राधान्य होता तो दूसरा रस समावेश प्राप्त नहीं करता। 'रित' जिसका स्थायिमाव है, इस कारण विप्रलम्भ सापेक्षमाव है और 'शोक' जिसका स्थायी है, ऐसा करुग निरपेक्षभाव है, अतः करुण विप्रलम्भ से विरुद्धे ही है। इस प्रकार

करते हैं। इन लोगों का पक्ष है कि 'अलङ्कार' का प्रधान कार्य है सुन्दरता का सम्पादन, ऐसी स्थिति में रसादि को भी वस्तु की माँति अलङ्कार मानने में कोई विरोध नहीं।

िकर, ध्वनिकार की दृष्टि में गुणीम्तभ्यङ्गय और रसवदादि के भेद के समन्वय के लिए यह कहा जा सकता है कि रसादि ध्विन के अपराङ्ग होने पर रसवत् और प्रेयोऽलङ्कार होंगे और वस्तु या अलङ्कार ध्वनि के अपराङ्ग होने पर गुणीभूतव्यङ्गय होगा।

दितीय मतभेद के अनुसार चेतन के वाक्यार्थीभूत होने पर रसादि-अल्ह्यार का विषय और अचे तन के नाक्यार्थीमान में उपमादि अलङ्कार का निषय है। रसादि, चूँकि चित्तवृत्ति रूप होते हैं, इसिल्टिए अचेतन के वाक्यार्थीमाव की स्थिति में रसवदलङ्कार का विषय नहीं बन सकता। इस मत के विरुद्ध ध्वनिकार ने आगे की पक्तियों में स्वयं स्पष्ट कर दिया है।

१. त्रिपुरदाह के वर्गनरूप प्रस्तुत पद्य में प्रथानरूप से शिवजी के प्रति कवि की मक्ति प्रकट होती है, यधिप शिवजी का उत्साह त्रिपुरदाह के कार्य में प्रतीत होता है। किन्तु वह अनुभाव-विभाव से परिपोप न प्राप्त करने के कारण 'वीररस' की स्थित नहीं प्राप्त कर सका है। कामी के उपमान से यहाँ श्रेत्रोपमा के साथ ईर्घाविप्रलम्भ रूप शृङ्गार की प्रतीति अङ्गरूप से होती है, और साथ ही करुणरस भी प्रतीत होता है। 'लोचन' में ये सभी बातें स्पष्ट हो चुकी हैं। शृक्कार और करुण दोनों विरोधी रस है, अतः इनका एकत्र अवस्थान यद्यपि दोषपूर्ण माना गया है, परन्तु प्रस्तुत् में दोनों अङ्गरूप में अवस्थित हैं अतः यहाँ उनका विरोध अकिञ्चित्कर है। रसों के परस्पर विरोध-अक्रिये का विचार अन्यत्र 'साहित्यदर्पण' आदि प्रन्थों से अवगत कर छेना चाहिए। श्वकार सर्वथा सापेक्ष-भाव है, क्यों कि इसका स्थायी नाव 'रित' दूसरे जन के विद्यमान रहने पर ही हो सकती है और करुणरस का स्थायीमाव 'शोक' है उसमें प्रिय के विद्यमान रहने की अपेक्षा नहीं, अतः निर्पेक्ष-भाव है, अतएव दोनों का परस्पर विरोध माना जाता है। चूँकि स्वयं

विषयः । अत एव चेर्ष्याविप्रलम्भकरुणयोरङ्गत्वेन व्यवस्थानात्समा-वेशो न दोषः । यत्र हि रसस्य वाक्यार्थीभावस्तत्र कथमलङ्कारत्वम् ? अलङ्कारो हि चारुत्वहेतुः प्रसिद्धः; न त्वसावात्मैवात्मनश्रारुत्वहेतुः । तथा चायमत्र संक्षेपः—

रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम् । अलङ्कतीनां सर्वीसामलङ्कारत्वसाधनम् ॥

विषय उचित है। इसी छिए ईप्यां विप्रलम्भ और करुण के अङ्ग रूप से व्यवस्थित होने से कोई दोष नहीं है। क्योंकि जहाँ रस का वाक्यार्थीभाव (प्राधान्य) है वहाँ कैसे (उसका) अलङ्कारत्व होगा? क्योंकि अलङ्कार चारुत्व के हेतु के रूप में प्रसिद्ध है, वह स्वयं अपने से अपने चारुत्व का हेतु नहीं है।

और इस प्रकार यहाँ संचेप है-

रस, भाव आदि के तात्पर्य का आश्रयण करके सभी अलङ्कारों का रखना उनके अलङ्कारत्व का साधन है।

लोचनम्

विरुद्ध एव । एवमलङ्कारशब्द्प्रसङ्गेन समावेशं प्रसाध्य एवंविध एवेति यदुक्तं तत्रैवकारस्याभिप्रायं व्याचब्टे-यत्र हीति । सर्वासामुपमादीनाम् ।

अयं भावः उपमादीनामलङ्कारत्वे यादृशी वार्ती तादृश्येव रसादीनाम् । तद्वश्यमन्येनालङ्कार्येण भवितव्यम् । तच्च यद्यपि वस्तुमात्रमपि भविति, तथापि तस्य पुनरपि विभावादिरूपतापर्यवसानाद्रसादितात्पर्यमेवेति सर्वत्र रसध्वनेरेवात्मभावः । तदुक्तं — रसमावादितात्पर्यमिति । तस्येति । प्रधानस्यातम- 'अलङ्कार' शब्द के प्रसङ्ग से समावेश की वात तय करके 'इस प्रकार ही' यह जो कहा है उसके 'ही' कहने के अभिप्राय की व्याख्या करते हैं — क्योंकि जहाँ — । सभी उपमा आदि का।

भाव यह है— उपमा आदि के अलङ्कार होने में जो बात है वही रसादि के (अलङ्कार होने में है)। इस लिए अवस्य कोई अन्य अलङ्कार्य होना चाहिए। और बहु (अलङ्कार्य) यद्यपि वस्तुमात्र भी हो सकता है, तथापि उसके पुनः भी विभावादि स्पता में पर्यवसान होने के कारण, रसादि तात्पर्य ही सिद्ध होता है ऐसी स्थित में सर्वंत्र 'रसघ्विन' का ही आत्मत्व है। इसलिए कहा है—रस, भाव आदि के तात्पर्यं ।

वे दोनों प्रधान न होकर किसी तीसरे के अङ्ग हैं, अतः इनका विरोध एकत्र अवस्थान में भी नहीं है।

[ं] यहाँ यह नात ध्यान में रखना चाहिए कि शक्तार या करुण यहाँ परिपुष्ट न होने के कारण परिपूर्ण रस की स्थिति में नहीं हैं, उनका यहाँ गौण व्यवहार है। यहाँ दोनों भावरूप हैं।

तस्माद्यत्र रसादयो वाक्यीर्थीभूताः स सर्वो न रसादेरलङ्कारस्य विषयः; स ध्वनेः प्रभेदः, तस्योपमादयोऽलङ्काराः । यत्र तु प्राधान्ये-नार्थान्तरस्य वाक्यार्थीभावे रसादिभिश्वारुत्वनिष्पत्तिः क्रियते, स रसा-देरलङ्कारताया विषयः ।

इस लिए जहाँ रसादि वाक्यार्थ हैं, वह रसादि अलङ्कार का विषय नहीं है, बिक वह 'ध्विन' का प्रभेद है, उसके उपमादि अलङ्कार हैं। और जहाँ प्रधान रूप से अर्थान्तर के वाक्यार्थ हो जाने पर रसादि द्वारा चारुख की निष्पत्ति की जाती है, वह रसादि की अलङ्कारता का विषय है।

लोचनम्

भूतस्य । एतदुक्तं भवति — उपमया यद्यपि वाच्योऽर्थोऽलङ्क्रियते, तथापि तस्य तदेवालङ्करणं यद्व-बङ्गन्यार्थोभिन्यञ्जनसामध्योधानमिति वस्तुतो ध्वन्यात्मैवा-लङ्कार्यः । कटककेयूरादिभिरपि हि शरीरसमवायिभिश्चेतन आत्मैव तत्ति च्वत्ति विशेषोचित्यसूचनात्मतयालङ्क्रियते । तथाहि — अचेतनं शवशरीरं छुण्ड-लाखुपेतमपि न भाति, अलङ्कार्यस्याभावात् । यतिशरीरं कटकादियुक्तं हास्यावहं भवति, अलङ्कार्यस्यानौचित्यात् । न हि देहस्य किञ्जिदनौचित्यमिति वस्तुत आत्मैवालङ्कार्यः, अहमलङ्कृत इत्यभिमानात् । रसादेरलङ्कारताया इति । व्यधिकरणपष्टश्यो, रसादेर्योलङ्कारता तस्याः स एव विषयः । एतदनुसारेणैव पूर्वत्रापि वाक्ये योज्यम्, रसादिकर्त्वकस्यालङ्करणिक्रयात्मनो विषय इति ।

उसका— । प्रधान, आत्मभूत का । बात यह कही गई—उपमा से यद्यपि वाच्य अर्थ अलङ्कृत होता है तथापि उस वाच्यार्थ का वही अलङ्करण है जो व्यङ्गद्य अर्थ के अभिव्यक्षन-सामर्थ्य का आधान है, इस प्रकार वस्तुतः घ्विन रूप ही अलङ्कार्य है (वाच्यार्थ रूप नहीं)। क्योंकि शरीर के साथ सम्वन्य रखने वाले कटक, केयूर आदि अलङ्कार भी उस-उस विशेष चित्तवृत्ति के औचित्य के सूचक होने के कारण (क्योंकि जैसे किसी युवक के शरीर के अलङ्कार उसके चित्त के रागी होने के औचित्य के सूचक होते हैं) इसी प्रकार किसी साधु के दण्ड-कमण्डल आदि उसके विराग के सूचक होते हैं) चेतनस्वरूप आत्मा को ही अलंकृत करते हैं। जैसा कि—चेतनारहित शव-शरीर कुण्डल आदि अलङ्कारों से युक्त होकर भी नहीं शोमता, क्योंकि उसमें अलङ्कार्य (आत्मा) का अमाव है और साधु का शरीर कटक आदि अलङ्कारों से युक्त होकर खिल्ली का पात्र बनता है, क्योंकि अलङ्कार्यं का वहाँ औचित्य नहीं है (वहाँ तो दण्ड-कमण्डल का ही रहना उचित है)। शरीर का कोई अनौचित्य नहीं। इस प्रकार वस्तुतः आत्मा ही अलङ्कार्यं है, क्योंकि यह अभिमान होता है कि 'मैं अलङ्कृत हूँ'। 'रसादि की अलङ्कारता का' यहाँ व्यधिकरण पश्ची विमक्ति है अर्थात् रसादि की जो अल-

एवं ध्वनेरुपमादीनां रसवद्लङ्कारस्य च विभक्तविषयता भवति। इस प्रकार ध्वनि, उपमा आदि और रसवद् अलङ्कारों का अलग-अलग विषय

लोचनम्

एविमिति । अस्मदुक्तेन विषयविभागेनेत्यर्थः । उपमादीनामिति । यत्र रसस्य-लङ्कार्यता रसान्तरं चाङ्गभूतं नास्ति तत्र शुद्धा एवोपमादयः । तेन संसृष्ट्या नोपमादीनां विषयापहार इति भावः । रसवदलङ्कारस्य चेति । अनेन भावाश-लङ्कारा अपि प्रेयस्व्यूर्जस्विसमाहिता गृह्यन्ते । तत्र भावालङ्कारस्य शुद्धस्ये-दाहरणं यथा—

तव शतपत्रपत्रमृदुताम्रतलश्चरणश्चलकलहंसनूपुरकलध्वनिना मुखरः। महिपमहामुरस्य शिरिस प्रसभं निहितः कनकमहामहीध्रगुरुतां कथमम्ब गतः॥ इत्यत्र देवीस्तोत्रे वाक्यार्थीभूते वितर्कविस्मयादिभावस्य चारुत्वहेतुति तस्याङ्गत्वाद्भावालङ्कारस्य विषयः। रसामासस्यालङ्कारता यथा ममैव स्तोत्रे—

समस्तगुणसम्पदः सममलङ्क्रियाणां गणै-भवन्ति यदि भूषणं तव तथापि नो शोभसे। शिवं हृदयवल्लमं यदि यथा तथा रञ्जये-स्तदेव ननु वाणि! ते भवति सर्वलोकोत्तरम्॥

क्कारता वही विषय। इसी के अनुसार पहले वाक्य में भी योजना कर लेनी चाहिए— रसादिकर्तृक अलक्करण किया का विषय। इस प्रकार—अर्थात् जैसा कि हमने विषय-विभा कहा है। उपमा आदि—। जहाँ रस की अलक्कार्यता और रसान्तर अङ्गभूत नहीं होते उपमा आदि शुद्ध ही अलक्कार हैं। इसलिए भाव यह कि संसृष्टि से उपमा आदि क विषयापहार (उच्छेद) नहीं। और रसवद् अलक्कार का—। इससे प्रेयस्व, ऊर्जिस, समाहित (आदि) भावालक्कार भी गृहीत होते हैं। उनमें शुद्ध 'भावालक्कार' का उदाहरण, जैसे—

है अम्ब, कमल के पन्न के समान कोमल एवं रक्त तलभाग वाला, चंचल कलहीं की भौति त्रपुर की आवाज से मुखर, तुम्हारा चरण महिषासुर के सिर पर बलाई रखा हुआ, कैसे सुमेरु महापर्वत की गुरुता को प्राप्त किया ?

यहाँ देवी का स्तोत्र प्रधान वाक्यार्थ है और वितर्क, विस्मय आदि भाव उसके चारुत के हेतु हैं, इस प्रकार उस (वाक्यार्थ रूप स्तोत्र) के अङ्ग होने के कारण 'भावालङ्कार' का विषय है। 'रसाभास' की अलङ्कारता, जैसे मेरे ही (रवे) स्तोत्र में—

हे वाणि, अलङ्कारों के साथ समस्त गुणों की सम्पत्तियाँ यदि तुम्हारा भूषण वर्ने तत्र भी तुम्हारी शोभा नहीं, यदि तुम जिस-किसी प्रकार मनभाये भगवान शिव की प्रमन्न करो तभी तुम्हारा सब से लोकोत्तर भूषण हो। वन्यालोकः

यदि तु चेतनानां वाक्यार्थोभावो रसाद्यलङ्कारस्य विषय इत्युच्यते तह्युपमादीनां प्रविरलविषयता निर्विषयता वाभिहिता स्यात् । यस्मा-दचेतनवस्तुवृत्ते वाक्यार्थोभृते पुनश्चेतनवस्तुवृत्तान्तयोजनया यथाकथ-सिद्ध होता है। अगर यदि चेतन पदार्थों का वाक्यार्थीभाव रसादि-अलङ्कान्त का विषय है, यह कहते हैं तो उपमा आदि अलङ्कार का जहाँ-कहीं ही अर्थात् बहुत कम) विषय मिलेंगे, अथवा उनका कोई विषय ही न रह जाता है। क्योंकि जहाँ अचेतन वस्तु का वृत्तान्त मुख्य वाक्यार्थ है वहाँ (विभावादि की प्रक्रिया से) लोचनम

अत्र हि परमेशस्तुतिमात्रं वाचः परमोपादेयिमिति वाक्यार्थे शृङ्गारामासश्चा-रुत्वहेतुः श्लेषसिहतः । न ह्ययं पूर्णः शृङ्गारो नायिकाया निर्गुणत्वे निरलङ्कारत्वे च भवति । 'उत्तमयुवप्रकृतिरुज्ज्वलवेषात्मकः' इति चामिधानात् । भावामा-साङ्गता यथा—

स पातु वो यस्य हतावरोषास्तत्तुल्यवर्णाञ्जनरञ्जितेषु। लावण्ययुक्तेष्वपिवित्रसन्ति दैत्याःस्वकान्तानयनोत्पलेषु॥

अत्र रौद्रप्रकृतीनामर्नुचितस्त्रासो भगवत्प्रभावकारणकृत इति भावाभासः । एवं तत्प्रशमस्याङ्गत्वमुदाहार्यम् । मे मतिरित्यनेन यत्परमतं सूचितं तद्दृषण-मुपन्यस्यति-यदीत्यादिना । परस्य चायमाशयः अचेतनानां चित्तवृत्तिरूपर-साद्यसम्भवात्तद्वर्णने रसवदलङ्कारस्यानाशङ्कथत्वात्तद्विभक्तः एवोपमादीनां विषय इति । एतद् दृषयति—तहीति । तस्माद्वचनाद्वेतोरित्यर्थः । नन्वचेतन-

यहाँ 'परमेश्वर (शिव जी) की स्तुतिमात्र वाणी का परम उपादेय है' इस वाक्यायं में श्लेष-सहित श्रुङ्काराभास चारुत्व का हेतु है। नायिका के निगुंण और निरलङ्कार होने पर श्रुङ्कारपूर्ण नहीं है, (अपितु आभासमात्र है), क्योंकि कहा है 'उज्ज्वल वेषवाले उत्तम प्रकृति के युवित और युवक होते हैं'। 'भावाभास' की अङ्गता, जैसे—

वह भगवान् कृष्ण आपकी रक्षा करें, जिसके द्वारा मारे जाने से बचे हुए दैत्य जन (कृष्ण) के सहश कृष्ण वर्ण के अंजन से रिक्षत, अंपनी पिन्नयों के लावण्ययुक्त भी नेत्रकमलों से डरते रहते हैं।

यहाँ रौद्र प्रकृति वाले दैत्यों का त्रास अनुचित है, (किन्तु) वह भगवान के प्रमाव के कारण है, इस लिए 'भावाभास' है। इसी प्रकार 'भावप्रशम' का भी उदाहरण कर लेना चाहिए। 'मेरी मित है' इस कथन से जो परमत को सूचिन किया है उसका दोष उपन्यस्त करते हैं—अगर—इत्यादि द्वारा। दूसरे का यह भाशय है—'अचेतन पदार्थों का चित्तवृत्ति रूप रसादि सम्भव न होने के कारण, उनके वर्णन में रसवद अलङ्कार के अनाशङ्कष्य होने से रसवद अलङ्कार से अलग ही उपमादि अलङ्कारों का विषय है।' इसमें दोष देते हैं—तो—। अर्थात् उस कथन के

श्चिद्भवितव्यम् । अथ सत्यामि तस्यां यत्राचेतनानां वाक्यार्थीमावो नासौ रसवदलङ्कारस्य विषय इत्युच्यते । तत् महतः काव्यप्रवन्धस्य रसनिधानभूतस्य नीरसत्वमभिहितं स्यात् । यथा—

> तरङ्गभूभङ्गा क्षुभितविहगश्रेणिरश्चना विकर्पन्ती फेनं वसनिमव संरम्भशिथिलम् । यथाविद्धं याति स्खलितमभिसन्धाय बहुशो नदीरूपेणेयं ध्रुवमसहना सा परिणता ॥

चेतन वस्तु-वृत्तान्त्र की योजना किसी प्रकार होनी चाहिए। अगर यदि उस (चेतन-वृत्तान्त की योजना) के होने पर भी जहाँ अचेतनों का वाक्यार्थीभात्र है, वहाँ रसवद्ळक्कार नहीं हो सकता, ऐसा कहते हैं तो बहुत बड़े एवं रस के निधान रूप काव्य-भाग की नीरसता अभिहित होती है। जैसे—

तरंगें जिसको भूसक हैं, खरुबरू पिच-समुदाय (की आवाज) जिसकी काओ है, रगड़ से ढीले पड़े वस्त्र की भाँति फेन को धारण करती हुई एवं बहुत वार स्वलन को प्राप्त कर कुटिल चाल से चलती हुई वह निश्चय ही नदी के रूप से (सुझ पर) कोपवंती हो गई है।

लोचनम्

वर्णनं विषय इत्युक्तमित्याशङ्कय हेतुमाह—यस्मादिति । यथाकथि द्विति विभावादिक्षपतया । तस्यामिति । चेतनवृत्तान्तयोजनायाम् । नीरसत्वमिति । यत्र हि रसस्तत्रावश्यं रसवद् लङ्कार इति परमत् । ततो न रसवद् लङ्कारश्चेन्तूनं तत्र रसो नास्तीति परमताभित्रायात्रीरसत्वमुक्तम् । न त्यस्माकं रसवद् लङ्कारामावे नीरसत्वम्, अपि तु ध्वन्यात्मभूतरसामावे, ताहक्च रसोऽत्रास्त्येव ।

तरङ्गीति । तरङ्गा एव भ्रूभङ्गा यस्याः । विकर्षन्ती विलम्बमानं बलादािनः

कारण । 'अचेतन का वर्णन विषय है' यह आशङ्का करके हेतु कहते हैं—जिस कारण—। जिस किसी प्रकार अर्थात् विभावादि के प्रकार से । 'उसमें' अर्थात् चेतन पदार्थं के बृतान्त की योजना में । नीरसत्व—। दूसरे का यह मत है कि जहाँ रस है वहाँ अवश्य रसवद् अलङ्कार है । ऐसी स्थिति में जहाँ रसवद् अलङ्कार न हो वह रस नहीं है इस दूसरे के मत के अभिप्राय से 'नीरसत्व' कहा गया। लेकिन हमारे मत में रसवद् अलङ्कार के अभाव में 'नीरसत्व' नहीं है, अपितु 'इबनि' के आत्मा रूप रस के अभाव में (नीरसत्व' नहीं है, अपितु 'इबनि' के आत्मा रूप रस के अभाव में (नीरसत्व है), उस प्रकार का रस यहाँ है ही।

तरंगें—तरङ्गें ही हैं भूभङ्ग जिसके । विकर्षण करती हुई फैले हुए को बल-

यथा वा---

तन्त्री मेघजलाईपछवतया धौताधरेवाश्चिमः ग्रून्येवाभरणैः स्वकालविरहाद्विश्रान्तपुष्पोद्गमा । चिन्ता मौनमिवाश्रिता मधुकृतां शब्दैविंना लक्ष्यते चण्डी मामवध्य पादपतितं जातानुतापेव सा ॥

अथवा जैसे-

कोपनशीला वह तन्त्री (उर्वशी). पैरों पर गिरे हुए मुझे झटककर मानों उत्पन्न पश्चात्ताप के मारे मेघ के जल से गीले पह्नत्र के रूप में आँसुओं से धुले अध्रवाली, अपने समय के त्रिगत हो जाने पर फूलों का खिलना वन्द हो जाने के रूप में अपने आभरणों से शून्य की भाँति और भौंरों के शब्दों के अभाव के रूप में चिन्ता के कारण मौनभाव को प्राप्त-जैसी (लता के समान) प्रतीत होती है।

लोचनम्

पन्ती । वसनमंशुकम् । प्रियतमावलम्बननिषेघायेति भावः । बहुशो यत्स्खितितं येऽपराधास्तानमिसन्धाय हृदयेनैकीकृत्यासहमाना मानिनीत्यर्थः । अथ च मद्वियोगपश्चात्तापासहिष्णुस्तापशान्तये नदीभावं गतेति ।

तन्त्रीति । वियोगक्रशाप्यनुतप्ता चाभरणानि त्यजति । स्त्रकालो वसन्त-श्रीष्मश्रायः । उपायचिन्तनार्थं मौनं, किमिति पाद्पतितमपि द्यितमव्यूतव-त्यहमिति च चिन्तया मौनम् । चण्डी कोपना । एतौ श्लोकौ नदीलतावर्णनपरौ तारपर्येण पुरूरवस उन्मादाकान्तस्योक्तिक्ष्पौ ।

पूर्वंक घारण करती हुई। वसन अर्थात् अंशुक। प्रियतम के अवलम्बन के निषेध के लिए, यह भाव है। अर्थात् बहुत बार के जो स्खलित हैं, जो अपराध हैं, उन्हें अभिसन्धान करके—हृदय के साथ एक करके सहन न करती हुई मानिनी। और भी, यह कि मेरे वियोगजन्य पश्चात्ताप को न सहन कर पा रही वह ताप की शान्ति के लिए नदी के स्वरूप को प्राप्त हुई।

तन्वी—। वियोग से कृश होने के कार्ण भी और पश्चात्ताप से पीड़ित होने के कारण, आभरणों को छोड़ देती है। अपना समय (स्वकाल) अर्थात् प्रायः वसन्त और ग्रीष्म। उपाय दूँढ़ने की जिन्ता के लिए मौन, क्योंकर मैंने पैरों पर गिरे प्रिय को झटक दिया (तिरस्कृत किया), इस चिन्ता से मौन । चण्डी अर्थात् कोपना (कोपशीला)। ये दोनों नदी और लता के वर्णन के श्लोक तात्पर्यं रूप से उन्माद से आकान्त पुंखरवस् की उक्तिरूप हैं।

यथा वा-

तेषां गोपवधूविलाससुहृदां राधारहःसाक्षिणां क्षेमं भद्र कलिन्दशेलतनयातीरे लतावेश्मनाम् । विच्छिन्ने स्मरतल्पकल्पनमृंदुच्छेदोपयोगेऽधुन। ते जाने जरठीभवन्ति विगलन्नीलत्विषः पह्नवाः ॥

अथवा, जैसे-

हे भद्र, गोपियों के विलास-सुहृद् और राधा के एकान्त के साची उन यमुना-तर के लतागृहों का कल्याण तो है! अथवा, अव तो काम-शय्या के निर्माण के लिए कोमल किसलयों के तोइने का प्रयोजन न रहने के कारण वे पश्चत्र श्यामल कान्ति से रहित होकर श्रूर हो जाते होंगे।

लोचनम्

तेषामिति । हे भद्र ! तेषामिति ये ममैव हृद्धये स्थितास्तेषाम् । गोपवधूनां गोपीनां ये विलाससुहृदो नर्मसचिवास्तेषाम् । प्रच्छन्नानुरागिणीनां हि नान्यो नर्मसुहृद्भवति । राधायाश्च सातिशयं प्रेमस्थानित्याह्—राधासम्भोगानां ये साक्षाद् दृष्टारः, किलन्दशैलतनया यमुना तस्यास्तीरे लतागृहाणां क्षेमं कुशलिति काका प्रश्नः । एवं तं पृष्ट्वा गोपदर्शनप्रबुद्धसंस्कार आलम्बनोद्दीपनिविभावस्मरणात्प्रबुद्धरितभावमात्मगतमौत्सुक्यगर्भमाह् द्वारकागतो भगवान् कृष्णः-स्मरतल्पस्य मदनश्च्यायाः कल्पनार्थं मृदु सुकुमारं कृत्या यश्केद्रक्षोटनं स एवोपयोगः साफल्यम् । अथ च स्मरतल्पे यत्कल्पनं क्लृप्तिः स एव मृदुः सुकुमार उत्कृष्टश्केद्रोपयोगस्त्रोटनफलं तिस्मिन्विच्छन्ने । सय्यनासीने का स्मरतल्पकल्पनेति भावः । अत एव परस्परानुरागिनश्चयगर्भमेवाह—ते जान

है भद्र—। उन (लतागृहों) का जो मेरे हो हृदय में स्थित हैं, उनका। गोपबन्युओं अर्थात् गोपियों के जो विलास-सुदृद अर्थात् नर्मसचिव, उनका। प्रच्छन्न
(छुक-छिप कर) अनुराग करने वालियों का नर्मसुदृद कोई दूसरा नहीं होता।
राघा का प्रेम वढ़कर है, अतः कहते हैं—राघा के सम्भोगों को जो साक्षात् देखने
वाले हैं, किलन्दशैलतनया अर्थात् यमुना, उसके तीर पर लतागृहों का क्षेम या
कुशल है यह काकु द्वारा प्रश्न है। इस प्रकार उस (उद्धव) से पूछ कर द्वारका में
पहुंचे एवं गोपों के देखने से प्रबुद्ध संस्कारवाले मगवान् कृष्ण ने आलम्बन और
उद्दीपन विभाव के स्मरण से अपने में उत्पन्न औरसुक्य से युक्त प्रबुद्ध रितभाव की
प्रकट करते हैं—स्मरतल्प अर्थात् मदनशस्या का जो कल्पन या निर्माण वही है मृद्ध
या सुकुमार अर्थात् उत्कृष्ट छेदोपयोग अर्थात् तोड़ना रूप फल, उसके विच्छिन्न होने
पर । भाव यह कि मेरे न रहते स्मरतल्प का निर्माण कैसा ? अत्वप्व (अपने और

इत्येवमादौ विषयेऽचेतनानां वाक्यार्थीभावेऽपि चेतनवस्तुवृत्ता-न्तयोजनास्त्येव । अथ यत्र चेतनवस्तुवृत्तान्तयोजनास्ति तत्र रसादि-रलंकारः । तदेवं सत्युपमादयो निर्विषयाः प्रविरलविषया वा स्युः । यस्मान्नास्त्येवासावचेतनवस्तुवृत्तान्तो यत्र चेतनवस्तुवृत्तान्तयोजना नास्त्यन्ततो विभावत्वेन । तस्मादङ्गत्वेन च रसादीनामलङ्कारताः। यः पुनरङ्गी रसो भावो वा सर्वाकारमलङ्कार्यः स ध्वनेरात्मेति ॥ ५ ॥

इत्यादि प्रकार के विषय में अचेतन पदार्थों के वाक्यार्थ (प्रधान) होने पर भी चेतन वस्तु या पदार्थ की योजना है ही। और जहाँ चेतन वस्तु के मृतान्त की योजना है वहाँ रसादि अछङ्कार है। ऐसी स्थिति में उपमा आदि अछङ्कारों का कहीं कोई विषय न रह जायगा, अथवा वे कहीं-कहीं पर ही होंगे (सर्वत्र नहीं)। क्योंकि कोई ऐसा अचेतन वस्तु का मृत्तान्त नहीं ही है जहाँ चेतन वस्तु के मृत्तान्त की योजना नहीं है, अन्ततः विभाव रूप में (उसकी योजना बन ही जायगी)। इस छिए अङ्ग होने के कारण रसादि का अछङ्कारत्व माना गया है। जो फिर अङ्गीरस अथवा भाव है, वह सब प्रकार अछङ्कार्थ एवं 'ध्वनि' का आस्मा है॥ ५॥

लोचनम्

इति । वाक्यार्थस्यात्र कर्मत्वम् । श्रधुना जरठीभवन्तीति । मयि त सन्निहितेऽन-वरतकथितोपयोगान्नेमे जराजीर्णताखिलीकारं कदाचिद्वाप्नुवन्तीति भावः। विगलन्ती नीला त्विड्येषामित्यनेन कतिपयकालप्रोषितस्याप्यौत्युक्यनिर्भरत्वं ध्यनितम् । एवमात्मगतेयमुक्तिर्यदि वा गोपं प्रत्येव संप्रधारणोक्तिः । बहुमिरु-दाहरणैर्महतो भूयसः प्रबन्धस्येति यदुक्तं तत्सूचितम् । अथेत्यादि । नीरसत्व-मत्र मा भूदित्यभिशयेगोति शेषः। ननु यत्र चेतनवृत्तस्य सर्वथा नानुप्रवेशः स उपमादेविषयो मंविष्यतीत्याशङ्कचाह्-यस्मादित्यादि । अन्तत इति । गोपियों के) परस्पर अनुराग के निश्चय से गिमत इस प्रकार कहते हैं—वे मैं जानता हूँ — यहाँ वाक्यार्थ का कर्मत्व है। अब भूर हो गए होंगे —। भाव यह कि मेरे सिन्निहित रहने पर निरन्तर कहे हुए (तोड़ने के पूर्वोक्त) उपयोग के कारण कभी भी ये पश्चव जर्जर होने से जीर्ण हो जाने की विद्रुपता को कभी भी प्राप्त नहीं करते हैं। विगलित या अपकान्त हो रही है नील कान्ति जिनकी, इससे कुछ ही समय से प्रोधित (बाहर गए) उन भगवान् का अतिशय औत्सुक्य घ्वनित होता है। इस प्रकार यह उक्ति अपने प्रति अथवा गोप के प्रति सम्प्रधारणोक्ति है। बहुत उदाहरणों से कि 'महान् या भूयान् प्रवन्ध का' यह कहा है, उसे सूचित किया है। और—इत्यादि । इस अभिप्राय से, कि यहाँ नीरसत्व न हो । यह आशङ्का करके कि जहाँ चेतन-वृत्तान्त का सर्वथा अनुप्रवेश नहीं वह उपमा आदि का विषय होगा, कहते हैं --क्योंकि---इत्यादि । अन्ततः-। जब कि अचेतन भी वर्णभाव स्तम्भ, पुलक आदि अनुभाव के

किश्व तमर्थवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः। अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत् ॥ ६॥ ये तमर्थं रसादिलक्षणमङ्गिनं सन्तमवलम्बन्ते ते गुणाः शौर्यादि-और भी, जो उस अङ्गीरूप अर्थ को अवलम्बन करते हैं, वह 'गुण' कहलाते हैं और कटक आदि की भाँति अङ्गांपर आश्रित रहनेवालों को 'अलङ्कार' मानना चाहिए। जो रसादि रूप उस अङ्गी अर्थ को अवलम्बन करते हैं शौर्य आदि की भाँति वे

वर्ण्यमानमनुभावत्वाच्चेतनमाक्षिपत्येव स्तम्भपुलकाद्यचेतनमपि किमत्रोच्यते । अतिजडोऽपि चन्द्रोद्यानप्रभृतिः स्वविश्रान्तोऽपि वर्ण्यमानोऽ-वश्यं चित्तवृत्तिविभावतां त्यक्तवा काव्येऽनाख्येय एव स्यात्; शास्त्रेतिहासयो-रिप वा। एवं परमतं दूपियत्वा स्वमतमेव प्रत्याम्नायेनोपसंहरति—तस्मा-दिति । यतः परोक्तो विषयविभागो न युक्त इत्यर्थः । भावो वैति वामइणात्तदा-आसतत्त्रशमादयः । सर्वाकारमिति क्रियाविशेषणम् । तेन सर्वप्रकारमित्यर्थः ।

श्रलङ्कार्य इति । अत एव नालङ्कार इति भावः ॥ ४ ॥

अलङ्कार्यव्यतिरिक्तश्चालङ्कारोऽभ्युपगन्तव्यः, लोके तथा सिद्धत्वात् , यथा गुणिव्यतिरिक्तो गुणः । गुणालङ्कारव्यवहारश्च गुणिन्यलङ्कार्ये च सति युक्तः । स चास्मत्पक्ष एवोपपन्न इत्यभिन्नायद्वयेनाह—किञ्चेत्यादि । न केवलमेतावदु-युंक्तिजातं रसस्याङ्गित्वे, यावदन्यद्पीति समुख्यार्थः । कारिकाप्यभिप्रायद्वयेनैव होने के कारण चेतन का आक्षेप कर लेंगे, ऐसी स्थिति में आप क्या उत्तर देंगे? चन्द्र, उद्यान प्रभृति अत्यन्त जड़ होकर एवं अपने आप में पर्यवसित होकर भी चित्तवृत्तिके विभाव (उद्दीपक विभाव) के वैशिष्टच को छोड़ कर काव्य में कहने योग्य नहीं ही होगा, शास्त्र और इतिहास में भी यही स्थिति है। इस प्रकार परमत में दोष देकर स्वमत का ही पुनरुक्ति द्वारा उपसंहार करते हैं - इसिछए-। अर्थात् जो कि दूसरे लोगों ने विषय-विभाग किया है, वह ठीक नहीं। अथवा भाव 'अथवा' के ग्रहण से भावाभास, भावप्रशम बादि संगृहीत हैं। 'सर्वाकार' (सव प्रकार) यह क्रिया विशेषण है। अर्थात् सव प्रकार। अछङ्कार्य-। भाव यह कि अछङ्कार नहीं ॥ ५॥

अलङ्कार को अलङ्कार्य से पृथक् मानना चाहिए, क्योंकि लोक में उस प्रकार सिद्ध है, जैसे गुणी से पृथक् गुण को माना जाता है। गुण और अळङ्कार का व्यवहार भी गुणी अलङ्कार्यं के रहने पर ही ठीक है। और वह (वात) हमारे पक्ष में ही उपपन्न होती है, इन दोनों अभिप्रायों से कहते हैं - और भी-। ये ही युक्तियां केवल रस के अङ्गी होने में ही नहीं; बल्कि और दूसरी भी सम्भव है; यह समुचयार्थ है। कारिका को भी इन दोनों अभिप्रायों से लगाना चाहिए। केवल पहले अभिप्राय में प्रथम

वत् । वाच्यवाचकलक्षणान्यङ्गानि ये पुनस्तदाश्रितास्तेऽलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत् ॥ ६ ॥

तथा च-

श्रृङ्गार एव मधुरः परः प्रह्लादनो रसः। तन्मयं काव्यमाश्रित्य माधुर्यं प्रतितिष्ठति॥ ७॥

'गुण' हैं। और जो वाच्य-वाचक रूप अङ्गों पर आश्रित होते हैं, वे कटक आदि की भाँति 'अलङ्कार' माने जाने चाहिए।

और उस प्रकार—श्रङ्गार ही मधुर एवं परम आह्वादकारी रस है, तन्मय (श्रङ्गारमय) कान्य को आश्रयण करके 'माधुर्य' प्रतिष्ठित होता है ॥ ७ ॥

लोचनम्

योज्या । केवलं प्रथमाभिप्राये प्रथमं कारिकार्धं दृष्टान्ताभिप्रायेण व्याख्येयम् ।

एवं वृत्तिप्रन्थोऽपि योज्यः ॥ ६ ॥

ननु शब्दार्थयोर्माधुर्यादयो गुणाः, तत्कथमुक्तं रसादिकमङ्गिनं गुणा आश्रिता इत्याशङ्कथाह्—तथा चेत्यादि । तेन वद्त्यमाणेन बुद्धिस्थेन परिहार-प्रकारेणोपपद्यते चेतदित्यर्थः । शृङ्गार एवेति । मधुर इत्यत्र हेतुमाह्—परः प्रहादन इति । रतौ हि समस्तदेगिन बङ्नरादिजातिष्वविचिछ्ननेव वासनास्त इति न कश्चित्तत्र ताद्ययो न हृद्यसंवादमयः, यतेरिप हि तचमत्कारोऽस्त्येव । अत एव मधुर इत्युक्तम् । मधुरो हि शर्करादिरसो विवेकिनोऽविवेकिनो वा स्वस्थस्यातुरस्य वा मदिति रसनानिपतितस्तावदमिलपणीय एव भवति । तन्मयमिति । स श्रङ्गार आत्मत्वेन प्रकृतो यत्र व्यङ्ग्यतया । काव्यमिति कारिकार्षं भाग को दृष्टान्त के अभिप्राय से व्याख्या करनी चाहिए । इसी प्रकार वृत्तिग्रन्थ को भी लगाना चाहिए ॥ ६ ॥

जब कि माधुर्य आदि गुण शब्द और अर्थ दोनों के हैं, तब कैसे कहा कि अंजी रसादि पर गुण आश्रित होते हैं ? यह आश्रद्धा करके कहते हैं—और उस प्रकार—। अर्थात अभी जो बुद्धि में स्थित परिहार का प्रकार कहने वाले हैं, उससे यह उपपन्न हो जायगा। श्रद्धार ही—। 'मधुर' होने का कारण कहते हैं—परम आह्वादकारी—। क्योंकि रित (श्रद्धार रस का स्थायी भाव) के सम्बन्ध में सारे देवता, पक्षी, मनुष्य आदि जातियों में वासना अविच्छिन्न रूप से 'विद्यमान रहती है; इस प्रकार कोई वैसा नहीं जो हृदयसंवाद धारण नहीं करता, क्योंकि यित (साधु-संन्यासी) को भी उस (रित) में चमत्कार (हृदयसंवाद) होता ही है। इसीलिए 'मधुर' यह कहा है। शक्कर आदि का मधुर रस विवेकी अथवा अविवेकी, स्वस्थ और रोगी की जीभ पर पड़ते ही अभिलवणीय हो जाता है। तन्मय—। वह 'श्रद्धार' व्यंग्य होने से आत्मा

शृङ्गार एव रसान्तरापेक्षया मधुरः प्रह्लादहेतुत्वात् । तत्प्रकाश्चन-परशब्दार्थतया काव्यस्य स माधुर्यलक्षणो गुणः । श्रव्यत्वं पुनरोज-सोऽपि साधारणमिति ॥ ७ ॥

श्रुक्षारे विप्रलम्भाख्ये करुणे च प्रकर्षयत् । माधुर्यमार्द्रतां याति यतस्तत्राधिकं मनः ॥ ८॥

श्रङ्कार ही दूसरे रसों की अपेचा आह्वादक होने के कारण मधुर है। शब्द और अर्थ श्रङ्काररस के प्रकाशन में तत्पर होते हैं अतः (शब्दार्थमय) काव्य का वह 'माधुर्य' रूप गुण है। श्रब्यत्व ओजस् का भी साधारण छच्चण है॥ ७॥

विप्रक्रम नाम के श्रङ्गार में और करुण में/ माधुर्य प्रकर्पयुक्त होता है, क्योंकि

वहाँ मन अधिक आर्द्रभाव प्राप्त करता है ॥ ८ ॥

लोचनम्

शब्दार्थावित्यर्थः । प्रतितिष्ठतीति । प्रतिष्ठां गच्छतीति यावत् । एतदुक्तं भवति—वस्तुतो माधुर्यं नाम शृङ्कारादे रसस्यैव गुणः । तन्मधुररसाभिव्यञ्ज-कयोः शब्दार्थयोरुपचितं मधुरशृङ्काररसाभिव्यक्तिसमर्थता शब्दार्थयोर्माधुर्य-मिति हि लक्षणम् । तस्माद्यक्तमुक्तं 'तमर्थमि'त्यादि । कारिकार्थ वृत्त्याह्—शृङ्कार इति । नतु 'श्रव्यं नातिसमस्तार्थशब्दं मधुरमिष्यते' इति माधुर्यस्य लक्षणम् । नेत्याह—श्रव्यत्वमिति । सर्वं लक्षणमुपलिश्तम् । श्रोजसोऽपीति । 'यो यः शस्त्रम्' इत्यत्र हि श्रव्यत्वमसमस्तत्वं चास्त्येवेति भावः ॥ ७ ॥

सम्मोगशृङ्गारान्मधुरतरो विप्रलम्भः, ततोऽपि मधुरतमः करुण इति तद्मिव्यञ्जनकौशलं शब्दार्थयोर्मधुरतरत्वं मधुरतमत्वं चेत्यभिप्रायेणाहः— स्य से जहाँ हो रहा हो। काव्य अर्थात् शब्द और अर्थं। प्रतिष्ठित होता है—प्रतिष्ठा को प्राप्त करता है। वात यह कही गई—वास्तव में 'माधुर्यं' शृङ्गार आदि रस का ही गुण है। वह (माधुर्यं) मधुररस के अभिव्यज्ञक शब्द और अर्थं में उपचरित (आरोपित) होता है, फलतः 'शब्द और अर्थं की जो मधुर शृङ्गाररस की अभिव्यक्ति की सामर्थ्यं है, वही माधुर्यं है' यह लक्षण है। इसलिए ठीक कहा है 'उस अर्थं को बें दिना के अर्थं को वृत्ति से कहते हैं—शृङ्गार—। शङ्का—जैसा कि (भामह ने) 'माधुर्यं' का लक्षण किया है 'श्रवणीय और जिसमें शब्द अधिक समासयुक्त अर्थं वाले न हों, वह मधुर' कहलाता है'; यह 'नहीं' यह कहते हैं — श्रव्यत्व—। (इतने से 'मधुर' का) पूरा लक्षण उपलक्षित कर लिया है। ओजस् का भी—। भाव यह है कि 'यो यः शस्त्रं विमित्ति के 'इस (ओजस् के) स्थल में श्रव्यत्व और असमस्तत्व दोनों ही हैं॥ ७॥

सम्मोग श्रृङ्गार से मघुरतर विप्रलम्भ श्रृङ्गार है, उससे भी मघुरतम करुण है, उस रस के अभिव्यञ्जन का कौशल शब्द-अर्थ का मघुरतरत्व और दूसरे का मधुरतमत्व

विप्रलम्भशृङ्गारकरुणयोस्तु माधुर्यमेव प्रकर्पवत् । सहृदयहृदया-वर्जनातिश्चयनिमित्तत्वादिति ॥ ८ ॥

रौद्रादयो रसा दीप्त्या लक्ष्यन्ते काव्यवर्तिनः। तद्वयक्तिहेतू शब्दार्थावाश्रित्यौजो व्यवस्थितम् ॥ ९॥ रौद्रादयो हि रसाः परां दीप्तिमुज्ज्वलतां जनयन्तीति लक्षणया

विप्रलम्भ श्रङ्गार और करूण में माधुर्य ही प्रकर्पयुक्त होता है, क्योंकि (वह माधुर्य) सहदय के हृदय को खींचने का अतिशय (उन्कृष्ट) निमित्त है ॥ ८॥

कान्य में रहनेवाले रौद्र आदि रस दीप्ति के कारण लित होते हैं, उस दीप्ति के न्यक्षक शब्द और अर्थ को आश्रयण करके ओजस् गुण न्यवस्थित है ॥ ९ ॥

रौद्र आदि रस अत्यन्त दीप्ति या उज्जवलता को उत्पन्न करते हैं, इसलिए

लोचनम्

शृङ्गार इत्यादि । करुणे चेति चशन्दः क्रममाह । प्रकर्षविदिति । उत्तरोत्तरं तरतमयोगेनेति भावः । त्रार्द्रतामिति । सहृदयस्य चेतः स्वाभाविकमनाविष्ट-त्वात्मकं काठिन्यं क्रोधादिदीप्रकृपत्वं विस्मयहासादिरागित्वं च त्यजतीत्यथः । त्रिम्बक्तमिति । क्रमेणेत्याशयः । तेन करुणेऽपि सर्वथैव चित्तं द्रवतीत्युक्तं भवति । ननु करुणेऽपि यदि मधुरिमास्ति, तर्हि पूर्वकारिकायां श्रङ्गार एवे-त्येवकारः किमर्थः । उच्यते—नानेन रसान्तरं व्यवच्छिद्यते; अपि त्वात्म-भूतस्य रसस्यैव परमार्थतो गुणा माधुर्यादयः, उपचारेण तु शब्दार्थयोरित्येव-

कारेण द्योत्यते । वृत्त्यार्थमाह—विप्रलम्मेति ॥ ८॥

रौद्रेत्यादि । आदिशब्दः प्रकारे । तेन वीराद्भुत्तयोरिप प्रहणम् । दीप्तिः है, इस अभिप्राय से कहते हैं—विप्रलग्भ श्रद्धार०—इत्यादि । और करूण में यहां 'और' शब्द क्रम को बताता है । प्रक्षंयुक्त—। भाव यह कि उत्तरोत्तर ज्यादा और ज्यादातर के होने से । आर्द्धभाव—। अर्थात् सहृदय का चित्त स्वाभाविक अनावेश-युक्तता रूप काठिन्य को, क्रोध आदि के कारण दीप्तरूपता को और विस्मय और हास के कारण विक्षेप की स्थिति को छोड़ देता है । अधिक—। 'क्रम से' यह आश्रय है । इससे यह कहा गया कि करण में भी सर्वथा ही चित्त पिघल पड़ता है । (शङ्का करते हैं कि) यदि करण में भी मधुरिमा है, तो पहली कारिका में 'श्रुङ्गार ही' यह 'एवत' ('ही') का प्रयोग किस लिए ? उत्तर में कहते हैं—इस 'एव' के प्रयोग से दूरारे रस का व्यवच्छेद या निराकरण नहीं कियां गया है, बल्कि 'एव'कार से छोतित होता है कि 'माधुयं' आदि परमार्थं रूप से आत्मभूत रस के ही गुण हैं, केवल उपचार (आरोप) से शब्द और अर्थं के भी गुण हो जाते हैं । वृत्ति से अर्थं कहते हैं—विप्रलम्भ० ॥ ८ ॥

रौद्र०-इत्यादि । 'आदि' शब्द 'प्रकार' (साहस्य) के अर्थ में है । इससे वीर

त एव दीप्तिरित्युच्यते । तत्प्रकाशनपरः शब्दो दीर्घसमासरचनाल-ङ्कृतं वाक्यम्। यथा—

छत्तणा से उन्हें ही 'दीप्ति' कही जाती है। उसका प्रकाशन करनेवाला शब्द दीर्घ समास की रचना से अलड्कृत वाक्य है। जैसे—

लोचनम्

प्रतिपत्तुर्हृद्ये विकासिवस्तारप्रज्वलनस्वमावा। सा च मुख्यतया ओजश्शब्द्ववाच्या। तदास्वादमया रोद्राचाः, तया दीप्त्या आस्वाद्विशेषात्मिक्तया कार्य-क्ष्या लद्द्यन्ते रसान्तरात्पृथक्त्या। तेन कारणे कार्योपचाराद्वौद्रादिरेवौजःश्व्यवाच्यः। ततो लक्षितलक्षणया तत्प्रकाशनपरः शब्दो दीर्घसमासरचन्वाक्यक्षपोऽपि दीप्तिरित्युच्यते। यथा 'चक्रविदे त्यादि। तत्प्रकाशनपरश्चार्थः प्रसन्नेर्गमकैर्वोचकरिमधीयमानः समासानपेद्द्यपि दीप्तिरित्युच्यते। यथा— और 'अद्भुत का भी ग्रहण है। दीप्ति प्रतिपत्ता या सहृदय के हृदय में विकास, विस्तार और प्रज्वलन की अवस्था को आहित करती है। वह मुख्य रूप से 'ओजस्' शब्द से कही जाती है। रोद्र आदि उस दीप्ति के आस्वाद से युक्त हैं। आस्वाद विशेष एवं कार्य रूप दीप्ति से (वे रोद्र आदि रस) अन्य रसों से पृथक् रूप में लक्षित होते हैं। इस लिए कारण में कार्य के उपचार से 'रोद्र' आदि ही 'ओजस्' शब्द के वाच्य हैं। इस लिए 'लक्षित लक्षणा' के द्वारा रोद्र आदि का प्रकाशक शब्द दीर्घसमास की रचना का वाक्य रूप होकर भी 'दीप्ति' कहलाता है। जैसे—

१. 'रीद्र आदि' में 'आदि' पद को छोचनकार ने प्रकार या साहरय के अर्थ में माना है और इससे 'वीर और अद्भुत का भी प्रहण' किया है। अर्थात् रीद्र के सहश रस वीर आदि दीति से छित्रत होते हैं। यहाँ 'वालप्रिया' में यह शक्का उठाई गई है कि जब कि स्वयं छोचनकार को गादि को दीति का जनक लिख कर इसी कम में और विस्मय, हास आदि को रागित्व या विक्षेप का जनक बताते हैं, ऐसी स्थिति में दीति के जनक होने के कारण को शादि के 'आदि' शब्द से अद्भुत या विस्मय का प्रहण हो हो जाता है किए 'विस्मय' का रागित्व या विक्षेप के जनक के रूप में पुनः उछेखं करने की आवश्यकता क्या ी १ इससे तो यहाँ विदित होता है कि 'क्रोधादि' से 'वार' को ही प्रहण किया जा सकता है 'अद्भुत' को नहीं। इस प्रकार प्रस्तुत में भी जब 'लोचन' में 'रीद्रादि' से धीर और अद्भुत के प्रहण का उछ व है तो पूर्व प्रन्थ से इस प्रन्थ का विरोध स्पष्ट हैं, ऐसी स्थिति में प्रस्तुत 'अद्भुत' पद के स्थान में 'वीमत्स' यह पाठ होना चाहिए। किन्तु यहाँ विद्याखना' में मेरे गुरु जी का कहना है कि यहाँ 'अद्भुत' से वीर के विमाव से उत्पन्न 'अद्भुत' के प्रहण करने पर कोई शक्का दिता नहीं होगी।

२. लक्षितलक्षणा अर्था च लक्षित में लक्षणा। कुळ लोगों ने लक्षित अर्थ से लक्षणा को 'लक्षित' लक्षणा' माना और कुळ ने अन्यार्थ के परम्परा तम्बन्ध को लक्षितलक्षणा माना है। अस्तु, यहाँ 'ओजस' अन्य को सुद्धा अर्थ है दीप्ति। रौद्रादि से दीप्ति उत्पन्न होती है, इस लिए रौद्र आदि मां 'ओजस' अन्य से लक्षित होते हैं और इस प्रकार दीर्थ समास की रचना से अलंकत वाक्य रौद्रादि का

चश्चद्शुजश्रमितचण्डगदामिघातसञ्चूणितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य । स्त्यानावगद्धघनशोणितशोणपाणिरुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः ॥

हे देवि, आवर्तन करती हुई दोनों अजाओं से घुमाई गई प्रचण्ड गता के अभिघात से सम्यक् प्रकार से चूर्णित ऊरुयुगल वाले सुयोधन के निकल कर जमे हुए इने जोणित से लाल हार्योवाला भीम तेरे वालों को सँवारेगा।

लोचनम्

'यो यः' इत्यादि । चश्चदिति । चश्चद्भयां वेगादावर्तमानाभ्यां भुजाभ्यां भ्रमिता येयं चरडा दारुणा गदा तया योऽभितः सर्वत ऊर्वोर्घातस्तेन सम्यक् चूर्णितं पुनरनुत्थानोपहतं कृतमूरुयुगलं युगपदेवोरुद्वयं यस्य तं सुयोधनमनाहरयैव स्त्यानेनाश्यानतया न तु कालान्तरशुक्कतयावबद्धं हस्ताभ्यामविगलद्रूपमत्यन्त-माभ्यन्तरतया घनं न तु रसमात्रस्वभावं यच्छोणितं रुधिरं तेन शोणौ लोहितो पाणी यस्य सः। अत एव स भीमः कातरंत्रासदायी। तवैति । यस्यास्तत्तत्पमानजातं कृतं देव्यनुचितमपि तस्यास्तव कचानुत्तंसयिष्यत्यु-करिष्यति, वेणीत्वमपहरन् करविच्युतशोणितशकलेलीहितद्वसुमा-पीडेनेव योजयिष्यतीत्युत्प्रेक्षा । देवीत्यनेन कुलकलत्रिखलीकारस्मरणकारिणा 'चञ्चत्°' इत्यादि । रौद्र आदि का प्रकाशक अर्थ प्रसन्न एवं वोषक वाचकों द्वारा अभिहित होता हुआ, समास की अपेक्षा न करके भी 'दीप्ति' कहलाता है। जैसे-'यो यः शस्त्रम् ०' इत्यादि । वेग से आवर्तन करती हुई मुजाओं से घुमाई गई जो यह चण्ड गदा, उसके द्वारा सब ओर जो जांघों पर प्रहार है उसके कारण सम्यक् चूर्णित अर्थात् फिर से उठने के नाकाबिल बना दिया एक ही समय ऊच्युगल है जिसका, उस सुयोधन को अनादर करके ही घनीभूत हो जाने से, न कि कालान्तर में सूख जाने से, वंधा हुआ अर्थात् हाथों से छुड़ाया न जाता हुआ, पकड़ लेने के कारण घना, न कि रस (द्रव) रूप जो शोणित या रुधिर उससे लाल हाथ हैं जिसके ऐसा वह। अतएव वह कातर (डरपोंक) लोगों को त्रस्त करने वाला भीम। तेरा—। जिस देवी के लिए अनुचित होने पर भी उन-उन अपमानों को किया, उस तेरे बालों को उत्तंसित करेगा—उत्तंसयुक्त करेगा। उत्प्रेक्षा यह है कि एकलट बने हुए बालों को अलग-अलग करके हाथ से टपकते हुए खून के बिन्दुओं के रूप में लाल फूलों के बने आमूषण से मानों युक्त करेगा। कुलांगना के अपकार की याद दिलाने वाले 'देवि'

मकाशक होता है अतः 'ओजस्' शब्द से वह भी लक्षित होता है। इस प्रकार यहाँ लक्षित में लक्ष्मणा (लक्षितलक्ष्मणा) है।

तत्त्रकाशनपरश्रार्थोऽनपेक्षितदीर्घसमासरचनः प्रसन्नवाचका-

भिधेयः। यथा-

यो यः शस्त्रं विभर्ति स्वभुजगुरुमदः पाण्डवीनां चमूनां यो यः पाञ्चालगोत्रे शिशुरधिकवया गर्भशय्यां गतो वा।

और उस (ओज) का प्रकाशक, दीर्घ समास की अपेत्रा न करनेवाला, प्रसन्न

(प्रसाद-युक्त) वाचकों द्वारा अभिहित अर्थ है, जैसे-

पाण्डवी सेनाओं में अपनी सुजाओं पर अधिक गर्व करनेवाला जो-जो (न्यक्ति) शस्त्र धारण करता है, पाञ्चाल के गोत्र में जो-जो वड़ा-छोटा अथवा अभी गर्भ में लोचनम्

क्रोधस्यैवोद्दीपनविभावत्वं कृतमिति नात्र शृङ्गारशङ्का कर्तव्या । सुयोधनस्य चानादरणं द्वितीयगदाधातदानाद्यनुद्यमः । स च सञ्जूणितोक्तत्वादेव । स्त्यान-प्रह्णोन द्रौपदीमन्युप्रक्षालने त्वरा सूचिता । समासेन च सन्तत्तवेगवहनस्य भावात् तावत्येव मध्ये विश्रान्तिमलभमाना चूणितोक्त्द्वयसुयोधनानादरणपर्यन्ता प्रतीतिरेकत्वेनव भवतीत्यौद्धत्यस्य परं परिपोषिका । अन्ये तु सुयोधनस्य सम्बन्धि यतस्त्यानावबद्धं धनं शोणितं तेन शोणपाणिरिति व्याचक्षते ।

य इति । स्वभुजयोर्गुकर्मदो यस्य चमूनां मध्येऽर्जुनादिरित्यर्थः । पाछ्रा-लराजपुत्रेण घृष्टयुम्नेन द्रोणस्य व्यापादनात्तत्कुलं प्रत्यधिकः क्रोधावेशोऽश्व-त्याम्नः। तत्कर्मसाक्षीति कर्णप्रभृतिः। रणे सङ्ग्रामे कर्तव्ये यो मयि मद्विषये इस सम्बोधन से क्रोध का ही उद्दीपन विभाव रूप का सम्पादन किया है, ऐसी स्थिति

में यहाँ 'श्रुङ्गार' की शंका नहीं करनी चाहिए।

दूसरी बार गदा का आघात देने का उद्योग न कैरना, यह सुयोधन का अनादर है। वह अनुद्योग उसके ऊरुयुगल के सन्चूर्णित हो जाने से ही स्पष्ट हो जाता है। 'स्त्यान' ('घनीभूत') कहने से द्रौपदी के क्रोध के प्रक्षालन में त्वरा सूचित की है। और समास के द्वारा निरन्तर वेग से वहने के स्वभाव के कारण तब तक मध्य में विश्राम न प्राप्त करती हुई, चूणित ऊरुयुगल वाले सुयोधन के अनादरण तक पर्यंविसत प्रतीति एकस्प से होती है, इस प्रकार वह (भीम के) औद्धत्य का पूर्ण स्प से परिपोध करती है। दूसरे लोग व्याख्या करते हैं कि 'सुयोधन का जो स्त्यानावबद्ध (जोर से निकल कर घनीभूत), घन (अर्थांत् गाढ़ा) जो शोणित, उससे लाल हाथ वाला'।

पाण्डवी सेनाओं में—सेनाओं के वीच अपनी भुजाओं पर अधिक मद है जिसका, अर्थात् अर्जुन आदि। पाञ्चाल नरेश के पुत्र घृष्टचुम्न ने द्रोण का वध किया, अतः उसके कुल के प्रति अश्वत्यामा का क्रोधावेश अधिक है। उस (द्रोणवध रूप) कर्म के साक्षी, (आंखों के सामने द्रोण का वध देखने वाले) कर्ण प्रमृति। मेरे द्वारा कर्तव्य

यो यस्तत्कर्मसाक्षी चरति मयि रणे यश्च यश्च प्रतीपः क्रोधान्धस्तस्य तस्य स्वयमपि जगतामन्तकस्यान्तकोऽहम् ॥

पड़ा है, और जो-जो उस कर्म (द्रोण के वध) का साची है और जो-जो मेरे युद्ध-भूमि में विचरण करते समय विरोधी होगा, उस-उस का क्रोध से अंधा मैं अन्त कर डाल्ड्रेगा, वह चाहे स्वयं भी सव जगत् का अन्त करनेवाला (यमराज) ही क्यों न हो।

लोचनम्

प्रतीपं चरित समरविष्ठमाचरित । यद्वा मिय चरित सित सङ्ग्रामे यः प्रतीपं प्रतिकृतं कृत्वास्ते स एवंविधो यदि सकताजगदन्तको भवति तस्याप्यहम-न्तकः किमुतान्यस्य मनुष्यस्य देवस्य वा । अत्र पृथ्गभूतै रेव क्रमाद्विमृश्यमा-नैरथैं: पदात्पदं क्रोधः परां धारामाश्रित इत्यसमस्ततैव दीप्तिनिबन्धनम्। एवं माधुर्यदीप्ती परस्परप्रतिद्वन्द्वितया स्थिते शृङ्गारादिरौद्रादिगते इति प्रदर्शयता तत्समावेशवैचित्र्यं हास्यभयानकबीभत्सशान्तेषु दर्शितम्। हास्यस्य शृङ्गा-राङ्गतया माधुर्यं प्रकृष्टं विकासधर्मतया चौजोऽपि प्रकृष्टमिति साम्यं द्वयोः। भयानकस्य भग्नचित्तवृत्तिस्वभावत्वेऽपि विभावस्य दीप्ततया ओजः प्रकृष्टं संग्राम में जो मेरे प्रति प्रतीप आचरण करेगा अर्थात् समर में विन्न करेगा। अथवा, मेरे संग्राम में विचरण करते समय जो प्रतीप या प्रतिकूल करके रहेगा, ऐसा वह यदि सारे संसार का अन्तक है तो उसका भी मैं अन्तक हैं, फिर दूसरे मनुष्य या देवता की वात क्या ? यहाँ अलग-अलग हुए ही एवं ऋम से विमृश्यमान अर्थों द्वारा क्रीव एक पद से दूसरे पद में उत्कृष्ट धारा पर आश्रित है (उत्कर्ष पर चढ़ता जाता है), इस प्रकार असमस्त (समास-रहित) होना ही दीप्ति का कारण (निबन्धन) है। इस प्रकार माध्यं और दीप्ति दोनों एक दूसरे के विरोधी रूप में स्थित हो शृङ्कार आदि और रौद्र आदि रसों में होते हैं, यह दिखाते हुए (ग्रन्थकार ने) उनके समावेश का वैचित्र्य हास्य, भयानक, बीभत्स और शान्त रसों में दिखाया है। विभाग यह है कि हास्य शृङ्गार का अंग है, इस लिए उसमें माधूर्य प्रकृष्ट होता है, एवं विकास-धर्मी होने के कारण ओज भी उसमें प्रकृष्ट होता है, इस प्रकार दोनों का साम्य है। मयानक में चित्तवृत्ति भन्न हो जाती है, फिर भी उसका विभाव दीप्त (ओजस्वी) होता है, अतः ओज प्रकृष्ट है और माधूर्य अल्प। इसी प्रकार बीमत्स में भी।

१. 'बाळप्रिया' में दोनों स्थानों में 'बीमत्स' के स्थान पर 'अद्भुत' पाठ माना है। क्योंकि 'रौद्रादि' में 'आदि' पद से बामत्स का परिम्रह हो चुका है, अतः उसमें केवल 'दािस' होती है, माधुर्य नहीं।

इत्यादौ द्वयोरोजस्त्वम् ॥ ९ ॥ समर्पकत्वं काव्यस्य यत्तु सर्वरसान् प्रति । स प्रसादो गुणो ज्ञेयः सर्वसाधारणिक्रयः ॥ १० ॥

इस्यादि उदाहरणों में दोनों (शब्द और अर्थ) ओजस् गुण से युक्त हैं ॥ ९ ॥ कान्य का सब रसों के प्रति जो समर्पकत्व है, सभी रसों और रचनाओं में साधारण (सामान्य) रूप से अवस्थित उंसे 'प्रसाद गुण' समझना चाहिए ॥ १० ॥ लोचनम्

माधुर्यमल्पम् । बीभत्सेऽप्येवम् । शान्ते तु विभाववैचित्र्यात्कद्।चिद्रोजः प्रकृष्टं

कदाचिन्माधुर्यमिति विभागः।। ६॥

समर्पकत्वं सम्यापिकत्वं हृद्यसंवादेन प्रतिपत्तृन् प्रति स्वात्मावेशेन व्यापा-रक्तवं मिटिति शुष्ककाष्टाग्निहृष्टान्तेन । अकलुषोद्कहृष्टान्तेन च तद्कालुग्यं प्रसन्नत्वं नाम सर्वरसानां गुणः । उपचारात्तु तथाविधे व्यङ्ग-चेऽर्थे यच्छव्दा-ध्योः समर्पकत्वं तद्पि प्रसादः । तमेव व्याचष्टे-प्रसादेति । ननु रसगतो गुणस्तत्कथं शब्दार्थयोः स्वच्छतेत्याशङ्कथाह्—स चेति । चश्वद्रोऽवधारणे । सर्वरससाधारण एव गुणः । स एव च गुण एवंविधः । सर्वा येयं रचना शब्दगता चार्थगता च समस्ता च तत्र साधारणः । मुख्यतयेति । अर्थस्य तावत्समर्पकत्वं व्यङ्ग-चं प्रत्येव सम्भवति नान्यथा । शब्दस्यापि स्वयाच्यापकत्वं नाम कियद्वाकिकं येन गुणः स्यादिति भावः । एवं माधुर्यौन जःप्रसादा एव त्रयो गुणा उपपन्ना सामहाभिप्रायेण । ते च प्रतिपत्त्रास्वाः । वान्त में विभाव के वैचित्र्य से कभी क्षोज प्रकृष्ट होता है तो कभी माधुर्यं ॥ ९ ॥

समर्पंकत्व अर्थात् सम्यक् प्रकार से अपंणकर्तृत्व; जिस प्रकार सुखे काठ में आग झट से व्याप्त हो जाती है जसी प्रकार हृदय के एक-रूप होने (हृदयसंवाद) के कारण जानकारों (प्रतिपत्ताओं) के प्रति (अर्थात् जनके हृदयों को) स्वस्वरूप से व्याप्त कर लेना (अथवा), जिस प्रकार काछुज्यरहित (स्वच्छ) वस्त्र को झट से जल व्याप्त कर लेता है, इस ढंग से वह अकाछुज्य प्रसन्नत्व (प्रसाद) सभी रसों का गुण है। उपचार (लक्षणा) से, उस प्रकार के (रस रूप) व्यंग्य अर्थ के सम्वन्ध में भी जो शब्द और अर्थ का 'समर्पकत्व' है, वह भी 'प्रसाद' है। उसी की व्याख्या करते हैं—प्रसाद—। जब कि गुण रसगत धम है तब शब्द और अर्थ की स्वच्छता कैसे? यह आशक्का करके कहते हैं—और वह—। 'और' शब्द अवधारणार्थक हैं; सभी रसों में साधारण रूप से ही रहने वाला गुण है और वही गुण इस प्रकार का है। शब्दगत और अर्थगत एवं समस्त और असमस्त इन सब प्रकार की रचनाओं में साधारण रूप से रहने वाला है। सुख्य रूप से—। भाव यह कि अर्थ का समर्पकत्व व्यंग्य के प्रति ही सम्भव होगा, अन्यथा नहीं; शब्द का भी अपने वाच्य का अर्थकत्व कितना अलैफिक है जिससे गुण माना जाय ? इस प्रकार भामह के अभिप्राय से माधुर्य,

प्रसादस्तु स्वच्छता शब्दार्थयोः । स च सर्वरससाधारणो गुणः सर्वरचनासाधारणश्च व्यङ्गयार्थापेक्षयैव ग्रुख्यतया व्यवस्थितो मन्तव्यः ।

श्रुतिदुष्टादयो दोषा अनित्या ये च दर्शिताः। ध्वन्यात्मन्येव श्रङ्गारे ते हेया इत्युदाहृताः॥ ११॥

प्रसाद शब्द और अर्थ की स्वच्छता है, और वह सभी रसों और रचनाओं में सामान्य रूप से रहनेवाला एवं मुख्य रूप से व्यक्त्य अर्थ की अपेन्ना से ही (उसके ही समर्पक रूप में) व्यवस्थित मानना चाहिए॥ १०॥

जो श्रुतिदुष्ट आदि अनित्य दोप दिखाए गए हैं वे ध्वनिरूप श्रङ्गार में ही त्याज्य कहे गए हैं ॥ ११ ॥

लोचनम्

मया सुख्यतया तत आस्त्राद्ये उपचरिता रसे ततस्तद्व यञ्जकयोः शब्दार्थयोरिति तात्पर्यम् ॥ १० ॥

एवमस्मत्पक्ष एव गुणालङ्कारव्यवहारो विभागेनोपपद्यत इति प्रदर्श्य नित्यानित्यदोषविभागोऽप्यस्मत्पक्ष एव सङ्गच्छत इति दर्शयितुमाह— श्रुतिदुष्टादय इत्यादि।वान्ताद्योऽसभ्यस्मृतिहेतवः।श्रुतिदुष्टांअर्थदुष्टा वाक्यार्थ-बलाद्श्रीलार्थप्रतिपत्तिकारिणः। यथा—'छिन्द्रान्वेषी महांस्तब्धो घातायैवोप-

बोज, प्रसाद ये 'तीन ही गुण हैं। वे मुख्य रूप से प्रतिपत्ता (जानकार अर्थात् सहृदय) के आस्वाद स्वरूप हैं तब लक्षण से आस्वाद्य रस में उपचरित हैं, तब उस (रस) के व्यक्षक शब्द और अर्थ में उपचरित हैं, यह तात्पर्य है।। १०।।

इस प्रकार हमारे पक्ष में ही गुण और अलंकार का व्यवहार विभागपूर्वक बनता है, यह बताकर दोषों का नित्यानित्य-विभाग भी हमारे पक्ष में ही सङ्गत होता है, यह दिखाने के लिए कहते हैं — जो श्रुतिदुष्ट आदि इत्यादि । 'वान्त' (उगला हुआ) आदि असम्य स्मृति को उत्पन्न करने वाले । श्रुतिदुष्ट और वाक्यार्थ के बल से अश्लील अर्थ की प्रतीति कराने वाले अर्थदुष्ट; जैसे — 'बड़ा स्तब्ध और छिद्र का अन्वेषण करने वाला, घात ही के लिए पहुंच जाता है'। दो पदों की कल्पना से 'कल्पनादुष्ट' होते

१ रेंगुण और अलङ्कार का भेद, एवं गुण के भेद के सम्बन्ध में विचार साहित्य-शास्त्र का मुख्य प्रकरण है। ध्वन्यालोक और लोचन के अनुसार इन तीनों का विचार हो चुका। कान्यप्रकाश, साहित्य-दर्पण आदि परवर्ती ग्रन्थों में ध्वन्यालोक-लोचन के ही विचारों का अनुसरण हुआ है। गुण और अलङ्कार का भेद करते हुए 'वामन' ने कहा है—'कान्यशोमायाः कर्तारो धर्मा गुणाः, तदितशयहेतवस्त्वलङ्काराः, अर्थात् कान्य की शोभा को उत्पन्न करने वाले धर्म गुण हैं और शोभा को वृद्धि करने वाले धर्म अलङ्कार है। 'कान्यप्रकाश' में इसका खण्डन मिलता है। और, मट्ट उद्भट ने तो गुण और अलङ्कार का कोई भेद ही नहीं माना है, उनके अनुसार ओजस् प्रभृति

अनित्या दोषाश्च ये श्रुतिदुष्टादयः सूचितास्तेऽपि न वाच्ये अर्थ-मात्रे, न च व्यङ्गये शृङ्गारव्यितरेकिणि शृङ्गारे वा ध्वनेरनात्मभृते। कि तिर्हे १ ध्वन्यात्मन्येव शृङ्गारेऽङ्गितया व्यङ्गये ते हेया इत्युदाहृताः। अन्यथा हि तेषामनित्यदोषतेव न स्यात्। एवमयमसंलक्ष्यक्रमद्योतो ध्वनेरात्मा प्रदर्शितः सामान्येन॥ ११॥

अनित्य दोष ज़ो श्रुतिदुष्ट आदि सूचित किए गए हैं वे भी न अर्थमात्र वाच्य में और न श्रङ्काररिहत व्यङ्ग्ध में अथवा न ध्वनि के अनात्मभूत श्रङ्कार में होते हैं। तब क्या होते हैं ? अङ्गीरूप व्यङ्ग्ध ध्वन्यात्मा श्रङ्कार में ही वे त्याज्य कहे गए हैं। ऐसा न माना जाय तो उनका अनित्य दोष होना ही नहीं बनेगा। इस प्रकार सामान्य रूप से यह असंकृष्यक्रमव्यङ्ग्ध रूप ध्वनि का आत्मा वताया गया॥ १९॥

लोचनम्

सर्पति' इति। कल्पनादुष्टास्तु द्वयोः पदयोः कल्पनया। यथा 'कुरु रुचिम्' इत्यत्र क्रमन्यत्यासे । श्रुतिकष्टस्तु अधाक्षीत् अक्षोत्सीत् तृरोिढि इत्यादि । श्रुङ्गार इत्युचितरसोपलक्षणार्थम् । वीरशान्ताद्भुतादाविप तेषां वर्जनात् । सूचिता इति । न त्वेषां विषयविभागप्रदर्शनेनानित्यत्वं भिन्नवृत्तादिदोषेभ्यो विविक्तं प्रदर्शितम्। नापि गुर्योभ्यो व्यतिरिक्तत्वम् । वीभत्सहास्यरौद्रादौ त्वेषामस्माभिरुपगमात् श्रुष्टारादौ च वर्जनादनित्यत्वं च दोषत्वं च समर्थितमेवेति भावः ॥ ११ ॥

हैं, जैसे 'कुर रिवम्' इस कम को बदल देने पर । 'श्रुतिकष्ट' है, 'अधाक्षीत' 'असोत्सीत्', 'तृणेिंढ' इत्यादि । उचित रस के उपलक्षण के लिए 'श्रुङ्गार' का प्रयोग किया है। वीर, शान्त, अद्भुत आदि रसों में भी उन (दोषों) का वर्जन है। स्चित—। न कि विषय-विभाग दिखाने से इन के अनित्यत्व को भिन्नवृत्त आदि दोषों से अलग दिखाया गया है। और न कि इनका गुणों से, व्यितिरक्तत्व भी वताया है। वीमत्स, हास्य और रीद्र आदि में इन दोषों को हमने स्वीकार किया है और श्रुङ्गार आदि में इनका वर्जन किया है, अतः इनके अनित्यत्व और दोषत्व का समर्थन ही किया है। ११॥

गुण और अनुप्रासादि अलङ्कार दोनों हा समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। लीकिक गुण और अल्ङ्कार में मेद अवश्य है, किन्तु कान्य के गुण और अलङ्कार में मेद की कल्पना गङ्खिका-प्रवाह (मेड्चाल) है। आलोक और लोचन में गुण को रसनिष्ठ धर्म एवं अलङ्कार को शब्द-अर्थनिष्ठ धर्म माना है, इस प्रकार आश्रयमेद से मेद है।

प्रस्तुत प्रत्य में माधुर्य, ओजस् और प्रसाद ये तीन ही गुण माने हैं। जो कि प्राचीन प्रत्यों में दस शब्द-गुण और दस अर्थ-गुणों का उद्घेस मिलता है उसका अन्तर्भाव, जैसा कि 'काव्यप्रकार' में बताया गया है इन्हीं तीन गुणों में हो जाता है। यह विषय 'काव्य-प्रकाश' (अष्टम उद्घास) से विदित कर छेना चाहिए।

तस्याङ्गानां प्रभेदा ये प्रभेदाः स्वगताश्च ये। तेषामानन्त्यमन्योन्यसम्बन्धपरिकल्पने ॥ १२॥

अङ्गितया व्यङ्गचो रसादिर्विवक्षितान्यपरवाच्यस्य ध्वनेरेक आत्मा य उक्तस्तस्याङ्गानां वाच्यवाचकानुपातिनामलङ्काराणां ये प्रभेदा निर-वधयो ये च स्वगतास्तस्याङ्गिनोऽर्थस्य रसभावतदाभासतत्प्रश्चमलक्षणा विभावानुभायव्यभिचारिप्रतिपादनसहिता अनन्ताः स्वाश्रयापेक्षया

उसके अर्कों के जो प्रभेद हैं और जो स्वगत प्रभेद हैं, परस्पर सम्बन्ध की परि-कल्पना करने पर उनका आनन्त्य हो जायगा॥ १२॥

अङ्गी होने के कारण व्यंग्य जो रसादि विविच्चतान्यपरवाच्य ध्विन का एक आत्मा कहा गया है, उसके वाच्य-वाचक के कारण होनेवाले अङ्गों के जो अनन्त प्रभेद हैं और जो स्वगत प्रभेद हैं उस अङ्गी रूप अर्थ के रस, भाव, रसाभास, भावा-भास, भावप्रशम रूप विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी के प्रतिपादन के साथ अनन्त,

लोचनम्

श्रृङ्गानामित्यलङ्काराणाम् । स्वगता इति । आत्मगताः सम्भोगविप्रल-म्भाद्या आत्मीयगता विभावादिगतास्तेषां लोष्ट्रप्रस्तारेणाङ्गाङ्गिमावे का गण-नेति भावः । स्वाश्रयः स्त्रीपुंसप्रकृत्योचित्यादिः । परस्परं प्रेम्णा दर्शनमित्यु-पलक्षणं सम्भाषणादेरिष । सुरतं चातुःषष्टिकमालिङ्गनादि । विहरणमुद्यान-गमनम् । आदिप्रहर्णेन जलक्रीडापानकचन्द्रोदयक्रीडादि । अभिलाषविप्रलम्भो द्वयोरप्यन्योन्यजीवितसर्वस्वाभिमानात्मिकायां रतावुत्पन्नायामि कुतिश्चिद्धेतो-

अङ्गों के अर्थात् अलङ्कारों के । स्वगत—। अर्थात् आत्मगत, सम्भोग, विप्रलम्भ आदि आत्मीयगत, विभावादिगत । भाव यह कि इनके लोष्ट्रप्रस्तार से अङ्गाङ्गिभाव की कल्पना करने पर, कोई गणना नहीं । स्वाश्रय (अपना आश्रय), अर्थात् स्त्री, पुरुष की प्रकृति का औचित्य आदि । परस्पर प्रेम से दर्शन; यह सम्भाषण आदि का उपलक्षण है । आलिङ्गन आदि 'चौंसठ प्रकार का सुरत । विहरण अर्थात् उद्यानगमन । 'आदि' ग्रहण से जलकीडा, पानक, चन्द्रोदयकीडा आदि । दोनों (नायक और नायिका) के एक-दूसरे को अपना जीवितसर्वस्व के अभिमान रूप रित के उत्पन्न हो जाने पर भी किसी कारणवश समागम के प्राप्त न होने पर 'अभिलाषविप्रलम्म'

१. वात्स्यायन के 'कामसूत्र' में ६४ प्रकार के सुरत का वर्णन है— आलिङ्गन सुम्बनन सच्छेब-दशनच्छेबसंवेशन सीः कृतपुरुषायितौपरिष्टकान मिधाना मधाना विकल्पमेदाद धावष्टका शतुष्पष्टिरिति वा-अवीयाः' (२. २. ४)। ये आलिङ्गन आदि आठ अपने-अपने आठ-आठ प्रमेदों के द्वारा सब मिल कर ६४ प्रकार के होते हैं। प्रत्येक का कामसूत्र में लक्षण मी निर्दिष्ट है।

निःसीमानो विशेपास्तेपामन्योन्यसम्बन्धपरिकल्पने क्रियमाणे कस्यचिद्वन्यतमस्यापि रसस्य प्रकाराः परिसङ्ख्यातुं न शक्यन्ते किम्रुत सर्वेपाम् । तथा हि शृङ्कारस्याङ्गिनस्तावदाद्यौ द्वौ भेदौ—सम्भोगो विश्रलम्भश्च । सम्भोगस्य च परस्परश्रेमदर्शनसुरतविहरणादिलश्चणाः प्रकाराः । विश्रलम्भस्याप्यभिलापेष्याविरहप्रवासविश्रलम्भादयः । तेपां च प्रत्येकं अपने आश्रय की अपेचा निःसीम विशेप हैं, उनके परस्पर सम्बन्ध की कल्पना करने पर किसी एक भी रस के प्रकार गिनाये नहीं जा सकते, सर्वो की तो बात नया १ जैसा कि अङ्गी श्वङ्गार के पहले दो भेद हैं—सम्भोग और विप्रलम्भ । सम्भोग के परस्पर प्रेम से दर्शन, सुरत, विहरण आदि रूप प्रकार हैं । विप्रलम्भ के भी अभिलाप, ईप्यां, विरह, प्रवास, विप्रलम्भ आदि (प्रकार) हैं । विभाव, अनुभाव,

लोचनम्

रप्राप्तसमागमत्वे मन्तव्यः । यथा 'सुखयतीति किमुच्यत' इत्यतः प्रभृति

वत्सराजरत्नावल्योः, न तु पूर्वं रत्नावल्याः । तदा हि रत्यभावे कामावस्थामात्रं तत्। ईर्ष्यावित्रलम्भः प्रणयखरडनादिना खण्डितया सह। विरहविप्रलम्भः पुनः खण्डितया प्रसाद्यमानयापि प्रसादमगृह्णन्त्या ततः पश्चात्तापपरीतत्वेन विरहोत्कण्ठितया सह मन्तव्यः । प्रवासविप्रलम्भः प्रोषितभर्त्वकया सहेति विभागः। आदिप्रहणाच्छापादिकृतः, विप्रलम्भ इय च विप्रलम्भः। वङ्क नायां हाभिलिपतो विषयो न लभ्यते; एवमत्र । तेथां चेति । एकत्र सम्भोगाः दीनामपरत्र विभावादीनाम्। आश्रयो मलयादिः मारुतादीनां विभावानाः मिति यदुच्यते तहेशशब्देन गतार्थम् । तस्मादाश्रयः कारणम् । यथा ममैव-माना जाना चाहिए। जैसे, 'सुखयतीति किमुच्यते' इससे लेकर वत्सराज और रत्नावली का, न कि पहले रत्नावली का । क्योंकि उस समय रित नहीं है, वह सिर्फ कामावस्था है। खण्डिता नायिका के साथ प्रणय के खण्डन आदि से 'ईर्व्याविप्रलम्भ' है। 'खण्डिता' अवस्था में प्रसन्न करने की चेष्टा करने पर भी प्रसन्न न होती हुई, उसके कारण पश्चात्ताप में पड़ी होने से 'विरहोत्कण्ठिता' नायिका के साथ 'विरहिविप्रलम्से मान जाना चाहिए। 'प्रोषितमर्तृका' नायिका के साथ 'प्रवासविप्रलम्भ' होता है यह (इनका) विभाग है। आदि ग्रहण से शाप आदि द्वारा किया हुआ। विप्रलम्ब के समान विप्रलम्भ है, क्योंकि वञ्चना में अभिलिषत विषय प्राप्त नहीं होता, इसी प्रकार यहाँ (अभिलिषत विषय प्राप्त नहीं होता, अतः वञ्चनार्थंक 'विप्रलम्भ' शब्द का प्रयोग किया है) । उनका—। एकत्र सम्मोग आदि का, अपरत्र विभाव आदि का। मारुत आदि विमावों का आश्रय मलय आदि जो कहा है वह 'देश' शब्द है गतायं है। इसलिए आश्रय अर्थात् कारण् । जैसा कि मेरा ही-

विभावानुभाववयिभचारिभेदः । तेषां च देशकालाद्याश्रयावस्थाभेद इति स्वगतभेदापेक्षयेकस्य तस्यापरिभेयत्वम् , किं पुनरङ्गप्रभेदकल्प-नायाम् । ते हाङ्गप्रभेदाः प्रत्येकमङ्गिप्रभेदसम्बन्धपरिकल्पने क्रियमाणे सत्यानन्त्यमेवोपयान्ति ॥ १२ ॥

दिख्यात्रं तूच्यते येन व्युत्पन्नानां सचेतसाम्। बुद्धिरासादितालोका सर्वत्रैव भविष्यति॥१३॥

स्यभिचारी के अनुसार उनका अलग-अलग भेद है। उनका भी देश, काल आदि आश्रय एवं अवस्था के अनुसार भेद है, इस प्रकार स्वगत भेद की अपेचा से ही उसका एक (भेद) अपरिमेय हो जाता है, फिर अङ्गों के प्रभेद की कल्पना की यात क्या ? अङ्गों के वे प्रभेद अलग-अलग अङ्गी के प्रभेदों के सम्बन्ध की कल्पना की जाने पर आनन्त्य ही को प्राप्त करते हैं॥ १२॥

केवल दिख्यात्र कहते हैं, जिससे ब्युत्पन्न सचेतस जनों की बुद्धि सर्वत्र ही प्राप्तालोक हो जायगी॥ १३॥

लोचनम्

द्यितया प्रथिता स्निगियं मया हृदयधामिन नित्यनियोजिता । गलित शुःकतयापि सुधारसं विरहदाहरुजां परिहारकम् ॥ तस्येति शृङ्गारस्य। अङ्गिनां रसादीनां प्रभेदस्तत्सम्बन्धकल्पनेत्यर्थः॥१२॥

येनेति । दिङ्मात्रोक्तेनेत्यर्थः । सचेतसामिति । महाकवित्वं सहृदयत्वं च प्रेष्स्नामिति भावः । सर्वत्रेति । सर्वेषु रसादिष्वासादित आलोकोऽवगमः सम्यग्व्युत्पत्तिर्ययेति सम्बन्धः ॥ १३॥

प्रिया के द्वारा गूथी गई इस माला को मैंने अपने हृदय पर रख लिया है, (विरह-ताप के कारण) यह सूख जाने पर भी विरह के दाह को दूर करने वाले सुधारस को सावित कर रही है।

उसका श्रुङ्गार का । अङ्गीरस आदि का प्रभेद अर्थात् उनके सम्बन्ध की कल्पना॥ १२॥

जिससे—अर्थात् 'दिङ्मात्र' कहने से । सचेतस जनों की—। भाव यह कि महा-कवित्व और सहृदयत्व प्राप्त करने की इच्छा वालों की । सर्वत्र—। सभी रसों में प्राप्त किया है आलोक या अवगम अर्थात् सम्यक् व्युत्पत्ति को जिसने ॥ १३॥

दिब्बात्रकथनेन हि च्युत्पन्नानां सहृदयानामेकत्रापि रसभेदे सहालङ्कारैरङ्गाङ्गिभावपरिज्ञानादासादितालोका युद्धिः सर्वत्रैय भविष्यति।

तत्र—

श्रृङ्गारस्याङ्गिनो यत्नादेकरूपानुबन्धवान् । सर्वेष्वेव प्रभेदेषु नानुप्रासः प्रकाशकः ॥ १४ ॥ अङ्गिनो हि शृङ्गारस्य ये उक्ताः प्रभेदास्तेषु सर्वेष्वेकप्रकारानु-वन्धितया प्रवन्धेन प्रवृत्तोऽनुश्रासो न व्यञ्जकः । अङ्गिन इत्यनेनाङ्ग-भृतस्य शृङ्गारस्यैकरूपानुबन्ध्यनुश्रासनिबन्धने कामचारमाह ॥ १४॥

ध्वन्यात्मभूते श्रङ्कारे यमकादिनिवन्धनम् । शक्ताविप प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः ॥ १५॥

'दिखात्र' कह देने से न्युत्पन्न सहदय जनों की बुद्धि एक भी रसमेद में अलङ्कारों के साथ अङ्गाङ्गिभाव के परिज्ञान से सर्वत्र ही प्राप्तालोक हो जायगी ॥ १३॥ वहाँ—

अङ्गी श्रङ्गार के सभी प्रभेदों में यत्नपूर्वक एक प्रकार के अनुवन्ध वाला अनुप्रास प्रकाशक नहीं होता ॥ १४ ॥

अङ्गी श्वङ्गार के जो प्रभेद कहे गए हैं उन सभी में एक प्रकार के अनुवन्धी हा से प्रवृत्त अनुप्रास व्यक्षक नहीं होता । 'अङ्गी' इससे अङ्गभूत श्वङ्गार एक प्रकार के अनुवन्ध वाले अनुप्रास के निवन्धन में स्वेच्छाचार कहा है ॥ १४ ॥

ध्वनि के आत्मभूत श्रङ्गार में यमक आदि का निवन्धन शक्ति होने पर भी प्रमादित्व का सूचक है, विशेष रूप से विप्रस्तम्भ में ॥ १५॥

लोचनम्

तत्रेति । वक्तन्ये दिङ्गात्रे सतीत्यर्थः । यहादिति । यत्रतः क्रियमाणत्वाः दिति हेत्वर्थोऽभिन्नेतः । एकरूपं त्वनुबन्धं त्यक्त्वा विचित्रोऽनुप्रासो निबधः मानो न दोषायेत्येकरूपम्रहणम् ॥ १४॥

यमकादीत्यादिशन्दः प्रकारवाची । दुष्करं मुरजचक्रबन्धादि । शब्दमङ्ग

वहाँ—। अर्थात् दिङ्मात्र वक्तव्य के होने पर । यत्नपूर्वक—। अर्थात् यत्नपूर्वक किए जाने होने के कारण, यह हेत्वयं अभिप्रेत हैं। एक प्रकार का अनुबन्ध छोड़ कर निवध्यमान विचित्र अनुप्रास दोषावह नहीं होता, इसलिए 'एक प्रकार' का ग्रह्व किया ॥ १४॥

'यमकादि' यहां 'आदि' शब्द प्रकार (साहश्य) के अर्थ में है। दुरकर, अर्थ मुरजवन्म, चक्रवन्म आदि । शब्दभङ्गश्लेप—। 'अर्थश्लेष' दोषावह नहीं होता

ध्वनेरात्मभूतः शृङ्गारस्तात्पर्येण वाच्यवाचकाम्यां प्रकाश्यमान-स्तिस्मिन्यमकादीनां यमकप्रकाराणां निवन्धनं दुष्करशब्दभङ्गश्लेषादीनां शक्ताविष प्रमादित्वम् । 'प्रमादित्व'मित्यनेनैतद्दर्यते — काकतालीयेन कदाचित्कस्यचिदेकस्य यमकादेनिंष्पत्ताविष भूम्रालङ्कारान्तरवद्र-साङ्गत्वेन निवन्धो न कर्तव्य इति । 'विष्ठलम्भे विशेषत' इत्यनेन विष्ठलम्भे सौकुमार्यातिश्चयः ख्याप्यते । तस्मिन्धोत्ये यमकादेरङ्गस्य निवन्धो नियमात्र कर्तव्य इति ॥ १५ ॥

अत्र युक्तिरभिधीयते—

रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यिक्रयो भवेत्। अपृथायत्ननिर्वत्यः सोऽलङ्कारो ध्वनौ मतः॥ १६॥

ध्वित का आत्मभूत श्रङ्कार तारपर्य रूप से शब्द और अर्थ द्वारा प्रकाशित होता है, उसमें यमक आदि यमक के प्रकारों का निवन्धन दुष्कर, शब्द-भङ्गरलेष आदि की शक्ति होने पर भी प्रमादिख का सूचक है। 'प्रमादिख' से यह दिखाते हैं— काकतालीय के प्रकार से कभी किसी एक 'यमक' आदि की निष्पत्ति होने जाने पर भी बाहुल्यपूर्वक दूसरे अलङ्कारों की भांति रस के अङ्ग रूप से निवन्ध नहीं करना चाहिए। 'विशेष रूप से विप्रलम्भ में' इस (कथन) से विप्रखम्भ में अतिशय सौकुमार्य व्यक्त किया है। जब कि उसका (विप्रलम्भ का) द्योतन किया जाय, तब यमक आदि अङ्ग का निवन्धन नियमतः नहीं करना चाहिए॥ १५॥

यहां युक्ति कहते हैं— ध्विन में वह अलङ्कार माना गया है, जिसका प्रयोग रसान्तिस रूप से किया जा सके और जो बिना किसी अलग यह के प्राप्त हो जाय ॥ १६॥

लोचनम्

रलेप इति । अर्थरुरेषो न दोषाय 'रक्तस्त्वम्' इत्यादौ; राव्दभङ्गोऽपि क्विष्ट एव

दुष्टः, न त्वशोकादौ ॥ १४॥ -

युक्तिरिति । सर्वञ्यापकं वस्तिवत्यर्थः । रसेति । रससमवधानेन विभावा-दिघटनामेव कुर्वस्तन्नान्तरीयकतया यमासादयति स एवात्रालङ्कारो रसमार्गे, 'रक्तस्त्वं ०' इत्यादि में; शब्दभङ्गभी क्लिष्ट होकर ही दोषयुक्त होता है, न कि 'अशोक' इत्यादि में ॥ १५ ॥

युक्ति—। अर्थात् सर्वेव्यापक वस्तु । रस—। रस में सम्यक् अवधातपूर्वक विभाव आदि की घटना ही करता हुआ उस (विभावादि की घटना) के नान्तरीयक (अर्थात् व्याप्त) रूप से जिसको प्राप्त करता है वही इस रस के मार्ग में अलक्कार होता है

निष्पत्तावाश्चर्यभूतोऽपि यस्यालङ्कारस्य रसाक्षिप्ततयैव वन्धः शक्यिकयो भवेत्सोऽस्मिन्नलक्ष्यक्रम्व्यङ्गये ध्वनावलङ्कारो मतः। तस्यैव रसाङ्गत्वं ग्रुख्यमित्यर्थः।

यथा-

कपोले पत्त्राली करतलनिरोधेन मृदिता

निष्पत्ति में आश्चर्यमृत होने पर भी जिस अलङ्कार का निवन्धन रसान्तिप्त रूप से ही किया जा सके वह इस अलच्यक्रमन्यङ्गय ध्वनि में अलङ्कार माना गया है, अर्थात् उसीका रसाङ्ग्य मुख्य है।

जैसे--

कपोल में बनी पन्नावली को हाथ की रगड़ से मसल डाला है, निश्वासों ने असृत के लीचनम्

नान्यः। तेन वीराद्मुतादिरसेष्वपि यमकादि कवेः प्रतिपत्तुश्च रसविन्नकार्येव सर्वत्र । गडडुरिकाप्रवाहोपहतसदृदयधुराधिरोहणविहीनलोकावर्जनाभिप्रायेण तु मया शृङ्गारे विप्रलम्भे च विशेषत इत्युक्तमिति भावः। तथा च 'रसेऽ-क्रत्वं तस्मादेषां न विद्यते' इति सामान्येन वच्यति । निष्पत्ताविति । प्रति-भानुमहात्स्त्रयमेव सम्पत्तौ निष्पादनानपेक्षायामित्यर्थः। श्राश्चर्यभूत इति। कथमेष निबद्ध इत्यद्भुतस्थानम् । करिकसलयन्यस्तवद्ना श्वासतान्ताधरा प्रकर्तमानबाष्पमरिनरुद्धकण्ठी अविचिछन्नरुदित चञ्चत्कुचतटा रोषमपरित्यजन्ती चाद्दक्त्या यावत्प्रसाद्यते तावदीर्ज्याविप्रलम्भगतानुभावचर्वणावहितचेतस एव वकुः श्लेषरूपकव्यतिरेकाद्या अयत्रनिष्पन्नाश्चर्वयितुरिप न रसचर्वणावित्रमाः अन्य नहीं। इस लिए वीर, अद्भुत आदि रसों में ही सर्वत्र यमक आदि कवि के और प्रतिपत्ता (जानकार) सहृदय के रसविझ करने वाला ही है। भाव यह कि मैंने मेड़ के पीछे गमन करने वाली भेड़ों की पंक्ति के प्रवाह (परम्परा) के शिकार और सहदय की मर्यादा तक न पहुंचे हुए लोगों के आवर्जन के अभिप्राय से 'श्रृङ्गार में और विशेष रूप से विप्रलम्भं में' यह कहा है। और इस लिए 'रस में अङ्गत्व इस कारण इनका नहीं सम्भव है' यह सामान्य रूप से कहेंगे। निष्पत्ति सं—। प्रतिभा के अनुग्रह से स्वयमेव (बिना किसी यत्न के) सम्पन्न होने में, अर्थात् निष्पन्न करने की अपेक्षा के न होने पर । आश्चर्यभूत-। कैसे यह निवद्ध हो गया, इस प्रकार अद्भुत का स्थान । अपने करकिसलय पर मुख रखे, श्वास से मुर्झाए अघर वाली, उत्पन्न बाष्पसमूह से रुंचे गले वाली, निरन्तर रोते रहने से कांपते हुए स्तनों वाली, रोप का त्याग न करती हुई नायिका को चाटुवचन से जब तक प्रसन्न करते हैं, तब तक ईप्याविप्रलम्म के अनुमावों की चर्वणा (पुनः पुनः अनुसन्धान) में अवहित चित्त वाले वक्ता के रहेष, रूपक, व्यक्तिक आदि अयत्ननिष्पन्न अलङ्कार चर्वणा करने वाले के

निपीतो निःश्वासैरयममृतहृद्योऽधररसः। मुहुः कण्ठे लग्नस्तर्लयति वाष्पस्तनतटीं प्रियो मन्युर्जातस्तव निरनुरोध न तु वयम्॥

रसाङ्गत्वे च तस्य लक्षणमपृथग्यत्निर्नर्त्यत्विमिति यो रसं बन्धुमध्यवसितस्य कनेरलङ्कारस्तां वासनामत्यूद्य यत्नान्तरमास्थितस्य
निष्पद्यते स न रसाङ्गमिति । यमके च प्रवन्थेन बुद्धिपूर्वकं क्रियमाणे
नियमेनेव यत्नान्तरपरिग्रह आपतित शब्दविशेधान्वेषणरूपः ।
अलङ्कारान्तरेष्वि तत्तुल्यमिति चेत्—नैवम्; अलङ्कारान्तराणि हि
निरूप्यमाणदुर्घटनान्यि रससमाहितचेतसः प्रतिभानवतः कवेरहसमान मधुर (तेरे) अधररस को पान कर लिया है, (तेरे) कण्ठ का आल्किन

गया है, हम नहीं !

रस के अङ्ग होने में 'अपृथ्यवित्वर्थित्व' (अलग से यन किए विना ही सम्पन्न
हो जाना) उस (अलङ्कार) का लज्ञण है । इस प्रकार जो (अलङ्कार) कि रस के
निवन्धनार्थ प्रयवशील है, उसकी उस वासना को अतिक्रमण करके उसके अतिरिक्त
यन करने पर निष्पन्न होता है वह रस का अङ्ग नहीं है । बुद्धिपूर्वक प्रवन्ध से
(जम कर) यमक के किए जाने पर नियमतः ही यन्नान्तर का प्रहण, जिसमें विशेष
शब्द का अन्वेषण होता है, करना पड़ता है । अन्य अलङ्कारों में भी वह वरावर है,
ऐसा नहीं; क्योंकि अन्य अलङ्कार निरूपण की स्थिति में दुर्घटन होने पर भी रस में

किया हुआ वाप्प स्तनभाग को कम्पित कर रहा है, अरी निर्दय, तेरा प्रिय कोध हो

लोचनम्

द्धतीति । लज्ञ्णमिति । व्यापकिमत्यर्थः । 'प्रबन्धेन क्रियमाण' इति सम्बन्धः । अत एव वुद्धिपूर्वकत्वमवश्यम्भावीति बुद्धिपूर्वकश्बद् उपात्तः । रससमवधानादन्यो यत्नो यत्रान्तरम् । निरूप्यमाणानि सन्ति दुर्घटनानि । बुद्धिपूर्वं चिकीर्षितान्यपि कर्तुमशक्यानीत्यर्थः । तथा निरूप्यमाणे दुर्घटनानि कथमेतानि रचितानीत्येवं विस्मयावहानीत्यर्थः । अहम्पूर्वः अप्रच

मी रसचर्वणा में विझ आधान नहीं करते। रुच्चण—। अर्थात् व्यापक। सम्बन्ध यह कि 'प्रवन्ध से (जमकर) करने पर'। इसलिए ही बुद्धिपूर्वंक होना अवश्यम्भावी हो जाता है, अतः 'बुद्धिपूर्वंक' शब्द का उपादान किया है। रस में समवधान से अतिरिक्त यत्न यत्नान्तर है। निरूप्यमाण होते हुए दुर्घटन, अर्थात् बुद्धिपूर्वंक चिकीपित होने पर भी नहीं किए जा सकने वाले। उस प्रकार, निरूप्यमाण होने पर दुर्घटन, अर्थात् कैसे ये बन गए. इस प्रकार विस्मय उत्पन्न करने वाले। अहम्पूर्व अर्थात्

म्प्विकया परापतिन्त । यथा कादम्बर्यां कादम्बरीदर्शनावसरे । यथा च मायारामिश्वरोदर्शनेन विद्वलायां सीतादेव्यां सेतौ । युक्तं चैतत्, यतो रसा वाच्यित्रशेषेरेवाक्षेप्रव्याः । तत्प्रतिपादकेश्व शब्देस्तत्प्रकाशिनो वाच्यित्रशेषा एव रूपकादयोऽलङ्काराः । तस्मान्न तेषां बहिरङ्गत्वं रसाभिव्यक्तौ । यमकदुष्करमार्गेषु तु तिस्थितमेव । यत्तु रसवन्ति कानिचिद्यमकादीनि दश्यन्ते, तत्र रसादीनामङ्गता यमकादीनां त्विङ्गतैव । रसामासे चाङ्गत्वमप्यिवरुद्धम् । अङ्गितया तु व्यङ्गचे रसे नाङ्गत्वं पृथकप्रयत्ननिर्वर्यत्वाद्यमकादेः ।

अस्यैवार्थस्य सङ्ग्रहश्लोकाः —

रसवन्ति हि वस्तूनि सालङ्काराणि कानिचित् । एकेनैव प्रयत्नेन निर्वर्त्यन्ते महाकवेः ।।

समाहित चित्त वाले एवं प्रतिभानसम्पन्न कि व पास अहमहं करके दौड़ पड़ते हैं। जैसे, 'कादम्बरी' में कादम्बरी के दर्शन के अवसर में। और जैसे, 'सेतु' ('सेतुबन्ध' महाकाच्य) में माया से बने राम के सिर देखने से सीता देवी के विद्वल होने पर। और यह ठीक है, क्योंकि रस वाच्यिवशेष द्वारा ही आचिस होते हैं। उन (वाच्यिवशेष) के प्रतिपादक शब्दों से उनको प्रकाशित करने वाले 'रूपक' आदि अलङ्कार वाच्यिवशेष ही हैं, इसल्लिए रस की अभिव्यक्ति में वे बहिरङ्ग नहीं हैं। 'यमक' और 'दुष्कर' के मार्गों में तो वह बात है ही। जो कि कुछ 'यमक' आदि रसवान दिखते हैं, वहां रस आदि अङ्ग हैं और 'यमक' आदि का तो अङ्गिख ही है। रसामास की स्थित में (उनका) अङ्गत्व भी विरुद्ध नहीं। अङ्गी रूप से रस के ब्यङ्ग होने पर यमक आदि (अलङ्कार) अङ्ग नहीं होते, वर्थों कि वे 'प्रयग्यक्तिवर्द्ध' होते हैं।

इसी अर्थ (विषय) के सङ्ग्रह-स्रोक हैं—

कुछ अलङ्कारयुक्त रसवान् वस्तुएं महाकवि के एक ही प्रयत्न से निर्वृत्त हो जाती हैं। लोचनम्

इत्यर्थः । अहमादाबहमादौ प्रवर्त इत्यर्थः । अहम्पूर्व इत्यस्य भावोऽहम्पूर्विका । अहम्पूर्व विभक्ति निपातो विभक्तिप्रतिरूपकोऽस्मदर्थवृत्तिः । एतदिति । अहंपूर्विकया परापतनिमत्यर्थः । कानिचिदिति । कालिदासादिक्रतानीत्यर्थः । शक्तस्यापि अगिला । अर्थात् मैं पहले, मैं पहले होऊंगा । अहम्पूर्वं का भाव अहम्पूर्विका । 'अहम्' यह 'अस्मत्' अर्थं में विभक्तिप्रतिरूपक निपात है । यह—। अर्थात् अहम्पूर्वभाव से परापत्तन । इन्छ्र—। अर्थात् कालिदास आदि के द्वारा कृत । सम्बन्ध यह है कि समर्थ होने

यमकादिनिवन्धे तु पृथग्यलोऽस्य जायते । शक्तस्यापि रसेऽङ्गत्वं तस्मादेषां न विद्यते ॥ रसाभासाङ्गभावस्तु यमकादेनी वार्यते । ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे त्वङ्गता नोपपद्यते ॥ १६ ॥ इदानीं ध्वन्यात्मभूतस्य शृङ्गारस्य व्यञ्जकोऽलङ्कारवर्ग आख्यायते —

ध्वन्यात्मभूते श्रङ्गारे समीक्ष्य विनिवेशितः। रूपकादिरलङ्कारवर्गे एति यथार्थताम्॥ १७॥ अलङ्कारो हि वाह्यालङ्कारसाम्यादङ्गिनश्रारुत्वहेतुरुव्यते। वाच्या-

यमक आदि (अलङ्कारों) के निवन्धन में समर्थ होने पर भी इसका (महाकवि का) अलग यत होता है, इस कारण रस में इनका अङ्गत्व नहीं होता है।

यमक आदि का रसाभास में अङ्गत्व का वारण नहीं है, परन्तु, ध्वनि के आस्मभूत श्रङ्गार में (यमक आदि) का अङ्गत्व उपपन्न नहीं ॥ १६ ॥

अय ध्विन के आत्मभूत श्रुङ्गार को व्यक्षित करने वाला अलङ्कारवर्ग कहते हैं। ध्विन के आत्मभूत श्रुङ्गार में, समीचा करके निवेशित किया गया रूपक आदि अलङ्कारवर्ग यथार्थता प्राप्त करता है॥ १७॥

अरुङ्कार वाह्य अरुङ्कारों के समान अङ्गी का चारुवहेतु (शोभाधायक) कहा लोचनम्

पृथग्यत्रो जायत इति सम्बन्धः । एषामिति । यमकादीनाम् । 'ध्वन्यात्म-भूते श्रङ्कारे' इति यदुक्तं तत् प्राधान्येनार्धश्लोकेन सङ्गृहीते ध्वन्यात्ममृत इति ॥ १६॥

इदानीमिति । हेयवर्ग 'उक्तः, उपादेयवर्गस्तु वक्तव्य इति भावः । व्यक्षक इति । यश्च यथा चेत्यध्याहारः । यथार्थतामिति । चाक्त्वहेतुतामित्यर्थः । उक्त इति । भामहादिभिरलङ्कारलक्षणकारैः । वच्यते चेत्यत्र हेतुमाह— पर भी अलग् से यत्न होता है । इनका—। यमक आदि का । 'ध्विन के आत्मभूत' श्वङ्गार में' यह जो कहा है, वह प्रधानतया आधे श्लोक से संगृहीत 'ध्विन के आत्मभूत'

अब—। भाव यह कि हेय वर्ग कहा जा चुका, उपादेय वर्ग कहना चाहिए। व्यक्षित करने वाळा—। 'जो है और जैसा है' यह अध्याहार है। यथार्थता—। अर्थात् चारुत्वहेतुता। कहा गया है—। भामह आदि अलङ्कारलक्षणकारों द्वारा। 'और

(शङ्कार में)॥ १६॥

लङ्कारवर्गश्च रूपकादिर्यावानुक्तो वक्ष्यते च कैश्चित् , अलङ्काराणा-मनन्तत्वात ।

स सर्वोऽपि यदि समीक्ष्य विनिवेश्यते तदलक्ष्यक्रमन्यङ्गयस्य ध्वनेरङ्गिनः सर्वस्यैव चारुत्वहेतुर्निष्पद्यते ॥ १७॥

एषा चास्य विनिवेशने समीक्षा-

विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन ।

जाता है, वाच्यालङ्कारों (अर्थालङ्कारों) का वर्ग रूपक आदि जितना कहा गया है और कुछ लोग कहेंगे, क्योंकि अलङ्कार अनन्त हैं।

वह सभी को यदि समीचा करके विनिवेशित किया जाय तो सभी अङ्गी

अलक्यक्रमन्यङ्गय ध्वनि का चारुत्वहेतु (श्लोभाधायक) होंगे ॥ १७ ॥

उसके विनिवेशन में यह समीचा है-

रूपक आदि की विवत्ता तत्परत्वेन (अर्थात् रसपरत्वेन) हो, कभी अङ्गो (प्रधान) लोचनम्

त्रलङ्काराणामनन्तत्वादिति । प्रतिभानन्त्यात् अन्यैरपि भाविभिः कैश्चिदित्यर्थः ।।

समीद्येति । समीद्येत्यनेन शब्देन कारिकायामुक्तेति भावः । ऋोकपादेषु चतुर्षु ऋोकार्धे चाङ्गत्वसाधनमिदम्; रूपकादिरिति प्रत्येकं सम्बन्धः । यमलइतं तदङ्गतया विवश्चित नाङ्गित्वेन, यमवसरे गृह्णाति, यमवसरे त्यज्ञति, यं नात्यन्तं निर्वोद्धिमेच्छति, यं यन्नादङ्गत्येन प्रत्यवेक्षते, स एवमुपनिबध्यमानो रसाभिव्यक्तिदेतुर्भवतीति विततं महावाक्यम् । तन्महावाक्यमध्ये चोदाहरणावकाशमुदाहरणस्वरूपं तद्योजनं तत्समर्थनं च निरूपियतुं प्रन्थान्तरमिति वृत्तिप्रन्थस्य सम्बन्धः ॥ १७॥

कहेंगे' इसमें हेतु बताते हैं—क्यों कि अलङ्कार अनन्त होते हैं—। अर्थात् प्रतिभा के अनन्त होने के कारण अन्य उत्पन्न होने वाले कल लोग ।

समीच्य—। भाव यह कि 'समीक्षा करने' ('समीच्य') इस शब्द से कारिका में कही गई। क्लोक के चारों पादों में और क्लोकां में यह अङ्गत्व का साधन (निर्दिष्ट) है; 'रूपक आदि' का प्रत्येक से सम्बन्ध है। विस्तृत महावाक्य यह हुआ कि जिस अलङ्कार को उसके (रस के) अङ्ग के रूप से विवक्षा करता है, अङ्गी के रूप से नहीं, जिसको अवसर में प्रहण करता है, जिसको अवसर में त्याग करता है, जिसे अत्यन्त निर्वाह करने की इच्छा नहीं करता और जिसे यत्नपूर्वक अङ्ग रूप से देखता है, वह इस प्रकार उपनिबच्यमान होकर रस की अभिव्यक्ति का हेतु होता है। उस महावाक्य के समर्थन का निरूपण करने के लिए शेष ग्रन्थ है, यह वृत्तिग्रन्थ का सम्बन्ध है।। १७॥

वन्यालोकः

काले च ग्रहणत्यागौ नातिनिर्वहणैषिता ॥ १८॥ निर्व्यूढाविप चाङ्गत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम् । रूपकादिरलङ्कारवर्गस्याङ्गत्वसाधनम् ॥ १९॥

रसवन्धेष्वत्यादृतमनाः कविर्यमलङ्कारं तदङ्गतया विवक्षति । यथा— चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि वहुशो वेपशुमतीं रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः ।

रूप से (विवचा) न हो, समय से ग्रहण हो, और त्याग भी हो, दूर तक निर्वाह करने की इच्छा न हो, (उस प्रकार) निर्वाह हो जाने पर यलपूर्वक अङ्गरूप में ही देखना, यही रूपक आदि अलङ्कारवर्ग के अङ्ग होने का साधन है।। १८-१९॥

रस के निवन्धन में आदरयुक्त चित्त वाला किव जिस अलङ्कार को उसके अङ्ग के रूप में विवन्ना करता है। जैसे—

'हे मधुकर, तू चचल अपाङ्गों वाली और कांपती हुई (प्रिया की) दृष्टि को बहुत बार स्पर्श करता है, रहस्य की बात कहने वाले की भांति (उसके) कान के पास

लोचनम्

चलापाङ्गामिति । हे मधुकर, वयमेवंविधाभिलाषचादुप्रवणा अपि तत्त्वानवेपणाद्वस्तुवृत्तेऽन्विष्यमाणे हता आयासमात्रपात्रीभृता जाताः । त्वं सिल्विति
निपातेनायत्रसिद्धं तवेव चिरतार्थत्विमिति शक्कन्तलां प्रत्यभिलाषिणो दुष्यन्तस्येयमुक्तिः । तथाहि—कथमेतदीयकटाक्ष्गोचरा भूयास्म, कथमेषास्मदिभप्रायव्यक्षकं रहोवचनमाकण्यात् , कथं नु हठादिनिच्छन्त्या अपि परिचुम्बनं
विवेयास्मेति यदस्माकं मनोराज्यपदवीमधिशेते तत्तवायत्नसिद्धम् । भ्रमरो
हि नीलोत्पलिया तदाशङ्काकरीं दृष्टिं पुनः पुनः स्पृशित । श्रवणावकाशपर्यनतत्त्वाच नेत्रयोक्तपलशङ्कानपगमात्त्रवेव दन्ध्वन्यमान आस्ते । सहजसीकुमा-

चञ्चल अपाङ्गों वालां—। हे मधुकर, इस प्रकार की इच्छा रखने वाले एवं चाटु-वचन में कुशल होकर भी तत्त्व के अन्वेषण से अन्विष्यमाण वस्तु के सम्बन्ध में हत हो गए (मारे गए) आयासमात्र के पात्र बने। (श्लोक में) 'खल्ल' इस निपात के प्रयोग से बिना यत्न के शिद्ध दुम्हारी ही चरिताशंता है, इस प्रकार शकुन्तला की अभिलाषा करने वाले दुव्यन्त की यह उक्ति है। जैसा कि कैसे हम इसके कटाक्षों के गोचर हों, कैसे यह हमारे अभिप्रायव्यक्षक रहस्यवचन सुन ले, कैसे न चाहती हुई भी इसका इष्टपूर्वक परिचुम्बन हम करें, जो यह सब हमारे मनोराज्य में ही था, वह तेरे लिए अयत्नसिद्ध है। क्योंकि भौंरा उसकी दृष्टि को नीलोत्पल समझ कर बार-बा: स्पर्श करता है, कानों तक खिचे हुए नेत्रों में उसे उत्पल की शङ्का हो जाती है, इस कारण वह वहीं गुंजार कर रहा है, सहज सौकुमार्य के कारण उत्पन्न त्रास से कातर (प्रिया के) रितिनिधान-

करौ व्याधुन्वत्याः पिवसि रितसर्वस्वमधरं वयं तत्त्वान्वेपान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती ॥ अत्र हि भ्रमरस्वभावोक्तिरलङ्कारो रसानुगुणः । 'नाङ्गित्वेने'ति न प्राधान्येन । कदाचिद्रसादितात्पर्येण विवक्षितो-ऽपि झलङ्कारः कश्चिदङ्गित्वेन विवक्षितो दृश्यते । यथा—

चक्राभिघातप्रसभाज्ञयैव चकार यो राहुवधूजनस्य । आलिङ्गनोद्दामविलासवन्ध्यं रतोत्सवं चुम्बनमात्रशेपम् ॥

जाकर कोमल आवाज करता है, हाथों को झकझोरती हुई उसके तू रितसर्वस्व अधर का पान करता है, हम तो तस्व के अन्वेषण में मारे गए, परन्तु तू तो चिरितार्थ हो गया।

यहां अमर-स्वभावोक्ति अलङ्कार रस के अनुगुण है। अङ्गीरूप से नहीं, अर्थात् प्रधानरूप से नहीं। क्योंकि कभी रस आदि के तारपर्य से विविचित भी कोई अलङ्कार अङ्गीरूप से विविचित देखा जाता है। जैसे—

जिस श्रीकृष्ण ने चक्र के प्रहाररूपी अपनी प्रसम आज्ञा से ही राहु की खियों के रतोत्सव को आलिङ्गन के उद्दाम विलास से रहित एवं चुम्बनमात्र शेष कर दिया।

लोचनम्

र्यत्रासकातरायाश्च रतिनिधानभूतं विकिततारविन्दकुवलयामोदमधुरमधरं पिब-तीति अमरस्वभावोक्तिरलङ्कारोऽङ्गतामेव प्रकृतरसस्योपगतः । अन्ये तु अमर-स्वभावे चक्तियस्येति अमरस्वभावोक्तिरत्र क्षपकव्यतिरेक इत्याहुः।

चकामिधात एव प्रसभाज्ञा अलङ्कनीयो नियोगस्तया यो राहुद्यितानां

भूत, खिले हुए कमल और कुवलय की गन्ध के समान मधुर अधर का पान करता है, इस प्रकार अमर-स्वभावोक्ति अलङ्कार प्रकृत रस का अङ्ग ही है। अन्य टीकाकार कहते हैं कि "अमर के स्वभाव में उक्ति है जिसकी" वह अमरस्वभावोक्ति, यहां रूपक के साथ व्यतिरेक है।

चक्राभिघात ही प्रसभ आज्ञा अर्थात् अलङ्कनीय नियोग है, उससे जिसने राहु की

१. प्रस्तुत पद्य में राहु के कण्ठच्छेद की घटना का निर्देश प्रकारान्तर से कथन रूप 'पर्यायोक्त' अड्डद्कार का विषय है। समुद्र-मथन से प्राप्त अमृत के बटवारे में राहु-नामक दैरय के द्वारा छिप कर पान कर लिए जाने पर मोहिनी रूप भगवान् विष्णु ने सूर्य और चन्द्र से इसका संकेत पा कर राहु का सिर अपने चक्र से काट लिया था, इस पौराणिक प्रसंग का यहाँ चित्रण है। राहु ने अमृत पान कर लिया था, इस लिए सिर मात्र अवशिष्ट हो गया। अब वह अपनी पित्रयों का उद्दाम आलिङ्गन नहीं करता, किन्तु चुम्बन मात्र में ही उसकी पित्रयों के रतोत्सव का पर्यवसान होता था।

अत्र हि पर्यायोक्तस्याङ्गित्वेन विवक्षा रसादितात्पर्ये सत्यपीति । अङ्गत्वेन विवक्षितमपि यमवसरे गृह्णाति नानवसरे । अवसरे गृहीतिर्यथा—

यहां रसादि के तात्पर्य होने पर भी पर्यायोक्त अलङ्कार की अङ्गीरूप से विवक्ता है।

अङ्गरूप से विविचत भी जिसको अवसर में ग्रहण करता है, अनवसर में नहीं। अवसर में ग्रहण, जैसे—

लोचनम्

रतोत्सवं चुम्बनमात्रशेषं चकार । यत आलिङ्गनमुद्दामं प्रधानं येषु विलासेषु तैर्वन्ध्यः शून्योऽसौ रतोत्सवः । अत्राह कश्चित्—'पर्यायोक्तमेवात्र कवेः प्राधान्येन विवक्षितं, न तु रसादि । तत्कथमुच्यते रसादितात्पर्ये सत्यपी'ति । मैवम् ; वासुदेवप्रतापो द्यत्र विवक्षितः । स चात्र चारुत्वहेतुतया न चकास्ति, अपि तु पर्यायोक्तमेव । यद्यपि चात्र काव्ये न काचिद्दोषाशङ्का, तथापि दृष्टान्तवदेतत्—यत्प्रकृतस्य पोपणीयस्य स्वरूपतिरस्कारकोऽङ्गभूतोऽप्यलङ्कारः सम्पद्यते । तत्रश्च कचिद्नौचित्यमागच्छतीत्ययं प्रन्थकृत आशयः । तथा च प्रन्थकार एवमप्रे दर्शयिष्यति । महात्मनां दूषणोद्घोषणमात्मन एव दूषण्मिति नेदं दूषणोदाहरणं दत्तम् ।

िल्लयों का रतोत्सव चुम्बनमात्रशेष कर दिया। क्यों कि वह रतोत्सव आलिङ्गन उद्दाम अर्थात् प्रधान है जिन विलासों में, उनसे वन्ध्य अर्थात् शून्य (रहित) हो गया। यहां कोई कहता है—''पर्यायोक्त अलङ्कार ही यहां किव का प्रधान रूप से विविक्षत है, न कि रसादि, ऐसी स्थित में 'रसादि के तात्पर्य होने पर भी' यह क्यों कहते हैं ?'' ऐसी वात नहीं; यहां वासुदेव (श्रीकृष्ण) का प्रताप विविक्षत है, परन्तु वह यहां चारुत्वके हेतु रूप में प्रकाशित नहीं हो रहा है, अपितु 'पर्यायोक्त' हो प्रकाशित हो रहा है। यद्यपि इस काव्य में कोई दोष की आशंका नहीं है, तथापि यह एक प्रकार का दृष्टान्त है। ग्रन्थकार का यह आशय है कि अङ्गभूत भी अलङ्कार पोषणीय प्रस्तुत के स्वरूप का तिरस्कारक हो जाता है, इस कारण कुछ अनौचित्य आ जाता है। जैसा कि ग्रन्थकार इस प्रकार दिखाएंगे, कि महात्माओं (बड़े लोगों) के दोष कहना अपना ही दोष हो जाता है, इसलिए यह दोष का उदाहरण नहीं दिया है।

यहाँ अङ्गी रूप से पर्यायोक्त अलङ्कार ही विविक्षित है। यद्यपि रस में कवि का तात्पये प्रतात होता है, क्योंकि श्रीकृष्ण का प्रताप यहाँ विविक्षित है, किन्तु वह देवविध्य रित के व्यञ्जक होने के कारण यहाँ-विशेष चारुत्वहेतु नहीं है, बिस्क पर्यायोक्त से ही यहाँ चारुता है। लोचनकार का कहना है कि इसे दोष का उदाहरण नहीं समझना चाहिए, क्योंकि प्रन्थकार-स्वयं आगे चल कर

उद्दामोत्कलिकां विपाण्डररुचं प्रारब्धजृम्भां क्षणा-दायासं धसनोद्गमैरिवरलैरातन्वतीमात्मनः । अद्योद्यानलतामिमां समदनां नारीमिवान्यां ध्रुवं पत्रयन् कोपविपाटलद्युति मुखं देव्याः करिष्याम्यहम् ॥

प्रवल उत्कण्टा से युक्त (लतापच में निकलो हुई किल्यों से युक्त), पाण्हुवर्ण (लतापच में किल्यों के कारण सफेद लगती हुई), चण में जमाई लेती हुई (लता-पच में उसी समय विकसित होती हुई), अपने निरन्तर श्वास के वायु से आयास पकट करती हुई (लता पच, में वायु के कारण विकिश्पत होती हुई) मदन से युक्त (लता पच में 'मदन' नामक यूच से लिपटी हुई) परकीय नारी की भांति इस उद्यानलता को देखता हुआ मैं आज निश्चय ही देवी (वासवदत्ता) के मुख को कोष्र से लाल कर दूंगा।

लोचनम्

उद्दामा उद्गताः कलिका यस्याः । उत्कलिकाश्च रुह्रुरहिकाः । क्षणात्तिम-क्षेत्रावसरे प्रारव्धा जूम्मा विकासो यया । जूम्मा च मन्मथकृतोऽङ्गमदः । श्वसनोद्गमैर्वसन्तमारुतोङ्गासरात्मनो लतालक्षणस्यायासमायासनमान्दोलनय-क्षमातन्वतीम् । निःश्वासपरम्पराभिश्चात्मन आयासं हृद्यस्थितं सन्तापमात-न्वतीं प्रकटीकुर्वाणाम् । सह मदनाख्येन वृक्ष्विशेषेण मदनेन कामेन च । अत्रोपमान्त्रेष ईर्प्याविप्रलम्भस्य भाविनो मार्गपरिशोधकत्वेन स्थितस्तचर्वणा-भिमुख्यं कुर्वन्नवसरे रसस्य प्रमुखीभावदशायां पुरःसरायमाणो गृहीत इति

उद्दाम अर्थात् उद्गत किलकाएं हैं जिसकी। और उत्कलिका अर्थात् रुहरुहिका (उत्कण्ठा)। क्षण में अर्थात् उसी अवसर में प्रारम्भ किया है जुम्मा अर्थात् विकास को जिसने। और जुम्मा अर्थात् कामकृत अङ्गमदं (जम्माई)। श्वसनोद्गम अर्थात् वसन्तकालीन मारुत के उन्नास से लतारूप अपने आयास (आयासन) अर्थात् आन्दोलनयत्न को फैलाती हुई। और निःश्वासपरम्पराओं से आयास अर्थात् हृदयस्थित सन्ताप को प्रकट करती हुई। 'मदन' नामक वृक्ष के साथ और मदन अर्थात् काम के साथ। भाव यह कि यहां उपमारुलेष भावी ईर्ष्याविप्रलम्भ का मार्गपरिशोधक रूप में स्थित होकर उनकी (सहुदयों की)—चर्वणा का आभिमुख्य (आनुकूल्य) करता हुआ, अवसर में अर्थात् रस के प्रमुख होने की दशा में अग्रसर होता हुआ, ग्रहण किया गया

बड़े छोगों के दोष कहना अपना ही दोष का कहना छिखते हैं। फिर भी इतना इस उदाहरण से स्पष्ट करना प्रन्थकार का तात्पर्य है कि अङ्गभूत अछङ्कार भी प्रकृत पोषणीय अछङ्कार्य के स्वरूप का तिरस्कारक हो खाता है, अतः यह प्रकार कहीं अनुचित छग सकता है।

इत्यत्र उपमा श्लेषस्य । गृहीतमपि च यमवसरे त्यजित तद्रसानुगुणतयालङ्कारान्तरापेश्वया। यथा—

रक्तस्त्वं नवपछत्रेरहमपि श्लाघ्येः त्रियाया गुणै-स्त्वामायान्ति शिलीमुखाः स्मरधनुर्म्वकास्तथा मामपि। कान्तापादतलाहतिस्तव मुदे तद्धन्ममाप्यावयोः सर्वे तुल्यमशोक केवलमहं धात्रा सशोकः कृतः॥

यहां उपसारलेच का (अवसर में प्रहण है)।

ग्रहण किए हुए भी जिसको उस रस के अनुगुण होने के कारण और अलका-रान्तर की अपेचा से अवसर में छोड़ देता है। जैसे—

है अशोक, तू नये पल्छवों से रक्त है और मैं भी प्रिया के रहान्य गुणों के कारण रक्त (अनुरक्त) हूँ, तुझ पर शिछीमुख (भौरे) आते हैं और मुझ पर भी कामदेव के धनुष से छूटे शिछीमुख (बाण) आते हैं, प्रिया के पैरों का ताइन तुझे प्रसन्ध करता है और उसी प्रकार (कान्तापादतछाहति = विशेष प्रकार का रतबन्ध) मुझे भी, हम दोनों का सब बराबर है, केवछ विधाता ने मुझे सशोक बना डाछा है !

लोचनम्

मावः । अभिनयोऽप्यत्र प्राकरणिके प्रतिपदम् । अप्राकरणिके तु वाक्यार्था-भिनयेनोपाङ्गादिना । न तु सर्वथा नामिनय इत्यलमवान्तरेण । प्रुवशब्दश्च भावीर्ष्यावकाशप्रदानजीवितम् ।

रक्तो लोहित: । अहमपि रक्तः प्रबुद्धानुरागः । तत्र च प्रबोधको विभाव-स्तदीयपल्लवराग इति मन्तन्यम् । एवं प्रतिपादमाद्योऽर्थो विभावत्वेन न्याख्येयः । अत एव हेतुस्लेषोऽयम् । सहोक्त्युपमाहेत्वलङ्काराणां हि भूयसा है। (लता रूप) प्राकरणिक अर्थं में यहां पद-पद पर अभिनय भी है। (नारी रूप) अप्राकरणिक अर्थं में उपाङ्ग आदि वाक्यार्थाभिनय से (अभिनय है)। न कि सर्वया अभिनय नहीं है, इस अवान्तर चर्चां से रहने दीजिए। 'ध्रुव' ('निश्चय्') शब्द मावी ईंग्यों को अवसर देने में प्राणमृत है।

रक्त अर्थात् लोहित । मैं भी रक्त अर्थात् प्रबुद्ध अनुराग वाला हूँ । वहाँ प्रबोधक विभाव (उद्दोपन विभाव) उस (अशोक) का पल्लवराग है, ऐसा मन्तव्य है । इस प्रकार प्रत्येक पाद में पहला अर्थ विभाव रूप से व्याख्या के योग्य है । अतएव यह हेतु क्लेष (हेतु अलङ्कार सहित क्लेष) है । सहोक्ति, उपमा और हेतु अलङ्कार

रे- प्राचीन आलङ्कारिकों ने 'कार्य के साथ कारण के अमेद का कथन' रूप 'देतु' अलङ्कार भी रिह हत्व०

अत्र हि प्रबन्धप्रवृत्तोऽपि श्लेपो न्यतिरेकविवक्षया त्यज्यमानो स्तिविशेषं पुष्णाति । नात्रालङ्कारद्वयसिवपातः, किं तिर्हे ? अलङ्कारा-न्तरमेव श्लेषच्यतिरेकलक्षणं नरिसहविदिति चेत्—न, तस्य प्रकारान्त-रेण च्यवस्थापनात् । यत्र हि श्लेपविषय एव शब्दे प्रकारान्तरेण च्यतिरेकप्रतीतिर्जायते स तस्य विषयः । यथा—'स हरिनोम्ना देवः

यहां प्रवन्ध (आयन्त) से प्रवृत्त भी रलेष व्यतिरेक की विवत्ता से छोड़ा जाता हुआ रसिवशेष को पुष्ट करता है। यहां दो अलक्कारों का सिन्नपात नहीं है। तो क्या है ? नरिंसह (आदमी और सिंह) की भांति रलेषव्यतिरेक रूप अन्य अलक्कार ही है तो, ऐसा नहीं; उसकी दूसरे प्रकार से व्यवस्था की गई है। जहां रलेप के विषयभूत सब्द में प्रकारान्तर रो व्यतिरेक की प्रतीति होती है वह उसका विषय है, जैसे—

लोचनम्

स्रेषानुप्राहकत्वम् । अनेनैवाभिप्रायेण भामहो न्यरूपयत्—'तत्सहोक्त्युपमाहेतुनिर्देशाम्निविधम्' इत्युक्त्या न त्वन्यालङ्कारानुप्रहनिराचिकिषिया । रसिवशेषमिति विप्रलम्मम् । सशोकशब्देन व्यतिरेकमानयता शोकसहभूतानां निर्वेदचिन्तादीनां व्यभिचारिणां विप्रलम्भपरिपोषकाणामवकाशो दत्तः । कि
तहीति । सङ्करालङ्कार एक एवायम् ; तत्र किं त्यक्तं किं वा गृहीतिमिति परस्याभिप्रायः । तस्येति सङ्करस्य । एकत्र हिं विषयेऽलङ्कारद्वयप्रतिभोल्लासः
सङ्करः । सहरिशब्द एको विषयः । सः हरिः, यदि वा सह हरिभिः सहरिबाहुल्पेन श्लेष के अनुप्राहक होते हैं । इसी अभिप्राय से भामह ने—'वह (श्लेष)
सहोक्ति, उपमा और हेतु के निर्देश से तीन प्रकार का होता है' (२.३४) यह
कह कर निरूपण किया है, न कि अन्य अलङ्कार के अनुप्रह के निराकरण करने की
इच्छा से । रस विशेष अर्थात् विप्रलम्भ । 'सशोक' शब्द से 'व्यतिरेक' को लाते हुए
(कवि ने) शोक के साथ उत्पन्न निर्वेद, चिन्ता आदि विप्रलम्भ के परिपोषक व्यभिचारी
मावों को अवकाश दे दिया है । तो क्या है? सङ्करालङ्कार यह एक ही है, तब वहां क्या
त्याग किया, क्या प्रहण किया, यह दूसरे का अभिप्राय है । उसका अर्थात् संकरण का।
एक ही विषय में दो अलङ्कारों की प्रतिभा होना 'सङ्कर' है । 'सहरि' शब्द एक विषय

माना है। इस प्रकार प्रस्तुत उदाइरण को 'हेतु' रूप से व्याख्यान करना चाहिए—'जिस कारण स्मरधनुमुक्त अर्थात अन्य पृष्णों को छोड़ कर शिलीमुख (भौरे) तुझ पर आते हैं उस कारण उस प्रकार काम के धनुष से निकले हुए शिलीमुख (बाण) मुझ पर भी आते हैं, जिस कारण कानी के पैरों का आइनन तेरी प्रसन्नता के लिए है उस कारण उस प्रकार मेरी भी प्रसन्नता के लिए मी है, क्योंकि अपनी प्रियतमा के पैरों से आइत अशोक के पुष्प-विकास को देख कर नायक प्रसन्न होता है।' इस प्रकार लोचनकार के प्रत्येक पाद के अर्थ को उदीपन विभाव के रूप में व्याख्यान करने की शुक्ति का निर्देश किया है।

सहरिर्वरतुरगनिवहेन' इत्यादौ । अत्र ह्यन्य एव शब्दः श्लेपस्य विषयो-ऽन्यश्च व्यतिरेकस्य । यदि चैवंविधे विषयेऽलङ्कारान्तरत्वकल्पना क्रियते तत्संसृष्टेविषयापहार एव स्यात् । श्लेषमुखैनैवात्र व्यतिरेक-स्यात्मलाभ इति नायं संसृष्टेविषय इति चेत्—नः व्यतिरेकस्य 'वह देव तो नाममात्र से स हिर हैं (और यह) राजा तो श्लेष्ठ घोड़ों के समूह से सहिर हैं —हत्यादि में । यहां क्योंकि श्लेष का विषय दूसरा ही शब्द है और व्यतिरेक का विषय दूसरा । यदि इस प्रकार के विषय में अलङ्कारान्तरस्व की कल्पना करते हैं, तब 'संस्रष्टि' का विषयापहार ही हो जायगा । श्लेष के प्रकार से ही यहां व्यतिरेक आत्मलाम कर रहा है अतः यह संस्रष्टि का विषय नहीं, यदि ऐसा कहो, तो

लोचनम्

रिति । अत्र हीति । हिराब्दस्तुराब्दस्यार्थे, 'रक्तस्त्व' मित्यत्रेत्यर्थः । अन्य इति रक्त इत्यादिः। अन्यश्च अशोकसशोकादिः। नन्वेकं वाक्यात्मकं विषय-माश्रित्यैकविषयत्वादस्तु सङ्कर इत्याशङ्कचाह—यदीति। एवंविघे वाक्यलक्षरो विषये विषय इत्येकत्वं विवक्षितं बोध्यम् । एकवाक्यापेक्षया यद्येकविषयत्वमु-च्यते तम्न कचित्संसृष्टिः स्यात् , सङ्करेण व्याप्तत्वात् । ननूपमागर्भो व्यति-रेक्ः, उपमा च श्लेषमुखेनैवायातेति श्लेषोऽत्र व्यतिरेकस्यानुप्राहक इति सङ्क-रस्यैवैष विषयः। यत्र त्वनुप्राह्मानुप्राहकभावो नास्ति तत्रैकवाक्यगामित्वेऽपि संसृष्टिरेवः तदेतदाह- शलेषेति । श्लेषबलानीतोपमामुखेनेत्यर्थः । एतत्परिह-रति—नेति । अयं भावः—किं सर्वत्रोपमायाः स्वशब्देनाभिधाने व्यतिरेको है। 'स: हरि:', यदि वा हरियों (अश्वों) के साथ सहरि । यहां क्योंकि—। 'हि' (क्योंकि) शब्द 'तु' शब्द के अर्थ में है, अर्थात् 'रक्तस्त्वं०' इस स्थल में। दूसरे— अर्थात् 'रक्त' इत्यादि और दूसरे अर्थात् 'अशोक', 'सशोक' इत्यादि । यह आशङ्का करके कि एक वाक्यात्मक विषय को आश्रयण करके एक विषय होने के कारण 'सङ्कर' (एकाश्रयानुप्रवेश रूप) हो, कहते हैं—यदि—। इस प्रकार के वाक्य रूप विषय में 'विषय' यह एकत्व विवक्षित समझना चाहिए। यदि एक वाक्य की अपेक्षा करके 'एकविषयत्व' कहते हैं तो कहीं 'संसृष्टि' नहीं होगी, क्योंकि 'सङ्कर' व्याप्त हो जायगा। (शङ्का करते हैं कि) उपमागर्भ व्यक्तिरेक है, और उपमा श्लेष के प्रकार से आई है, इसलिए रलेष यहां व्यतिरेक का अनुप्राहक है, अतः यह सङ्कर (अनुप्राद्यानुप्राहकमाव हप) का ही विषय है। जहां अनुप्राह्मानुप्राहक भाव नहीं है, वहां एकवाक्यगामी होने पर भी 'संपृष्टि' ही है, उस (शङ्का) को कहते हैं—रलेष—। अर्थात् रलेष के बल से लाई गई उपमा के प्रकार से । इसका परिहार करते हैं- नहीं-। भाव यह है-क्या सब जगह उपमा के स्वशब्द द्वारा ('इवा'दि द्वारा) अभिधान करने पर व्यतिरेक होता

प्रकारान्तरेणापि दर्शनात् । यथा-

नो कल्पापायवायोरदयरयदलत्क्ष्माधरस्यापि अध्या गाढोद्गीर्णोज्ज्वलश्रीरहिन न रहिता नो तमःकज्जलेन। प्राप्तोत्पत्तिः पतङ्गान पुनरुपगता मोषग्रुष्णत्विषो वो वर्तिः सैवान्यरूपा सुखयतु निखलद्वीपदीपस्य दीप्तिः॥

यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि व्यतिरेक प्रकारान्तर से भी देखा जाता है।

सारे द्वीपों के दीप अगवान सूर्य की दीप्ति रूप कोई छोकोत्तर वर्ति, जो निर्देष वेग से पर्वतों को उखाद देने वाछे करपान्त के वायु से नहीं बुझ पाती, जो दिन में भी अत्यन्त उज्जवल प्रकाश फैलाती है और तमरूपी कज्जल से जो नहीं रहित नहीं— होती है, जो पतङ्ग (सूर्य) से उत्पन्न होती है, फिर भी पतङ्ग (अर्थात् कीटविशेष) से नहीं बुझती, वह आप छोगों को सुखी करे।

लोचनम्

भवत्युत गम्यमानत्वे । तत्राद्यं पक्षं दूषयति — प्रकारान्तरेणेति । उपमामिषाः नेन विनापीत्यर्थः ।

राम्या श्रामयितुं शक्येत्यर्थः । दीपवर्तिस्तु वायुमात्रेण शमयितुं शक्यते। तम एव कजलं तेन । न नो रहिता अपि तु रहितेव । दीपवर्तिस्तु तमसारि युक्ता भवति । अत्यन्तमप्रकटत्वात्कज्ञलेन चोपरिचरेण । पताङ्गादकात् । दीपवर्तिः पुनः शलभाद्ध्वंसते नोत्पद्यते । साम्येति । साम्यस्योपमायाः प्रपन्ने प्रबन्धेन यत्प्रतिपादनं स्वश्ब्देन तेन विनापीत्यर्थः । एतदुक्तं भवति—प्रवीर्यमानेवोपमा व्यतिरेकस्यानुमाहिणी भवन्ती नाभिधानं स्वकण्ठेनापेक्षते। तस्मार्थः शलेषोपमा व्यतिरेकस्यानुमाहिणी भवन्ती नाभिधानं स्वकण्ठेनापेक्षते। तस्मार्थः शलेषोपमा व्यतिरेकस्यानुमाहित्वेनोपात्ता । ननु यद्यप्यन्यत्र नैवं, तथापि है या गम्यमान होनं पर ? वहां प्रथम पक्ष में दोष देते हैं—प्रकारान्तर से—। वर्षां उपमा के अभिधान के बिना भी।

शस्या अर्थात् जिसका शमन किया जा सकता है। दीपवित वायु मात्र से शान हो जाती है। तमस् ही कज्जल, उससे। नहीं रहित नहीं अपितु रहित ही। दीपकीं तो तम से भी युक्त रहती है, क्योंकि उसमें अत्यधिक प्रकाश नहीं होता और आक्रिक्त क्यां कि जाती है। पतक अर्थात् अर्क (सूर्य)। दीपवित तो शलभ (फिर्तिकें से नष्ट हो जाती है, उत्पन्न नहीं होती। साम्य—। अर्थात् साम्य अर्थात् उपमा अप्रश्च अर्थात् प्रवन्ध (आदि से अन्त तक) द्वारा जो प्रतिपादन है वह स्वशब्द के बिंग भी है। यह कहा गया—प्रतीयमान ही उपमा व्यतिरेक का अनुप्राहक होती हुई कर्का अभिधान की अपेक्षा नहीं करती है। इस कारण रलेबोपमाव यतिरेक के अनुप्राहक हमें

वन्यालोकः

अत्र हि साम्यप्रपश्चप्रतिपादनं विनैव व्यतिरेको दिश्वेतः। नात्र श्लेषमात्राचारुत्वप्रतीतिरस्तीति श्लेषस्य व्यतिरेकाङ्गत्वेनैव विविधत-त्वात् न स्वतोऽलङ्कारतेत्यपि न वाच्यम्। यत एवंविधे विषये साम्यमात्रादिप सुप्रतिपादिताचारुत्वं दृश्यत एव। यथा—

यहां साम्य-प्रपञ्च के प्रतिपादन के बिना ही व्यतिरेक दिखाया गया है। यहां ('रक्तस्वं में) रलेपमात्र से चारुत्व की प्रतीति नहीं है इसलिए रलेष की व्यतिरेक के अङ्गरूप से विवन्ता होने के कारण (उसका) स्वयं अलङ्कारत्व नहीं है, यह भी महीं कह सकते, क्योंकि इस प्रकार के विषय में साम्यसात्र के सम्यक् प्रतिपादन से भी, चारुत्व देखा ही जाता है। जैसे—

लोचनम्

तत्प्रावण्येनेव सोपात्ताः तद्प्रावण्ये स्वयं चारुत्वहेतुत्वाभावादिति श्लेषोप-मात्र पृथगलङ्कारभावमेव न भजते । तदाह—नात्रेति । एतद्सिद्धं स्वसंवेदन-बाधितत्वादिति हृदये गृहीत्वा स्वसंवेदनमपह्नुवानं परं श्लेषं विनोपमामात्रेण चारुत्वसम्पन्नमुदाहरणान्तरं दर्शयन्निरुत्तरीकरोति—यत इत्यादिना । उदाह-रणस्त्रोके नृतीयान्तपदेषु तुल्यशब्दोऽभिसम्बन्धनीयः । अन्यत्सर्वं 'रक्तस्त्वम्' इतिवद्योष्यम् ।

उपात्त नहीं है। शङ्का करते हैं कि यद्यपि अन्यत्र ऐसा नहीं है तथापि उसके प्रावण्य से (अर्थात् व्यतिरेक के अनुग्राहक रूप से) वह उपात्त है, क्योंकि उसके अप्रावण्य की स्थिति में (अर्थात् रलेषोपमा को व्यतिरेक का अनुग्राहक नहीं मानने पर) स्वयं वाक्त्वहेतुत्व नहीं होगा, इस लिए यहां रलेषोपमा अलग से अलङ्कारमाव प्राप्त नहीं करती, उसे (शङ्का को) कहते हैं—यहां नहीं—। 'अपने संवेदन से बाधित होने के कारण यह असिद्ध है। यह बात नहीं बनती)' इस बात को मन में रख कर अपने संवेदन को छिपाते हुए वादी को रलेष के बिना उपमा मात्र से चाक्त्वसम्पन्न दूसरे उदाहरण के दिखाते हुए निरुत्तर करते हैं—क्योंकि इत्यादि से। उदाहरणश्लोक में तृतीयान्त पदों में 'तृत्य' ('सहश') शब्द से सम्बन्धित करना चाहिए। दूसरे सब को 'तिस्त्वं के समान योजना कर लेनी चाहिए।"

रै. प्रस्तुत उदाहरण 'रक्तस्त्वं ं गृहीत अलङ्कार का अवसर में त्याग रूप चतुर्थं 'समीक्षा' का है। यहां व्यतिरेक की अपेक्षा से इलेष या इलेपोपमा का त्याग किया गया। इस प्रकार यह दो अलङ्कारों के परस्पर अन्पेक्षा से स्थित होने के कारण 'संसृष्टि' का उदाहरण है। इस पर वादी करता है कि यहां एकाश्रयानुप्रवेश रूप 'संकर' मान लेना चाहिए। इसका खण्डन करते हुए कहते कि जब यहां इलेप के विषय में ही व्यतिरेक की प्रतीति उत्पन्न होती तब दोनों के पिश्रित रूप विषय अलंकार 'संकर' को पाया जा सकता था। यहां इलेप का विषय और व्यतिरेक का विषय

आक्रन्दाः स्तिनतैर्विलोचनजलान्यश्रान्तघाराम्बुभि-स्ति इच्छेदभुवश्र शोकशिखिनस्तुल्यास्ति डिडिभ्रमैः । अन्तमें दियतामुखं तव शशी वृत्तिः समैवावयो-स्तित्कं मामनिशं सखे जलघर त्वं दग्धमेवोद्यतः ॥ इत्यादौ ।

रसनिवहणैकतानहृदयो यं च नात्यन्तं निर्वोद्धमिच्छति । यथा—

हे मित्र मेघ, मेरे आफ्रन्द (वियोगजनित आक्रन्दन) तुम्हारे गर्जनों के, मेरे आंखों के जल तुम्हारे निरन्तर धाराजलों के एवं उस (प्रिया) के विच्छेद से उत्तर हुए (मेरे) शोकाप्ति (तुम्हारे) विद्युद्विलासों के सदद्य हैं, मेरे हृदय में प्रिया का सुख है, तुम्हारे भीतर चन्द्रमा है, इस प्रकार मेरी और तुम्हारी चृत्ति वरावर है, फिर क्यों तुम निरन्तर मुझे जला डालने के लिए तत्पर हो ?

इत्यादि में ।

रसनिर्वाह में एकाग्र-हृदय (कवि) और जिसका अत्यन्त (आदि से अन्त तक) निर्वाह करना नहीं चाहता। जैसे—

लोचनम्

ं एवं प्रह्णत्यागी समर्थ्य 'नातिनिर्वहणैषिता' इति भागं व्याचष्टे-रसेति । चकारः समीक्षाप्रकारसमुच्चयार्थः । बाहुलतिकाया बन्धनीयपाशत्वे रूपणं यदि निर्वोहयेत् , दियता व्याधवधूः, वासगृहं कारागारपञ्जरादीति प

इस प्रकार ग्रहण और त्याग का समर्थंन करके 'दूर तक निर्वाह करने की इस नहीं' इस भाग की व्याख्या करते हैं —रस॰—। 'और' ('च') समीक्षा के प्रकार्क के समुज्वयार्थ है। बाहुलतिका का बन्धनीय पाश के रूप में रूपण को यदि निर्वा करता, प्रिया को व्याध की पत्नी एवं वासगृह को कारागार-पज़र बनाता तो यह मिं

मिन्न हैं। यदि ऐसी स्थिति में भी संकर ही मानते हैं तव 'संसृष्टि' का विषय समाप्त हो जाना इस पर संकर-वादी पुनः कहता है कि यहां माना कि एकाश्रयानुभवेश रूप संकर नहीं है, कि अङ्गाङ्गिभाव या अनुमाह्मानुमाहक भाव रूप संकर तो अनिवार्य है, क्योंकि यहां रुलेप के द्वार्य व्यतिरेक आरमलाभ कर रहा है। इस पर कहते हैं कि 'नो कल्पापाय' में विना उपमा के व्यक्ति पाया जाता है, ऐसी स्थिति में रुलेप को व्यतिरेक का अनुमाहक नहीं माना जा सकता। तर के कहता है कि 'रक्तर-लं' में रुलेप को व्यक्ति का अनुमाहक नहीं माना जा सकता। तर की कहता है कि 'रक्तर-लं' में रुलेप मान से चांहरन की प्रतीति नहीं है अतः उसे व्यतिरेक का मानना ही होगा। तब वादी को निरुक्तर करते हुए 'आक्रन्दाः' इस उदाहरण में रुलेप के विपमा और व्यतिरेक दिखाया। इस प्रकार यह सिद्धान्तित किया कि प्रस्तुत उदाहरण में हैं और व्यतिरेक दोनों की संस्रृष्टि है और व्यतिरेक की विवक्षा से प्रबन्धप्रवृत्त भी रुलेप स्थक्त हैं हुआ रस्विश्वेष (विम्नलम्म शङ्गार) का पोषक है।

कोपात्कोमललोलबाहुलितकापाश्चेन बद्धा दृढं नीत्वा वासनिकेतनं दियतया सायं सखीनां पुरः । भूयो नैविमिति स्खलत्कलिगरा संद्वच्य दुश्चेष्टितं धन्यो हन्यत एव निह्नुतिपरः प्रेयान्रुद्त्या हसन् ॥ अत्र हि रूपकमाक्षिप्तमनिर्च्यूढं च परं रसपुष्टये । निर्वोद्विमिष्टमिप यं यहादङ्गत्वेन प्रत्यवेक्षते यथा—

कोप के कारण अपनी कोमल और चंचल बाहुलता के पाश में जोर से बांध कर, सिखयों के सामने वासगृह में ले जाकर, (उस नायक के परकींगमन आदि) दुश्चेष्टित को स्चित करके 'फिर ऐसा नहीं' यह लड़खड़ाती अव्यक्त आवाज में कहते हुए रुदन करती हुई नायिका के द्वारा अपने नखज़त आदि को ख़िपाने में संलग्न हंसता हुआ धन्य प्रियतम मार खाता है।

यहां रूपक आदिस एवं पूरा निर्वाह नहीं किया गया है, फिर भी रस का पोष करता है।

निर्वाह के इष्ट भी जिसे यत्न से अङ्ग के रूप में देखता है। जैसे— लोचनम्

मनौचित्यं स्यात् । सलीनां पुर इति । भवत्योऽनवरतं ब्रुवते नायमेवं करो-तीति तत्पश्यन्त्विदानीमिति भावः । स्खलन्ती कोपावेशेन कला मधुरा च गीर्यस्याः सा । कासौ गीरित्याह—भूयो नैविमत्येवंरूपा । एविमिति यदुक्तं तिकिमित्याह—दुश्चेष्टितं नखपदादि संसूच्य अङ्गुल्यादिनिर्देशेन । हन्यत एवैति । न तु सख्यादिकृतोऽनुनयोऽनुरुष्यते । यतोऽसौ इसनं निमित्तीकृत्य निद्वातिपरः प्रियतमश्च तदीयं व्यलीकं का सोढुं समर्थेति ।

निर्वोद्धमिति । निःशेषेण परिसमापयितुमित्यर्थः ।

अनौचित्य हो जाता। सिक्षयों के सामने—। भाव यह है कि तुम सब हमेशा कहती हो 'यह ऐसा नहीं करता' तो अब देखो। स्विल्त होती हुई कोपावेश से लड़बड़ाती हुई और कल अर्थात् मधुर वाणी है जिसकी। कौन वह वाणी है—'फिर ऐसा नहीं' इस प्रकार कि। 'इस प्रकार' जो यह कहा है वह क्या है, कहते हैं—नखक्षतादि दुश्चेष्टित को संसूचन अर्थात् अङ्गुलि आदि से निर्देश करके। ताबन किया जाता ही है—। न कि सखी आदि का किया हुआ अनुनय (कि इसे छोड़ दो, अब ऐसा अपराध नहीं करेगा आदि) मानती है, क्यों कि वह हंसी को निमित्त करके (अपना दुश्चेष्टित) छिपा रहा है, और प्रियतम है, उसके व्यलीक को कौन सहन करने के लिए समर्थ है ?

निर्वाह के०-। अर्थात् पूर्णं रूप से परिसमाप्त करने के लिए।

श्यामास्वक्तं चिकतहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं गण्डच्छायां शशिनि श्लिखनां बर्हभारेषु केशान् । उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु अविलासान् हन्तेकस्यं क्रचिदपि न'ते भीरु सादश्यमस्ति ॥

इत्यादौ । स एवग्रुपनिबध्यमानोऽलङ्कारो रसाभिव्यक्तिहेतुः कवेर्भवति । उक्तप्रकारातिक्रमे तु नियमेनैव रसमङ्गहेतुः सम्पद्यते । लक्ष्यं च

हे भीर, रयामा छताओं में तेरे अङ्ग को, चकचिहाई हिरनी की निगाह में तेरे दृष्टिपात को, चन्द्र में तेरे गार्छों की कान्ति को, मयूरों के पुच्छमार में तेरे वार्छों को और नदी की पतछी तरङ्गों में तेरे भ्रूविछासों को देखता फिरता हूँ, हन्त तेरा सादृश्य कहीं एक जगह नहीं है।

इत्यादि में।

वह इस प्रकार कवि का उपनिवध्यमान अछङ्कार रसामिन्यक्ति का हेतु होता है, उक्त प्रकारों के अतिक्रमण करने पर, नियमतः रसभङ्ग का हेतु हो जाता है। उस लोचनम्

रयामासु सुगन्धिप्रयङ्गलतासु पाण्डिम्रा तनिम्ना कण्टकितत्वेन च योगात्।

शशिनीति पाण्डुरत्वात्।

उत्पश्यामीति यत्नेनोत्प्रेद्ते । जीवितसन्धारणायेत्यर्थः । हन्तेति कष्टम्, एकस्थसाहरयाभावे हि दोलायमानोऽहं सर्वत्र स्थितो न कुत्रचिदेकत्र धृतिं लम इति भावः । भीविति । यो हि कातरहृद्यो भवति नासौ सर्वस्वमेकस्थं धारयतीत्यर्थः । अत्र द्युत्रेक्षायास्तद्भावाध्यारोपरूपाया अनुप्राणकं साहर्यं ययोपकान्तं, तथा निर्वाहितमपि विप्रलम्भरसपोषकमेव जातम् । तत्तु लक्ष्यं न दशितमिति सम्बन्धः । प्रत्युदाहरणो ह्यदर्शितेऽप्युदाहरणानुशीलनिदशा

क्यामा अर्थात् शोभन गन्य वाली प्रियङ्ग लताओं में, पाण्डुतां, कृशता और कण्टिकत-भाव के योग के कारण। शशी में पाण्डुर होने के कारण। देखता फिरता हूँ, यलपूर्वक उत्प्रेक्षण करता हूँ, अर्थात् जीवन धारण के लिए। 'हन्त' अर्थात् कष्टम्। भाव यह कि एक जगह साहश्य के न मिलने से दोलायमान में सब जगह जाता हूँ, कहीं एक जगह मुझे धीरज नहीं मिलता है। सीह—। अर्थात् जो कातर हृदय वाला होता है वह सब कुछ एक जगह नहीं रखता है (क्योंकि कोई चुरा न ले जाय)। यहां तद्भावाच्यारोप रूप (अर्थात् जिसमें जो न हो उसका आहार्य आरोप रूप, जैसे श्यामा अर्थात् प्रियङ्ग लताओं में अङ्ग का अध्यारोप) उत्प्रेक्षा को अनुप्राणित करने वाला साहश्य जैसे उपकान्त है, जिबाबा है' यह सम्बन्ध है। प्रत्युदाहरण के न दिखाने पर भी उदाहरण के अनुशीलन

तथाविधं महाकविप्रबन्धेष्विप दृश्यते बहुशः । तत्तु सक्तिसहस्रद्योति-तात्मनां महात्मनां दोषोद्योषणमात्मन एव दूषणं भवतीति न विभज्य दृश्चितम् । किं तु रूपकादेरलङ्कारवर्गस्य येयं व्यञ्जकत्वे रसादिविषये लक्षणदिग्दर्शिता तामनुसरन् स्वयं चान्यल्लक्षणप्रत्येक्षमाणो यद्यलक्ष्य-क्रमप्रतिभमनन्तरोक्तमेनं ध्वनेरात्मानप्रपनिवध्नाति सुकविः समाहित-चेतास्तदा तस्यात्मलामो भवति महीयानिति ॥ १८-१९॥

प्रकार का छच्य महाकवियों के प्रवन्धों में भी बहुत देखा जाता है। परन्तु वह हजारों स्कियों से उद्योतित महात्मा जनों का दोष प्रकटन अपना ही दूषण होगा। इसिछए विभाग करके नहीं दिखाया। किन्तु रूपक आदि अछङ्कारों का जो कि यह रसादि विषय के व्यक्षकत्व में छच्चण का प्रकार दिखाया है उसका अनुसरण करता हुआ और स्वयं अन्य छच्चण का उत्येचण करता हुआ, समाहितचित्त सुकवि यदि पूर्वोक्त अछन्यक्रम व्यङ्गयसदश ध्वनि के आत्मा का उपनिबन्धन करता है तो उसे बढ़ा आत्मालाम होता है॥ १८-१९॥

लोचनम्

कृतकृत्यतेति दर्शयति — कि त्विति । श्रन्यञ्जद्मण्मिति । परीक्षाप्रकारमित्यर्थः । तद्यथावसरे त्यक्तस्यापि पुनर्प्रहणमित्यादि । यथा ममैव—

शीतांशोरमृतच्छटा यदि कराः कस्मान्मनो मे भृशं संप्तुष्यन्त्यथ कालकूटपटलीसंवाससन्दूषिताः । कि प्राणात्र हरन्त्युत प्रियतमासञ्जलपमन्त्राक्षरे-रच्यन्ते किमु मोहमेमि हहहा नो वेद्मि केयं गतिः।।

इत्यत्र हि रूपकसन्देहनिदर्शनास्त्यकत्वा पुनरुपात्ता रसपरिपोषायेत्यलम्।।

की दिशा से अपनी कृतकृत्यता दिखाते हैं —िकन्तु—। अन्य छच्चग— । अर्थात् परीका का प्रकार । जैसे अवसर में छोड़े गए का भी फिर से ग्रहण, इत्यादि । जैसा मेरा ही—

यदि चन्द्र की किरणें अमृतरूप हैं तो किस कारण मेरे मन को अत्यन्त सन्तप्त करती हैं? यदि ये किरणें विषसमूह के साथ रहने से दूषित हो गई हैं तो प्राणों को क्यों नहीं हर छेती हैं? अगर प्रियतमा के साथ बातचीत रूप मन्त्राक्षरों से प्राणों की रक्षा हो जाती है तो फिर क्यों मूच्छित हो जाता हूँ? हा, हा, समझ में नहीं बाता, यह कौन गति है!

यहां रूपक, सन्देह और निदर्शना अलङ्कारों को छोड़ कर पुनः उपादान किया गया है। अधिक कहना आवश्यक नहीं ॥ १८-१९ ॥

रे. 'चन्द्र को किरणें अमृत रूप हैं' यहां रूपक का ग्रहण किया और 'किस कारण' इत्वादि से त्याग किया, 'यदि' इत्यादि से पुनः रूपक का उपादान किया; विषक्षह से दूपितस्य सा 'संदेह'

घ्वन्यालोक

क्रमेण प्रतिभात्यात्मा योऽस्यानुस्वानसिन्नभः । शब्दार्थशक्तिमूलत्वात्सोऽपि द्वेघा व्यवस्थितः ॥ २०॥ अस्य विवक्षितान्यपरवाच्यस्य घ्वनेः संलक्ष्यक्रमव्यङ्गचत्वादनुर-णनप्रख्यो य आत्मा सोऽपि शब्दशक्तिमूलोऽर्थशक्तिमूलश्रेति द्विप्रकारः॥ ननु शब्दशक्त्या यत्रार्थान्तरं प्रकाशते स यदि घ्वनेः प्रकार

इसका जो आत्मा (स्वरूप) अनुस्वान (घंटा के अनुरणन) के सदश क्रम से प्रतीत होता है वह शब्दशक्तिमूल और अर्थशक्तिमूल होने के कारण दो प्रकार से ज्यवस्थित है ॥ २०॥

इस विवित्तान्यपरवाच्य ध्विन का संख्वयक्रम व्यङ्गय होने के कारण (क्रम से व्यङ्गय के संख्तित होने के कारण) अनुरणन रूप जो आत्मा (स्वरूप) है वह भी दो प्रकार का होता है—शब्दशक्तिमूळ और अर्थशक्तिमूळ।

(शङ्का करते हैं कि) जहां शब्दशक्ति से अर्थान्तर प्रकाशित होता है उसे यदि

लोचनम्

एवं विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनेः प्रथमं भेदमलद्यक्रमं विचार्य द्वितीयं भेदं विभक्तुमाह—क्रमेगेत्यादि । प्रथमपादोऽनुवादभागो हेतुत्वेनोपात्तः । घण्टाया अनुरणनमभिघातजशब्दापेक्षया क्रमेणैव भाति । सोऽपीति । न केवलं मूलतो ध्विनिष्ठः । नापि केवलं विवक्षितान्यपरवाच्यो द्विविधः । अयमपि द्विविध एवेत्यपिशब्दार्थः ॥ २० ॥

इस प्रकार विवक्षितान्यपरवाच्य ब्विन के प्रथम भेद अलब्यक्रम का विचार करके दूसरे भेद को विभाजनार्थं कहते हैं—इसका जो॰ इत्यादि । प्रथम पाद अनुवाद भाग हेतु रूप में उपात्त है । (अर्थात् जिस कारण क्रम से प्रतीत होता है, उसी कारण अनुस्वान के सहशे है) घण्टा का अनुरणन अभिघातजनित शब्द की अपेक्षा से क्रम से ही प्रतीत होता है । यह भी—। 'भी' शब्द का अर्थ है कि न केवल मूलतः ब्विन दो प्रकार का है, और न केवल विवक्षितान्यपरवाच्य दो प्रकार का है, यह (संलक्ष्यक्रम-व्यक्षय ब्विन)' भी दो प्रकार का ही है ॥ २०॥

वित्या और 'प्राणों को क्यों' दत्यादि से त्याग कर दिया, फिर 'अगर' इत्यादि से उपादान कियाः इसी प्रकार 'प्रिययां' इत्यादि से निदर्शना का उपादान किया और 'क्यों मूर्चिछत हो जाता हैं से त्याग किया, फिर 'क्या गित है' इत्यादि से उसका पुनः उपादान किया। अथवा 'सन्तप्त करती हैं' इससे सन्देह का और 'मूर्चिछत हो जाता हूँ' इससे निदर्शना का त्याग है और 'समझ में नहीं आता' इत्यादि से उनका उपादान है। यह टिप्पणी 'छोचन' की 'बाडिप्रया' में निर्दिष्ट है।

१. ध्वनि पहळे दो प्रकार का बताया जा चुका अविवक्षित वाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य

उच्यते तिद्दानीं श्लेषस्य विषय एवापहृतः स्यात् , नापहृत इत्याह— आक्षिप्त एवालङ्कारः राज्दशक्त्या प्रकाशते । यस्मिन्ननुक्तः शब्देन शब्दशक्त्युद्भवो हि सः ॥ २१ ॥ यस्मादलङ्कारो न वस्तुमात्रं यस्मिन् काव्ये शब्दशक्त्या प्रकाशते स शब्दशक्त्युद्भवो ध्वनिरित्यस्माकं विवक्षितम् । वस्तुद्वये च शब्द-शक्त्या प्रकाशमाने श्लेषः । यथा—

ध्वित का प्रकार कहते हैं तब तो अब रलेप का विषय ही अपहृत हो जायगा । इस पर कहते हैं कि अपहृत न होगा—

क्योंकि, जहां शब्द से अनुक्त (साचात् संकेशित नहीं) अलङ्कार आचेप-सामर्थं से ही शब्दशक्ति द्वारा प्रकाशित होता है, वह 'शब्द-शक्त्युद्भव ध्वनि' है।। २१॥ क्योंकि, अलङ्कार, न कि वस्तुमात्र, जिस काव्य में शब्दशक्ति से प्रकाशित होता

है वह 'शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि' है, यह हमारा विविज्ञत है। और दो वस्तुओं के शब्दशक्ति द्वारा प्रकाशित होने पर 'श्लेप' होता है। जैसे—

लोचनम्

कारिकागतं हिशब्दं व्याचष्टं—यस्मादिति । अलङ्कारशब्दस्य व्यवच्छेचं दर्शयति—न वस्तुमात्रमिति । वस्तुद्वये चेति । चशब्दस्तुशब्दस्यार्थे । येनेति । येन ध्वस्तं बालक्रीडायामनः शकटम् । अभवेनाजेन सता । बलिनो दान-

कारिका में आए 'क्योंकि' (हि) शब्द की व्याख्या करते हैं—क्योंकि—। 'अलङ्कार' शब्द का व्यवच्छेद्य दिखलाते हैं—न कि वस्तुमात्र—। और दो वस्तुओं के—। 'और' का अर्थ 'तो' है।

जिसने—। जिसने बचपन कें खेल में शकट (नाम के असुर) का नाश किया। अभव अर्थात् अज या अजन्मा रूप में विद्यमान। बली दानवों को जो जीतने वाला है,

अविविक्षितवाच्य को लक्षणामूल ध्वांने और विविक्षितान्यपरवाच्य को अमिशामूल ध्विन मी कहते हैं। अविविक्षितवाच्य ध्विन के भी दो भेद हैं—अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्तिरस्कृतवाच्य। फिर विविक्षितवाच्य ध्विन के भी दो भेद निर्दिष्ट होते हैं—शब्दशक्तिमूल और अर्थशक्तिमूल। वहुत लोगों ने जमयशक्तिमूल भी एक और भेद माना है। वस्तु और अलक्कार ध्विन के भेद से शब्दशक्तिमूल के भी दो भाग हैं। अर्थशक्तिमूल के १२ भेद आगे निर्दिष्ट होंगे। इस प्रकार संलक्ष्यक्रम के १५ भेद और असंलक्ष्य कम यक्ष्य के एक भेद की मिला कर विविक्षितवाच्य या अभिधामूल ध्विन के १६ भेद होते हैं और जपर्युक्त दो भेद अविविक्षितवाच्य या लक्षणामूल ध्विन के हैं। इस प्रकार सब मिल कर १८ भेद हैं जो आगे और भी विस्तृत होते हैं।

प्रस्तुत में संलक्ष्यक्रमन्यङ्गय के शब्दशक्तिमूल ध्वनि और रलेष अलङ्कार के विषय-मेद स्न

विचार करते हैं।

येन घ्वस्तमनोभवेन बिलिजित्कायः पुरास्त्रीकृतो यश्चोद्वत्तश्चलङ्गहारवलयो गङ्गां च योऽधारयत्। यस्याहुः शिश्चमिन्छरो हर इति स्तुत्यं च नामामराः पायात्स स्वयमन्धकक्षयकरस्त्वां सर्वदोमाधवः॥

(विष्णुपच में) जिस अमव (विष्णु) ने शकट का नाश किया, वर्छा (दानवीं) को जीतने वाला अपने शरीर को पुराकाल में खीरूप बनाया, जिसने उद्वृत्त अजह को मारा, जिसका लय (अकार रूप) शब्द में है, जिसने अग और पृथ्वी को धारण किया, 'शशी को मन्यन करनेवाले राहु के शिर को काटने वाला' जिसके इस स्तुत्य नाम को ऋषि लोग लिया करते हैं, वह सब कुछ देनेवाला माधव, जिसके अन्धक जनों को (द्वारका में) वसीया, तुम्हारी रच्चा करें। (शिवपच में) मनोभव को ध्वस्त करने वाले जिसने पुराकाल में विल को जीतने वाले के शरीर को अख बनाया, उद्वृत्त मुजह ही जिसके हार और वलय हैं, गङ्गा को जिसने धारण किया, देवता जिसके शिर को चन्द्रयुक्त कहते हैं 'हर' यह स्तुत्य नाम बताते हैं, वह उमा के धव (प्रिय) अधक का विनाश करने वाले भगवान तुम्हारी सर्वदा रचा करें।

लोचनम्

वान्यो जयित ताहायेन कायो वपुः पुरामृतहरणकाले स्त्रीत्वं प्रापितः। यश्चोदृष्ट्तं समदं कालियाख्यं भुजङ्गं हतवान्। रवे शब्दे लयो यस्य। 'अकारो
विष्णुः' इत्युक्तेः। यश्चागं गोवर्धनपर्वतं गां च भूमिं पातालगतामधारयत्।
यस्य च नाम स्तुत्यमृषय आहुः किं तत् ? शशिनं मध्नातीति किप् राहुः,
तस्य शिरोहरो मूर्धापहारक इति। स त्वां माधवो विष्णुः सर्वदः पायात्।
कीटक् ? अन्धकनान्नां जनानां येन श्चयो निवासो द्वारकायां छतः। पदि वा
मौसले इषीकामिस्तेषां श्चयो विनाशो येन छतः। द्वितीयोऽर्थः—येन ध्वस्तकामेन सता बलिजितो विष्णोः सम्बन्धी कायः पुरा त्रिपुरनिर्दहनावसरेऽस्ती-

उस अपने शरीर को जिसने पुराकाल में अर्थात् अमृत हरण के अवसर में स्त्रीरूप बनाया, जिसने उद्दुत्त अर्थात् गर्वोले कालिय नामक भुजङ्ग को मारा, रव अर्थात् शब्द में जिसका लय है, क्योंकि कहा है—'अकार विष्णु है', जिसने अग अर्थात् गोवर्धन पर्वत को और पाताल में गई पृथ्वी को धारण किया, जिसका स्तुत्य नाम ऋषिलोग कहते हैं, बह क्या ? शशी को मयन करने वाला राहु, उसका शिर हरण करने वाला, अर्थात् मस्तक काट देने वाला'। वह सब कुछ देने वाले माधव विष्णु तुम्हारी रक्षा करें। बह कैसे हैं—जिसने अंधक नाम के लोगों को द्वारका में बसाया, अथवा मौसल पर्व में यादवों का नाश करने वाले हैं। दूसरा अर्थ—काम को नष्ट करने वाले जिसने बिल को जीतने वाले विष्णु के शरीर को पुराकाल में अर्थीत् त्रिपुरदाह के अवसर में अस्त

नन्वलङ्कारान्तरप्रतिभायामि श्लेषच्यपदेशो भवतीति दर्शितं भट्टोद्भटेन, तत्पुनरि शब्दशक्तिमूलो ध्वनिर्निरवकाश इत्याशङ्कयेदमुक्तम् 'आक्षिप्तः' इति । तदयमर्थः—यत्र शब्दशक्त्या साक्षादलङ्कारान्तरं वाच्यं सत्प्रतिभासते स सर्वः श्लेषविषयः। यत्र तु शब्दशक्त्या सामध्यीक्षिप्तं वाच्यव्यतिरिक्तं व्यङ्गयमेवालङ्कारान्तरं प्रकाशते स ध्वनेविषयः। शब्दशक्त्या साक्षादलङ्कारान्तरप्रतिमा यथा—

तस्या विनापि हारेण निसर्गादेव हारिणौ। जनयामासतुः कस्य विस्मयं न पयोधरौ॥

(शक्का करते हैं कि) यह उद्भट ने दिखाया है कि अलक्कारान्तर की प्रतिभा में भी 'रलेप' का ही न्यपदेश होता है, तब तो फिर शब्दशक्तिमूल ध्विन का कोई स्थान नहीं रह गया! यह आशक्का करके यह कहा है 'आचिप्त' (अर्थात् आचेप-सामर्थ्य से प्राप्त)। तो यह अर्थ है—जहां शब्दशक्ति से साचात् अलक्कारान्तर वाच्य होता हुआ प्रतीत होता है, वह सब रलेप का विषय है। और जहां शब्दशक्ति द्वारा सामर्थ्य से आचिप्त और वाच्य से आतेरिक्त न्यक्त्य ही अलक्कारान्तर प्रकाशित होता है, वह ध्विन का विषय है। शब्दशक्ति द्वारा साचात् अलक्कारान्तर की प्रतिभा; जैसे—

उसके दोनों पयोधर हार के बिना भी स्वभाव से ही हारी (हार धारण करने वाले, परिहार यह कि मनोहर) किसके विस्मय को उत्पन्न नहीं किए ?

लोचनम्

कृतः शरत्वं नीतः । उद्वृत्ता भुजङ्गा एव हारा वलयाश्च यस्य, मन्दािकनीं च योऽधारयत् , यस्य च ऋषयः शिमच्चन्द्रयुक्तं शिर आहुः, हर इति च यस्य नाम् स्तुत्यमाहुः, स भगवान्स्वयमेवान्धकासुरस्य विनाशकारी त्वां सर्वदा सर्वकालसुमाया धवो वल्लभः पायादिति । अत्र वस्तुमात्रं द्वितीयं भतीतं नालङ्कार इति श्लेषस्यैव विषयः । आक्षिप्तशब्दस्य कारिकागतस्य व्यवच्छेषं दर्शयितुं चोद्येनोपक्रमते—नन्वलङ्कारेत्यादिना ।

तस्या विनापीति । अपिशब्दोऽयं विरोधमाचक्षाणोऽर्थद्वयेऽप्यमिधाशक्ति

अर्थात् बाण बनाया, उद्वृत्त (लिपटे हुए) मुजङ्ग ही हैं हार और वलय जिसके, मन्दा-किनी को जिसने धारण किया, ऋषिलोग जिसके सिर को 'चन्द्रयुक्त' बतलाते हैं और 'हर' यह जिसका स्तुत्य नाम उच्चारण करते हैं, वह मगवान् स्वयमेव अन्यक असुर के विनाशकारी, उमा के प्रिय सर्वदा तुम्हारी रक्षा करें।' यहां दूसरा प्रतीत वस्तुमात्र अलङ्कार नहीं है, क्लेष का ही विषय है। कारिका में आए हुए 'आक्षित' शब्द व्यवच्छेच दिखलाने के लिए पहले से उपक्रम करते हैं—शङ्का करते हैं—इत्यादि से।

उसके दोनों -। यह 'भी' शब्द विरोध का अभिधान करता हुआ दोनों अर्थों में

अत्र शृङ्गारव्यभिचारी विस्मयाख्यो भावः साक्षाद्विरोधालङ्कारश्च प्रतिभासत इति विरोधच्छायानुप्राहिणः श्लेषस्यायं विषयः, न त्वनुस्वा-नोपमव्यङ्गयस्य ध्वनेः। अलक्ष्यक्रमव्यङ्गयस्य तु ध्वनेर्वाच्येन श्लेषेण विरोधन वा व्यञ्जितस्य विषय एव। यथा ममैव—

श्लाघ्याशेषततुं सुदर्शनकरः सर्वोङ्गलीलाजित-त्रैलोक्यां चरणारविन्दललितेनाक्रान्तलोको हरिः ।

यहां श्रङ्गार का व्यभिचारी विस्मय नाम का भाव और साचात् विरोध अलङ्कार प्रतिभासित हो रहे हैं, इस प्रकार विरोध की छाया के अनुप्राहक रलेष का यह विषय है, न कि अनुस्वानसदद्यान्यङ्गयरूप ध्वनि का। वाच्य रलेष अथवा विरोध से स्वित अलच्यक्रमन्यङ्गय ध्वनि का तो विषय ही है। जैसे, मेरा ही—

जिनका केवल हाथ ही देखने में सुन्दर है (अथवा हाथ में सुदर्शन चक्र धारण करने वाले), जिन्होंने अपने चरणारविन्द से (अथवा चरण के विचेप से) तीन लोकों

लोचनम्

नियच्छति हरते। हृद्यमवश्यमिति हारिणौ । हारो विद्यते ययोस्तौ हारिणाविति । अत एव विस्मयशब्दोऽस्यैवार्थस्योपोद्धलकः । अपिशब्दामावे तु न
तत एवार्थद्वयस्यामिधा स्यात् , स्वसौन्दर्योदेव स्तनयोर्विस्मयहेतुत्वोपपत्तेः ।
विस्मयाख्यो माव इति दृष्टान्तामिप्रायेणोपात्तम् । यथा विस्मयः शब्देन
प्रतिमाति विस्मय इत्यनेन शब्देन तथा विरोधोऽपि प्रतिमात्यपीत्यनेन
शब्देन । नतु किं सर्वथात्र ध्वनिर्नास्तीत्याशङ्कथाह—श्रलद्येति । विरोधेन
वेति । वाप्रह्णोन श्लेषविरोधसङ्करालङ्कारोऽयमिति दर्शयति, श्रनुप्रह्योगादेकतरत्यागप्रहणनिमित्ताभावो हि वाशब्देन सूच्यते । सुद्र्शनं चक्रं करे यस्य ।
स्मिषाशक्ति को अपन करता है हृद्य को स्वत्य तथा करते हैं हम्हिए हारी हैं

मी अभिषाशक्ति को अपित करता है, हृदय को अवश्य हरण करते हैं, इसिलए हारी हैं और जिन दोनों के हार है अतएव हारी ! इसी लिए 'विस्मय' शब्द इसी अर्थ का उपोढ़लक है । 'भी' शब्द के अभाव में तो उसीसे दोनों अर्थों का अभिधान नहीं होता, बिल्क स्वगत सौन्दयं से ही स्तनों का विस्मयहेतुत्व उपपन्न हो जाता ! 'विस्मय नाम का भाव' यह दृष्टान्त के अभिप्राय से उपादान किया है । जैसे विस्मय 'विस्मय' शब्द से प्रतीत होता है, 'उस प्रकार विरोध भी' 'भी' ('अपि') इस शब्द से प्रतीत होता है । क्या सर्वथा यहाँ ध्विन नहीं है ? यह आशक्का करके कहते हैं—अरुद्धा —। अथवा विरोध से—। 'अथवा' (वा') ग्रहण से 'यह श्लेष और विरोध का सक्कर अलक्कार' है, यह दिखाते हैं, अनुग्रह के योगसे (अर्थात् अनुग्राह्मानुग्राहकभाव के कारण) किसी एक के त्याग और ग्रहण के निमित्त का अभाव 'वा' शब्द से सुनित किया है । सुदर्शन चन्न जिसके हाथ में है । व्यतिरेक-पक्ष में सुदर्शन अर्थात् श्लाध्य

विश्राणां मुखमिनदुरूपमिखलं चन्द्रात्मचक्षुर्द्ध-त्स्थाने यां स्त्रतनोरपश्यदधिकां सा रुक्मिणी वोडवतात् ॥ अत्र वाच्यतयेव व्यतिरेकच्छायानुग्राही श्लेषः प्रतीयते । यथा च— श्रमिमरतिमलसहृदयतां प्रलयं मूर्च्छां तमः श्ररीरसादम् । मरणं च जलदश्चनगजं प्रसद्ध कुरुते विषं वियोगिनीनाम् ॥

यथा वा-

का आक्रमण किया है और जो चन्द्र के रूप में नेत्र धारण करते हैं वह हरि मगवान् विच्छा प्रशंसनीय समस्त शरीर वाली, समस्त अङ्गों की लीलामात्र से त्रेलोक्य को जीत लेने वाली और समग्र चन्द्र रूप मुख को धारण करने वाली जिस स्किमणी को अपने शरीर से उचित ही अधिक देखा, वह (स्विमणी) आपलोगों की रहा करे।

यहां वाच्यरूप से ही व्यतिरेक की छाया का अनुप्राहक रलेप प्रतीत होता है। और जैसे—

जलदरूप अजग से उत्पन्न विष (जल और जहर, क्योंकि दोनों 'विष' के वाज्य हैं) वियोगिनियों के चक्कर, औदासीन्य, दिली नाकामी, बेचेनी, मूर्ज्जा, अन्धेरा, श्वार का ऐंठन और मरण हठपूर्वक कर डालता है। अथवा जैसे—

लोचनम्

व्यतिरेकपत्ते सुदर्शनौ श्लाम्यौ करावेव यस्य । चरणारविन्दस्य लिलतं त्रिभु-वनाक्रमणक्रीडनम् । चन्द्रक्षपं चक्षुर्धारयन् । वाच्यतयैवैति । स्वतनोरिधका-मिति शब्देन व्यतिरेकस्योक्तत्वात् । भुजगशब्दार्थपर्यालोचनाबलादेव विष-शब्दो जलमभिधायापि न विरन्तुमुत्सहते, अपि तु द्वितीयमर्थं हालाहललक्ष-णमाह् । तद्भिधानेन विनामिधाया एवासमाप्तत्वात् । अमित्रभृतीनां तु मरणान्तानां साधारण एवार्थः । निराशीकृतत्वेन खण्डितानि यानि मानसानि

दोनों हाथ ही हैं जिसके । चरणारिवन्द का त्रिभुवन के आक्रमण का लिलत खेल । चन्द्र रूप चक्षु को धारण करता हुआ । वाच्य रूप से ही—। क्योंकि 'अपने कारोर में अधिक' यह कहने से व्यतिरेक उक्त हो गया है । 'भुजग' शब्द के अर्थ की पर्यालोचना के बल से ही 'विष' शब्द 'जल' का अभिधान करके भी विराम लेने के लिए उत्साहित नहीं होता, अपितु हालाहल रूप दूसरे अर्थ को भी अभिधान करता है । क्योंकि उसके अभिधान के बिना अभिधा समाप्त ही नहीं होती । चक्कर आदि से लेकर मरण तक का शब्दों का अर्थ साधारण ही है । निराश होने के कारण खण्डित जो मानस अर्थात

चमिहअमाणसक्रञ्चणपङ्कअणिम्मिहअपरिमला जस्स ।
अखण्डिअदाणपसारा बाहुप्पलिहा व्विअ गइन्दा ॥
(खण्डितमानसकाश्चनपङ्कजिनमिथितपरिमला यस्य ।
अखण्डितदानप्रसरा बाहुपरिघा इव गजेन्द्राः ॥ इति छाया)
अत्र रूपकच्छायातुप्राही श्लेषो वाच्यतयैवावभासते ।
स चाश्चिप्तोऽलङ्कारो यत्र पुनः शब्दान्तरेणाभिहितस्वरूपस्तत्र न

निराश शत्रुओं के मानसरूपी सुवर्ण कमल को निर्मिथित करने वाले अपने यश रूप सौरम से युक्त और निरन्तर दान देने वाले जिस (राजा) के बाहुदण्ड मानसरोवर के सुवर्ण कमलों को खण्डित करने से (उनके) सौरम से सने और निरन्तर दान-जल प्रवाहित करने वाले हाथियों के समान हैं।

यहां रूपक की खाया का अनुप्राहक रलेष वाच्यरूप से ही अनभासित होता है। और वह आविस अलक्कार जहां फिर शब्दान्तर से अभिहित हो जाता है वहां

लोचनम्

शब्रुहृद्यानि तान्येव काञ्चनपङ्कजानि । ससारत्वात् तैर्हेतुभूतैः । शिम्मिहिश्व-परिमला इति । प्रसृतप्रतापसारा अखण्डितवितरणप्रसरा बाहुपरिघा एव यस्य गजेन्द्रा इति । गजेन्द्रशब्दवशाश्व महिअशब्दः परिमलशब्दो दानशब्द् अोट-नसौरभमदलक्षणानर्थान्प्रतिपाद्यापि न परिसमाप्तामिघाव्यापारा भवन्तीत्युक्त-रूपं द्वितीयमप्यर्थमभिद्धत्येव ।

पवमासिप्तराब्दस्य व्यवच्छे द्यं प्रदर्श्येवकारस्य व्यवः ह्रेचं दर्शियतुमाह्स सं चेति । उमयार्थप्रतिपाद्नशक्तराब्दप्रयोगे, यत्र तावदेकतर्विषयनियमनः कारणमिष्वाया नास्ति, यथा—'येन ध्वस्तमनोभवेन' इति । यत्र वा प्रत्युत शबुके हृदय वहीं है सुवृणं कमल । सारयुक्त होने के कारण हेतुभूत उनसे । निर्मायत करने वाले परिमल से युक्त—। जिनके प्रताप वल फैल चुके हैं, अखण्डित दान-प्रसर वाले जिसके बाहुदण्ड ही गजेन्द्र अर्थात् हाथी हैं। 'गजेन्द्र' शब्द के कारण 'चमहिन्न' ('खण्डित') शब्द, 'परिमल' शब्द और 'दान' शब्द 'तोड़ना' 'सौरभ' और 'मद' स्प वर्षों को प्रतिपादन करके भी परिसमाप्त अभिधाव्यापार वाले नहीं होते, इस लिए उक्त स्म दूसरे वर्षे का अभिधान करते ही हैं।

इस प्रकार 'आक्षिप्त' शब्द के व्यवच्छेच को दिखा कर 'एव' कार ('ही') का व्यवच्छेच दिखलाने के लिए कहते हैं—और वह—। दो अथों के प्रतिपादन में शक्त (समर्थ) शब्द के प्रयोग करने पर, जहां किसी एक विषय में अभिधा के नियमन का कारण नहीं है। जैसे—'येन ध्वस्तमनोभवेन०'—। अथवा जहां दूसरे अभिधाव्यापार के

शब्दशक्तयुद्भवानुरणनरूपव्यङ्गयध्वनिव्यवहारः । तत्र वक्रोक्त्यादि-वाच्यालङ्कारव्यवहार एव । यथा—

हच्छा केशव गोपरागहृतया किश्चित्र दृष्टं मया तेनैव स्खलितासिम नाथ पतितां कि नाम नालम्बसे।

शब्दशक्त्युद्भव अनुरणन रूप ध्वनि का व्यवहार नहीं होता है। वहां वक्रोक्ति आदि वाच्य अलङ्कार का व्यवहार होता है। जैसे—

हे केशव, गौओं की (उदाई हुई) धूल से दृष्टि के ढँप जाने के कारण मैंने कुछ नहीं देखा और गिर पड़ी हूँ, हे नाथ, गिरी हुई मुझे क्यों नहीं आलम्बन करते हो ? लोचनम्

द्वितीयामिधाव्यापारसद्भावावेदकं प्रमाणमस्ति, यथा-'तस्या विना' इत्यादी, तत्र तावत्सवथा 'चमहिअ' इत्यन्ते । सोऽथोंऽभिषेय एवेति स्फुटमदः । यत्रा-प्यमिधाया एकत्र नियमहेतुः प्रकरणादिविद्यते तेन द्वितीयस्मिन्नथे नामिधा सङ्क्रामति, तत्र द्वितीयोऽथोंऽसावाक्षिप्त इत्युच्यते; तत्रापि यदि पुनस्ताद्द-क्ष्वव्दो विद्यते येनासौ नियामकः प्रकरणादिरपहतशक्तिकः सम्पादते । अत एव सामिधाशक्तिवीधितापि सती प्रतिप्रसूतेव तत्रापि न ध्वनेविषय इति तात्पर्यम् । चशव्दोऽपिशव्दार्थे भिन्नक्रमः आक्षिप्तोऽप्याक्षिप्तत्या मटिति सम्भावियतुमारक्घोऽपीत्यर्थः । न त्वसावाक्षिप्तः, किं तु शब्दान्तरेणान्येना-मिधायाः प्रतिप्रसवनाद्भिहितस्वरूपः सम्पन्नः । पुनर्प्रहर्गोन प्रतिप्रसवं

व्याख्यातं सूचयति । तेनैवकार आक्षिप्ताभासं निराकरोतीत्यर्थः ।

हे केश्व, गोधूलिहृतया दृष्ट्या न किश्चिद् दृष्टं मया तेन कारणेन स्खलिन्तास्मि मार्गे। तां पतितां सतीं मां किं नाम कः खलु हेतुर्यन्नालम्बसे हस्तेन। सद्भाव का आवेदक प्रमाण है जैसे—तस्या विना०—इत्यादि में, वहाँ सवया 'चमाहेअ०'तक। वह अर्थ अभिधेय ही है, यह वात स्पष्ट है। जहाँ भी एक जगह प्रकरण आदि अभिधा का नियमहेतु है, उसके कारण दूसरे अर्थ में अभिधा सङ्क्रान्त नहीं होती है, वहाँ दूसरा वह अर्थ 'आक्षिम' कहा जाता है, और वहाँ पर भी यदि फिर उस प्रकार का शब्द है जिससे वह नियामक प्रकरण आदि अपहतशक्ति कर दिया जाता है, अतएव वह अभिधाशक्ति बाधित होकर भी प्रतिप्रसूत की भांति हो जाती है, वहाँ भी- घविन का विषय नहीं है, यह तात्पर्य है। 'और' ('च') शब्द 'भी' ('अप') शब्द के अर्थ में भिन्नक्रम है, अर्थात् आक्षित में, आक्षित स्प मी झटिति सम्भावना किया जाता हुआ भी। 'फिर' ('पुनः') भृहण से व्याख्यात 'प्रतिप्रसव' को सूचित करता है। अर्थात् इससे 'एवकार' ('ही' का भ्रयोग) आक्षिप्तामास का निराकरण करता है।

'हे केशव गौओं की (उड़ाई हुई) घूल से दृष्टि के अवरुद्ध (हुत) हो जाने से मैंने कुछ नहीं देखा, इस कारण मार्ग में गिर पड़ी हूँ। उस पतिता (गिरी हुई) मुझे

एकस्त्वं विषमेषु खिन्नमनसां सर्वावलानां गति-गोंप्येवं गदितः सलेशमवताद्रोष्टे हरिवंश्विरम् ॥ एवज्जातीयकः सर्व एव भवतु कामं वाच्यश्लेषस्य विषयः। यत्र त

क्योंकि ऊँच-लालों (विषम) में लिख मन वाले सभी अवलों के एक तुम्हीं गति हो, इस प्रकार गोपी के द्वारा गोष्ठ (गोशाला) में लेश के साथ कहे गए हिर (कृष्ण) आपलोगों की रहा करें।

इस प्रकार का सभी चाहे जितना वाच्य रुलेप का विषय हो । जहां सामध्यं से

लोचनम्

यतस्त्वमेवैकोऽतिशयेन वलवान्निम्नोन्नतेषु सर्वेषामवलानां वालप्रद्धाङ्गनादीनां खिन्नमनसां गन्तुमशक्नुवतां गितरालम्बनाभ्युपाय इत्येवंविधेऽर्थे यद्येते प्रकरणेन नियन्त्रितामिधाशक्तयः शब्दास्तथापि द्वितीयेऽर्थे व्याख्यास्यमानेऽभिधाशक्तिनिकद्धा सती सलेशिमत्यनेन प्रत्युब्जीविता । अत्र सलेशं सस्वन्नित्यर्थः, अल्पीभवनं हि स्चनमेव । हे केशव ! गोप स्वामिन् ! रागहृतया ह्ट्येति । केशवगेन उपरागेण हृतया ह्ट्येति वा सम्बन्धः । स्विलितासिम खिष्डतचित्रा जातासिम । पिततामिति भर्त्रभावं मां प्रति । एक इत्यसाधारणसौभाग्यशाली त्वमेव । यतः सर्वासामबलानां मदनविधुरमनसामीर्थाः कालुब्यनिरासेन सेव्यमानः सन् गितः जीवितरक्षोपाय इत्यर्थः । एवं श्लेषालङ्कारस्य विषयमवस्थाप्य ध्वनेराह—यत्र त्विति । कुसुमसमयात्मकं यद्युगं

क्यों नहीं, अर्थात क्या कारण है कि हाथ से अवलम्बन नहीं करते हो ? क्यों कि तुम्हीं एक अतिशय करके वलवान हो, निम्नोन्नत (ऊंच-खाल) स्थानों में सभी वाल, वृद्ध, अञ्जना आदि सभी खिन्न मन वाले अर्थात् गमन करने में असमर्थ अवलों की गित अर्थात् आलम्बन के उपाय हो।' इस प्रकार के अर्थ में यद्यपि ये शब्द प्रकरण के द्वारा नियन्त्रित अभिधाशक्ति वाले हैं, तथापि ब्याख्यान किए जाने वाले दूसरे अर्थ में अभिधाशक्ति निष्ट होकर 'सलेश' इसके द्वारा पुनः उज्जीवित कर दी गई। यहाँ सलेश अर्थात् सूचन, क्यों कि अल्प होना सूचन ही है। है केशव, गोप, स्वामिन, राग के कारण हरी हुई दृष्ट से'—। अथवा सम्बन्ध यह कि केशव में गए उपराग के कारण हरी हुई (हत) दृष्टि से। स्वलित हो गई हूँ (गिर पड़ी हूँ) अर्थात् मेरा चरित्र खण्डित हो चुका है। पितता अर्थात् मेरे प्रति अर्गुभाव। एक अर्थात् असाधारण साम्रायशाली तुम्हीं हो। क्यों कि सभी मदन से विधुर मन वाली अवलाओं के ईर्व्या साम्रायशाली तुम्हीं हो। क्यों कि सभी मदन से विधुर मन वाली अवलाओं के ईर्व्या उपाय हो। इस प्रकार क्लेष अलङ्कार का विषय अवस्थापन करके ध्वनि का विषय अवस्थापन करके ध्वनि का विषय अवस्थापन करके ध्वनि का विषय

+11.7K

ध्वन्यालोकः

सामध्यक्षिप्तं सदलङ्कारान्तरं शब्दशक्त्या प्रकाशते स सर्वे एव

'अत्रान्तरे कुसुमसमययुगसुपसंहरचजूम्भत ग्रीष्माभि<mark>धानः फुल्ल-</mark> मिल्लकाधवलाहहासो महाकालः'।

यथा च--

उन्नतः प्रोस्त्रसद्धारः कालागुरुमलीमसः। पयोधरभरस्तन्व्याः कं न चक्रेऽभिलाषिणम्॥

आचित्र होता हुआ अलङ्कारान्तर शब्दशक्ति से प्रकाशित होता है, वह सभी 'ध्विन' का विषय है। जैसे—

'इस बीच, दो पुष्पसमयों (वसन्त के महीनों) को उपसंहार करता हुआ विकसित मिन्नकाओं के, अद्वालिकाओं को धवलित करने वाले हास से युक्त प्रीष्म नाम का महाकाल जनमाई लिया।'

और जैसे--

उन्नत, प्रोक्छिसित होते हुए हार से (न्यङ्मय मेघ के पत्त में प्रोन्नसित होती हुई भारा—जलधारा से) युक्त और कालागुरु की भांति मिंछन, तन्वी के पयोधर सार (स्तनभार, न्यङ्मय मेघ अर्थ में मेघभार) ने किसको अभिलावी (सकाम) नहीं बनाया ?

लोचनम्

मासद्वयं तदुपसंहरन्। धवलानि हृद्यान्यट्टान्यापणा येन तादृक् फुल्लमिलक् कानां हासो विकासः सितिमा यत्र । फुल्लमिलका एव धवलाट्टहासोऽस्येति तु व्याख्याने 'जलद्भुजगजम्' इत्येतत्तुल्यमेतत्स्यात् । महांश्चासी दिनदैष्यंदुर-तिवाहतायोगात्कालः समयः । अत्र ऋतुवर्णनप्रस्तावनियन्त्रिताभिधाशक्तयः, अत एव 'अवयवप्रसिद्धेः समुदायप्रसिद्धिर्वलीयसी' इति न्यायमपाकुर्वन्तो महा-

उपसंहार करता हुआ। धवल अर्थात् हुध अट्ट अर्थात् आपण (अट्टालिकाएं) हैं जिससे, उस प्रकार का विकसित मिश्चकाओं (जूही के फूलों) का हास अर्थात् विकास (सितिमा) है जहाँ। 'विकसित मिश्चका ही हैं इसका धवल अट्टहास' यह व्यास्थान करने पर 'जलद भुजगजं०' के सहश यह हो जायगा। दिनों के बड़े होने और दुरित बाह होने के कारण महानु काल अर्थात् समय। यहाँ ऋतुवर्णन के प्रस्ताव के कारण अभिधाशक्ति के नियन्त्रित हो जाने से, इसी लिए 'अवयव-प्रसिद्धि से समुदाय-प्रसिद्धि कलवान् होती है' इस न्याय को निराकरण करते हुए 'महाकाल' प्रभृति शब्द इसी

लोचनम्

कालप्रभृतयः शब्दा एतमेवार्थमिमघाय कृतकृत्या एव । तद्नन्तरमर्थाकातिः

र्ध्वननव्यापारादेव शब्दशक्तिमूलात्।

अत्र केविन्मन्यन्ते-'यत एतेषां शब्दानां पूर्वमर्थान्तरेऽभिधान्तरं हुः ततस्तथाविषेऽर्थान्तरे दृष्टतद्भिधाराक्तरेव प्रतिपत्तुर्नियन्त्रितासिधाराक्तिकेस्य एतेभ्यः प्रतिपत्तिःर्वननव्यापारादेवेति शब्दशक्तिमूलत्वं व्यङ्गश्रत्वं चेत्यविष्ठ-द्धम्' इति ।

अन्ये तु-'साभिधैव द्वितीया अर्थसामध्ये श्रीष्मस्य भीषणदेवताविशेष-सादृश्यात्मकं सहकारित्वेन यतोऽवलम्बते ततो ध्वननव्यापारक्षपोच्यते' इति।

एके तु-'शब्दरलेषे ताबद्भेदे सति शब्दस्य, अर्थरलेपेऽपि शक्तिभेदाच्छ-ब्द्भेद इति दर्शने द्वितीयः शब्दस्तत्रानीयते । स च कदाचिद्भिधाव्यापा रात् यथोभयोरुत्तरदानाय 'श्वेतो धावति' इति; प्रश्नोत्तरादौ वा तत्र वाच्या-लङ्कारता। यत्र तु ध्वननव्यापारादेव शब्द आनीतः, तत्र शब्दान्तरबलादिष तद्यन्तिरं प्रतिपन्नं प्रतीयमानमूलत्वात्प्रतीयमानमेव युक्तम्' इति ।

इतरे त-'द्वितीयपक्षव्याख्याने यदर्थसामध्य तेन द्वितीयाभिधेव प्रतिप्रस-

अयं का अभियान करके कृतकृत्य ही हो जाते हैं। तत्पश्चात् अर्थ का ज्ञान शब्दशक्तिमुख

व्यननव्यापार से ही होता है।

यहाँ कुछ लोग मानते हैं — 'जिस कारए। इन शब्दों का पहले अर्थ में अभिषा देखी गई है, उस कारण उस प्रकार के अर्थान्तर में, उसी प्रतिपत्ता को, जिसने उनकी अभिधाशक्ति का दर्शन किया है, नियन्त्रित अभिधाशक्ति वाले इन (शब्दों) से ब्वनन व्यापार द्वारा ही ज्ञान होता है, इस प्रकार शब्दशक्तिमुलत्व और व्याङ्गचत्व दोनी ठीक हैं'।

दूसरे तो (मानते हैं)—'वह दूसरी अभिधा ही सहकारी रूप से ग्रीव्म के. भीषण देवता विशेष रूपसादृश्यात्मक अर्थ सामर्थ्य को जिस कारण अवलम्बन करती है, उर

कारण ब्वनन रूप कही जाती है'।

कुछेक लोग तो (मानते हैं)— 'शब्दश्लेष में शब्द के भेद होने पर और अर्थंश्लेष में भी 'शक्तिमेद से शब्द का मेद होता है' इस दर्शन (सिद्धान्त) के अनुसार दूसरा शब्द वहाँ लाया जाता है। वह (दूसरा शब्द) कभी अभिधा व्यापार से (लाया जाता है) जैसे—दोनों के उत्तर देने के लिये 'क्वेतो घावित' (कौन इघर दौड़ता है, और कैसा गुण वाला इघर दौड़ता है ? इन दोनों प्रश्नों के उत्तर देने के लिए एक ही वाक्य का प्रयोग किया 'स्वेतो वावति' अर्यात् स्वा-कुत्ता-इघर दौड़ता है और उजला दौड़ता है)। अयवा प्रश्न और उत्तर आदि में (श्लेष) वाच्यालङ्कार हो जाता है। परन्तु, जहाँ ध्वनन ब्यापार से ही शब्द लाया गया है, वहाँ शब्दान्तर के बल से भी प्रतिपन्न वह अर्थाता प्रतीयमानमूल होने के कारण प्रतीयमान ही ठीक है।

इतर लोग तो (मानते हैं)—'दूसरे एक के व्याख्यान में जो अर्थसामध्यं है

लोचनम्

यते, तत्रश्च द्वितीयोऽर्थोऽभिधीयत एव न ध्वन्यते, तदनन्तरं तु तस्य द्विती-यार्थस्य प्रतिपन्नस्य प्रथमार्थेन प्राकरणिकेन साकं या रूपणा सा ताबद्वात्येव, न चान्यतः शब्दादिति सा ध्वननव्यापारात्। तत्राभिधाशक्तेः कस्याध्वदप्य-नाशङ्कनीयत्वात् । तस्यां च द्वितीया शब्दशक्तिर्मूलम् । तया विना रूपणाया अनुत्थानात्। अत एवालङ्कारध्वनिरयमिति युक्तम्। वस्यते च 'असम्बद्धार्था-भिधायित्वं मा प्रसाङ्कीत्' इत्यादि । पूर्वत्र तु सलेशपदेनैवासम्बद्धता निरा-कृता । 'येन ध्वस्त' इत्यत्रासम्बद्धता नैव भाति । 'तस्या विनापि' इत्यत्रा-विशब्देन 'श्लाघ्या' इत्यत्राधिकशब्देन 'भ्रमिम्' इत्यादौ च रूपकेणासम्बद्धता उससे दूसरी अभिधा ही प्रतिप्रसूत होती है, और तब दूसरा अर्थ अभिहित ही होता है, व्विनत नहीं होता है। तत्पश्चात् प्रतिपन्न उस दूसरे अर्थ का पहले प्राकरणिक अर्थ के साथ जो रूपणा है वह प्रतीत होती ही है, वह अन्य शब्द से नहीं है, अतः वह ब्वनन व्यापार से (प्रतिपन्न) होती है। क्योंकि उसमें किसी भी अभिषाशक्ति की आशङ्का नहीं की जा सकती। उस (रूपणा) में दूसरी शब्दशक्ति मूल है, क्योंकि उसके बिना रूपणा का उत्थान नहीं होगा। इस लिए यह अलङ्कारघ्वनि है यह ठीक है। और कहेंगे 'असम्बद्ध अर्थ का अभिघान करने वाला होना प्रसक्त न हो' इत्यादि। पहले में तो 'सलेश' इस पद से ही (वाक्य की) असम्बद्धार्थता का निराकरण कर दिया है। 'येन व्वस्त॰' इस (पद्य) में असम्बद्धार्थता प्रतीत नहीं होती। 'तस्या विनापि॰' इसमें 'अपि' शब्द से, 'श्लाच्याशेष॰' इसमें 'अधिक' शब्द से और--- 'भ्रमिम्॰'

इत्यादि में रूपक से असम्बद्धता का निराकरण कर दिया है, यह तात्पर्यं है। 'पयोभिः'

इस प्रसंग में लोचनकार ने जिन चार मतों की चर्चा की है उनका स्पष्टोकरण यह है—
प्रथम मत वालों का कहना है कि पहले क्षाता को अभिधाशक्ति से दितीय अर्थ का महण हुआ
रहता है तभी वह प्रकरण के कारण अभिधाशक्ति के नियंत्रित हो जाने पर ध्वनन व्यापार से उस
अर्थ का वह ज्ञान करता है। यदि पहले से उस दितीय अपस्तुत अर्थ में अभिधाशक्ति से दह अर्थ
आता को विदित नहीं हुआ होता तो उसे प्रस्तुत में दितीय अर्थ का भान हो नहीं हो सकता, स्ती-

१. जहां एक शब्द से दो अथों का शान होता है वहां मुख्यतः 'श्लेष' अलङ्कार का प्रसंस होता है, किन्तु जब ध्वननव्यापार आदि सामर्थ्य से आक्षिप्त होकर अलङ्कारान्तर शब्द-शक्ति से प्रकाशित होता है वह सभी शब्दशक्तिम्ल ध्वनि का विषय होता है। इसके उदाहरण में आचार्य ने 'अत्रान्तरे o', 'प्रोल्लस्व 'और 'दत्तानन्दाः o' ये तीन उद्धरण दिए हैं। लोचनकार लिखते हैं कि प्रथम उदाहरण में यद्यपि दूसरा शिवरूप अर्थ रूढ है और ग्रांच्म के पक्ष का अर्थ यौगिक है, क्यों कि 'महान् चासी कालः (समयः)' के अनुसार अर्थ किया गया है। और नियम यह है कि योग से रूढि वलीयसी होती है (योगाद रूढिनेलीयसी = अवयवशक्तेः समुदायशक्ति-वंलीयसी), ऐसी स्थित में मुख्यता दूसरे अर्थ को मिलनी चाहिए। किन्तु यहां ऋतुवर्णन का प्रसंग होने से अभिधाशक्ति का ग्रीच्म के पक्ष में ही नियमन हो जाता है और 'महाकाल' आदि शब्द इसी अर्थका अभिधान करके कृतकार्य हो जाते हैं। तत्पश्चात दूसरे का हान ध्वनन व्यापार से ही होता है।

यथा वा-

दत्तानन्दाः प्रजानां सम्रुचितसमयाकृष्टसृष्टैः पयोभिः पूर्वाहे विप्रकीर्णा दिशि दिशि विरमत्यिह्न संहारभाजः । दीप्तांशोर्दीर्घदुःखप्रभवभवभयोदन्वदुत्तारनावो गावो वः पावनानां परमपरिमितां प्रीतिश्चत्पादयन्तु ॥

अथवा, जैसे---

समुचित समय (सूर्यकिरणों के पन्न में प्रीष्म काल और गौओं के पन्न में दोहन से पूर्वकाल) में आकृष्ट (समुद्र से खींचे हुए, दूसरे पन्न में अयन में चढ़ाए हुए) और अपित जल (पन्नान्तर में दूध) के द्वारा प्रजाओं को आनन्द देने वाली, दिन के आरम्भ में फैली हुई (पन्नान्तर में चरने के लिए चारों ओर फैली हुई) और दिन के विराम लेने के समय (अर्थात् सन्ध्याकाल में) एकत्र हो जाने वाली (सूर्य की किरणें सन्ध्या काल में सिमट जाती हैं और गायें वाहर से चर कर एक जगह आ जाती हैं), प्रवल दुःस्त के कारणभूत संसार के भय रूप समुद्र के पार उतारने में नौका रूप, पवित्र पदार्थों से श्रेष्ठ, सूर्य की किरणें (गीओं के समान) आप लोगों के अपरिमित आनन्द उत्पन्न करें।

लोचनम्

निराकृतेति तात्पर्यम् । पयोभिरिति पानीयैः श्लीरैश्च । संहारो ध्वंसः, एकत्र ढौकनं च । गावो ररमयः सुरभयश्च ।

अर्थात् पानी, और क्षीर । संहार अर्थात् घ्वंस, एक जगह जुट जाना । गौ अर्थात् (सूर्यं की) किरणें और सुरिभ (गाय)।

हिए वह शब्दशक्तिमूल या अभिधासहकृत ध्वनि कहा जाता है। शब्दशक्ति या अभिधा उसके मूल में रहती है और व्यञ्जना व्यापार से वह ध्वन्यर्थ विदित होता है अतः उसे 'शब्दशक्तिमूल

दूसरे मत वाले लोग कहते हैं कि प्रीष्म का भीषण देवता विशेष के साथ सादृहय रूप अर्थ-सामप्य के सहकारी होने के कारण दूसरी अभिधा शक्ति को ही ध्वनन ज्यापार रूप कहते हैं।

हुसरे सत बालों का कहना है कि जब भी किसी शब्द के अर्थ की प्रतीति होती है, वह अभिधा प्रकार के शब्द हैं, उसी प्रकार कर्थश्लेष या समझश्लेष में ('सब्दोमाधवः') दोनों अर्थों के लिए दो प्रकार के शब्द हैं, उसी प्रकार कर्थश्लेष या अभझश्लेष में भी 'शक्तिभेदात शब्दभेदः' के अनुसार धावति' जैसे प्रश्नोत्तर के प्रसंग में भी दितीय शब्द की अभिधाशक्ति से बोध करते हैं। 'श्वेती किन्तु जहां प्रकरण के कारण ध्वनन व्यापार से दितीय शब्द की अभिधाव्यापार से उपस्थिति होती है। अभिधा से अर्थ का बोध होता है वहां यद्यि शब्दान्तर के बल से उसका अर्थान्तर बात होता है, तथापि उस अर्थान्तर की प्रतीयमानमूल होने के कारण प्रतीयमान ही कहते हैं। इस प्रकार वहाँ

एषुदाहरणेषु शब्दशक्त्या प्रकाशमाने सत्यप्राकरणिकेऽर्थान्तरे वाक्यस्यासम्बद्धार्थाभिधायित्वं मा प्रसाङ्कीदित्यप्राकरणिकप्राकरणि-कार्थयोरुपमानोपमेयभावः कल्पयितव्यः सामध्यवित्यर्थाक्षिप्तोऽयं इलेषो न शब्दोपारूढ इति विभिन्न एव बलेषादन्रस्वानोपमन्यङ्गयस्य

इन उदाहरणों में अंप्राकरणिक धर्यान्तर के शब्दशक्ति द्वारा प्रकाशित होने पर यह बात न प्रसक्त हो कि 'वाक्य असम्बद्ध अर्थ का अभिधान करने वाला है' इसलिए अपाकरणिक और प्राकरणिक अर्थ के उपमानोपमेय भाव की करूपना करनी चाहिए। 'सामर्थ्य के कारण इस प्रकार यह रखेष आचित्र रूप में उपस्थित होता है, न कि शब्दनिष्ठ होता है, इसलिए रलेप से अनुस्वानोपमन्यक्ष्य ध्वनि का विषय अलग ही लोचनम

असंवेद्यमानमेवेत्यर्थः । उपमानोपमेयभाव श्रसम्बद्धार्थांभिघायित्वमिति । इति । तेनोपमारूपेण व्यतिरेचननिद्धवादयो व्यापारमात्ररूपा एवात्रास्वाद-प्रतीतेः प्रधानं विश्रान्तिस्थानं, न तूपमेयादीति सर्वत्रालङ्कारध्वनौ मन्तव्यम् । सामर्थ्यादिति । ध्वननव्यापारादित्यर्थः।

असम्बद्ध अर्थ का अभिधान करने वाला होना-। अर्थात् जो संवेद्यमान ही नहीं। उपमानोपमेयभाव⁹—। उस उपमा रूप से व्यापारमात्र रूप ही व्यतिरेचन, निह्नव आदि आस्वादंप्रतीति के प्रधान विश्वान्तिस्थान हैं, न कि उपमेय आदि। यह सब अलङ्कारध्विन में मानना चाहिए। सामर्थ्यवश—। अर्थात् ध्वननव्यापार से।

अभियाज्यापार सं द्वितीयशब्द की उपस्थिति द्योता हं वह रूप आदि का विषय है, और जहां

ध्वनन न्यापार से होती है वहां शब्दशक्तिमूल ध्वनि है।

तीसरे मतबाले कहते हैं कि द्वितीय अर्थ का बीध साहृश्यादि अर्थसामर्थ्य के कारण (प्रतिप्रस्त) पुनः उत्पन्न दितीय अभिधाशक्ति से ही होता है, अतः वह अभिहित ही होता हैं, न कि ध्वनित। तब दोनों प्राकरणिक और अप्राकरणिक अर्थों का परस्पर अमेद या उपमानोपमेय साव प्रतीत होता है वह ध्वनन व्यापार का विषय है। वहां किसी अभिधाशक्ति की प्रवृत्ति सम्मव नहीं। दूसरी शब्दशक्ति के उस उपमानीपभेषमाव या रूपणा (परस्पर अमेद) में मूळ होने के कारण वह शब्दशक्तिम्ल ध्वनि का विषय है।

आलङ्कारिकों ने सर्वथा शब्दशक्तिमूल ध्वनि को स्वीकार किया है। द्वितीय अप्राकरिक अर्थ में व्यञ्जना व्यापार की ही प्रवृत्ति उन्हें मान्य है। जहां तक उपमेयोपमान भाव आदि के व्यक्त्य होने की नात है और उसके आधार पर 'शब्दशक्तिमूल ध्वनि' की कल्पना है, वह तो निःसन्देह ठींक है, किन्तु दितीय अप्राकरणिक अर्थ को छेकर उसे अभिधाशक्ति का विषय न मानकर व्यक्षना का विषय मानना और शुब्दशक्तिमूल ध्वनि की कल्पना करना विवादास्पद है। काशी दिन्दू विद्वविद्यालय के संस्कृताध्यापक क्षों कान्तानाथशास्त्री तेलक ने 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' में शब्द शक्तिमूळ ध्वनि का जोरदार खण्डन किया है।

१. उपमानोपमेयमान' उपलक्षण है, अतः रूपणा आदि भी इस प्रकार व्यक्षित होते है। 'उपमा' को कल्पनीय न कह कर यहां 'उपमानीपमेय माव' आदि को कल्पनीय कहने का अभिप्राय

ध्वनेर्विषयः । अन्येऽपि चालङ्काराः शब्दशक्तिम्लानुस्वानरूपव्यङ्गये ध्वनौ सम्भवन्त्येव । तथा हि विरोधोऽपि शब्दशक्तिम्लानुस्वानरूपो दृइयते । यथा स्थाण्वीश्वराख्यजनपदवर्णने भृदृबाणस्य—

'यत्र च मातङ्गगामिन्यः शीलवत्यश्च गौर्यो विभवरताश्च इयामाः पद्मरागिण्यश्च धवलद्विजञ्जचिवदना मदिरामोदिश्वसनाश्च प्रमदाः'।

है। और भी अन्य अलङ्कार शब्दशक्तिमूल-अनुस्वानरूप-व्यङ्गय ध्वनि में हो सकते ही हैं। जैसा कि विरोध भी शब्दशक्तिमूल-अनुस्वानरूप देखा जाता है। जैसे, 'स्था-एचीस्वर', नाम के जनपद के पर्णन में भद्याण का—

'जहां गज की चाल चलने वाली और शीलवती ('मातक्न' अर्थात् चाण्डाल, मातक्रगामिनी अर्थात् चाण्डाल का गमन करने वाली और शीलवती यह विरोध है, 'गजगामिनी' इस अर्थ से इस विरोध का परिहार हो जाता है), गौरवर्ण और विभव में रत अर्थात ऐरवर्षसम्पन्न (विरोध यह कि जो गौरी अर्थात् पार्वती है वह विभव अर्थात् शिव-भिन्न में रत अर्थात् अनुरागयुक्त कैसे होगी), रयामा (जवान) और पन्नराग वाली (रयाम वर्ण और कमल के समान राग वाली यह विरोध है), निर्मल द्विजों अर्थात् दांतों से युक्त पवित्र मुख वाली (विरोध में निर्मल द्विजों अर्थात् वाली) और मिदरा की गन्ध से युक्त रवास वाली (विरोध यह कि जो निर्मल ब्राह्मण के समान पवित्र मुख वाली है वह मिदरा की गन्ध से युक्त रवास वाली कैसे है ?) स्वियां हैं।

लोचनम्

मातङ्गिति । मातङ्गबद्गच्छन्ति तान् शबरांश्च गच्छन्तीति विरोधः । विभवेषु रताः विगतमहादेवे स्थाने च रताः । पद्मरागरङ्गयुक्ताः पद्मसदृशलौहित्ययुक्ताः धवलद्विजवदुत्कृष्टविप्रः

मातङ्ग —। मातङ्ग के समान गमन करती हैं और उन शवरों अर्थात् चाण्डालों का गमन करती हैं यह विरोध है। विभवों में रत और विगतमहादेव स्थान में रत। पद्मरागरत्न से युक्त और पद्म के सहश लौहित्य से युक्त। धवल द्विज अर्थात् दांतों से शुच्चि अर्थात् निर्मेल मुख है जिनका और धवल द्विज के समान अर्थात् उत्कृष्ट विप्र के

यह हैं कि दोनों अर्थों को नहां व्यापार रूप उपमेयभान हो आस्नादप्रतीति के प्रथान विश्वा-नितस्थान हैं, न कि उपमेय आदि हैं जैसा कि 'उपमा' में उपमेय आस्वाद प्रतीति का विश्वान्ति स्थान होता है। उपमा के रूप में व्यितरेचन (जो 'व्यितरेक' अलङ्कार में व्यापार है) और निह्न अलङ्कार में व्यापार है) और निह्न अलङ्कार खें व्यापार है । अपि कि भी आस्नादप्रतीति के चरम विश्वान्ति स्थान हैं।

अत्र हि वाच्यो विरोधस्तच्छायानुप्राही वा क्लेपोऽयमिति न शक्यं वक्तुम् । साक्षाच्छव्देन विरोधालङ्कारस्याप्रकाशितत्वात् । यत्र हि साक्षाच्छव्दावेदितो विरोधालङ्कारस्तत्र हि स्लिष्टोक्तौ वाच्यालङ्कारस्य विरोधस्य क्लेपस्य वा विषयत्वम् । यथा तत्रैव—

'समवाय इव विरोधिनां पदार्थानाम् । तथाहि—सन्निहितवाँहा-न्धकारापि भास्वन्यूर्तिः' इत्यादौ ।

यहाँ विरोध वाच्य है और अथवा यह रलेप उसकी छाया का अनुमाहक है, यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि साज्ञात् शब्द द्वारा विरोध-अलङ्कार प्रकाशित नहीं है। जहां विरोध-अलङ्कार साज्ञात् शब्द से आवेदित होता है, वहां रिलष्ट उक्ति में वाच्यालङ्कार विरोध अथवा रलेप का विषय होता है। जैसे, वहीं पर—

'विरोधी पदार्थों के समवाय की भांति, जैसे कि सिन्नहित है बाल रूप अन्धकार जिसके ऐसी सूर्य की मूर्ति (यह विरोध हुआ) अन्धकार रूप काले बालों से युक्त भी चमकती हुई मूर्तिवाले थे।'

लोचनम्

बच्छुचि बदनं च यासाम् । यत्र हीति । यस्यां श्लेषोक्तौ काव्यरूपायां, तत्र यो विरोधः श्लेषो वेति सङ्करः तस्य विषयत्वम् । स विषयो भवतीत्यथः । कस्य ? वाच्यालङ्कारस्य वाच्यालङ्कृतेः वाच्यालङ्कृतित्वस्येत्यर्थः । तत्रैव विरोधे श्लेषे वा वाच्यालङ्कारत्वं सुवचमिति यावत् । वालेषु केशेष्वन्धकारः काष्ण्यं, बालः प्रत्यप्रश्चान्धकारस्तमः ।

नतु मातङ्गेत्यादाविप धर्मद्वये यश्चकारः स विरोधद्योतक एवं । अन्यथा प्रतिधर्मं सर्वधर्मान्ते वा न कचिद्वा चकारः स्यात् यदि समुख्यार्थः स्यादित्य-भिप्रायेणोदाहरणान्तरमाह—यथेति । शरणं गृहमक्षयरूपमगृहं कथम् । यो न समान शृचि मुख है जिनका । जिस काव्यरूप शलेषोक्ति में, वहाँ विरोध अथवा शलेष का सङ्कर है उसका विषय है, अर्थात् वह विषय होता है । किसका ? वाच्यालङ्कार का अर्थात् वाच्यालङ्कृति का, वाच्यालङ्कृतित्व का । वहीं विरोध में अथवा शलेप में वाच्यालङ्कारत्व सुतरां कहा जा सकता है । वालों अर्थात् केशों के कारण अन्धकार अर्थात् कृष्णिमा और प्रत्यग्न अन्धकार अर्थात् तमस् ।

मातङ्ग०—। इत्यादि स्थल में भी जो दो धर्मों में 'और' (चकार) है वह विरोध का द्योतक ही है, यदि ऐसा नहीं तो प्रति धर्म में अथवा सभी धर्मों के अन्त में अथवा कहीं भी 'और' (चकार) नहीं होता, यदि समुख्य के अर्थ में होता, इस अभिप्राय से दूसरा उदाहरण कहते हैं—जैसे—। शरण अर्थात् गृह अक्षय रूप अगृह कैसे ? जो धीश (बुद्धियों का स्वामी) कैसे ? जो हिर

यथा वा ममैव--

सर्वेकशरणमक्षयमधीशमीशं घियां हरिं कृष्णस । चतुरात्मानं निष्कियमरिमथनं नमत चक्रधरम् ॥ अत्र हि शब्दशक्तिमूलानुस्वानरूपो विरोधः स्फुटमेव प्रतीयते।

एवंविघो व्यतिरेकोऽपि दृश्यते । यथा ममैव-

खं येऽत्युज्ज्वलयन्ति ळूनतमसो ये वा नखोद्धासिनो ये पुष्णन्ति सरोरुहश्रियमपि श्विप्ताञ्जभासश्च ये। ये मूर्घस्ववमासिनः क्षितिभृतां ये चामराणां शिरां-

अथवा जैसे, मेरा ही-

सब का एक मात्र शरण, अविनाशी ('शरण' और 'चय' दोनों गृहवाची हैं, अतः विरोध यह है कि जो सबका एक मात्र दारण अर्थात् गृह है वह चय अर्थात् गृह से रहित कैसे है ?), अधीश, बुद्धियों के ईश (विरोध यह है कि जो बुद्धियों के इंस अर्थात् धीश है वह अधीश अर्थात् बुद्धियों के ईश अर्थात् स्वासी नहीं कैसे हैं ?) हरि (विप्णु) कृष्ण (विरोध यह है जो हरि अर्थात् हरित वर्ण के हैं वह कृष्ण वर्ण के कैसे हैं ?) सर्वज्ञस्वरूप, निष्क्रिय (चतुरात्मा अर्थात् पराक्रमयुक्त हैं और निष्क्रिय कैसे हैं ? यह विरोध है) और अरियों के मथन करने वाले, चक्रधारी (विरोध यह जो अर वालों अर्थात् चक्रवालों का मधन करने वाले हैं वह चक्रधारी कैसे हैं ?) है।

यहां शब्दशक्तिमूल अनुस्त्रान रूप विरोध स्पष्ट ही प्रतीत होता है। इस प्रकार

का 'ब्बतिरेक' (अछङ्कार) भी देखा जाता है। जैसे मेरा ही-

(सूर्य के) जो अन्धकार का नाश करने वाले (किरणरूप) पाद आकाश को वंअवल करते हैं और जो (चरणरूप) पादनसों से शोभित (व्यतिरेक यह कि बाकाश को उद्भासित या उज्जवल नहीं करते हैं), जो (किरणरूप पाद) कमली की सोमा बदाते हैं और जो (चरणरूप पाद) कमलों की शोभा को तिरस्कृत करते हैं, जो (किरणरूप पाद) चितिमृत् अर्थात् (पर्वतों के शिखरों पर आक्रमण

लोचनम्

धीराः स कथं धियामीराः। यो हरिः कपितः स कथं कुष्णः। चतुरः पराक्रमः युक्तो यस्यात्मा स कथं निष्क्रियः। अरीणामरयुक्तानां यो नाशयिता स कथं पकं बहुमानेन धारयति । विरोध इति । विरोधनमित्यर्थः । प्रतीयत इति । अर्थात् कृपिल है वह कृष्ण कैसे ? चतुर अर्थात् पराक्रमयुक्त जिसकी आत्मा है वह निक्य कैसे है ? अरियों अर्थात् अर (चक्र)—युक्तों का जो नाश करने वाला है यह कसे कक को बहुमानपूर्वक धारण करता है ? विरोध अर्थात् विरोधन । प्रतीत होता मान यह कि कोई स्पष्ट नहीं कहता है। नहीं से उद्गासित हैं, जो ल अर्थाव

स्याक्रामन्त्युभयेऽपिते दिनपतेः पादाः श्रिये सन्तुवः ॥ एवमन्येऽपि शब्दशक्तिमुलानुस्वानरूपव्यङ्गयध्वनिप्रकाराः सन्ति ते सहदयैः स्वयमनुसर्तव्याः । इह तु ग्रन्थविस्तरभयात्र तत्प्रपञ्चः कृतः ।

अर्थशक्तयुद्भवस्त्वन्यो यत्रार्थः स प्रकाशते। यस्तात्पर्येण वस्त्वन्यद्धनक्त्युक्तिं विना स्वतः॥ २२॥ यत्रार्थः स्वसामर्थ्योदर्थान्तरमभिन्यनक्ति शब्दन्यापारं विनैव सोऽर्थशक्त्युद्भवो नामानुस्वानोपमन्यङ्गयो ध्वनिः।

करते हैं अथवा) राजाओं के सिर पर अवभासित होते हैं और जो (चरणरूप पाद देवताओं के भी शिरों पर आक्रमण करते हैं, इस प्रकार सूर्य के दोनों पाद (किरणरूप और चरणरूप) आप लोगों का कल्याण करें।

इस प्रकार शब्दशक्तिमूल अनुस्वानरूपव्यङ्गय ध्विम के दूसरे भी प्रकार हैं, उन्हें सहृदय लोग स्वयं अनुसरण करें। यहां प्रन्थ के विस्तार के भय से उनका प्रपञ्ज नहीं किया है।

अर्थभक्त्युद्भव अन्य (ध्विन) है, जहां वह अर्थ प्रकाशित होता है जो उक्ति के बिना तात्पर्य रूप से स्वतः अन्य वस्तु को प्रकाशित करता है ॥ २२ ॥

जहां अर्थं शब्द व्यापार के बिना ही अपने सामर्थ्य से अर्थान्तर को अभिन्यक्त करता है, वह 'अर्थशनत्युद्भव' नाम का अनुस्वानोपमस्यङ्ग्य ध्वनि है। जैसे—

लोचनम्

स्फुटं नोच्यते केनचिदिति भावः। नखैरुद्वासन्ते येऽवश्यं खे गगने न उद्वा-सन्ते। उभये रश्म्यात्मानोऽङ्गलीपाष्ण्यीद्यवयविरूपाश्चेत्यर्थः॥ २१॥

पवं शब्दशक्त्युद्भवं ध्वनिमुक्त्वार्थशक्त्युद्भवं दर्शयित — अर्थेत । अन्य इति शब्दशक्त्युद्भवात् । स्वतस्तात्पर्येग्रेत्यिभधाव्यापारिनराकरणपरिमदं पदं ध्वन-नव्यापारमाहं न तु तात्पर्यशक्ति । सा हि वाच्यार्थप्रतीतावेवोपश्चीग्रेत्युक्तं प्राक्त् । अनेनेवाशयेन वृत्तौ व्याच्छे—यत्रार्थः स्वसामर्ध्यादिति । स्वत इति आकाश में उद्मासित नहीं हैं । दोनों (पाद) अर्थात् किरणरूप और अङ्गुलि, पाष्णि आदि अवयवों वाले ॥ २१ ॥

इस प्रकार अब्दशक्त्युद्भव ध्विन को कह कर अर्थशक्त्युद्भव ध्विन को दर्शति हैं—अर्थ0—। अन्य अर्थात् शब्दशक्त्युद्भव से (अन्य)। 'स्वतः तात्पर्यं हम से इस अभिषाव्यापार के निराकरण में तात्पर्यं वाला यह पद ध्वननव्यापार को कहता है न कि तात्पर्यंशक्ति को। क्यों कि वह (तात्पर्यशक्ति) वाच्यार्यं की प्रतीति में ही उपक्षीच हो जाती है, यह पहले कह चुके हैं। इसी अभिप्राय से वृत्ति में व्याख्यान करते हैं—अद्यां अर्थ अपनी सामर्थ्य से—। 'स्वतः' इस शब्द की 'अपनी' ('स्व') सब्द है

यथा-

एवंवादिनि देवर्षी पार्श्वे पितुरघोधुखी । लीलाकमलपत्राणि गणयामास केवलस् ।।

अत्र हि लीलाकमलपत्रगणनमुपसर्जनीकृतस्वरूपं शब्दव्यापारं विनेवार्थान्तरं व्यभिचारिमावलक्षणं प्रकाशयति । न चायमलक्ष्यक्रम-व्यङ्गचस्यैव ध्वनेविषयः । यतो यत्र साक्षाच्छब्दिनविदितेम्यो विभा-वानुमावव्यभिचारिम्यो रसादीनां प्रतीतिः, स तस्य केवलस्य मार्गः। यथा कुमारसम्भवे मधुप्रसङ्गे वसन्तपुष्पाभरणं वहन्त्या देव्या आगम-

इस प्रकार देवर्षि (मण्डल) कह रहे थे और पिता की वगल में (बैठी) नीचे मुंह किए पार्वती लीलाकमल के पत्तों की गणना करने लगी।

यहां छीछा कमल के पत्तों का गगन (यह अर्थ) अपने स्वरूप को गुणीसूत करने शब्दब्यापार के विना ही व्यभिचारी भाव रूप अर्थान्तर को प्रकाशित करता है। यह अल्ब्यक्रमन्यक्ष्य ही ध्वनि का विषय नहीं है। क्यों कि जहां साम्रात् शब्द हारा निवेदित विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों से रस आदि की प्रतीति होती है वह केवल उसका मार्ग है। जैसे 'कुमारसम्भव' में वसन्त के फूलों का आभरण घारण किए देवी (पार्वती) का आगमन आदि वर्णन और कामवेव के शर-सम्भाव

लोचनम्

राब्दः स्वराब्देन व्याख्यातः। विक्तं विनेति व्याच्छे—शब्दव्यापारं विनैवेति। वदाहरति—यथा एविमित । अर्थान्तरमिति लज्जात्मकम् । साक्षादिति । व्यिमे चारिणां यत्रालच्यक्रमत्या व्यवधिवन्ध्येव प्रतिपत्तिः स्वविभावादिबलात्तर्यः साक्षाच्छव्दनिवेदितत्वं विविधितमिति न पूर्वोपरिवरोधः। पूर्व द्युक्तं व्यिमे चारिणामिप भावत्वान्न स्वशब्दतः प्रतिपत्तिरित्यादि विस्तरतः। एतदुक्तं भवित—यद्यपि रसभावादिरथों व्वन्यमान एव भवित न वाच्यः कदाचिद्पि, व्याख्या की है। 'उक्ति के विना' इसकी व्याख्या करते हैं—शब्दब्यापार के विना ही—। उदाहरण देते हैं—जैसे, इस प्रकार०—। अर्थान्तर लज्जाख्य अर्थान्तर। साचात्—। व्यभिचारी भावों की जहां अल्ब्यक्रम रूप से व्यवद्यानरहित ही प्रतीर्ति अपने विभाव के बल से होती है वहाँ साक्षात् शब्द द्वारा निवेदितत्व विवक्षित है अतः पूर्वापरितरोध नहीं है। क्यों कि पहले विस्तार से कहा है कि व्यभिचारी भावों की भी भाव होने के कारण स्वशब्द से प्रतीति नहीं होती है, इत्यादि। यह कहा गया—यद्यिरस, भाव आदि अर्थ व्यन्यमान ही होता है, कभी भी वाच्य नहीं होता है, तथारि

नादिवर्णनं मनोसवशरसन्धानपर्यन्तं शम्भोश्र परिवृत्तधैर्यस्य चेष्टा-विशेषवर्णनादिः साक्षाच्छब्दिनवेदितम् । इह तु सामर्थ्याक्षिप्तव्यमिचारि-मुखेन रसप्रतीतिः । तस्माद्यमन्यो ध्वनेः प्रकारः ।

पर्यन्त समाप्त धेर्यं वाले शङ्कर के चेष्टा विशेष के वर्णन आदि सादात् शब्द द्वारा निवेदन किया है। यहाँ सामर्थ्य से आचिस ज्यभिचारी के द्वारा रस की प्रतीति होती है। इस लिए यह ध्वनि का अन्य प्रकार है।

लोचनम

तथापि न सर्वोऽलत्त्यक्रमस्य विषयः। यत्र हि विभावानुभावेभ्यः स्थायिग-तेभ्यो व्यसिचारिगतेभ्यश्च पूर्णभ्यो इटित्येव रसव्यक्तिस्तत्रास्त्वलच्यक्रमः। यथा-

निर्वाणभूयिष्ठमथास्य वीर्यं सन्धुक्षयन्तीव वपुर्गुगोन । अनुप्रयाता वनदेवताभिरदृश्यत स्थावरराजकन्या।। इत्यादौ सम्पूर्णालम्बनोद्दीपनविभावतायोग्यस्वभाववर्णनम्।

प्रतिप्रहीतुं प्रणयिप्रियत्वाच्चिलोचनस्तामुपचक्रमे च। संमोहनं नाम च पुष्पधन्वा धनुष्यमोघं समधत्त बाणम् ॥

इत्यनेन विभावतोपयोग उक्तः।

हरस्तु किख्रित्परिवृत्तर्घैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः। उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ॥

अत्र हि भगवत्याः प्रथममेव तत्प्रवणत्वात्तस्य चेदानीं तदुन्मुखीभूतत्वात् सव (रस, भावादि) अलक्ष्यकम का विषय नहीं होता है। जहां स्थायिगत और व्यभिचारिगत पूर्ण विभावों और अनुभावों से झटिति रस की अभिव्यक्ति हो जाती है वृहां अलक्ष्यक्रम होता है। जैसे---

तदनन्तर इनके (शिव जी) के निर्वाण-प्रधान वीर्य को अपने शरीर के गुण से मानों विनष्ट करती हुई, वनदेवताओं द्वारा अनुसरण की जाती हुई, स्थावरराज

(हिमालय) की कन्या (पार्वती) दिखाई पड़ी।'

इत्यादि में सम्पूर्ण आलम्बन-उद्दीपन विभाव रूप के योग्य स्वभाव का वर्णन है। 'अपने भक्त के प्रेमी होने के कारण त्रिलोचन (शिव जी) ने उस (माला) को ग्रहण करने के लिए उपक्रम किया और पुष्पों के धनुषवाले कामदेव ने संमोहन नाम का अमोघ बाण धनुष पर रखा।'

इसके द्वारा विभाच रूप का उपयोग कहा। 'चन्द्रोदय के आरम्भ में समुद्र की भौति कुछ विचलित धैर्य वाले शिवजी ने बिम्बफल की माँति अधरोष्ठ वाले पावंती के मुख में अपने नेत्रों को व्यापारित किया। यहाँ भगवती (पार्वती) के पहले से ही शिव में आसक्त होने के कारण और अब

यत्र च शब्दव्यापारसहायोऽर्थोऽर्थान्तरस्य व्यञ्जकत्वेनोपादीयते स नास्य ध्वनेविषयः । यथा-

सङ्केतकालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया।

और जहाँ शब्दब्यापार की सहायता से अर्थ अर्थान्तर के व्यक्षक रूप से उपादान किया जाता है वह इस ध्वनि का विषय नहीं है। जैसे-

विदम्धा (नायिका) ने यह जान कर कि विट संकेत (के स्थान पर पहुँचने का) लोचनम्

प्रणयिप्रियतया च पक्षपातस्य सूचितस्य गाढीभावाद्रत्यात्मनः स्थायिभाव-स्यौत्युक्यावेगचापल्यहर्षादेश्च व्यभिचारिणः साधारणीभूतोऽनुभाववर्गः प्रकाः शित इति विभावानुभावचर्वणैव व्यभिचारिचर्वणायां पर्यवस्यति । व्यभिचा-रिणां पारतन्त्र्यादेव स्नक्सूत्रकल्पस्थायिचर्वणाविश्रान्तेरलच्यक्रमत्वम् । इह तु पद्मदलगणनमधोमुखत्वं चान्यथापि कुमारीणां सम्भाव्यत इति माटिति न बजायां विश्रमयति हृदयं, अपि तु प्राग्वृत्ततपश्चयोदिवृत्तान्तानुस्मरऐन तत्र प्रतिपत्ति करोतीति क्रमव्यङ्गचतेव । रसस्त्वत्रापि दूरत एव व्यभिचारिस्वरूपे पर्यालोच्यमाने भातीति तद्पेक्षयाऽलच्यक्रमतेव । लज्जापेक्षया तु तत्र लच्यक मत्वम् । अमुमेव भावमेवंशब्दः केवलशब्द्श्च सूचयति ।

'बक्ति विने'ति यदुक्तं तद्यवच्छेद्यं दर्शियतुमुपक्रमते—यत्र चेति । चराब्दः स्तुराब्दस्यार्थे । अत्येति । अतत्त्यक्रमस्तु तत्रापि स्यादेवेति भावः । उदाहरति-

सङ्गेतेति।

उन (शिवजी) के इन (पार्वती) के प्रति उन्मुख होने के कारण और मक्त के प्रेमी होने के कारण सूचित पक्षपात के गाढ़ होने से रित रूप स्थायी भाव का और औत्सुक्य, वेग, चापल्य, हर्ष आदि व्यभिचारी का साधारणीमूत अनुभाव वर्ग को प्रकाशित किया है, इस प्रकार विभाव-अनुभाव की चर्वणा ही व्यभिचारी की चर्वणा में पर्यवसित होती है। व्यभिचारी भावों के परतन्त्र होने के कारण ही माला के सूत्र के समान स्थायी की चर्नणा में विश्वान्ति होने से अलक्ष्यक्रमत्व है। परन्तु यहाँ क्रमल के पत्तों को गिनना और नीचे मुख करना कुमारियों के अन्यथा भी सम्भव हैं, इस प्रकार झटिति हृदय को लज्जा में विश्वाम नहीं मिलता है, अपितु (हृदय) पहले सम्पन्न हुए तपश्चर्या आदि वृत्तान्त के अनुस्मरण से उस (लज्जा) में प्रतिपत्ति करता है, इस प्रकार कमव्यक्त्र्यता ही है। किन्तु रस यहाँ भी दूर पर व्यभिचारी के स्वरूप के पर्यालोचन करने पर प्रतीत होता है, इस लिए उसकी अपेक्षा से अलच्यकमत्व ही है। लज्जा की अपेक्षा

से लक्ष्यक्रमत्व है। इसी भाव को 'इस प्रकार' और 'केवल' शब्द सुचित करते हैं। 'उक्ति के विना' यह जो कहा है उसका व्यवच्छेद्य दिखाने के लिए उपक्रम करते हैं—और जहां—। 'और' शब्द 'परन्तु' शब्द के अर्थ में है । इस (ध्वित) का—। आब यह कि अलक्ष्यक्रम तो वहाँ पर भी होगा ही। उटाहरण देते हैं सद्गेत •—।

हसनेत्रार्पिताकृतं लीलापशं निमीलितम् ॥ अत्र लीलाकमलनिमीलनस्य व्यञ्जकत्वमुक्त्यैव निवेदितम् ।

तथा च-

शब्दार्थशक्त्या क्षिप्तोऽपि व्यङ्गयोऽर्थः कविना पुनः।

समय जानना चाहता है, हँसते हुए नेत्र द्वारा अभिप्राय प्रकट करते हुए (अपने हाथ में स्थित) छीछाकमछ को निमीछित कर दिया।

यहाँ लीलाकमल के निमीलन का व्यक्षकत्व उक्ति द्वारा ही निवेदन किया गया है।

और उस प्रकार-

शब्दार्थ की शक्ति से आचिस भी न्यक्त्य अर्थ जहाँ कवि के द्वारा पुनः अपनी उक्ति से आविष्कृत किया जाता है, वह ध्वनि का अन्य ही अलक्कार है !

लोचनम्

व्यक्षकत्वमिति । प्रदोषसमयं प्रतीति शेषः । उन्त्यैवेति । आद्यपादत्रयेगेत्यर्थः । यद्यपि चात्र शब्दान्तरसिन्नधानेऽपि प्रदोषार्थं प्रति न कस्यचिद्मिधाशिकः पदस्येति व्यक्षकत्वं न विघटितं, तथापि शब्देनैवोक्तमयमर्थोऽथीन्तरस्य व्यक्षक इति । तत्रश्च ध्वनेर्यद्गोप्यमानतोदितचारुत्वात्मकं प्राणितं
तद्पहस्तितम् । यथा कश्चिद्दाह—'गम्भीरोऽहं न मे कृत्यं कोऽपि वेद् न
सूचितम् । किश्चिद् व्रवीमि' इति । तेन गाम्भीयस्चनार्थः प्रत्युत आविष्कृत
एव । अत एवाह—व्यक्षकत्वमिति उन्त्यैवेति च ॥ २२ ॥

प्रकान्तप्रकारद्वयोपसंहारं तृतीयप्रकारसूचनं चैकेनैव यत्नेन करोमीत्याशः येन साधारणमवतरणपदं प्रक्षिपति वृत्तिकृत्—तथा चेति । तेन चोक्तप्रकार-

व्यक्षकत्व—। प्रदोषसमय अर्थात् सन्ध्याकाल के प्रति व्यक्षकत्व । उक्तिद्वारा ही—। अर्थात् पहले के तीनों पादों से । यद्यपि यहाँ शब्दान्तर के सिन्नधान होने पर भी किसी पद का 'प्रदोष' (या सन्ध्याकाल) इस अथ के प्रति अभिधाशक्ति नहीं है, इस कारण व्यक्षकत्व विघटित नहीं होता है तथापि 'यह अर्थं अर्थान्तर का व्यक्षक है' यह बात शब्द से ही कही गई है । इस कारण व्यति का जो 'गोप्यमानता से उत्पन्न वास्त्वरूप प्राण है, उसका निराकरण कर दिया है । जैसा कि कोई कहता है—'में गम्भीर हूँ, बिना बताए मेरा काम कोई भी नहीं जानता, (इस लिए) कुछ कहता हूँ'। इस (कथन) से गाम्भीयं-सूचन का अर्थ प्रत्युत प्रकट कर दिया है। इसी लिए कहा है—'ब्यक्षकत्व' और 'उक्ति से ही'।

प्रकान्त दोनों प्रकारों का उपसंहार और तीसरे प्रकार का सूचन एक ही यत्न से करता हूँ, इस आशय से बुत्तिकार साधारण अवतरण पद को देते हैं—और उस प्रकार—। अर्थात् उन उक्त दोनों प्रकारों (शब्दशक्तिमूल और अर्थशक्तिमूल व्वनि) के

यत्राविष्क्रियते स्वोक्त्या सान्यैवालङ्कृतिध्वेनेः ॥२३॥ शब्दशक्त्यार्थशक्त्या शब्दार्थशक्त्या वाक्षिप्तोऽपि व्यङ्गयोऽर्थः किना पुनर्यत्र स्वोक्त्या प्रकाशीक्रियते सोऽस्मादनुस्वानोपमव्यङ्गयाद् ध्वनेरन्य एवालङ्कारः । अलक्ष्यक्रमव्यङ्गयस्य वा ध्वनेः सित सम्भवे स ताद्दगन्योऽलङ्कारः ।

तत्र शब्दशक्त्या यथा-

वत्से मा गा विषादं श्वसनम्रुरुजवं सन्त्यजोध्वप्रवृत्तं कम्पः को वा गुरुस्ते भवतु वलभिदा जुम्भितेनात्र याहि।

शब्दशक्ति, अर्थशक्ति अथवा शब्दार्थशक्ति से आचिस भी व्यङ्गय अर्थ किन के द्वारा पुनः जहाँ अपनी उक्ति से प्रकाशित किया जाता है वह इस अनुस्वानोपस-व्यङ्गय ध्वनि से अन्य ही अछङ्कार है। अथवा अछच्यक्रम व्यङ्गय ध्वनि के सम्मव होने पर वह उस प्रकार का अन्य अछङ्कार है।

उनमें शब्दशक्ति से, जैसे-

वत्से, विपाद मत अनुभव कर (विपाद अर्थात् विष भन्नण करने वाले िशव के पास न जा), वेग से ऊपर की दीर्घ श्वास न ले (वायु और अिश्व को छोड़), अधिक किंगत क्यों है ? (जलपित वरुण अथवा ब्रह्मा तेरे गुरु हैं) बल तोड़ देने वाले जुम्भित को रोक (ऐश्वर्य-मदमत्त इन्द्र को जाने दे), इस प्रकार भय-शमन के

लोचनम

द्वयेनायमि तृतीयः प्रकारो मन्तव्य इत्यर्थः । शब्दश्चार्थश्च शब्दार्थौ चेत्येक शेषः । सान्येवेति । न ध्वनिरसौ, अपि तु श्लेषादिरलङ्कार इत्यर्थः । अथवा ध्वनिशब्देनालस्यक्रमः तस्यालङ्कार्यस्याङ्गिनः स व्यङ्गचोऽर्थोऽन्यो वाच्यमात्राः लङ्कारापेश्चया द्वितीयो लोकोत्तरश्चालङ्कार इत्यर्थः । एवमेव वृत्तौ द्विधा व्याल्याः स्यति । विषमत्तीतिः विषादः । अर्ध्वप्रवृत्तमिमित्यत्र चार्थो मन्तव्यः । कम्पोऽपान्मितः को ब्रह्मा वा तव ग्रुरः । वलिमदा इन्द्रेण जृम्मितेन ऐश्वर्यमदंमत्तेनेत्यथः।

साथ यह तीसरा प्रकार भी मानना चाहिए। शब्द, अर्थ, और शब्दार्थ, यह 'एकशेप' है। वह अन्य हो—। अर्थात् वह ध्विन नहीं है, अपितु श्लेष आदि अलङ्कार है। अर्था, ध्विन शब्द से अलङ्कार में (उक्त) है, उस अलङ्कार्य का वह व्यङ्कार अर्थ अन्य अर्थाद वाच्य अलङ्कार को अपेक्षा दूसरा वह लोकोत्तर अलङ्कार है। इसी प्रकार 'वृत्ति में हो प्रकार से व्याख्या करेंगे। विष भक्षण करते हैं, (विषमित्त) विषाद (अर्थात् शिव)। उध्येत् हित्त । अर्थात् विषाद (अर्थात् शिव)। उध्येत् अर्थां मन्तव्य है। कम्प अर्थात् अपापित (जलपित वर्षण), अथवा क अर्थात् ब्रह्मा तुम्हारे गुरु हैं। वलमिद् अर्थाद हन्द्र, वृम्भित्र अर्थात् ऐश्वग्रंमदमत्त। और अङ्कों की ऐंठन रूप जम्माई आयासकारि

प्रत्याख्यानं सुराणामिति भयशमनच्छन्नना कारियत्वा यस्मै लक्ष्मीमदाद्वः स दहतु दुरितं मन्थमूढां पयोधिः॥ अर्थशक्त्या यथा—

अम्बा शेतेऽत्र वृद्धा परिणतवयसामग्रणीरत्र तातो

ब्याज से देवताओं को निराकरण करा के 'इनके (विष्णु के) पास गमन कर' इस प्रकार (कह कर) समुद्र ने मन्थन से डरी हुई छदमी को जिसे (विष्णु को) अपित किया वह (विष्णु भगवान्) आप छोगों के दुरित नाश करें।

अर्थशक्ति से, जैसे-

यहाँ बूढ़ी माँ सोती है, बूढ़ों में भी बूढ़ा वाप यहाँ सोता है, और घर के सारे लोचनम्

जुम्भितं च गात्रसंमर्दनात्मकं बलं भिनत्ति आयासकारित्वात् । प्रत्याख्यान-मिति वचसैवात्र द्वितीयोऽर्थोऽभिधीयत इति निवेदितम् । कारियत्वेति । सा हि कमला पुण्डरीकाक्षमेव हृद्यं निधायोत्थितेति स्वयमेव देवान्तराणां प्रत्याख्यानं करोति । स्वभावसुकुमारतया तु मन्दरान्दोलितजलिधतरङ्गभङ्गप-र्याकुलीकृतां तेन प्रतिबोधयता तत्समर्थाचरणमन्यत्र दोषोद्घाटनेन अत्र याहीति चाभिनयविशेषेण सकलगुणाद्रद्रशकेन कृतम् । अत एव मन्थमूढामित्याह । इत्युक्तप्रकारेण भयनिवारणव्याजेन सुराणां प्रत्याख्यानं मन्थमूढां लद्दमीं कार-यित्वा पयोधिर्यस्मै तामदात्स वो युष्माकं दुरितं द्हित्विति सम्बन्धः ।

त्रम्बेति । अत्रैकैकस्य पदस्य व्यञ्जकत्वं सहृद्यैः सुकल्प्यमिति स्वकण्ठेन नोक्तम् । व्याजशब्दोऽत्र स्वोक्तिः । एवसुपसंहारव्याजेन प्रकारद्वयं सोदाहरणं

होने के कारण बल तोड़ देती है। 'निराकरण' ('प्रत्याख्यान') इसके द्वारा वचन से ही दूसरा अर्थ अभिधान किया है, यह निवेदन किया। करा के—। क्यों कि वह कमला (लक्ष्मी) पुण्डरीकाक्ष (विष्णु) को ही हृदय में रख कर निकली है, अतः स्वयमेव वह इतर देवताओं का प्रत्याख्यान करती है। स्वभावतः सुकुमार होने के कारण मन्दरपर्वत से आन्दोलित समुद्र के तरङ्ग-भङ्गों से पर्याकुल हुई (लच्मी) को शिक्षा देते हुए और अन्यत्र दोप के उद्घाटन द्वारा 'यहाँ (अर्थात् विष्णु में) गमन करो' इस समग्र गुणों के प्रति आदर दिखाने वाले अभिनय विशेष से उसके समर्थ आचरण किया है। इसी लिए 'मन्थमूढा' अर्थात् (समुद्र के) 'मन्थन से डरी हुई' यह कहा है। सम्बन्ध यह है कि इस उक्त प्रकार से भय-निवारण के व्याज से देवताओं का प्रत्याख्यान मन्थन से डरी हुई लक्ष्मी के करा के समुद्र ने जिसके लिए उसे अपित किया वह (विष्णु) आपलोगों के दूरित का नाश करें।

यहां बूढ़ी—। यहाँ एक-एक पद का व्यञ्जकत्व सहृदयों द्वारा सहज ही कल्पनीय है, इस लिए अपने कष्ठ से नहीं कहा है। 'ब्याज' शब्द यहाँ (कवि की) अपनी उक्ति

१८ इब

निःशेषागारकर्मश्रमशिथिलततुः कुम्भदासी तथात्र। अस्मिन् पापाहमेका कतिपयदिवसप्रोषितप्राणनाथा पान्थायेत्थं तरुण्या कथितमवसरच्याहृतिच्याजपूर्वम्॥ उभयशक्त्या यथा-'दृष्ट्या केशवगोपरागहृतया' इत्यादौ ॥२३॥

प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशारीरः सम्भवी स्वतः । अर्थोऽपि द्विविधो ज्ञेयो वस्तुनोऽन्यस्य दीपकः ॥ २४॥

कामों से थक कर ढीली पनमरिन यहाँ सोती है, कुछ ही दिनों से जिसके प्राणनाथ परदेश चले गए हैं ऐसी मैं पापिन अकेली यहाँ सोती हूँ। इस प्रकार तरुणी ने पथिक से अवसर के कथन के ज्याज से कहा।

उभयशक्ति से, जैसे—'दृष्ट्या केशवगोपरागहृतया०' इस्यादि में ॥ २३ ॥ अन्य वस्तु का दीपक अर्थ भी दो प्रकार का जानना चाहिए—प्रौद उक्तिमात्र से निरंपन्न शरीर वाला और स्वतः सम्भवी ॥ २४ ॥

लोचनम्

निरूप्य तृतीयं प्रकारमाह—उभयेति । शब्दशक्तिस्तावद्गोपरागादिशब्दश्लेप-वशात् । अर्थशक्तिस्तु प्रकरणवशात् । यावदत्र राधारमणस्याखिलतरुणीजन-च्छन्नानुरागगरिमास्पद्त्वं न विदितं तावदर्थान्तरस्याप्रतीतेः, सलेशमिति चात्र स्वोक्तिः ॥ २३ ॥

एवमर्थशक्त्युद्भवस्य सामान्यलक्षणं कृतम् । श्लेषाद्यलङ्कारेभ्यश्चास्य विभक्तो विषय उक्तः । अधुनास्य प्रभेद्निरूपणं करोति—प्रौढोक्तीत्यादिना । योऽर्थान्तरस्य दीपको व्यञ्जकोऽर्थ उक्तः सोऽपि द्विविधः । न केवलमनुस्यान्तेपमो द्विविधः, यावत्तद्वेदो यो द्वितीयः सोऽपि व्यञ्जकार्थद्वैविध्यद्वारेण द्विविध

है। इस प्रकार उपसंहार के व्याज से दोनों प्रकारों को सोदाहरण निरूपण कर के तीसरा प्रकार कहते हैं—उभय०—। 'गोपराग' आदि श्लेष के कारण शब्दशक्ति है और अर्थशक्ति प्रकरण के कारण है, क्यों कि जब तक राधारमण (श्रीकृष्ण) का समस्त तर्शियों में छिपे ढंग से अनुराग-गरिमा का स्थानभूत होना विदित नहीं होता है तब तक अर्थान्तर की प्रतीति नहीं होती है। 'सलेशं' यह (किव की) अपनी उक्ति है। १३॥

इस प्रकार अर्थशक्युद्मव का सामान्य लक्षण किया और क्लेष आदि असङ्कारों से इसका विषय विभक्त कहा। अब इसके प्रभेद का निरूपण करते हैं—अन्यबस्तु॰ का है। न केवल अनुस्वानोपम दो प्रकार का है, उसका जो दूसरा भेद है, वह भी दो प्रकार का के देविषय के द्वारा दो प्रकार का है, उसका जो दूसरा भेद है, वह भी व्यक्तक अर्थ के दैविषय के द्वारा दो प्रकार का है, यह भी' ('अपि') शब्द का अर्थ

अर्थशक्तयुद्भवानुरणनरूपन्यङ्गये ध्वनौ यो न्यञ्जकोऽर्थ उक्तस्त-स्यापि द्वौ प्रकारौ—कवेः कविनिवद्धस्य वा वक्तुः प्रौढोक्तिमात्रनि-ध्वन्नश्चरीर एकः, स्वतस्सम्भवी च द्वितीयः।

कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पत्रशरीरो यथा—

सज्जेहि सुरहिमासो ण दाव अप्पेइ जुअइजणलक्खग्रहे । अहिणवसहआरग्रहे णवपल्लंवपत्तले अणङ्गस्स शरे ॥

अर्थशक्त्युद्भव अनुरणनरूप व्यक्ष्य ध्वनि में जो व्यक्षक अर्थ कहा है उसके भी दो प्रकार हैं—कवि की अथवा कविनिवद्ध वक्ता की प्रौढ़ उक्तिमात्र से निष्पन्न शरीर वाला एक और स्वतः सम्भवी दूसरा।

किव की प्रौद उक्तिमात्र से निष्पन्न शरीर वाला, जैसे—उसन्तमास युवितजनों को लच्य करने वाले गुर्खों (अग्रमाग अर्थात् बाण के फल) से युक्त, नये पह्नवों के (एंखों से) युक्त, नये सहकार प्रसृति (कामदेव के बाणों) को तैयार कर रहा है, (अभी प्रहार करने के लिए उन्हें कामदेव के) अर्पित नहीं कर रहा है।

लोचनम्

इत्यिपशब्दस्यार्थः । प्रौढोक्तेरप्यवान्तरभेदमाह—कवेरिति । तेनैते त्रयो भेदा भवन्ति । प्रकर्षेण ऊढः सम्पाद्यितव्येन वस्तुना प्राप्तस्तत्कुशलः प्रौढः । उक्ति-रिप समर्पयितव्यवस्त्वर्पणोचिता प्रौढेत्युच्यते ।

सज्जयति सुरभिमासो न तावदर्पयति युवतिजनलक्त्यमुखान् । अभिनवसहकारमुखान्नवपञ्जवपञ्चलाननक्कस्य शरान् ॥

अत्र वसन्तश्चेतनोऽनङ्गस्य सखा सज्जयित केवलं न तावदर्पयतीत्येवंवि-धया समर्पयितव्यवस्त्वर्पणकुशलयोक्त्या सहकारोद्धेदिनी वसन्तदशा यत उक्ता अतो ध्वन्यमानं मन्मथोन्माथस्यारम्भं क्रमेण गाढगाढीभविष्यन्तं व्यनक्ति । अन्यथा वसन्ते सपक्षवसहकारोद्गम इति वस्तुमात्रं न व्यञ्जकं

है। प्रौढोक्ति का भी अवान्तर मेद कहते हैं—कवि की—। इस कारण ये तीन भेद होते हैं। प्रकर्ष से ऊढ अर्थात् सम्पादयितब्य वस्तु से प्राप्त, उसका कुशल प्रौढ है। समपैंगितव्य वस्तु के अर्पण में उचित उक्ति भी 'प्रौढ' कहलाती है।

यहां 'चेतन, कामदेव का सखा वसन्त केवल तैयार कर रहा है, अप्ति नहीं कर रहा है' समर्पयतव्य वस्तु के अप्ण में कुशल इस प्रकार की उक्ति द्वारा आम्र (सहकार) पैदा करने वाली वसन्त की स्थिति जिस कारण कही गई है उस कारण व्यक्ति होते हुए मन्मयोन्माय के आरम्भ को व्यक्त करती है, अन्यथा 'वसन्त में पञ्चवसहित सहकार का उद्गम' यह वस्तुमात्र व्यक्षक नहीं होगा।

घ्वन्यालोक

कविनिबद्धवक्तुप्रौढोक्तिमात्रनिष्पत्रश्चरीरो यथोदाहृतमेव—'शिख-रिणि' इत्यादि ।

यथा वा-

साअरविइण्णजोव्यणहत्थालम्बं सम्रुण्णमन्तेहिम् । अब्भुद्धाणं विश्र मम्महस्स दिण्णं तुह थणेहिम् ॥ स्वतः सम्भवी य औचित्येन बहिरपि सम्भाव्यमानसद्भावो न

कवि द्वारा निवद्ध वक्ता की प्रौढ़ उक्तिमात्र से निष्पन्न शरीर वाला, जैसे उदाहत है—'शिखरिणि॰' इत्यादि ।

अथवा, जैसे-

आदर के साथ यौवन द्वारा हस्तावलम्ब दिए जाने पर उठते हुए तुम्हारे स्तनीं ने कामदेव को (स्वागंत में) अम्युत्थान-सा प्रदान किया है।

स्वतः सम्मवी वह है औषित्य से बाहर भी सन्नाव जिसका सम्भावित हो रहा

लोचनम्

स्यात्। एषा च कवेरेवोक्तिः प्रौढा। शिखरिगीति। अत्र लोहितं विम्वफलं युको दशतीति न व्यञ्जकता काचित्। यदा तु कविनिबद्धस्य साभिलाषस्य तरुणस्य वक्तुरित्थं प्रौढोक्तिस्तदा व्यञ्जकत्वम्।

सादरवितीर्णयौवनहस्तालम्बं समुत्रमद्भयाम् । अभ्युत्थानमिव मन्मथस्य दत्तं तव स्तनाभ्याम् ॥

स्तनौ ताषदिह प्रधानभूतौ ततोऽपि गौरवितः कामस्ताभ्यामभ्युत्थानेनो पचयते। यौवनं चानयोः परिचारकभावेन स्थितमित्येवंविधेनोक्तिवैचित्रयेण त्वदीयस्तनावलोकनप्रवृद्धमन्मथावस्थः को न भवतीति भङ्गचा स्वाभिप्रायः

यह किं की ही उक्ति प्रौढ है। शिखरिणि॰। यहां लाल विम्वफल की शुक काटता है, यह कोई व्यञ्जकत्व नहीं है। परन्तु जब किंव द्वारा निबद्ध साभिलाष तरुए वक्ता की इस प्रकार प्रौढ उक्ति होगी, तब व्यञ्जकत्व होगा।

'(नायिका के) दोनों स्तन यहां प्रधानभूत हैं, उनसे भी अधिक गौरव वाला काम-देव उनके द्वारा अम्युत्थानपूर्वक उपचरित हो रहा है, और यौवन इन दोनों (स्तनों) के परिचारक रूप में स्थित हैं' इस प्रकार के उक्तिवैचित्र्य द्वारा 'तुम्हारे स्तनों के अव-लोक से प्रवृद्ध कामावस्था वाला कौन नहीं हो जाता है, इस ढङ्ग (भङ्गी) से अपने अमिप्राय का व्यनन किया है। 'जवानी के कारण तुम्हारे स्तन उन्नत हो गए हैं' इस

केवलं भणितिवशेनैवाभिनिष्पत्रश्चरीरः । यथोदाहृतम् 'एवंवादिनि' इत्यादि । यथा वा—

> सिहिपिञ्छकण्णपूरा जाआ बाहस्स गव्बिरी भमइ । मुत्ताफलरइअपसाहणाणँ मज्झे सबत्तीणम् ॥ २४ ॥

है, न केवल उक्ति द्वारा ही जिसका शरीर अभिनिष्पन्न है। जैसे, उदाहत है—'एवं वादिनि॰' इत्यादि। अथवा जैसे—

मोर-पंखों के कनफूल पहने ज्याध की परनी मुक्ताफलों के गहने पहनी हुई अपनी सीतों के बीच गर्बीली होकर घूमती है॥ २४॥

लोचनम्

ध्वननं कृतम् । तव तारुएयेनोन्नतौ स्तनाविति हि वचने न व्यञ्जकता। न केवलमिति । उक्तिवैचित्र्यं तावत्सर्वथोपयोगि भवतीति भावः।

> शिखिपिच्छकर्णपूरा जाया व्याधस्य गर्विणी श्रमति । मुक्ताफलरचितप्रसाधनानां मध्ये सपन्नीनाम् ॥

शिखिमात्रमारणमेव तदासक्तस्य कृत्यम् । अन्यासु त्वासक्तो हस्तिनोऽ-प्यमारयदिति हि वचनेनोक्तमुक्तमसौभाग्यम् । रचितानि विविधमङ्गीभिः प्रसाधनानीति तासां सम्भोगव्यिभमाभावाक्तद्विरचनशिल्पकौशलमेव परिमिति दौर्माग्यातिशय इदानीमिति प्रकाशितम् । गर्वश्च बाल्याविवेकादिनापि भव-तीति नात्र स्वोक्तिसद्भावः शङ्क्ष्यः । एष चार्थो यथा यथा वर्ण्यते आस्तां वा वर्णना, बहिरपि यदि प्रत्यक्षादिनावलोक्यते तथा तथा सौभाग्यातिशयं व्याधवध्वा द्योतयति ॥ २४ ॥

कथन में व्यक्तकता नहीं है। न केवंळ—। भाव यह कि उक्तिवैचित्र्य सब प्रकार से उपयोगी होता है।

उसमें आसक्त नायक का केवल मोरों का मारना ही कार्य रह गया और दूखरी सीतों में आसक्त वह हाथियों को भी मार डालता या, इस कथन से (अपना) उत्तम सीभाग्य अभिहित किया। विविध भिक्तियों से जिनके प्रसाधन बनाए गए हैं, इससे प्रकाशित किया कि सम्भोग की व्यग्रता न होने के कारण प्रसाधन के बनाने का शिल्पकीशल ही ज्यादा था, इस प्रकार अब उनका अतिशय दुर्भाग्य है। गर्व तो बाल्य के कारण अविवेक आदि से भी उत्पन्न होता है इसलिए यहां अपनी उक्ति के सद्भाव की शक्का नहीं करनी चाहिए। यह अर्थ जैसे जैसे वर्णन करते हैं अथवा वर्णना हो भी, यदि वाहर भी प्रत्यक्ष आदि द्वारा देखा जाता है उस-उस प्रकार व्याधवधू का अतिशय सीभाग्य द्योतन करता है। २४।।

अर्थशक्तेरलङ्कारो यत्राप्यन्यः प्रतीयते । अनुस्वानोपमन्यङ्गयः स प्रकारोऽपरो ध्वनेः ॥ २५ ॥ वाच्यालङ्कारन्यतिरिक्तो यत्रान्योऽलङ्कारोऽर्थसामध्यीत्प्रतीयमानो-ऽवभासते सोऽर्थशक्त्युद्भवो नामानुस्वानरूपन्यङ्ग्योऽन्यो ध्वनिः॥२५॥

तस्य प्रविरलविषयत्वमाशङ्क्षेदमुच्यते— रूपकादिरलङ्कारवर्गो यो वाच्यतां श्रितः । स सर्वो गम्यमानत्वं विभ्रद् भूम्ना प्रदर्शितः ॥ २६॥

अर्थशक्ति से जहां भी अन्य अलङ्कार प्रतीत होता है वह अनुस्वानोपमध्यङ्ग्य ध्वनि का अन्य प्रकार है ॥ २५ ॥

वाच्य अल्ङ्कार से अतिरिक्त जहां अन्य अल्ङ्कार अर्थसामर्थ्य से प्रतीत होता हुआ अवमासित होता है वह अर्थशक्त्युद्भव नाम का अनुस्वानरूप व्यङ्गय अन्य ध्वनि है ॥ २५ ॥

उसके प्रविरल्विषय होने की आशङ्का करके यह कहते हैं— रूपक आदि अलङ्कारवर्ग जो वाज्यता का आश्रयण करता है वह सब गम्यमार रूप में बहुत विस्तार से दिखाया गया है। ॥ २६॥

लोचनम्

एवमर्थशक्त्युद्भवो द्विभेदो वस्तुमात्रस्य व्यञ्जनीयत्वे वस्तुध्वनिरूपतया निरूपितः। इदानीं तस्यैवालङ्काररूपे व्यञ्जनीयेऽलङ्कारध्वनित्वमपि भवतीः त्याह्—त्र्रथेत्यादि। न केवलं शब्दशक्तेरलङ्कारः प्रतीयते पूर्वोक्तनीत्या यावदः थेशकरिप। यदि वा न केवलं यत्र वस्तुमात्रं प्रतीयते यावदलङ्कारोऽपीत्यिः शब्दार्थः। अन्यशब्दं व्याचष्टे—वाच्येति॥ २४॥

श्राराङ्क्ष्येति । राज्दराक्त्या श्रेषाद्यलङ्कारो भासत इति सम्भाव्यमेतत्।

इस प्रकार अयंशक्त्युद्भव दो प्रकार का होता है, वस्तुमात्र के व्यक्तनीय होने पर वस्तुम्बित रूप से वह निरूपण किया गया, अब उसी के अलङ्कार रूप के व्यव्जनीय होने पर अलङ्कार-व्वनित्व भी होता है, यह कहते हैं—अथ० इत्यादि। त केवल शक्ति से अलङ्कार प्रतीत होता है बल्कि पूर्वोक्त नीति से अर्थशक्ति से भी (अलङ्कार प्रतीत होता है)। यदि वा 'भी' ('अपि') शब्द का अर्थ है कि न केवल जहां वस्तु मात्र प्रतीत होता है बल्कि अलङ्कार भी। 'अन्य' शब्द की व्याख्या करते हैं वाद्मव ।। २४॥

आशक्का करकं—। शब्दशक्ति से क्लेष आदि अलङ्कार भासित होता है, यह ती

अन्यत्र वाच्यत्वेन प्रसिद्धो यो रूपकादिरलङ्कारः सोऽन्यत्र प्रती-यमानतया बाहुल्येन प्रदर्शितस्तत्रभवद्भिर्भद्दोद्घटादिभिः। तथा च

अन्यत्र वाच्यरूप से प्रसिद्ध जो रूपक आदि अलङ्कार है वह अन्यत्र प्रतीयमान रूप से बंहुलतया, आदरणीय उद्भट आदि आचार्यों द्वारा दिखाया गया है। जैसा कि

लोचनम्

अर्थशक्त्या तु कोऽलङ्कारो भातीत्याशङ्काबीजम्। सर्वे इति प्रदर्शित इति च पदेनासम्भावनात्र मिथ्यैवेत्याह ।

उपमानेन तत्त्वं च भेदं च वदतः पुनः। ससन्देहं वचः स्तुत्ये ससन्देहं विदुर्यथा॥ इति। तस्याः पाणिरयं नु मारुतचलत्पत्राङ्गुलिः पल्लवः।

इत्यादानुपमा रूपकं वा ध्वन्यते । अतिशयोक्तेश्च प्रायशः सर्वोलङ्कारेषु ध्वन्यमानत्वम् । श्रलङ्कारान्तरस्येति । यत्रालङ्कारोऽप्यलङ्कारान्तरं ध्वनित तत्र वस्तुमात्रेणालङ्कारो ध्वन्यत इति कियदिदमसम्भाव्यमिति तात्पर्येणालङ्कारान्तरशब्दो वृत्तिकृता प्रयुक्तो न तु प्रकृतोपयोगीः न ह्यलङ्कारेणालङ्कारो ध्वन्यत इति प्रकृतमदः, श्रथशक्त्युद्भवे ध्वनो वस्त्विवालङ्कारोऽपि व्यङ्गच इत्येतावतः प्रकृतत्वात् । तथा चोपसंहारप्रनथे 'तेऽलङ्काराः परां छायां यान्ति ध्वन्यङ्गतां गताः' इत्यत्र श्लोके वृत्तिकृत् 'ध्वन्यङ्गता चोभाभ्यां प्रकाराभ्याम्' इत्युपकृम्य सम्भाव्य है, परन्तु अर्थशक्ति से कौन-सा अलङ्कार प्रतीत होता है । यह आशङ्का का बीज है । 'सव' और 'दिखाया गया है' इन दोनों से 'यहां असम्भावना मिथ्या ही है' यह कहते हैं ।

उपमान के साथ (उपमेय का) अभेद और पुनः भेद कहते हुए कवि के ससन्देह

वचन को स्तुति के लिए ससन्देह मानते हैं। जैसे-

उस (नायिका का) यह हाथ है या हवा से चक्कल पत्तों की उंगलियों वाला पल्लव है।

इत्यादि में उपमा अथवा रूपक घ्वनित होता है। और अतिशयोक्ति प्रायः सभी
अलङ्कारों में ध्वनित होती है। अलङ्कारान्तर का—। जहां अलङ्कार भी अलङ्कारान्तर
को घ्वनित करता है वहां वस्तुमात्र रूप से अलङ्कार ध्वनित होता है, यह कितना
असम्भाव्य ही है, इस तात्पर्य से वृत्तिकार ने 'अलङ्कारान्तर' शब्द का प्रयोग किया है,
न कि प्रकृत में (वह शब्द) उपयोगी है; क्योंकि यह प्रकृत नहीं कि अलङ्कार से
अलङ्कार घ्वनित होता है, बल्कि इतना ही प्रकृत है कि अर्थशक्तुम्झ ध्वनि में वस्तु
की मांति अलङ्कार भी व्यङ्गय होता है। जैसा कि उपसंहार ग्रन्थ में वि अलङ्कार
घ्वनि का अङ्क होकर अन्निक छाया प्राप्त करते हैं' इस स्थल में वृत्तिकार 'ध्वनि का
अङ्कार दो प्रकारों से' यह उपक्रम करके 'वहां यह प्रकरण से व्यङ्गय होने के कारण

ससन्देहादिषूपमारूपकातिशयोक्तीनां प्रकाशमानत्वं प्रदर्शितमित्य-लङ्कारान्तरस्यालङ्कारान्तरे व्यङ्ग्यत्वं न यत्नप्रतिपाद्यम् ॥ २६ ॥

इयत्पुनरुच्यत एव—
अलङ्कारान्तरस्यापि प्रतीतौ यत्र आसते ।
तत्परत्वं न वाच्यस्य नासौ मार्गो ध्वनेर्मतः ॥ २७ ॥
अलङ्कारान्तरेषु त्वनुरणनरूपालङ्कारप्रतीतौ सत्यामपि यत्र वाच्यस्य व्यङ्ग्यप्रतिपादनौन्मुख्येन चारुत्वं न प्रकाशते नासौ ध्वनेर्मार्गः।
समन्देह बादि (अलङ्कारों) में उपमा, रूपक और अतिशयोक्ति का प्रकाशित
होना दिखाया गया है। इस प्रकार अलङ्कारान्तर का अलङ्कारान्तर में व्यङ्गय होना
यत्नप्रतिपाद्य नहीं है॥ २६॥

इतना तो फिर कहते ही हैं-

अलक्कारान्तर की भी प्रतीति में जहां वाध्य का तत्परत्व नहीं भासित होता है यह मार्ग ध्वनि का नहीं माना गया है ॥ २७ ॥

परन्तु अकद्वारान्तरों में अनुरणनरूप अलङ्कार की प्रतीति के होने पर भी जहाँ वाच्य का ज्यक्त के प्रतिपादन के औन्सुख्य से चारुत्व जाहिर नहीं होता है वह ध्वनिका

लोचनम्

'तत्रेह प्रकरणाद्व यङ्ग यत्वेनेत्यवगन्तव्यम्' इति वच्यति । अन्तरशब्दो वोभय-त्रापि विशेषपर्यायः; वैपयिकी सप्तमी, न तु प्राग्व्याख्यायामिव निमित्तसप्तमी। तद्यमर्थः-वाच्यालङ्कारविशेपविषये व्यङ्ग यालङ्कारविशेषो भातीत्युद्धटादिभि-कक्तमेवेत्यर्थशक्त्यालङ्कारो व्यज्यत इति तैरूपगतमेव । केवलं तेऽलङ्कारलक्षण-कारत्वाद्वाच्यालङ्कारविशेषविषयत्वेनाहुरिति भावः ॥ २६ ॥

ननु पूर्वे रेव यदीदमुक्तं किमर्थं तव यत्र इत्याशङ्कः याह—इयदिति । अस्माः

यह जानना चाहिए' यह कहेंगे। अथवा 'अनन्तर' शब्द दोनों स्थलों में 'विशेष' अर्थ का वाचक है, सप्तमी वैषयिकी अर्थात् विषयरूप अर्थ की वाचिका है, न कि पहले की व्याख्या के समान निमित्तसप्तमी है। तो अर्थ यह है—वाच्य अलङ्कारविशेष के विषय में व्याङ्गध अलङ्कारविशेष प्रतीत होता है यह उद्भट आदि ने कहा है ही, अर्थात् अर्थ शक्ति से अलङ्कार व्यक्तित होता है यह उन्होंने माना ही है। माव यह कि केवल उन्होंने अलङ्कार-लक्षणकार होने के नाते वाच्य अलङ्कारविशेष के विषयरूप से कहा है॥ २६॥

यह आशक्का करके कि जब कि प्राचीनों ने ही यह कह दिया है तो तुम्हारा यल किसिलए ? (जत्तर में) कहते हैं—इतना—। 'हम भी' यह वाक्यशेष है। 'पुतः'

तथा च दीपकादावलङ्कारे उपमाया गम्यमानत्वेऽपि तत्परत्वेन चारु-त्वस्यान्यवस्थानाम् ध्वनिन्यपदेशः।

यथा-

चन्दमऊएहि णिसा णिलनी कमलेहि कुसुमगुच्छेहि लआ।
हंसेहि सरअसोहा कन्वकहा सजनेहि करइ गरुई।।
(चन्द्रमयूखैनिशा निलनी कमलेः कुसुमगुच्छेर्लता।
हंसैश्शारदशोभा काव्यकथा सजनैः क्रियते गुर्वी।। इति छाया)

मार्ग नहीं है। जैसा कि दीपक आदि अलुङ्कार में उपमा के गम्यमान होने पर भी तत्पर रूप से चारूव के न होने पर ध्वनि व्यपदेश नहीं होता।

जैसे--

चन्द्रिकरणों से रात्रि, कमलों से निलनी, फूल के गुच्हों से लता, शरकाल की शोमा हंसों से और कान्यकथा सजानों से गौरवान्वित की जाती है।

लोचनम्

मिरिति वाक्यशेषः । पुनःशब्दस्तदुक्ताद्विशेषद्योतकः । चन्द्रमऊ इति । चन्द्रम-यूखादीनां न निशादिना विना कोऽपि परभागलाभः। सञ्जनानामपि काव्यकथां विना कीदृशी साधुजनता। चन्द्रमयूखेश्च निशाया गुरुकीकरणं भास्वरत्वसेव्यत्वादि यिक्रयते; कमलैर्नेलिन्याः शोभापरिमललक्ष्म्यादि, कुसु-मगुच्छैर्लताया अभिगम्यत्वमनोहरत्वादि, हंसैः शारदशोभायाः श्रुतिसुखकर-त्वमनोहरत्वादि, तत्सर्वं काव्यकथायाः सञ्जनैरित्येतावानयमर्थो गुरुः क्रियत इति दीपकवलाखकास्ति । कथाशब्द इदमाह—आसतां तावत्काव्यस्य केचन सूच्मा विशेषाः, सञ्जनैविना काव्यमित्येष शब्दोऽपि ध्वंसते। शब्द उस कहे हुए से विशेष का द्योतक है। चन्द्रिकरणों—। चन्द्रिकरण आदि का रात्रि आदि के बिना कोई महत्त्व लाभ नहीं है, सज्जनों की भी काव्यक्या के विना कैसी साधुजनता ? चन्द्रकिरणों से रात्रि का जो गुरुकीकरण अर्थात भास्वर होना और सेव्य होना आदि किया जाता है कमलों से निलनी की शोभा, परिमल, लच्चमी आदि **बो होती है, फूल के गुच्छों से लता का** जो अभिगम्यत्व, मनोहरत्व आदि जो होता है और हंसों से शरत्काल की शोमा का श्रुतिसुखकर होना और मनोहर होना आदि जो होता है वह सब दुः काव्यकथा का सज्जनों से सम्पन्न होता है, इतना अर्थ 'गौरवा-न्वित किया जाता है' इस दीपक के वल से प्रकाशित होता है। 'कथा' शब्द यह कहता है-काव्य के कोई सूदम विशेष हों, (किन्तु) सज्जनों के बिना 'काव्य' यह शब्द भी नष्ट होता है। उन सज्जनों के विद्यमान रहने पर केवल 'काव्य' शब्द के

इत्यादिषूपमागर्भत्वेऽपि सति वाच्यालङ्कारमुखेनैव चारुत्वं व्यव-तिष्ठते न व्यङ्गवालङ्कारतात्पर्येण । तस्मात्तत्र वाच्यालङ्कारमुखेनैव का-व्यव्यपदेशो न्याय्यः । यत्र तु व्यङ्गवपरत्वेनैव वाच्यस्य व्यवस्थानं तत्र व्यङ्गव-मुखेनैव व्यपदेशो युक्तः ।

इत्यादि के उपमा से गर्भित होने पर भी वाच्य अलङ्कार के प्रकार से ही चाहत्व न्यवस्थित होता है न्यङ्गय अलङ्कार के तास्पर्य से नहीं। इस लिए वहां वाच्य अल-क्कार के प्रकार से ही कान्यन्यपदेश उचित है। परन्तु जहां न्यङ्गयपर रूप से ही वाच्य का न्यवस्थान हो वहाँ न्यङ्गय के प्रकार से ही न्यपदेश ठीक है।

लोचनम्

सत्स्वास्ते सुभगं काव्यशब्द्व्यपदेशभागिष शब्दसन्दर्भमात्रम्; तथा तैः क्रियते यथादरणीयतां प्रतिपद्यत इति दीपकस्यैव प्राधान्यं नोपमायाः। एवं तु कारिकार्यमुदाहरणेन प्रदर्श्यास्या एव कारिकाया व्यवच्छे द्यवलेन योऽर्थोऽभिमतो यत्र तत्परत्वं स ध्वनेर्मार्ग इत्येवंह्रपस्तं व्याच्घटे—यत्र त्विति। तत्र च वाच्यालङ्कारेण कदाचिद्यङ्गयमलङ्कारान्तरं, यदि वा वाच्यालङ्कारस्य सद्भावमात्रं न व्यञ्जकता, वाच्यालङ्कारस्याभाव एव वेति त्रिधा विकल्पः। एतच्च यथायोगः व्यपदेश को धारण करने वाला भी शब्दसन्दर्भमात्र सुभग है; उस प्रकार उनके द्वारा क्रिया जाता है वर्षात् आदरणीयता को प्राप्त करता है, इस प्रकार दीपक का ही प्राधान्य है, उपमा का नहीं। इस प्रकार कारिका के अर्थ को उदाहरण द्वारा प्रदिश्त करके इसी कारिका का व्यवच्छेद्य के बल से जो अर्थ अभिमत है कि 'जहां तात्पर्यं है,

वह ध्विन का मार्ग है' उसकी व्याख्या करते हैं—परन्तु जहां—। वहां तीन प्रकार का विकक्ष है'—वाच्य अलङ्कार से कभी व्यङ्गच अलङ्कारान्तर, अथवा वाच्य अलङ्कार का सद्भावमात्र है, व्यञ्जकता नहीं है, या वाच्य अलङ्कार का अभाव है। इसे जैसा

१ प्रस्तुत यह है कि व्यक्त्य अल्क्षार से ही व्यपदेश होता है। अर्थशक्त्युद्भव ध्विन में कभी अल्क्षार से अल्क्षार व्यक्त होता है, कभी वाच्य अल्क्षार का सद्भावमात्र होता है और कभी वह भी नहीं होता। अन्तिम दो स्थितियों में वस्तुध्विन का सद्भाव माना जाता है, अर्थाद वहां वस्तुमात्र व्यक्षक होता है। प्रन्थकार ने इन्हीं वार्तों को आगे के उदाहरणों में निर्देश किया है। आगे के आचार्यों ने अर्थशनस्त्रुद्धव ध्विन में अल्क्षार से अल्क्षार, अल्क्षार से वस्तु, वस्तु से बस्तु और वस्तु से अल्क्षार को ध्विनविद्धवर्ण मौदोक्तिसिद्ध को तीन मार्गों में विभक्त करके १२ मेद किए हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ के वक्ष्यमाण उदाहरणों का वध्ववन कूरते हुए इन मेदों का भी ध्वान रखना चाहिए।

यथा-

प्राप्तश्रीरेष कस्मात्पुनरिष मिय तं मन्थखेदं विद्ध्या-निद्रामप्यस्य पूर्वीमनलसमनसो नैव सम्भावयामि। सेतुं बञ्चाति भूयः किमिति च सकलद्वीपनाथानुयात-स्त्वय्यायाते वितकीनिति द्धत इवाभाति कम्पः पयोधेः॥

जैसे-

जब कि इसे रूपि। प्राप्त हो गई है तब फिर यह क्यों मुझमें मन्थन का कष्ट करेगा ? आरूस्य-रहित मन वाले इसकी पहली निदा की भी सम्भावना नहीं ही करता हूँ, क्या समस्त द्वीपनार्थों से अनुगत यह फिर से सेतु बनाएगा ? इस प्रकार तुम्हारे आने पर वितकों को मानों धारण करते हुए समुद्र का कम्प प्रतीत होता है।

लोचनम्

मुदाहर्गोषु योज्यम् । उदाहर्रात — प्राप्ति । किस्मिश्चिदनन्तवलसमुदायविति नरपतौ समुद्रपरिसरवर्तिनि पूर्णचन्द्रोद्यतदीयवलावगाहनादिना निमित्तेन प्रयोधेस्तावत्कम्पो जातः । सोऽनेन सन्देहेनोत्प्रेच्यत इति ससन्देहोत्प्रेक्षयोः सङ्करात्सङ्करालङ्कारो वाच्यः । तेन च वासुदेवरूपता तस्य नृपतेर्ध्वन्यते । यद्यपि चात्र व्यतिरेको भाति, तथापि स पूर्ववासुदेवस्वरूपात्, नाद्यतनात् । अद्यतनत्वे भगवतोऽपि प्राप्तश्रीकंत्वेनानालस्येन सकलद्वीपाधिपतिविजयित्वेन च वर्तमानत्वात् ।

न च सन्देहोत्प्रेक्षानुपपत्तिबलाद्रपकस्याद्तेपः, येन वाच्याल्क्कारोपस्कारकत्वं व्यक्क-थस्य भवेत्। यो योऽसम्प्राप्तलदमीको निव्याजविजिगीषाकान्तः
वैठे, उदाहरणों में घटाना चाहिए। उदाहरण देते हैं—जब कि इसे०—। किसी बनन्त
बलसमुदायसम्पन्न राजा के समुद्रतट पर उपस्थित होने पर पूर्ण चन्द्रोदय अथवा
उसकी सेना के अवगाहन आदि के कारण समुद्र का कम्पन उत्पन्न हुआ। वह (कम्पन)
इस सन्देह से उत्प्रेक्षित हुआ है, इसलिए ससन्देह और उत्प्रेक्षा के सक्कर होने से सक्कर
रालक्कार वाच्य है। उससे राजा का वासुदेव—(श्रीकृष्ण) रूपत्व व्यनित होता है।
यद्यपि यहां 'व्यतिरेक' (अलक्कार) प्रतीत होता है, तथापि वह पूर्व वासुदेव के स्वरूप से
न कि अद्यतन (वर्तमान वासुदेव के स्वरूप) से। क्योंकि सम्प्रति भगवान् भी लक्ष्मी को
प्राप्त करने से, अनालस्य और समस्त द्वीपाधिपतियों के विजयी रूप से वर्तमान हैं।

ससन्देह और उत्प्रेक्षा अलङ्कार दोनों अनुपपन्न हो जारेंगे, इस प्रकार (उनकी अनुपपत्ति के बल से) 'रूपक' का आक्षेप होगा, जिससे ब्यङ्ग का उपस्कारकत्व बन जायगा, यह नहीं (कहं सकते), क्योंकि इस अर्थ का सम्मावन करेंगे कि जिसे जिसे उक्सी प्राप्त न होगी और निर्व्याज विजिगीषा (विजय करने की इच्छा) से आक्रान्त

यथा वा ममैव-लावण्यकान्तिपरिपूरितदिङ्मुखेऽस्मिन् स्मेरेऽधुना तव मुखे तरलायताश्चि ।

अथवा, जैसे मेरा ही-हे चक्क और दीर्घ नेत्रों वाली ! कावण्य और कान्ति से दिशाओं को भर देने वाले तुम्हारे इस मुख के इस समय कुछ विकसित होने पर यह समुद्र जो जोम नहीं लोचनम्

स स मां मंध्नीयादित्याद्यर्थसम्भावनात् । न च पुनरपीति पूर्वोमिति भूय इति च शब्दैरयमाकृष्टोऽर्थः। पुनरर्थस्य भूयोर्थस्य च कर्त्रभेदेऽपि समुद्रैक्य-मात्रेणाप्युपपत्तेः। यथा पृथ्वी पूर्वे कार्तवीर्येण जिता पुनरिप जामदग्न्ये-नेति । पूर्वा निद्रा च सिद्धा राजपुत्राद्यवस्थायामपीति सिद्धं रूपकथ्वनिरेवा-यमिति । शब्दव्यापारं निनैवार्थसौन्दर्थबलाद्रपणाप्रतिपत्तेः । यथा च-

ज्योत्कापूरप्रसर्धवले सैकतेऽस्मिन्सरच्वा वाद्यतं सुचिरमभवत्सिद्धयूनोः कयोश्चित्। एकोऽवादीत्प्रथमनिहतं केशिनं कंसमन्यो मत्वा तत्त्वं कथय भवता को हतस्तत्र पूर्वेम्।।

इति केचिदुदाहरणमत्र पठन्ति, तद्सत्; भवतेत्यनेन शब्दबलेनात्र त्वं

वासुदेव इत्यर्थस्य स्फुटीकृतत्वात्।

लावण्यं संस्थानमुरिधमा, कान्तिः प्रभा ताभ्यां परिपूरितानि संविभक्तानि होगा वह वह मुझे मथन करेगा, इत्यादि । ऐसा नहीं कह सकते कि यह अर्थ 'फिर भी' 'पहली' और 'फिर से' इन शब्दों से लाया गया है क्यों कि कर्तृभेद होने पर भी समुद्र के एक होने से 'फिर' इस अर्थ की उपपत्ति हो जायगी। जैसे पृथ्वी को पहले कार्तवीर्य ने जीता, फिर जामदम्य ने भी। राजपुत्रादि अवस्था में भी पहली निद्रा सिद्ध है, इस प्रकार यह 'रूपक ध्वनि'' ही है यह बात सिद्धं हुई । क्यों कि शब्दव्यापार के बिना ही अर्थसीन्दर्यं के बल से रूपणा की प्रतिपत्ति (अभेद का ज्ञान) होता है। और जैसे-

'चांदनी के प्रवाह से सफेद सरयू के इस सैकत में किन्ही सिद्ध युवक-युवित की देर तक बहुसबाजी चलती रही, एक ने कहा कि केशी को पहले मारा, दूसरे ने कहा कि कंस को, ठीक समझ कर कहिए कि आपने उनमें पहले किसको मारा।'

कुछ लोग इस उदाहरण को यहां पढ़ते हैं, वह ठीक नहीं, क्यों कि 'आपने' इस शब्द के वल से यहां 'तुम वासुदेव हो' यह अर्थ स्फुट कर दिया गया है।

लावण्य अर्थात् संस्थानमुग्विमा, कान्ति अर्थात् प्रमा, इनसे परिपूरित-संविभक्त

१. इस उदाहरण में सन्देह और उत्प्रक्षा के सङ्गररूप वाच्य अलङ्गार से भगवान् वासुदेव से वर्तमान राजा का अभेदारोपरूप रूपक का ध्वनि वह सिद्धान्त पक्ष है। व्यतिरेक अछद्वार का

क्षोभं यदेति न मनागिष तेन मन्ये सुव्यक्तमेव जलराशिरयं पयोधिः॥

इत्येवंतिधे विषयेऽनुरणनरूपरूपकाश्रयेण कान्यचारुत्वव्यवस्था-नाद्रुपकध्वनिरिति व्यपदेशो न्याय्यः।

प्राप्त करता है इससे स्पष्ट ही है कि यह जलराशि है (अर्थात् जहराशि है)। इस प्रकार के विषय में अनुरणनरूप रूपक के आश्रयण से काव्य के चारुत्व के व्यवस्थित होने के कारण 'रूपकथ्वनि' यह व्यपदेश ठीक है।

लोचनम्

ह्वानि सम्पादितानि दिङ्गुखानि येन। अधुना कोपकालुष्यादनन्तरं प्रसादौन्मुख्येन। स्मेरे ईषद्विहस्तनशीले तरलायते प्रसादान्दोलनिकाससुन्दरे अक्षिणी यस्यास्तस्या आमन्त्रणम्। अथ चाधुना न एति, वृत्ते तु क्षणान्तरे क्षोभमगमत्। कोपकषायपाटलं स्मेरं च तव मुखं सन्ध्यारुणपूर्णशशघरमण्डलं क्षेभमगमत्। कोपकषायपाटलं स्मेरं च तव मुखं सन्ध्यारुणपूर्णशशघरमण्डलं कमेवेति भाव्यं क्षोभेण चलचित्ततया सहृदयस्य। न चैति तत्सुव्यक्तमन्वर्थनायं जलराशिजोड्यसञ्चयः। जलादयः शब्दा भावार्थप्रधाना इत्युक्तं प्राक्। तत्र च क्षोभो मदनविकारात्मा सहृदयस्य त्वन्मुखावलोकनेन भवतीतीयत्य-भिधाया विश्रान्ततया रूपकं ध्वन्यमानमेव। वाच्यालङ्कारश्चात्र ग्रेषः, स च न अर्थात् हृद्ध, बनाया है दिशाओं को जिसने। अभी अर्थात् कोषकाष्ट्रध्य से, अनन्तर प्रमन्तता के प्रति उन्मुखता के कारण। स्मेर अर्थात् कुछ विहसनशील और तरलायत अर्थात् प्रसन्तता के आन्दोलनर्जातत विकास से मुन्दर आंखें जिसकी हैं, उसका यह आमन्त्रण (संबोधन) है। और इस समय (क्षोभ) प्राप्त नहीं करता, अभी क्षणमर पहले क्षोभ प्राप्त किया। कोपकषायपाटल और स्मेर तुम्हारा मुख सन्ध्यारुण और पूर्ण चन्द्रमण्डल ही है। चलचित होने के कारण सहृदय व्यक्ति को क्षोभ वाजब है, लेकन वह (समुद्र को) नहीं हुआ इसल्ये यह स्पष्ट हो गया कि यह (समुद्र) जलशांक है,

अर्थात् यथार्थं रूप से जाडचराशि है। यह पहले कह चुके हैं कि 'जल' आदि शब्द भावार्थप्रधान (जाडच आद्यर्थंक हैं। यहां सहृदय व्यक्ति को तुम्हारे मुख के अव-लोकन से मदनविकार रूप क्षोभ होता है, इतने में अभिषा के विश्वान्त हो जाने के कारण 'रूपक' ब्वन्यमान ही है। यहां वाच्य अलङ्कार श्लेष है, पर वह व्यव्जक नहीं

व्यक्ष्यत्व यहां वास्तिविक नहीं है यह भी बात हुई। तीसरी शक्का के अनुसार ससन्देह और उत्प्रेक्षा के बळ से रूपक का आक्षेप हैं। इसके उत्तर में छोचनकार लिखते हैं कि अर्थ यह करेंगे कि जो जो लक्ष्मी को न प्राप्त किया एवं विजयेच्छा से युक्त है वह वह मुझे मन्थन करेगा। इस प्रकार ससन्देह और उत्प्रेक्षा की अनुपपत्ति नहीं होगी। इस प्रकार यह रूपकथ्विन का उदाहरण है। नवीन आचार्यों के अनुसार यह कविप्रोढोक्तिसिख अलक्कार से अलक्कार व्यक्षय का उदाहरण है।

उपमाध्वनिर्यथा— वीराणं रमइ घुसिणरुणम्मि ण तदा पिआथणुच्छङ्गे । दिष्ठी रिउगअकुम्भत्थलम्मि जह बहलसिन्द्रे ॥ यथा वा ममैव विषमवाणलीलायामसुरपराक्रमणे कामदेवस्य—

उपमा-ध्विन, जैसे— वीरों की दृष्टि जिस प्रकार सिन्दूर से भरे शत्रुओं के हाथियों के कुम्भस्थलों में रमण करती है उस प्रकार कुंकुम से लाल प्रिया के स्तनोत्सक्ष में रमण नहीं करती। अथवा जैसे मेरा ही 'विषमबाणलीला' में असुरों पर पराक्रम के अवसर में कामदेव का—

लोचनम्

व्यक्षकः । अनुरणनरूपं यद्रपकमर्थशक्तिव्यङ्गयं तदाश्रयेगोह काव्यस्य चाहत्वं व्यवतिष्ठते । ततस्तेनैव व्यपदेश इति सम्बन्धः । तुल्ययोजनत्वादुपमाध्वन्यु-दाहरणयोर्लक्षणं स्वकण्ठेन न योजितम् ।

वीराणां रमते घुसृणारुऐ न तथा प्रियास्तनोत्सङ्गे। दृष्टी रिपुगजकुम्भस्थले यथा वहलर्सिन्दूरे।।

प्रसाधितप्रियतमाश्वासनपरतया समनन्तरीभूतयुद्धत्वरितमनस्कतया च दोलायमानदृष्टित्वेऽपि युद्धे त्वरातिशय इति व्यतिरेको वाच्यालङ्कारः । तत्र तु येयं ध्वन्यमानोपमा प्रियाकुचकुड्मलाभ्यां सकलजनत्रासकरेष्वपि शात्रवेषु मर्दनोद्यतेषु गजकुम्भस्थलेषु तद्वशेन रितमाद्दानानामिव बहुमान इति सैव वीरतातिशयचमत्कारं विधत्त इत्युपमायाः प्राधान्यम् । श्रमुरपराक्रमण् इति ।

है। अनुरणन रूप अर्थशक्ति से व्यङ्गध जो 'रूपक' है उसके आश्रय से यहां काव्य का चारुत व्यवस्थित होता है। इसलिए उसी से व्यपदेश है। योजना के समान होने के कारण (अर्थात् ऊपर के ही ढंग से वात होने के कारण) उपमाध्विन के दोनों उदा- हरणों का लक्षण अपने शब्द द्वारा प्रस्तुत नहीं किया है।

सजी-वजी (प्रसाघित) प्रियतमा के आश्वासन में लगे होने के कारण और तुरत होने वाले युद्ध के लिए त्वरितमज्ञस्क होने के कारण दृष्टि के दोलायमान होने पर भी युद्ध में (वीरों की) अतिशय त्वरा होती है, यह 'व्यतिरेक' वाच्य अलङ्कार है। जो यह प्रिया के कुचकुड्मलों से उपमा व्वनित हो रही है, समस्त जनों को भीत करने वाले भी, मर्दनोद्यत शत्रुओं के हाथियों के कुम्भस्थलों में उस (उपमा) के कारण रित धारण करते हुए (वीरों) का वहुमान है, इस कारण वही (व्वन्यमान उपमा) वीरतातिशय का चमत्कार उत्पन्न करती है अत: उपमा का प्राधान्य है। असुरों पर पराक्रम के अवसर में—। वहां इस (कामदेवं) की त्रैलोक्यविजय वर्णन करते हैं।

तं ताण सिरिसहोअररअणाहरणिम हिअअमेकरसम् । बिम्बाहरे पिआणं णिवेसिअं कुसुमबाणेन ॥ (तत्तेषां श्रीसहोदररत्नाहरणे हृदयमेकरसम् । बिम्बाधरे प्रियाणां निवेशितं कुसुमबाणेन ॥ इति छाया) आक्षेपघ्वनिर्यथा—

स वक्तुमखिलाञ शक्तो हयग्रीवाश्रितान् गुणान् । योऽम्बुकुम्भैः परिच्छेदं ज्ञातुं शक्तो महोदधेः ॥

उन (असुरों) के छन्ती के साथ पैदा होनेवाले रहों के लूटने में एकरस हृद्य को कामदेव ने प्रियाओं के विस्वाधर में संख्या कर दिया। आन्रेपध्वनि, जैसे—

'हयग्रीव भगवान् के समस्त गुणों को वह कह सकता है जो जल के घड़ों से महासमुद्र के परिमाण को जान सकता है।'

लोचनम्

त्रैलोक्यविजयो हि तत्रास्य वर्ण्यते । तेषामसुराणां पातालवासिनां यैः पुनः पुनरिन्द्रपुरावमर्दनादि किं किं न कृतं तद् घृद्यमिति यत्तेभ्यस्तेभ्योऽतिदुष्करे-भ्योऽप्यकम्पनीयव्यवसायं तच । श्रीसहोदराणामत एवानिर्वाच्योत्कर्षाणामि-त्यर्थः । तेषां रत्रानामा समन्ताद्धरणे एकरसं तत्परं यद्भृदयं तत्कुसुमवाणेन सुकुमारतरोपकरणसम्भारेण त्रियाणां विम्वाधरे निवेशितम्, तदवलोकनपरि-चुम्बनदर्शनमात्रकृतकृत्यताभिमानयोगि तेन कामदेवेन कृतम्। तेषां हृद्यं यदत्यन्तं विजिगीषाज्यलनजाज्यल्यमानमभूदिति यावत्। अत्रातिशयोक्तिर्या-च्यालङ्कारः। प्रतीयमाना चोपमा। सकलरत्रसारतुल्यो बिम्बाधर इति हि तेषां बहुमानो वास्तव एव । अत एव न रूपकष्वनिः । रूपकस्यारोप्यमाणत्वे-जिन्होंने वार वार इन्द्रपुरी (अमरावती) के अवमर्दन आदि क्या क्या नहीं किया उन पातालवासी असुरों का हृदय और जो उन उन अतिदुष्कर कार्यों से अविचलनीय व्यवसाय वाला है, वह । लच्मी के साथ पैदा होने वाले, अर्थात् जिनके उत्कर्ष का वर्णनं नहीं किया जा सकता । उन रत्नों के समग्रतया हरण में एकरस अर्थात् तत्पर जो हृदय वह सुकुमारतर उपकरण-सम्भार वाले (अर्थात् फूलों के बाण वाले) कामदेव ने प्रियाओं के बिम्बाधर में संलग्न कर दिया, अर्थात् उस कामदेव ने (उनके हृदय को) उसके अवलोकन, परिचुम्बन, दर्शनमात्र में अपने को कृतकृत्य मान लेने वाला बना दिया है। उनका हृदय, जो अत्यन्त विजयेच्छा की अप्ति से प्रज्वलित हो रहा था। यहां अतिशयोक्ति वाच्य अलङ्कार है और उपमा प्रतीयमान है। क्यों कि उनका यह वहुमान कि विम्बाधर सारे रत्नों के सारतुल्य है, वास्तव है। अतएव रूपक् व्वनि

अत्रातिशयोक्त्या हयग्रीवगुणानामवर्णनीयताप्रतिपादनरूपस्यासा-धारणतद्विशेषप्रकाशनपरस्याक्षेपस्य प्रकाशनम् ।

अर्थान्तरन्यासध्वनिः शब्दशक्तिम्लानुरणन्रूपव्यङ्गयोऽर्थशक्तिम्-

लाजुरणनरूपव्यङ्गयश्च सम्भवति । तत्राद्यस्योदाहरणम्— देव्वाएत्तम्मि फले किं कीरइ एत्तिअं पुणा भणिमो । कङ्किल्लपल्लवाः पल्लवाणे अण्णाण ण सरिच्छा ॥

यहां अतिशयोक्ति से हयग्रीव के गुणों की अवर्णनीयता-प्रतिपादनरूप, और उन (गुणों) की विशेषता प्रकाशनपरक 'आचे,प' का प्रकाशन है।

'अर्थान्तरन्यासध्वनि' शब्दशक्तिमूल अनुरणनरूप व्यङ्गय और अर्थशक्तिमूल अनुरणनरूप व्यङ्गय (इन दो प्रकारों से) सम्भव है। इनमें प्रथम का उदाहरण— 'फल विधाता के अधीन है; क्या किया जाय ? (फिर भी) इतना कहते हैं कि

रफाशोक के पञ्चव अन्य पञ्चवों के सहश नहीं होते।'

लोचनम्

नावास्तवत्वात् । तेषामसुराणां वस्तुवृत्त्यैव सादृश्यं स्फुरित । तदेव च सादृश्यं चमत्कारहेतुः प्राधान्येन् । अतिश्योक्त्येति । वाच्यालङ्काररूपयेत्यर्थः । अवर्णनीयताप्रतिपादनमेवाचेपस्य रूपिमष्टप्रतिषेधात्मकत्वात् । तस्य प्राधान्यं विशेषणद्वारेणाह्—असाधारणेति ।

सम्मवतीत्यनेन प्रसङ्गाच्छ्रब्दशक्तिमूलस्यात्र विचार इति दर्शयति । दैवायत्ते फले किं क्रियतामेतावत्युनर्भणामः । रक्ताशोकपञ्जवाः पञ्जवानामन्येषां न सदृशाः ।।

अशोकस्य फलमाम्रादिवन्नास्ति, किं क्रियतां पञ्चवास्त्वतीव हृद्या इतीयतासिधा समाप्ति । अत्र फलशब्दस्यं शक्तिवशात्समर्थकमस्य वस्तुनः पूर्वमेव
प्रतीयते । लोकोत्तरिजिगीषातदुपायप्रवृत्तस्यापि हिं फलं सम्पञ्चक्षणं देवायतं
नहीं है । क्यों कि रूपक आरोप्यमाण होने के कारण वास्तव नहीं होता । उन असुरें
के वस्तुतः हो साहश्य स्फुरित होता है । और वही साहश्य प्रधान रूप से चमत्कार का
हेतु है । अतिक्षयोक्ति से—। अर्थात् वाच्यालङ्कार रूप अतिश्योक्ति से । अवर्णनीयता
का प्रतिपादन ही आक्षेप का लक्षण है, क्यों कि (वह) इष्ट का प्रतिषेव रूप होता है।
विशेषण द्वारा उसका प्राधान्य कहते हैं—उन (गुणों) की विशेषता—।

'सम्भव है' इससे प्रसङ्ग से शब्दशक्तिमूल का यहां विचार हैं, यह दिखाते हैं। अशोक का फल आम आदि की मांति नहीं है, क्या किया जाय! परन्तु पृष्ठव अतीव हुच हैं, यहां तक अभिधा समाप्त ही है। यहां 'फल' शब्द के शक्तिवश इस विश् का समर्थक पहले ही प्रतीत होता है। लोकोत्तर विजयेच्छा और उसके उपाय में प्रवृत्तका

पदप्रकाश्रश्रायं ध्वनिरिति वाक्यस्यार्थान्तरतात्पर्येऽपि सति नं विरोधः । द्वितीयस्योदाहरणं यथा—

हिअअद्वाविअमण्णुं अवरूण्णग्रहं हि मं पसाअन्त । अवरद्धस्स वि ण हु दे पहुजाणअ रोसिउं सक्कम् ॥ (हृदयस्थापितमन्युमपरोपग्रखीमपि मां प्रसादयन्। अपराद्धस्यापि न खलु ते वहुज्ञ रोषितुं शक्यम् ॥ इति छाया)

यह ध्वनि पदप्रकाश है, इसिछए वाक्य के अर्थान्तर में तारपर्य होने पर भी विरोध नहीं है। दूसरे का उदाहरण, जैसे—

हृद्य में क्रोध स्थापित करके मुख पर क्रोध प्रकट न करनेवाली भी मुझे तुम प्रसन्न कर रहे हो, इसलिए हे बहुत समझदार, तुम्हारे अपराधी होने पर भी तुम पर क्रोध नहीं किया जा सकता।

लोचनम्

कदाचित्र भगेदपीत्येवंह्रपं सामान्यात्मकम्। नन्वस्य सर्ववाक्यस्याप्रस्तुत-प्रशंसा प्राधान्येन व्यङ्ग्या तत्कथमर्थान्तरन्यासस्य व्यङ्ग्यता, द्वयोर्युगपदेकत्र प्राधान्यायोगादित्याशङ्कृत्यात्—पदप्रकाशेति। सर्जो हि ध्वनिप्रपद्धः पदप्रकाशो वाक्यप्रकाशश्चेति वद्यते। तत्र फलपदेऽर्थोन्तरन्यासध्वनिः प्राधान्येन। वाक्ये त्वप्रस्तुतप्रशंसा। तत्रापि पुनः फलपदोपात्तसमर्थ्यसमर्थकभावप्राधान्यमेव भातीत्यर्थान्तरन्यासध्वनिरेवायमिति भावः।

हृद्ये स्थापितो न तु बहिः प्रकटितो मन्युर्यया। अत एवाप्रद्शितरोषमुखीमिप मां प्रसाद्यन् हे बहुज्ञ, अपराद्धस्यापि तव न खलु रोषकरणं
शक्यम्। अत्र बहुज्ञेत्यामन्त्रणार्थो विशेषे पर्यवसितः। अनन्तरं तु तदर्थपर्योभी सम्पत् रूप फल कदाचित् न भी हो, इस प्रकार का सामान्य रूप (समर्थक) है।
इस समग्र वाक्य का प्रधान रूप से व्यङ्गच अप्रस्तुत प्रशंसा है, तो अर्थान्तरत्यास का
व्यङ्गचत्व कैसे ? क्यों कि दोनों का एक ही समय प्राधान्य नहीं होगा, यह आशङ्का
करके कहते हैं—पद्मकाश्च—। यह कहेंगे कि सारा व्वनिप्रपञ्च पदप्रकाश और वाक्यप्रकाश होता है। वहां 'फल' पद में अर्थान्तरन्यासम्बन्ति प्रधानरूप से है। वाक्य में
अप्रस्तुत-प्रशंसा है। भाव यह कि वहां भी फिर 'फल' पद से उपात्त समर्थ्यसमर्थकभाव
का प्राधान्य ही प्रतीत होता है, अतः यह अर्थान्तरन्यासम्बन्ति है।

हृदय में स्थापित किया है न कि बाहर प्रकट किया है मन्यु (क्रोध) को जिसने। अतएव रोष को प्रदर्शित न करने वाली भी मुझे प्रसादन करता हुआ, हे बहुत समझ-दार, अपराधी होने पर भी तुम पर रोष करना शक्य नहीं। यहां 'बहुत समझदार' यह आमन्त्रणार्थ विशेष में पर्यवसित है। बाद में उसके अर्थ के पर्यालोचन से जो

१६ ध्व०

अत्र हि वाच्यविशेषेण सापराधस्यापि बहुज्ञस्य कोपः कर्तुमशक्य इति समर्थकं सामान्यमन्वितमन्यत्तात्पर्थेण प्रकाशते ।

व्यतिरेकध्वनिरप्युभयरूपः सम्भवति । तत्राद्यस्योदाहरणं प्राक्यः दिशतमेव ।

द्वितीयस्योदाहरणं यथा—
जाएज वणुदेसे खुज व्विश्व पाअवो गडिअवत्तो ।
मा माणुसम्मि लोए ताएकरसो दरिदो अ ॥
(जायेय वनोदेशे कुट्ज एव पादपो गलितपत्रः ।
मा मानुषे लोके त्यागैकरसो दरिद्रश्च ॥ इति छाया)

यहां वाच्य विशेष से 'अपराधी होने पर भी यहुत समझदार पर क्रोध नहीं किया जा सकता' यह समर्थक सामान्य तारपर्य से अन्वित अन्य (विशेष) क्रो प्रकाशित करता है।

च्यतिरेक ध्वनि भी दो प्रकार का सम्भव है। उनमें प्रथम का उदाहरण पहले दिखाया ही है। दूसरे का उदाहरण, जैसे—

जंगल के प्रदेश में ही गलितपत्र कुवड़ा बृज्ञ (वनकर) पैदा हो, पर मनुष लोक में त्याग में परायण और दरिद्र मत हो।

लोचनम्

लोचनाद्यत्सामान्यरूपं समर्थकं प्रतीयते तदेव चमत्कारकारि । सा हि खण्डिता सती वैदग्ध्यानुनीता तं प्रत्यस्यां दर्शयन्तीत्थमाह । यः कश्चिद्वहुज्ञो धूर्तः स एवं सापराघोऽपि स्वापराधावकाशमाच्छाद्यतीति मा त्वमात्मिन बहुमार्ग मिथ्या प्रहीरिति । श्रन्वितमिति । विशेषे सामान्यस्य संबद्धत्वादिति भावः।

व्यतिरेकष्वनिरपीति । अपिशब्देनाथीन्तरन्यासवदेव द्विप्रकारत्वमाह । प्राणिति । 'खं येऽत्युज्व्यलयन्ति' इति । 'रक्तस्त्वं नवपल्लवे:' इति । जायेय, वनोहेश सामान्य रूप समर्थंक प्रतीत होता है वही चमत्कारकारी है । वह खण्डिता (नावकं द्वारा) विदग्धा से अनुनय किये जाने पर उसके प्रति असूया दिखाती हुई इस प्रकार कहती है । जो कोई बहुत समझदार धूर्त है वह इस प्रकार अपराधी होकर भी अपरे अपराध का स्थान ढंकता है, इस लिए तुम अपने में मिथ्या बहुमान न रखी। अन्वित—। भाव यह कि विशेष में सामान्य सम्बद्ध होता है ।

ब्यतिरेकध्विन भो—। 'भी' शब्द से अर्थान्तरन्यास की. भांति ही दो प्रकार होती कहा है। पहछे—। 'खं येऽत्युज्ज्वलयन्ति ॰' और 'रक्तस्त्वं नवपञ्चवै: ॰' पैदा हो, बंवर्ष

अत्र हि त्यागैकरसस्य दरिद्रस्य जन्मानिमनन्दनं त्रुटितपत्रकुञ्ज-पादपजन्म।भिनन्दनं च साक्षाच्छब्दवाच्यम् । तथाविधादपि पादपा-त्तादृशस्य पुंस उपमानोपमेयत्वप्रतीपूर्वकं शोच्यतायामाधिक्यं तात्प-र्वेण प्रकाशयति । उत्श्रेक्षाध्वनिर्यथा—

> चन्दनासक्तञ्जजगिनःश्वासानिलमूर्च्छितः । मुर्च्छयत्येष पथिकान्मधौ मलयमारुतः ॥

अत्र हि मघौ मलयमारुतस्य पथिकमूच्छीकारित्वं मन्मथोनमाथ-यहां त्यागपरायण दिरद्ध (पुरुष) के जन्म का न अभिनन्दन और त्रुटितपत्र एवं कुबदे वृत्त के जन्म का अभिनन्दन सान्नात् शब्द का वाच्य है। उस प्रकार के भी वृत्त से उस प्रकार के पुरुष की उपमानोपमेय सम्बन्ध की प्रतीतिपूर्वक तात्पर्यंतः शोचनीयता का आधिक्य प्रकाशित करता है। उस्प्रेन्नाध्वनि, जैसे—

वसन्तकाल में चन्दन में लिपटे सपों की सांस की हवा से बदा हुआ यह मलयमारुत पथिक जनों को मूर्चिन्नत करता है।

यहां वसन्तकाल में मलयमारुत का पथिकमुच्छा कारी होना काम के उन्माय लोचनम

एव वनस्यैकान्ते गहने यत्र स्फुटतरबहुवृक्षसम्पत्त्या प्रेक्षतेऽपि न कश्चित् । कुब्ज इति रूपघटनादावनुपयोगी। गलितपत्त्र इति। ख्रायामपि न करोति तस्य का पुष्पफलवत्तेत्यभिप्रायः। तादृशोऽपि कदाचिदाङ्गारिकस्योपयोगी भवेदुल्का-दीनां वा निवासायेति भावः। मानुष इति । सुलभार्थिजन इति भावः। लोक इति। यत्र लोक्यते सोऽर्थिभिस्तेन चार्थिजनो न च किंचिच्छक्यते कर् तन्महृद्देशसमिति भावः। अत्र वाच्यालङ्कारो न कश्चित्। उपमानेत्यनेन मार्गपरिशुद्धि करोति । स्राधिक्यमिति । व्यतिरेकमित्यर्थः । के प्रदेश में ही, वन के एकान्त गहन में जहां स्पष्ट रूप से बहुत बुक्षों के कारण कोई दिसाई नहीं देता । कुबड़ा अर्थात् रूपघटना आदि के सम्बन्ध में अनुपयोगी। गिळितपत्र—। अभिप्राय यह कि छाया भी नहीं करता है उसके पुष्पित-फिल्त होने की वात ही कौन ? माव यह कि उस प्रकार का भी (वृक्ष) कदाचित् आङ्गारिक के उपयोग में आ जाय अथवा उल्लू पक्षियों के निवास के लिए हो। मनुष्य-। भाव यह कि जहां अधिजन सुलम हैं। लोक—। भाव यह कि जहां अधिजनों से वह और उससे अधिजन देखे जाते हैं, (वहां यदि) नहीं कुछ कर सकते हैं तब वह बड़ा अपराध है। यहां कोई वाच्य अलङ्कार नहीं है। 'उपमान' इसके द्वारा व्यतिरेक के मार्ग का परिशोधन करते हैं। आधिक्य-। अर्थात् व्यतिरेक। उत्प्रेचा की है-। क्यों कि विषवात से

दायित्वेनैव । तत्तु चन्द्रनासक्तभ्रजगिनःश्वासानिलमूर्च्छितत्वेनोत्त्रेश्वि-तमित्युत्त्रेश्वा साक्षाद् नुकापि वाक्यार्थसामध्यीद नुरणनरूपा लक्ष्यते । न चैवंविधे विषये इवादिशब्द प्रयोगमन्तरेणासंबद्धतैवेति शक्यते वक्तुम्। गमकत्वादन्यत्रापि तदप्रयोगे तदर्थावगितदर्शनात् । यथा —

देने वाला होने के कारण ही है, परन्तु उसे चन्दन में लिपटे हुए सपों की सांस की हवा से बढ़े होने (मूर्चिंछत होने) के कारण उत्प्रेचा की है, इस प्रकार साचात् अनुक भी उत्प्रेचा वाच्यार्थ की सामर्थ से अनुरणन रूप में लिचित होती है। इस प्रकार के विषय में 'इव' आदि शब्दों के प्रयोग के विना असम्बद्धता ही है, यह नहीं स् सकते, क्योंकि गमक हैं, अन्यन्न भी उनका प्रयोग न होने पर उनके अर्थ का ज्ञान देखा जाता है। जैसे—

लोचनम्

उसित्तिमिति । विपवातेन हि मूर्च्छ्रतो वृंहित उपचितो मोहं करोति । एकश्च मूर्च्छतः पथिकमध्येऽन्येपामि धैयंच्युति विद्धनपुच्छाँ करोतीतीत्युभयथो-द्रोक्षा । नन्वत्र विशेषणमधिकीभवद्धेतुतयैव सङ्गच्छ्रते । ततः किं ? न हि हेतुता परमार्थतः । तथापि तु हेतुता उत्प्रेच्यत इति यत्किञ्चिदेतत् । तिति । तस्ये-वादेरप्रयोगेऽपि तस्यार्थस्येत्युत्प्रेक्षारूपस्यावगतेः प्रतीतेद्शानात् । एतदेवोदाह-रित-यथेति । ईर्ष्याकलुषस्यापीषद्रुणच्छायाकस्य । यदि तु प्रसन्नस्य मुखस् साह्ययमुद्धहेत्सर्वदा वा तिकं कुर्यात्त्वनमुखं त्वेतद्भवतीति मनोरथानामप्यपक्ष मिदमित्यपिशव्दस्याभिप्रायः । अङ्ग स्वदेहे न मात्येव दश दिशः पूरयित यतः। अर्थेयता कालेनैकं दिवसमात्रमित्यर्थः । अत्र पूर्णचन्द्रेण दिशां पूरणं स्वरस् सिद्धमेवसुक्षेद्यते ।

मूर्ज्ञित बृंहित या उपचित होकर मोह उत्पन्न करता है। और एक मूर्ज्ञित होकर पिथकों के बीच अन्य लोगों का भी धैयें ज्युत करता हुआ मुच्छा करता है, इस प्रकार दोनों प्रकार से उत्प्रेक्षा है। शंका करते हैं कि यहां विशेष अधिक होने के कारण हैं। हम से संगत होता है। (समाधान देते हैं) कि तो क्या ? परमार्थतः हेतुत्व नहीं है। तब भी हेतुत्व उत्प्रेक्षित होता है, अतः यह कुछ ही है। उनका—। क्योंकि उन 'इव' आदि के प्रयोग न होने पर भी उत्प्रेक्षारूप उस अर्थ की अवगति या प्रतीति देखी जाती है। इसका ही उदाहरण देते हैं—जैसे—। ईर्ष्या से कछुव अर्थात् ईषदरण छाषा वाला भी। परन्तु यदि प्रसन्न मुख का साहस्य धारण करता तो सब समय क्या कर डाळता। तेरा मुख यह होता है (अर्थात् चन्द्र होता है) यह बात मनोर्यों का भी विषय नहीं हो सकती, यह 'भी' (अपि) शब्द का अभिप्राय है। अर्झ में अर्थात् अपनी देह में नहीं समाता है जिस कारण दस दिशाओं को पूरित करता है। आर्

ईसाऽकछसस्स वि तुह सुहस्स णं एस पुण्णिमाचन्दो । अज सरिसत्तणं पाविऊण अङ्गे विअ ण माइ ॥ (ईर्ष्योकछपस्यापि तव सुखस्य नन्वेष पूर्णिमाचन्द्रः । अद्य सद्दश्तवं प्राप्याङ्ग एव न माति ॥ इति छाया)

यथा वा--

त्रासाकुलः परिपतन् परितो निकेतान् पुंभिनं कैश्चिदपि धन्विभिरन्वबन्धि। तस्यौ तथापि न मृगः कचिदङ्गनाभि राकर्णपूर्णनयनेपुहतेक्षणश्चीः॥

यह पूर्णिमाचन्द्र ईर्प्या से कछुप भी तुम्हारे मुख का आज साहरय पाकर मानी अपने अङ्ग में ही नहीं समाता है।

अथवा जैसे-

भय से ब्याकुल, चारों ओर घरों में दौड़ते हुए हिरन को किन्हीं धनुर्धारी पुरुषों ने नहीं पीछ़ा किया, तथापि वह मानों कहीं अङ्गनाओं द्वारा कान तक खींचे हुए नेत्र के वाण से आंखों की शोभा के नष्ट हो जाने के कारण कहीं नहीं ठहरा।

लोचनम्

ननु ननुशब्देन वितर्कोत्प्रेक्षारूपमाचक्षायोनासम्बद्धता निराकृतेति सम्भान्यमान उदाहरणान्तरमाह—यथा नैति । परितः सर्वतो निकेतान् परिपतनाक्र-मन्न कैश्चिद्पि चापपाणिभिरसौ मृगोऽनुबद्धस्तथापि न कचित्तस्यौ त्रासचाप-लयोगात्स्वामाविकादेव । तत्र चोत्प्रेक्षा ध्वन्यते—अङ्गनाभिराकर्णपूर्णैर्नेत्रशरैहता ईश्चणश्रीः सर्वस्वभूता यस्य यतोऽतो न तस्यौ । नन्वेतद्प्यसम्बद्धमस्त्रित्या-अर्थात् इतने समय से एक दिन मात्र । यहां स्वभावतः सिद्ध पूर्णचन्द्र द्वारा दिशाओं का पूरण इस प्रकार उत्प्रेक्षित होता है ।

'मानों' (ननुं) इस शब्द से वितर्क रूप उत्प्रेक्षा का अभिघान करते हुए 'अस-म्बद्धता निराकरण की गई है' यह सम्भावना करते हुए दूसरा उदाहरण कहते हैं— अथवा जैसे—। चारों ओर घरों में दौड़ता अर्थात् चौकड़ी भरता हुआ यह मृग किसी धनुषारी से पीछा नहीं किया गया तथापि कहीं नहीं ठहरा भय के कारण स्वाभाविक चापलयोग से ही। वहां उत्प्रेक्षा ध्वनित हो रही है कि अञ्जनाओं के कान तक खींचे हुए नेत्रबाणों से सर्वस्वभूत जिसकी नेत्रशोभा हत हो गई है। जिस कारण उस कारण

शब्दार्थव्यवहारे च प्रसिद्धिरेव प्रमाणस् ।

श्लेषध्वनिर्यथा-

रम्या इति प्राप्तवतीः पताकाः रागं विविक्ता इति वर्धयन्तीः। यस्यामसेवन्त नमद्वलीकाः समं वधूभिर्वलभीर्धुवानः।।

शब्द और अर्थ के व्यवहार में प्रसिद्धि ही प्रमाण है।

रलेपध्वनि, जैसे-

जिस (द्वारका नगरी) में युवक छोग सुन्दर होने के कारण प्रसिद्धि को प्रक् एकान्त या पवित्र होने के कारण राग को वदाने वाछी एवं सुकी जाती हुई त्रिविष्ठ वाछी वधुओं के साथ, रम्य होने के कारण पताकाओं से युक्त, एकान्त होने से राग (सम्मोग की अभिछाप) वदाने वाछी, सुके हुए छुजों वाछी वछिभयों (निजी वासगृहों) का सेवन करते थे।

लोचनम्

राङ्क-याह--राब्दार्थेति । पताका ध्वजपटान् प्राप्तवती । रम्या इति हेतोः। पताकाः प्रसिद्धीः प्राप्तवतीः। किमाकाराः प्रसिद्धीः रम्या इत्येवमाकाराः। विविका जनसङ्कलत्वाभावादित्यतो हेतो रागं सम्भोगाभिलाषं वर्धयन्ती। अन्ये तु रागं चित्रशोभामिति । तथा रागमनुरागं वर्धयन्तीः । यतो हेर विविक्ता विभक्ताङ्गचो लटभाः याः। नमन्ति वलीकानि छदिपर्यन्तमा यासु । नमन्त्यो वल्ल्यस्त्रिवलीलक्षणा यासाम् । समिमति सहेत्यर्थः। ननु सम श्ब्दाचुल्यार्थोऽपि प्रतीतः। सत्यम् ; सोऽपि श्लेषबलात्। श्लेषश्च नाभिष वृत्तेराक्षिप्तः, अपि त्वर्थसौन्द्र्यवलादेवेति सर्वथा ध्वन्यमान एव श्लेषः। अव नहीं ठहरा। यह भी असम्बद्ध है यह आशङ्का करके कहते हैं - शब्द और अर्थ-पताका अर्थात् ब्वजपटों को प्राप्त करती हुई। रम्य होने के कारण। पताका अर्थात् प्रसिद्धियां प्राप्त करती हुई। किस आकार की प्रसिद्धियां ? रम्य आकार की। विकि अर्थात् लोगों को भीड़-भाड़ न होने के कारण राग अर्थात् सम्भोग की अभिलाषा बड़ाती हुई। दूसरे (कहते हैं) राग अर्थात् चित्रशोभा। उस प्रकार राग अर्थात् अतृराग बढ़ाती हुई। जिस कारण से विविक्त अर्थात् विभक्त अङ्गों वाली लटभाएं (सुन्दिरियां)। मुक रहे हैं वलीक अर्थात् छज्जे जिनमें। झुक रही हैं विलयां अर्थात् त्रिविलयां जिनकी। समं (सायं) अर्थात् साथ । शंका करते हैं कि 'सम' शब्द 'तुल्य' अर्थ में भी मार्श्न है ? (समाघान करते हैं कि) ठीक है, वह भी रलेष के बल से (अर्थात् यहां समें का तुल्य अर्थं भी रलेश के बल से है प्रतीत होगा)। और रलेष (यहां) अभिधावृति है आक्षिप्त नहीं, अपितु अयंसीन्दर्य के बल से ही (आक्षिप्त है), इस लिए सर्वया है

अत्र वधूभिः सह वलभीरसेवन्तेति वाक्यार्थप्रतीतेरनन्तरं वध्व इव वलभ्य इति श्लेषप्रतीतिरश्चव्दाप्यर्थसामध्यीनमुख्यत्वेन वर्तते । यथासङ्ख्यध्वनिर्यथा—

अङ्करितः पछवितः कोरिकतः पुष्पितश्च सहकारः।

यहां 'वधुओं के साथ वरूभियों की सेवा की' इस वाक्यार्थ की प्रतीति के अनन्तर 'वधुओं के समान वरूभी' इस रहेप की प्रतीति शब्दजनित न होकर भी अर्थसामर्थ्य से मुख्य रूप में होती है।

यथासंख्यध्वनि, जैसे--

आम्रवृत्त अङ्करित, पञ्जवित, कोरिकत और पुष्पित हुआ और हृदय में मदन

लोचनम्

एव वध्य इव वलभ्य इत्यभिद्धतापि वृत्तिकृतोपमाध्वनिरिति नोक्तम् । श्लेपस्यैवात्र मूलत्वात् । समा इति हि यदि स्पष्टं भवेत्तदोपमाया एव स्पष्टत्वाच्छलेपस्तदाक्षितः स्यात् । सममिति निपातोऽख्वसा सहार्थवृत्तिव्यं ख्रकत्ववलेनैव
क्रियाविशेषणत्वेन शव्दश्लेषतामेति । न च तेन विनामिधाया अपिरपुष्टता
काचित् । अत एव समाप्तायामेवाभिधायां सहृद्येरेव स द्वितीयोऽर्थोऽपृथक्प्रयत्नेनैवावग्रस्यः । यथोक्तं प्राक्—'शव्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव' इत्यादि । एतच्च
सर्वोदाहर्गोप्वनुसर्वव्यम् । 'पीनश्चेत्रो दिया नात्ति' इत्यत्रामिधवापर्यवसितेति
सैव स्वार्थनिर्वाहायार्थान्तरं शब्दान्तरं वाकर्षतीत्यनुमानस्य श्रुतार्थापत्तेर्वा
तार्किकमीमांसकयोर्न ध्वनिप्रसङ्ग इत्यत्नं बहुना । तदाह—श्रग्रस्दापीति ।

ध्व-यमान ही है। इसी लिए 'वधुओं के समान वल भी' यह कहते हुए भी वृत्तिकार ने 'जपमाध्विन' यह नहीं कहा, क्यों कि यहां रलेख ही मूल है। यदि ('समं' के स्थान पर) 'समाः' यह स्पष्ट हो जाय तव उपमा के स्पष्ट हो जाने से रलेख उसके द्वारा आक्षिप्त होता। 'समं' यह निपात झटिति 'साथ' अर्थ का बोध करके व्यञ्जकत्व के बल से ही कियाविशेषण होने के कारण शब्दरलेखत्व को प्राप्त कर लेना है। उसके विना अभिधा का कोई अपरिपोध नहीं होता। अतएव अभिधा के समाप्त होने पर ही सहदयों के ही वह दूसरा अर्थ विना पृथक् प्रयत्न के अवगत होता है। जैसा कि पहले कहा है— 'शब्द और अर्थ के शासन के ज्ञानमात्र से ही०' इत्यादि। यह सब उदाहरणों में समझ लेना चाहिए। 'मोटा चैत्र (नाम का व्यक्ति) दिन में भोजन नहीं करता है' यहां अभिधा ही पर्यवसित न होकर अपने अर्थ के निर्वाह के लिए (रात्रिभोजनरूप) दूसरे अर्थ या ('रात्रि में भोजन करता है') इस रूप शब्द को आकृष्ट करती है, इस प्रकार अनुमान के अथवा श्रुतार्थापत्ति के होने से तार्किक या मीमांसक के मत में ध्विन का प्रसन्न नहीं है, इत्यलं बहुना। तो कहते हैं—शब्द ज्ञिनत न होकर भी—। इस प्रकार

अङ्करितः पल्लवितः कोरिकतः पुष्पितश्च हृदि मदनः ॥ अत्र हि यथोदेशमनूदेशे यचारुत्वमनुरणनरूपं मदनविशेषण भूताङ्करितादिशब्दगतं तन्मदनसहकारयोस्तुल्ययोगितासमुचयलक्षणाः द्वाच्यादितरिच्यमानमालक्ष्यते। एवमन्येऽप्यलङ्कारा यथायोगंयोजनीयाः। अङ्करित, पञ्चवित, कोरकित और पुष्पित हुआ।

यहां पहले क्रम के अनुसार दूसरे क्रम में जो अनुरणन रूप चारुख मदन है विशेषमूत अङ्करित आदि शब्द में प्रतीत होता है वह मदन और आम्रवृत्त के कु योगिता या समुचयरूप वाच्य से अधिक (चारुत्वपूर्ण) दिखाई देता है। प्रकार अन्य अलङ्कार भी, जहां जैसा उचित हो, योजन कर लेने चाहिए॥ २७॥

लोचनम्

एवमन्येऽपीति । सर्वेषामेवार्थालङ्काराणां ध्वन्यमानता दृश्यते । यथा व दीपकध्वनि:-

> मा भवन्तमनलः पवनो वा वारणो मदकलः परश्चर्वा। वस्रमिन्द्रकरविप्रसृतं वा स्वस्ति तेऽस्तु लतया सह वृक्ष ॥

इत्यत्र बाधिष्टेति गोप्यमानादेव दीपकाद्त्यन्तस्नेहास्पद्त्वप्रतिपत्त्या चार त्वनिष्पत्तिः। अप्रस्तुतप्रशंसाध्वनिर्पि-

ढुण्डुझन्तो मरिहिसि कण्टअकलिआई केअइवणाई। मालइकुसुमसरिच्छं भमर भमन्तो ण पाविहिसि।।

प्रियतमेन साकमुद्याने विहरन्ती काचित्रायिका भ्रमरमेवमाहेति मुङ्गस् मिघायां प्रस्तुतत्वमेव । न चामन्त्रणाद्प्रस्तुतत्वावगतिः, प्रत्युतामन्त्रणं तस् मौग्ध्यविज्वृम्भितमिति अभिधया तावन्नाप्रस्तुतप्रशंसा समाप्या। समाप्ता अन्य मी-। सभी अर्थालङ्कारों की ध्वन्यमानता देखी जाती है। जैसे दीपकध्वनि-

हे वृक्ष तुम्हें अनल, या पवन, या मतवाला हाथी, या परशु या इन्द्र के हा^{ब हे} छोड़ा हुआ वज्र मत (वाधित करे), लता के साथ तुम्हारां कल्याण हो ।

यहां 'बाधित करे' इस छिपाए जाते हुए ही 'दीपक' से अत्यन्त स्नेह के बास्प होने की प्रतीति के द्वारा चारुत्व की निव्यत्ति होती है। 'अप्रस्तुतप्रशंसाध्वनि' भी-

है अमर कंटीले केतकी के बनों को बुंढता-बूंढता तू मर जायगा पर घूमता हुन

मालती के पुष्प के सहश को नहीं प्राप्त करेगा।

प्रियतम के साथ उद्यान में विहार करती हुई किसी नायिका ने भौरे से इस प्रका कहा, इस प्रकार भौरा अभिषा में प्रस्तुत ही है। आमन्त्रण के कारण (भौरा के अप्रस्तु होने का) ज्ञान नहीं होता (अर्थात् यह कहना कि भौरा का आमंत्रण सम्भव ती अतः निश्चय ही वह अप्रस्तुत है, ऐसी बात नहीं) बल्कि आमन्त्रण उस (नायिका) के मुम्पता का विज्वस्मित है इसलिए अभिधा से अप्रस्तुतप्रशंसा समाप्त नहीं की

लोचनम्

पुनरिभधायां वाच्यार्थवलाद्न्यापदेशता ध्वन्यते । यत्सीभाग्याभिमानपूर्णो सुकुमारपरिमलमालतीकुसुमसदृशी कुलवधूर्निव्योजप्रेमपरतया कृतकवैद्ग्ध्य-लब्धप्रसिद्धः चित्रायानि शम्भलीकण्टकव्याप्तानि दूरामोद्केतकीवनस्थानीयानि वेश्याकुलानीतस्र्रेतस्र चक्र्यूर्यमाणं प्रियतमसुपालभते । अपह्नुतिध्वनिर्यथास्मदु-पाध्यायभट्टेन्दुराजस्य—

यः कालागुरुपत्त्रभङ्गरचनावासैकसारायते गौराङ्गीकुचकुम्भभूरिसुभगाभोगे सुघाधामनि । विच्छेदानलदीपितोत्कवनिताचेतोधिवासोद्भवं सन्तापं विनिनीषुरेष विततैरङ्गैर्नताङ्गि स्मरः ॥

अत्र चन्द्रमण्डलमध्यवर्तिनो लच्मणो वियोगाप्तिपरिचितवनिताहृद्योदितप्लोपमलीमसच्छितमन्मथाकारतयापह्नवो ध्वन्यते । अत्रैव ससन्देहध्वनिः—
यतश्चन्द्रवर्तिनस्तस्य नामापि न गृहीतम् । अपि तु गौराङ्गीस्तनाभोगस्थानीये
चन्द्रमसि कालागुरुपञ्चभङ्गविच्छित्त्यास्पद्दवेन यः सारतामुरुष्ट्रप्टतामाचरतीति तन्न जानीमः किमेतद्वस्तिविति ससन्देहोऽपि ध्वन्यते । पूर्वमनङ्गीकृतप्रणयामनुत्रतां विरहोत्कण्ठितां वज्ञभागमनप्रतीक्षापरत्वेन कृतप्रसाधनादिविधितया वासकसन्जीभूतां पूर्णचन्द्रोद्यावसरे दूतीमुखानीतः प्रियतमस्त्वहीय-

सकती। फिर अभिघा के समाप्त होने पर वाच्यार्थ के बल से अन्यापदेशता घ्वनित होतीं है कि सौभाग्य के अभिमान से भरी, सुकुमार एवं परिमल वाली मालती के पुष्प के सहश कुलवधू अपने निरुष्ठल प्रेम की तल्लीनता से प्रियतम को उलाहना देती है जो अपने कृत्रिम वैदग्ध्य से अतिशय प्रसिद्धिप्राप्त, कुट्टनियों के कंटकों से भरे, एवं दूर तक फैली सुरिभ वाले केतकी-वनों के सहश वेश्याकुलों में इधर-उधर भटका करता है।

अपह्नुतिध्वनि, जैसे हमारे उपाध्याय भट्ट इन्दुराज का-

जो (क़ामदेव) गोरे अङ्गों वाली (नायिका) के समान विशेष विस्तार वाले सुधा के धाम, अर्थात् चन्द्रमा में कालागुरु की पत्रमङ्ग की रचना के रूप में सार (अर्थात् उत्कृष्ट) हो रहा है वह, हे नताङ्गि, वियोगाप्ति से प्रदीप्त उत्किष्ठित विताओं के चित्त में रहने से उत्पन्न सन्ताप को वितत अङ्गों से निवारण करना चाहता है।

यहां चन्द्रमण्डल के बीच रहने वाले चिह्न का, वियोग की अग्नि में पके विनता के द्दय से उत्पन्न ज्वाला से मिलन कान्ति वाले कामदेव के आकार के रूप में अपह्नव ध्वनित हो रहा है। यहां ही 'ससन्देहध्वनि' है—क्योंकि चन्द्र में रहने वाले उस (चिह्न) का नाम भी नहीं लिया है, बिल्क गोरे अङ्गों वाली के स्तन-विस्तार के सहश्च चन्द्रमा में कालागुरु की पत्रभञ्ज-विच्छिति के आस्पद रूप में. सारता अर्थात् उत्कृष्टता का आचरण कर रहा है, हम नहीं जानते कि यह क्या वस्तु है, इस प्रकार 'ससन्देह' भी ध्वनित हो रहा है। पहले प्रणय को स्वीकार नहीं किया, बाद में अनुतप्त, विरह से उत्कृष्टित, प्रिय के आगमन की प्रतीक्षा में संलग्न होने के कारण बनाव-सिगार के

लोचनम्

कुचकलशन्यस्तकालागुरुपञ्चभङ्गरचना मन्मथोद्दीपनकारिणीति चादुकं हुर्वा-णश्चन्द्रवर्तिनी चेयं कुवलयदलश्यामलकान्तिरेवमेव करोतीति प्रतिवस्तूपमा-ध्वनिरिप । सुधाधामनीति चन्द्रपर्यायतयोपात्तमिप पदं सन्तापं विनिनीपुरित्यत्र हेतुतामिप व्यनक्तीति हेत्वलङ्कारध्वनिरिप । त्वदीयकुचशोभा मृगाङ्कशोमा च सह मदनमुद्दीपयत इति सहोक्तिध्वनिरिप । 'त्वत्कुचसदृशश्चनद्रश्चनद्रसम-म्त्वत्कुचाभोगः' इत्यर्थप्रतीतेकपमेयोपमाध्वनिरिप । एवमन्येऽप्यत्र भेदाः शक्योत्प्रेक्षाः । महाकविवाचोऽस्याः कामधेनुत्वात् । यतः—

हेलापि कस्यचिद्चिन्त्यफलप्रस्ये कस्यापि नालमणवेऽपि फलाय यहः। दिग्दन्तिरोमचलनं धरणीं धुनोति खात्सम्पतन्नपि लतां चलयेन्न भृङ्गः॥ एषां तु भेदानां संसृष्टिःवं सङ्करत्वं च यथायोगं चिन्त्यम्। अतिशयोक्ति

ध्वनिर्यथा ममैव-

केलीकन्द्रलितस्य विश्रममधोर्धुर्यं वपुस्ते दृशी मङ्गीमङ्गुरकामकार्मुकमिदं श्रूनर्मकर्मक्रमः।

विधान से वासकसज्जा वनी हुई (नायिका) को पूर्ण चन्द्र के उदय के अवसर में दूती के द्वारा लाया गया प्रियतम तुम्हारे कुचकलश में लगी हुई पत्रभङ्गरचना काम को उद्दीप्त करने वाली हैं यह चादु (चापलूसी) करते हुए और चन्द्र में रहने वाली यह कुबलयदल के समान स्थामल कान्ति इसी प्रकार (काम को उद्दीप्त) करती है, यह 'प्रतिवस्तूपमा ध्वनि' भी है। 'सुधा का धाम' यह चन्द्र के पर्याय के रूप में उपात होकर भी 'सन्ताप को निवारण करना चाहता है' इसमें हेतुभाव को व्यक्त करता है, इस प्रकार 'हेतु' अलङ्कार का ध्वनि भी है। तुम्हारे स्तनों की शोभा और मृगाङ्क चन्द्र की शोभा एक साथ काम को उद्दीप्त करती हैं, यह सहोक्तिध्विन भी है। तुम्हारे स्तन के सदश चन्द्र है और चन्द्र के सदश तुम्हारा कुचाभोग है, इस अर्थ की प्रतीति होने से 'उपमेयोपमाध्विन' भी है। इस प्रकार यहां अन्य भी भेद उत्प्रेक्षित हो सकते हैं। क्यों कि यह महाकवि की वाणी कामधेनु होती है। क्योंकि—

किसी की लीला (मात्र) भी वह काम कर देती है जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती और यत्न कुछ भी काम नहीं कर पाता। दिग्गज के रोम का कम्पन घरती को कम्पित कर डालता है, परन्तु भीरा आकाश से गिर कर भी लता को नहीं हिला पाता।

इन भेदों का संपृष्टित्व और सङ्करत्व यथोचित रूपसे समझ लेने चाहिए। 'अर्ति-शयोक्तिध्वनि', जैसे मेरा ही—

विलासी जनों की कीड़ा से अङ्करित होने वाले विश्वमवसन्त के कार्यभार की भारण करने वाला शरीर तेरी आंखें हैं, यह कामदेव का रचना विशेष से टेढ़ा धरुष तेरी भी के लीलाकमें का प्रकार है। तेरे मुखकमल में विद्यमान आसव (मद्य) कुछ भी

एवमलङ्कारध्वनिमार्गं व्युत्पाद्य तस्य प्रयोजनवत्तां ख्यापयि-तुमिदम्रच्यते—

इस प्रकार अलङ्कारध्विन का आर्ग वता कर उसे सप्रयोजन वताने के लिए यह कहते हैं-

लोचनम्

आपातेऽपि विकारकारणमहो वक्त्राम्बुजन्मासवः सत्यं सुन्दरि वेधसिख्जगतीसारस्त्वमेकाकृतिः॥

अत्र हि मधुमासमद्नासवानां त्रैलोक्ये सुभगतान्योन्यं परिपोधकत्वेन । ते तु त्विय लोकोत्तरेण यपुषा सम्भूय स्थिता इत्यितशयोक्तिर्ध्वन्यते । आपातेऽ-पि विकारकारणिमत्यास्वादपरम्पराक्रिययापि विना विकारात्मनः फलस्य सम्पितिरिति विभावनाध्वनिरिप । विभ्रममधोर्धुर्यमिति तुल्ययोगिताध्वनिरिप । एवं सर्वालङ्काराणां ध्वन्यमानत्वमस्तीति मन्तव्यम् । न तु यथा कैश्चिन्नियतविषयी-कृतम् । यथायोगिमिति (१० २९६) । कचिदलङ्कारः कचिद्वस्तु व्यञ्जकमित्यर्थो योजनीय इति ॥

नन्कास्ताविष्यरन्तनैरलङ्कारास्तेषां तु भवता यदि व्यङ्गश्रत्वं प्रदर्शितं किमियतेत्याशङ्कश्राह—एविन्यादि । येषामलङ्काराणां वाच्यत्वेन शरीरीकरणं शरीरमूतात्प्रस्तुतादर्थोन्तरभूततया अशरीराणां कटकादिस्थानीयानां शरीरता-

आस्वाद कर लेने पर (विभिन्न) विकारों को उत्पन्न कर देता है, ठीक है, हे सुन्दरि, तेरे एक रूप में विधाता के तीनों जगत का सार है।

यहां वसन्त, काम और मद्य ये तीनों त्रैलोक्य में एक दूसरे के परिपोषक होने के कारण सुभग हैं। वे तुझमें लोकोत्तर शरीर से मिल कर विद्यमान हैं, यह अतिशयोक्ति ध्वनित हो रही हैं। 'कुछ आस्वाद कर लेने पर ही विकारों को उत्पन्न कर देता हैं' यहां लगातार आस्वाद के बिना हुए ही विकार रूप फल का लाभ है, इस प्रकार विभावनाध्विन भी हैं। 'विभ्रम-वसन्त के कार्यभार को धारण करने वाला' यहां 'तुल्य-योगिताध्विन' भी हैं। इस प्रकार यह मानना चाहिए कि सब अलङ्कार ध्वनित होते हैं, ऐसा नहीं कि किसी ने विषय नियत कर दिया हैं (कि सिर्फ इतने ही अलङ्कार ध्वनित होते हैं, अन्य नहीं)। यथोचित रूप से। कहीं अलङ्कार व्यञ्जक होता है तो कहीं वस्तु' यह अर्थ लगाना चाहिए।। २७।।

प्राचीनों ने अलङ्कार कहे हैं, यदि उन (अलङ्कारों) का व्यङ्गयत्व आपने दिखाया तो इतने से क्या ? यह आशङ्का करके कहते हैं—'इस प्रकार' इत्यादि । जिन अलं-कारों का वाच्य रूप से शरीर रूप होना (शरीरीकरण) अर्थात् शरीरसूत प्रस्तुत से अर्थान्तर रूप होने के कारण 'कटक' आदि की भांति शरीर भिन्न का शरीरतापादन

शारीरीकरणं येषां वाच्यत्वे न व्यवस्थितम् । तेऽलङ्काराः परां छायां यान्ति ध्वन्यङ्गतां गतः ॥ २८॥ ध्वन्याङ्गता चोमाभ्यां प्रकाराभ्यां व्यञ्जकत्वेन व्यङ्गयत्वेन च। तत्रेह प्रकरणाद्यङ्गयत्वेनेत्यवगन्तव्यम् । व्यङ्गयत्वेऽप्यलङ्काराणां प्राधान्यविवक्षायामेव सत्यां ध्वनावन्तःपातः । इतरथा तु गुणीभृतव्यङ्गव्यं प्रतिपाद्यिष्यते ॥ २८ ॥

बार्य रूप से जिनका शरीर रूप होना माना जाता है, वे अरुङ्कार ध्वि । अङ्ग होकर अधिक शोभा लाम करते हैं ॥ २८ ॥

ध्वन्यङ्गता दो प्रकार से होती है, व्यक्षक होने से और व्यङ्गय होने से। उन्नें यहां प्रकरणवश 'व्यङ्गय होने' से ध्वन्यङ्गता समझनी चाहिए। व्यङ्गय होने पर भी वर अलङ्कारों के प्राधान्य की विवचा होगी तभी ध्वनि में (उनका) अन्तःपात होगा। अन्यथा, गुणीभूतव्यङ्गयत्व का प्रतिपादन करेंगे॥ २८॥

लोचनम्

पादनं व्यवस्थितं सुकतीनामयन्नसम्पाद्यतया । यदि वा वाच्यत्वे सित येषं शारीरतापादनमि न व्यवस्थितं दुर्घटमिति याषत् । तेऽलङ्कारा ध्वनेव्यीपारस्य काव्यस्य वाऽङ्गतां व्यङ्गश्रहपतया गताः सन्तः परां दुर्लभां छायां कान्तिमा सक्तः परां दुर्लभां छायां कान्तिमा सक्तः परां दुर्लभां छायां कान्तिमा सक्तां यान्ति । एतदुक्तं भवति — सुकविविद्ग्धपुरन्ध्रीवद्भूषणं यद्यपि श्रिं योजयित, तथापि शरीरतापत्तिरेवास्य कष्टसम्पाद्या कुङ्कमपीतिकाया इव । आत्रधानभूतापि । एवम्भूता चेयं व्यङ्गश्रता या अप्रधानभूतापि वाच्यमात्रालङ्कारेभ्य उत्कर्षमलङ्काराणां वितरित ।

बालक्रीडायामपि राजत्विमवेत्यमुमर्थं मनसि कृत्वाह्-इतरथा त्विति ॥२५॥

सुकवियों के द्वारा अयत्नसम्पाद्य होने के कारण व्यवस्थित है। अथवा यदि वाच्य होने पर जिनका शरीरतापादन भी नहीं बन सकता। वे अलङ्कार घ्विन के व्यापार की अथवा काव्य की व्यङ्गय के प्रकार से अङ्गता को प्राप्त होते हुए दुर्लभ छाया अर्थार कान्ति प्राप्त करते हैं, आत्मा रूप हो जाते हैं। बात यह कही गई—यद्यपि सुकवि विदग्ध पुरन्त्री की मांति श्विष्ट (एक में एक सक्त) योजना करता था, तथापि कुंक के पीलापन की मांति इस (उपमा आदि अलङ्कार) का शरीरतापादन की बहुत कह से हो पाता है। इस प्रकार की यह व्यङ्गयता, जो अप्रधानमूत होकर भी वाच्यमा जो अलङ्कार है उनसे अलङ्कारों का ज्यादा उत्कर्ष वितरण करती है।

'लड़कों की कीड़ा में राजपने की भांति' यह बात मन में रख कर कहते हैं अन्यथ — ॥ २८॥

अङ्गित्वेन व्यङ्गयतायामपि, अलङ्काराणां द्वयी गतिः-कदाचि-द्वस्तुमात्रेण व्यज्यन्ते, कदाचिदलङ्कारेण ।

तत्र—

व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण यदालङ्कृतयस्तया । ध्रुवं ध्वन्यङ्गता तासाम् अत्र हेतः—

काञ्यवृत्तिस्तदाश्रया॥ २९॥

यस्मात्तत्र तथाविधव्यङ्गचालङ्कारपरत्वेनैव काव्यं प्रवृत्तम्। अन्यथा तु तद्वाक्यमात्रमेव स्यात् ॥ २९ ॥

तासामेवालङ्कृतीनाम्—

अलङ्कारान्तरच्यङ्गयभावे

अङ्गो (अर्थात् प्रधान) रूप से व्यङ्गय होने पर भी अलङ्कारों की दो गति है— कभी वस्तुमात्र से व्यक्षित होते हैं, कभी अलङ्कार से ।

उनमें—

जव वस्तुमात्र से अलङ्कार व्यक्षित होते हैं तब उनकी ध्वन्यङ्गता ध्रुव है— यहां कारण—

काब्य की प्रवृत्ति उसके ही आश्रित है ॥ २९ ॥

क्योंकि वहां उस प्रकार के व्यङ्गय अछङ्कार के तात्पर्य से ही काव्य प्रवृत्त है। अन्यथा वह वाक्यमात्र ही होता।

उन्हीं अलङ्कारों की-

अलङ्कारान्तर के व्यङ्गव होने पर

लोचनम्

तत्रेति । द्वय्यां गतौ सत्याम् । अत्र हेतुरित्ययं वृत्तिप्रन्थः । काव्यस्य कवि-व्यापारस्य वृत्तिस्तदाश्रयालङ्कारप्रवणा यतः । श्रव्यथेति । यदि न तत्परत्व-मित्यर्थः । तेन तत्र गुणीभूतव्यङ्ग-चता नैव शङ्कचेति तात्पर्यम् । तासामेवा-लङ्कृतीनामित्ययं पठिष्यमाणकारिकोपस्कारः । पुनरिति कारिकामध्य उप-स्कारः । ध्वन्यङ्गतेति । ध्वनिभेदत्वमित्यर्थः ।

उनमें—। दो स्थितियों के होने पर । 'यहां कारण' यह वृत्तिग्रन्य है। क्योंकि काव्य की अर्थात् किव के व्यापार की प्रवृत्ति उसके आश्रित अर्थात् अलङ्कारप्रवण है। अन्यथा—अर्थान् गदि तात्पर्यं न हो। इसिलए वहां गुणीभूतव्यङ्गय की शङ्का (सम्मावना) नहीं करनी चाहिए यह मतलब है। 'उन्हीं अलङ्कारों की' यह आगे पढ़ी जाने वाली कारिका का उपस्कार है। 'फिर' यह कारिका के बीच में उपस्कार है।

पुनः,

ध्वन्यङ्गता अवेत्।

चारुत्वोत्कर्षतो व्यङ्गयप्राधान्यं यदि लक्ष्यते ॥ ३०॥ उक्तं ह्येतत्—'चारुत्वोत्कर्षनिवन्धना वाच्यव्यङ्गययोः प्राधान्यविवक्षा' इति । वस्तुमात्रव्यङ्गयत्वे चालङ्काराणामनन्तरोपद्धिन्तिम्य एवोदाहरणेम्यो विषय उन्नेयः । तदेवमर्थमात्रेणालङ्कारिविशेष्-रूपेण वार्थेनार्थान्तरस्यालङ्कारस्य वा प्रकाशने चारुत्वोत्कर्षनिवन्धने सति प्राधान्येऽर्थशक्त्युद्भवानुरणरूपव्यङ्गयो निरवगन्तव्यः ॥ ३०॥

फिर;

ध्वन्यङ्गता होती है।

यि चारुत के उत्कर्ष के कारण व्यङ्गय का प्राधान्य लिखत होता है ॥ ३०॥ क्योंकि यह पहले कह चुके हैं—'वाच्य और व्यङ्गय के प्राधान्य की विवज्ञा चारुत्व के उत्कर्ष के कारण होती है।' अलङ्कारों के वस्तुमात्र से व्यङ्गय होने पर अभी विखाय हुए ही उदाहरणों से विषय समझ लेना चाहिए। तो इस प्रकार अर्थमात्र से अथवा अलङ्कार कि प्रकाशन में चारुत के उत्कर्ष के कारण प्राधान्य होने पर अर्थशक्त्युद्धव अनुरणनरूप व्यङ्गय वाला ध्वनि समझना चाहिए॥ ३०॥

लोचनम्

व्यङ्गधप्राधान्यमिति । अत्र हेतुः—चारुत्योत्कर्षत इति । यदीति । तदप्राधान्ये तु वाच्यालङ्कार एव प्रधानमिति गुणीभूतव्यङ्गधतेति भावः । नन्वलङ्कारो वस्तुना व्यव्यते अलङ्कारान्तरेण च व्यव्यत इत्यत्रोदाहरणानि किमिति न दिशतानीत्याशङ्कथाह्—विस्तिति । एतत्संक्षिप्योपसंहरति—तदेवमिति । व्यङ्गशस्य व्यञ्जकस्य च प्रत्येकं वस्त्वलङ्काररूपतया द्विप्रकारत्वा चतुर्विधोऽयः मर्थशक्त्युद्भव इति तात्पर्यम् ॥ २६-३०॥

ध्वन्यङ्गता—। अर्थात् ध्वनि का भेद होना । ब्यङ्गय का प्राधान्य—। इसमें कारण है—चारुत्व के उत्कर्ष के कारण । यदि—। भाव यह कि उसका (अर्थात् व्यङ्गय का) प्राधान्य न होने पर वाच्यालङ्कार ही प्रधान है, इस प्रकार गुणीभूतव्यङ्गयता होगी। अलङ्कार वस्तु से व्यक्तित होता है और अलङ्कारान्तर से व्यक्तित होता है, इनमें क्यों नहीं उदाहरण दिलाए हैं ? यह आशङ्का करके कहते हैं—वस्तु ०—। इसे संक्षेप करके उपसंहार करते हैं—तो इस प्रकार—। व्यङ्गय के और व्यव्जक के प्रत्येक वस्तु क्यें और अलङ्काररूप होने के कारण दो प्रकार होने से यह अर्थशक्त्युद्भव चार प्रकार की होता है यह तात्पर्य है ॥ २९-३०॥

एवं ध्वनेः प्रभेदान् प्रतिपाद्य तदाभासिववेकं कर्तुमुच्यते—
यत्र प्रतीयमानोऽर्थः प्रस्लिष्टत्वेन भासते ।
वाच्यस्याङ्गतया वापि नास्यासौ गोचरो ध्वनेः ॥ ३१॥
द्विविघोऽपि प्रतीयमानः स्फुटोऽस्फुटश्च । तत्र य एव स्फुटः
शब्दशक्तयार्थशक्तया वा प्रकाशते स एव ध्वनेमीगों नेतरः ।
इस प्रकार ध्वनि के प्रभेदों का प्रतिपादन करके उसके आभास का विवेक करने

के लिए कहते हैं— जहां प्रतीयमान अर्थ प्रक्लिप्ट रूप से अथवा वाच्य के अङ्ग रूप से भासित होता

है वह इस ध्वनि का गोचर नहीं है ॥ ३१ ॥ प्रतीयमान दो प्रकार का है—स्फुट और अस्फुट। उनमें जो ही स्फुट होकर शब्दशक्ति अथवा अर्थशक्ति से प्रकाशित होता है वही ध्वनि का मार्ग है, इतर नहीं।

लोचनम्

एविमिति । अविविधितवाच्यो विविधितान्यपरवाच्य इति द्वौ मूलभेदौ । आग्रस्य द्वौ भेदौ—अत्यन्तितरस्कृतवाच्योऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्यश्च । द्विती-यस्य द्वौ भेदौ—अलद्यक्रमोऽनुरणनरूपश्च । प्रथमोऽनन्तभेदः । द्वितीयो द्विविधः—शव्दशक्तिमूलोऽर्थशक्तिमृलश्च । पश्चिमस्त्रिविधः—कविप्रौढोक्तिकृत-शरीरः कविनिवद्धवक्तृप्रौढोक्तिकृतश्रीरः स्वतस्त्रम्भवो च । ते च प्रत्येकं व्यङ्ग-यव्यक्षकयोक्कभेदनयेन चतुर्धति द्वादशविधोऽर्थशक्तिमूलः । आग्राश्च-त्वारो भेदा इति पोडश मुख्यभेदाः । ते च पद्वाक्यप्रकाशत्वेन प्रत्येकं द्विविधा वद्यन्ते । अलद्यक्रमस्य तु वर्णपद्वाक्यसङ्घटनाप्रवन्धप्रकाश्यत्वेन पश्चित्रिश-

इस प्रकार—। अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य ये दो मूलभेद हैं।
प्रथम के दो भेद—अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य और अर्थान्तरसंक्रमिनवाच्य। द्वितीय के दो
भेद—अलक्ष्यक्रम और अनुरणनरूप। प्रथम के भेद अनन्त हैं। दूसरा दो प्रकार का
है—शब्दशक्तिमूल और अर्थशक्तिमूल। अन्तवाला (अर्थात् अर्थशक्तिमूल) तीन प्रकार
का है—किव की प्रौढोक्ति से बना, किवद्वारा निवद वक्ता की प्रौडोक्ति मे बना और
स्वतःसम्भवी। और ये प्रत्येक व्यङ्गय और व्यञ्जक के कहं हुए प्रकार के अनुसार
(अर्थात् वस्तु से वस्तु, वस्तु से अलङ्कार, अलङ्कार से वस्तु और अलङ्कार से अलङ्कार)
चार प्रकार के होकर, बारह प्रकार का अर्थशक्तिमूल होता है। पहले के चार भेद
(अर्थात् शब्दशक्त्युत्य के वस्तु तथा अलङ्कार रूप दो भेद, उभयशक्त्युत्य का एक और
असंलच्यक्रम का एक इस प्रकार सब मिल कर) सोलह मुख्य भेद हैं। वे पदप्रकाश
और वाक्यप्रकाश के रूप से प्रत्येक दो प्रकार के कहेंगे। अलच्यक्रम के वर्णप्रकाश,
(पदप्रकाश, वाक्यप्रकाश) संघटनाप्रकाश और प्रवन्धप्रकाश होने के कारण पैतीस भेद

स्प्रुटोऽपि योऽभिधेयस्याङ्गत्वेन प्रतीयमानोऽवभासते सोऽस्यानुरणन-स्पव्यङ्गयस्य ध्वनेरगोचरः ।

यथा-

कमलाअरा ण मिलिया हंसा उड्डाविया ण अ पिउच्छा। केण वि गामतडाए अब्मं उत्ताणअं फलिहम् ॥

अत्र हि प्रतीयमानस्य मुग्धवध्वा जलधरशितविम्बदर्शनस्य वाच्याङ्गत्वमेव। एवंविधे विषयेऽन्यत्रापि यत्र व्यङ्गचापेक्षया वाच्यस्य चारुत्वोत्कर्पप्रतीत्या प्राधान्यमवसीयते, तत्र व्यङ्गचस्याङ्गत्वेन स्फुट होकर भी जो प्रतीयमान अभिषेय (वाच्य) के अङ्गरूप से भासित होता है वह इस अनुरणनरूप व्यङ्गय ध्वनि का गोचर नहीं।

जैसे-

(अरी ससी,) न तालाव गन्दा हुआ है न सहसा हंस ही उड़ा दिए, किसी ने गांव के तालाव में मेघ को उलटा करके डाल दिया है!

यहां प्रतीयमान सुम्धवध् (अनयूत्र नवेली) द्वारा मेघ की छाया का दर्शन वाच्य का अङ्ग ही है। इस प्रकार के विषय में अन्यत्र भो जहां न्यङ्गय की अपेश वाच्य के चारुखोरकर्ष की प्रतीति से प्राधान्य मालूम पड़ता है, वहां न्यङ्गय के अङ्ग

लोचनम्

द्भेदाः। तदाभासेभ्यो ध्वन्याभासेभ्यो विवेको विभागः। अस्येत्यात्मभूतस्य ध्वनेरसी काव्यविशेषो न गोचरः, न विषय इत्यर्थः।

> कमलाकरा न मलिता हंसा उड्डायिता न च सहसा । केनापि त्रामतडागेऽश्रमुत्तानितं क्षितम् ॥ इति च्छाया ।

अन्ये तु पिउच्छा पितृष्वसः इत्थमामन्त्रयते । केनापि अतिनिपुण्ने । वाच्योनेव हि विस्मयविभावरूपेण मुग्धिमातिशयः प्रतीयत् इति वाच्यादेव चारुत्वसम्पत् । वाच्यं तु स्वात्मोपपत्तयेऽर्थान्तरं स्वोपकारः वाञ्छया व्यनक्ति ।

हुए। उनके आमासों अर्थात् व्विन के आमासों से विवेक अर्थात् विभाग। इसका अर्थात्

आत्मभूत घ्विन का वह काव्यविशेष गोचर नहीं अर्थांत् विषय नहीं।

परन्तु दूसरे (के अनुसार) 'पिउच्छा' अर्थात् 'बुआ' (पिता की बहन) इस प्रकार आमन्त्रण किया गया है। किसी ने अर्थात् अति चालाक ने। वाच्य का अर्क ही—। विस्मय-विभाव रूप वाच्य से ही अतिशय मुग्यिमा (सुन्दरता) प्रतीत होती है, इसलिए वाच्य से ही चारुत्वसम्पत्ति है। क्योंकि वाच्य अपनी उपपत्ति के लिए अर्थान्तर को अपने उपकार की वाल्छा से व्यक्त करता है।

प्रतीतेर्घ्वनेरविषयत्वम् । यथा---

वाणीरकुडङ्गोड्डीणसउणिकोलाहलं सुणन्तीए । घरकम्मवावडाए बहुए सीअन्ति अङ्गाई ॥

एवंविधो हि विषयः प्रायेण गुणीभूतव्यङ्गचस्योदाहरणत्वेन निर्देश्यते । यत्र तु प्रकरणादिप्रतिपत्त्या निर्धारितविशेषो वाच्योऽर्थः

रूप से प्रतीत होने के कारण ध्वनि का विषय नहीं है। जैसे-

वेतस लता (वेंत) की घनी झाड़ से उदे हुए पंछियों की आवाज सुनती हुई, घर के काम-काज में फंसी बहू के अङ्ग शिथिल पड़े जा रहे हैं।

इस प्रकार का विषय प्रायः करके गुणीभूतन्यङ्गय के उदाहरण के रूप में निर्देश करेंगे। परन्तु जहां प्रकरण आदि के ज्ञान से विशेष निर्धारित होने पर वाच्य अर्थ

लोचनम्

वेतसलतागहनोड्डीनशकुनिकोलाहलं श्रण्वत्याः। गृहकर्मेव्यापृताया वध्वाः सीदन्त्यङ्गानि ॥ इति च्छाया ।

अत्र दत्तसङ्केतचौर्यकामुकरतसमुचितस्थानप्राप्तिर्ध्वन्यमाना वाच्यमेवोप-स्कुरुते । तथा हि गृहकर्मव्यापृताया इत्यन्यपराया अपि, वध्वा इति सातिश-यत्तज्ञापारतन्त्र्यबद्धाया अपि, अङ्गानीत्येकमपि न ताद्दगङ्गं यद्गास्भीर्यावहि-त्थवशेन संवरीतुं पारितम्, सीदन्तीत्यास्तां गृहकर्मसम्पादनं स्वात्मानम्पि धर्तुं न प्रभवन्तीति । गृहकर्मयोगेन स्फुटं तथा लद्यमाणानीति । अस्मादेव वाच्यात्सातिशयमद्नपरवशताप्रतीतेश्वारुत्वसम्पत्तिः। यत्र त्विति । प्रकरणमा-दिर्यस्य शब्दान्तर्सन्निधानसामध्येलिङ्गादेस्तद्वगमादेव यत्रार्थो निश्चितसमस्त-स्वभावः। पुनर्वाच्यः पुनरपि स्वशब्देनोक्तोऽत एव स्वात्मावगतेः सम्पन्न-

यहां दत्तसङ्केत चौर्यकामुक का रत के योग्य स्थान में पहुंचना यह ध्वनित होता हुआ वाच्य को ही उपस्कृत करता है। जैसा कि 'घर के कामकाज में लगी हुई' अर्थात् अन्य (कार्यं) में लगी हुई भी, 'बहू की' अर्थात् अतिशय लजा और पारतन्त्र्य में बंधी हुई भी, (सब) अङ्ग, अर्थात् एक भी अङ्ग उस प्रकार नहीं या जो गाम्भीयं से आकारगोपन के ढङ्ग से संवरए। किया जा सके, 'शिथिल पड़े जा रहे हैं' घर का काम-काज करना तो दूर रहे, अपने आपको सम्हाल भी नहीं पा रहे हैं। घर के काम-काज में उस प्रकार स्पष्ट लक्षित नहीं होते । इसी वाच्य से सातिशय मदनपारवश्य की प्रतीति होने से चारता सम्पन्न होती है। परन्तु जहां—। प्रकरण आदि में है जिसके अर्थात् शब्दान्तरसंज्ञिघान, सामर्थ्यं, लिङ्ग आदि के अवगत होने से ही जहां अर्थं के समस्त

२० ध्व०

पुनः प्रतीयमानाङ्गत्वेनैवावभासते सोऽस्यैवानुरणनरूपव्यङ्गयस्य ध्वनेर्मार्गः । यथा—

उचिणसु पिंडअ कुसुमं मा धुण सेहालिअं हलिअसुह्ने । अह दे विसमविरावो ससुरेण सुओ वलअसदो ॥ अत्र ह्यविनयपतिना सह रममाणा सखी बहिःश्चतवलयकलकला

पुनः प्रतीयमान के अङ्ग रूप में ही भासित होता है वह इसी अनुरणन रूप व्यङ्गा ध्वनि का मार्ग है। जैसे—

अरी इलवाहे की पतोहू, गिरे हुए फूल चुन, हरसिंगार को सत हिला। विषय (अनिष्टजनक) परिणाम वाली तेरे वलय की आवाज को ससुर ने सुन लिया है।

यहां अविनयपति (जार) के साथ रमण करती हुई सखी (नायिका) के वाहर से वल्लय की आवाज सुन कर सखी सावधान करती है। यह (व्यक्तय अर्थ)

लोचनम्

पूर्वत्वादेव तावन्मात्रपर्यवसायी न भवति तथाविधश्च प्रतीयमानस्याङ्गतामे तीति सोऽस्य ध्वनेर्विषय इत्यनेन व्यङ्गश्चतात्पर्यनिबन्धनं स्फुटं वदता व्यङ्गश्च गुणीमावे त्वेतद्विपरीतमेव निबन्धनं मन्तव्यमित्युक्तं भवति ।

चित्र पतितं कुसुमं मा धुनीहि शेफालिकां हालिकस्तुषे ।

एष ते विषमविपाकः श्वगुरेण श्रुतो वलयशब्दः ॥ इति च्छाया।

यतः श्वगुरः शेफालिकालतिकां प्रयत्ने रक्षंस्तस्या आकर्षणधूननादिन।

कुर्यात । वेजान विषमणियानां स्वापना

कृष्यित । तेनात्र विषमपरिपाकत्वं मन्तव्यम् । अन्यथा स्वोक्त्यैव व्यङ्गचादेपः स्यात् । अत्र च 'कस्स वा ण होइ रोसो' इत्येतद्नुसारेण व्याख्या कर्तव्या

स्वमाव का निश्चय हो जाता है। पुनः वाच्य अर्थात् फिर भी अपने शब्द से उक्त, अतएव अपनी अवगित हो जाने के कारण पहले ही सम्पन्न हो जाने के कारण ही उतने मात्र में पर्यवसन्त होने वाला नहीं होता है और उस प्रकार का (वह वाच्य अर्थ) प्रतीयमान का अन्न हो जाता है, अतः वह ध्वनि का विषय है, इस (कथन) हे व्यङ्ग्य में तात्पर्यं का निबन्धन स्पष्ट कहते हुए यह कहा कि व्यङ्ग्य के गुणीमाव में इसके विपरीत निबन्धन मानना चाहिए।

क्यों कि ससुर हर्रीसगार की लत्तर की प्रयत्नपूर्वक रक्षा करता है, आकर्षण धूनक आदि से कुपित होता है। इस लिए यहां परिणाम में विषम (अर्थात् अनिष्ठकर) सम झना चाहिए। अन्यया अपनी उक्ति से ही व्यङ्गध का आक्षेप होगा। यहां 'कस्स वा प होइ रोसो०' के अनुसार व्याख्या करनी चाहिए। वाच्य अर्थ की प्रतिपत्ति रूप लाम के

सख्या प्रतिबोध्यते । एतद्येक्षणीयं वाच्यार्थप्रतिपत्तये । प्रतिपने च वाच्येऽर्थे तस्याविनयप्रच्छाद्नतात्पर्येणाभिधीयमानत्वात्पुनव्यंङ्ग्या-कृत्वमेवेत्यस्मिन्नजुरणनरूपव्यङ्गयध्वनावन्तर्भावः ॥ ३१ ॥

एवं विवक्षितवाच्यस्य ध्वनेस्तदाभासविवेके प्रस्तुते सत्यविव-क्षितवाच्यस्यापि तं कर्तुमाह—

अव्युत्पत्तेरद्यात्तेवी निबन्धो यः स्खलद्गतेः। द्याव्दस्य स्र च न ज्ञेयः स्ट्रिमिर्विषयो ध्वनेः॥ ३२॥ बाच्यार्थं को समझने के लिए अपेषित है, और वाच्य अर्थं के माल्य हो जाने पर उस (वाच्यार्थं) के अविनय के प्रच्छादन के लिए कहे जाने के कारण पुनः न्यक्ष्य का अक्ष ही है, इस प्रकार इस अनुरणन रूप न्यक्ष्य ध्वनि में अन्तर्भाव है॥ ३१॥

इस प्रकार विविचत वाच्य ध्विन के और उसके आभास के विवेक प्रस्तुत होने पर अविविचतवाच्य का भी वह करने के छिए कहते हैं—

अन्युत्पत्ति अथवा अशक्ति के कारण स्खलद्गति शब्द का जो प्रयोग है उसे विद्वानों को ध्वनि का विषय नहीं समझना चाहिए॥ ३२॥

लोचनम्

वाच्यार्थस्य प्रतिपत्तये लाभाय एतद्यङ्गचमपेक्षणीयम्। अन्यथा वाच्योऽर्थो न लभ्येत । स्वतिस्सद्धतया अवचनीय एव सोऽर्थः स्यादिति यावत्। नन्वेवं व्यङ्गचस्योपस्कारता प्रत्युतोक्ता भवेदित्याशङ्कचाह—प्रतिपन्ने चेति । शब्दे-नोक्त इति यावत् ॥ ३१॥

तदाभासिववेके प्रसंतृत इति सप्तमी हेतौ । तदाभासिववेकप्रस्तावलक्षणात्रम्सङ्गादिति यावत् । कस्य तदाभास इत्यपेक्षायामाह—विविद्याव्यस्वेति । स्पष्टे तु व्याख्याने प्रस्तुत इत्यसङ्गतम् । परिसमाप्तौ हि विविद्यतामिष्वेयस्य तदाकिए यह व्यङ्गय अपेक्षणीय है, अन्यथा वाच्य अर्थ छव्य नहीं होगा। मतलब कि स्वतः—
सिद्ध होने के कारण वह अर्थ अवचनीय ही होगा। तब तो इस प्रकार प्रस्तुत व्यङ्गय की उपस्कारता कही गई, यह आर्थका करके कहते हैं—वाच्य अर्थ के प्रतियद्य—।
मतलब कि शब्द से उक्त होने पर ॥ ३१॥

उसके आभास के विवेक के प्रस्तुत होने पर यहां हेतु में सप्तमी है। मतलब कि उसके आभास के विवेक के प्रस्ताव रूप प्रसङ्ग से। किसका 'उसका आभास' इस अपेक्षा में कहते हैं—विविद्यात्वय का—। व्याख्यान स्पष्ट होने पर 'प्रस्तुत' यह कहना वसङ्गत है। क्यों कि परिसमाप्ति में विविक्षतवाच्य का उसके आभास का विवेक

स्वलद्भतेरुपचरितस्य शब्दस्यान्युत्पत्तेरशक्तेर्वा निवन्धो यः स च न ध्वनेर्विषयः ।

स्सल्ट्गिति अर्थात् उपचरित शब्द का अन्युत्पत्ति अथवा अशक्ति से जो प्रयोग है और वह ध्वनि का विषय नहीं।

लोचनम्

भासविवेकः । न त्वधुना प्रस्तुतः । नाप्युत्तरकालमनुबध्नाति । स्खलद्गतेरिति। गौणस्य लाक्ष्मणकस्य वा शब्दस्येत्यर्थः । अव्युत्पत्तिरनुप्रासादिनिबन्धनतातः र्यप्रवृत्तिः । यथा—

प्रेङ्क स्त्रेमप्रबन्धप्रचुरपरिचये प्रौढसीमन्तिनीनां चित्ताकाशावकाशे विहरति सततं यः स सौभाग्यभूमिः।

अत्रानुप्रासरसिकतया प्रेङ्कदिति लाक्षणिकः, चिन्ताकाश इति गौणः प्रयोगः कविना कृतोऽपि न ध्वन्यमानरूपसुन्दरप्रयोजनांशपर्यवसायी। अशकि वृत्तपरिपूरणाद्यसामर्थ्यम्। यथा—

विषमकाण्डकुदुम्बकसञ्चयप्रवर वारिनिधौ पतता त्वया । चलतरङ्गविघूर्णितभाजने विचलतात्मनि कुडचमये कृता ॥

अत्र प्रवरान्तमाद्यपदं चन्द्रमस्युपचरितम्। भाजनिमत्याशये, बुड्यम

है, न कि अभी प्रस्तुत है। न कि आगे तक अनुबन्ध करता है। स्खळद्गति—अर्था गौए। या लाक्षणिक शब्द का। अब्युत्पत्ति अर्थात् अनुप्रास आदि के प्रयोग के तात्पंशे प्रवृत्ति। जैसे—

प्रौढ़ सीमन्तिनियों के स्फुरित होते हुए (प्रेह्मत्) प्रेम-प्रबन्घ के प्रचुर परिचय वाले चित्त के आकाश में जो सतत विहार करता है, वह सौभाग्यभूमि है।

यहां अनुप्रास के रिसक होने के कारण 'प्रेक्क्क्व्य' यह लाक्षणिक और 'वित के आकाश' यह गौण प्रयोग किन के द्वारा. किया गया भी घ्वन्यमान रूप सुन्दर प्रयोग के अंश में पर्यवसायी नहीं है। अशक्ति अर्थात् वृत्तपूर्ति आदि असामध्यें। जैसे—

है विषमवाण (कामदेव) के कुटुम्बसमूह में प्रवर (अर्थात् चन्द्र), समुद्र में विषे हुए तुमने चंचल तरंग की मांति विघूणित भाजन वाले, कुड्यमय अपने आप में विषे लता कर दी है।

यहां 'प्रवर' तक प्रथम पद चन्द्रमा में उपचरित है। 'भाजन' आशय में, 'कुझ'

है

यतः--

सर्वेष्वेव प्रभेदेषु स्फुटत्वेनावभासनम्। यद्वयङ्गयस्याङ्गिभृतस्य तत्पूर्णं ध्वनिलक्षणम्॥ ३३॥

. क्योंकि-

सभी प्रभेदों में स्फुट रूप से जो अङ्गिभूत व्यङ्गव का अवभासित होना है वह ध्वनि का पूर्ण रुचण है ॥ ३३ ॥

लोचनम्

इति च विचले। अत्रैतत् कामि कान्ति न पुष्यित, ऋते वृत्तपूरणात्। स चेति। प्रथमोद्दश्चोते यः प्रसिद्धयनुरोधप्रवर्तितव्यवहाराः कवय इत्यत्र 'वद्ति विस्तीपञ्चशयनम्' इत्यादि भाक्त उक्तः। स न केवलं ध्वनेनं विषयो यावदय-मन्योऽपीति चशव्दस्यार्थः। उक्तमेव ध्वनिस्त्ररूपं तद्दाभासिविवेकहेतुतया कारिकाकारोऽनुवद्तीत्यभिप्रायेण वृत्तिकृदुपस्कारं द्दाति—यत इति। श्रवमास-निर्मित। भावानयने द्रव्यानयनभिति न्यायाद्वभासमानं व्यङ्गयम्। ध्वनि-लक्षणं ध्वनेः स्वरूपं पूर्णम्, अत्रभासनं वा ज्ञानं तद्ध्वनेर्लक्षणं प्रमाणं, तञ्च पूर्णं, पूर्णध्वनिस्वरूपनिवेद्कत्वात्। अथ वा ज्ञानमेव ध्वनिलक्षणम्, लक्षणस्य ज्ञानपरिच्छेद्यत्वात्। वृत्तावेवकारेण ततोऽन्यस्य चाभासरूपत्वमेवेति सूचयता तद्दाभासिववेकहेतुभावो यः प्रक्रान्तः स एव निर्वाहित इति शिवम्॥ ३३॥ .

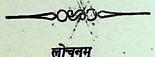
मय' यह विचल में । यहां यह किसी कान्ति का पोषण नहीं करता, बाबजूद छन्दः पूर्ति के। और वह—। प्रथम उद्योत में जो 'प्रसिद्धि के अनुरोध से व्यवहार प्रवृत्त करने वाले किन इस प्रसंग में 'कमिलनी के पत्र का शयन कहता है' इत्यादि भाक्त कहा है। न केवल वही ध्विन का विषय नहीं है, बिल्क अन्य भी, यह 'और' (च) शब्द का अर्थ है। कहे हुए ही ध्विनस्वरूप को उसके आभास के विवेक के हेतु रूप से कारिकाकार अनुवाद करते हैं, इस अभिप्राय से वृत्तिकार उपस्कार देते हैं— क्योंकि—। अवभासित होना—। 'भाव के आनयन में द्रव्य का आनयन होता है' इस न्याय के अनुसार अवभासमान व्यङ्गय (अवभासन का अर्थ है) ध्विन का लक्षण अर्थात् ध्विन का स्वरूप पूर्ण है, अथवा अवभासन अर्थात् ज्ञान वह ध्विन का लक्षण अर्थात् प्रमाण है, और वह पूर्ण है, क्यों कि पूर्ण ध्विन के स्वरूप को निवेदन करता है। अथवा ज्ञान ही ध्विन का लक्षण है, क्यों कि लक्षण ज्ञान का परिच्छेद्य होता है। वृत्ति में 'ही' (एवकार) से 'क्ससे इतर का आभासरूपत्व ही है' यह सूचित करते हुए उसके आभास के विवेक का हैतुमाव जो आरम्भ किया वही निर्वाह किया। शिवस्।

तचोदाहृतविषयमेव ॥ ३३ ॥

इति श्रीराजानकानन्दवर्धनाचार्यविरचिते ध्वन्यालोके द्वितीय उद्योत:॥



उसका विषय उदाहत ही है ॥ ३३ ॥ श्री राजानक आनन्दवर्धनाचार्य विरचित्रिवन्यालोक में द्वितीय उद्योत समाप्त ॥



प्राच्यं प्रोह्मासमात्रं सद्भेदेनास्त्र्यते यया।
वन्देऽसिनवगुप्तोऽहं पश्यन्ती तामिदं जगत्।। ३३।।
इति श्रीमहामाद्देश्वराचार्यवर्याभिनवगुप्तोन्मीलिते सहृद्यालोकलोचने ध्वनिसङ्केते द्वितीय उद्दश्योतः।।



जो (भगवती परमेश्वरी माया) समस्त को सत्तत्त्व से भिन्न करके प्रतीतिमा निर्माण करती है, इस जगत को देखती हुई (पश्यन्ती) उसको मैं अभिनवगुप्त बन्दा करता हूँ।

श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्यं अभिनवगुप्त द्वारा उन्मीलित सह्दयालोकलोचन ध्वनिसङ्केत में दूसरा उद्योत समाप्त ।

वृतीय उद्दयोतः

ध्वन्यालोकः

एवं व्यङ्गचमुखेनैव ध्वनेः प्रदिशते सप्रभेदे स्वरूपे पुनर्व्यञ्जक-मुखेनैतस्प्रकाश्यते—

इस प्रकार व्यङ्गय के प्रकार से ही ध्वनि के सप्रभेद स्वरूप के प्रदर्शित करने पर पुनः व्यक्षक के प्रकार से इसे प्रकाशित करते हैं—

लोचनम्

स्मरामि स्मरसंहारलीलापाटवशालिनः। प्रसद्ध शम्भोर्देहार्धं हरन्तीं परमेश्वरीम्।।

उद्योतान्तरसङ्गतिं कर्तुमाह वृत्तिकारः—एविमत्यादि । तत्र वाच्यमुखेन ताव-दिविविक्षितवाच्यादयो मेदाः, वाच्यश्च यद्यपि व्यञ्जक एव । यथोक्तम्—'यत्रार्थः शब्दो वा' इति । ततश्च व्यञ्जकमुखेनापि भेद एकः, तथापि स वाच्योऽथीं व्यङ्गन्यमुखेनेव भिद्यते । तथा ह्यविविक्षितो वाच्यो व्यङ्गन्यन न्यग्भावितः, विविक्षितान्यपरो वाच्य इति व्यङ्गन्यार्थप्रवण एवोच्यते इत्येवं मूलभेदयोरेव यथास्त्रमवान्तरभेदसिहतयोव्यञ्जककरूपो योऽर्थः स व्यङ्गन्यमुखेनेदि । यद्यस्त्रम् वाद्यय्यो व्यञ्जकस्त्रयापि व्यङ्ग्यतायोग्योऽप्यसौ भवतीति, शब्दस्तु न कदाचिद्यङ्गन्यः अपि तु व्यञ्जक एवेति । तदाह—व्यञ्जकमुखेनेति । न च वाच्यस्याविविक्षतादिरूपेण

काम के संहार की लीला में सामर्थ्यशाली भगवान शंकर का देहार्थ हरण करती हुई परमेश्वरी को स्मरण करता हूँ।

अन्य उद्योत की प्रसङ्ग-सङ्गित करने के लिए वृत्तिकार कहते हैं—'इस प्रकार' इत्यादि। अविविक्षितवाच्य आदि भेद वाच्य के प्रकार से हैं, और वाच्य यद्यिप व्यल्जक ही है, जैसे कहा है—'जहां अर्थ अथवा शब्द॰'। तव तो व्यल्जक के प्रकार से भी भेद कह दिया, तथापि वह वाच्य अर्थ व्यङ्ग्य के प्रकार से ही भिन्न हुआ है। जैसा कि अविविक्षित वाच्य व्यङ्ग्य के द्वारा न्यग्भावित (अप्रधानीकृत) है और विविक्षित तान्यपरवाच्य, व्यङ्गयार्थप्रवण ही कहा जाता है, इस प्रकार यथावित्यत अवान्तर-भेदसिहत मूलभेदों में ही व्यल्जक रूप जो अर्थ है वह व्यङ्गय की मुखप्रेक्षिता की शरण के रूप से ही भेद प्राप्त करता है। इसीलिए कहते हैं—व्यङ्गय के प्रकार से—। और भी, यद्यपि अर्थ व्यल्जक है, तथापि व्यङ्गयता के योग्य भी वह होता है, परन्तु शब्द कभी व्यङ्गय नहीं होता, बल्क व्यल्जक ही होता है। इस लिए कहते हैं—व्यङ्गक के प्रकार से—। ऐसी वात नहीं कि वाच्य का अविविक्षित आदि रूप से जो भेद है वहां

अविवक्षितवाच्यस्य पदवाक्यप्रकाशता । तदन्यस्यानुरणनरूपव्यङ्गयस्य च ध्वनेः ॥ १॥

अविविचतवाच्य और उससे अन्य (विविचतान्यपरवाच्य का भेद) अनुरणत रूपन्यङ्गय (अर्थात् संखच्यक्रमन्यङ्गय) ध्विन पद्मकाश और वाक्यप्रकाश होते हैं ॥१॥

लोचनम्

यो भेदस्तत्र सर्वथैव व्यञ्जकत्वं नास्तीति पुनःशब्देनाह । व्यञ्जकमुखेनापि भेदः सर्वथैव न न प्रकाशितः किन्तु प्रकाशितोऽप्यधुना पुनः शुद्धव्यञ्जकमुखेन । तथाहि व्यङ्ग्यमुखप्रेक्षितया विना पदं वाक्यं वणीः पदभागः सङ्घटना महावाक्यमिति स्वरूपत एव व्यञ्जकानां भेदः, न चैषामर्थवत्कदाचिद्पि व्यङ्ग्यता सम्भवतीति व्यञ्जकेकनियतं स्वरूपं यत्तन्मुखेन भेदः प्रकाश्यत इति तात्पर्यम् ।

यस्तु व्याचष्टे—'व्यङ्गचानां वस्त्वलङ्काररसानां मुखेन' इति, स एवं प्रष्टव्यः—एतत्ताविङ्गभेदत्वं न कारिकाकारेण कृतम् । वृत्तिकारेण तु दर्शितम् । न चेदानीं वृत्तिकारो भेदप्रकटनं करोति । तत्रश्चेदं कृतमिदं क्रियत इति कर्तृभेदे का सङ्गतिः ? न चेतावता सकलप्राक्तनप्रन्थसङ्गतिः कृता भवति । अविविश्वत्वाच्यादीनामिप प्रकाराणां दर्शितत्वादित्यलं निजपूच्यजनसगोत्रैः साकं विवादेन । चकारः कारिकायां यथासङ्ख्यराङ्कानिवृत्त्यथः । तेनाविविश्वतः वाच्यो द्विप्रभेदोऽपि प्रत्येकं पदवाक्यप्रकाश इति द्विधा । तद्ग्यस्य विविश्वताः सर्वया ही व्यव्जकत्व नहीं है, यह 'पुनः' शब्द से कहते हैं । व्यव्जक के प्रकार से भी भेद को सर्वया ही प्रकाशित नहीं किया है ऐसा नहीं, किन्तु प्रकाशित है, तथापि अविकार से खुद्ध व्यव्जक के प्रकार से (कहते हैं)। जैसा कि व्यङ्गचमुखप्रक्षिता के विना (विना व्यङ्गच की अपेक्षा किए) पद, वाक्य, वर्ण, पदभाग, संघटना और महावाक्य यह स्वरूपतः ही व्यञ्जकों का भेद है, अर्थं की माँति इनकी व्यङ्गचता कभी सम्भव नहीं अत एव जिस कारण (इनका) स्वरूप व्यञ्जक मात्र में नियत है तदनुसार मेद प्रकाशित करते हैं, यह तात्त्यं है।

परन्तु जो व्याख्यान करता है—'वस्तु, अलङ्कार, रस इन व्यङ्गचों के प्रकार से उससे इस प्रकार पूछना चाहिए—(व्यङ्गच का) यह त्रिमेदत्व कारिकाकार ने नहीं किया है, परन्तु वृत्तिकार ने दिखाया है। अभी वृत्तिकार भेद का प्रकटन नहीं करते हैं। ऐसी स्थिति में 'यह किया है यह करने जा रहे हैं' इसकी सङ्गति कर्ता के मिन्न होने पर क्या होगी? और इतने से सभी प्राचीन ग्रन्थों में सङ्गति नहीं की जा सकती। क्योंकि अविवक्षित वाच्य आदि के भी प्रकारों को दिखाया जा चुका है। इस प्रकार अपने पूज्य जन के विरादरों के साथ विवाद व्यर्थ है! 'कारिका' में 'और' ('च') शब्द यथासङ्ख्य की शङ्का के निवृत्त्यर्थ है। इस कारण दो भेदों वाला अविवक्षितवाच्य

अविवक्षितवाच्यस्यात्यन्ततिरस्कृतवाच्ये प्रभेदे पदप्रकाश्चता यथा महर्षेच्यासस्य-'सप्तैताः समिधः श्रियः', यथा वा कालिदासस्य-'कः अविविचित्तवाच्य के अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य प्रभेद में पद्मकाशता, जैसे महर्षि न्यास का—'ये सात सम्पत्ति की समिधाएं हैं'; अथवा जैसे कालिदास का—'(तुम्हारे) लोचनम्

भिष्वेयस्य सम्बन्धी यो भेदः क्रमचोत्यो नाम स्वभेदसहितः सोऽपि प्रत्येकं द्विधैव । अनुरणनेन रूपं रूपणसादृश्यं यस्य तादृग्व्यङ्ग्यं यत्तस्येत्यर्थः । मह-र्षेरित्यनेन तद्नुसन्धत्ते यत्प्रागुक्तम्, अथ च रामायणमहाभारतप्रभृतिनि

लच्ये दश्यत इति ।

धृतिः क्षमा दया शौचं कारुण्यं वागनिष्ठुरा। मित्राणां चानभिद्रोहः सप्तैताः समिधः श्रियः॥

समिच्छन्दार्थस्यात्र सर्वथा तिरस्कारः, असम्भवात्। समिच्छन्देन च व्यङ्ग्योऽर्थोऽनन्यापेक्षलच्न्युद्दीपनक्षमत्वं सप्तानां वक्त्रमिप्रेतं ध्वनितम्। यद्यपि—'निःश्वासान्ध इवाद्रशः' इत्याद्युदाहरणाद्प्ययमर्थी लभ्यते, तथापि प्रसङ्गाद्वहुलच्यव्यापित्वं दर्शयितुमुदाहरणान्तराण्युक्तानि । अत्र च वाच्यस्या-त्यन्तितरस्कारः पूर्वोक्तमनुस्रत्य योजनीयः किं पुनरुक्तेन । सन्नद्धपदेन चात्रा-सम्भवत्स्वार्थेनोद्यतत्वं लक्ष्यता वक्त्रभिप्रेता निष्करुणकत्वाप्रतिकार्यत्वापेक्षा-भी प्रत्येक पदप्रकाश और वाक्यप्रकाश रूप से दो प्रकार का है। उससे अन्य विव-क्षितवाच्य का सम्बन्धी जो अपने भेदों सहित 'ऋमद्योत्य' नाम का भेद है, वह भी प्रत्येक दो प्रकार का ही है। अनुरणन से रूप अर्थात् रूपणसाहस्य जिसका हो उस प्रकार के उस (व्यक्त्य) का। 'महर्षि का' इस के द्वारा उसका अनुसन्धान करते हैं जिसे पहले कह चुके हैं--'और भी, रामायण, महाभारत प्रभृति क्य में देखा जाता है'।

धृति, क्षमा, दया, शौच, कारुण्य, अनिष्ठुर वाणी और त्रों से अद्रोह, ये सात सम्पत्ति की समिघाएँ हैं।

'समित्' (सिमघा) शब्द के अर्थ का यहाँ सर्वथा तिरस्कार है, क्यों कि (बह वर्षं) असम्भव है। और 'समित्' (सिमधा) शब्द से व्यङ्गय अर्थं 'अन्य की अपेक्षा न करके सातों का सम्पत्ति के उद्दीपन में क्षमत्व' (यह अर्थ) वक्ता के अभिप्रेत रूप में ध्वनित होता है। यद्यपि 'नि:श्वासान्ध इवादर्शः' इत्यादि उदाहरण से भी यह अर्थ प्राप्त होता है तथापि प्रसङ्ग से बहुत लच्यों में व्यापित्व दिखाने के लिए अन्य उदाहरण कहे हैं। और यहाँ वाच्य का अत्यन्ततिरस्कार पहले कहे हुए के अनुसार लगा लेना चाहिए, पुनः कहने से क्या लाभ ! 'सन्नद्ध' पद, जिसका अपना अर्थं सम्भव नहीं हो रहा है, 'उद्यतत्व' (अथवा उद्धतत्व) को लक्षित करता हुआ, वक्ता के अभिप्रेत निष्करुणकत्व, अप्रतीकार्यत्व (जिसका कोई प्रतिकार नहीं हो

समद्भे विरह्निधुरां त्वय्युपेक्षेत जायाम्', यथा वा—'किमिव हि मधु-राणां मण्डनं नाकृतीनाम्', एतेषूदाहरणेषु 'समिध' इति 'समद्भ' इति 'मधुराणा'मिति च पदानि व्यञ्जकत्वाभिष्रायेणेव कृतानि ।

तस्यवाथीन्तरसङ्क्रमितवाच्ये यथा—'रामेण प्रियजीवितेन तु कृतं सम्बद्ध होने पर कीन विरहविश्वर पत्नी की उपेचा करता है ?'; अथवा, जैसे—'मशुर आकृतियों का मण्डन क्या नहीं है !'; इन उदाहरणों में 'सिमधा' 'सन्नद्ध' और 'मशुर' ये पद न्यक्षकरव के अमिप्राय से ही किए गए हैं।

उसी के ही अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य में, जैसे- हि प्रिये, जीवित रहने के छोभी

लोचनम्

पूर्वकारित्वादयो ध्वन्यन्ते । तथैव मधुरशब्देन सर्वविषयरञ्जकत्वतर्पकत्वादिकं लक्ष्यता सातिशयाभिलाषविषयत्वं नात्राश्चर्यमिति वक्त्रभित्रेतं ध्वन्यते । तस्यैवैति । अविवक्षितवाच्यस्य यो द्वितीयो भेदस्त्त्रेत्यर्थः ।

'प्रत्याख्यानरुषः कृतं समुचितं क्रूरेण ते रक्षसा सोढं तच तथा त्वया कुलजनो धत्ते यथोचचेः शिरः । ज्ययं सम्प्रति विश्वता धनुरिदं त्वद्यापदः साक्षिणा' इति ।

रक्षःस्वभावादेव यः क्रूरोऽनितलङ्गचशासनत्वदुर्भदतया च प्रसद्य निराकिः यमाणः क्रोधान्धः तस्यैतत्तावत्स्वचित्तवृत्तिसमुचितमनुष्ठानं यन्मूर्धकर्तनं नाम, माऽन्योऽपि कश्चिन्ममाज्ञां लङ्गयिष्यतीति । त इति यथा तादृगपि त्वया न गणितस्तस्यास्तवेत्यर्थः । तद्पि तथा अविकारेणोत्सवापत्तिबुद्धःचा नेत्रविस्धाः

सकता), अपेक्षांपूर्वकारित्व (जो बिना सोचे-विचारे कर बैठता है) आदि अथों को ध्विनत करता है। उसी प्रकार 'मधुर' शब्द सभी विषयों का रज्जकत्व, तर्पकत्व आदि अर्थ को लक्षित करता हुआ, 'अतिशय अभिलाषा का विषय होना यहाँ आश्चर्य नहीं यह बक्ता का अभिप्रेत (अर्थ) ध्विनित करता है। उसीके—। अर्थात् अविवक्षित-वाच्य का जो दूसरा भेद कहा है, उसमें।

'तुम्हारे तिरस्कार के समुचित ही क्रूर राक्षस (रावण) ने किया, और उसे तुमने उस प्रकार सहन किया, जिस प्रकार कि कुलाङ्गनाएँ सिर ऊँचा रखती हैं। तत्काल इस धनुष को व्यथं धारण करते हुए तुम्हारे संकट के साक्षी, (जीवित रहने के लोगी

राम ने, हे प्रिये प्रेम के उचित कार्य नहीं किया)!

राक्षस-स्वभाव के कारण ही जो कूर अनितलंघचशासन होने से दुर्मंद होने के कारण हठात तिरस्कृत, कोधान्य है उसका यह अपनी चित्तवृत्ति के समुचित अनुष्ठान है सिर काट डालना, जिससे कोई मेरी आज्ञा का उल्लङ्खन नहीं करेगा। तुम्हारे अर्थात् उस प्रकार के भी उसे तुमने कुछ नहीं समझा, उस तुम्हारे। उसे भी

ग्रेम्णः प्रिये नोचितम्'। अत्र रामेणेत्येतत्प्रदं समसाहसैकरसत्वादि-व्यङ्गचामिसङ्क्रमितवाच्यं व्यञ्जकम्।

राम ने प्रेम के उचित कार्य नहीं किया।' यहां 'राम' यह पद 'साहसैकरसत्व' आदि व्यक्त्य में संक्रमितवाच्य रूप में व्यक्तक है।

्लोचनम् रतामुखप्रसादादिलच्यमाणया सोढम्। यथा येन प्रकारेण कुलजन इति

यः कश्चित्पामरप्रायोऽपि कुलवधूशब्द्वाच्यः। उच्चैः शिरो घत्ते एवंविधाः किल

वयं कुलवध्वो भवाम इति । अथ च शिरःकर्तनावसरे त्वया शीघ्रं कृत्यतामिति तथा सोढं तथोच्चैः शिरो धृतं यथान्योऽपि कुलस्त्रीजन उच्चैः शिरो धत्ते नित्यप्रवृत्ततया । एवं रावणस्य तव च समुचितकारित्वं निर्व्यूढम् । सम पुनः सर्वमेवानुचितं पर्यवसितम् । तथाहि राज्यनिवीसनादिनिरवकाशीकृतधनुव्यी-पारस्यापि कलत्रमात्ररक्षणप्रयोजनमपि यचापममूत्तत्संप्रति त्वय्यरिक्षतव्यापन्ना-यामेव निष्प्रयोजनम्, तथापि च तद्धारयामि। तन्तूनं निजजीवितरक्षेवास्य प्रयोजनत्वेन संभाव्यते । न चैतचुक्तम् । रामेग्रोति । समसाहसरसत्वसत्यसंघः त्वोचितकारित्वादिव्यङ्गश्यधर्मान्तरपरिणतेनेत्यर्थः। 'कापुरुषादिधर्मपरिमह-स्त्वादिशब्दात्' इति यद्वचाख्यातम् , तदसत् ; कापुरुषस्य ह्येतदेव अत्युतोचितं स्यात् । प्रिय इति शब्दमात्रमेवैतदिदानीं संवृत्तम् । प्रियशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तं उस प्रकार बिना विकार के, नेत्रों की विस्फारता और मुख की प्रसन्नता आदि से लक्यमाण उत्सव-प्राप्ति की बुद्धि से सहन किया। जिस प्रकार कुलजन अर्थात् जी कोई पामरं-प्राय भी जो 'कूलवधू' शब्द से अभिहित है। सिर ऊँचा रखती है, कि हम कुलवघुएँ इस प्रकार की होती हैं। और भी, सिर काटने के अवसर में तुमने 'बीघ्र काटो' (यह कह कर) सहन किया और ऊँचा सिर रखा, जैसे अन्य भी कुछ-स्त्रियाँ नित्य प्रवृत्त होने के कारण सिर् ऊँचा रखती हैं। इस प्रकार रावण का और तुम्हारा समुचितकारित्व निष्पन्न हो जाता है। मेरा तो सभी कुछ अनुचित पर्यवस्ति हुआ। जैसा कि राज्य से निर्वासन आदि के अत्रसर में धनुष का कोई व्यापार रहा नहीं, फिर भी कलत्रमात्र की रक्षा के प्रयोजन के लिए भी जो चाप या वह भी इस समय जब कि अरक्षित अवस्था में विपन्न हुई तो निष्प्रयोजन हो गया, और तब भी उसे घारण करता हूँ। तो निश्चय ही अपने प्राणों की रक्षा ही इसके प्रयोजन रूप में सम्मावित होती है। यह तो ठींक नहीं। 'राम'—। अर्थात् समसाहसरसत्व, सत्य-संघत्व, उचितकारित्व आदि व्यङ्गच धर्मान्तरों में परिणत । 'आदि' शब्द से कापुरुष आदि घम का परिप्रह है, यह जो कि व्यास्थान किया है, वह ठीक नहीं, क्यों कि विल्क कापुरुष के यही उचित होता। 'प्रिये' यह शब्दमात्र ही इस समय हो गया है। और 'प्रिय' शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त जो प्रेम का नाम है वह भी अनौचित्य से

यथा वा—

एमेअ जणो तिस्सा देउ कवोलोपमाइ ससिविम्बम् ।

परमत्थविआरे उण चन्दो चन्दो विअ वराओ ॥

अत्र द्वितीयश्चन्द्रशब्दोऽर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यः ।

अथवा, जैसे— 'इसी प्रकार लोग उसके कपोलों की उपमा शशिविम्त्र से देते हैं, परमार्थ रूप से विचार करने पर चन्द्र तो चन्द्र के समान वराक (बेचारा) है।' यहां दूसरा 'चन्द्र' शब्द अर्थान्तरसंक्रीमतवाच्य है।

लोचनम्

यस्प्रेमनाम तद्य्यनौचित्यकलङ्कितमिति शोकालम्बनोद्दीपनविभावयोगात्करुण-रसो रामस्य स्फुटीकृत इति । एमेश्र इति ।

> एवमेव जनस्तस्या ददाति कपोलोपमायां शशिबिम्बम् । परमार्थविचारे पुनश्चन्द्रश्चन्द्र इव वराकः ॥ (इति छाया ।)

एवमेवेति स्वयमविवेकान्धतया। जन इति लोकप्रसिद्धगतानुगतिकता-मात्रशरणः। तस्या इत्यसाधारणगुणगणमहार्घवपुषः। कपोलोपमायामिति निर्व्याजलावण्यसर्वस्वभृतमुखमध्यवर्तिप्रधानभूतकपोलतलस्योपमायां प्रत्युत तद्धिकवस्तुकर्तव्यं ततो दूरिनकृष्टं शशिविम्बं कलङ्कृत्याजजिद्धीकृतम्। एवं यद्यपि गद्द्धरिकाप्रवाहपतितो लोकः, तथापि यदि परीक्षकाः परीक्षन्ते तद्वराकः कुपैकमाजनं यश्चन्द्र इति प्रसिद्धः स चन्द्र एव क्षयित्वविलासशून्यत्वमितनत्व-

कलिक्कत है। इस प्रकार शोक के आलम्बन-उद्दीपन विभावों के योग से राम का करुणरस स्फुट हो गया है।

इसी प्रकार—। अर्थात् स्वयं अविवेकान्ध होने के कारण। छोग—। अर्थात् छोक में फैली बात के पीछे चल पड़ने के मात्र पक्षपाती। उसके अर्थात् असाधारण गुणगणों से कीमती शरीर वाली के। कपोछों की उपमा अर्थात् निर्व्याजलावण्यसर्व-स्वभूत और मुख मध्य में रहने वालों में प्रधानभूत कपोलतल की उपमा, प्रत्युत उससे अधिक वस्तु को देना चाहिए तो उससे अत्यन्त निकृष्ट एवं कलञ्कृत्याज (शश) द्वारा मिलन किए गए शशिविम्ब से (देते हैं)। इस प्रकार यद्यपि संसार गड्डरिका (भेड़ की चाल) की भौति प्रवाहपतित है, तथापि यदि परीक्षक लोग परीक्षा करते हैं तब वराक (वेचारा) अर्थात् एकमात्र कृपा का भाजन जो 'चन्द्र' नाम से प्रसिद्ध है वह चन्द्र ही क्षयित्व, विलासशून्यत्व और मिलनत्व धर्मान्तरों में संक्रान्त अर्थ वाला है। यहाँ

अविवक्षितवाच्यस्यात्यन्ततिरस्कृतवाच्ये प्रभेदे वाक्यप्रकाशता यथा— या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागतिं संयमी। यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥

अविविचितवाच्य के अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य (नामक) प्रभेद में वाक्यप्रकाशता, जैसे---

'जो सब भूतों की रात्रि है उसमें संयमी जागता रहता है और जिस में भूत (प्राणिमात्र) जागते रहते हैं वह देखते हुए सुनि की रात्रि है।'

लोचनम्

धर्मान्तरसंक्रान्तो योऽर्थः। अत्र च यथा व्यङ्गचधर्मान्तरसङ्क्रान्तिस्तथा

पूर्वोक्तमनुसन्वेयम् । एवमुत्तरत्रापि ।

एवं प्रथमभेदस्य द्वाविप प्रकारी पद्मकाशकत्वेनोदाहृत्य वाक्यप्रकाशक-त्वेनोदाहरति —या निशेति । विविचित इति । तेन ह्युक्तेन न कश्चिदुपदेश्यं प्रत्युपदेशः सिद्धः यति । निशायां जागरितव्यमन्यत्र रात्रिवदासितव्य-मिति किमनेनोक्तेन । तस्माद्वाधितस्वार्थमेतद्वाक्यं संयमिनो लोकोत्तरता-लक्ष्योन निमित्तेन तत्त्वदृष्टाववधानं मिथ्यादृष्टी च पराङ्गुखत्वं ध्वनित । सर्वशब्दार्थस्य चापेक्षिकतयाप्युपपद्यमानतेति न सर्वशब्दार्थान्ययानुप-पत्त्यायमर्थं आक्षित्रो मन्तव्यः। सर्वेषां ब्रह्मादिस्थावरान्तानां चतुर्दशाना-मिप भूतानां या निशा व्यामोहजननी तत्त्वदृष्टिः तस्यां संयमी जागतिं कथं प्राप्येतेति । न तु विषयवर्जनमात्रादेव संयमीति यावत् । यदि वा सर्वभूतिन-शायां मोहिन्यां जागतिं कथिमयं हेयेति। यस्यां तु मिथ्यादृष्टौ सर्वाणि जैसे व्यङ्गघ धर्मान्तर में (वाच्य की) सङ्क्रान्ति है वैसे ही पूर्वोक्त का अनुसन्धान कर लेना चाहिए। इस प्रकार आगे भी।

इस प्रकार प्रथम भेद के दोनों भी प्रकारों को पदप्रकाशक रूप से उदाहरण देकर वाक्यप्रकाशक रूप से उदाहरण देते हैं—जा सब० —। विवित्त—। उस कथन से कोई उपदेश्य के प्रति उपदेश सिद्ध नहीं होता। रात्रि में जागना चाहिए और अन्यत्र (दिन में) रात्रि की भौति रहना चाहिए, इस कथन से क्या ? इसलिए अपने अर्थ के बाघित होने पर यह वाक्य लोकोत्तरता रूप निमित्त से संयमी का तत्त्वदृष्टि में अवधान और मिथ्यादृष्टि में पराङ्मुखत्व व्वनित करता है। 'सव' (सर्व) शब्द के वर्ष के आपेक्षिक होने पर भी उपपत्ति है इस लिए 'सव' शब्द के वर्ष की अन्यथानुप-पत्ति से यह अर्थ आक्षिप्त नहीं समझना चाहिए। सभी अर्थात् ब्रह्मा से लेकर स्थावर-पर्यन्त चतुर्दश भूतों (द दैव, १ मानुषक और ४ तैर्यक्) के जो रात्रि अर्थात् व्यामोह-जननी तत्त्वहिष्ट है उसमें संयमी जागता रहता है, कैसे (तत्त्वहिष्ट) पाई जाय! न कि विषयवर्जन मात्र से संयमी है। अथवा, सब भूतों की मोहिनी रात्रि में जागता

अनेन हि वाक्येन निशायों न च जागरणार्थः कश्चिद्विवक्षितः। कि तर्हि ? तत्त्वज्ञानावहितत्वमतत्त्वपराङ्ग्रुखत्वं च ग्रुनेः प्रतिपाद्यत इति तिरस्कृतवाच्यस्यास्य व्यञ्जकत्वम्।

इस वाक्य से राज्यर्थ और न तो जागरणार्थ कोई विवित्त है। तो क्या है ? मुनि का तस्वज्ञान में अवहित होना और अतस्व से पराङ्मुख होना प्रतिपादन किया है, इस तिरस्कृतवाच्य का व्यंजकत्व है।

लोचनम्

मूतानि जाप्रति अतिश्येन सुप्रबुद्धरूपाणि सा तस्य रात्रिरप्रबोधविषयः। तस्या हि चेष्टायां नासौ प्रबुद्धः। एवमेव लोकोत्तराचारव्यवस्थितः पश्यित सन्यते च । तस्यैवान्तर्बिहक्करणवृत्तिश्चरितार्थो । अन्यस्तु न पश्यित न च मन्यत इति । तत्त्वदृष्टिपरेण भाव्यमिति तात्पर्यम् । एवं च पश्यत इत्यपि मुनेरित्यपि च न स्वार्थमात्रविभ्रान्तम् । अपि तु व्यङ्गश्य एव विश्राम्यति । यत्तच्छब्दयोश्च न स्वतन्त्रार्थतेति सर्वे एवायमाख्यातसद्दायः पद्समृहो ठयङ्गचपरः। तदाह—अनेन हि वाक्येनेति। प्रतिपाद्यत इति ध्वन्यत इत्यर्थः। विषमयितो विषमयतां प्राप्तः । केषाश्चिद्दुष्कृतिनामतिविवेकिनां वा । केषा-श्चित्यकृतिनामत्यन्तमविवेकिनां वा अतिक्रामत्यमृतनिर्माणः । केषाश्चिन्मिश्र-कर्मणां विवेकाविवेकवतां वा, विषामृतमयः । केषामपि मूढप्रायाणां घाराप्रा-प्रयोगभूमिकारुढानां वा अविषामृतमयः कालोऽतिक्रामतीति रहता है कि कैसे इसे त्यांग किया जाय ! परन्तु जिस मिथ्यादृष्टि में समस्त भूत जागते रहते हैं अर्थात् अतिशय रूप से सुप्रबुद्ध रहते हैं, वह उसके (संयमी के) रात्रि अर्थात् अप्रबोध का विषय है। क्यों कि उस (रात्रि) की चेष्टा (स्थिति) में वह प्रबुद्ध नहीं है। इसी प्रकार लोकोत्तर क्रियाकलाप (आचार) में व्यवस्थित होकर देखता है और मानता है। उसी की आम्यन्तर और बाह्य इन्द्रियों की वृत्ति चरितार्थ है। परन्तु दूसरान तो देखता है और न तो मानता है। तात्पर्य यह कि तत्वदृष्टि के लिए तत्पर होना चाहिए। और इस प्रकार देखते हुए' और 'मुनि के' यह अपने अर्थमात्र में नहीं रहता, अपितु व्यक्त्य में ही विश्वाम लेता है। और 'जो' 'वह' ('यत्' 'तत्') शब्दों के स्वतन्त्र वर्ष नहीं हैं इसलिए सभी यह आख्यातसहाय पदसमूह व्यक्त्रय में ताल्य रखता है। उसे कहते हैं—इस वाक्य से—। प्रतिपादन किया है अर्थात् व्वनित होता है। विषमयित अर्थात् विषमयता को प्राप्त । किन्हीं दुष्कृतियों अथवा अतिविवेकियाँ का। किन्हीं सुकृतियों अथवा अत्यन्त अविवेकियों का अमृत बन जाता है। मिश्रकमें वालों (कुछ दुष्कृत कुछ सुकृत वालों) का अथवा विवेक-अविवेक वालों का विष-अमृतमय होता है। किन्हीं मूढप्राय अथवा घारा के ऋम से प्राप्त यीग की भूमिका में आरूढ़ छोगों का न विषमय न अमृतमय काल व्यतीत होता है।

तस्यैवार्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यस्य वाक्यप्रकाशता यथा— विसमइओ काण वि काण वि वालेइ अमिअणिम्माओ । काण वि विसामिअमओ काण वि अविसामओ कालो ॥ (विषमयितः केषामपि केषामपि प्रयात्यमृतनिर्माणः । केषामपि विषामृतमयः केषामप्यविषामृतः कालः ॥ इति छाया)

अत्र हि वाक्ये विषामृतश्चदास्यां दुःखपुखरूपसङ्क्रमितवाच्यास्यां व्यवहार इत्यर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यस्य व्यञ्जकत्वम् ।

उसी अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य की वाक्यप्रकाशता, जैसे-

समय किन्हों के लिए विपमय हो जाता है, किन्हों के लिए अमृत वन जाता है, किन्हों के लिए विपमय और अमृतमय दोनों हो जाता है और किन्हों के लिए न

इस वाक्य में दुःख और सुख रूप में संक्रमित वाच्य वाले 'विष' और 'अमृत' प्रक्तें से क्यवहार है, इस प्रकार अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य का व्यंजकत्व है।

·लोचनम्

विषास्तपदे च लावण्यादिशब्दविष्ठिहृढलक्षणाहृपतया सुखदुःखसाधनयोवतिते, यथा—विषं निम्बमसृतं किपत्थिमिति । न चात्र सुखदुःखसाधने तन्मात्रवि- श्रान्ते, अपि तु स्वकर्तव्यसुखदुःखपर्यविसते । न च ते साधने सर्वथा न विविक्षिते । निस्साधनयोस्तयोरभावात् । तदाह—सङ्क्रिमतवाच्याम्यामिति । केषाञ्चिदिति चास्य विशेषे सङ्क्रान्तिः । अतिक्रामतीत्यस्य च क्रियामात्र- सङ्क्रान्तिः । काल इत्यस्य च सर्वव्यवहारसङ्क्रान्तिः । उपलक्षणार्थं तु विषास्त्रमहणमात्रसङ्क्रमणं वृत्तिकृता व्याख्यातम् । तदाह—वाक्य इति ।

और 'अमृत' पद 'लावण्य' आदि शब्द की भाँति निरूढलक्षणा रूप होने के कारण सुख और दुःख के साधन में हैं, जैसे—िनम्ब विष है; किंग्त्थ अमृत है। यहां सुख और दुःख के साधन सुख और दुःख के साधन मुख और दुःख के साधनमात्र में विश्वान्त नहीं हैं अपि तु अप्रेक्तिय सुख और दुःख में पर्यवसित हैं। ऐसी बात नहीं कि वे साधन सर्वथा विवसित नहीं हैं, क्यों कि विना साधन के वे दोनों नहीं होते। इस लिए कहते हैं—सङ्क्रमित वाच्य वाले—। 'किन्हीं के लिए' इसका विशेष (दुष्कृती आदि उक्त विशेष अयं) में सङ्क्रान्ति है। 'काल' इसकी सभी व्यवहार (के अयं) में सङ्क्रान्ति है। वृत्तिकार ने तो वपलक्षण के लिए 'विष' और 'अमृत' शब्द मात्र के सङ्क्रमण का व्याख्यान किया है। इस लिए कहते हैं—वाक्य में—।

विवक्षिताभिधेयस्यानुरणन्रूपच्यङ्गचस्य शब्दशक्त्युद्भवे प्रमेहे

पदप्रकाशता यथा-

प्रातं घनैरथिजनस्य वाञ्छां दैवेन सृष्टो यदि नाम नास्मि। पथि प्रसन्नाम्बुधरस्तडागः कूपोऽथवा किं न जडः कृतोऽहम्॥१॥ अत्र हि जडं इति पदं निर्विण्णेन वक्कात्मसमानाधिकरणतया

विविचत वाच्य के अनुरणनरूपन्यक्षय (ध्वनि) के शब्दशक्त्युद्भव प्रमेद में

पद्प्रकाशता, जैसे--

यदि दैव ने मुझे याचकजन की इच्छा धनों से पूरी करने के लिए नहीं बनाय है तो क्यों नहीं मुझे मार्ग में स्वच्छ जल वाला तालाव अथवा जड कूप वनाया ! यहां निर्वेदयुक्त वक्ता द्वारा स्वसमानाधिकरण रूप से प्रयुक्त 'जड' पद अपनी

लोचनम्

एवं कारिकाप्रथमार्धलिखतां अतुरः प्रकारानुदाहृत्य द्वितीयकारिकार्धसी कृतान् षडन्यान् प्रकारान् क्रमेणोदाहरति —विविद्धतामिधेयस्येत्यादिना । प्रातुः मिति पूरियतुम्। धनैरिति बहुवचनं यो येनार्थी तस्य तेनेति सूच्नार्थम्। अत एवार्थिप्रहणम्। जनस्येति बाहुल्येन् हि लोको घनार्थी, न तु गुणैरपक रार्थी । दैवेनेति । अशक्यपर्यनुयोगेनेत्यर्थः । श्रस्मीति । अन्यो हि तावद्वरा कश्चित्सृष्टो न त्व्हमिति निर्वेदः। प्रसन्नं लोकोपयोगि अम्बु घारयतीति। कूगोऽयवैति । लोकैरप्यलच्यमाण इत्यर्थः । आत्मसमानाधिकरण्तयेति । जह किङ्कर्तव्यतामूढ इत्यर्थः, अथ च कूपो जडोऽर्थिता कस्य कीटशीत्यसम्मविः वेक इति । अत एव जडः शीतलो निर्वेदसन्तापरहितः । तथा जडः शीतजा

इस प्रकार कारिका के प्रथमार्थ में लक्षित चारों प्रकारों का उदाहरण देवर द्वितीयार्धं में स्वीकृत छः अन्य प्रकारों का क्रम से उदाहरण देते हैं —विविश्वतवान के—। 'प्रातुं' वर्थात् पूरी करने के लिए। 'धनों से' यहां बहुवचन 'जो जिसका वर्ष (मांग करने वाला) है उसे उसके द्वारा' इसके सूचनार्थ है। अत एव 'अर्थी' क ग्रहण किया है। 'जन' अर्थात् बहुलतया लोग घन चाहने वाले होते हैं न कि गुजी उपकार चाहते हैं। दैवने अर्थात् जिससे कोई प्रश्न नहीं किया जा सकता। कुर अर्थात् अन्य किसी को अवश्य बनाया होगा न कि मुझे, यह निर्वेद है। प्रसन्न (स्व अर्थात् लोकोपयोगी जल घारण करता है।—अथवा कूप—। अर्थात् लोगों की हिंह जिस पर न पड़े।—स्वसमानाधिकरण रूप से—। जड़ अर्थात् किन्द्रतंत्र्यतामूढ, कूप जड़ है अर्थात् कौन कैसा अर्थी है यह विवेक नहीं रखता। अत एवं जड क्यां शीतल, निर्वेद और सन्ताप से रहित । तथा जड अर्थात् शीत जल से युक्त

प्रयुक्तमतुरणनरूपतया कूपसमानाधिकरणतां स्वश्नक्त्या प्रतिपद्यते । तस्यैव वाक्यप्रकाशता यथा हर्षचिरते सिंहनादवाक्येषु-'वृत्तेऽ-रिमन्महाप्रलये धरणीधारणायाधुना त्वं शेषः'।

एतद्धि वाक्यमजुरणनरूपमर्थान्तरं शब्दशक्त्या स्फुटमेव प्रकाशयति। अस्यैव कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरस्यार्थशक्त्युद्धवे प्रमेदे पद-प्रकाशता यथा हरिविजये—

चूअंकुरावअंसं छणमप्यसरमहघ्घणमणहरसुरामोअम् ।

शक्ति से कूपसमानाधिकरणभाव प्राप्त करता है।

उसी की वाक्यप्रकाशता, जैसे 'हर्षचरित' में सिंहनाद के वाक्यों में—'इस महा-प्रख्य की स्थिति में पृथिवी के धारण के लिए तुम शेष हो।'

यह वाक्य अनुरणनरूप अर्थान्तर को शब्दशक्ति से स्पष्ट ही प्रकाशित करता है। कवित्रौढोक्तिमात्र से निष्पञ्चशरीर इसी के अर्थशक्त्युद्भव प्रमेद में पदप्रकाशता, जैसे 'हरिविजय' में—

आम्रमक्षरी के अवतंस वाले, चण (वसन्तोत्सव) के प्रसार से मनोहर सुर

लोचनम्

योगितया परोपकारसमर्थः। अनेन तृतीयार्थेनायं जडशब्दस्तटाकार्थेन पुनक् कार्थसम्बन्ध इत्यभिप्रायेणाह—कूपसमानाधिकरणतामिति। स्वशक्त्येति शब्द-शक्त्युद्भवत्वं योजयति। महाप्रलय इति। महस्य उत्सवस्य आसमन्तात्प्रलयो यत्र ताहिशि शोककारणभूते वृत्ते धरण्या राज्यधुराया धारणायासासनाय त्वं शेषः शिष्यमाणः। इतीयता पूर्णे वाक्यार्थे कल्पावसाने भूपीठभारोद्वहनन्त्रम एको नागराज एवं दिग्दन्तिप्रभृतिष्विप प्रलीनेष्वित्यर्थान्तरम्।

चूताङ्कुरावतंसं क्षणप्रसरमहार्घमनोहरसुरामोदम्।

कारण परोपकार करने में समर्थं। इस तृतीयार्थं से ('शीत जल से युक्त होने के कारण' इस हेतु से) 'जड' शब्द तालाब के अर्थं के साथ पुनरुक्त अर्थ-सम्बन्ध का हो जायगा (क्योंकि तालाब का विशेषण 'प्रसन्नाम्बुधर' दे ही चुके हैं) इस अभिप्राय से कहते हैं— कृपसमानाधिकरणभाव—। 'अपनी शक्ति से' इस कथन से शब्दशक्त्युद्भव की योजना करते हैं। महाप्रलय—। मह अर्थात् उत्सव का—आ समन्तात् प्रलयः (प्रकर्षेण लयः)— जहां हो जाता है उस प्रकार के शोककारणभूत प्रसंग में पृथिवी के अर्थात् राज्यधुरा के बारण के लिए अर्थात् आश्वासन के लिए तुम शेष हो अर्थात् बच रहे (शिष्यमाण) हो। स्तने से वाक्यार्थं के पूर्णं होने पर 'कल्पान्त में जब दिग्गज नष्ट हो गए तब नागराज ही अकेले पृथ्वी के धारण में क्षम रह गए' यह अर्थान्तर (प्रकाशित होता) है।

२१ ध्व०

असमप्पिअं पि गहिअं कुसुमसरेण महुमासलच्छिम्रहम् ॥ अत्र इसमर्पितमपि कुसुमञ्जरेण मधुमासलक्ष्म्या मुखं गृहीतमित्यः समर्पितमपीत्येतदवस्थाभिधायिपदमर्थञ्चन्त्या कुसुमञ्चरस्य बलात्कारं प्रकाशयति ।

(कामदेव) के आमोद (चमत्कार) से भरे (दूसरे पचमें बहुमूल्य सुरा की सुगिव से युक्त) वसन्तल्यमी के मुख को कामदेव ने विना समर्पित किए ही ग्रहण किया। यहां 'बिना समर्पित किए ही कामदेव ने वसन्तलच्मी के मुंख को प्रहण किया में 'विना समर्पित किए ही' इस अवस्था का अभिधान करने वाला पद अर्थशकि है कामदेव का बळात्कार प्रकाशित करता है।

लोचनम्

महार्घेण उत्सवप्रसरेण मनोहरसुरस्य मन्मथदेवस्य आमोदश्चमत्कारो क तत्। अत्र महार्घशब्दस्य परनिपातः, प्राकृते नियमाभावात् । छण इत्युत्सवः। असमर्पितमपि गृहीतं कुसुमशरेण मधुमासलन्मीमुखम्।।

मुखं प्रारम्भो वक्त्रं च । तच्च सुरामोद्युक्तं भवति । मध्वारम्भे कामश्रिकः माक्षिपतीत्येतावानयमर्थः कविप्रौढोक्त्यार्थान्तरव्यञ्जकः सम्पादितः। अत्र कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिशरीरार्थशक्त्युद्भवे पद्वाक्यप्रकाशतायामुदाहरणद्वं दत्तम्। "'भौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरः सम्भवी स्वतः' इति प्राच्यकारि काया इयतैवोदाहृतत्वं भवेदित्यभिप्रायेण । तत्र पद्प्रकाशता यथा-

सत्यं मनोरमाः कामाः सत्यं रम्या विभूतयः । किन्तुमत्ताङ्गनापाङ्गमङ्गलोलं हि जीवितम्।।

इत्यत्र कविना यो विरागी वक्ता निबद्धस्तत्त्रौढोक्त्या जीवितशब्दोऽर्थशिक

महार्ष (मह्नीय) उत्सव के प्रसार से मनोहरसुर अर्थात् कामदेव का आगोर अर्थात् चमत्कार है जहां वहां । यहां 'महार्घ' शब्द का 'परनिपात' है, क्योंकि प्राकृत में नियम नहीं । 'छण' (क्षण) अर्थात् उत्सव ।

मुख अर्थात् प्रारम्भ और वक्त्र । वह (मुख) सुरा के आमोद से युक्त होता है। मधु के आरम्भ में काम चित्त को आक्षिप्त (चलायमान) कर देता है, यही इतना अ कि की प्रौढोक्ति से अर्थान्तर का व्यक्षक बना दिया गया है। यहां, कविनिबद्धवक्तृपौढे क्तिशरीर अर्थशक्त्युद्भव में पदप्रकाशता और वाक्यप्रकाशता में दो उदाहरण नहीं दिए हैं इस अभिप्राय से कि 'प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीर: सम्भवी स्वतः' इस पूर्वकारिका क इतने ही से उदाहतत्व वन जायगां। उनमें पदप्रकाशता, जैसे-

यह ठीक है कि काम मनोरम होते हैं और यह ठीक है कि विभूतियां रम्य होती हैं, किन्तु जीवन मतवाली अङ्गना के कटाक्षमङ्ग की मांति चंचल है।

यहां कवि ने जिस विरागी वक्ता का निबन्धन किया है उसकी प्रौढोर्ि है

अत्रैव प्रभेदे वाक्यप्रकाश्चता यथोदाहृतं प्राक् 'सञ्जेहि सुरहिमासो' इत्यादि । अत्र सञ्जयति सुरिममासो न तावद्पयत्यनङ्गाय शरानित्ययं वाक्यार्थः कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पत्रशरीरो मन्मथोन्माथकदनावस्थां वसन्तसमयस्य स्चयति ।

स्वतःसम्भविशरीरार्थशक्त्युद्धवे प्रभेदे पदप्रकाशता यथा— वाणिअअ हत्तिदन्ता कुत्तो अझाण वाघिकत्ती अ। जाव छिलेआलअमुही घरम्मि परिसक्कप सुद्धा।।

इसी प्रभेद में वाक्यप्रकाशता, जैसे पहले उदारण दे चुके हैं—'सज्जेहि सुर-हिमासो॰' इत्यादि । यहां, सुरिममास वाणों को तैयार करता है, कामदेव को वाण अर्पित नहीं कर रहा है, यह कविप्रौढोक्तिमात्र से निष्पन्नशरीर वाक्यार्थ वसन्तसमय की काम के अतिशय उद्दीपन से जनित दुरवस्था को सूचित करता है।

स्वतःसम्भविशरीर अर्थशक्त्युद्भव प्रमेद में पद्मकाशता, जैसे— अरे विनये, हमारे यहां हाथी के दांत और बाघ के चमदे कहां, जब तक चंचल ल्टों से युक्त मुख वाली पतोहू घर में चमक-चमक कर चलती है।

लोचनम्

मूलतयेदं ध्वनयति—सर्वे एवामी कामा विभूतयश्च स्वजीवितमात्रोपयो-गिनः, तद्भावे हि सद्भिरिप तैरसद्रूपताप्यते, तदेव च जीवितं प्राणघारणरूप-त्वात्प्राणवृत्तेश्च चाञ्चल्यादनास्थापदमिति विषयेषु वराकेषु किं दोषोद्घोषणदौ-जन्येन निजमेव जीवितमुपालभ्यम्, तदिप च निसर्गचञ्चलमिति न सापराध-मित्येतावता गाढं वैराग्यमिति । वाक्यप्रकाशता यथा—'शिखरिणि' इत्यादौ ।

वाणिजकं हस्तिदन्ताः कुतोऽस्माकं व्याघ्रकृत्तयश्च । यावल्लुलितालकमुखी गृहे परिष्वकते स्तुषा ॥ इति झाया ।

सिविश्रमं चंक्रम्यते । अत्र लुलितेति स्वरूपमात्रेण विशेषणमवित्ततया जीवन' शब्द अर्थशिक्तमूल रूप से यह ध्वनित करता है—ये सभी काम और विभूतियां अपने जीवन मात्र के जपयोग की वस्तुएं हैं, क्योंकि उसके (जीवन के) अभाव में उन सज्जनों ने भी असद्रूप माना है, जब कि वही जीवन प्राणघारणरूप होने से और प्राणवृत्ति के चञ्चल होने से अनास्था का स्थान है तो बेचारे विषयों को दोष देने की प्रजनता से क्या लाभ ? पहले तो अपने ही जीवन को उपालम्भ देना चाहिए, वह भी स्वभावतः चंचल है अतः अपराधी नहीं, इस प्रकार गाढ वैराग्य है। वाक्यप्रकाशता जैसे, 'शिखरिणि॰' इत्यादि में।

(चमक-चमक कर चलती है) अर्थात् विलास या नजाकत के साथ चङक्रमण

अत्र छितालकमुखीत्येतत्पदं व्याधवध्वाः स्वतःसम्भावितश्चरी-रार्थशक्त्या सुरतक्रीडासिक्तं स्चयंस्तदीयस्य भर्तुः सततसम्भोगक्षामतां प्रकाशयति ।

तस्यैव वाक्यप्रकाशता यथा-

सिहिपिञ्छकण्णऊरा बहुआ वाहस्स गव्विरी भमइ। ग्रुताफलरइअपसाहणाणँ मज्झे सवत्तीणम्॥

अनेनापि वाक्येन व्याधवध्वाः शिखिपिच्छिकर्णपूराया नवपरिणी-तायाः कस्याश्चित्सौभाग्यातिश्चयः प्रकाश्यते । तत्सम्भोगैकरतो मयूर-मात्रमारणसमर्थः पतिर्जात इत्यर्थप्रकाशनात् तदन्यासां चिरपरिणीतानां मुक्ताफलरचितप्रसाधनानां दौर्भाग्यातिश्चयः ख्याप्यते । तत्ससम्भोग-

यहां, 'चंचल लटों से युक्त मुख वाली' 'लुलितालकमुखी' यह पद स्वतः सम्मा-वित शरीर अर्थशक्ति से न्याध-वधू की सुरत-क्रीडा में आसक्ति सूचित करता हुआ उसके पति की निरन्तर सम्मोग के कारण दुर्बलता प्रकाशित करता है।

उसी की वाक्यप्रकाशता, जैसे-

मोर-एंखों के कनफूछ पहने व्याध की पत्नी मुक्ताफल के यने गहनों वाली सौतों के बीच गर्वीली होकर घूमती है।

इस वाक्य से भी मोर-पंखों के कनफूछ वाछी नवपरिणीता किसी व्याध-पत्नी का अतिशय सौमाग्य प्रकाशित होता है। 'उसके साथ एकमात्र सम्भोग में रत पति सिर्फ मोर मारने में समर्थ रह गया' इस अर्थ के प्रकाशन से उसके अतिरिक्त, चिरपरिणीत मुकाफळ के वने गहनों वाछी (सौतों) का अतिशय दौर्माग्य सूचित

लोचनम्

च हस्तिद्न्ताद्यपाहरणं सम्भाव्यमिति वाक्यार्थस्य तावत्येव न काचिदः

सिहिपिच्छेति । पूर्वमेव योजिता गाथा ।

करती है। यहां 'छुल्ति' (या चंचल) यह विशेषण स्वरूपकथनमात्र से (प्रयुक्त) है और अभिमान से हाथीदांत का नहीं देना सम्भाव्य है, इस प्रकार इतने में ही वाक्यार्थ की कोई अनुपपत्ति नहीं है।

मोरपंत्रों-पहले ही लगाई हुई गाथा है।

काले स एव व्याधः करिवरवधव्यापारसमर्थ आसीदित्यर्थप्रकाशनात्। ननु ध्वनिः काव्यविशेष इत्युक्तं तत्कथं तस्य पदप्रकाशता। काव्यविशेषो हि विशिष्टार्थप्रतिपत्तिहेतुः शब्दसन्दर्भविशेषः। तद्भावश्च पदप्रकाशत्वे नोपपद्यते। पदानां स्मारकत्वेनावाचकत्वात्। उच्यते— स्यादेष दोषः यदि वाचकत्वं प्रयोजकं ध्वनिव्यवहारे स्यात्। न त्वेवम्; तस्य व्यञ्जकत्वेन व्यवस्थानात्। किं च काव्यानां शरीरा-किया है। क्यों कि अर्थ यह प्रकाशित होता है कि ब्याध वहे-वहे हाथियों को मार डाइने की सामर्थ्य रखता था।

'जब कि 'ध्विन कान्यविशेष है' ऐसा कह जुके हैं, तब उसकी पद्मकाशता कैसे ? क्यों कि विशिष्ट अर्थ की प्रतिपत्ति का हेतु शब्दसन्दर्भविशेष कान्यविशेष है, और उसका भाव पद्मकाश होने पर नहीं उपपन्न होता है, क्यों कि स्मारक होने के कारण पद अवाचक होते हैं। (समाधान में) कहते हैं—यह दोष तब होता यदि वाचकत्व ध्विन के ब्यवहार में प्रयोजक होता, परन्तु ऐसा नहीं है; क्यों कि

लोचनम्

निनिति । समुदाय एव ध्वनिरित्यत्र पत्ते चोद्यमेतत् । तङ्गावश्वेति । काव्य-विशेषत्विमत्यर्थः । अवाचकत्वादिति यदुक्तं सोऽयमप्रयोजको हेतुरिति छलेन तावद्दर्शयति — स्यादेष दोष इति । एवं छलेन परिहृत्य वस्तुवृत्तेनापि परिहरिति — किं चेति । यदि परो ब्रूयात् — न मया अवाचकत्वं ध्वन्यमावे हेतूकृतं किं तूकं काव्यं ध्वनिः । काव्यं चानाकाङ्कप्रतिपत्तिकारि वाक्यं न पद्मिति तत्राह्— सत्यमेवं, तथापि पदं न ध्वनिरित्यस्माभिकक्तम् । अपि तु समुदाय एवः तथा च पद्प्रकाशो ध्वनिरिति प्रकाशपदेनोक्तम् । ननु पद्स्य तत्र तथाविधं साम-ध्यमिति कुतोऽखण्ड एवः प्रतीतिक्रम इत्याशङ्कथाह्—काव्यानामिति । उक्तं हि प्राग्विवेककाले विभागोपदेश इति ।

जब कि—। 'समुदाय ही ब्विन है' इस पक्ष में यह प्रष्टव्य है। उसका भाव—। अर्थात् काव्यविशेषत्व। 'अवाचक होने के कारण' यह जो कहा है वह अप्रयोजक हेतु है, यह छल से दिखाते हैं— यह दोप तब होता—। इस प्रकार छल से परिहार करके परमार्थरूप से भी परिहार करते हैं—और भी—। यदि कोई दूसरा कहे—मैंने अवाच-कत्व को ब्विन के अभाव में हेतु नहीं माना है, किन्तु काव्य को 'ध्विन' कहा है। और काव्य बिना आकांक्षा के प्रतिपत्ति करने वाला वाक्य है पद नहीं, इस पर कहते हैं— यह ठीक है, तथापि 'पद ब्विन नहीं है' यह हमने कहा है, अपितु समुदाय ही (ध्विन) है, और जैसा कि 'पदप्रकाश ध्विन है' यह 'प्रकाश' पद से कहा है। पद की वहां उस प्रकार की सामर्थ्य है अतः अखण्डरूप से प्रतीतिक्रम कहां है ? यह आशक्का करके कहते हैं— काव्यों की—। पहले कहा गया है कि विवेक के समय विभाग का उपदेश है।

णामिव संस्थानविशेषाविष्ठित्रसम्रदायसाध्यापि चारुत्वप्रतीतिरन्वय-व्यतिरेकाम्यां भागेषु कल्प्यत इति पदानामपि व्यञ्जकत्वमुखैन व्यव-स्थितो ध्वनिव्यवहारो न विरोधी ।

'अनिष्टस्य श्रुतिर्यद्वदापादयति दुष्टताम् । श्रुतिदुष्टादिषु न्यक्तं तद्वदिष्टस्पृतिर्गुणम् ॥ पदानां स्मारकत्वेऽपि पदमात्रावभासिनः ।

उसका व्यक्षकरूप से व्यवस्थान है। और भी, शरीरों की भांति काव्यों की चारत प्रतीति, संस्थानविशेषरूप समुदायसाध्य होने पर भी अन्वय-व्यतिरेक से भागों में मानी जाती है, इस प्रकार पदों का भी व्यक्षकत्व के प्रकार से व्यवस्थित व्यक्ति-व्यवहार विरोधी नहीं है।

अनिष्ट का अवण श्रुतिदुष्ट आदि से जैसे दुष्टता छा देता है उसी प्रकार इष्ट अर्थ को स्पृति भी गुण हो जाती है।

इसिक्टिए पर्दों के स्मारक होने पर भी पदमात्र से प्रतीत होने वाले ध्विन के सभी प्रमेदों में रम्यता रह सकती है।

. लोचनम्

नतु मागेषु पदरूपेषु कथं सा चारुत्वप्रतीतिरारोपयितुं शक्या ? तानि हि स्मारकार्येव। ततः किम् ? मनोहारिव्यङ्ग यार्थस्मारकत्वाद्धि चारुत्वप्रतीति निवन्धनत्वं केन वार्यते। यथा श्रुतिदुष्टानां पेलवादिपदानामसभ्यपेलाद्ययं प्रति न वाचकत्वम्। अपि तु स्मारकत्वम्। तद्वशाच्च चारुस्वरूपं कार्यं श्रुतिदुष्टम्। तच्च श्रुतिदुष्टत्वमन्वयव्यतिरेकाभ्यां भागेषु व्यवस्थाप्यते तथा प्रकृतेऽपीति तदाह—श्रुनिष्टस्येति। अनिष्टार्थस्मारकस्येत्यर्थः। दुष्टतामित्यचा रुत्वम्। गुणमिति चारुत्वम्। एवं दृष्टान्तमभिधाय पादत्रयेण तुर्येण दाष्ट्रान्ति कार्यं उक्तः। अधुनोपसंहरति—पदानामिति। यत एविमष्टस्मृतिश्चारुत्वमा

(शंका) पद रूप मागों में वह चारुत्व की प्रतीति का आरोप कैसे किया जा सकता है ? क्योंकि वे (पद) स्मारक ही होते हैं । (समाधान—) इससे क्या ? मनोहारी व्यञ्जय के स्मारक होने के कारण (उन पदों की) चारुत्वप्रतीति का निवन्धनत्व किससे वारण होगा ? जैसे श्रुतिदुष्ट 'पेलव' आदि पद असस्य 'पेल' आदि अर्थ के वाचक नहीं हैं, अपितु स्मारक हैं। और इस कारण चारुस्वरूप काव्य श्रुतिदुष्ट हो जाता है। वह श्रुतिदुष्टत्व अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा भागों में , व्यवस्थापित होता है, इस प्रकार प्रकृत में मी, इसलिए कहते हैं—अनिष्ट का—। अर्थात् अनिष्ट अर्थ के स्मारक का। दुष्टत अर्थात् अचारुत्व । गुण अर्थात् चारुत्व । इस प्रकार दृष्टान्त का अभिधान करके चतुर्थ के तीन पादों से दार्षान्तिक अर्थ कहा है। अब उपसंहार करते हैं—मदों के—। विध

नेन ध्वनेः प्रभेदेषु सर्वेष्वेवास्ति रम्यता ॥ विच्छित्तिशोभिनैकेन भूषणेनेव कामिनी । पदद्योत्येन सुकवेर्ध्वनिना माति भारती ॥'

इति परिकरक्लोकाः ॥ १ ॥ यस्त्वलक्ष्यक्रमञ्यङ्गयो ध्वनिर्वर्णपदादिषु । वाक्ये सङ्घटनायां च स प्रबन्धेऽपि दीप्यते ॥ २ ॥

जिस प्रकार कामिनी विशेष शोभा वाले (विन्छितिशोभिना) एक ही आभूषण से शोभित होने छगती है उसी प्रकार सुकवि की वाणी पद से द्योतित होने वाली ध्वनि से शोभित होने छगती है।

ये परिकर-श्लोक हैं॥ १॥

परन्तु जो अलच्यक्रमञ्यङ्गय ध्विन वर्ण, पद आदि में होता है वह वाक्य में, संघटना में और प्रवन्ध में भी दीस होता है ॥ २ ॥

लोचनम्

वहित तेन हेतुना सर्वेषु प्रकारेषु निरूपितस्य पदमात्रावभासिनोऽपि पदप्रका-शस्यापि ध्वने रम्यतास्ति स्मारकत्वेऽपि पदानामिति समन्वयः। अपिशब्दः काकाक्षिन्यायेनोभयत्रापि सम्बध्यते। अधुना चारुत्वप्रतीतौ पदस्यान्वयव्य-तिरेकौ दशयति—विच्छित्तीति ॥ १॥

एवं कारिकां व्याख्याय तदसङ्गृहीतमलत्त्यक्रमव्यङ्गयं प्रपञ्चियतुमाह्यस्तिति । तुशव्दः पूर्वभेदेभयोऽस्य विशेषद्योतकः । वर्णसमुदायश्च पदम् । तत्समुदायो वाक्यम् । सङ्घटना पद्गता वाक्यगता च । सङ्घटितवाक्यसमुदायः कारण इस प्रकार इष्ट अर्थं की स्मृति चारुत्व अपित करती है उस कारण सब प्रकारों में निरूपित, पदमात्र से अवभासित होने वाले भी पदप्रकाश व्विन की रम्यता पदों के स्मारक होने पर भी है, यह (श्लोकार्यं का) समन्वय है। 'भी' शब्द ('अपि') 'काकाक्षिगोलक' न्याय (अर्थात् जिस प्रकार की अंका एक ही अक्षिगोल दोनों ओर का काम करता है उस प्रकार) से दोनों ओर लगेगा । अब चारुत्व की प्रतीति में पद का बन्वय-व्यतिरेक दिखाते हैं—विशेष शोभा (विच्छित्ति)—॥ १॥

इस प्रकार कारिका की व्याख्या करके उसके द्वारा असङ्गृहीत अलच्यक्रमव्यङ्गय का प्रपञ्च करने के लिए कहते हैं—परन्तु जो:—। 'परन्तु' ('तु') शब्द पहले के प्रमेदों से इसका विशेष द्योतक है, वर्णों का समुदाय 'पद' होता है, उन (पदों) का समुदाय 'वाक्य' होता है, संघटना पदमत और वाक्यगत होती है, संघटित वाक्यों का समुदाय

तत्र वर्णानामनर्थकत्वाद्द्योतकत्वमसम्भवीत्याश्रङ्कयेदग्रुच्यते— दाषौ सरेफसंयोगो ढकारश्चापि भूयसा। विरोधिनः स्युः श्रङ्कारे ते न वर्णी रसच्युतः॥ ३॥ त एव तु निवेद्दयन्ते बीभत्सादौ रसे यदा। तदा तं दीपयन्त्येव ते न वर्णी रसच्युतः॥ ४॥

उनमें, वर्णों के अनर्थंक होने के कारण द्योतकत्व असम्भव है, यह आशङ्का करके कहते हैं—

श, प, रेफ के साथ संयोग, और ढकार बहुत बार (प्रयुक्त होने पर) श्रङ्गार में विरोधी हैं, इसलिए वर्ण रस को प्रवाहित करने वाले नहीं (सिद्ध) होते हैं ॥३॥ परन्तु वे ही जब बीभत्स आदि रस में निवेशित किये जाते हैं तब उस (स) को दीपित ही करते हैं, इसलिए वर्ण रस को प्रवाहित करने वाले नहीं होते हैं॥ ४॥

लोचंनम्

प्रबन्धः इत्यभित्रायेण वर्णोदीनां यथाक्रममुपादानम् आदिशब्देन पदैकदेशः पदिक्षत्रा पदिक्षत्रा पदिक्षत्रा पदिक्षत्रा पदिक्षत्रा पदिक्षत्रा । दीप्ततेऽवभासते सकलका

व्यावभासकतयेति पूर्ववत्काव्यविशेषत्वं समर्थितम् ॥ २ ॥

मृयसेति प्रत्येकमिससम्बध्यते । तेन शकारो भूयसेत्यादि व्याख्यातव्यम्।
रेफप्रधानस्संयोगः केंद्वर्षे इत्यादिः । विरोधिन इति । परुषा वृत्तिरिरोधिनी
श्वन्नारस्य । यतस्ते वर्णा भूयसा प्रयुज्यमाना न रसांश्च्योतन्ति स्नवन्ति ।
यदि वा तेन श्वन्तरिधित्वेन हेतुना वर्णाः शषादयो रसाच्छुङ्गाराच्च्यवन्ते
तं न व्यञ्जयन्तीति व्यतिरेक उक्तः । अन्वयमाह—त एव त्विति । शाद्यः।
तिमिति । बीमत्सादिकं रसम् । दीपयन्ति द्योतयन्ति । कारिकाद्वयं तात्पर्वेष

'प्रवन्म' होता है, इस अभिप्राय से वर्ण आदि का ऋम से उपादान है। 'आदि' शब्द है पद के एकदेश, पदिवत्य आदि के ग्रहण हैं (· · · · · पद आदि में) सप्तमी से निमित्तल कहा है। दीप्त होता है अर्थात् सकल काव्य के अवभासकरूप से अवभासित होता है, इससे पूर्व की मांति काव्यविशेषत्व का समर्थन किया।। २।।

बहुत बार—। यह प्रत्येक के साथ लगेगा । इस लिए 'बहुत बार शकार' इत्यादि व्याख्यान करना चाहिए । रेफप्रधान संयोग केंह्नं इत्यादि । विरोधी—। पर्वा वृति प्रञ्जार की विरोधिनी है । क्यों कि वे वर्ण बहुत बार प्रयुज्यमान होकर रहों की प्रवाहित नहीं करते । अथवा ('तेन' अर्थात्) प्रञ्जार के विरोधी होने के कारण है, व बादि वर्ण रस अर्थात् प्रञ्जार से च्युत होजाते हैं, अर्थात् उसे व्यक्तित नहीं करते यह 'व्यतिरेक' कहा गया । 'अन्वय' कहते हैं—वे ही—। अर्थात् श आदि (वर्ण)। उसको वर्षात् वीसत्स आदि रस को । दीपित करते हैं अर्थात् चोतित करते हैं । दीनों

इलोकद्वयेनान्वयव्यतिरेकाभ्यां वर्णानां द्योतकत्वं दर्शितं भवति । श्लोकद्वय से अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा वर्णों का चोतकत्व माछम होता है।

लोचनम्

व्याचष्टे —श्लोकद्वयेनेति । यथासंख्यप्रसङ्गपरिहारार्थं श्लोकाभ्यामिति न कृतम् । पूर्वश्लोकेन हि व्यतिरेक उक्तो द्वितीयेनान्वयः । अस्मिन्विषये शृङ्गारतक्ष्यो शाषादिप्रयोगः सुकवित्वमिभवाञ्छता न कर्तव्य इत्येवंफलत्वादुपृदेशस्य कारिकाकारेण पूर्वं व्यतिरेक उक्तः । न च सर्वथा न कर्तव्योऽपि तु बीमत्सादौ कर्तव्य एवेति पश्चादन्वयः । वृत्तिकारेण त्वन्वयपूर्वेको व्यतिरेक इति शैलीमनु-सर्तुम चयः पूर्वमुपात्तः ।

एतदुक्तं भवति-यद्यपि विभावानुभावव्यभिचारिप्रतीतिसम्पदेव रसास्वादे निवन्धनम् । तथापि विशिष्टश्रुतिकशब्दसमध्यमानास्ते विभावादयस्तथा भवन्तीति स्वसंवित्सिद्धमदः । तेन वर्णानामिप श्रुतिसमयोपलच्यमाणार्थान-पेद्यपि श्रोत्रेकप्राह्यो मृदुपक्षात्मा स्वभावो रसास्वादे सहकार्येव । अत एव च सहकारितामेवाभिधातुं निमित्तसप्तमी कृता वर्णपदादिष्विति । न तु वर्णरेव रसाभिव्यक्तिः, विभावादिसंयोगाद्धि रसनिष्पत्तिरित्युक्तं बहुशः । श्रोत्रेकप्ताह्योऽपि च स्वभावो रसनिष्यन्दे व्याप्रियत एव, अपद्गीतध्वनिवत् पुष्कर-कारिकाओं का तात्पर्यं से व्याख्यान करते हैं—श्लोक द्वय से—। यथासंख्य का प्रसंग हटाने के लिए 'दोनों श्लोकों से' (श्लोकाम्यां) यह नहीं किया है, क्यों कि प्रथम खोक से 'व्यतिरेक' कहा है, दितीय से 'अन्वय'। श्रुङ्गार रूप इस विषय में शं, प आदि का प्रयोग सुकवित्व की इच्छा वाला व्यक्ति नहीं करे, एतद्कूप उपदेश के फल के कारण कारिकाकार ने पहले 'व्यतिरेक' कहा है। ऐसा नहीं कि सर्वथा नहीं करे, अपि तु बीमत्स आदि में करे ही, यह बाद में 'अन्वय' है। परन्तु वृत्तिकार ने 'अन्वयपूर्वक व्यतिरेक' इस शैली के अनुसरण के लिए 'अन्वय' का पहले उपादान किया है।

बात यह कही गई—यद्यपि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी की प्रतीतिसम्पत्ति ही रसास्वाद में कारण (निबन्धन) है, तथापि जिनका सुनना विशिष्ठ होता है ऐसे शब्दों द्वारा समप्यंमाण होकर वे विभाव आदि उस प्रकार (अर्थात् रसास्वाद में निबन्धन) होते हैं, यह स्वप्रतीतिसिद्ध बात है। इस कारण वर्णों का भी श्रवण के अवसर में जायमान अर्थ की अपेक्षा नहीं रखने वाला भी एकमात्र श्रोत्रद्वारा ग्राह्म मृदु अथवा परुष हप' स्वभाव रसास्वाद में सहकारी है ही। और इसी लिए सहकारिता के अभिष्यात के लिए 'वर्णं, पद आदि में' यह निमित्तसप्तमी की है। न कि वर्णों से ही रस की अभिष्यित होती है, विभाव आदि के संयोग से रसनिष्यत्ति होती है, यह बहुत बार कहा वां हुका है। एकमात्र श्रोत्रद्वारा ग्राह्म स्वभाव भी रसनिष्यन्द में व्यापृत होता

पदे चालक्ष्यक्रमव्यङ्गयस्य द्योतनं यथा—
उत्क्रिम्पनी भयपरिस्खिलितांशुकान्ता
ते लोचने प्रतिदिशं निधुरे क्षिपन्ती ।
क्रूरेण दारुणतया सहसैव दग्धा
धूमान्धितेन दहनेन न वीक्षितासि ॥

अत्र हि ते इत्येतत्पदं रसमयत्वेन स्फुटमेवावभासते सहदयानाम्। पदावयवेन द्योतनं यथा—

पद में अलद्यक्रमन्यङ्गय का द्योतन, जैसे-

भय के मारे छूट गए वस्त्र वालो, उन उस्कम्पशील विश्वर आँखों को चारों और दौड़ाती हुई तुझे दारुण होने के कारण क्रूर अग्नि ने सहसा ही जला डाला, शुर्वे से अंधे (उस अग्नि) ने तुझे नहीं देखा।

यहाँ 'उन' यह पद सहदयों को रसमय रूप में स्पष्ट ही प्रतीत होता है। पद के अवयव से द्योतन, जैसे---

लोचनम्

वाद्यनियमितविशिष्टजातिकरणघाद्यनुकरणशब्दवच्च । पदे चेति । पदे च सती-त्यर्थः । तेन रसप्रतीतिर्विभावादेरेव । ते विभावाद्यो यदा विशिष्टेन केनापि पदेनापर्यमाणा रसचमत्कारविधायिनो भवन्ति तदा पदस्यैवासौ महिमा समर्प्यत इति भावः ।

श्रत्र हीति । वासवदत्तादाहाकर्णनप्र बुद्धशोकनिर्भरस्य वत्सराजस्येदं परि-देवितवचनम् । तत्र च शोको नामेष्टजनविनाशप्रभव इति तस्य जनस्य ये श्रृद्धेपकटाक्षप्रभृतयः पूर्व रतिविभावतामवलम्बन्ते स्म त एवात्यन्तविनष्टाः सन्त इदानीं स्मृतिगोचरतया निरपेक्षभावत्वप्राणं करुणमुद्दीपयन्तीतिःस्थितम्।

ही है, बिना पद के गीत की ब्विन की भांति और पुष्कर वाद्य में नियमित एवं विशिष्ट जाति, करण, घ आदि अनुकरण शब्द की भांति । पद मं—। अर्थात् पद के होने पर। अतः रस की प्रतीति विभावादि से ही होती है। भाव यह कि वे विभाव आदि विशिष्ट किसी पद से अर्थमाण होकर रस-चमत्कार का विधान करते हैं तब पद की ही वह महिमा समर्पित होती है।

यहां—। वासवदत्ता के जल जाने की खबर सुनने से उत्पन्न शोकनिर्मर वाले बत्सराज का यह परिदेवितवचन है। इसमें बात यह है कि शोक इष्ट जन के विनाश से उत्पन्न होता है, इस प्रकार उस व्यक्ति के जो भूक्षेप, कटाक्ष प्र मृति पहले रित की विमावना का अवलम्बन करते थे वे ही अत्यन्त विनष्ट होते हुए अब स्मृतिगोचर होने के

ब्रीडायोगान्नतवदनया सनिधाने गुरूणां बद्धोत्कम्पं कुचकलशयोमन्युमन्तर्निगृह्य।

गुरुजनों (सास, असुर आदि) के समीप छजा के मारे सिर झुकाए, स्तन के कुछशों में कम्प उत्पन्न कर देने वाले क्रोध को भीतर ही रोक कर और आँसू टपका

लोचनम्

ते लोचने इति तच्छ्रब्दस्तक्षोचनगतस्यसंवेद्याव्यपदेश्यानन्तगुणस्मरणाकार-ग्रोतको रसस्यासाधारणनिमित्ततां प्राप्तः। तेन यत्केनिच्चोदितं परिहृतं च तिमध्यैव। तथाहि चोद्यम्—प्रक्रान्तपरामशंकस्य तच्छब्दस्य कथमियति सामध्यमिति। उत्तरं च—रसाविष्टोऽत्र पराम्रष्टेति। तदुभयमनुत्थानोपहृतम्। यत्र ह्यनूहिश्यमानधर्मान्तरसाहित्ययोग्यधर्मयोगित्वं वस्तुनो यच्छब्देनामिधाय तद्बुद्धिस्थधर्मान्तरसाहित्यं तच्छब्देन निर्वोच्यते। यत्रोच्यते-'यत्तदोर्नित्य-सम्बन्धत्वम्' इति, तत्र पूर्वप्रक्रान्तपरामर्शकत्वं तच्छब्दस्य। यत्र पुनर्निमित्तो-

कारण निरपेक्ष भावत्व प्राण करुण को उद्दीपित करते हैं। 'उन आंखों को' यहां 'उन' ('तत्') शब्द उसकी आंखों के स्वसंवेद्य एवं अव्यपदेश्य अनन्त गुणगणों के स्मरण के आकार का द्योतक बन कर रस का असाधारण निमित्त हो जाता है। इस लिए जो किसीने प्रश्न किया है और परिहार किया है, वह मिध्या ही है। जैसा कि प्रश्न है—प्रकान्त के परामर्थक 'तत्' ('उन') शब्द की इतने में सामर्थ्य कैसे है? और उत्तर है—परामर्श करने वाला यहां रसाविष्ट है। ये दोनों अवसर न मिलने से (अनुत्थान के कारण) उपहत (बेकार) हैं। क्योंकि' जहां 'यत्' शब्द से वस्त्र का अनू द्वियमान धर्मान्तर के साहित्ययोग्य धर्म का योगित्व अभिधान करके उस वुद्धिस्य धर्मान्तर के साहित्ययोग्य धर्म का योगित्व अभिधान करके उस वुद्धिस्य धर्मान्तर के साहित्य (सम्बन्ध) को 'तत्' शब्द के द्वारा बोब करते हैं, जहां कहते हैं— 'यत्' और 'तत्' का नित्य सम्बन्ध है, वहां 'तत्' शब्द पहले के प्रकान्त का परामर्थक होता है। फिर जहां 'तत्' शब्द किसी कारण से लाए गए स्मरण-विशेष के आकार का

१. छोचनकार के बहुने का आश्य यह है कि 'तत्' शब्द का प्रयोग दो प्रकार से होता है। एक तो पूर्व प्रकान्त के परामर्श के लिए और दूसरा किसी निमित्त से प्राप्त स्मरण-विशेष के आकार की सूचना के लिए। जहां पहले प्रकार से प्रयोग होता है वहां 'यत्तरोनित्यं सम्बन्धः' स्म नियम के अनुसार 'यत्' शब्द का होना अनिवार्य होता है, न होने पर आक्षेप कर लिया बाता है। किन्तु जहां किसी कारणवश प्राप्त स्मरण-विशेष के आकार का 'तत्' शब्द सूचक होता है वहां 'यत्' के प्रयोग की आवश्यकता नहीं होती। प्रस्तुत उदाहरण में 'ते लोचने' का 'तत् शब्द दूसरे प्रकार से प्रयुक्त हुआ है, अर्थात् यहाँ उस नायिका के नेत्रों के स्वसंवेध एवं अन्यपदेश्य अनन्त गुणों के स्मरण के आकार का खोतक या सूचक है। किन्तु दूसरे किसी ने अमवश प्रथम प्रकार से यहां 'तत्' शब्द का प्रयोग समझकर जो समाधान किया है वह सर्वधा ठीक नहीं।

तिष्ठेत्युक्तं किमिव न तया यत्सम्रुत्सृज्य बाष्पं मय्यासक्तश्रकितहरिणीहारिनेत्रत्रिभागः ॥

कर उसने चिकत हरिणी की भांति मनोहर नेत्रों का तीसरा भाग (अर्थांव कटाइ) मुझमें छगा दिया तो क्या उसने 'ठहरो' यह नहीं कहा ?

लोचनम्

पनतस्मरणविशेषाकारसूचकत्वं तच्छ्रब्दस्य 'स घट' इत्यादौ यथा, तत्र क परामर्शकत्वकथेत्यास्तामलीकपरामर्शकैः पण्डितम्मन्यैः सह विवादेन।

उत्किम्पनीत्यादिना तदीयभयानुभावोत्त्रेक्षणम् । मयाऽनिर्वोहितप्रतीकाः मिति शोकावेशस्य विभावः । ते इति सातिशयविश्वमैकायतनरूपे अपि लोको विधुरे कान्दिशीकतया निर्लेचे क्षिपन्ती कस्त्राता कासावार्यपुत्र इति तये लोचनयोस्तादशी चावस्थेति सुतरां शोकोद्दीपनम् । कृरेगोति । तस्यां स्वभाव एव । किं कुरुतां तथापि च घूमेनान्धीकृतो द्रष्टुमसमर्थ इति न तु सविवेकस्येदशानुचितकारित्वं सम्भाव्यते, इति समर्यमाणं तदीयं सौन्दर्वे मिदानीं सातिशयशोकावेशविभावतां प्राप्तमिति । ते शब्दे सित सर्वोऽयम्भं निर्व्यूदः । एवं तत्र तत्र ब्याख्यातव्यम् ।

सूचक होता है, जैसे 'वह घट' इत्यादि में वहां परामर्शकत्व की बात क्या ? पिया परामर्श करने वाले पण्डितम्मन्य जनों के साथ विवाद व्यर्थ है !

'उत्कर्यशील' इत्यादि से उसके भय के अनुभावों का उत्प्रेक्षण है। जब कि मैं कोई उसका प्रतीकार नहीं किया, यह शोकावेश का विभाव है। 'उन' अर्थात् अतिका विलासों के एकमात्र आयतन रूप भी भय के मारे विघुर नेत्रों को दौड़ाती हुई 'कैंव बचाने वाला है, वह आयंपुत्र कहां हैं? यह उन आँखों की अवस्था पूर्ण रूप से बोक का उद्दीपन है। कूर—। उसका यह स्वभाव ही है। क्या करें, तथापि घुयें से अबा होने के कारण देख नहीं सका; विवेकशील व्यक्ति ऐसा अनुचित नहीं कर सकता। हा प्रकार स्मरण किया जाता हुआ उसका (रत्नावली का) सौन्दर्य इस समय अतिका शोकावेश का विभाव बन रहा है। 'उन' शब्द के होने पर यह सब अर्थ निर्वाह हो जाता है। इस प्रकार वहां-वहां व्याख्यान कर लेना चाहिए।

अाचार िखते हैं कि जहाँ 'तत्' शब्द पूर्व प्रकान्त का परामर्शक होता है वहाँ दोनों का प्रवेष अनिवार्य है, जैसे, 'यों विद्वान् स पूज्यः'। यहाँ पर 'यत्' शब्द से अनूहिश्यमान धर्मांतर पूज्यः से सम्बन्ध योग्य धर्मान्तर विद्वत्त्व के सम्बन्ध का अभिधान करके उस हुद्धि धर्मांतर विद्वत्त्व का साहित्य सम्बन्ध 'तत्' शब्द से परामर्श किया गया है। प्रस्तुत उदाहरण में छोवनका के अनुसार 'ते' यह पद स्मरण विशेषाकार का सूचक होने के कारण, कि सहदयों को रसम्त्रीति में सहायक होता है, क्योंकि यहाँ इसी शब्द से करुण रस के अनुकूछ विभावादि समर्थिति होकर रस-चमत्कार को उत्पन्न करते हैं।

इत्यत्र त्रिभागश्चब्दः।

वाक्यरूपश्रालक्ष्यक्रमन्यङ्गयो ध्वनिः ग्रुद्धाऽलङ्कारसङ्कीर्णश्रेति द्विधा मतः। तत्र ग्रुद्धस्योदाहरणं यथा रामाम्युदये—'कृतककुपितैः' इत्यादि

यहाँ तीसरा भाग (त्रिभाग)' शब्द ।

वाक्यरूप अलच्यक्रमन्यङ्गय ध्वनि 'शुद्ध' और 'अलङ्कारसङ्कीर्ण' यह दो प्रकार का माना गया है। उनमें 'शुद्ध' का उदाहरण, जैसे--रामाम्युद्य में 'कृतककुपितैः॰'

लोचनम्

त्रिभागशन्द इति । गुरुजनमवधीर्योपि सा मां यथा तथापि सामिलाषमन्युदैन्यगर्वमन्थरं विलोकितवतीत्येवं स्मरणेन परस्परहेतुकत्वप्राणप्रवासविप्रलम्भोद्दीपनं त्रिभागशन्दसित्रधौ स्फुटं भातीति । वाक्यरूपश्चेति । प्रथमानिर्देशेनाव्यतिरेकनिर्देशस्यायमभिप्रायः । वर्णपदतद्वागादिषु सत्स्वेवालच्यक्रमो व्यङ्गयो निर्भासमानोऽपि समस्तकाव्यव्यापक एव निर्भासते, विभावादिसंयोगप्राणत्वात् । तेन वर्णोदीनां निमित्तत्वमात्रमेव, वाक्यं तु ध्वनेरलद्यक्रमस्य न निमित्ततामात्रेण वर्णोदिवदुपकारि, किं तु समप्रविभावादिप्रतिपत्तिव्याप्रतत्वाद्रसादिमयमेव तिन्नभौसत इति 'वाक्य' इत्येतत्कारिकायां न
निमित्तसप्तमीमात्रम् , अपि त्वनन्यत्र भावविषयार्थमपीति । शुद्ध इत्यर्थालक्कारण केनाप्यसंमिश्रः ।

'तीसरा भाग' ('त्रिभाग') शब्द—। गुरुजन की परवाह न करके भी वह मुझे जिस किसी प्रकार भी अभिलाल-सहित कोय, दैन्य एवं गवं से मन्यर भाव से देखने लगी, इस प्रकार स्मरण से परस्पर हेतु होने से उत्पन्न होने वाले प्रवासविप्रलम्भ का उदीपन 'तीसरा भाग' ('त्रिभाग') शब्द के सिन्नधान में स्पष्ट प्रतीत होता है। वाक्यरूप—। प्रयमा विभक्ति के निर्देश द्वारा अव्यतिरेक अर्थात् अभेद के बोधन का यह अभिप्राय है—वणं, पद और पदभाग आदि में निर्मासमान भी अलच्यक्रमव्यक्ष्य समस्त काव्य में व्यापकरूप में ही निर्मासित होता है, क्यों कि विभाव आदि का संयोग उसका प्राण है। इस लिए वणं आदि निमित्तमात्र ही होते हैं, परन्तु वाक्य अलच्यक्रम व्वनि का निमित्ततामात्र से वणं आदि की भांति उपकार नहीं करता, किन्तु समग्र विभाव आदि की प्रतिपत्ति (ज्ञान) से व्यापृत होने के कारण वह (वाक्य) रसमय ही निर्मासित होता है, इस लिए 'वाक्य में' यह (दूसरी) कारिका में निमित्तार्थंकसप्तमीमात्र नहीं है। अपि तु अन्यत्र विषय का अभाव है इस (अर्थं के बोध के लिए सप्तमी है)। 'शुद्ध' वर्षात् किसी भी अर्थालक्क्षार से न मिला हुआ।

श्लोकः । एतद्धि वाक्यं परस्पराजुरागं परिपोषप्राप्तं प्रदर्शयत्सर्वत एव परं रसतत्त्वं प्रकाशयति ।

इत्यादि रलोक । यह वाक्य परिपुष्ट परस्परानुराग को प्रदर्शित करता हुआ सब बोर से उत्कृष्ट रसतस्य को प्रकाशित करता है।

लोचनम्

कृतककुपितैबोब्पाम्मोिमः सदैन्यविलोकितै-वेनमिप गता यस्य प्रीत्या घृतािप तथाम्बया । नवजलधरश्यामाः पश्यन्दिशो भवती विना कठिनहृद्यो जीवत्येव प्रिये स तव प्रियः ॥

अत्र तथा तैस्तैः प्रकारमीत्रा भृतापीत्यनुरागपरवशत्वेन गुरुवचनोञ्जहन्ममि तथा कृतमिति । प्रिये प्रिय इति परस्परजीवितसर्वस्वाभिमानात्मको रितस्थायिमाव उक्तः । नवजलघरेत्यसोढपूर्वप्राष्ट्रपेण्यजलदालोकनं वित्रलम्भो हीपनविमावत्वेनोक्तम् । जीवत्येवेति सापेक्षभावता एवकारेण करुणावकाश्विराकरणायोक्ता । सर्वत एवेति । नात्रान्यतमस्य पदस्याधिकं किञ्जिद्रसम्बक्ति हेतुत्विमत्यर्थः । रसतक्तिर्मित । वित्रलम्भश्वज्ञारात्मतक्त्वम् ।

[कृतककुपितैबिष्पाम्मोभिः सदैन्यविलोकितै— वैनमपि गता यस्य प्रीत्या धृताऽपि तथाऽम्बया । नवजलधरस्यामाः पश्यन् दिशो भवतीं विना कठिनहृदयो जीवत्येव प्रिये स तव प्रियः ॥]

कृतिम कोपों से, अश्रुजलों से और दीनतापूर्ण निरीक्षणों से उस प्रकार माता के द्वार रोके जाने पर भी जिसके प्रेमवश तू वन को भी चली आई, हे प्रिये! नये बादलों हे स्यामवर्ण दिशाओं को देखताहुआ तुम्हारे बिना कठिनहृदय वह प्रिय जी है रहा है।

यहां उस प्रकार उन उन प्रकारों से माता के द्वारा रोके जाने पर भी, अविष् अनुराग के परवश होने के कारण गुरुवचन का उल्लंघन भी तुमने किया। 'प्रिये' 'प्रिय', इससे एक दूसरे के जीवितसर्वंस्व होने के अभिमान रूप रितस्थायिभाव कहा गया है। 'नये वाव्छ' इससे असहा वर्षाकालीन वादलों का आलोकन विप्रलम्भ के उद्दीपनिवश्य के रूप में कहा है। 'जी ही रहा है' 'ही' (एवकार) से यह सापेक्षभावता करण रह के प्रसंग के निराकरण के लिए कही गई है। सब ओर से—। अर्थात् यहां कोई ऐसे पद नहीं जो कुछ ही रस की अभिव्यक्ति करता है। रसतत्व अर्थात् विप्रलम्भग्रुक्तर रूप आत्मतत्त्व।

अलङ्कारान्तरसङ्कीणों यथा—'स्मरनवनदीपूरेणोढाः'इत्या दिश्लो-कः। अत्र हि रूपकेण यथोक्तव्यज्जकलक्षणानुगतेन प्रसाधितो रसः सुतरामभिव्यज्यते ॥ ३-४॥

अळङ्कारान्तरसङ्गीर्ण, जैसे---

'स्मरनवनदीपूरेणोढाः' इत्यादि रलोक । यहाँ न्यक्षक यथोक्त लक्षणों से युक्त रूपक से अलङ्कृत रस अच्छे दक्ष से अभिन्यक्त होता है॥ ३-४॥

लोचनम्

स्मरनवनदीपूरेणोढाः पुनर्गुरुसेतुमिर्यदिप विधृतास्तिष्ठन्त्यारादपूर्णमनोरथाः। तदिप लिखितप्रख्येरङ्गेः परस्परमुन्मुखा नयननलिनीनालानीतंपिबन्ति रसंप्रियाः॥

स्पकेगोति । स्मर एव नवनदीपूरः प्राष्ट्रिषेण्यप्रवाहः सरमसमेव प्रवृद्धत्वात् तेनोढाः परस्परसां मुख्यम बुद्धिपूर्वमेव नीताः । अनन्तरं गुरवः श्वष्रप्रभृतय एव सेतवः, इच्छाप्रसररोधंकत्वात् । अथ च गुरवोऽ ताङ्घ्याः सेतवस्तैः विधृताः प्रतिहतेच्छाः । अत एवापूर्णमनोरथास्तिष्टन्ति । तथापि परस्परोन्मुखता-त्रक्षिणनान्योन्यतादात्म्येन स्वदेहे सकलवृत्तिनिरोधाङ्गिखितप्रायरङ्गैर्नयनान्येव नित्नीनात्वानि तैरानीतं रसं परस्परामिलाषलक्षणमास्वादयन्ति परस्परा-मिलापात्मकदृष्टिच्छटामिश्रीकारयुक्त्यापि कालमितवाह्यन्तीति । नतु नांत्र

> [स्मरनवनदीपूरेणोढाः पुनगुर्धसेतुमि-यंदिपि विधृतास्तिष्ठन्त्यारादपूर्णंमनोरथाः । तदिपि लिखितप्रस्येरङ्गेः परस्परमुन्मुखा नयननलिनीनालानीतं पिबन्ति रसंप्रियाः ॥]

काम की नयी नदी के प्रवाह में बहे जाते हुए, पुनः गुरु (गुरुजन, माता-पिता आदि, पक्ष में विशाल) के सेतु से रोके गए अपूर्णमनोरथ प्रिय (प्रेमी और प्रेमिका) यद्यपि दूर-दूर खड़े रहते हैं तथापि चित्रलिखित की भांति अंगों से उन्मुख होकर नेत्रों के मृणाल से लाए गए रस का परस्पर पान करते हैं।

रूपक से—। काम ही नवनदीपूर अर्थात् वर्णकालीन प्रवाह है, क्योंकि वड़े वेग से वह वढ़ जाता है, उसके द्वारा ऊढ अर्थात् बिना सोचे-विचारे ही एक दूसरे के सम्मुख हुए। अनन्तर, गुरु अर्थात् सास प्रभृति ही सेतु हैं, क्योंकि वे इच्छा के वंग को रोक देते हैं, और भी, गुरु अर्थात् अलङ्घ्य जो सेतु हैं उनके द्वारा रोके गए अर्थात् प्रतिहत इच्छा वाले। अत एव अपूर्णमनोरथ खंड़े रहते हैं। तथापि परस्पर उन्मुखतारूप अन्योत्य तादात्म्य के द्वारा अपने शरीर में समस्त वृत्तियों का विरोध हो जाने पर लिखितप्राय अङ्गों से (उपलक्षण में तृतीया) नयनरूपी निलनीनालों अर्थात् मृणालों द्वारा आनीत परस्परामिलाषरूप रस का आस्वादन करते हैं, अर्थात् परस्परामिलाषरूप दृष्टिच्छटा के मिश्रीकार की युक्ति से भी काल-यापन करते हैं। (शङ्का—) यहां रूपक का पूर्ण रूप से

अलक्ष्यक्रमन्यङ्ग्यः सङ्घटनायां भासते घ्वनिरित्युक्तं तत्र सङ्घटना-स्वरूपमेव ताविभरूप्यते—

अल्ड्यक्रमन्यङ्गय ध्वनि सघटना में (भी) भासित होता है, यह कह चुके है, वहाँ संघटना का स्वरूप ही पहले निरूपण करते हैं--

लोचनम्

रूपकं निर्व्यूढं हंसचक्रवाकादिरूपेण नायकयुगलस्यारूपितत्वात्। ते हि हंसाद्या एकनितनालानीतसिललपानकीडादिषूचिता इत्याशङ्क्याह—यथोकव्यक्षकेति। उक्तं हि पूर्वम्—'विवस्नातत्परत्वेन' इत्यादी 'नातिनिर्वहर्णे-षिता' इति। प्रसाधित इति। विभावादिभूषणद्वारेण रसोऽपि प्रसाधित इत्यर्थः॥ सङ्घटनायामिति भावे प्रत्ययः, वर्णोदिवच निमित्तमात्रे सप्तभी। उक्तमिति।

कारिकायाम्। निरूप्यत इति । गुर्योभ्यो विविक्ततया विचार्यत इति यावत्। निर्वाह नहीं किया गया है, क्योंकि नायकयुगल का हंस, चक्रवाक आदि रूप से रूपण नहीं किया गया है, क्योंकि वे हंस आदि एक मृणाल से आनीत जल के पान की क्रीड़ा आदि कार्यों में काविल होते हैं, यह आशंका करके कहते हैं—व्यंजक यथोक्तल्पण—। पहले कह चुके हैं 'विवक्षातत्परत्वेन' इत्यादि में 'नातिनिर्वहणैषिता' अर्थात् किसी अलङ्कार के अति दूर तक निर्वाह की इच्छा न हो। अल्कुत्त—। अर्थात् विभाव आदि भूषण के द्वारा रस भी अलंकुत या प्रसाधित होता है।। ३—४।।

'संघटना'' यह भाव में प्रत्यय है और (पूर्व कारिका में) 'वर्ण' आदि की मांति निमित्त मात्र में 'सप्तमी' है। कही है—कारिका में । निरूपण करते हैं—अर्थात् गुणों से भिन्न रूप से विचार करते हैं। 'रसान्' (हंसों को) यह कारिका में द्वितीयार्य का

१. यहाँ ध्वनिकार 'संघटना' पर एक विस्तृत विचार प्रस्तुत करते हैं। ध्वनिकार से पूर्व आचार्य वामन ने 'रीति' के नाम को साहित्य-शास्त्र में प्रतिष्ठित िक्या था और 'रीति' को कान्य का आत्मा बताया था ('रीतिरात्मा कान्यस्य')। दण्डी ने रीति को 'मार्ग' कहा, किन्तु प्रसिद्धित्व उसका छक्षण नहीं किया। साहित्य-शास्त्र के आध आचार्य मामह के प्रन्थ में इसका उच्छेव नहीं मिछता। आचार्य वामन ने 'विशिष्टपदरचना' को 'रीति' कहा है और 'विशेष' का अर्थ 'गुण' किया है। इस प्रकार गुणात्मक पदरचना ही 'रीति' है। वामन ने रीति को तीन प्रकार की माना है—वैदर्भी, गौडी और पान्नाछी। ओज, प्रसाद आदि समग्र गुणों वाछी रचवा 'वैदर्भी' है, ओज और कान्ति गुणों वाछी रचना 'गौडी' है और माधुर्य और सौकुमार्य से बुक रचना 'पान्नाछी' है। जिसमें सर्वथा समास का अभाव हो उसे शुद्ध वैदर्भी कहा है। आनन्दवर्वव को प्रस्तुत 'सङ्घटना' वामन की 'रीति' ही है, क्योंकि ये भी असमासा, मध्यम-समासा और दीर्षसमासा, तीन भेद करते हैं, जिनमें पदरचना का ही उपयोग है। आनन्दवर्थन ने रीति या सङ्घटना वो इतना महत्त्व नहीं दिया जो वामन ने दिया, किन्तु आचार्य आनन्दवर्थन हतना अवस्य स्वीकार करते हैं कि वर्ण, पद आदि की भाँति सङ्घटना भी कान्य के आत्मा 'ध्वनि' को ध्यित करती है, रस से उसका गहरा सम्बन्ध है।

असमासा समासेन मध्यमेन च भूषिता।
तथा दीर्घसमासेति त्रिधा सङ्घटनोदिता॥ ५॥
कैश्चित्—तां केवलमन्द्रोदग्रुच्यते—
गुणानाश्चित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन्व्यनिक सा।

रसान्-

सा सङ्घटना रसादीन् व्यनक्ति गुणानाश्रित्य तिष्ठन्तीति । अत्र च विकल्प्यं गुणानां सङ्घटनायाश्रेक्यं व्यतिरेको वा । व्यतिरेकेऽपि संघटना तीन प्रकार की कही है—असमासा, मध्यम-समासा तथा दीर्घसमासा ॥ कुछ छोगों ने उसका केवल अनुवाद करके यह कहते हैं— माधुर्य आदि गुणों का आश्रयण करके रहती हुई वह रसों को व्यक्त करती है। वह संघटना रस आदि को व्यक्त करती है गुणों का आश्रयण करके रहती हुई। यहाँ विकल्प करना चाहिए कि गुणों का और संघटना का ऐक्य (अभेद) है अथवा

लोचनम्

रसानिति कारिकायां द्वितीयार्धस्याद्यं पदम्। 'रसांस्तित्रयमे हेतुरौचित्यं वक्तृवाच्ययोः' इति कारिकार्धम् । बहुवचनेनाद्यर्थः सङ्गृहीत इति दर्शयति—रसादीनिति । अत्र चेति । अस्मिन्नेव कारिकार्धे । विकल्पेनेदमर्थजातं कल्पयितुं व्याख्यातुं शक्यम् , किं तदित्याह—गुणानामिति । त्रयः पक्षा ये सम्माव्यन्ते ते पद है । 'रसांस्तित्रयमे हेतुरौचित्यं वक्तृवाच्ययोः' यह कारिकार्धं है । बहुवचन से 'बादि' अर्थं संगृहीत है, यह दिखाते हैं—रस आदि को—। यहां—। इसी कारिकार्धं में । विकल्प के द्वारा यह अर्थंसमूह कल्पना, व्याख्यान किया जा सकता है, वह क्या है ? कहते हैं —गुणों के—। तीन विकल्प जो सम्मावित होते हैं व्याख्यान किए जा

१. मुख्यरूप से सङ्घटना और गुणों का सम्बन्ध और सङ्घटना को रसामिन्यक्ति का एक साधन, वे दो वात प्रस्तुत ग्रन्थ में विवेचित हैं, इसकी आधारमूत कारिका का यह अंग्र है—'गुणानामित्य तिष्ठनी माधुर्यांदीन् व्यनक्ति सा। रसान्।' कारिका के 'गुणानामित्य' इस निर्देश के अनुसार गुणों और सङ्घटना के सम्बन्ध को लेकर तीन विकल्प किए गए हैं—प्रथम विकल्प के अनुसार गुण और रीति का अमेद है, (मेद पक्ष स्वीकार करने पर) सङ्घटना के आमित गुण हैं अथवा गुण को आमित सङ्घटना है, ये दो विकल्प हैं। वामन ने रीति और गुण का अमेद माना है। इस अमेद पक्ष के अनुसार 'गुणानामित्य' का अर्थ 'आत्ममूत गुणों का आमयण करके'। यद्यपि गुण और सङ्घटना का अमेद है तथापि 'ग्रिशमा के आमित बृक्षत्व' की भौति स्वामित्र वस्तु का भी स्व से मेद परिकल्पित किया है। गुण और सङ्घटना में मेद मानने वाले मट्ट उन्नट आदि के अनुसार गुण सङ्घटना के धर्म हैं, और धर्म अपने धर्मी के आमित होते ही हैं इस लिए गुण

द्वयी गतिः । गुणाश्रया सङ्घटना, सङ्घटनाश्रया वा गुणा इति । तत्रै-क्यपक्षे सङ्घटनाश्रयगुणपक्षे च गुणानात्मभूतानाधेयभूतान्वाश्रित्य तिष्ठन्ती सङ्घटना रसादीन् व्यनक्तीत्ययमर्थः । यदा तु नानात्वपक्षे गुणाश्रयसङ्घटनापक्षः तदा गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती गुणपरतन्त्रस्वभावा न तु गुणरूपैवेत्यर्थः । कि पुनरेवं विकल्पनस्य प्रयोजनमिति ?

च्यतिरेक (मेद)। व्यतिरेक (मेद) में भी दो ढक्क हैं, गुणों के आश्रित संघटना है या संघटना के आश्रित गुण हैं। वहाँ, ऐक्य (अभेद) पत्त में और संघटना के आश्रित गुण हैं। वहाँ, ऐक्य (अभेद) पत्त में और संघटना के आश्रित गुणों के पत्त में अर्थ यह होता है कि आत्मभूत अथवा आधेयभूत गुणों का आश्रयण करके रहती हुई संघटना रस आदि को व्यक्त करती है। परन्तु जब नानाख (अर्थात् भेद) पत्त में गुणों के आश्रयण करके रहती हुई, गुणों के परतंत्र स्वभाव वाली है, व कि गुण रूप ही है। फिर इस प्रकार विकल्प करने का प्रयोजन क्या है ?

लोचनम्

व्याख्यातुं शक्याः । कथ मृत्याह्—तत्रेक्यपद्म इति । आत्मभूतानिति । स्वभाव-स्य कल्पनया प्रतिपादनाथं प्रदर्शित भेदस्य स्वाश्रयवाचोयुक्तिर्दृश्यते शिशपा-श्रयं वृक्षत्वमिति । आषेयभूतानिति । सङ्घटनाया धर्मा गुणा इति भट्टोद्भटाद्यः, धर्माश्च धर्म्याश्रिता इति प्रसिद्धो मार्गः । गुण्परतन्त्रेति । अत्र नाधाराषेय-सकते हैं । कैसे ? कहते हैं—वहां ऐक्यपद्म में—। आत्मभूत—। स्वभाव के प्रतिपादन के लिए कल्पना से प्रदिश्तित भेद वाली वस्तु का 'स्वाश्रय' कहने का ढङ्ग देखा जाता है, शिशपा के वाश्रित वृक्षत्व । आधेयभूत—। 'मट्ट उद्भट' आदि के अनुसार गुण संघटना के धर्म हैं और यह प्रसिद्ध मार्ग (मन्तव्य) है कि धर्म धर्मी के आश्रित होते हैं । गुणों के परतन्त्र—। यहां आश्रय का अर्थ आधाराधेयभाव नहीं है, क्योंकि गुणों में

सङ्घटना के आश्रित हैं। इसके अनुसार 'गुणान् आधेयभूतान् आश्रित्य' अर्थात् आधेयभृत गुणें का आश्रयण करके, यह अर्थ होगा। तीसरे विकल्प के अनुसार सङ्घटना गुणों के आश्रित है, अर्थात सङ्घटना अपने आधारभृत गुणों का आश्रयण करती है ('गुणानाश्रित्य')। यह अन्तिम विकल्प आचार्य आनन्दवर्धन का अपना सिद्धान्त-पश्च है। सङ्घटना को गुणों के आश्रित मानते हुए वह उसे रसों का अन्यतम व्यञ्चक मी मानते हैं। 'गुणानाश्रित्य' इस कारिकांश को तीनों विकल्पों के अनुसार सङ्घटना को रसव्यञ्चकता स्चित की है। सङ्घटना गुणों के आश्रित है, इसका अमित्राय यह नहीं कि गुणों के साथ सङ्घटना का आधार धेयभाव है, क्योंकि गुणों में सङ्घटना नहीं रहती है। इस लिए सङ्घटना गुण के परतन्त्र होकर रहती है, उनकी वह मुखायेक्षिणों है। जैसे राजाश्रित प्रजावर्ग, राजा के परतन्त्र या मुखायेक्षे होकर रहता है। यह बात 'लोचन' में निर्देष्ट है।

अभिधीयते—यदि गुणाः सङ्घटना चेत्येकं तत्त्वं सङ्घटनाश्रया वा गुणाः, तदा सङ्घटनाया इव गुणानामनियतविषयत्वप्रसङ्गः । गुणा-नां हि माधुर्यप्रसादप्रकर्षः करुणविष्रलम्भण्डङ्गारविषय एव । रौद्राद्यु-तादिविषयमोजः । माधुर्यप्रसादौ रसभावतदाभासविषयावेवेति विषय-नियमो व्यवस्थितः, सङ्घटनायास्तु स विघटते । तथा हि शृङ्कारेऽपि दीर्घसमासा दृश्यते रौद्रादिष्वसमासा चेति ।

वताते हैं—यदि गुण और संघटना एक तस्त है अथवा संघटना के आश्रित गुण हैं, तब संघटना की भांति गुणों की अनियतता का प्रसंग होगा। क्योंकि गुणों का माधुर्यप्रसाद-प्रकर्ष करूण और विष्रलम्भ श्रङ्कार में ही होता है। ओज के विषय रौष्ट्र, अद्भुत आदि हैं। माधुर्य और प्रसाद (गुण) रस, भाव और भावाभास को ही विषय करते हैं, इस प्रकार विषय का नियम व्यवस्थित है, परन्तु सङ्घटना में वह (नियम) विधटित हो जाता है। जैसा कि श्रङ्कार में भी दीर्घसमासा और रौष्ट्र आदि में भी असमासा (संघटना) देखी जाती है।

लोचनम्

भाव आश्रयार्थः । न हि गुणेषु सङ्घटना तिष्ठतीति । तेन राजाश्रयः प्रकृतिवर्गइत्यत्र यथा राजाश्रयौचित्येनामात्यादिप्रकृतय इत्ययमर्थः, एवं गुणेषु परतन्त्रस्वभावा तदायत्ता तन्मुखप्रेक्षिणी सङ्घटनेत्ययमर्थो लभ्यत इति भावः ।
सङ्घटनाया इवैति । प्रथमपत्ते तादात्म्येन समानयोगत्तेमत्वादितरत्र तु
धर्मत्वेनेति भावः । भवत्वनियतविषयतेत्याशङ्कयाह—गुणानां हीति । हिशब्दस्तुशब्दार्थे । न त्वेवमुपपद्यते, आपद्यते तु न्यायबलादित्यर्थः । स इति ।
बोऽयं गुणेषु नियम उक्तोऽसावित्यर्थः । तथात्वे लद्त्यदर्शनमेव हेतुत्वेनाह—
तथा हीति ।

सङ्घटना नहीं रहती है। इसलिए 'प्रकृतिवर्ग राजा का आश्रित है' यहां जैसे राजा के आश्रम के औचित्य से अमात्य आदि प्रकृतियां हैं, यह अर्थ है, इस प्रकार गुणों में परतन्त्रस्वभाव अर्थात् उनके अधीन अर्थात् उनके मुंह ताकने वाली (अपेक्षा करने वाली) सङ्घटना है यह अर्थ प्राप्त होता है, यह भाव है। संघटना की भांति—। पहले पक्ष में तादात्म्य होने से योगक्षेम समान होगा और अन्यत्र (दूसरे पक्ष में) घमं होने के कारण (योगक्षेम समान होगा), यह भाव है। अनियतविषयत्व हो (क्या हजं है?) यह आशङ्का करके कहते हैं—क्योंकि गुणों का—। 'क्योंकि' शब्द 'परन्तु' शब्द के अर्थ में है अर्थात् न कि इस प्रकार उत्पन्न होगा, परन्तु न्यायवल से आपन्न होगा। वह—। अर्थात् जो यह गुणों में नियम कहा है वह। उस स्थिति में लच्च का दर्शन ही हेतु रूप कहते हैं—जैसा कि।

तत्र शृङ्गारे दीर्घसमासा यथा—'मन्दारकुसुमरेणुपिञ्जरितालका'

इति । यथा वा-अनवरतनयनजललवनिपतनपरिम्रुपितपत्त्रलेखं ते। करतलनिषण्णमवले वदनमिदं कं न तापयित ॥ इत्यादौ । तथा रौद्रादिष्त्रप्यसमासा दृश्यते । यथा-'यो यः शहं विभर्ति 'स्वभुजगुरुमदः' इत्यादौ । तस्मान सङ्घटनास्वरूपाः, न च सङ्घटनाश्रया गुणाः।

न्तु यदि सङ्घटना गुणानां नाश्रयस्तित्कमालम्बना एते पि कल्प्यन्ताम् । उच्यते — प्रतिपादितमेवैषामालम्बनम् ।

वहाँ, श्रङ्गार में दीर्घंसमासा, जैसे-'मन्दारकुसुमरेणुपिश्चरितालका' अर्थात् 'मन्दारपुष्प की धूळ से पिक्षरित अंळकों वाळी' । अथवा जैसे---

'अनवरतनयनजळळवनिपतनपरिमुषितपस्त्रलेखं ते । करतळनियण्णमवळे वदनमिदं कं न तापयति॥'

अर्थात् हे अबले, तेरा यह निरन्तर अश्वकर्णों के गिरते रहने से मिटे हुए एक छेखों वाळा एवं हाथ पर पड़ा मुख किसे दुखी नहीं करता ? इत्यादि में। उसी प्रकार रौद्र आदि में भी 'असमासा' देखी जाती है। जैसे—'यो यः शखं विस्ति स्वमुजगुरुमदः' इत्यादि में । इस कारण गुण सङ्घटना-स्वरूप नहीं हैं और संघटना आश्रित भी नहीं हैं।

यदि सङ्घटमा गुणों का आश्रय नहीं है तो इनका आलम्बन किसे माना नायी (इस शक्का पर) कहते हैं - इनका आलम्बन प्रतिपादन किया ही जा चुका है।

लोचनम्

हरयत इत्युक्तं दर्शनस्थानमुदाहरणमासूत्रयति—तत्रेति । नात्र मुन् किंखिदित्याशङ्कर् द्वितीयसुदाहरणमाह—यथा वैति । एषा हि प्रणयकुषि नायिकाप्रसादनायोक्तिनीयकस्येति । तस्मादिति । नैतद् व्याख्यानद्वयं कारिका युक्तमिति यावत् । किमालम्बना इति । शब्दार्थालम्बनत्वे हि तदलङ्कारेभ्यः विशेष इत्युक्तं चिरन्तनैरिति भावः। प्रतिपादितमेवैति । अस्मन्मूलप्रन्थकृतेत्व

देखा जाता है' इस प्रकार उक्त देखे जाने का स्थान आसूत्रित करते हैं यहां कोई शुंगार नहीं है, यह आशङ्का करके दूसरा उदाहरण कहते वैसे—। प्रवयकुपित नायिका को प्रसन्न करने के लिए यह नायक की उक्ति है। कारण—। मतसब कि यह दोनों व्याख्यान कारिका में ठीक नहीं हैं। आहम किसे—। माव यह कि सब्द और अर्थ के आलम्बन होने पर उनके (शब्द और के) अलब्दारों से की के के) अलङ्कारों से कौन मेद रह जायगा ? 'प्रतिपादन किया ही जा चुका है'

् तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः । अङ्गाक्षितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत् ॥ इति ।

अथवा भवन्तु शब्दाश्रया एव गुणाः, न चैषामनुप्रासादिनुल्य-त्वम् । यस्मादनुशासादयोऽनपेक्षितार्थशब्दधर्मा एव प्रतिपादिताः । गुणास्तु व्यङ्गचित्रोपावभासिवाच्यप्रतिपादनसमर्थशब्दधर्मा एव । शब्दधर्मत्वं चैषामन्याश्रयत्वेऽपि श्ररीराश्रयत्विमव शौर्यादीनाम् ।

उस अङ्गी (रस रूप) अर्थ को जो अवलम्बन करते हैं वे गुण कहे जाते हैं और कटक आदि की भाँति अङ्गों के आश्रित रहने वालों को अलङ्कार मानना चाहिए।

अथवा गुण शब्द के आश्रित ही हों, (ऐसी स्थित में) इनकी अनुप्रास आदि से समानता नहीं है। क्योंकि अनुप्रास आदि अर्थ की अपेन्ना न रखने वाले शब्दमान्न के धर्म ही प्रतिपादन किए गए हैं, परन्तु गुण व्यङ्गधिवशेष को अवभासित करने बाले वाच्य के प्रतिपादन में समर्थ शब्द के ही धर्म (प्रतिपादन किए गए हैं)। और इनका शब्दधर्मस्व शौर्य आदि की भाँति अन्य के आश्रित होने पर भी-ससीर के आश्रित होना (माना गया है)।

लोचनम्

श्रथवेति । न ह्येकाश्रितत्वादेवैक्यं, रूपस्य संयोगस्य चैक्यप्रसङ्गात् । संयोगे द्वितीयमपेच्यमिति चेत्—इहापि व्यङ्गयोपकारकवाच्यापेक्षास्त्येवेति समानम् । न चायं मम स्थितः पक्षः, अपि तु भवत्वेषामविवेकिनामभिप्रायेणापि शब्द्धमत्यं शोर्यादीनामिव शरीरधर्मत्वम् । अविवेकी हि औपचारिकत्वविमागं विवेक्षुमसमर्थः । तथापि न कश्चिद्दोष इत्येवम्पर्मेतदुक्तमित्येतदाह—शब्द-धर्मत्वमिति । श्रन्याश्रयत्वेऽपीति । आत्मनिष्ठत्वेऽपीत्यर्थः ।

हमारे मूलग्रत्यकार द्वारा। अथवा—। एक ही (वस्तु) में आश्रित होने के कारण ही (गुण और अलङ्कार का) ऐक्य नहीं होगा, (ऐसा होने पर) रूप और संयोग दोनों की ऐक्य (अभेद) प्रसक्त होगा (क्योंकि दोनों ही घट आदि द्रव्य के आश्रित हैं)। संयोग में दूसरे की अपेक्षा होती है तो ठीक है यहां भी व्यङ्गध के उपकारक वाच्य की अपेक्षा है ही अतः वात (दोनों जगह) बराबर है। यह (गुणों का शब्दधमंत्व) मेरा पक्ष नहीं है, बल्कि इन अविवेकी जनों के अभिप्राय से भी (गुणों का) शब्दधमंत्व शौर्य आदि के शरीरधमंत्व की भांति मान लेते हैं। अविवेकी आदमी औपचारिकत्व को विवेक नहीं कर पाता। तथापि कोई दोष नहीं, इस अभिप्राय से यह कहा है, इस प्रकार यह कहते हैं—शब्दधर्म होना—। अन्य के आश्रित होने पर भी—। अर्थात् आत्मिनष्ठ होने पर भी।

नतु यदि शब्दाश्रया गुणास्तत्सङ्घटनारूपत्वं तदाश्रयत्वं वा तेषां प्राप्तमेव । न ह्यसङ्घटिताः शब्दा अर्थविशेषप्रतिपाद्यरसाद्याश्रितानां गुणानामवाचकत्वादाश्रया भवन्ति । नैवम् ; वर्णपद्व्यङ्गयत्वस्य रसादीनां प्रतिपादितत्वात् ।

यदि गुण शब्द के आश्रित हैं तब वे सङ्घटना रूप अथवा उसके आश्रित हो ही जायेंगे। क्योंकि असङ्घटित शब्द अर्थविशेष द्वारा प्रतिपांच रस आदि के आश्रित गुणों के अवाचकं होने के कारण आश्रय नहीं होते। ऐसा नहीं; क्योंकि रस आहि का वर्ण और पद से ब्यङ्गधस्व प्रतिपादित हो चुका है।

लोचनम्

शब्दाश्रया इति । उपचारेण यदि शब्देषु गुणास्तदेदं तात्पर्यम्—शृङ्गारा-दिरसाभिष्यञ्जकवाच्यप्रतिपादनसामध्यमेव शब्दस्य माधुर्यम् । तच्च शब्दगतं विशिष्टघटनयैव लभ्यते । अथ सङ्घटना न व्यतिरिक्ता काचित् , अपि हु सङ्घटिता एव शब्दाः, तदाश्रितं तत्सामध्यमिति सङ्घटनाश्रितमेवेलुकं भवतीति तात्पर्यम् ।

नतु राज्दधर्मत्वं राज्दैकात्मकत्वं वा तावतास्तु, किमयं मध्ये सङ्घटनातुः प्रवेश इत्याराङ्क्य स एव पूर्वपक्षवाद्याह्—न हीति । अर्थविशेषेनं तु पदाताः निरपेक्षशुद्धपदवाच्यैः सामान्यैः प्रतिपाद्या व्यङ्गचा ये रसभावतदाभासतत् प्रशमास्तदाश्रितानां मुख्यतया तिश्रष्टानां गुणानामसङ्घटिताः राज्दा आश्रय न भवन्त्युपचारेणापीति भावः । अत्र हेतुः—श्रवाचकत्वादिति । न ह्यसङ्घटिताः व्यङ्गचोपयोगिनिराकाङ्करूपं वाच्यमाहुरित्यर्थः । एतत्परिहरति—नैविशित

शब्द के आश्रित—। उपचार से यदि शब्दों में गुण रहते हैं तो तात्पर्य यह है— शब्द का माधुर्य शृङ्गारादि रस के अभिव्यक्षक वाच्य के प्रतिपादन का सामध्यं है, और वह (माधुर्य) विशिष्ट घटना से ही शब्दगत प्राप्त होता है। और सङ्घटना अलग कृष्ट नहीं, बिक्त सङ्घटित शब्द ही.हैं, उन (सङ्घटित शब्द) के आश्रित वह (पूर्वोक्त) सामध्यें है, इसलिए सङ्घटना के आश्रित (सामध्यें) ही उक्त हुआ, यह तात्पर्य है।

(गुणों का) शब्दधमंत्व अथवा शब्दैकात्मकत्व हो, बीच में सङ्घटना का अर्थ प्रवेश क्यों ? यह आशङ्का करके वही पूर्वपक्षवादी कहता है—क्योंकि—। अर्थिवशेषे से, न कि पदान्तर की अपेक्षा से रहित शुद्ध पद के सामान्य वाच्यों से, प्रतिगृह व्यञ्जप जो रस, भाव, रसामास, भावप्रशम हैं, उनके आश्रित अर्थात् मुख्यक हैं तिन्ह गुणों के असङ्घटित शब्द आश्रय उपचार से भी नहीं होते । यहां हेत् हैं अवाचक होने के कारण—। अर्थात् असङ्घटित (शब्द) व्यञ्जच के उपयोगी निराकांक रूप वाच्य को नहीं कहते हैं । इसका परिहार करते हैं — ऐसा नहीं —। जब कि रसके

अभ्युपगते वा वाक्यव्यङ्गयत्वे रसादीनां न नियता काचित्स-ङ्घटना तेषामाश्रयत्वं प्रतिपद्यत इत्यनियतसङ्घटनाः शब्दा एव गुणानां या रस आदि को वाक्यव्यङ्गय मान छेने पर कोई नियत सङ्घटना उनका (गुणों का) आश्रय नहीं होती है, इसलिए जिनकी सङ्घटना नियत नहीं है ऐसे लोचनम्

वर्णव्यङ्गचो हि याबद्रस उक्तस्ताबद्वाचकस्यापि पदस्य श्रवणमात्रावसेयेन स्वसौमाग्येन वर्णवदेव यद्रसाभिव्यक्तिहेतुत्वं स्फुटमेव लभ्यत इति तदेव माधुर्यादीति किं सङ्घटन्या ? तथा च पदव्यङ्गचो याबद्ध्वनिरुक्तस्तावच्छुद्ध-स्यापि पदस्य स्वार्थस्मारकत्वेनापि रसाभिव्यक्तियोग्यार्थावभासकत्वमेव

माधुर्योदीति तत्रापि कः सङ्घटनाया उपयोगः।

नतु वाक्यव्यङ्गश्चे ध्वनौ तर्ह्यवश्यमनुप्रवेष्टव्यं सङ्घटनया स्वसौन्द्र्यं वाच्यसौन्द्र्यं वा, तया विना कुत इत्याशङ्कश्चाह—अभ्युपगत इति । वाशब्दोऽपिशव्दार्थं, वाक्यव्यङ्गश्चत्वेऽपीत्यत्र योज्यः । एतदुक्तं भवति-अनुप्रविशतु तत्र सङ्घटना, न हि तस्याः सन्निधानं प्रत्याचन्दमहे । किं तु माधुर्यस्य न नियता सङ्घटना आश्रयो वा स्वरूपं वा तया विना वर्णपद्व्यङ्गश्चे रसादौ भावान्माधुर्यादेः वाक्यव्यङ्गश्चेऽपि ताद्यशीं सङ्घटनां विहायापि वाक्यस्य तद्रसव्यञ्ज-कत्वात् सङ्घटना सन्निहितापि रसव्यक्तावप्रयोजिकेति । तस्मादौपचारिकत्वेऽपि शब्दाश्रया एव गुणा इत्युपसंहरति-शब्दा एवति ।

वर्ण से व्यक्त्रिय भी कहा जा चुका है तब तो अवाचक भी पद का अवणमात्र से निर्धारणीय अपने सीभाग्य के कारण वर्ण की ही मांति जो रसाभिव्यक्ति का हेतुत्व स्पष्ट ही प्राप्त (प्रतीत) होता है, वही माधुर्य आदि है, सङ्घटना से क्या ? जैसा कि जब कि घ्वनि पदव्यक्त्रिय भी कहा गया है तब गुद्ध भी पद का स्वार्थ के स्मारक होने के कारण भी रसाभिव्यक्ति के योग्य अर्थ का अवभासकत्व ही माधुर्य आदि है, वहां भी सङ्घटना का कौन उपयोग है ?

यह आशक्का करके कि वाक्यव्यक्क्य ध्विन में अवश्य ही सङ्घटना को अनुप्रवेश करना चाहिए, उसके विना अपना (वाक्य का) सौन्दयं अथवा वाच्य का सौन्दयं कैसे होगा ?, कहते हैं—या रस आदि को—। 'या' शब्द 'भी' ('अपि') शब्द के अथं में हैं यहां लगाना चाहिए 'वाक्यव्यक्क्य होने पर भी'। बात यह कही गई—वहां संघ-टना प्रवेश करे, हम उसके सिन्नधान का प्रत्याख्यान नहीं करते। किन्तु 'नियत संघटना माधुयं का आश्रय अथवा स्वरूप नहीं है, क्योंकि उस सङ्घटना के बिना भी वर्णपद-व्यक्क्य स्वाद में (माधुयं) रहता है। माधुयंदि के वाक्यव्यक्क्य में उस प्रकार की सङ्घटना को छोड़कर भी वाक्य उस रस का व्यक्षक होता है, सङ्घटना सन्निहित होकर भी रस की व्यक्जना में प्रयोजक नहीं है। इस कारण औपचारिक होने पर भी गुण शब्द के आश्रित ही हैं, इस प्रकार उपसंहार करते हैं—शब्द ही।

व्यङ्गचित्रोषानुगता आश्रयाः। ननु माधुर्ये यदि नामैवग्रुच्यते तदुच्य-ताम् ; ओजसः पुनः कथमनियतसङ्घटनशब्दाश्रयत्वम् । न ह्यसमासा सङ्घटना कदाचिदोजस आश्रयतां प्रतिपद्यते । उच्यते — यदि न प्रसि-द्धिमात्रग्रहदूषितं चेतस्तदत्रापि न न ब्रूमः । ओजसः सङ्घटना नाश्रयः। यतो रौद्रादीन् हि प्रकाशयतः काञ्यस्य दीप्तिरो-ज इति प्राक्प्रतिपादितम् । तचौजो यद्यसमासायामपि सङ्घटनायां स्या-त्तत्को दोषो भवेत् । न चाचारुत्वं सहृदयहृदयसंवेद्यमस्ति । तस्मादनि यतसङ्घटनशब्दाश्रयत्वे गुणानां न काचित्क्षतिः । तेषां तु चक्षुरादी-शब्द ही व्यक्तविशेष से अनुगत होकर गुणों के आश्रय हैं। (शंका) यदि माधुर के विषय में इस प्रकार कहते हैं तो कह सकते हैं; परन्तु ओजस् का नियत सक्वरना से रहित शब्दों का आश्रयत्व कैसे वन सकता है ? वर्यों के असमासा सङ्घरना करी ओजस् का आश्रय नहीं बन सकती। (उत्तर) कहते हैं — यदि प्रसिद्धिमात्र के प्रति आग्रह से मन दूषित नहीं है तो हम यहाँ भी महीं नहीं कहते । असमासा सङ्खा भोजस की आश्रय कैसे नहीं ? क्योंकि रौद्र आदि को प्रकाशित करते हुए काय की दीप्ति 'ओजस' है, यह पहले प्रतिपादन कर चुके हैं। और वह ओजस परि असमासा सङ्घटना में भी हो तो क्या दोष होगा । सहृदय द्वारा संवेद्य कोई अचास्त भी तो नहीं। इस कारण गुणों के नियत सङ्घटना से रहित शब्दों के आश्रय होने है

लोचनम्

निनित । वाक्यव्यङ्गश्यध्वन्यभिप्रायेगोदं मन्तव्यमिति केचित् । वयं तु त्रुमः-वर्णपदव्यङ्गयेऽप्योजिस रौद्रादिस्वभावे वर्णपद्गनामेकिकितं स्वसौन्दर्यमपि न ताह्गुन्मीलित तावद्यावत्तानि सङ्घटनाङ्कितानि न कृताती ति सामान्येनैवायं पूर्वपक्ष इति । प्रकारायत इति 'लक्षणहेत्वोः' इति शतृप्रत्ययः। रौद्रादिप्रकारानाल्लद्यमाणमोज इति भावः । नचेति । चशब्दो हेतौ । यसार्व 'यो यः रास्नम्' इत्यादौ नाचारुत्वं प्रतिभाति तस्मादित्यर्थः । तेषान्तिति गुणाः

शहा कुछ लोगों के अनुसार वाक्यव्याङ्गय ध्विन के अभिप्राय से यह मान्त्र वाहिए। परन्तु हम कहते हैं—रौद्रादिस्वभाव ओजस् के वर्णपदव्याङ्गय होने पर भी अकेले वर्णपदों का अपना सौन्दर्य भी तवतक उस प्रकार नहीं उन्मीलित होता जवतक वे (वर्णपद) सङ्घटना से अङ्कित नहीं किए जाते हैं, यह सामान्यरूप से पूर्वपक्ष है। 'प्रकाशयतः' (प्रकाशित करते हुए) 'लक्षराहेत्वोः' (पा. सू. ३. २. १२६) इस सूत्र श्वात्रप्रत्यय है। भाव यह कि रौद्र आदि के प्रकाशन से सम्यक् लक्षित होता हुआ अवस्थ और गुण—। 'और' (च) शब्द हेतु अर्थ में। अर्थात् जिस कारण 'यो यः शक्य

नामिव यथास्वं विषयनियमितस्य स्वरूपस्य न कदाचिद्यमिचारः। तस्मादन्ये गुणा अन्या च सङ्घटना। न च सङ्घटनामाश्रिता गुणा इत्येकं दर्शनम्। अथवा सङ्घटनारूपा एव गुणाः।

यत्तम्—'सङ्घटनावद्गुणानामप्यनियतविषयत्वं प्राप्नोति । लक्ष्यं व्यभिचारदर्शनात्'इति । तत्राप्येतदुच्यते-यत्र लक्ष्ये परिकर्लिपत-विषयव्यभिचारस्तद्विरूपमेवास्तु । कथमचारुत्वं ताद्दशे विषये सहृदयानां नावभातीति चेत् १ कविशक्तितिरोहितत्वात् । द्विविधो हि दोषः—कवेरव्युत्पत्तिकृतोऽशक्तिकृतश्च । तत्राच्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्तितिर-स्कृतत्वात् कदाचिन लक्ष्यते । यस्त्वशक्तिकृतो दोषः स झटिति प्रतीयते । परिकरश्लोकश्चात्र—

कोई इति नहीं। परन्तु उन (गुणों) का चच्च आदि की भाँति, अपने-अपने विषय-नियमित स्वरूप का कभी व्यभिचार नहीं है। इस कारण गुण अन्य हैं और सङ्घटना अन्य है। और, गुण सङ्घटना के आश्रित नहीं है यह एक दर्शन (सिद्धान्त) है।

अथवा सङ्घटना रूप ही गुण हैं।

जो कि कहा है—'सङ्घटना की भांति गुणों का भी अनियत-विषयत्व प्राप्त होगा, क्योंकि छच्यमें व्यभिचार देखा जाता है। वहाँ भी यह कहते हैं—'जिस छच्य में परिकिएत विषय (के नियम) का व्यभिचार है, यह विरूप ही (दूषित ही) होगा! यदि यह कही कि उस प्रकार के विषय में सहदयों को अचारुत्व कैसे नहीं होता तो (उत्तर है कि) किव की शक्ति द्वारा (दोष के) तिरोहित हो जाने के कारण। क्योंकि दोष दो प्रकार का है—किव की अब्युश्पत्ति द्वारा कृत और अशक्ति द्वारा कृत। उनमें अब्युश्पत्तिकृत दोष शक्ति से तिरस्कृत हो जाने के कारण कभी छित नहीं होता। परन्तु जो अशक्तिकृत दोष है वह झट प्रतीत हो जाता है। यहां परिकर-स्रोक भी है—

लोचनम्

नाम् । यथास्वमिति । 'शृङ्गार एव परमो मनःप्रह्लादनो रसः' इत्यादिना च विषयनियम उक्त एव । ऋथवैति । रसाभिव्यक्तावेतदेव सामध्ये शब्दानां यत्त-था तथा सङ्घटमानत्वमिति भावः ।

इत्यादि में अचारुत्व प्रतीत नहीं होता उस कारण। परन्तु उनका अर्थात् गुणों का। अपने अपने—। 'श्रुङ्कार ही मन को परम आङ्कादित करने वाला रस है' इत्यादि हारा भी विषयनियम कहा जा चुका ही है। अथवा—। भाव यह कि रसाभिव्यक्ति में गुणों की इतनी ही सामर्थ्य है जो उस उस प्रकार सङ्घटमानत्व है।

'अन्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संत्रियते कवेः। यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य स झटित्यवभासते॥'

तथा हि—महाकवीनामप्युत्तमदेवताविषयप्रसिद्धसंभोगशृङ्गार नव न्धनाद्यनौचित्यं शक्तितिरस्कृतत्वात् प्राम्यत्वेन न प्रतिभासते । यथा कुमारसम्भवे देवीसम्भोगवर्णनम् । एवमादौ च विषये यथौचित्या-त्यागस्तथा दर्शितमेवाग्रे । शक्तितिरस्कृतत्वं चान्वयव्यतिरेकाम्यामव-

'कवि की अन्युत्पत्ति द्वारा कृत दोष शक्ति से ढंक जाता है, परन्तु जो उसकी अशक्ति द्वारा कृत है वह झट प्रतीत हो जाता है।'

जैसा कि—महाकवियों का भी उत्तम देवता के सम्बन्ध में प्रसिद्ध सम्मोग श्रुङ्गार का निबन्धन आदि अनौचित्य शक्ति से तिरस्कृत होने के कारण प्राम्य रूप से नहीं प्रतिभासित होता। जैसे, 'कुमारसम्भव' में देवी का सम्भोगवर्णन।—और इस्यादि प्रकार के विषय में जैसा औचित्य का त्याग नहीं है इस प्रकार आगे दिलाया ही है। और शक्ति द्वारा तिरस्कृतस्व अन्वय-व्यतिरेक द्वारा निश्चित होता है। जैसा

लोचनम्

शक्तिः प्रतिमानं वर्णनीयवस्तुविषयन्त्रनोञ्जेखशालित्वम् । व्युत्पत्तिस्तदुप्योगिसमस्तवस्तुपौर्वापर्यपरामर्शकौशलम् । तस्येति कवेः । श्रानौनित्यमिति । आस्वादयितॄणां यः चमत्काराविधातस्तदेव रससर्वस्वम् आस्वादायत्तत्वात्। उत्तमदेवतासंभोगपरामर्शे च पितृसंभोग इव लज्जातङ्कादिना कश्चमत्कारा वकाश इत्यर्थः । शक्तितिरस्कृतत्वादिति । संभोगोऽपि ह्यसौ वर्णितस्तथा प्रतिमानवता कविना यथा तत्रैव विश्वान्तं हृदयं पौर्वापर्यपरामर्शे कर्तुं न ददा वि यथा निव्योजपराक्रमस्य पुरुषस्याविषयेऽपि युध्यमानस्य तावत्तस्मिन्नवसरे साधुवादो वितीर्यते न तु पौर्वापर्यपरामर्शे तथात्रापीति भावः । दर्शितमैवैति।

शक्ति अर्थात् प्रतिभान, अर्थात् वर्णनीय वस्तु के सम्बन्ध में नई बात की उल्लेखशालिता। व्युत्पत्ति अर्थात् उस (वर्णनीय) के उपयोगी समस्त वस्तुओं के पौर्थाणपूर्वक परामशं में कौशल। उसकी अर्थात् किव की। अनौचित्य—। आस्वाद कर्ते
वालों के जो चमत्कार का अविधात है वही आस्वाद के अधीन होने के कारण रससर्वस्व है। अर्थात् उत्तमदेवता के सम्भोग के परामशं में पितृसम्भोग की भांति कौन सा
चमत्कार का अवकाश है! शक्ति द्वारा तिरस्कृत होने के कारण—। भाव यह कि
प्रतिभानयुक्त किव द्वारा वह सम्भोग भी उस प्रकार विणत है जैसे कि उसीमें विश्वाल
हदय को पौर्वापर्य का परामशं करने नहीं देता, जिस प्रकार कोई निव्यांज पराकृष
वाला व्यक्ति जब बिना विषय के भी युद्ध करने लगता है उस अवसर में साधुवार
वितरण किया जाता है न कि पौर्वापर्य के परामशं में (प्रवृत्ति होती है) उस प्रकार

सीयते । तथा हि शक्तिरहितेन किना एवं विधे विषये शृङ्गार उपनि-बध्यमानः स्फुटमेव दोषत्वेन प्रतिभासते । नन्वस्मिन् पक्षे 'यो यः श्रृह्मं विभित्तं' इत्यादौ किमचारुत्वम् ? अप्रतीयमानमेवारोपयामः । तस्माद् गुणव्यतिरिक्तत्वे गुणरूपत्वे गुणरूपत्वे च सङ्घटनाया अन्यः कश्चित्रियमहेतुर्वक्तव्य इत्युच्यते ।

—तन्नियमे हेतुरौचित्यं वक्तृवाच्ययोः॥ ६॥

तत्र वक्ता कविः कविनिबद्धो वा, कविनिबद्धश्रापि रसभावरहितो रसभावसमन्वितो वा, रसोऽपि कथानायकाश्रयस्तद्विपश्चाश्रयो वा, कथानायकश्र थीरोदाचादिभेदभिनः पूर्वस्तद्नन्तरो वेति विकल्पाः। कि शक्तिरहित कवि के द्वारा इस प्रकार के विषय में उपनिवध्यमान श्रृङ्गार स्पष्ट ही दोषरूप से माळुम पड़ता है। (प्रश्न) इस पच में 'यो यः शस्त्रं विमर्ति' इत्यादि में अचारूव कथा है ? प्रतीत न होते हुए अचारूव का आरोप करते हैं। इसल्पि गुण से न्यतिरिक्त होने और गुणरूप होने में सङ्घटना का अन्य कोई नियम हेत्र कहना चाहिए, अतः कहते हैं—

उसके नियमन में हेतु वक्ता और वाच्य का औचित्य है ॥ ६ ॥

उनमें से वक्ता कवि अथवा कविनिबद्ध हो सकता है, और कविनिबद्ध भी रसभावरहित अथवा रसभावसमिन्वित हो सकता है, रस भी कथानायक के आश्वित अथवा उसके विपन्नके आश्वित हो सकता है और कथानायक धीरोदात्त आदि भेद से लोचनम्

कारिकाकारेशेति भूतप्रत्ययः। वन्यते हि—'अनौचित्याहते नान्यद्रसमङ्गस्य कारणम्' इत्यादि । श्रप्रतीयमानमेवैति । पूर्वापरपरामर्शविवेकशालिभिरपीत्य-थः। ग्रुण्यतिरिक्तत्व इति । व्यतिरेकपन्ते हि सङ्घटनाया नियमहेतुरेव नास्ति ऐक्यपन्तेऽपि न रसो नियमहेतुरित्यन्यो वक्तव्यः।

तिषयम इति कारिकावशेषः। कथां नयति स्वकर्तव्याङ्गभावमिति कथाना-यको यो निर्वहरोो फलभागी। धीरोदात्तादीति। धर्मयुद्धवीरप्रधानो धीरोदात्तः।

यहां भी । दिखाया ही है—। कारिकाकार ने, यह भूतप्रत्यय है । कहेंगे—'अनौजित्य के अतिरिक्त कोई रसभङ्ग का कारण नहीं' इत्यादि । प्रतीत न होते हुए—। अर्थात् प्रवापर के परामर्श के विवेक वालों द्वारा भी । गुण से व्यतिरिक्त होने में—। व्यतिरेक (भेद) पक्ष में सङ्घटना का नियमहेतु ही नहीं है, ऐक्य (अभेद) पक्ष में भी रत नियमहेतु नहीं है, अतः अन्य कहना चाहिए। उसके नियमन में यह कारिका का अवशेष है। कथा को अपने कर्तव्य का अङ्गत्व प्राप्त कराता है अतः कथानायक है, जो निवंहण में फल प्राप्तः करता है। धीरोदात्त आदि—। धर्मवीर, युद्धवीर-प्रधान धीरो-

वाच्यं च ध्वन्यात्मरसाङ्गं रसाभासाङ्गं वा, अभिनेयार्थमनिमेनेयार्थं वा, उत्तमप्रकृत्याश्रयं तदितराश्रयं वेति बहुप्रकारम् । तत्र यदा कविर्पगतभिन्न पूर्व अथवा उसके बाद का हो सकता है, इस प्रकार विकल्प हैं। और बाज्य भी ध्वनिरूप रस का अङ्ग, अथवा रसामास का अङ्ग, अभिनेयार्थं अथवा अनिभनेयार्थं, उत्तम प्रकृति के आश्रित अथवा उससे इतर के आश्रित, बहुत प्रकार का लोचनम

वीररौद्रप्रधानो धीरोद्धतः । वीरश्रङ्गारप्रधानो धीरलिलतः । दानधर्मवीरशान्तः प्रधानो धीरप्रशान्त इति चत्वारो नायकाः क्रमेण सास्वत्यारभटीकैशिकीभार्त्तीलक्षणवृत्तिप्रधानाः । पूर्वः कथानायकस्तदनन्तर उपनायकः । विकल्पा इति । वक्तुभेदा इत्यर्थः । वाच्यमिति । ध्वन्यात्मा ध्वनिस्वभावो यो रसस्तस्याङ्गं वयः अभितयर्थः । अभिनेयो वागङ्गसत्त्वाहार्येराभिमुख्यं साक्षात्कारप्रायं नेयोऽधी व्यङ्गचरूपो ध्वनिस्वभावो यस्य तद्भिनेयार्थं वाच्यं, स एव हि काव्यार्थं इत्युः च्वते । तस्यैव चाभिनयेन योगः। यदाह मुनिः - वागङ्गसत्त्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयन्ति इत्यादि तत्र तत्र । रसाभिनयनान्तरीयकृतया तु तद्विभावादिक्षपत्या वाच्योऽभीनीयत इति वाच्यमभिनेयार्थमित्येषेव युक्ततरा वाचोयुक्तिः । न त्वत्र व्यपदेशिवद्भावो व्याख्येयः, यथान्यः । तदितरित । मध्यमप्रकृत्याश्रयमधः मप्रकृत्याश्रयं चेत्यर्थः । एवं वक्तृभेदान्वाच्यभेदांश्चाभिधाय तद्गतमौचित्यं नियामकमाह —तत्रित । रचनाया इति सङ्घटनायाः । रसभावहीनोऽनाविष्टस्ता

दात । वीररौद्रप्रधान धीरोद्धत । वीरश्वङ्गारप्रधान धीरलिलत । दानधमंवीरधातप्रधान धीरप्रधान्त, ये चार नायक कम से सात्त्वती, आरमटी, कैशिकी, भारतील्य
बृत्तिप्रधान होते हैं। पूर्व कथानायक, उसके बाद उपनायक । विकल्प—। अर्थात्
बक्तुमेद । वाष्य—। ध्वनिरूप अर्थात् ध्वनिस्वभाव जो रस उसका अङ्ग अर्थात्
व्यक्तक । अभिनेय अर्थात् वाणी, अङ्ग, सत्त्व, आहार्यं द्वारा आभिमुख्य अर्थात् साक्षात्कारप्राय पहुंचाया गया अर्थं व्यङ्गचरूप ध्वनिस्वभाव है जिसका वह अभिनेयार्थं
बाच्य, बही 'काव्यार्थ' कहा जाता है । उसी का अभिनय के साथ सम्बन्ध है । क्योंकि
मुनि ने कहा है—'वाणी, अङ्ग और सत्त्व से उपेत काव्यार्थों का भावन करते हैं,
इत्यादि वहां-वहां । रसाभिनय का नान्तरीयक (अविनाभाव, अत्यावश्यक) होने से
उसके (रस के) विभाव आदि रूप होने के कारण वाच्य अर्थ अभिनीत होता है, इस
प्रकार वाच्य अभिनेयार्थं है यही कहने का उङ्ग अच्छा है, न कि यहां व्यपदेशिवद्माव ('राहो: शिरः' की भांति भेदविवक्षा) व्याख्यान के योग्य है, जैसा कि अन्य लोगों ने
(व्याख्यान किया है)। उससे इतर—। अर्थात् मध्यम प्रकृति के आश्चित और उत्तम
प्रकृति के आश्चित । इस प्रकार वक्ता के भेदों और वाच्य के भेदों का अभिधान करके
नियामक तद्गत औचित्य को कहते हैं—उनमें से—। रचना की अर्थात् सङ्घटना की

रसभावो वक्ता तदा रचनायाः कामचारः । यदापि कविनिबद्धो वक्ता रसभावरहितस्तदा स एवः यदा तु कविः कविनिबद्धो वा वक्ता रसभावसमिनवतो रसश्च प्रधानाश्रितत्वाद् ध्वन्यात्मभूतस्तदा नियमेनेव तत्रासमासामध्यसमासे एव सङ्घटने । करुणविप्रलम्भणृङ्गारयोस्त्व-समासेव सङ्घटना । कथमिति चेत्ः उच्यते—रसो यदा प्राधान्येन हो सकता है । उनमें से जब कवि रसभावरहित वक्ता हो तब रचना की स्वतन्त्रता है, और जब कविनिबद्ध वक्ता रसभावरहित हो तब वही हैः परन्तु जब कवि अथवा कविनिबद्ध वक्ता रसभावसमिनवत हो, और रस प्रधान के आश्रित होने के कारण ध्वनिरुप हो चुका हो तब नियमतः ही वहाँ असमासा और मध्यस्मासा ही सङ्घटनाएं होंगी । परन्तु करुण और विप्रलस्म श्वन्तर में असमासा ही सङ्घटना होगी । यदि कहो 'कैसे ?' तो कहते हैं—रस जब प्राधान्य से प्रतिपाद्य लोचनम्

पसादिरुदासीनोऽपीतिवृत्ताङ्गतया यद्यपि प्रधानरसानुयाय्येव, तथापि तावति रसादिहीन इत्युक्तम् । स एवेति कामचारः । एवं शुद्धवक्त्रौचित्यं विचार्य वाच्यौ-चित्येन सह तदेवाह—यदा त्विति । कविर्यद्यपि रसाविष्ट एव वक्ता युक्तः । अन्यथा 'स एव वीतरागश्चेत्' इति स्थित्या नीरसमेव काव्यं स्यात् । तथापि यदा यमकादिचित्रदर्शनप्रधानोऽसौ भवति, तदा 'रसादिहीन' इत्युक्तम् । नियमेन रसभावसमन्वितो वक्ता न तु कथि द्विदि तटस्थः । रसश्च ध्वन्यात्मभूत एव न तु रसवदलङ्कारप्रायः । तदासमासामध्यसमासे एव सङ्घटने, अन्यथा तु दीर्घसमासापीत्येवं योज्यम् । तेन नियमशब्दस्य द्वयोश्चेवकारयोः पौनरुक्त्यमाशङ्कचम् । कथिति चेदिति । किं धर्मसूत्रकारवचनमेतदिति भावः । उच्यत-

रसमावहीन अनाविष्ट तापस आदि उदासीन भी इतिवृत्त के अङ्ग रूप से यद्यपि प्रधान रस का अनुयायी ही होता है तथापि उतने में (अपने आप में) रसादि से हीन होता है यह कहा है। वही—। स्वतन्त्रता। इस प्रकार शुद्ध वक्ता के औजित्य को विचार करके वाच्यौजित्य के साथ उसी को कहते हैं—परन्तु जब—। किव यद्यपि रसाविष्ट ही वक्ता ठीक होता है। अन्यथा 'वही वीतराग हो' इस स्थिति के अनुसार काव्य नीरस ही होगा, तथापि वह जब यमक आदि चित्र देखने में लग जाता है तब 'रसादिहीन' हो जाता है, यह कहा है। नियमतः वक्ता रसमावसमन्वित होता है न कि किसी प्रकार भी उसे तटस्थ होना चाहिए। और रस. ध्विन का रूप ही होना चाहिए, न कि रसवदलङ्कार। ऐसी स्थिति में असमासां और मध्यमसमासा ही सङ्घटनाएं होंगी, अन्यथा दीघंसमासा भी होगी, इस प्रकार (ग्रन्थ) को लगाना चाहिए। इसलिए 'नियम' शब्द का और दो 'ही' (एवकार) का प्रयोग आशंकनीय नहीं हैं। केसे ?—भाव यह कि क्या यह धर्मसूत्रकार का बचन है! कहते हैं—। अर्थात न्याय की

चन्यालोकः

प्रतिपाद्यस्तदा तत्प्रतीतौ व्यवधायका विरोधिनश्च सर्वात्मनैव परि-हार्याः। एवं च दीर्घसमासा सङ्घटना समासानामनेकप्रकारसम्भावनया कदाचिद्रसप्रतीति व्यवद्धातीति तस्यां नात्यन्तमभिनिवेशः शोभते। विशेषतोऽभिनेयार्थे काव्ये, ततोऽन्यत्र च विशेषतः करुणविप्रलम्भणृङ्गा-रयोः। तयोहिं सुकुमारतरत्वात् स्वल्पायामप्यस्वच्छतायां शब्दार्थयोः प्रतीतिर्मन्थरीभवति। रसान्तरे पुनः प्रतिपाद्ये रौद्रादौ मध्यमसमासा

होता है तब उसकी प्रतीति में ज्यवधायक और विरोधी सब प्रकार से ही पिरहार्य होते हैं। और इस प्रकार दीर्घसमासा सङ्घटना समासों के अनेक प्रकारों की सम्भावना के कारण कदाचित रस की प्रतीति का ज्यवधान करती है, इसिटिए उसमें अत्यन्त अमिनिवेश शोभा नहीं देता। विशेषतः अभिनेयार्थ कान्य में, और उससे अतिरिक्त में विशेषतः करूण और विप्रटम्भ श्रङ्कार में। क्योंकि उन दोनों के सुकुमारतर होने के कारण थोड़ी भी अस्वच्छता होने पर शब्द-अर्थ की प्रतीति मन्थर (शिथिल) हो जाती है। और रौद्र आदि दूसरे रसों के प्रतिपादन में मध्यमसमासा सङ्करना

लोचनम्

इति । न्यायोपपत्त्येत्यर्थः । तत्प्रतीताविति । तदास्वादे ये व्यवधायका आस्वादः विष्ठक्तपा विरोधिनश्च तद्विपरीतास्वादमया इत्यर्थः । सम्मावनयेति । अनेकप्रकारः सम्भाव्यते सङ्घटना तु सम्भावनायां प्रयोक्त्रीति द्वौ णिचौ । विशेषतोऽभिने यार्थेति । अनुदितेन व्यङ्गयेन तावत्समासार्थाभिनयो न शक्यः कर्तुम् । काकाः द्योऽन्तरप्रसादगानादयञ्च । तत्र दुष्प्रयोज्या बहुतरसन्देहप्रसरा च तत्र प्रविष्पत्तिनं नाट्येऽनुकृषा स्यात् । प्रत्यक्षकृपत्वात्तस्या इति भावः । श्रन्यत्र नेति । अनभिनेयार्थेऽपि । मन्थरीमवतीति । आस्वादो विव्रितत्वात्प्रतिहृन्यत इत्यर्थः । तस्या दीर्षसमाससङ्घटनायाः य आन्तेपस्तेन विना यो न भवति व्यङ्गचारिः

उपपत्ति से। उसकी प्रतीति में—। अर्थात् उसके आस्वाद में जो व्यवधायक और आस्वाद के विकाल्य विरोधी हैं, उसके विपरीत आस्वादमय। सम्भावना के कारण—। अनेक प्रकार सम्भावित होती है, और सङ्घटना सम्भावना में प्रयोजककर्त्री है, इसिलए दो 'णिच्' हैं। विशेषतः अभिनेयार्थ—। बिना व्यङ्गय अर्थ के तोड़े समासार्थ का अभिनय नहीं किया जा सकता। काकु आदि और बीच में प्रसन्न करने के लिए गान आदि। भाव यह कि वहां यह दुष्प्रयोज्य है और नाट्य में बहुत सन्देहों से भरी प्रतिपति अनुरूप नहीं होती। क्योंकि वह प्रत्यक्षरूप होती है। और उससे अतिरिक्त में—। बनिमनेयार्थ में भी। मन्थर हो जाती है—विक्तित हो जाने के कारण आस्वाद प्रतिरहत हो जाता है। उस दीर्घसमाससङ्घटना के आक्षेप के बिना जो व्यङ्गय का अभिन

सङ्घटना कदाचिद्धीरोद्धतनायकसम्बन्धव्यापाराश्रयेण दीर्घसमासापि वा तदाक्षेपाविनामाविरसोचितवाच्यापेक्षया न विगुणा भवतीति सापि नात्यन्तं परिहार्या। सर्वासु च सङ्घटनासु प्रसादाख्यो गुणो व्यापी। स हि सर्वरससाधारणः सर्वसङ्घटनासाधारणश्रेत्युक्तम्। प्रसादातिक्रमे ह्यस-मासापि सङ्घटना करुणविप्रलम्भशृङ्गारौ न व्यनक्ति। तद्परित्यागे च मध्यमसमासापि न न प्रकाशयति। तस्मात्सर्वत्र प्रसादोऽनुसर्तव्यः। अत एव च 'यो यः शुःखं विभित्तं' इत्यादौ यद्योजसः स्थितिर्नेष्यते अथवा दीर्घसमासा भी कभी धीरोद्धत नायक के सम्बन्ध या व्यापार के सहारे, उसके आचेप के विना न हो सकने वाले इसके उचित वाच्य की अपेचा से विगुण (प्रतिकृत्र) नहीं होती, इसल्ए वह भी अत्यन्त परिहार्य नहीं है। और सभी सङ्घटनाओं में प्रसाद नाम का गुण व्यास रहने वाला है। क्योंकि वह सर्वरससाधारण और सर्वसङ्घटनासाधारण कहा गया है। प्रसाद के विना असमासा भी सङ्घटना करुण और शङ्गार को व्यक्त नहीं करती है और उसके होने पर मध्यमसमासा मी सङ्घटना नहीं प्रकाशित करती है यह वात नहीं। इसल्ए सर्वत्र प्रसाद का अनुसरण करना चाहिए। और इसल्ए ही 'यो यः शस्त्रं विभित्तं' इत्यादि में यदि ओजस् की स्थिति

लोचनम्

व्यञ्जकस्तादृशो रसोचितो रसव्यञ्जकतयोपादीयमानो वाच्यस्तस्य यासावपेक्षा दीर्घसमाससङ्घटनां प्रति सा अवैगुण्ये हेतुः। नायकस्याद्तेपो व्यापार इति यद्वयाख्यातं तन्न शिलष्यतीवेत्यलम्। व्यापीति। या काचित्सङ्घटना सा तथा कर्तव्या, यथा वाच्ये माटिति भवति प्रतीतिरिति यावत्। उक्तिमिति। 'समर्प-कत्वं काव्यस्य यत्तु' इत्यादिना। न व्यनक्तीति। व्यञ्जकस्य स्ववाच्यस्यैवा-त्यायनादिति भावः। तदिति। प्रसादस्यापरित्यागे अभीष्टत्वादत्रार्थे स्वकण्ठे-

व्यक्तक नहीं होता उस प्रकार का रसोचित अर्थात् रस के व्यव्जिक रूप से उपादीयमान वाच्य है उसकी जो यह अपेक्षा दीर्घसमाससङ्घटना के प्रति है वह अप्रातिकृत्य में हेतु है। नायक का आक्षेप अर्थात् व्यापार यह जो व्याख्यान किया गया है वह मेल जैसे नहीं बाता अतः ठीक नहीं। व्यास रहने वाला—। मतलब कि जो कोई सङ्घटना है वह उस प्रकार करनी चाहिए जिस प्रकार कि वाच्य अर्थ में प्रतीति झट हो जाय। कहा गया है—। 'समर्पकत्वं काव्यस्य यत्तु' इत्यादि द्वारा। व्यक्त नहीं करती है—। माव यह कि क्योंकि व्यव्जिक अपने वाच्य का ही प्रत्यायन नहीं कर पाता। उसके—। असाद के होने पर अभीष्ट होता है, इस अर्थ में अपने कष्ठ से 'अन्वय-व्यतिरेक' कह

तत्त्रसादाख्य एव गुणो न माधुर्यम्। न चाचारुत्वम्; अभिष्रेत्रस-प्रकाशनात्। तस्माद्गुणाच्यतिरिक्तत्वे गुणच्यतिरिक्तत्वे वा सङ्घटनाया यथोक्तादौचित्याद्विषयनियमोऽस्तीति तस्या अपि रसव्यञ्जकत्वम्। तस्याश्च रसाभिव्यक्तिनिमित्तभूताया योऽयमनन्तरोक्तो नियमहेतुः स एव गुणानां नियतो विषय इति गुणाश्रयेण व्यवस्थानमप्यविरुद्धम्।

विषयाश्रयमप्यन्यदौचित्यं तां नियच्छति। काव्यप्रमेदाश्रयतः स्थिता भेदवती हि सा ॥ ७॥

अभिमत नहीं है तो (वहां) प्रसाद ही गुण है माधुर्थ नहीं। अभिप्रेत रस के प्रकाशन हो जाने से अचारुख नहीं है। इसिछए गुण से अतिरिक्त न होने अयवा गुण से अतिरिक्त होने में सङ्घटना का यथोक्त औचित्य के कारण विषयनियम है, अतः उसका भी रसन्यक्षकस्य है। और रस की अभिन्यक्ति में निमित्तभूत उस (सङ्घटना) का जो यह अभी कहा गया नियमहेतु है वही गुणों का नियत विषय है इसलिए गुण के आश्रित रूप से (सङ्घटना के) व्यवस्थान में भी विरोध नहीं ॥५-९॥

विषय के आश्रित भी दूसरा औचित्य उसका नियमन करता है, कान्य के प्रमेही

के अनुसार वह भिन्न होती है।। ७॥

लोचनम्

नान्वयव्यतिरेकावुक्तौ। न माधुर्यमिति। ओजोमाधुर्ययोद्धन्योन्याभावरूपत्वं प्राङ् निरूपितमिति तयोः सङ्करोऽत्यन्तं श्रुतिबाह्य इति भावः। श्रमिप्रेतेति । प्रसारे नैव स र्सः प्रकाशितः न न प्रकाशित इत्यर्थः। तस्मादिति। यदि गुणाः सङ्घटनैकह्रपास्तथापि गुणनियम एव सङ्घटनाया नियमः। गुणाधीनसङ्ग टनापन्तेऽप्येवम् । सङ्घटनाश्रयगुणपन्तेऽपि सङ्घटनाया यद्वनतृवाच्यौचित्यं हेतुत्वेनोक्तं तद्गुणानामपि नियमहेतुरिति पश्चत्रवेऽपि व कश्चिद्धिप्लव इति तात्पर्यम् ॥ ४-६ ॥

नियामकान्तरमप्यस्तीत्याह्—विषयाश्रयमिति । विषयशब्देनं सङ्घातः दिए। माधुर्यं नहीं-। भाव यह कि ओजस् और माधुर्यं का अन्योन्याभावरूपत पहें निरूपण किया जा चुका है, अतः उनको संकर अत्यन्त श्रुतिबाह्य (कमी स्व नहीं गया) है। अभिप्रेत-। प्रसाद से ही वह रस प्रकाशित है, अर्थात् नहीं प्रकाशि है यह बात नहीं। इसिछए-। यदि गुण सङ्घटना रूप है तथापि गुणनियम है सङ्घटना का नियम है। गुण के अधीन सङ्घटना के पक्ष में भी इसी प्रकार है। सङ्घटना के आश्रित गुण के पक्ष में भी सङ्घटना के नियामक होने से जो वर्षण और वाच्यगत औचित्य को हेतुरूप से कहा है वह गुणों का भी नियमहेतु है प्रकार तीनों पक्षों में भी कोई विप्लव नहीं है, यह तात्पर्य है ॥ ५-६ ॥ दूसरा नियामक भी है यह कहते हैं—निषय के आश्रित-। 'विषय' इन्हें

वक्तृवाच्यगतौचित्ये सत्यिप विषयाश्रयमन्यदौचित्यं सङ्घटनां नियच्छति । यतः काच्यस्य प्रभेदा ग्रुक्तकं संस्कृतप्राकृतापभ्रंश-निवद्धम् । सन्दानितकविशेषककलापककुलकानि । पर्यायबन्धः परिकथा खण्डकथा-सकलकथे सर्गवन्धोऽभिनेयार्थमाख्यायिका-कथे

वक्तृगत और वाच्यगत औचित्य के होने पर भी विषय के आश्रित दूसरा औचित्य सङ्घटना को नियमन करता है। क्योंकि काब्य के प्रभेद संस्कृत, प्राकृत, अपश्रंश में निवद्ध मुक्तक, सन्दानितक, विशेषक, कलापक, कुलक, पर्यायवन्ध, परिकथा, खण्डकथा और सकलकथा, तर्गवन्ध, अभिनेयार्थ, आख्यायिका, कथा आदि इस लोचनम

विशेष उक्तः । यथा हि सेनाद्यात्मक सङ्घातिन वेशी पुरुषः कातरोऽपि तदौ चित्याद नुगुणतयैवास्ते तथा का व्यवाक्य मिप सङ्घाति वेशेषात्मक सन्दानित का दिमध्यनि विष्टं तदौ चित्येन वर्तते । मुक्तक तु विषयशब्देन यदुक्तं तत्सङ्घाताः भावेन स्वातन्त्र्यमात्र प्रदर्शियतुं स्वप्रतिष्टित माकाशिमिति यथा । अपिशब्देने-दमाद सत्यि वक्तृ वाच्यौ चित्ये विषयौ चित्यं के वत्तं तारतम्य भेदमात्रव्या-प्रम्, न तु विषयौ चित्येन वक्तृ वाच्यौ चित्यं निवायत इति । मुक्तकिमिति । मुक्तमन्येना ना ति ङ्गितं तस्य सब्द ज्ञायां कन् । तेन स्वतन्त्रतया परिसमाप्तिराकाङ्गार्थमि प्रवन्धमध्यवर्ति न मुक्तकिमित्यु च्यते । मुक्तकस्यैव विशेषणं संस्कृतेत्यादि । क्रमभावित्या त्यये निर्देशः । द्वाभ्यां कियासमाप्तौ सन्दानितक्षम् । चित्रिमिद्योषकम् । चतुर्भिः कत्नापकम् । पञ्चप्रभृतिभिः कुलकम् । इति

'सङ्घातिविशेष' कहा गया है। जैसे कोई सेना आदि रूप सङ्घात में रहने वाला कातर भी पुरुष उसके औचित्य के कारण अनुगुणरूप (अकातर रूप) से ही है उसी प्रकार सङ्घातिविशेष रूप सन्दानितक आदि के बीच रहने वाला काव्यवाक्य भी उसके (वचन के) औचित्य से होता है। परन्तु 'विषय' शब्द से जो कहा है उसके सङ्घात के अभाव के कारण स्वप्रतिष्ठित आकाश की मौति स्वातन्त्र्यमात्र को दिखाने के लिए मुक्तक (को कहा) है। 'भी' शब्द से यह कहते हैं—वक्तृगत औचित्य और वाच्यगत औचित्य के होने पर भी विषयगत औचित्य केवल तारतम्य भेद मात्र का प्रयोजक है, न कि विषयगत औचित्य से वक्तृगत और वाच्यगत औचित्य निवारण किए जाते हैं। मुक्तक—। मुक्त अर्थात् अन्य से अनालिङ्गित, संज्ञा में 'कन्'। इसलिए स्वतन्त्र रूप से निराकांक्ष अर्थ से रहित भी प्रबन्ध के बीच रहने वाला 'मुक्तक' नहीं कहलाता। संस्कृत० इत्यादि 'मुक्तक' का ही विशेषण है। कम से होने के कारण उसी प्रकार निर्देश है। दो (पद्यों) से किया के समाप्त हो जाने पर 'सन्दानितक' होता है, तीन से 'विशेषक', चार से 'कलापक', पाँच प्रमृति से 'कुलक'। इस प्रकार किया की समाप्तिप्रयुक्त भेद इन्द्र समास द्वारा निर्दिष्ट हैं।

इत्येवमादयः । तदाश्रयेणापि सङ्घटना विशेषवती भवति । तत्र मुक्त-केपु रसवन्धामिनिवेशिनः कवेस्तदाश्रयमौचित्यम् । तच दर्शितमेव। अन्यत्र कामचारः ।

प्रकार हैं। उनके आश्रय से भी सङ्घटना विशेष प्रकार की होती है। उनमें हे मुक्तकों में रस के निवन्धन में अभिनिवेश रखने वाले कवि का रस के आश्रित औचित्य है। उसे दिखा ही चुके हैं। अन्यन्न स्वतन्त्रता है।

लोचनम्

क्रियासमाप्तिकृता भेदा इति द्वन्द्वेन निर्दिष्टाः। अवान्तरिक्रयासमाप्ताविष वसन्तर्वे वर्णनादिरेक्षणंनीयोद्देशेन प्रवृत्तः पर्यायबन्धः। एकं धर्मादिपुरुषार्थमुहिस्य प्रकारवैचित्रयेणानन्तवृत्तान्तवर्णनप्रकारा परिकथा। एकदेशवर्णना खण्ड-कथा। समस्तफलान्तेतिवृत्तवर्णना सकलकथा। द्वयोरिष प्राकृतप्रसिद्धत्वाद् द्वन्द्वेन निर्देशः। पूर्वेषां तु मुक्तकादीनां भाषायामनियमः। महाकाव्यक्षः पुरुषार्थकलः समस्तवस्तुवर्णनाप्रबन्धः सर्गवन्धः संस्कृत एव। अभिनेयार्थं दशरूपकं नाटिकात्रोटकरासकप्रकरिणकाद्यवान्तरप्रपञ्चसहितमनेकभाषाव्यान्तरप्रपञ्चसहितमनेकभाषाव्यानिश्रक्तपम्। आख्यायिकोच्छ्वासादिना वक्त्रापरवक्त्रादिना च युक्ता। कथा तद्विरहिता। उभयोरिष गद्यबन्धस्वरूपतया द्वन्द्वेन निर्देशः। आदिष्रकृष्णाचन्पः। यथाह दण्डी-'गद्यपद्यमयी चन्पः' इति। श्रन्यत्रेति। रसबन्धानं भिनिवेशे।

अवान्तर त्रिया के समाप्त होने पर भी वसन्त-वर्णन आदि एक वर्णनीय के उद्देश्य के प्रवृत्त (काव्य) 'पर्यायवन्य' होता है। धमं आदि एक पुरुषार्थं के उद्देश्य से विशिष्ठ प्रकारों से अनन्त वृत्तान्तों के वर्णन का प्रकार 'परिकथा' होती है। एकदेश (किसी प्रसिद्ध कथा के एक भाग) का वर्णन 'खण्डकथा' होती है। समस्त फल्प्यंन्त इतिवृत्त का वर्णन 'सकलकथा' होती है। (खण्डकथा और सकलकथा इन) दोनों के प्राकृत में प्रसिद्ध होने के कारण द्वन्द्ध समास द्वारा निर्देश है। किन्तु 'मुन्क' आदि पहले प्रमेदों की भाषा में नियम नहीं। महाकाव्यरूप पुरुषार्थं फल बाल एवं समस्त वस्तुओं के वर्णनों वाला प्रवन्ध संस्कृत में ही होता है। अभिनेपार्थं दयरूपक नाटिका, त्रोटक, रासक, प्रकरणिका आदि अवान्तर प्रपञ्चसहित, अनेक भाषाओं का मिलाजुला रूप है। आख्यायिका उच्छ्वास आदि से और वक्त्र और अपरवन्त्र श्राद से युक्त होनी है। कथा उनमे विरहित होती है। दोनों (आख्यायिका और कथा) का भी गद्यवन्ध स्वरूप होने के कारण द्वन्द्व समास से निर्देश है। 'आदि' ग्रहण से 'चस्पू'। जैसा दण्डी ने कहा है—'गद्यपद्यमयी चस्पूः'। अन्यत्र—। अर्थात् रस के निबन्धन का अभिनिवेश जहाँ नहीं है।

मुक्तकेषु प्रवन्धेष्विव रसवन्धामिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते । यथा ह्यम्रुकस्य कवेर्म्यक्तकाः शृङ्गाररसस्यन्दिनः प्रवन्धायमानाः प्रसिद्धा एव । सन्दानितकादिषु तु विकटनिवन्धनौचित्यान्मध्यमसमासादीर्घ-समासे एव रचने । प्रवन्धाश्रयेषु यथोक्तप्रवन्धौचित्यमेवानुसर्तव्यम् ।

प्रबन्धों की भाँति मुक्तकों में किन छोग रस के निवन्धन का अभिनिवेश रखने वाले देखे जाते हैं। जैसा कि किन अमरुक के मुक्तक श्रङ्कार रस की वर्षा करने वाले एवं प्रबन्ध काव्य सदश प्रसिद्ध ही हैं। किन्तु सन्दानितक आदि में निकट निबन्धन के औचित्य से मध्यमसमासा और दीर्घसमासा ही रचनाएं हैं। प्रबन्ध के आश्रित (कान्यों) में यथोक्त प्रबन्ध के औचित्य का ही अनुसरण करना चाहिए। पर्याय-लीचनम्

नतु मुक्तके विभावादिसङ्घटना कथं येन तदायत्तो रसः स्यादित्याश-ङ्कयाह—मुक्तकेष्विति । श्रमरुकस्येति ।

कथमि कृतप्रत्यापत्तौ प्रिये स्वलितोत्तरे विरद्दकृशया कृत्वा व्या नप्रकल्तितमश्रुतम् । असद्दनसखीश्रोत्रप्राप्तिं विशङ्कय ससम्श्रमं विवलितदृशा शुर्त्ये गेहे समुच्छ्वसितं ततः ॥

इत्यत्र हि श्लोके स्फुटैंव विभावादिसम्पत्प्रतीतिः । विकटेति । असमासायां हि सङ्घटनायां मन्थररूपा प्रतीतिः साकाङ्का सती चिरेण क्रियापदं दूरवर्त्य- गुषावन्ती वाच्यप्रतीतायेव विश्रान्ता सती न रसतत्त्वचर्वणायोग्या स्यादिति भावः । प्रबन्धाश्रयेष्विति । सन्दानितकादिषु कुलकान्तेषु । यदि वा प्रबन्धेऽपि सुक्तकस्यास्तु सद्भावः, पूर्वापरनिरपेद्गेणापि हि येन रसचर्वणा क्रियते तदेव

मुक्तक में विभावादि की सङ्घटना कैसे होगी जिससे उसके अधीन रस होगा, यह आशङ्का करके कहते हैं — मुक्तकों में —। असहक के —।

'गोत्रस्खलन के अपराधी प्रिय के होने पर किसी प्रकार विश्वास दिलाने पर विरह से इन्न नायिका ने (पुनः समागम की आशा से) बहाना करके अनसुनी कर दिया, फिर न सहन करने वाली सखी के कानों में (बात के) पहुँच जाने के प्रमाद से व्याकुल हो सूने घर में आँखें झुका कर के उच्छ्यास लेने लगी।'

इस कोक में स्पष्ट ही विभावादि-सम्पत् की प्रतीति होती है। विकट—। भाव यह कि असमासा सङ्घटना में मन्थररूप प्रतीति देर तक दूरवर्ती क्रियापद का अनुधावन करती हुई वाच्य की प्रतीति में ही विश्वान्त होती हुई इस तत्त्व की चवंणा के योग्य नहीं होगी। प्रवन्ध के आश्रित—। सन्दानितक आदि में कुलक पर्यन्त-में। अथवा प्रवन्ध में भी मुक्तक का सद्भाव माना जाय। पूर्वापर-निरपेक्ष जिस (श्लोक) से सम्बंगा की जाय वह मुक्तक है। जैसे (मेघदूत का) 'स्वामालिक्य प्रणयकुपिताम्'

पर्यायबन्धे पुनरसमासामध्यमसमासे एव सङ्घटने । कदाचिद्थौंचित्याश्रवेण दीर्घसमासायामि सङ्घटनायां परुपा ग्राम्या च वृत्तिः पहितैन्या । परिकथायां कामचारः, तत्रेतिवृत्तमात्रोपन्यासेन नात्यत्तेरसबन्धामिनिवेशात्। खण्डकथासकलकथयोस्तु प्राकृतप्रसिद्धयोः कुलकादिनिवन्धनभूयस्त्वादीर्घसमासायामिष न त्रिरोधः। युन्यौचित्यं तु यथारसमनुसर्तव्यम् । सर्गवन्धे तु रसतात्पर्ये यथारसमौचित्यमन्यथा तु
कामचारः, द्वयोरिष मार्गयोः सर्गवन्धविधायिनां दर्शनाद्रसतात्यं
साधीयः। अभिनेयार्थे तु सर्वथा रसवन्धे अभिनिवेशः कार्यः। आख्यावन्ध में असमासा और मध्यमसमासा ही सङ्घटनाए हैं। कभी अर्थ के औचित्रके
आश्रय से दीर्घसमासा भी सङ्घटना में परुपा और प्राम्या वृत्ति को छोड़ देना चाहिए।
परिकथा में स्वतन्त्रता है, क्योंकि उसमें केवल इतिवृत्त के वर्णन होने से सार्क

वन्ध में असमासा आर मध्यमसमासा है। सङ्घटनापु है। कमा जय के आविवाह आश्रय से दीर्घसमासा भी सङ्घटना में परुपा और प्राम्या वृक्ति को छोड़ देना चाहिए। परिकथा में स्वतन्त्रता है, क्योंकि उसमें केवल इतिवृक्त के वर्णन होने से सि के निवन्धन का अभिनिवेश अस्वन्त नहीं होता। किन्तु प्राकृत में प्रसिद्ध खण्डका और सकलकथा में कुलक आदि के निवन्धन के आधिक्य के कारण दीर्घसमासा होने पर भी विरोध नहीं। किन्तु इसके अनुसार वृक्तियों का औचित्य अनुसार करना चाहिए। किन्तु रस में तात्पर्य वाले सर्गवन्ध में रस के अनुसार औचित्य है अन्यथा स्वतन्त्रता है। सर्गवन्ध के निर्माता दोनों मानों में देखे जाते हैं, (किन्तु) रस में तात्पर्य अच्छा होता है। परन्तु अभिनेयार्थ में सर्वथा रस के निवन्धन में अभिनिवेश करना चाहिए। आख्यायिका और कथा में तो गद्य के निवन्धन में अभिनिवेश करना चाहिए। आख्यायिका और कथा में तो गद्य के निवन्धन में

लोचनम्

मुक्तकम् । यथा—'त्वामालिख्य प्रणयकुपिताम्' इत्यादिश्लोकः । कदाचिदिति। रीद्रादिविषये । नात्यन्तमिति । रसबन्धे यो नात्यन्तमभिनिवेशस्तस्मादिति सङ्गतिः । वृत्त्योचित्यमिति । पर्वोपनागरिकाप्राम्याणां वृत्तीनामौचित्यं यथाप्र वन्धं यथारसं च । श्रन्यथेति । कथामात्रतात्पर्ये वृत्तिष्विप कामचारः । द्वयोर्पिति सप्तमी । कथातात्पर्ये सर्गबन्धो यथा भट्टजयन्तकस्य कादम्बरीकथासारम्।

इत्यादि क्लोक । कभी अर्थात् रौद्र आदि के विषय में । अत्यन्त नहीं—। रस के निवन्थन में जो अत्यन्त अभिनिवेश नहीं है उससे यह सङ्गिति है । द्यक्तियों का ओचित्य—। परुषा, उपनागरिका, ग्राम्या वृत्तियों का प्रवन्ध के अनुसार और रस के अनुसार औनित्य । अन्यथा—। कथामात्र में तात्पर्य होने पर वृत्तियों में भी स्वतन्त्रती है । दोनों मार्गों में, यह सप्तमी है । कथा के तात्पर्य में सर्गवन्ध, जैसे भट्ट जयन्तक का वरी-कथासार; रस में तात्पर्य, जैसे रघुवंश आदि । अन्य (व्याख्याकार)

यिकाकथयोस्तु गद्यनिवन्धनवाहुल्याद्गद्ये च छन्दोवन्धिमिन्नप्रस्थान-त्वादिह नियमे हेतुरकृतपूर्वोऽपि मनाक्षिक्रयते ॥ ७॥

एतचथोक्तमोचित्यमेव तस्या नियामकम्। सर्वत्र गद्यवन्धेऽपि छन्दोनियमवर्जिते ॥ ८॥

यदेतदौचित्यं वकत्वाच्यगतं सङ्घटनाया नियामकमुक्तमेतदेव गद्ये छन्दोनियमवर्जितेऽपि त्रिपयापेश्चं नियमहेतुः । तथा स्त्रापि यदा कृतिः किविनवद्धो वा वक्ता रसभावरहितस्तदा कामचारः । रसभाव-समन्विते तु वक्तिर पूर्वोक्तमेवानुसर्तव्यम् । तत्रापि च विषयौचित्य-मेव । आख्यायिकायां तु भूमा मध्यमसमासादीर्घसमासे एव सङ्घटने । गद्यस्य विकटवन्धाश्रयेण छायावन्त्रात् । तत्र च तस्य प्रकृष्यमाण-बाहुल्य होने से और गद्य में छन्दोबन्ध से अतिरिक्त प्रस्थान होने से पहले नियामक हेतु न किए जाने पर भी थोड़ा (निर्देश) करते हैं ॥ ७॥

यही यथोक्त औचित्य सर्वत्र छुन्द् के नियमों से वर्जित गरावन्य में भी उसका नियामक होता है ॥ ८ ॥

जो यह वक्तृगत और वाच्यमत स्वेशिय सङ्घरना का नियामक कहा गया है, यही छुन्द के नियमों से वर्जित गद्य में भी विषयगत औचित्यसिहत नियामक होता है। जैसा कि यहाँ भी जब किव अथवा किविनबद्ध वक्ता रसमाव से रहित होता है तब स्वतन्त्रता होती है। किन्तु रसभाव से समिन्वत वक्ता के होने पर पूर्वोक्त का ही अनुसरण करना चाहिए। उसमें भी विषयगत औचित्य ही होता है। किन्तु आख्यायिका में अधिकांश मध्यमसमासा और दीर्घसमासा सङ्घरनाएं ही होती हैं। क्योंकि गद्य विकट रचना के कारण सुन्दर होता है, क्योंकि उसका उसमें प्रकर्ष

लोचनम्

रसतात्पर्यं यथा रघुवंशादि । अन्ये तु संस्कृतप्राकृतयोर्द्वयोरिति व्याचश्चते, तत्र तु रसतात्पर्यं साधीय इति यदुक्तं तित्कमपेक्षयेति नेयार्थं स्यात् ॥ ७॥

विषयापेच्चिमिति । गद्यबन्धस्य सेदा एव विषयत्वेनानुमन्तव्याः ॥ ५॥

व्याख्यान करते हैं 'संस्कृत, प्राकृत दोनों में'। उस व्याख्यान में जो कि (ग्रन्थ में) रस में तात्पर्य अच्छा होता है' कहा है, वह किस अपेक्षा से ? इस लिए नेयार्थं (असमर्थं) होगा ।।.७।।

विषयगत औचित्य-: गद्यरचना के भेद ही विषय रूप से मानने चाहिए।।।।।

त्वात् । कथायां तु विकटवन्धप्राचुर्येऽपि गद्यस्य रसवन्धोक्तमौचित्यः मजुसर्तव्यम् ॥ ८॥

रसबन्धोक्तमौचित्यं भाति सर्वत्र संश्रिता। रचना विषयापेक्षं तत्तु किश्चिद्विभेदवत्॥ ९॥

अथवा पद्मवद्गद्मबन्धेऽपि रसवन्धोक्तमौचित्यं सर्वत्र संश्रितारचना भवति । तत्तु विपयापेक्षं किश्चिद्धिशेषवद्भवति, न तु सर्वाकारम् । तथा हि गद्मबन्धेऽप्यतिदीर्घस्मासा रचना न विप्रलम्भशृङ्गारकरुणयोराख्या-होता है। किन्तु कथा में गद्म को विकट रचना के प्राचुर्य होने पर भी रस है निवन्धन के उक्त औचित्य का अनुसरण करना चाहिए॥ ८॥

रसबन्ध में कहे गए औचित्य के सर्वत्र आश्रित रचना शोभा देती है, किन्

विषयगत (औचित्य) के अनुसार उसमें कुछ भेद हो जाता है ॥ ९ ॥

अथवा पद्य की भांति गद्यबन्ध में भी रसबन्ध में कहे गए औचित्य के सर्वत्र आश्रित रचना शोभा देती है, किन्तु उसमें विषयगृत (औचित्य) के अनुसार कुष् विशेष हो जाता है, सब प्रकार से नहीं। जैसा कि गद्यबन्ध में भी दीर्घसमासा रचन विप्रकम्भ श्रद्धार और करूण में आख्यायिका में भी नहीं शोभा देती। नाटक आदि में

लोचनम्

स्थितपक्षन्तु दर्शयति —रसवन्धोक्तमिति । वृत्तौ च वाशब्दोऽस्यैव पक्षस्य स्थितिचोतकः । यथा—

ब्रियो नरपतिर्वहिर्विषं यक्त्या निषेवितम्।

स्वार्थाय यदि वा दुःखिंसम्भारायैव केवलम् ।। इति । रचना सङ्घटना । बर्द्धि विषयौचित्यं सर्वथैव त्यक्तं नेत्याह—तदेव रसौ चित्यं विषयं सहकारितस्रपेच्य किञ्जिद्धिभेदोऽवान्तरवैचित्र्यं विद्यते यस सम्पाद्यत्वेन तादृशं भवति । एतद्वश्याचष्टे–तत्विति । सर्वाकारमिति क्रियाविशे

स्थितपक्ष को दिखाते हैं—रसंत्रन्ध में कहे गए—। वृत्ति में 'अथवा' शब्द हों पक्ष की स्थिति का द्योतक है। जैसे—

स्त्रियो नरपतिर्विह्मिविषं युक्त्या निषेवितम् । स्वार्षाय यदि वा दुःससम्भारायैव केवलस् ।।

स्त्री, राजा, अप्नि और विष युक्तिपूर्वंक सेवन किए जाने पर स्वार्थं के लिए हों

हैं, अथवा केवल दुःखसम्भार के लिए ही होते हैं।

रचना अर्थात् सङ्घटना। तो विषयगत औचित्य को सर्वथा नहीं छोड़ा है, यह कहते हैं—वही रस का औचित्य विषय को सहकारी रूप से अपेक्षा करके कुछ विभेष अर्थात् अवान्तर-वैचित्र्य है जिसका सम्पाद्य रूप से उस प्रकार का होता है। इस्म

विकायामि शोभते । नाटकादावप्यसमासैव न रौद्रवीरादिवर्णने । विषयापेश्चं त्वौचित्यं प्रमाणतोऽपक्रुष्यते प्रकृष्यते च । तथा ह्याख्यायि-कायां नात्यन्तमसमासा स्वविषयेऽपि नाटकादौ नातिदीर्घसमासा चेति सङ्घटनाया दिगनुसर्तव्या ॥ ९ ॥

इदानीमलक्ष्यक्रमन्यङ्गयो ध्वनिः प्रवन्धात्मा रामायणमहाभार-तादो प्रकाशमानः प्रसिद्ध एव । तस्य तु यथा प्रकाशनं तत्प्रतिपाद्यते—

विभावभावानुभावसश्चार्यौचित्यचारुणः।

विधि: कथादारीरस्य वृत्तस्योत्प्रेक्षितस्य वा ॥ १० ॥ असमासा ही होती है, रौद्र, चोर आदि के वर्णन में नहीं। किन्तु विषयगत औचित्य प्रमाण के अनुसार घट जाता है और वद जाता है। जैसा कि आख्यायिका में अपने विषय में भी अत्यन्त असमासा और नाटक आदि में अतिदीर्घंसमासा नहीं होनी चाहिए। इस प्रकार सङ्घटना की दिशा का अनुसरण करना चाहिए॥ ९॥

अव, प्रवन्ध रूप अलच्यकमन्यङ्गय ध्वनि रामायण, महामारत आदि में प्रकाश-मान प्रसिद्ध ही है, किन्तु उसका जैसे प्रकाशन है उसे प्रतिपादन करते हैं—

विभाव, (स्थायी) भाव, अनुभाव, सञ्चारी के औचित्य से सुन्दर, वृत्त (ऐतिहासिक) अथवा उत्प्रेचित (कित्पत) कथाशरीर का निर्माण ॥ १०॥ लोचनम्

षणम् । त्र्यसमासैनेति । सर्वत्रैनेति शेषः । तथा हि वाक्याभिनयलक्ष्यो 'चूर्ण-पादैः प्रसन्नैः' इत्यादि मुनिरभ्यधात् । अत्रापवादमाह—न चेति । नाटकादा-विति । स्वविषयेऽपीति सम्बन्धः ॥ ६ ॥

एवं सङ्घटनायां चालत्त्यक्रमो दीप्यत इति निर्णीतम्। प्रबन्धे दीप्यत इति तु निर्विवाद्सिद्धोऽयमर्थं इति नात्र वक्तव्यं किञ्चिद्दित् । केवलं कविसह-द्यान् व्युत्पाद्यितुं रसव्यञ्जने येतिकर्तव्यता प्रबन्धस्य सा निरूप्येत्याशयेनाह—इदानीमिति । इदानीं तत्प्रकारजातं प्रतिपाद्यत इति सम्बन्धः। प्रथमं व्याख्यान करते हैं—किन्तु उसमें—। 'सब प्रकार से' यह क्रियाविशेषण है। असमासा ही—। सर्वत्र ही, यह शेष है। जैसा कि वाक्याभिनय के लक्षण में मुनि ने 'चूर्णंपादैः प्रसन्तैः' इत्यादि कहा है। यहां अपवाद कहते हैं—नहीं—। नाटक आदि में—। 'अपने विषय में भी' यह सम्बन्ध है।। ९॥

इस प्रकार सङ्घटना में भी अलक्ष्यक्रम दीप्त होता है यह निर्णय किया। प्रबन्ध में भी दीप्त होता है यह तो निर्विवाद सिद्ध बात है, अतः इस सम्बन्ध में कुछ वक्तव्य नहीं है। केवल किवयों और सहदयों को व्युत्पन्न करने के लिए रस के व्यक्त में जो प्रवन्ध की इतिकर्तव्यता (प्रकार) है वह निरूपणीय है, इस आश्रम से कहते हैं—अव—। अब उन प्रकारों का प्रतिपादन करते हैं, यह सम्बन्ध है। पहछा तो—।

इतिवृत्तवशायातां त्यक्तवाऽननुगुणां स्थितिम्।
उत्प्रेक्ष्याऽप्यन्तराभीष्टरसोचितकथोन्नयः ॥ ११॥
सिन्धसन्ध्यङ्गघटनं रसाभिन्यक्त्यपेक्षया।
न तु केवलया शास्त्रस्थितिसम्पादनेच्छ्या॥ १२॥
उद्दीपनप्रशमने यथावसरमन्तरा।
रसस्यारच्धविश्रान्तेरनुसन्धानमङ्गिनः ॥ १३॥
अलङ्कृतीनां शक्तावप्यानुरूप्येण योजनम्।
प्रवन्धस्य रसादीनां व्यञ्जकत्वे निवन्धनम्॥ १४॥
प्रवन्धोऽपि रसादीनां व्यञ्जक इत्युक्तं तस्य व्यञ्जकत्वे निवन्धनम्। प्रथमं

इतिवृत्त के वश आई हुई (रस के) प्रतिकृष्ठ स्थिति को छोड़ कर कल्ला करके भी बीच में अभीष्ट रस के उचित कथा का उन्नयन ॥ ११ ॥

सन्धि और सन्धि के अङ्गों का योजन रस की अभिन्यक्ति की अपेचा से (होबा चाहिए) न कि केवल शास्त्र की मर्यादा को सम्पन्न करने की इच्छा से ॥ १२॥

अवसर पर (रस का) उद्दीपन और प्रश्नमन, तथा वीच में आरब्ध होका विश्रान्त होते हुए अङ्गी (प्रधान) रस का अनुसन्धान ॥ १३ ॥

शक्ति (सामर्थ्यं) होने पर भी अलङ्कारों का योजन अनुरूपता से (कर्ष चाहिए); यह प्रवन्ध के रसादिन्यंक्षक होने में हेतु है ॥ १४ ॥

मबन्ध भी रसादि का व्यक्षक होता है, यह कह चुके हैं, उसके व्यक्षक होते हैं होता । पहला (हेतु) तो विभाव, (स्थायी) भाव, अनुभाव, सञ्चारों के औदित्य है सुन्दर कथाशारि का निर्माण अर्थात् यथायोग्य प्रतिपादनार्थ अभीष्ट रस, भाव आहि है

लोचनम्

ताविदिति प्रबन्धस्य व्यञ्जकत्वे ये प्रकारास्ते क्रमेणे तोपयोगिनः । पूर्वं हि कथाः परीक्षा । तत्राधिकावापः फलपर्यन्ततानयनम्, रसं प्रति जागरणम्, तदुविः विभाविद्यानित । तत्क्रमेण पञ्चकं व्याचप्टे—विभावेदीः प्रवन्ध के व्याचप्टे कि में जो प्रकार हैं वे क्रम से ही उपयोगी हैं। पहले कथा के परीक्षा, उसमें अधिक ग्रहण अर्थात् फलपर्यन्त पहुंचाना, रसके प्रति जागरण, उसके चित्त विभाव आदि के वर्णन में अलङ्कार का औचित्य । क्रम से उस पञ्चक क्र व्याख्यान करते हैं—'विभाव' इत्यादि द्वारा । उसका औचित्य । अर्थात् स्पृक्षिः वर्णन की इच्छा वाले को उस प्रकार की कथा का आश्रयण करना चाहिए जिसमें अ

विधिर्यथायथं प्रतिपिपादियिपितरसभावाद्यपेक्षया य उचितो विभावो भावोऽनुभावः सञ्चारी वा तदौचित्यचारुणः कथाश्चरीरस्य विधिन्ध- इकत्वे निवन्धनमेकम् । तत्र विभावौचित्यं तावेत्प्रसिद्धम् । भावौचित्यं तु प्रकृत्यौचित्यात् । प्रकृतिद्धुत्तममध्यमाधमभावेन दिन्यमानुपादि- भावेन च विभेदिनी । तां यथायथमनुसृत्यासङ्कीणः स्थायी भाव उपनिवध्यमान औचित्यभाग् भवति । अन्यथा तु केवलमानुपाश्रयेण दिन्यस्य केवलदिन्याश्रयेण वा केवलमानुपस्योत्साहाद्य उपनिवध्य- माना अनुचिता भवन्ति । तथा च केवलमानुपस्य राजादेवणने सप्ता- ण्वलङ्घनादिलक्षणा न्यापारा उपनिवध्यमानाः सौष्ठवसृतोऽपि नीरसा एव नियमेन भवन्ति, तत्र त्वनौचित्यमेव हेतुः ।

अपेता से जो विभाव, (स्थायी) भाव, अनुभाव अथवा सञ्चारी है, उसके औचित्य से सुन्दर कथाशरीर का निर्माण व्यक्षक होने में एक हेतु है। उनमें विभाव का औचित्य प्रसिद्ध है। भाव का औचित्य प्रकृति के औचित्य से होता है। प्रकृति उत्तम, मध्यम, अधम भाव से और दिव्य, मानुष आदि भाव से विभिन्न होती है। उसे यथायोग्य अनुसरण करके असङ्कीण स्थायी भाव उपनिवध्यमान होकर औचित्य- युक्त होता है। अन्यथा केवल मानुष के आश्रय से दिव्य के अथवा केवल दिव्य के आश्रय से केवलमानुष के उत्साह आदि उपनिवध्यमान होकर अनुचित होते हैं। जैसा कि केवलमानुष राजा आदि के वर्णन में सात समुद्रों का पार करना आदि रूप व्यापार उपनिवध्यमान होकर सौष्ठवयुक्त होने पर भी नीरस ही नियमतः होते हैं, उसमें तो अनौचित्य ही हेतु है।

लोचनम्

दिना । तदौचित्येति । शृङ्कारवर्णनेच्छुना तादृशी कथा संश्रयणीया यस्यामृतु-माल्यादेर्तिभावस्य लीलादेरनुभावस्य ह्षेष्टृत्यादेः सद्धारिणः स्फुट एव सद्भाव इत्यर्थः । प्रसिद्धमिति । लोके भरतशास्त्रे च । व्यापार इति । तद्विषयोत्साहो-पलक्षणमेतत् । स्थाय्यौचित्यं हि व्याख्येयत्वेनोपक्रान्तं नानुभावौचित्यम् । सोष्ठवमृतोऽपीति । वर्णनामहिम्नेत्यर्थः । तत्र त्विति नीरसत्वे ।

माल्य आदि विभाव का, लीला आदि अनुभाव का, हवं, धृति आदि सञ्चारी का स्पष्ट ही सद्भाव हो। प्रसिद्धः—। लोक में और भरतशास्त्र में। ज्यापार—। उस विषय के उत्साह का यह उपलक्षण है। क्योंकि स्थायी का औचिंत्य ज्याख्येय हप से उपकान्त है न कि अनुभाव का औचित्य। सौष्टवयुक्त होने पर भी—। अर्थात् वर्णना की महिमा से। उसमें तो—। अर्थात् नीरसत्व में।

ननु नागलोकगमनादयः सातवाहनप्रभृतीनां श्रूयन्ते, तदले कसामान्यप्रभावातिशयवर्णने किमनौचित्यं सर्वोवीभरणश्चमाणां क्षमा-भ्रजामिति । नतदस्ति ; न वयं त्रूमो यत्प्रभावातिश्चयवर्णनम्बुचितं राज्ञाम्, किं तु केवलमानुपाश्रयेण योत्पाद्यवस्तुकथा क्रियते तस्यां दिव्यमौचित्यं न योजनीयम्। दिव्यमानुष्यायां तु कथायाम्रभयौचित्य-योजनमविरुद्धमेव । यथा पाण्ड्वादिकथायाम्। सातवाहनादिषु तु येषु यावदपदानं श्र्यते तेषु तावन्मात्रमनुगम्यमानमनुगुणत्वेन प्रतिभासते। व्यतिरिक्तं तु तेषामेत्रोपनिवध्यमानमजुचितस् । तदयमत्र परमार्थः-

अनौचित्यादते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम् । प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा ॥

(शंका) सातवाहन प्रमृति (राजाओं) के नागळोकगमन आदि (कार्य) सुने जाते हैं, तो समस्त पृथिवी के भरण में समर्थ राजाओं के अलोकसामान्य अति-शय प्रभाव के वर्णन में क्या वह अनौचित्य है ! (समाधान) यह नहीं है; हम नहीं कहते हैं कि राजाओं के अतिशय प्रभाव का वर्णन अनु चित है, किन्तु केवलमानुष के आश्रय से जो उत्पाद्य (किएत) वस्तुकथा रची जाती है उसमें दिन्य भौचित्य की योजना नहीं करनी चाहिए। परन्तु दिव्यमानुप कथा में उभय प्रकार के औचित्य का योजन अविरुद्ध ही है। जैसे पाण्डु आदि की कथा में। किन्तु जिन सातवाहन आदि में जितना अपदान (पूर्व वृत्तान्त) सुना जाता है उनमें उतने मात्र तक अनुगमन करना अनुकूछ रूप से माल्स पड़ता है। परन्तु उनका ही उससे व्यतिरिक्त का वर्णन अनुचित हो जाता है। तो यह यहां परमार्थ है-

'अनौचित्य को छोड़ कर कोई दूसरा रसमङ्ग का कारण नहीं है, और प्रसिद

औचित्य का योजन रस की परा उपनिपद् है।'

लोचनम्

व्यतिरिक्तं त्विति । अधिकमित्यर्थः ।

एतदुक्तं भवति - यत्र विनेयानां प्रतीतिखण्डना न जायते ताद्रम्वर्णनीयम्। तत्र केवलमानुषस्य एकपदे सप्ताणवलङ्घनमसम्भाव्यमानतयाऽनृतमिति हृद्ये स्फुरदुपदेश्यस्य चतुर्वर्गोपायस्याप्यलीकतां बुद्धौ निवेशयति । रामादेस्तु तथाः

व्यतिरिक्त—। अर्थात् अधिक ।

यह कहा गया-जहां विनेय (शिक्षणीय) जनों की प्रतीति खण्डित नहीं होती, उस प्रकार का वर्णन करना चाहिए। वहां केवल मानुष का एक छलांग में सात समुद्र स्रांच जाना असरमाव्यमान होने के कारण 'अनृत' के रूप में हृदय में प्रतीत होता हुआ उपदेश्य चतुर्वर्ग के उपाय की भी अलीकता की बुद्धि में निविष्ट करता है। परन्तु राष

अत एव च भरते प्रख्यातवस्तुविषयत्वं प्रख्यातोदात्तनायकत्वं च नाटकस्यावश्यकर्तव्यतयोपन्यस्तम् । तेन हि नायकौचित्यानौचि-त्यविषये कविन व्याग्रुद्धति । यस्तुत्पाद्यवस्तु नाटकादि कुर्यात्तस्याप्र-सिद्धानुचितनायकस्वभाववर्णने महान् प्रमादः ।

नतु यद्युत्साहादिभाववर्णने कथिश्चिद्दिन्यमानुष्याद्यौचित्यपरीक्षा क्रियते तित्क्रयताम्, रत्यादौ तु किं तया प्रयोजनम् १ रितिहिं भारत-वर्षोचितेनैव न्यवहारेण दिन्यानामि वर्णनीयेति स्थितिः। नैवम्; तत्रौचित्यातिक्रमेण सुतरां दोषः। तथा द्यधमप्रकृत्यौचित्येनोत्तम-प्रकृतेः शृङ्गारोपनिवन्धने का भवेन्नोपहास्यता। त्रिविधं प्रकृत्यौचि-त्यं भारते वर्षेऽप्यस्ति शृङ्गारविषयम्। यत्तु दिन्यमौचित्यं तत्त्रतानुप-

इसी छिए भरत ने नाटक का प्रख्यात वस्तुविषय वाला होना और प्रख्यात उदात्त नायक वाला होना, अवश्यकर्तन्यरूप से उपन्यस्त किया है। इस कारण नायक के औचित्य-अनौचित्य के विषय में किव न्यामोह प्राप्त नहीं करता। परन्तु जो (किव) किल्पत कथावस्तु वाले नाटक आदि बनाता है उसका अप्रसिद्ध एवं अनुचित नायक-स्वभाव के वर्णन में महान प्रमाद है।

(शक्का) यदि उत्साह आदि भावों के वर्णन में किसी प्रकार दिन्य, मानुष्य आदि औचित्य की परीचा करते हैं तो कीजिए, परन्तु रत्यादि में उत्से क्या प्रयोजन है ? क्यों कि यह नियम है कि दिन्यों की भी रित का वर्णन भारतवर्ष के उचित क्यवहार से ही करना चाहिए। (समाधान) ऐसा नहीं; उसमें औचित्य के अतिक्रम से सुतरां दोप होगा। जैसा कि अधम-प्रकृति के औचित्य से उत्तमप्रकृति के श्रक्कार के निवन्धन में क्या उपहास्यता न होगी ? भारतवर्ष में भी श्रक्कार के विषय का प्रकृत्यी-

लोचनम्

विधमपि चरितं पूर्वेत्रसिद्धिपरम्परोपचितसम्प्रत्ययोपारूढमसत्यतया न चकास्ति। अत एव तस्यापि यदा प्रभावान्तरमुत्प्रेद्दयते तदा ताहशमेव। न त्वसम्भावना-पदं वर्णनीयमिति। तेन हीति। प्रख्यातोदात्तनायकवस्तुत्वेन। व्यामुसतीति किं वर्णयेयमिति। यस्तिति कविः। महान् प्रमाद इति। तेनोत्पाद्यवस्तु नाट-

आदि का उस प्रकार का भी चरित पूर्वप्रसिद्धि की परम्परा से उपनित विश्वास द्वारा उपारूढ होने के कारण असत्य रूप से नहीं प्रतीत होता। अतएव जब उसके भी अन्य प्रभाव की कल्पना करेंगे तब उसी प्रकार होगा। असम्भावना के स्थान का वर्णन नहीं करना चाहिए। इस कारण—। प्रख्यात उदात्त नायक की कथा होने के कारण। ज्यामोह प्राप्त करता है—क्या वर्णन करूँ? जो कवि। महान् प्रमाद—। इस लिए

कारकमेनेति चेत्—-न वयं दिव्यमौचित्यं शृङ्गारिविषयमन्यतिकश्चिर्
ब्रूमः । किं तर्हि १ भारतवर्षविषये यथोत्तमनायकेषु राजादिषु शृङ्गारेष्मिनवन्धस्तथा दिव्याश्रयोऽिष श्चोभते । न च राजादिषु प्रसिद्धग्राम्यशृङ्गारोपनिवन्धनं प्रसिद्धं नाटकादौ, तथेव देवेषु तत्परिहर्तव्यम् । नाटकादेरिभनेयार्थत्यादिभनयस्य च सम्भोगशृङ्गारिविषयस्याचित्य तीन प्रकार का है। जो कि दिव्य औचित्य है वह उसमें उपकारक ही नहीं,
बित्य तीन प्रकार का है। जो कि दिव्य औचित्य है वह उसमें उपकारक ही नहीं,
बित्य तीन प्रकार का है। जो कि दिव्य औचित्य को कुछ अतिरिक्त नहीं
कहते हैं। तो क्या है १ भारतवर्ष देश में जैसे उत्तम नायक राजा आदि में श्वार का
निवन्धन शोभा देता है उसी प्रकार दिव्य के सम्बन्ध में भी। नाटक आदि में राजा
आदि के सम्बन्ध में प्रसिद्ध प्राम्य श्वज्ञार का उपनिवन्धन प्रसिद्ध नहीं है, उसी
प्रकार देवताओं के सम्बन्ध में उसका परिहार कर देना चाहिए। नाटक आदि अभिनेयार्थ होते हैं, और उनमें सम्भोग श्वज्ञार के विषय के अभिनय का असभ्य होने के
कारण परिहार है यदि यहाँ कहो तो नहीं क्योंकि यदि इस प्रकार के विषय के

लोचनम्

कादि न निरूपितं मुनिनेति न कर्तव्यमिति तात्पर्यम् । आदिशब्दः प्रकारे डिमादेः प्रसिद्धदेवचरितस्य संग्रहार्थः ।

अन्यस्तु—'उपलक्षणमुक्तो बहुत्रीहिरिति प्रकरणमत्रोक्तिमि'त्याह । 'नाटि कादि' इति वा पाठः । तत्रादिप्रहणं प्रकारसूचकम्, तेन मुनिनिरूपिते नाटिका लक्ष्यो 'प्रकरणनाटकयोगादुत्पाद्यं वस्तु नायको नृपितः' इत्यत्र यथासंख्येन प्रक्यातोदात्तनृपितनायकत्वं बोद्धव्यमिति भावः । कथं तर्हि सम्मोगशृङ्गारः किवना निबध्यतामित्याशङ्कथाह्—न चेति । तथैवेति । मुनिनापि स्थाने स्थाने

उत्पाद्ध (किल्प्त) कथानक वाले नाटक आदि का मुनि ने निरूपण नहीं किया है अतः नहीं करना चाहिए, यह तात्पर्य है। 'आदि' शब्द 'प्रकार' के अर्थ में है, 'डिन' आदि प्रसिद्ध देवचरित के सङ्ग्रहार्थ है।

अन्य (व्याख्याकार) तो कहते हैं कि उपलक्षण रूप में बहुन्नीहि समास कहा गया है, अतः यहां 'प्रकरण' कहा गया है (प्रकार या साहत्य नहीं)। अथवा 'नाटिकारि' यह पाठ है। वहां 'आदि' ग्रहण 'प्रकार' का सूचक है, इस लिए मुनि द्वारा निर्ह्णत 'नाटिका' के लक्षण में 'प्रकरण और नाटक को मिला कर कथावस्तु उत्पाद्य (किल्पत) होता है और नायक राजा होता है' यहां क्रम से प्रख्यात एवं उदात्त राजा का नायकत्व समझन्। चाहिए, यह भाव है। कैसे किंव द्वारासम्भोग श्रङ्कार का उपनिबन्धन हो? यह आश्रङ्का करके कहते हैं—सम्भोग श्रङ्कार का—। उसी प्रकार—। 'स्थैर्य से उत्तम, मध्यम अधम तथा नीचों के सम्भ्रम से' इत्यादि कहते हुए मुनि ने भी स्थान-स्थान

सभ्यत्वात्तत्र परिहार इति चेत्—नः यद्यभिनयस्यैवंविषयस्यासभ्यता तत्काव्यस्यैवंविषयस्य सा केन निवार्यते ? तस्माद्भिनेयार्थेऽनिभनेयार्थे वा काव्ये यदुत्तमप्रकृते राजादेरुत्तमप्रकृतिभिनीयिकाभिः सह ग्राम्य-सम्भोगवर्णनं तत्पित्रोः सम्भोगवर्णनिव सुतरामसभ्यम् । तथैयो-त्तमदेवतादिविषयम् ।

न च सम्मोगशृङ्गारस्य सुरतलक्षण एवैकः प्रकारः, यावदन्ये-ऽपि प्रमेदाः परस्परप्रेमदर्शनादयः सम्भवन्ति, ते कस्मादुत्तमप्रकृति-विषये न वर्ण्यन्ते १ तस्मादुत्साहबद्रतावि प्रकृत्यौचित्यमनुसर्वव्यम् । तथैव विस्मयादिषु । यन्त्रेवंविधे विषये महाकवीनाप्यसमीक्ष्यकारिता लक्ष्ये दृश्यते स दोष एव । स तु शक्तितिरस्कृतत्वात्तेषां न लक्ष्यत इत्युक्तमेव । अनुभावौचित्यं तु भरतादौ प्रसिद्धमेव ।

इयत्त्वयते — अरतः दिविरिचितां स्थिति चानुवर्तमानेन महाकवि-अभिनय की असम्यता हो तो इस प्रकार के विषय के काव्य की उस (असम्यता) का कोन निवारण कर सकता है ? इस लिए अभिनेयार्थ अथवा अनिभनेयार्थ काव्य में जो उत्तमप्रकृति राजा आदि का उत्तमप्रकृति नायिकाओं के साथ प्राम्य सम्भोग का वर्णन है वह पिता-माता के सम्भोगवर्णन की सांति सुतरां असम्य है। उसी प्रकार उत्तम देवता आदि के सम्बन्ध का।

सम्मोग श्रङ्गार का सुरत रूप एक ही प्रकार नहीं है, परस्पर प्रेम, दर्शन आदि अन्य प्रमेद भी हो सकते हैं। उत्तम प्रकृति के विषय में उन्हें क्यों नहीं वर्णन करते हैं? इस कारण उत्साह की मांति रित में भी प्रकृत्यों। चत्य का अनुसरण करना चाहिए। उसी प्रकार विस्मय आदि में। परन्तु जो कि इस प्रकार के विषय में महा-कवियों की भी असमीच्यकारिता देखी जाती है वह दोष ही है। किन्तु शक्तितिरस्कृत होने के कारण उनका वह छन्नित नहीं होता, यह कह ही चुके हैं। अनुभाव का औचित्य तो भरत आदि में प्रसिद्ध ही है।

परन्तु इतना कहते हैं — भरत आदि द्वारा रचित मर्यादा का अनुवर्तन करते लोचनम्

प्रकृत्यौचित्यमेव विभावानुभावादिषु बहुतरं प्रमाणीकृतं 'स्थैर्येणोत्तममध्य-माधमानां नीचानां सम्भ्रमेण' इत्यादि वदता।

इयिति । लक्ष्णज्ञत्वं लच्यपरिशीलनमदृष्टप्रसादोदितस्वप्रतिभाशालित्वं पर विभाव, अनुभावं आदि में प्रकृत्यौचित्य को ही बहुत प्रकार से प्रमाणित किया है। परन्तु इतना—। लक्षणज्ञता, लच्य के परिशीलन, अदृष्ट (अर्थात् देवता आदि) की

प्रवन्धांश्च पर्यालोचयता स्वप्रतिभां चानुसरता कविनावहितचेतसा भूत्वा विभावाद्यौचित्यभ्रंशपरित्यागे परः प्रयत्नो विधयः। औचित्यवतः कथाश्चरीरस्य वृत्तस्योत्प्रेक्षितस्य वा प्रहो व्यञ्जक इत्यनेनैतत् प्रतिपादयति—यदितिहासादिषु कथासु रसवतीषु विविधासु सती-व्विषि यत्तत्र विभावाद्यौचित्यवत्कथाश्चरीरं तदेव प्राद्धं नेतरत्। वृत्तादिष च कथाश्चरीरादुत्प्रेक्षिते विशेषतः प्रयत्नवता भवितव्यम्। तत्र द्यानवधानात्स्खलतः कवेरव्युत्पत्तिसम्भावना महती भवति।

परिकरश्लोकश्चात्र-

कथाश्वरीरम्रत्पाद्यवस्तु कार्यं तथा तथा । यथा रसमयं सर्वमेव तत्प्रतिभासते ॥

हुए, महाकिवयों के प्रबन्धों के पर्यां ले पर्यां के करते हुए और अपनी प्रतिभा का अनुसरण करते हुए किव को चित्त को अविहित करके विभाव आदि के औचित्य के भ्रंब के परित्याग में खूब प्रयत्न करना चाहिए। यृत्त (ऐतिहासिक) अथवा उत्प्रेषित (किएत) औचित्ययुक्त कथाश्वरीर का प्रहण व्यक्षक होता है, इससे यह प्रतिपादन करते हैं कि इतिहास आदि रसीली कथाओं के विविध होने पर भी जो वहां विभाव आदि के औचित्य से युक्त कथाश्वरीर है उसे ही प्रहण करना चाहिए, इतर को नहीं। वृश (ऐतिहासिक) कथाश्वरीर से भी विशेष रूप से उत्प्रेष्टित (किएत कथाश्वरीर) में प्रयत्नशील होना चाहिए। क्योंकि वहां अनवधान के कारण स्लिलत होते हुए किंव की अव्युत्पत्ति की सम्भावना बहुत होती है।

और यहां परिकर-श्लोक है-

कथाशरीर को उस-उस प्रकार किएत करना चाहिए जिस प्रकार सभी वह रसमय माञ्चम पड़े।'

लोचनम्

चानुसर्तव्यमिति संद्येपः। रसवतीिष्वत्यनादरे सप्तमी। रसवन्वं चाविवेचकः जनाभिमानाभित्रायेण मन्तव्यम्। विभावाद्यौचित्येन हि विना का रसवता। कवरिति। न हि तत्रेतिहासवशादेव मया निबद्धमिति जात्युत्तरमि सम्भा-प्रसन्नता से उत्पन्न निजी प्रतिभाशालित्व का अनुसरण करना चाहिए, यह संक्षेष है। 'रसीली कथाओं में' यहां अनादर में सप्तमी है। 'रसीली होना' अविवेचक जनों के अभिमान के अभिप्राय से मानना चाहिए। विभावादि के औचित्य के बिना रसीलापन (रसवत्ता) कैसा ? किव की—। वहां (स्वयं उत्प्रेक्षित कथाशरीर में) इतिहास के विश्व से ही मैंने निबन्धन किया है यह असमीचीन उत्तर भी नहीं सम्भव है। वहां

तत्र चाभ्युपायः सम्यग्विभावाद्यौचित्यानुसरणम् । तच दर्शि-तमेव । किश्च —

> सन्ति सिद्धरसप्रख्या ये च रामायणाद्यः । कथाश्रया न तैर्योज्या स्वेच्छा रसविरोधिनी ॥

तेषु हि कथाश्रयेषु तावत्स्वेच्छैव न योज्या । यदुक्तम्—'कथा-मार्गे न चाल्पोऽप्यतिक्रमः' । स्वेच्छापि यदि योज्या तद्रसविरोधिनी न योज्या ।

सम्यक् प्रकार से विभाव आदि के औचित्य का अनुसरण वहां उपाय है। और असे दिखाया ही है।

और भी-

'सिद्धरस रूप में प्रख्यात रामायण आदि जो कथा के आश्रय हैं उनके साथ रस के प्रतिकृष्ठ अपनी इच्छा की योजना नहीं करनी चाहिए।'

उन कथा के आश्रयों में अपनी इच्छा की ही योजना नहीं करनी चाहिए। क्योंकि कहा है—'कथा के मार्ग में थोड़ा भी अतिक्रम नहीं है'। यदि अपनी इच्छा की भी योजना करे तो रस के प्रतिकृष्ठ (इच्छा) की योजना न करे।

लोचनम्

वित । तत्र चेति । रसमयत्वसम्पाद्ने । तिब्रेति । सिद्धः आस्त्राद्मात्ररोषो न तु भावनीयो रसो येषु । कथानामाश्रया इतिहासाः, तैरितिहासार्थः तैस्सह स्वेच्छा न योज्या । सहार्थश्रात्र विषयविषयिभाव इति व्याच्छे—तिव्विति सप्तम्या । स्वेच्छा तेषु न योज्या, कथि द्विद्वा यदि योज्यते तत्त्त्रसिद्धरसिव रुद्धा न योज्या । यथा रामस्य धीरललितत्वयोजनेन नाटिकानायकत्वं कश्चित्कुर्या-दिति त्वत्यन्तासमञ्जसम् । यदुक्तमिति । रामाभ्युद्ये यशोवर्मणा—'स्थित-

रसमयता के सम्पादन में । सिद्ध—। सिद्ध अर्थात् आस्वादमात्र शेष, न कि भावनीय रस है जिनमें । कथाओं के आश्रय अर्थात् इतिहास, उन इतिहास के अर्थों के साथ अपनी इच्छा की योजना नहीं करनी चाहिए । और 'साथ' का अर्थ यहां विषय-विषयि-भाव है यह व्याख्यान करते हैं—'उन कथा के आश्रयों में' इस सप्तमी से । अपनी इच्छा की उनमें योजना नहीं करनी चाहिए, अथवा यदि किसी प्रकार योजना करते हैं तो उस प्रसिद्ध रस के विषद्ध योजना नहीं करनी चाहिए । जैसे राम को धीरलिंकत वनाकर कोई (किव) नाटिका का नायक वनाये तो अत्यन्त असमज्ञस होगा । क्येंकि कहा है—। 'रामाम्युदय' में यशोवर्मा ने—'स्थितमिति यथा शय्याम्'। काळिदास—।

इदमरं प्रवन्धस्य रसाभिव्यञ्जकत्वे निवन्धनम् । इतिवृत्तविशा-यातां कथित्रद्रसाननुगुणां स्थिति त्यक्तवा पुनरुत्प्रेक्ष्याप्यन्तराभीष्ट-रसोचितकथोत्तयो विधयः यथा कालिदासप्रवन्धेषु । यथा च सर्व-सेनिवरचिते हरिविजये । यथा च मदीय एवार्जनचरिते महाकाव्ये । कविना काव्यस्प्वितविश्वता सर्वात्मना रसपरतन्त्रेण भवितव्यम् । तत्रे-तिवृत्ते यदि रसाननुगुणां स्थिति पत्रयेत्तदेमां भङ्कत्वापि स्वतन्त्रत्या रसानुगुणं कथान्तरसुत्पादयेत् । न हि कवेरितिवृत्तमात्रनिर्वहणेन किञ्चत्प्रयोजनम्, इतिहासादेव तिसद्धेः ।

रसादिव्यक्षकत्वे प्रबन्धस्य चेदमन्यन्सुख्यं नियन्धनं, यत्सन्धीनं प्रवन्ध के रसाभिन्यक्षक होने में यह दूसरा निवन्धन है। इतिहास के प्रसङ्ग से आई किसी प्रकार की रस के प्रतिकृष्ठ स्थिति को छोड़ कर पुनः उद्येचा करके भी वीच में अभीष्ट रस के उचित कथा का उन्नयन कर छेना चाहिए, जैसे काछिदास आदि के प्रवन्धों में। और जैसे सर्वसेन विरचित 'हरिविजय' में। और जैसे मेरे ही 'अर्जुनचरित महाकाच्य' में। काच्य का निर्माण करते हुए कवि को सब प्रकार से रस के अधीन होना चाहिए। उस इतिवृत्त में यदि रस के प्रतिकृष्ठ स्थिति देखे तब उसे तोइ कर भी स्वतन्त्र रूप से रसके अनुकृष्ठ कथान्तर का उत्पादन करे। क्योंकि कवि का इतिवृत्त मात्र के निर्वहण से कुछ प्रयोजन नहीं हैं, क्योंकि इतिहास से ही उसकी सिद्धि हो जाती है।

प्रवन्ध के रसादिन्यञ्जक होने में अन्य मुख्य कारण यह है कि मुख, प्रतिमुख,

लोचनम्

मिति यथा शय्याम्' कालिदासेति । रघुवंशेऽजादीनां राज्ञां विवाहादिवर्णते नेतिहासेषु निरूपितम् । हरिविजये कान्तानुनयनाङ्गत्वेन पारिजातहरणिः निरूपितमितिहासेष्वहष्टमपि । तथार्जुनचिरतेऽर्जुनस्य पातालविजयादि वर्णिः तमितिहासाप्रसिद्धम् । एतदेव युक्तमित्याह्—कविनेति । सन्धीनामिति । इह प्रभुसिन्मतेभ्यः श्रुतिस्मृतिप्रभृतिभ्यः कर्तव्यमिद्मित्याज्ञामात्रपरमार्थेभ्यः 'रघुवंश' में अज आदि राजाओं के विवाह का वर्णन इतिहासों में निरूपित नहीं है। 'हरिविजय' में प्रियतमा के अनुनयन के अङ्ग रूप से पारिजातहरण आदि का निरूपि किया गया है (जो) इतिहास में देखा भी नहीं गया । उस प्रकार 'अर्जुनचरित' में इतिहर्णि मं अप्रसिद्ध अर्जुन द्वारा पाताल-विजय आदि का वर्णन किया गया है । यही ठीक है यह कहते हैं—कवि को—। सिन्धर्यों—। यहां प्रभुसिन्मत श्रुति, स्मृति प्रभृति 'वह करना चाहिए' वह आज्ञामात्र परमार्थं वाले शास्त्रों से जो व्युत्पत्ति प्राप्त नहीं है और

लोचनम्

शास्त्रभ्यो ये न व्युत्पन्नाः, न चाप्यस्येदं वृत्तममुष्मात्कर्मण इत्येवं युक्तियुक्तक-भैफलसम्बन्धप्रकटनकारिभ्यो मिञ्चस्मितेभ्य इतिहासशास्त्रभ्यो लब्धव्युत्प-त्त्रयः, अथ चावश्यं व्युत्पाद्याः प्रजार्थसम्पादनयोग्यताकान्ता राजपुत्रप्रायास्ते-षां हृद्यानुप्रवेशमुखेन चतुर्वर्गीपायव्युत्पत्तिराधेया । हृद्यानुप्रवेशस्य रसास्वा-इमय एव। स च रसश्चतुर्वर्गोपायव्युत्पत्तिनान्तरीयक्विभावादिसंयोगप्रसा-द्योपनत इत्येवं रसोचितविभावायुपनिवन्धे रसास्वादवैवश्यमेव स्वरसभावि-न्यां व्युत्पत्तौ प्रयोजकमिति प्रीतिरेव व्युत्पत्तेः प्रयोजिका । प्रीत्यात्मा च रस-स्तदेव नाटचं नाटचमेव वेद इत्यस्मदुपाध्यायः। न चैते प्रीतिव्युत्पत्ती सिन्न-हते एव, द्वयोरप्येकविषयत्वात् । विभावाद्यौचित्यमेव हि सत्यतः प्रीतेर्निदा-निमत्यसकृदवोचाम । विभावादीनां तद्रसोचितानां यथास्वरूपवेदनं फलप-र्यन्तीभूततया व्युत्पत्तिरित्युच्यते । फलं च नाम यदृदृष्टवशाहेवताप्रसादादन्यतो वा जायते । न च तदुपदेश्यम् , तंत उपाये व्युत्पत्त्ययोगात् । तेनोपायक्रमेण प्रवृत्तस्य सिद्धिः अनुपायद्वारेण प्रवृत्तस्य नाश इत्येवं नायकप्रतिनायकगत-त्वेनार्थानर्थोपायव्युत्पत्तिः कार्यो । उपायश्च कत्रीश्रीयमाणः भजते । तद्यथा-स्वरूपं, स्वरूपात्किञ्चिदुच्छूनतां, कार्यसम्पादनयोग्यतां, प्रतिबन्धोपनिपातेनाशङ्कचमानतां, निवृत्तप्रतिपक्षतायां बाधकबाधनेन सुदृढ-'इस कमें से इसका यह फल हुआ' इस प्रकार युक्तिपूर्वक कमें और फल के सम्बन्ध को प्रकट करने वाले मित्रसम्मित इतिहासशास्त्रों से व्युत्पत्ति प्राप्त नहीं हैं अथ च व्युत्पत्ति प्राप्त कराने योग्य हैं एवं प्रजा के कार्य करने की योग्यता रखते हैं उन राजपुत्रों के हृदय में अनुप्रवेश के प्रकार से चतुर्वर्ग के उपाय की ब्युत्पत्ति का आधान करना चाहिए। हृदय में अनुप्रवेश रसास्वाद रूप ही होता है। और वह रस चतुर्वंगं के उपाय की ब्युत्पत्ति के नान्तरीयक (आनुषङ्क्तिक फल) वाले विभावादिसंयोग के कारण प्राप्त होता है, इस प्रकार रसोचित विभाव आदि के उपनिबन्धन में रसास्वाद का वैवश्य ही स्वभावतः होने वाली व्युत्पत्ति में प्रयोजक है, अतः प्रीति ही व्युत्पत्ति की प्रयोजिका है। प्रीति रूप रस है, वही नाट्य है, नाट्य ही वेद है यह हमारे उपाच्याय (का कथन है)। और ये प्रीति एवं व्युत्पत्ति भिन्न रूप नहीं हैं, क्योंकि दोनों का विषय एक है। कई वार हम कह चुके हैं कि विभावादि का औचित्य ही ठ़ीक रूप से प्रीति का निदान है। उस रस के उचित विभावादि का फलपर्यन्तीभूत रूप से स्वरूप के संवेदन को 'ब्युत्पत्ति' कहते हैं। और 'फल' वह है जो अदृष्ठवश, देवता के प्रसाद से अथवा अन्य से उत्पन्न होता है। वह उपदेश्य नहीं है, क्योंकि उससे उपाय में व्युत्पत्ति नहीं होती। इस कारण उपायकम से प्रवृत्त की सिद्धि और अनुपाय द्वारा प्रवृत्त का नास होता है, इस प्रकार नायक और प्रतिनायकगत अर्थ और अन्थं की व्युत्पत्ति करनी चाहिए। कर्ता द्वारा आश्रीयमाण उपाय पांच अवस्थाओं को प्राप्त करता है—स्वरूप (अर्थात् ज्याय के अनुष्ठान की अवस्था), स्वरूप से कुछ उच्छूनता (अर्थात् कुछ पोषण), कार्यं के सम्पादन की योग्यता, प्रतिबन्धक के आगमन से (कार्यसिद्धि में) आशङ्क्य-

लोचनम्

फलपर्यन्तताम् । एवमार्तिसहिष्णूनां विप्रलम्भभीरूणां प्रेक्षापूर्वकारिणां तावदेवं कारणोपादानम् । ता एवंविधाः पञ्जावस्थाः कारणगता मुनिनोक्ताः—

संसाध्ये फलयोगे तु व्यापारः कारणस्य यः। तस्यानुपूर्व्या विज्ञेयाः पञ्जावस्थाः प्रयोक्तृभिः।। प्रारम्भश्च प्रयत्नश्च तथा प्राप्तेश्च सम्भवः। नियता च फलप्राप्तिः फलयोगश्च पञ्जमः।। इति।

एवं या एताः कारणस्यावस्थास्तत्सम्पादकं यत्कर्तुरितिवृत्तं पञ्चया विभक्तम् । त एव मुखप्रतिमुखगर्मात्रमर्शनिवहणाख्या अन्वर्थनामानः पश्च सन्धय इतिवृत्तखण्डाः, सन्धीयन्त इति कृत्वा । तेषामि सन्धीनां स्वनिर्वाहं प्रति तथा क्रमदर्शनादवान्तरभिन्ना इतिवृत्तभागाः । सन्ध्यङ्गानि-'उपन्नेषः परिकरः परिन्यासो विलोभनम्' इत्यादीनि ।

अर्थप्रकृतयोऽत्रैवान्तर्भूताः । तथा हि स्वायत्तसिद्धेर्वीजं बिन्दुः कार्यमिति तिसः। बीजेन सर्वव्यापाराः बिन्दुनानुसन्धानं कार्येण निर्वाहः सन्दर्शनप्रार्थनाः व्यवसायरूपा ह्येतास्तिस्रोऽर्थसम्पाद्ये कर्तुः प्रकृतयः स्वभावविशेषाः । स चवाः यत्तसिद्धित्वे तु सचिवस्य तद्रथमेव वा स्वाथमेव वा स्वार्थमपि वा प्रवृत्ततेन मानता, प्रतिपक्षता (प्रतिकूलता) के न रहने पर वाधक के बाधन द्वारा सुदृढ़ फर्ण्यांनता। इस प्रकार कष्ट के सहिष्णु, विप्रलम्भ (कार्यं की असिद्धि) के भीर, समझ वूझकर कार्यं करने वालों के कारणों का उपादान है। उन इस प्रकार के कारणक पांच अवस्थाओं को मुनि ने कहा है—

फलयोग के साध्य होने में कारण का जो व्यापार है उसकी आनुपूर्वी से पांच अवस्थाएं प्रयोक्ताओं को जाननी चाहिएँ—आरम्भ, प्रयत्न, प्राप्ति का सम्भव, निवर

फलप्राप्ति और फलयोग। (भरतनाट्यं २१, ७, ९)

इस प्रकार जो ये कारण की अवस्थाएं हैं उनको सम्पन्न करने वाला जो कर्ता क इतिवृत्त है वह पांच प्रकार से विभक्त है। वे ही मुख, प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्थ, निवंहण नामक यथार्थ नामों वाली पांच 'सन्धियां' इतिवृत्त-खण्ड हैं, 'सन्धान की जाती हैं' गई (न्युरपत्ति) करके। उन सन्धियों के भी स्वनिर्वाह्य (फल) के प्रति उस प्रकार क्रम देखने से अवान्तरभिन्न इतिवृत्त-माग हैं। सन्धि के अङ्ग-उपक्षेप, परिकर, परिवाह, विलोभन इत्यादि।

अर्थप्रकृतियां इसी में अन्तर्भूत हैं। जैसा कि अपने अधीन सिद्धि वाले (कर्ता) की वीज, बिन्दु और कार्य ये तीन हैं। वीज से समस्त व्यापार, बिन्दु से अनुसन्धान और कार्य से निर्वाह विवक्षित हैं, सन्दर्शन, प्रार्थना, व्यवसाय रूप ये तीन सम्पाद्य अर्थ में कर्ता की प्रकृतियां अर्थात् स्वभावविशेष हैं। परन्तु (कर्ता अर्थात् नायक के) सिंब के अधीन सिद्धिवाला होने पर सचिव के उसके (कर्ता के) लिए अथवा अपने लिए भी प्रवृत्त होने पर प्रकीण और प्रसिद्ध होने के कारण प्रकरी, प्रताक

लोचनम्

प्रकीर्णत्वप्रसिद्धत्वाभ्यां प्रकरीपताकाव्यपदेश्यतयोभयप्रकारसम्बन्धी व्यापार-विशेषः प्रकरीपताकाशब्दाभ्यामुक्त इति । एवं प्रस्तुतफलनिर्वोहणान्तस्या-विकारिकस्य वृत्तस्य पञ्चसन्धित्वं पूर्णसन्ध्यङ्गता च सर्वजनव्युत्पत्तिदायिनी निवन्धनीया । प्रासङ्गिके त्वितिवृत्ते नायं नियम इत्युक्तम्—

'प्रासिक्कि परार्थत्वात्र होष नियमो भवेत्'

इति मुनिना । एवं स्थिते रत्नावल्यां धीरत्नितस्य नायकस्य धर्माविरुद्धसम्मोगसेवायामनौचित्याभावात्त्रत्युत न निस्मुखः स्यादिति ऋाच्यत्वात्पृथ्तीराज्यमहाफलान्तरानुवन्धिकन्यालाभफलोद्देशेन प्रस्तावनोपक्रमे पञ्जापि
सन्वयोऽवस्थापञ्जकसहिताः समुचितसन्ध्यङ्गपरिपूर्णा अर्थप्रकृतियुक्ता दर्शिता
एव । 'प्रारम्भेऽस्मिन्स्वामिनो वृद्धिहेतौ' इति हि बीजादेव प्रभृति 'विश्नान्तविष्रहकथः' इति 'राज्यं निर्जिशत्रु' इति च वचोभिः 'उपभोगसेवावसरोऽयम्'
इत्युपद्मेपात्प्रभृति हि निरूपितम् । एतत्तु समस्तसन्ध्यङ्गस्वरूपं तत्पाठपृष्ठे
प्रदर्श्यमानमतितमां प्रन्थगौरवमावहति । प्रत्येकेन तु प्रदर्श्यमानं पूर्वोपरानु
सन्धानवन्ध्यतया केवलं संमोहदायि भवतीति न विततम् । अस्यार्थस्य
यत्नावषेयत्वेनेष्ठत्वात्स्वकण्ठेन यो व्यतिरेक उक्तो 'न तु केवलया' इति

के नाम से उभय प्रकार के सम्बन्ध वाला व्यापार विशेष 'प्रकरी' और 'पताका' शब्द रे कहा गया है। इस प्रकार प्रस्तुत फल के निर्वाह करने तक आधिकारिक कथानक का पञ्चसन्धित्व और पूर्णसन्ध्यञ्जता सब लोगों को व्युत्पत्ति देनेवाली निबन्धनीय है। पत्तु प्रासङ्गिक इतिवृत्त (कथानक) में यह नियम नहीं है, यह कहा है—

'पराणं होने के कारण 'प्रासङ्गिक' में यह नियम लागू नहीं होगा'। मुनि ने। ऐसी स्थिति में 'रत्नावली' में धीरललित नायक की धर्मविषद्ध सम्मोग की सेवा में अनौक्तिय के अमाव के कारण, प्रत्युत 'सुखरिहत न हो' इस दृष्टि से श्लाष्य होने के कारण, पृथ्वीराज्य के महाफल के बीच में प्राप्त कन्यालाम के फल के उद्देश्य से प्रस्ताना के उपक्रम में समुचित सन्ध्यञ्जों से युक्त, अर्थप्रकृतियों से युक्त एवं पांच अवस्थाओं युक्त पांचों सन्धियां दिखाई गई ही हैं। 'प्रारम्भेऽस्मिन् स्वामिनो वृद्धिहेतोः' इस वीव से ही लेकर 'विश्वान्तविग्रहक्यः' और 'राज्यं निजितशत्रु' इन कथनों से, 'उपभोग-धिवावसरोऽप्रम्' इस 'उपक्षेप' से लेकर निरूपण किया है। परन्तु इन समस्त सन्धियों के बङ्गों का स्वरूप (रत्नावली के पाठों पर) दिखाने से अत्यधिक ग्रन्थगैरव होगा। वीर एक-एक (उदाहरण मात्र) दिखाने पर पूर्वापर के अनुसन्धान के न हो पाने से केव सम्मोह उत्पन्न होगा, अतः विस्तार नहीं किया है। इस बात (रसामिध्यक्ति विश्वा से सन्धिसन्ध्य ज्ञ्वघटन) को यत्नपूर्वक अवधेय रूप से इष्ट होने के कारण जो पितिक 'न कि केवल करे यह कहा है उसका स्वाहरण कहते हैं— न कि—। 'केवल'

मुखप्रतिमुखगर्भावमर्शनिर्वहणाख्यानां तदङ्गानां चोपश्चेषादीनां कर रसाभिन्यक्त्यपेक्षया, यथा रत्नावल्याम्; न तु केवलं शास्त्रिक्षित्र सम्पादनेच्छया। यथा वेणीसंहारे विलासाख्यस्य प्रतिमुखसन्यह स्य प्रकृतरसनिवन्धाननुगुणमपि द्वितीयेऽङ्के भरतमतानुसरणमात्रेष्ण घटनम्।

गर्भ, अवमर्श, निर्वहण नामक सन्धियों और उपचेप आदि उनके अङ्गों का तर्म व्यक्ति की अपेचा से ओड़ना, जैसे 'रत्नावर्टी' (नाटिका) में; न कि केवल सन् मर्यादा के सम्पादन की इच्छा से। जैसे 'वेणीसंहार' में 'दिलास' नामक प्रीकृ सन्धि के अङ्ग का प्रकृत रस के निवन्धन के प्रतिकृत्न भी दूसरे अङ्ग में केवल सन मत के अनुसरण की इच्छा से घटन है।

लोचनम्

तस्योदाहरणमाह—न त्विति । केवलशब्दिमच्छाशब्दं च प्रयुष्ठानसः माशयः—भरतमुनिना सन्ध्यङ्गानां रसाङ्गभूतमितिवृत्तप्राशस्योत्पाद्धः प्रयोजनमुक्तम् । न तु पूर्वरङ्गाङ्गवददृष्टसम्पादनं विद्यादिवारणं वा । यथोत्स

इष्टस्यार्थस्य रचना वृत्तान्तस्यानपञ्ज्यः। रांगप्राप्तिः प्रयोगस्य गुद्धानां चैव गृह्नम्।। आश्चर्यवद्भिख्यानं प्रकाश्यानां प्रकाशनम्। अङ्गानां पद्विधं द्वेतद् दृष्टं शास्त्रे प्रयोजनम्।। इति।

ततश्च-

्समीहा रितमोगार्थो विलासः परिकीर्तितः । इति प्रतिमुखसन्ध्यङ्गविलासलक्ष्में । रितमोगराञ्द आधिकारिकरसः यिभावोपन्यञ्जकविभावाद्युपलक्षणार्थत्वेन प्रयुक्तः, यथा तत्त्वं नाधिगतार्थः विब्द और 'इच्छा' शब्द का प्रयोग करते हुए (कारिकाकार) का यह बाह्य भरतमुनि ने रसाङ्गभूत इतिवृत्त के प्राशस्त्य के उत्पादन को ही सन्ध्यङ्गों का प्रवेश

भरत शुन न रसाङ्गभूत इतिवृत्त के प्राशस्त्य के उत्पादन को ही सन्ध्यङ्गी के कहा है 'पूर्वरङ्ग' के अङ्ग की भांति अदृष्टसम्पादन अथवा विद्यादिवारण को कि है)। जैसे, कहा है—
'शास्त्र में यह छ प्रकार का अञ्चे का प्राप्तित नेता गया है—इष्ट

'शास्त्र में यह छ प्रकार का अङ्गों का प्रयोजन देखा गया है—इष्ट वर्ष रचना, बृत्तान्त का न हटना, अभिनय का मनोरङक होना, गुप्त बातों को प्रक करना, आक्चर्यकारी वार्ते कहना और प्रकाशनीय का प्रकाशन करना।

इस कारण-

रितभोग की इच्छा को 'विलास' कहा गया है।
यह प्रतिमुखसन्धि के अङ्ग 'विलास' के लक्षण में। 'रितभोग' शब्द आर्थि
विश्वासी भाव के उपब्यङ्ग विभावादि के उपलक्षक रूप से प्रयुक्त है।

इदं चापरं प्रवन्धस्य रसव्यक्षकत्वे निमित्तं यदुदीपनप्रश्नमने यथावसरमन्तरा रसस्य, यथा रत्नावल्यामेव । पुनराव्धविश्रान्ते रस-स्याङ्गिनोऽनुसन्धिश्र । यथा तापसवत्सराजे । प्रवन्धविशेपस्य नाट-

और यह प्रवन्ध के रसन्यक्षक होने में अपर निमित्त हैं कि वीच में यथावसर रस का उद्दीपन और प्रश्नमन करना । जैसे 'रत्नावली' में ही । और आरम्भ किए हुए के विधान्त होने लगने पर फिर से अङ्गी (प्रधान) रस का अनुसन्धान कर लेना। बैसे, 'तापसवरसराज' में। प्रवन्धविशेष नाटक आदि की रसन्यक्षना का यह और

लोचनम

प्रकृतो ह्यत्र वीररसः । उद्दीपन इति । उद्दीपनं विभावादिपरिपूरणया । यथा— Fig श्चयं स राआ उद्यणो ति' इत्यादि सागरिकायाः। प्रशमनं वासवदत्तातः पलायने । पुनरुद्दीपनं चित्रफलको होखे । प्रशमनं सुसङ्गताप्रवेशे इत्यादि । गाढं ह्यनवरतपरिमृद्ति रसः सुकुमारमालतीकुसुमवज्मटित्येव म्लानिमवलम्वे-त । विशेषतस्त शृङ्गारः । यदाह मनिः-

यद्वामाभिनिवेशित्वं यत्रश्च विनिवार्यते ।

यह

W

(F

H

ब

दर्लभत्वं यतो नार्यो कामिनः सा परा रतिः।। इति ।

वीररसादाविप यथावसरमुद्दीपनप्रशमनाभ्यां विना मटित्येवादुभुतफल-कल्पे साध्ये लब्धे प्रकटीचिकीर्पित उपायोपेयभावो न प्रदर्शित एव स्यात्। पुनरिति । इतिवृत्तवशादारत्र्वाशङ्कचमानप्राया न तु सर्वथैवोपनता विश्रान्ति-विंच्छेदो यस्य स तथा । रसस्येति । रसाङ्गभूतस्य कस्यापीति यावत् । तापस-वत्सराजे हि वासवद्त्ताविषयो जीवितसर्वस्वाभिमानात्मा प्रेमबन्धस्तद्विमावा-वेणीसंहार के रचयिता ने) तत्त्वार्थं को नहीं समझा। यहां (वेणीसंहार में) प्रकृत वीरस है। उद्दीपन—। विभावादि के परिपूरण द्वारा। जैसे—'यह वह राजा उदयन हैं सागरिकां का। प्रशमन वासवदत्ता से भागने में। पुनः उद्दीपन चित्रफलक के निर्माण में। प्रश्नमन सुसङ्गता के प्रवेश में, इत्यादि। खूब निरन्तर चर्वणा किया ग्या रस सुकुमार मालती के पुष्प की भांति झटिति म्लान हो जाता है। विशेष करके

भृङ्गार । क्योंकि मुनि कहते हैं-जिस कारण कि प्रतिकूल आचरण की इच्छा, जिस कारण (सम्भोग) निवारण

किया जाता है, जिस कारण नारी दुर्लभ होती है, वह कामी की गाढ़ रित है।

वीररस आदि में भी यथावसर उद्दीपन और प्रशमन के विना शीघ्र ही अद्युत विमत्कार) फलक्ष्प साध्य के प्राप्त हो जाने पर प्रकटनार्थ अभिलवित उपायोपेयभाव प्रदिश्वत नहीं हो पाता । फिर से-। इतिवृत्त के कारण आरम्भ हुए की आशङ्क्रयमान-शाय, न कि सर्वथा ही प्राप्त विश्वान्ति अर्थात् विच्छेद है जिसका वह । रस का-। स के अज़ुसूत किसी का भी। 'तापसवत्सराज' में वासवदत्ता में जीवितसर्वस्व के

कादे रसव्यक्तिनिमित्तमिदं चापरमवगन्तव्यं यदलंकृतीनां शक्तावणः नुरूप्येण योजनम् । शक्तो हि किवः कदाचिदलङ्कारनिबन्धने हो-निमित्त समझना चाहिए कि शक्ति (सामर्थ्य) होने पर भी अलङ्कारों का अनुस्का से जोडना। क्योंकि शक्त (समर्थ) किव कभी अलङ्कारों के निबन्धन में स

लोचनम्

यौचित्यात्करुणविप्रलम्भादिभूमिका गृह्णन्समस्ते तिवृत्तव्यापी। राज्यप्रत्यापति हि सचिवनीतिमहिमोपनतया तदङ्गभूतपद्मावतीलाभानुगतयानुप्राण्यमान्ति परमामिमलपणीयतमतां प्राप्ता वासवदत्ताधिगतिरेव तत्र फलम्। निर्वहर्षे प्राप्ता देवी भूतधात्री च भूयः संबन्धोऽभूहर्शकेन' इत्येवं देवीलाभणाकि निर्वाहितम्। इयति चेतिवृत्तवैचित्र्यचित्रे भित्तिस्थानीयो वासवदत्ताप्रेमक्ष प्रथममन्त्रारम्भात्प्रभृति पद्मावतीविचाहादौ, तस्यैव व्यापारात्। तेन स ह वासवदत्ताविषयः प्रेमबन्धः कथावशादाशङ्कर्यमानविच्छेदोऽप्यनुसंहितः। त हि—प्रथमे तावदङ्के स्फुटं स एवोपनिचद्धः 'तद्वक्त्रेन्दुविलोकनेन दिवसो कि प्रदोपस्तथा तद्रोष्ठ्येव' इत्यादिना, 'बद्धोत्कण्ठिमदं मनः किमथवा प्रेमप्त माप्तोत्सवम्' इत्यन्तेन। द्वितीयेऽपि 'दृष्टिनामृतवर्षिणी स्मितमधुप्रस्थिवक्त्रेनं किम्' इत्यादिना स एव विच्छिन्नोग्नतवर्षिणी स्मितमधुप्रस्थिवक्तं न किम्' इत्यादिना स एव विच्छिन्नोऽप्यनुसंहितः। नृतीयेऽपि—

अभिमान रूप (वत्सराज का) प्रेमबन्ध उसके विभावादि के औचित्य से कला, हि लम्भ आदि की भूमिकाओं को ग्रहण करता हुआ समस्त इतिवृत्त (कथानक)में बा है। सचिव की नीति की महिंसा से प्राप्त एवं उसके अङ्गभूत पद्मावती के सा अनुगत राज्य की प्राप्ति द्वारा अनुप्राण्यमान एवं परम अभिल्ल्षणीयतम सार् प्राप्त वासवदत्ता की प्राप्ति ही वहां फल है। क्योंकि 'निर्वहण' (सन्ध) में ही और पृथ्वी दोनों प्राप्त हो गई और फिर से दर्शक के साथ सम्बन्ध हो गया' झा देवी के लाभ का प्राधान्य निर्वाह किया गया है। कथानक के वैचित्र्य के इतने मंत्र से लेकर पद्मावती के विवाह आदि चित्र में वासवदत्ता का प्रेमवन्ध प्रितिस्वार है, क्योंकि उसका ही व्यापार (व्याप्ति) है। इस कारण वही वासवदत्ता में प्रेर कया के वश विच्छेद की आशक्का होने पर अनुसन्धान किया गया है। जैसा कि अहू में स्पष्ट वहीं (प्रेमवन्ध) 'उसके मुखचन्द्र को देखते दिन व्यतीत किया, प्रकार सायंकाल भी, उसके साथ गोष्ठी से ही इत्यादि से लेकर 'यह मन उत्तर भरा है, प्रेम में उत्सव समाप्त नहीं होता' तक रचा गया है। दूसरे (बहु) 'क्या निगाह अमृत वर्षा करने वाली नहीं है, क्या मुख स्मित के मधु प्रवाहित वाला नहीं है ?' इत्यादि द्वारा वही विच्छिन्न होकर भी अनुसन्धान किया गर्वा तीसरे (अङ्क) में भी-

क्षिप्ततयैवानपेक्षितरसवन्धः प्रवन्धमारभते तदुपदेशार्थमिद्युक्तम्।
(अल्ङ्काररचना) में मम्र होकर रसवन्ध की अपेचा न करके प्रवन्ध रचना करने
हुगता है, उसके उपदेश के लिए यह कहा है।

लोचनम्

सर्वत्र ज्वितिषु वेश्मसु भयादालीजने विद्वृते श्वासोत्कम्पविहस्तया प्रतिपदं देव्या पतन्त्या तथा। हा नाथेति सुद्धुः प्रलापपरया दग्धं वराक्या तथा शान्तेनापि वयं तु तेन दहनेनाद्यापि दह्यामहे।।

इत्यादिना। चतुर्थेऽपि

था

वेदा-

यन

वर

F

Į į

1

r

F

ø

i

11

देवीस्वीकृतमानसस्य नियतं स्वप्नायमानस्य मे तद्गोत्रप्रहणादियं सुवदना यायात्कथं न व्यथाप्। इत्थं यन्त्रणया कथंकथमपि श्लीणा निशा जाप्रते दाक्षिण्योपह्तेन सा प्रियतमा स्वप्नेऽपि नासादिता॥

इत्यादिना । पञ्चमेऽपि समागमप्रत्याशया करुणे निवृत्ते विप्रलम्भेऽङ्कुरिते तथाभूते तस्मिन्सुनिवचसि जातागसि मयि प्रयत्नान्तर्गृढां रुषसुपगता मे प्रियतमा । प्रसीदेति प्रोक्ता न खलु कुपितेत्युक्तिमधुरं समुद्रित्रा पीतेन्यनसलिलैः स्थास्यति पुनः ॥

इत्यादिना । पष्ठेऽपि 'त्वत्सम्प्राप्तिविलोभितेन सचिवैः प्राणा मया धारिताः'

सभी जगह भवनों के जल उठने पर, (जल जाने के) डर से सिखयों के भाग जाने पर हांफ से व्याकुल, उस प्रकार पग-पग पर गिरती-पड़ती वेचारी वह देवी 'हा नाय' यह वार-वार प्रलाप करती जल गई, परन्तु हम तो उस शान्त हुए भी अप्रि से आज भी जलाए जा रहे हैं।

इत्यादि से । चौथे (अङ्कः) में भी-

देवी (वासवदत्ता) में रमें मन वाले, सपनाते हुए मेरे (मुंह से) उसके नाम प्रहण किए जाने पर यह सुमुखी (पद्मावती) कैसे नहीं व्यथित होगी? इस प्रकार कशमकश में जागते हुए किसी-किसी प्रकार रात बीती, और (पद्मावती के प्रति) दाक्षिण्य (आनुकूल्य) के कारण उपहत मैंने स्वप्न में भी उस प्रियतमा को नहीं पाया।

इत्यादि से । पांचवें (अब्द्ध) में भी समागम की प्रत्याशा से करण के निवृत और

विप्रलम्भ के अङ्कुरित होने पर—

मुनिवचन के उस प्रकार होने पर, मेरे अपराधी होने पर मेरी प्रियतमा प्रयत्न-पूर्वक भीतर ही भीतर कुपित हो गई। 'प्रसन्न हो' यह कहने पर 'कुपित नहीं हूँ' यह मीठे ढङ्ग से कह कर अन्तःस्तम्भित आंसुओं को धारण करेगी।

इत्यादि से । छठे (अङ्क) में भी 'सचिवों ने तुम्हारी प्राप्ति के लोग में डाल कर

दृश्यन्ते च कवयोऽलङ्कारिनबन्धनैकरसा अनपेक्षितरसाः प्रवन्धेषु। किञ्च-

अनुस्वानोपमात्मापि प्रभेदो य उदाहृतः । ध्वनेरस्य प्रबन्धेषु भासते सोऽपि केषुचित् ॥ १५॥ अस्य विवक्षितान्यपरवाच्यस्य ध्वनेरनुरणनरूपव्यङ्गयोऽपि ॥ देखा जाता है कि कवि प्रबन्धों में रसापेची न होकर अलङ्कारों के निवन्धन है हम जाते हैं ॥ १४॥

और मी-इस ध्वनि का अनुस्वानसदश जो प्रभेद कहा गया है वह भी किली प्रबन्धों में भासित होता है ॥ १५ ॥

इस विविद्यान्यपरवाच्य ध्विन का अनुकरणरूपच्यङ्गय भी जो प्रभेद दो प्रकारक्ष लोचनम

इत्यादिना । अलङ्कृतीनामिति योजनापेक्षया कर्मणि पष्ठी । दृश्यने नेति। यथा स्वप्नवासवदत्ताख्ये नाटके—

'स्विख्रितपद्मकपाटं नयनद्वारं स्वरूपताडेन।

उद्घाटच सा प्रविष्टा हृदयगृहं मे नृपतनूजा ।।' इति ।। १४ ॥ न केवलं प्रवन्वेन साक्षाद्वचङ्गचो रसो यावत्पारम्पर्येणापीति दर्शीक सुपक्रमते-किञ्चति । अनुस्वानोपमः-शब्दशक्तिमूलोऽर्थशक्तिमूलअ, यो को प्रभेद उदाहृतः सः केषुचित्प्रवन्धेषु निमित्तभूतेषु व्यञ्जकेषु सत्सु व्यङ्गक्त

प्रभद् उदाहृतः सः केषुचित्प्रबन्धेषु निमित्तभूतेषु व्यञ्जकेषु सत्सु व्यङ्गकाषियतः सन् । श्रस्येति । रसादिध्वनेः प्रकृतस्य भासते व्यञ्जकतयेति शेषः। वृत्तिप्रन्थोऽप्येवमेवं योज्यः । अथ वानुस्वानोपमः प्रभेद् उदाहृतो यः प्रवन्धे भासते अस्यापि 'द्योत्योऽलत्त्यक्रमः कचित्' इत्युत्तरश्लोकेन कारिकावृत्ते सङ्गतिः ।

मुससे प्राणों को घारण करवाया' इत्यादि से। 'अलङ्कारों का' यहां 'मोजन' की बांबी से कर्म में वछी है। देखे जाते हैं—। जैसे, 'स्वप्नवासवदत्त' नामक नाटक में—

बन्द पक्ष्म के कवाट वाले नयन के द्वार को अपने रूप के धक्के से खोल करण राजकुमारी मेरे हृदय के घर में प्रवेश कर गई।। १४।।

न केवल प्रबन्ध से साक्षात् व्यङ्गय रस ही होता है, अपितु पारम्पर्य से बें
(व्यङ्गय होता है), यह दिखाने के लिए उपक्रम करते हैं—और भी-। अनुसार सहरा—शब्दशक्तिमूल और अर्थशक्तिमूल, जो ध्विन का प्रभेद कहा गया है, वह किंद प्रवन्धों के निमित्तमूत व्यङ्गक होने पर व्यङ्गय रूप से स्थित होता हुआ। इसका प्रकृत रसादि ध्विन का व्यङ्गक रूप से भासित होता है, यह शेष है। वृत्तिग्रव्य के इसी प्रकार लगाना चाहिए। अथवा, अनुस्वानसहश कहा गया जो प्रभेद प्रवर्वी भासित होता है इसका भी 'कहीं पर अलद्यक्रम द्योत्य होता है' इस उत्तरहर्ति कारिका और वृत्ति की से इति होती है।

200

न्त

SI

ì

स

4

ध्वन्यालोकः

प्रभेद उदाहतो द्विप्रकारः सोऽपि प्रवन्धेषु केषुचिद्द्योतते । तद्यथा मधुमथनविजये पाश्चजन्योक्तिषु । यथा वा ममैव कामदेवस्य सह-कहा गया है वह भी किन्हीं प्रवन्धों में छोतित होता है । वह जैसे, 'मधुमथनविजय' में पाञ्चजन्य की उक्तियों में । अथवा जैसे मेरा ही 'विषमवाणलीला' में, कामदेव के लोचनम्

एतदुक्तं भवति—प्रवन्धेन कदाचिद्नुरणनरूपव्यङ्गचो ध्वनिः साक्षाद्वय-ब्यते स तु रसादिध्वनौ पर्यवस्यतीति । यदि तु स्पष्टमेव व्याख्यायते तदा प्रन्थस्य पूर्वीत्तरस्यालत्त्यक्रमविषयस्य मध्ये प्रन्थोऽयमसङ्गतः स्यात्, नीरसत्त्वं च पाञ्चजन्योक्त्यादीनामुक्तं स्यादित्यलम् ।

> लीलादाढा ग्रुध्यूड्ढासअलमहिमण्डलसश्चिअ अजा। कीस्ममुणालाहरतुज्ञआङ् अङ्गम्मि ॥

इत्याद्यः पाञ्चजन्योक्तयो रुक्मिणीवित्रलब्धवासुदेवाशयप्रतिभेदनाभि-प्रायमभिव्यञ्जयन्ति । सोऽभिव्यक्तः प्रकृतरसस्वरूपपर्यवसायी । सहचराः वसन्तयौवनमलयानिलाद्यस्तैः सह समागमे ।

मिअवहण्डिअरोरोणिरङ्कुसो अविवेअरिहओ वि । सविण वि तुमिम पुणोवन्ति अ अतन्ति पंगुसिम्मि ॥

बात यह कही गई—प्रवन्ध से कहीं पर अनुरणन-रूपव्यङ्गय व्वित साक्षात् व्यक्तित होती है, वह रसादि व्वित में पर्यवसित होती है। परन्तु यदि स्पष्ट ही (यथावस्थित हो) व्याख्यान करते हैं तब पूर्वोत्तर अलक्ष्यक्रमविषयक ग्रन्थ के बीच में यह ग्रन्थ असङ्गत होगा और पाञ्चजन्य की उक्ति आदि का नीरसत्व कहा जाने लगेगा। इत्यलम्।

लीलादाढा गुध्यूड्ढा अङ्गम्मि ॥ [लीलादाढगुद्धरिअसअलमहीमण्डलस्यविअअस्स । कीसमुणालहरणं वि तुझ गुरु आइ अङ्गम्मि ॥]

(इति पाठः बालप्रियायाम्)

'लीला से दंद्रा के अग्रभाग पर सारी पृथ्वी को उठा लेने वाले तुम्हारे अङ्ग में

मृणाल का आभरण भी कैसे भारी हो रहा है ?

इत्यादि पाञ्चजन्य की उक्तियां विवमणी के विरही वासुदेव (श्रीकृष्ण) के अभिलाय के आविष्करण का अभिप्राय व्यक्तित कर रही हैं। प्रकृत रस (विप्रलम्भ ग्रुक्तार) के स्वरूप में पर्यवसन्न होने वाला वह (अभिप्राय) अभिव्यक्त है। सहचर अर्थात् वसन्त योवन, मलयानिल आदि, उनके साथ समागम में।

मिअवहण्डिअरोरो अतिन्ति पंपुतिम्मि ॥ [हुम्मि अवहत्थिअरे होणिरङ्कुसो अह विवेअरहिओ वि । सविणे वि तुमम्मि पुणो भन्ति णपसुमरामि ॥] (इति पाठः बालप्रियायाम्)

चरसमागमे विषमबाणलीलायाम् । यथा च ग्रश्नगोमायुसंवादादौ महा-भारते ॥ १५ ॥

सहचर के समागम के प्रसङ्ग में । और जैसे 'महाभारत' में गृधगोमायुसंवाद आहि प्रसंग में ॥ १५ ॥

लोचनम्

इत्यादयो यौवनस्योक्तयस्तत्तन्निजस्वभावव्यक्षिकाः, स स्वभावः प्रकृ तरसपर्यवसायी। यथा चेति। श्मशानावतीर्णं पुत्रदाहार्थमुद्योगिनं जनं विप्रतः च्छुं गृष्ठो दिवा शवशरीरभक्षणार्थी शीघ्रमेवापसरत यूयमित्याह।

अतं स्थित्वा रमशानेऽस्मिन्गृध्रगोमायुसङ्कुले।
कङ्कालबह्ले घोरे सर्वप्राणिभयङ्करे।।
न चेह जीविदः कश्चित्कालधर्ममुपागतः।
प्रियो वा यदि वा द्वेष्यः प्राणिनां गतिरीहशी।।

इत्याद्यवोचत्। गोमायुस्तु निशोद्याविध अमी तिष्ठन्तु, ततो गृष्ट्राद्पहू-त्याहं भक्षयिष्मामीत्यभिप्रायेणावोचत्।

> आदित्योऽयं स्थितो मूढाः स्नेहं कुरुत साम्प्रतम् । बहुविन्नो मुहूर्तोऽयं जीवेद्पि कदाचन ॥ अमुं कनकवर्णामं बालमप्राप्तयौवनम् । गृध्रवाक्यात्कथं बालास्त्यद्यध्वमविशङ्किताः ॥

'मर्यादा को पार कर गया हूँ, निरङ्काश हूँ और विवेकरहित भी हूँ, किन्तु स्वप्न में भी तुम्हारी भक्ति को नहीं याद कर पाता हूँ।'

इत्यादि यौवन की उक्तियां उन-उन के अपने स्वभाव को व्यक्त करती हैं। वह स्वभाव प्रकृत रस में पर्यंवसन्न होने वाला है। और जैसे—। इमशान में पहुंचे, पुत्र को जलाने के लिए प्रयत्नशील व्यक्ति को ठगने के लिए, गीध दिन में शव के शरीर को खाने की इच्छा से 'शीघ्र ही तुम लोग चले जाओ' यह कहता है—

'गीध और सियार से भरे, अस्थिपरुजरों से व्याप्त, घोर एवं सभी प्राणियों के लिए भयक्कर इस रमशान में ठहरना वेकार है, काल के धर्म (मृत्यु) को प्राप्त कोई यहाँ जीवित नहीं रहा है, प्रिय हो अथवा शत्रु (द्वेष्य), प्राणियों की गति इसी प्रकार है।'

इत्यादि वोला। किन्तु सियार ने इस अभिप्राय से कि ये लोग रात होने तक ठहरें, तब मैं गीघ से छीन कर खाऊंगा. बोला—

'हे मूढ़ लोगो, यह सूर्य अस्त नहीं हुए, अभी स्नेह करो, यह मुहूर्त बहुत बिजी बाला है, (बाद में) कदाचित् जी जाय। सोने के समान कान्ति वाले, यौवन को नहीं प्राप्त हुए इस वालक को विना विचारे गीध की वात से क्यों छोड़ रहे हो।' d

ध्वन्यालोकः

सुप्तिङ्वचनसम्बन्धैस्तथा कारकदाक्तिभिः। कृत्तद्धितसमासैश्च चोत्योऽलक्ष्यक्रमः कचित्॥ १६॥

सुप्, तिङ्, वचन, सम्बन्ध, कारक-शक्ति, कृत्, तिद्धत, और समास से कहीं पर असंब्द्यक्रमन्यङ्गय ध्वनि द्योत्य होता है ॥ १६ ॥

लोचनम्

इत्यादि । स चाभिप्रायो व्यक्तः शान्तरस एव परिनिष्ठिततां प्राप्तः ॥ १४ ॥ एवमलस्यकमव्यङ्गन्यस्य रसादिध्वनेर्यद्यपि वर्णेभ्यः प्रभृति प्रबन्धपर्यन्ते व्यञ्जकवर्गे निरूपिते न निरूपणीयान्तरमवशिष्यते, तथापि कविसहृदयानां शिक्षां दातुं पुनरिप सूत्त्मदृशान्वयव्यतिरेकावाश्रित्य व्यञ्जकवर्गमाह्-सृतिहिङ्गत्यादि । वयं त्वित्थमेतद्नन्तरं सवृत्तिकं वाक्यं बुध्यामहे । सुबादिभिः योऽनुस्वानोपमो भासते वक्त्रभिप्रायादिरूपः अस्यापि सुबादिभिव्यंक्तस्यानुस्यानोप्तमस्यालद्यक्रमव्यङ्गचो द्योत्यः । किविदिति पूर्वकारिकया सह संमील्य सङ्गतिरिति । सर्वत्र हि सुबादीनामभिप्रायविशेषाभिव्यञ्जकत्वमेव । उदाहर्यो स त्वभिव्यक्तोऽभिप्रायो यथास्यं विभावादिरूपताद्वारेण रसादीन्व्यनक्ति ।

एतदुक्तं भवति —वर्णोदिभिः प्रबन्धान्तैः साक्षाद्वा रसोऽभिव्यज्यते विभा-वादिप्रतिपादनद्वारेण यदि वा विभावादिव्यञ्जनद्वारेण परम्परयेति तत्र बन्ध-स्यैतत्परम्परया व्यञ्जकत्वं प्रसङ्गादादावुक्तम् । अधुना तु वर्णपदादीनामुच्यत इति । तेन वृत्ताविप 'अभिव्यज्यमानो दृश्यते' इति । व्यञ्जकत्वं दृश्यत इत्यादौ

इत्यादि । वह अभिप्राय व्यक्त होकर शान्त रस में ही परिनिष्ठितता प्राप्त है ॥१४॥
इस प्रकार अलक्ष्यक्रमव्यङ्गय रसादि व्विन के यद्यपि वर्णों से लेकर प्रवन्थपर्यन्त
व्यव्जकवर्गे के निरूपण हो जाने पर कोई दूसरा निरूपणीय बच नहीं जाता, तथापि
किव और सह्दयों को शिक्षा देने के लिए फिर भी सूक्ष्म दृष्टि से अन्वय-व्यत्तिक का
आश्रयण करके व्यव्जकवर्गे को कहते हैं—सुप् तिङ् इत्यादि । हम तो इस प्रकार
इसके बाद के वृत्तिसहित वाक्य को समझते हैं—सुप् आदि से जो वक्ता के अभिप्राय
आदि के रूप में अनुस्वानसदृश (अनुरणनरूप) मासित होता है, सुप् आदि से व्यक्त
अनुस्वानसदृश इसका भी अलब्यक्रमव्यंङ्गय द्योत्य होता है। 'कहीं पर' इसे पूर्वकारिका के साथ मिला कर संगति है। सभी जगह सुप् आदि अभिप्रायविशेष के ही
व्यञ्जक होते हैं। जदाहरण में वह अभिव्यक्त अभिप्राय यथानुसार विभावादिरूपता के
प्रकार से रसादि को व्यञ्जित करता है।

बात यह कही गई—वर्ण आदि से प्रबन्ध तक से साक्षात् रस अभिव्यक्त होता है विभावादि के प्रतिपादन के द्वारा, अथवा विभावादि के व्यव्जन के द्वारा परम्परा से; उनमें बन्ध का इस परम्परा से व्यव्जक पहले प्रसंगतः कहा है। अब तो वर्ण, पद आदि का कहते हैं। इसलिए वृत्ति में भी 'अभिव्यक्त होता हुआ देखा जाता है'।

अलक्ष्यक्रमो ध्वनेरात्मा रसादिः सुन्त्रिशेषेतिङ्विशेषेर्वचनिशे-पैः सम्बन्धिवशेषैः कारकशक्तिभिः कृद्विशेषेस्तद्धितविशेषैः समासैश्रेति । चशब्दान्त्रिपातोपसर्गकालादिभिः प्रयुक्तैरभिन्यज्यमानो दृश्यते । यथा—

न्यकारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः सोडप्यत्रैव निहन्ति राक्षसक्रलं जीवत्यहो रावणः । घिष्धिक्छक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा स्वर्गप्रामटिकाविळण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः ॥

अलच्यक्रम ध्विन का आत्मा रसादि प्रयुक्त सुव्विशेष, तिङ्विशेष, वचनिश्शेष, सम्बन्धिविशेष, कारक-शक्ति, कृद्विशेष, तिद्धितविशेष और समासों से, 'और' (च) शब्द से, निपात, उपसर्ग, काल आदि से अभिब्यक्त होता हुआ देखा जाता है। जैसे—

यही मेरा न्यवकार (अपमान) है, कि मेरे शत्रु हैं, उसमें भी वह तापस है, वह भी यहीं पर राज्ञसकुल का हनन कर रहा है, अहो ! रावण भी जी रहा है। इन्द्रजित मेघनाद को धिक्कार है, धिक्कार है, जगाए गए कुम्भकर्ण से क्या लाभ और स्वर्ग की गउंटिया को विल्लुण्डन के कारण वृथा ही (अभिमान से) फूली इन मेरी मुजाओं से क्या लाभ ?

लोचनम्

च वाक्यशेषोऽध्याहार्यः विभावादिन्यञ्जनद्वारतया पारम्पर्येग्रेत्येवंरूपः। ममारय इति। मम शत्रुसद्भावो नोचित इति सम्बन्धानौचित्यं क्रोधविभावं न्यनक्ति अरय इति बहुवचनम्। तपो विद्यते यस्येति पौरुषकथाहीनत्वं तद्धितेन मत्वर्थीयेना-भिन्यक्तम्। तत्रापिशब्देन निपातसमुदायेनात्यन्तासम्भावनीयत्वम्। मत्कर्वका यदि जीवनिक्रया तदा हननिक्रया तावदनुचिता। तस्यां च स कर्ता अपिशब्देन मनुष्यमात्रकम्। अत्रेवैति-मद्धिष्ठितो देशोऽधिकरणम् निःशेषेण हन्यमा

'क्यक्षकत्व दिलाई देता है' इत्यादि में 'विभावादि के व्यञ्जन के द्वारा परम्परा से' इस प्रकार का वाक्यशेष अध्याहार कर लेना चाहिए। मेरे शत्रु—। 'शत्रु' यह बहुवचन 'मेरे शत्रु का होना उचित नहीं' यह सम्बन्धानीचित्य रूप क्रोध के विभाव को व्यञ्जित करता है। 'तप विद्यमान है जिसका' इस यत्वर्थीय तद्धित से पुरुषार्थं का अभाव अभिव्यक्त होता है। निपातसमुदाय रूप 'तत्रापि' (उसमें भी) शब्द से अत्यन्त असम्भवनीयता (अभिव्यक्त होती है)। यदि मैं जी द्रहा हूं तब हननकार्यं अनुचित है। और उस (क्रिया) में वह कर्ता, 'मी' (अपि) शब्द कुत्सित मनुष्यमात्र । यहीं पर—। भेरे द्वारा अधिष्ठित देश अधिकरण, नि:शेष रूप से हन्यमान होने से और राक्षसविक

अत्र हि क्लोके भ्र्यसा सर्वेषामप्येषां स्फुटमेव व्यञ्जकत्वं दृक्य-ते । तत्र 'मे यद्रयः' इत्यनेन सुप्सम्बन्धवचनानामिवयञ्जकत्वम् । 'तत्राप्यसौ तापस' इत्यत्र तद्धितनिषातयोः । 'सोडप्यत्रैव निहन्ति राक्षसञ्चलं जीवत्यहो रावणः' इत्यत्र तिङ्कारकशक्तीनाम् । 'विधिन् क्छकजितम्' इत्यादौ क्लोकार्धे कृत्तद्धितसमासोषसर्गाणाम् । एवंवि-

इस रछोक में बहुशः इन सभी का व्यक्ष हत्व दिखाई देता है। उनमें से 'कि मेरे शत्रु हैं' इससे सुप्, सम्बन्ध और वचन का अभिन्यक्षकत्व है। 'उनमें भी वह तापस है' यहां तिद्धत और निपात का। 'वह भी यहीं पर राचसकुछ का हनन कर रहा है, अहो रावण जी रहा है!' यहां तिङ् और कारक-शक्तियों का। 'इन्द्रजित् (मेघनाद) को धिक्कार है' इत्यादि श्लोकार्थ में कृत्, तिद्धत, समास और उपसर्ग

लोचनम्

नतया राक्षसवलं च कर्मेति तिद्दमसंमान्यमानमुपनतिमिति पुरुषकारासम्पन्ति व्यं कर्मेति तिद्दमसंमान्यमानमुपनतिमिति पुरुषकारासम्पन्ति विद्वारकशक्तिप्रतिपादकेश्च शब्दैः । रावण इति त्वर्थान्तरसङ्क्रमि तवाच्यत्वं पूर्वमेव व्याख्यातम् । धिग्धिगिति निपातस्य शक्तं जितवानित्याख्यान्यिकेयमिति उपपदसमासेन सहकृतः स्वर्गेत्यादिसमासस्य स्वपौरुषानुस्मरणं प्रति व्यञ्जकत्वम् । प्रामिटिकेति स्वार्थिकतिद्धतप्रयोगस्य स्त्रीप्रत्ययसित्तस्यान्बहुमानास्पदत्वं प्रति, विद्धण्ठनशब्दे विशाव्दस्य निर्वयावस्कन्दनं प्रति व्यञ्जकत्वम् । वृथाशव्दस्य निपातस्य स्वातमपौरुषनिन्दां प्रति व्यञ्जकता । भुजैरिति बहुवचनेन प्रत्युत मारमात्रमेतिदिति व्यञ्चते । तेन तिक्शस्तिकशोऽपि विमन्वयमानेऽत्र श्लोके सर्व एवांशो व्यञ्जकत्वेन भातीति किमन्यत् । एतद्र्थप्रदर्शनस्य फलं दर्शयति—एविमिति । एकस्य पदस्येति यदुक्तं तदुदाहरति—यथात्रेति ।

(राक्षसकुल) कर्म, यह सम्भव नहीं होकर सम्भव हो रहा है, इस प्रकार पौरूष का अभाव तिङ् और कारकशिक्त के प्रतिपादक शब्दों से ध्वनित हो रहा है। 'रावण' (किम्पत कर देने वाला) यह अर्थान्तर सङ्क्रमितवाच्यत्व पहले ही व्याख्यान किया जा चुका है। 'शक को जीता है' यह आख्यायिका है, इस उपपद समास का साथ देने वाला 'धिक्, धिक्' इस निपात (व्यव्जक है), स्वगं० इत्यादि समास अपने पौरूष के अनुस्मरण के प्रति व्यव्जक है। 'ग्रामिटका (गउंटिया) इस स्त्री प्रत्यय सहित स्वाधिक तिद्धत प्रयोग का अवहुगानास्पदत्व के प्रति और 'विलुण्डन' शब्द में 'वि' शब्द का निर्दयतापूर्वक अवस्कन्दन (आक्रमण) के प्रति व्यव्जकत्व है। निपात 'वृथा' शब्द की अपने पौरूष की निन्दा के प्रति व्यव्जकता है। 'ग्रुजाओं से' इस बहुवचन से 'प्रत्युत यह भार मात्र है' यह व्यक्त होता है। इस प्रकार तिल-तिल विभाग करने पर इस क्लोक में सभी अंश व्यव्जक रूप में प्रतीत होता है, और क्या ? इस अर्थ के प्रदर्शन का फल दिखाते हैं—इस प्रकार—। 'एक पद का' जो कहा है उसका उदाहरण देते

घस्य व्यञ्जकभूयस्त्वे च घटमाने काव्यस्य सर्वातिशायिनी बन्ध-च्छाया सम्रुन्मीलति । यत्र हि व्यङ्गचावभासिनः पदस्यैकस्यैव ताव-दाविभीवस्तत्रापि काव्ये कापि बन्धच्छाया किम्रुत यत्र तेपां बहुनां समवायः । यथात्रानन्तरोदितश्लोके । अत्र हि रावण इत्यस्मिन् पदे-ऽर्थान्तरसंक्रमित्वाच्येन घ्वनिप्रभेदेनालङ्कृतेऽपि पुनरनन्तरोक्तानां का। इस प्रकार के (प्रयोग का) बहुकाः व्यञ्जकत्व के घटित होने से काव्य की सर्वातिशायिनी वन्धच्छाया समुन्मीलित होती है। जहां कि व्यङ्गय को अवभासित करने वाले एक ही पद का आविभाव है वहाँ भी काव्य में वन्धच्छाया है, जहां उन बहुतों का समवाय है (वहां) क्या कहना ? जैसा कि अभी उदाहत रलोक में। यहां 'रावण' इस पद के ध्वनि के प्रभेद अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य के द्वारा अलंकृत होने पर लोचनम

अतिक्रान्तं न तु कदाचन वर्तमानतामवलम्बमानं सुखं येषु ते काला इति, सर्व एव न तु सुसं प्रति वर्तमानः स कोऽपि काललेश इत्यर्थः। प्रतीपान्यप-स्थितानि वृत्तानि प्रत्यावर्तमानानि तथा दूरभावीन्यपि प्रत्युपस्थितानि निक टतया वर्तमानानि भवन्ति दारुणानि दुःखानि येषु ते । दुःखं बहुप्रकारमेव प्रतिवर्तमानाः सर्वे कालांशा इत्यनेन कालस्य तावन्निर्वेदमभिव्यञ्जयतः शान्त-रसन्यञ्जकत्वम् । देशस्याप्याह-पृथिवी यः यः प्रातः प्रातर्दिनाहिनं पापीय-दिवसाः पापानां सम्बन्धिनः पापिष्ठजनस्वामिका दिवसा यस्यां सा तथो-का। स्वाभावत एव तावत्कालो दुःखमयः तत्रापि पापिष्ठजनस्वामिकपृथिवी-लक्षणदेशदौरात्म्याद्विशेषतो दुःखमय इत्यर्थः। तथा हि श्वः श्व इति दिनाहिनं गतयौवना वृद्धकीवद्संभाव्यमानसंभोगा गतयौवनतया हि यो यो दिवस आगच्छति स स पूर्वपूर्वापेक्षया पापीयान् निकृष्टत्वात्। यदि वेयसुनन्तोऽयं हैं - जैसे यहां -। वे समय जिनमें सुख अतिकान्त हो गया है, न कि वर्तमानता को अवलम्बन कर रहा है, अर्थात् समी, न कि सुख के प्रति वर्तमान वह कोई भी काललेश। जिन (समयों) में प्रतिकूल दारुण दु:ख गये भी पुनः लीटे हुए और दूर काल में होने-वाले भी निकट रूप से वर्तमान मालुम होते हैं। बहुत प्रकार के ही दु:ख को प्रवर्तित करते हुए सभी कालांश हैं, इस प्रकार निर्वेद की व्यञ्जना करते हुए काल का शान्त-रसव्यव्जकत्व है। देश का भी कहते हैं - पृथिवी हर सुबह, दिन-दिन पापीयदिवसा है अर्थात् पापों के सम्बन्धी, पापिष्ठ जन स्वामी हैं जिनमें ऐसे दिवसों वाली है। अर्थात् स्वभावतः ही दुःखमय है, उसमें भी स्वामी के रूप में पापिष्ठ जनों वाले पृथ्वी के रूप में

देश के दौरात्म्य के कारण विशेष रूप से दुःखमय है। जैसा कि दिन-दिन गतयौवना स्त्री की मांति असम्माव्यमान सम्मोग वाली। यौवन के चले जाने पर जी-जो दिन आता है वह-वह पूर्व-पूर्व की अपेक्षा पापीयान् होता है, क्योंकि निकृष्ट होता है।

व्यञ्जकप्रकाराणामुद्भासनम् । दृश्यन्ते च महात्मनां प्रतिभाविशेषमा-जां बाहुल्येनैवंविधा बन्धप्रकाराः।

यथा महर्षेव्यासस्य-

अतिकान्तसुखाः कालाः प्रत्युपस्थितदारुणाः । इवः इवः पापीयदिवसा पृथिवी गतयौवना ॥

अत्र हि कृत्तद्वितवचनैरलक्ष्यक्रमन्यङ्गयः, 'पृथिवी गतयौवना' इत्यनेन चात्यन्ततिरस्कृतवाच्यो घ्वनिः प्रकाशितः ।

एषां च सुवादीनामेकैकशः समुदितानां च व्यञ्जकत्वं महाकवी-नां प्रवन्धेषु प्रायेण दृश्यते । सुवन्तस्य व्यञ्जकत्वं यथा-तालैः शिञ्जदलयसुभगैः कान्तया नर्तितो मे

यामध्यास्ते दिवसविगमे नीलकण्ठः सुहृद्रः ॥

भी अभी कहे गए व्यक्तक प्रकारों का उद्भासन है। प्रतिमाविशेष वाले महास्माओं के बहुशः इस प्रकार के बन्धप्रकार देखे गए हैं।

जैसे, महर्षि व्यास का—सुख के समय समाप्त हो गए और दुःख के समय उपस्थित हैं, गतयौवना पृथिवी के उत्तरोत्तर बुरे दिन आ रहे हैं।

यहां कृत्, तिद्धित और वचन से अल्ड्यक्रमन्यङ्गय और 'गतयौवना पृथिवी' से अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य ध्वनि प्रकाशित है।

इन सुप् आदि का अलग-अलग और मिल कर न्यक्षकत्व महाकवियों के प्रबन्धों में प्रायः देखा जाता है। सुबन्त का न्यक्षकत्व, जैसे---

मेरी प्रियतमा द्वारा वळय के झंकारों से सुन्दर ताळियां बजा कर नचाया गया तुम्हारा सुहृद मयूर सन्ध्याकाल में जिस (वासयष्टि) पर वैठता है।

लोचनम

शब्दो मुनिनैवं प्रयुक्तो णिजन्तो वा । अत्यन्तेति । सोऽपि प्रकारोऽस्यैवाङ्गताः मेतीति भावः । सुवन्तस्येति । समुदितत्वे तूदाहरणं दत्तं व्यस्तत्वे चोच्यत् इति भावः। तालैरिति बहुवचनमनेकविधं वैद्ग्ध्यं ध्वनत् विप्रलम्भोद्गीपकतामेति।

अथवा इयसुनन्त शब्द का मुनि ने ही प्रयोग किया है (यह आर्ष प्रयोग है), या णिजन्त है। अत्यन्त-। भाव यह कि वह भी प्रकार इसी का अङ्ग हो जाता है। सुवन्त का—। भाव यह कि मिल कर (व्यक्जकत्व) में तो उदाहरण दे दिया, अब अलग-अलग (व्यञ्जकत्व) में कहते हैं। तालियां—यह बहुवचन अनेक विघ वैदेष्य को ध्वनित करता हुआ विप्रलम्म का उद्दीपक हो रहा है।

तिङन्तस्य यथा — अवसर रोउं चिअ णिम्मिआइँ मा पुंस मे हअच्छीइं। दंसणमेतुम्भत्तेहिं जिहें हिअअं तुह ण णाअम्।।

यथा वा-

मा पन्थं रुन्धीओ अवेहि वालअ अहोसि अहिरीओ। अम्हेअ णिरिच्छाओ सुण्णघरं रिक्खदव्त्रं णो ॥

तिङन्त का, जैसे—
हटो, मेरी हत आँखें रोने के लिए ही बनी हैं, (इन्हें) मत बदावो, दर्शनमात्र
से उन्मत्त जिन्होंने तुम्हारे इस प्रकार के हृदय को नहीं जाना।

अथवा जैसे-

नासमझ रास्ता मत रोको, हटो, अहो, तुम तो निर्छज हो। हम परतन्त्र हैं, क्योंकि हमें अपने सूने घर की रखवाली करनी है।

लोचनेम्

अपसर रोदितुमेव निर्मिते मा पुंसय हते अश्विणी मे ।
दर्शनमात्रोन्मत्ताभ्यां याभ्यां तव हृदयमेवंह्तपं न झातम् ॥
उन्मत्तो हि न किञ्जिज्ञानातीति न कस्याप्यत्रापराधः दैवेनेत्थमेव निर्माणं
कृतमिति । अपसर मा वृथा प्रयासं कार्षीः दैवस्य विपरिवर्तयितुमशक्यलाः
दिति तिङ्ग्तो व्यञ्जकः तदनुगृहीतानि पदान्तराण्यपीति भावः।

मा पन्थानं रुघः अपेहि बालक अप्रौढ अहो असि अहीकः। वयं परतन्त्रा यतः शून्यगृहं मामक रक्षणीयं वर्तते ॥

इत्यत्रापेहीति तिङन्तिमद् ध्वनिति त्वं तावद्त्रौढो लोकमध्ये यदेवं प्रकारा यसि । अस्ति तु सङ्केतस्थानं शून्यगृहं तत्रैवागन्तव्यमिति । 'अन्यत्र व्रव बालक' अप्रौढ बुद्धे स्नान्तीं मां कि प्रकर्षणालोकयस्येतत् । भो इति सोल्डुण माह्यानम् । जायाभीक्काणां सम्बन्धितटमेव न भवति । अत्र जायातो व

क्योंकि उन्मत्त कुछ नहीं समझता, इसलिए यहां किसी का अपराध नहीं, दैव वे ऐसा ही निर्माण किया है। माव यह कि हटो, व्यर्थ प्रयास मत करो, दैव का परिवर्ष नहीं किया जा सकता, इस प्रकार तिङन्त व्यव्जक है और उसके द्वारा अनुपूर्विष पदान्तर भी (व्यव्जक) हैं।

यहां 'हटो' यह तिङन्त यह घ्वनित करता है—तुम अप्रीढ़ हो, लोगों के बीव ही खोल दोगे, सब्देतस्थान शून्य गृह है, वहीं आना। हे अप्रीढ़ बुद्धि वाले बाल अल्प चले जाओ, स्नान करती हुई मुझे क्यों गुरेर कर देखता है 'अरे' (भो), यह सपिंद्धि आहान है। पत्नी से डरने वालों का यह तट ही नहीं होता। यहां पत्नी से जो डर्ने

मम्बन्धस्य यथा-

अण्णत्त वच बालअ ह्वा अन्ति किं मं पुलोएसिएअम् । मो जाआभीरुआणं तडं विअण होई ॥

कृतकप्रयोगेषु प्राकृतेषु तद्धितविषये व्यञ्जकत्वमावेद्यत एव । अवज्ञातिशये कः । समासानां च वृत्त्यौचित्येन विनियोजने । निपा-तानां व्यञ्जकत्वं यथा-

> अयमेकपदे तया वियोगः त्रियया चोपनतः सुदुःसहो मे । नत्रवारिधरोदयादहोभिभवितव्यं च निरातपार्धरम्यैः॥

सम्बन्ध का जैसे-

नासमझ, यहां से हट जा, स्नान करती हुई मुझे क्यों गुरेर कर देखता है, अरे, परनी से डरने वालों का यह तट नहीं है !

प्राकृतों में 'क' (प्रत्यय) के प्रयोग किए जाने पर तिद्धित के विषय में व्यक्षकत्व प्रतीत किया ही जाता है। (यहां) अवज्ञातिशय में 'क' (प्रयुक्त है)। और वृत्ति के औचित्य के अनुसार योजना करने पर समासों का (व्यक्षकत्व होता है)। निपातों का व्यक्षकत्व. जैसे-

यह एक साथ ही प्रिया के साथ असहा मेरा वियोग उपस्थित हो गया और नये <mark>बादळों</mark> के उमड़ पड़ने से दिन भी आतपरहित, छोटे और रम्य होने छगे।

लोचनम

भीरवंस्तेषामेतत्स्थानमिति दूरापेतः सम्बन्ध इत्यनेन सम्बन्धेनेर्ष्यातिशयः प्रच्छन्नकामिन्याभिव्यक्तः । क्रतकेति कप्रहणं तद्धितोपलक्षणार्थम् । कृतः कप्रत्य-यप्रयोगो येषु काव्यवाक्येषु यथा जायाभीरुकाणामिति। ये ह्यरसङ्गा धर्म-पत्रीषु प्रेमपरतन्त्रास्तेभ्यः कोऽन्यो जगति कुत्सितः स्यादिति कप्रत्ययोऽव-**ज्ञा**तिशयद्योतकः । समासानां चेति । केवलानामेव व्यञ्जकत्वमावेद्यत इति सम्बन्धः ।

वाले हैं उनका यह स्थान है, यह सम्बन्ध दूरापेत (अर्थात् विलकुल नहीं) है, इस (षष्ट्यर्थं) सम्बन्ध से प्रच्छन्न कामिनी ने ईर्प्यातिशय अभिव्यक्त किया। 'क' के प्रयोग—। 'क' ग्रहण तद्धित के उपलक्ष्मणार्थं है, किया गया है 'क' प्रत्यय का प्रयोग जिन काव्यवाक्यों में, जैसे 'जायाभीहकाणाम्' जो अरसज्ञ अपनी धर्मपत्नियों में ही प्रेम-परतन्त्र होते हैं, उनसे (बढ़कर) कौन दूसरा संसार में कुत्सित होगा ? इस अवज्ञा-तिशय का 'क' प्रत्यय द्योतक है। समासों का—। सम्बन्ध यह है कि केवल (समासों) का ही व्यञ्जकत्व सूचित किया जाता है।

२४ ध्व०

इत्यत्र चशब्दः। यथा वा —

मुद्धरङ्गुलिसंवृताघरौष्ठं प्रतिपेधाक्षरितक्कवाभिरामम् । मुखमंसविवर्ति पक्ष्मलाक्ष्याः कथमप्युत्रमितं न चुम्बितं तु॥ अत्र तुज्ञब्दः । निपातानां प्रसिद्धमपीह द्योतकत्वं रसापेक्षयोकः मिति द्रष्टव्यम् । उपसर्गाणां व्यञ्जकत्वं यथा—

नीवाराः शुकगर्भकोटरम्रखश्रष्टास्तरूणामधः प्रिक्षिग्धाः क्रचिदिज्जदीफलिमदः स्च्यन्त एवोपलाः। विश्वासोपगमादिमन्नगतयः शब्दं सहन्ते मृगा-स्तोयाधारपथाश्र वलकलिखानिष्यन्दलेखाङ्किताः॥

यहां 'और' शब्द । अथवा, जैसे-

वार-वार अङ्गुलियों से ढंके गए अधरोष्ट वाले, निषेध के अञ्चर ('नहीं' आहे) और न्याकुळता से अभिराम (उस) पत्रमळ आंखों वाली (शकुन्तळा) के क्षेण सुदे हुए सुख को किसी प्रकार ऊपर उठा लिया, परन्तु चूम नहीं सका।

यहां 'तु' शब्द । यद्यपि निपातों का द्योतकत्व प्रसिद्ध है तथापि यहां (उस्त्र द्योतकरव) रस की अपेचा से समझना चाहिए । उपसर्गों का व्यक्षकरव, जैसे—

नीवार सुगों के खोड़लों के अग्रभाग से गिर कर वृत्तों के नीचे पड़े हैं। इं पर चिकने पत्थर स्चित करते हैं कि इनसे इंगुदी के फलों का भेदन किया जाता है। हिरण विश्वस्त हो जाने से अभिन्नगति होकर शब्द को सहन करते हैं और कहां बहाव के मार्ग वरकलों (वृत्त को छालों) के अग्रभाग से टपकती हुई वृंदों की खि से अंकित हैं।

लोचनम्

चशब्द इति जातावेकवचनम् । द्वौ चशब्दावेवमाहतुः काकतालीयन्याके गण्डस्योपिर स्फोट इतिवक्तद्वियोगश्च वर्षासमयश्च सममुपनतौ एतदलं प्राणहाः णाय । अत एव रम्यपदेन सुतरामुद्दीपनिवभावत्वमुक्तम् । तुशब्द इति । पश्च त्तापसूचकस्सन् तावन्मात्रपरिचुम्बनलाभेनापि कृतकृत्यता स्यादिति ध्वतीि भावः । प्रसिद्धमपीति । वैयाकरणादिगृहेषु हि प्राक्तप्रयोगस्वातन्त्र्यप्रयोगामावाः

'और' शब्द जाति में एकवचन है। दो 'और' ('च') शब्द इस प्रकार की हैं—काकतालीयन्याय से गण्ड के ऊपर फोड़े की भांति उसका वियोग और वर्षा होनों साथ ही प्राप्त हो गए हैं, यह प्राणहरण के लिए काफी है। अतएव 'रम्य' वर्ष सुतरां उद्दीपन विभाव को कहा है। 'तु' शब्द—। भाव यह कि पश्चात्ताप का कुल होता हुआ उतने मात्र परिचुम्बन के लाभ से भी कृतकृत्यता ही यह ब्वनित करता है। प्रसिद्ध है तथापि—। भाव यह कि वैयाकरण आदि के घरों में (धातु के) पर्ष

इत्यादौ । द्वित्राणां चोपसर्गाणामेकत्र पदे यः प्रयोगः सोऽपि रसन्यक्त्यनुगुणतयेव निर्दोषः । यथा-'प्रभ्रश्यत्युत्तरीयत्विषि तमसि सम्बद्धीक्ष्य वीतावृतीन्द्राग्जन्त् न्' इत्यादौ । यथा वा—'मनुष्यवृत्त्या सम्बद्धाव्यन्तम्' इत्यादौ ।

इत्यादि में । दो-तीन उपसर्गों का भी एक पद में जो प्रयोग है वह भी रस की व्यक्षना के अनुगुण रूप से ही निर्दोप है। जैसे—उत्तरीय की भांति अन्धकार के विगिष्ठित हो जाने पर सद्यः जन्तुओं को आवरण से रहित देखकर०, इत्यादि में (समुद्वीच्य = देखकर इस स्थल में)। अथवा, जैसे—मनुष्य के व्यापार से समुपा-चरण करते हुए को०, इत्यादि में।

लोचनम्

पष्ट्रचाद्यश्रवणाल्लिङ्गसंख्याविरहाच वाचकवैलक्षण्येन द्योतका निपाता इत्युद्धो-ध्यत एवेति भावः । प्रकर्षण स्निग्धा इति प्रशब्दः प्रकर्ष द्योतयिष्नक्षुदीफलानां सरसत्वमाचक्षाण आश्रमस्य सौन्दर्यातिशयं ध्वनति । 'तापसस्य फलविशेष-विषयोऽभिलाषातिरेको ध्वन्यते' इति त्वसत् ; अभिज्ञानशाकुन्तले हि राज्ञ इयमुक्तिने तापसस्येत्यलम् । द्वित्राणामित्यनेनाधिक्यं निरस्यति । सम्यगुचै-विशेषेणेक्षितत्वे भगवतः कृपातिशयोऽभिव्यक्तः ।

मनुष्यवृत्त्या समुपाचरन्तं स्वबुद्धिसामान्यकृतानुमानाः। योगीश्वरेरप्यसुबोधमीश त्वां बोद्धुमिच्छन्त्यबुधाः स्वतकेः॥

सम्यग्भूतसुपांशुकुत्वा आ समन्ताचरन्तमित्यनेन लोकानुजिघृक्षातिशय-स्तत्तदाचरतः परमेश्वरस्य ध्वनितः।

ही प्रयोग होने, स्वतन्त्र रूप से प्रयोग न होने, वही आदि के श्रवण न होने और लिङ्ग तथा संख्या के न होने के कारण निपात शब्द वाचक शब्द से विलक्षण रूप से द्योतक घोषित किए गए हैं। (प्रस्निग्धाः) अर्थात् 'प्रकर्षेण स्निग्धाः' इसमें 'प्र' शब्द प्रकर्षे द्योतित करता और इंङ्गुदीफलों का सरसत्व कहता हुआ आश्रम के अतिशय सौन्दर्ये को घ्वनित करता है। 'तापस का फलविशेष के सम्बन्ध में अभिलाषातिरेक घ्वनित होता है' यह (व्याख्यान) गलत है, क्योंकि 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में यह राजा की उक्ति है, न कि तापस की, इत्यलम्। दो-तीन इस (कथन) से आधिक्य का निरास करते हैं। (समुद्वीद्य = देखकर) सम्यक् अर्थात् उच्चै:, विशेष रूप से ईक्षित (दृष्ट) होने में भगवान् (सूर्य) का कृपातिशय अभिव्यक्त होता है।

मनुष्य के व्यापार से समुपाचरण करते हुए, योगीश्वरों द्वारा भी दुर्बोध आपको है ईश, अपनी सामान्य बुद्धिसे अनुमान करके अबुध जन अपने तर्कों से जानना चाहते हैं।

'सम्यक् भूतमुपांशुकृत्वा आ समन्तात् चरन्तं' इससे तत् तत् का आचरण करते हुए परमेश्वर का लोकानुग्रह का इच्छातिशय अभिव्यक्त किया।

निपातानामपि तथैव । यथा—'अहो वतासि स्पृहणीयवीर्यः' इत्यादौ । यथा वा—

ये जीवन्ति न मान्ति ये स्म वपुषि प्रीत्या प्रमृत्यन्ति च प्रस्यन्दिप्रमदाश्रवः पुलकिता दृष्टे गुणिन्यूर्जिते । हा धिकष्टमहो क यामि शरणं तेषां जनानां कृते नीतानां प्रलयं शठेन विधिना साधुद्धिषः पुष्यता ॥ इत्यादौ ।

पद्गौनरुक्त्यं च व्यञ्जकत्वापेक्षयैव कदाचित्प्रयुज्यमानं शोमा-मावहति । यथा---

यद्धश्वनाहितमतिर्वेहुचाडुगर्भं कार्योन्मुखः खलजनः कृतकं ब्रवीति ।

निपातों का भी उसी प्रकार । जैसे—'अहो तुम स्पृहणीय पराक्रम वाले हो! इत्यादि में । अथवा, जैसे—

गुणीजन की वृद्धि देख कर आनन्द के अश्च प्रवाहित करने वाले एवं पुलीब होने वाले जो व्यक्ति जीवित हैं, (खुशी के मारे) जो अपने शरीर में अंट नहीं पढ़े. प्रीति से नृत्य करने लग जाते हैं, उन जनों के लिए, जिन्हें दुष्टों को प्रश्रय देने बढ़े शठ विधाता ने समाप्त कर डाला है, किसकी शरण में जाऊं? हा धिक कप्टम!

इत्यादि में।

पदपौनरुक्त्य भी व्यक्षकत्व की अपेचा से ही कदाचित् प्रयुज्यमान होकर श्रोण प्राप्त करता है। जैसे—

जो कि घोला देने में लगी बुद्धि वाला, काम निकालने वाला दुष्ट जन बुत

लोचनम्

तथैनेति । रसव्यञ्जकत्वेन द्वित्राणामपि प्रयोगो निर्दोष इत्यर्थः । ऋषि तिशयो निर्वेदातिशयश्च अहो बतेति हा धिगिति च ध्वन्यते । प्रसङ्गाली रुक्त्यान्तरमपि व्यञ्जकमित्याह—पद्गैनरुक्त्यमिति । पद्ग्रहणं वाक्याहेणी

उसी प्रकार—। अर्थात् रसके व्यज्ञक रूप से दो-तीन (निपातों) का प्रवी निर्दोष है। 'अहो' 'बत' 'हा' 'धिक्' से क्लाघातिशय और निर्वेदातिशय व्विति हैं हैं। प्रसङ्ग से 'पौन्क्क्यान्तर भी व्यज्ञक है, यह कहते हैं- पद्पौनक्ष्य प्रहण वाक्यादि का भी यथासम्भव उपलक्षण है। समझते हैं—। 'वे ही सब हैं

तत्साधत्रो न न विदन्ति विदन्ति किन्तु कर्तुं दृथाप्रणयमस्य न पारयन्ति ॥

इत्यादौ ।

कालस्य व्यञ्जकत्वं यथा-

समिवसमिणि विवसेसा समन्तओ मन्दमन्दसंआरा। अइरा होहिन्ति पहा मणोरहाणं पि दुस्रङ्घा।। [समिवपमनिर्विशेषाः समन्ततो मन्दमन्दसञ्चाराः। अचिराद्भविष्यन्ति पन्थानो मनोरथानामपि दुर्लङ्घयाः॥

इति छाया]

खुशामद् से भरी वनावटी वात करता है उसे साधुजन नहीं समझते हैं यह नहीं, समझते हैं, किन्तु वे छोग उसके आग्रह को न्यर्थ करने में समर्थ नहीं हो पाते।

इत्यादि में । काल का न्यक्षकत्व, जैसे-

शीघ्र ही चारों ओर (वर्षाकाल में पानी भर जाने के कारण) मार्ग सम और विषम के भेद से रहित, अत्यन्त मन्द सञ्चार योग्य एवं मनोरथों के भी दुर्लंड्स्य हो जायेंगे।

लोचनम्

वयासम्भवमुपलक्षणम् । विदन्तीति । त एव हि सर्वं विदन्ति मुतरामिति ध्वन्यते । वाक्यपौनरुक्त्यं यथा—'पश्य द्वीपादन्यस्माद्पि' इति वचनानन्तरं कः सन्देहः ? द्वीपादन्यस्माद्पि' इत्यनेने प्रितप्राप्तिरविन्नितेव ध्वन्यते । 'किं किम् ? स्वस्था भवन्ति मयि जीवति' इत्यनेनामर्षातिशयः । 'सर्वक्षितिभृतां नाथ दृष्टा सर्वोङ्गसुन्दरी' इत्यन्मादातिशयः ।

कालस्येति । तिङन्तपदानुप्रविष्टस्याप्यर्थकलापस्य कारककालसंख्योपप्रह-रूपस्य मध्येऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां सूद्रमदृशा भागगतमपि व्यञ्जकत्वं विचार्य-

ठीक-ठीक समझते हैं, यह व्वनित होता है। वाक्यपौनक्क्त्य, जैसे—('रत्नावली' में) 'ढीपादन्यस्मादिप' इस वचन के बाद 'कः सन्देहः द्वीपादन्यस्मादिप' इससे ईप्सित वस्तु की प्राप्ति विघ्नरहित ही है यह ध्वनित होता है। 'कि कि ? स्वस्था भवन्ति मिष्ठ जीवति' इससे अमर्वातिशय (ध्वनित होता है)। सब्धितिभृतां नाथ दृष्टा सर्वाङ्गसुन्दरी' यह (वक्ता का) उन्मादातिशय ध्वनित होता है।

काल का—। भाव यह कि कारक, काल, संख्या, उपग्रह रूप तिङन्त पद में अनुप्रविष्ट अर्थंसमूह के बीच अन्वय-व्यित्रिक के द्वारा सूक्ष्म दृष्टि से भागगत (अर्थात् कारक आदि चारों के एकदेश भूत कालगत) भी व्यक्षकत्व का विचार करना चाहिए।

अत्र ह्यचिराङ्गविष्यन्ति पन्थान इत्यत्र भविष्यन्तीत्यस्मिन् परे प्रत्ययः कालविशेषाभिधायी रसपरिपोपहेतुः प्रकाशते। अयं हि गाथार्थः प्रवासविप्रलम्भशृङ्गारविभावतया विभाव्यमानो रस्तान्। यथात्र प्रत्ययांशो व्यञ्जकस्तथा क्वचित्प्रकृत्यंशोऽपि दृश्यते। यथा-

तद्गेहं नतिभित्ति मन्दिरिमदं लब्धावगाहं दिवः सा धेतुर्जरती चरन्ति करिणामेता घनाभा घटाः। स क्षुद्रो मुसलध्वनिः कलिमदं सङ्गीतकं योषिता-माश्चर्यं दिवसैद्विंजोऽयिमयतीं भूमि समारोपितः॥

अत्र श्लोके दिवसैरित्यस्मिन् पदे प्रकृत्यंशोऽपि द्योतकः। सर्व नाम्नां च व्यञ्जकत्वं यथानन्तरोक्ते श्लोके। अत्र च सर्वनाम्नामेन

यहां 'शीष्र ही मार्ग हो जायेंगे' इसमें 'हो जायेंगे' इस पद में प्रत्यय कालिक्षेत्र का अभिधान करने वाला एवं रसपरिपोष का हेतु प्रकाशित होता है। यह गायां प्रवास विप्रकरम श्रङ्गार के विभाव के रूप में विभाव्यमान होकर रसवान् हो जाता है। जैसे यहां प्रत्ययांश व्यक्षक है वैसे कहीं पर प्रकृत्यंश भी देखा जाता है। जैसे—

सुकी भीतों वाला वह घर (और कहां) यह आकाश का अवगाहन करने बात (आलीशान) भवन; वह बूढ़ी गाय (और कहां) यह हाथियों का झुण्ड घूम हा है; वह मुसल की चुद्र आवाज (और कहां) यह महिलाओं का अव्यक्त-मधुर सङ्गीद आक्षर्य है कि (कुल ही) दिनों में यह ब्राह्मण इस अवस्था तक पहुंचा दिया गर्म!

इस रहोक में 'दिनों में' ('दिनसैः') इस पद में प्रकृत्यंश भी द्योतक है। सं नामों का व्यक्षकत्व जैसे अभी कहे गए (इस) रहोक में। यहां सर्वनामों के व्यक्षकत्व को किव ने मन में रख कर 'क्ष' इत्यादि शब्द का प्रयोग नहीं किवा है।

लोचनम्

मिति भावः। रसपरिपोषेति। चत्प्रेच्यमाणो वर्षासमयः कम्पकारी किश्व वर्तमान इति ध्वन्यते। अंशांशिकप्रसङ्गादेवाह—यथात्रेति।

दिवसार्थो ह्यत्रात्यन्तासम्भाव्यमानतामस्यार्थस्य घ्वनति । सर्वनाम्नां नेति। प्रकृत्यंशस्य चेत्यर्थः । तेन प्रकृत्यंशेन सम्भूय सर्वनामव्यञ्जकं दृश्यत इतुर्वे रसपरिणेप—। उत्प्रेच्यमाण कम्पकारी वर्षा समय क्या वर्तमान है ? यह ध्वितित हैं है । बंशांशिक प्रसंग से ही कहते हैं — जैसे यहाँ —।

यहाँ 'दिवस' का अर्थ इस अर्थ की अत्यन्त असम्भाव्यमानता ध्वनित करता है। सर्वनामों का—। अर्थात् प्रकृत्यंश का । उस प्रकृत्यंश के साथ मिलकर सर्वनाम अर्थ

व्यञ्जकत्वं हृदि व्यवस्थाप्य किवना केत्यादिशब्दप्रयोगो न कृतः। अनया दिशा सहृदयरन्येऽपि व्यञ्जकिवशेषाः स्वयमुत्प्रेक्षणीयाः। एत-च सर्वं पदवाक्यरचनाद्योतनोक्त्येव गतार्थमि वैचित्र्येण व्युत्पत्तये पुनरुक्तम्।

इस ढङ्ग से सहृद्यों को अन्य भी व्यक्षक विशेषों की उक्षेत्रा स्वयं करनी चाहिए। यह सब पद, वाक्य और रचना के द्योतन के कथन से हो गतार्थ था तब भी वैचित्र्य से ब्युत्पत्ति के लिए फिर से कहा है।

लोचनम्

भवतीति न पौनरुक्त्यम् । तथा हि तदिति पदं नतिभत्तीत्येतत्प्रकृत्यंशसहायं समस्तामङ्गलिभानभूतां मूषकाद्याकीणतां ध्वनति । तदिति हि केवलमुच्यमाने समुत्कर्षातिशयोऽपि संभाव्येत । न च नतिभित्तिशब्देनाप्येते दौर्भाग्याय-तन्त्वसूचका विशेषा उक्ताः । एवं सा धेनुरित्यादाविप योज्यम् । एवंविधे च विषये स्मरणाकारद्योतकता तच्छब्दस्य । न तु यच्छव्दसंबद्धतेत्युक्तं प्राकः । अत एवात्र तदिदंशव्दादिना स्मृत्यनुभवयोरत्यन्तविरुद्धविषयतासूचनेनाश्चयं-विभावता योजिता । तदिदंशव्दाद्यभावे तु सर्वमसङ्गतं स्यादिति तदिदमंश-योदेव प्राणत्वं योज्यम् । एतच द्विशः सामस्त्यं त्रिशः सामस्त्यमिति व्यञ्जक-मित्युपलक्षणपरम् । तेन लोष्टप्रस्तारन्यायेनानन्तवैचित्र्यमुक्तम् । यद्वस्यत्य-न्येऽपीति । अतिविश्विप्ततया शिष्यबुद्धिसमाधानं न भवेदित्यभिप्रायेण संक्षिपति—एतचेति । वितत्याभिधानेऽपि प्रयोजनं स्मारयति—वैचित्र्येणेति ।

देखा जाता है, अतः पौनरुक्त्य नहीं है। जैसा कि 'वह' यह पद 'झुकी भीतोंबाला' ('नतभित्त') इस प्रकृत्यंश की सहायता से समस्त अमङ्गलों का निधानभूत मूषक आदि द्वारा आकीणंता को घ्वनित करता है। केवल 'वह' ('तत्') कहते तो अतिशय समुत्कर्ष भी सम्भावित होने लगता। न कि (केवल) 'नतिभित्ति' शब्द से भी दौभाय के आयतनत्व के सूचक ये विशेष कहे गए हैं। इस प्रकार 'वह गाय' इत्यादि में भी लगाना चाहिए। इस प्रकार के विषय में 'वह' ('तत्') शब्द स्मरण के आकार का द्योतन करता है, न कि 'जो' ('यत्') शब्द के साथ सम्बद्ध है यह पहले कह चुके हैं। अत एव यहाँ 'तत्' और 'इदं' ('वह' और 'यह') शब्द आदि से स्मृति और अनुभव की अत्यन्त विश्वद्धविषयता के सूचन द्वारा आश्चर्य की विभावता योजित की है। 'तत्' और 'इदं' शब्द आदि के अभाव में सब असङ्गत हो जाता, इसलिए 'तत्' और 'इदं' (अर्थात् 'वह' और 'यह') इस अंशों को प्राण (चमत्कारकारी) समझना चाहिए। 'वौर यह दो का सामस्त्य और तीन का सामस्त्य व्यङ्गक है, यह उपलक्षण में तात्पर्य रखता है। इस लिए 'लोष्टप्रस्तारन्याय' से अनन्त वैचित्र्य कहा गया। अत्यन्त प्रमृत होने के कारण शिष्य की बुद्धि का समाधान नहीं होगा, इस अभिप्राय से संक्षेप करते हैं—चैचित्रय—। विस्तार करके कथन में भी प्रयोजन की याद दिलाते हैं—चैचित्रय—।

ननु चार्थसामथ्यिक्षेप्या रसादय इत्युक्तम्, तथा च सुनादीनां व्यञ्जकत्ववैचित्र्यकथनमनित्वतमेव । उक्तमत्र पदानां व्यञ्जकत्वो क्त्यवसरे । किञ्चार्थविशेपाक्षेप्यत्वेऽपि रसादीनां तेषामर्थविशेषाणां व्यञ्जकशब्दाविनाभावित्वाद्यथाप्रदर्शितं व्यञ्जकस्वरूपपरिज्ञानं विभज्यो पयुज्यत एव । शब्दविशेषाणां चान्यत्र च चारुत्वं यद्विभागेनोपद्शितं तदिप तेषां व्यञ्जकत्वेनैवावस्थितमित्यवगन्तव्यम् ।

(शक्का) अर्थ की सामर्थ्य से रसादि आज्ञिस होते हैं यह कहा गया है, कि सुप् आदि का व्यक्तक्त्व-वैचित्र्य कहना असम्बद्ध ही है! (समाधान) पर्दों के व्यक्तकत्व के अवसर में इस सम्बन्ध में कह चुके हैं। और भी, रसादि का अर्थविशेष द्वारा आजेप स्वीकार करने पर भी उनकी अर्थविशेषों के व्यक्तक शब्दों के बिना प्रतीति ह होने के कारण जैसा कि दिखाया गया है (उस प्रकार) व्यक्तक के स्वरूप का परिज्ञान विभाग करके उपयोगी है ही। यह जानना चाहिए कि अन्यत्र शब्द विशेषों का जो चारूव्य अलग-अलग दिखाया गया है वह भी उनके व्यक्तकत्व से है व्यवस्थित है।

लोचनम्

निनिति । पूर्वं निर्णीतमध्येतद्विस्मरणार्थमधिकाभिधानार्थं चास्निम्। उक्तमत्रेति । न वाचकत्वं ध्वनिव्यवहारोपयोगि येनावाचकस्य व्यञ्जकत्वं स्यात् इति प्रागेवोक्तम् । नजु न गीतादिवद्रसाभिव्यञ्जकत्वेऽपि शब्दस्य तत्र व्यापरोऽस्त्येवः स च व्यञ्जनात्मैवेति भावः । एतच्चास्माभिः प्रथमोद्द्योते निर्णीतचरम् । न चेदमस्माभिरपूर्वमुक्तमित्याह—शब्दविशेषाणां चेति। अन्यत्रेति । मामह्विवर्णे । विमागेनेति । स्रक्चन्दनाद्यः शब्दाः श्रृङ्गोरे चारवो बीमत्से त्वचारव इति रसकृत एव विमागः । रसं प्रति च शब्दस्य व्यञ्जकत्वमेवेत्युक्तं प्राकृ ।

(शक्का)—। पहले निर्णात होने पर भी भूल न जाय इसके लिए और अधिक बात कहने के लिए आक्षेप किया है। इस सम्बन्ध में कह चुके हैं —। यह पहले हैं कह चुके हैं कि वाचकत्व ध्वनि के व्यवहार में उपयोगी नहीं है, जिससे अवाचक का व्यक्षकत्व नहीं होता। भाव यह कि गीतांदि की भाँति रसाभिव्यक्षक होने पर भी शब्द का उसमें व्यापार नहीं है और वत (शब्द) व्यक्षनरूप ही है। इसे हम प्रयम उद्योत में निर्णय कर चुके हैं। न कि यह विलकुल अपूर्व वात कही है, यह कहते हैं— शब्दिवशेषों का—। अन्यन्न—भामह के विवरण में। अलग-अलग— माला, चदक आदि शब्द शुक्तार में सुन्दर और वीभत्स में असुन्दर हैं, इस प्रकार विभाग रसकत ही है। यह पहले कह चुके हैं कि रस के प्रति शब्द का व्यव्जकत्व ही है।

यत्रापि तत्सम्प्रति न प्रतिभासते तत्रापि व्यञ्जके रचनान्तरे यद् दृष्टं सौष्ठवं तेषां प्रवाहपतितानां तदेवाभ्यासादपोद्धृतानामप्यवभासत इत्यवसातव्यम् । कोऽन्यथा तुल्ये वाचकत्वे शब्दानां चारुत्व-विषयो विश्रेषः स्यात् ।

जहां भी वह इस समय नहीं माळ्स पड़ता वहां भी व्यक्षक दूसरी रचना में जो सीष्ठव देखा गया है, प्रवाह में पड़े हुए उनका वही (चारुत्व) अभ्यासवश प्रतीत होता है, यह समझना चाहिए। अन्यथा समानवाचकत्व के होने पर शब्दों के चारुत्व का विशेष कीन होता ?

लोचनम्

यत्रापीति । स्रक्चन्द्नादिशब्दानां तदानीं श्रङ्गारादिव्यञ्जकत्वाभावेऽपि व्यञ्जकत्वशक्तेर्भूयसा दर्शनात्तदिधवाससुन्दरीभृतमर्थं प्रतिपादिषतुं सामर्थ्यमस्ति । तथाहि—'तटी तारं ताम्यति' इत्यत्र तटशब्दस्य पुंस्त्वनपुंसकत्वे अनादृत्य स्त्रीत्वमेवाश्रितं सहृद्यैः 'स्त्रीति नामापि मधुरम्' इति कृत्वा । यथा वास्मदुपाध्यायस्य विद्वत्कविसहृद्यचक्रवर्तिनो भट्टेन्दुराजस्य—

इन्द्गवरद्युति यदा बिभ्रयान्न लहम स्युर्विस्मयैकसुहृदोऽस्य यदा विलासाः। स्यान्नाम पुण्यपरिणामवशात्तथापि किं किं कपोलतलकोमलकान्तिरिन्दुः॥

अत्र हीन्दीवरलद्मविस्मयसुहृद्धिलासनामपरिणामकोमलाद्यः शब्दाः शृङ्गाराभिव्यञ्जनदृष्टशक्तयोऽत्र परं सौन्दर्यमावहन्ति । अवश्यं चैतद्भ्युपगन्त-

जहाँ भी—। माला, चन्दन आदि शब्दों का उस समय (अर्थात् श्रृङ्कार के अतिरिक्त स्थल में) श्रृङ्कारादि के व्यव्जक न होने पर भी (उनकी) व्यव्जकत्वर्शक्ति के बार-बार देखे जाने के कारण उनके रहने से सुन्दर हुए अर्थ को प्रतिपादन करने की सामध्ये है। जैसा कि 'तटी तारं ताम्यित' ('तटी जोर से क्लान्त हो रही है') यहाँ सहृदयों ने 'तट' शब्द के पुंस्त्व और नपुंसकत्व का अनादर करके स्त्रीत्व का ही आश्रयण किया है यह समझ कर 'स्त्री' यह नाम भी मधुर है। अथवा, जैसे विद्वानों, कवियों और सहृदयों के चक्रवर्ती हमारे उपाध्याय मट्ट इन्दुराज़ का—

पुष्यों के परिणामवश यदि चन्द्रमा नील चिह्न धारण नहीं करता, यदि इसके विलास विस्मय के एकमात्र सुहृद् होते, तथापि (सुन्दरी के) कपोलतल की भांति कोमल कान्तिवाला, क्या-क्या हो सकता था ?

यहाँ श्रृङ्गार के अभिव्यञ्जन में दृष्ट्यक्ति वाले नीलकमल (इन्दीवर), चिह्न, विस्मय, सुहुद्द, विलास, (नाम) परिणाम, कोमल आदि शब्द अधिक सौन्दर्य धारण

अन्य एवासौ सहृद्यसंवेद्य इति चेत्, किमिदं सहृद्यतं नाम १ कि रसभावानपेक्षकाच्याश्रितसमयविशेषाभिज्ञत्वम्, उत रसभावादिमयकाच्यस्वरूपपरिज्ञाननेपुण्यम् । पूर्विस्मन् पक्षे तथा-विधसहृद्यच्यवस्थापितानां शब्दविशेषाणां चारुत्विनयमो न स्यात्। पुनः समयान्तरेणान्यथापि च्यवस्थापनसम्भवात् । द्वितीयस्मिस्तु पक्षे रसज्ञतेव सहृद्यत्विमिति । तथाविधेः सहृदयैः संवेद्यो रसादिसम्पण्सामर्थ्यमेव नैसर्गिकं शब्दानां विशेष इति च्यञ्जकत्वाश्रययेव तेषं मुख्यं चारुत्वम् । वाचकत्वाश्रयाणान्तु प्रसाद एवार्थापेक्षायां तेषं विशेषः । अर्थानपेक्षायां त्वनुप्रासादिरेव ॥ १५-१६ ॥

अन्य ही वह कोई सहृद्यसंवेद्य है यदि यह कहो (तो प्रश्न है कि) वह सहृद्यत्व क्या है ? क्या रस, भाव की अपेन्ना न करके काव्य के आश्रित समय(संकेत) विशेष की जानकारी रखना (सहृद्यत्व) है, अथवा रस, भाव आदि से युक्त काव्य के स्वरूप के परिज्ञान का नैपुण्य (सहृद्यत्व) है ? पहले पन्न में उस प्रकार के सहृद्य हारा व्यवस्थापित शव्द्विशेषों के चारुत्व का नियम नहीं होगा, क्योंकि पुनः दूसरे समय (संकेत) के अनुसार अन्यथा भी व्यवस्थापन सम्भव होगा। किन्तु दूसरे पन्न में रसज्ञता ही सहृद्यत्व है। उस प्रकार के सहृद्यों द्वारा संवेद्य शब्दों का विशेष रसि के समर्पण की नैसिर्गिक सामर्थ्य ही है, इस प्रकार व्यक्तकत्व के आश्रित रहने वाला ही उनका मुख्य चारुत्व है। परन्तु वाचकत्व के आश्रित (उन शब्दों का) विशेष अर्थ की अपेन्ना होने पर अनुप्रास आदि ही।

लोचनम्

व्यमित्याह—कोऽन्यथेति । असंवेद्यस्तावदस्ते न युक्त इत्याशयेनाह—सहदयेति । पुनरिति । अनियन्त्रितपुरुपेच्छायत्तो हि समयः कथं नियतः स्यात् । मुख्यं चारुत्वमिति । विशेष इति पूर्वेण सम्बन्धः । अर्थापद्मायामिति । बाच्यापेक्षायामित्यर्थः । अनुप्रासादिरेवेति । शब्दान्तरेण सह या रचना करते हैं । और इसे अवश्य स्वीकार करना चाहिए, यह कहते हैं —अन्यथा—। वह असंवेद्य होकर ठीक न होगा, इस आशय से कहते हैं —सहदय—। पुनः—। क्योंकि पुष्प की अनियन्त्रित इच्छा के अधीन समय (सङ्केत) कैसे नियत होगा ? मुख्यः चारुत्व—। 'विशेष' यह पूर्व से सम्बन्ध है । अर्थ की अपेजा होने पर—। अर्थाव बाच्य की अपेक्षा होने पर । अनुप्रास आदि ही—। अर्थात् दूसरे शब्द के साथ जी रचना है उसकी अपेक्षावाला वह विशेष । आदि ग्रहण से शब्दगुण और शब्दालङ्कारों का

एवं रसादीनां व्यञ्जकस्वरूपमिधाय तेपामेव विरोधिरूपं लक्ष-यितुमिदम्रपक्रम्यते—

प्रबन्धे मुक्तके वापि रसादीन्बन्द्धुमिच्छता। यहाः कार्यः सुमतिना परिहारे विरोधिनाम् ॥ १७॥ प्रवन्धे मुक्तके वापि रसभावनिबन्धनं प्रत्यादतमनाः कविविरो-धिपरिहारे परं यत्नमादधीत । अन्यथा त्वस्य रसमयः श्लोक एकोऽपि सम्यङ्न सम्पद्यते ॥ १७॥

इस प्रकार रस आदि के न्यक्षक के स्वरूप का अभिधान करके उन्हीं के (रसादि के) विरोधी रूप को लित्ति करने के लिए यह उपक्रम करते हैं—

प्रबन्ध में अथवा मुक्तक में भी रस आदि का निवन्धन करना चाहते हुए सुमति

(किव) को विरोधियों के परिहार में यस करना चाहिए ॥ १७ ॥

प्रवन्ध में अथवा मुक्तक में भी रसमाव के निवन्धन के प्रति आद्रयुक्त मन बाला कवि विरोधियों के परिहार में अधिक यत्न करे। अन्यथा, इसका एक भी रलोक सम्यक् रसमय सम्पन्न नहीं होगा।

लोचनम्

तद्पेक्षोऽसौ विशेष इत्यर्थः। आदिप्रहणाच्छव्दगुणालङ्काराणां सङ्ग्रहः। अत एव रचनया प्रसादेन चारुत्वेन चोपबृंहिता एव शब्दाः काव्ये योज्या

इति तात्पर्यम् ॥ १४-१६ ॥

रसादीनां यद्मञ्जकं वर्णपदादिप्रबन्धान्तं तस्य स्वरूपमभिधायेति सम्बन्धः। उपक्रम्यत इति । विरोधिनामपि लक्षणकरणे प्रयोजनमुच्यते शक्य-हानत्वं नाम अनया कारिकया । लक्षणं तु विरोधिरससम्बन्धीत्यादिना भविष्यतीत्यर्थः।। १७।।

ननु 'विभावभावानुभावसञ्जायौँचित्यचारुणः' इति यदुक्तं तत एव व्यति-

सङ्ग्रह है । अतएव रचना से, प्रसाद से और चारुत्व से उपबृंहित ही शब्दों <mark>की</mark> काव्य में योजना करनी चाहिए, यह तात्पर्य है ॥ १५–१६ ॥

'वर्ण, पद से लेकर प्रबन्ध पर्यन्त जो रसादि का व्यव्जक है उसके स्वरूप का अभिधान करके' यह सम्बन्ध है। उपक्रम करते हैं—। इस कारिका से विरोधियों के भी लक्षण करने में 'शक्यहानत्व' (अर्थात् उन विरोधियों के लक्षण ज्ञात होने पर उनका परिहार किया जा सकेगा, यही) प्रयोजन कहते हैं। किन्तु लक्षण तो 'विरोधिरस-सम्बन्धिं इंट्यादि होगा।। १७।।

(शङ्का) जो कि 'विभाव, भाव, अनुभाव, सञ्चारी के औचित्य से चार' यह कह

कानि पुनस्तानि विरोधीनि यानि यत्ततः कवेः परिहर्तव्यानीत्युच्यते विरोधिरससम्बन्धिविभावादिपरिग्रहः । विस्तरेणान्वितस्यापि वस्तुनोऽन्यस्य वर्णनम् ॥१८॥ अकाण्ड एव विच्छित्तिरकाण्डे च प्रकाशनम् । परिपोषं गतस्यापि पौनःपुन्येन दीपनम् । रसस्य स्याद्विरोधाय वृत्त्यनौचित्यसेव च ॥ १९॥

फिर वे विरोधी कौन हैं जिन्हें यरनपूर्वक किव को परिहार करना चाहिए | इस पर कहते हैं—

विरोधी रस से सम्बन्ध रखने वाले विभाव आदि का परिग्रह (रस से) सम्बद्ध होने पर भी अन्य वस्तु का विस्तार से वर्णन, असमय में ही (रस का) विस्तेद और असमय में प्रकाशन, (रस के) परिपोष प्राप्त करं लेने पर भी वार वार (उसका ही) उद्दीपन और वृत्ति (ज्यवहार) का अनौचित्य, (ये पांच) रस क विरोधी हैं॥ १८-१९॥

लोचनम्

रेकमुखेनैतद्प्यवगंस्यते। मैवम् ; व्यतिरेकेण हि तद्भावमात्र प्रतीयते न तु तद्विरुद्धम् । तदभावमात्रं च न तथा दूषकं यथा तद्विरुद्धम् । पथ्यानुपयोगो हि न तथा व्याधि जनयति यद्भद्रपथ्योपयोगः। तदाह-यत्नत इति। 'विभावे' त्यादिना ऋोकेन यदुक्तं तद्विरुद्धं विरोधीत्यादिनार्धश्लोकेनाह । 'इतिवृत्ते'त्या दिना श्लोकद्वयेन यदुक्तं तद्विरुद्धं विस्तरेणेत्यर्घश्लोकेनाह । 'उद्दीपने'त्यर्घश्लो कोक्तस्य विरुद्धम् अकाण्ड इत्यर्धऋोकेन । 'रसस्ये' त्यर्धऋोकोक्तस्य विरुद्ध परिपोषं गतस्येत्यर्घऋोकेन। 'अलङ्कृतीनामि' त्यनेन यदुक्तं तद्विरुद्धमन्यः चुके हैं, उसीसे व्यतिरेक के प्रकार से यह भी मालूम हो जायगा। (समाधान) ऐसा नहीं; व्यतिरेक से उसका अभाव मात्र प्रतीत होता है, न कि उससे विष्ट उसका अभाव मात्र उस प्रकार दूषक नहीं है जिस प्रकार उसका विरुद्ध। क्योंकि पथ्य का अनुपयोग उस प्रकार व्याधि उत्पन्न नहीं करता जिस प्रकार अपव्य का उपयोग (व्याघि उत्पन्न करता है)। उसे कहते हैं—यत्नपूर्वक—। 'विभाव' इत्यादि क्लोक से जो कहा है उसके विरुद्ध 'विरोधि॰' इत्यादि आधे क्लोक से कहते हैं। 'इतिवृत्त॰' इत्यादि दो श्लोकों से जो कहा है उसके विरुद्ध 'विस्तरेण॰' इत्यादि रलोकार्धं से कहते हैं। 'उद्दीपन०' इत्यादि आधे रलोक में कहे हुए के विरुद्ध 'अकाण्ड॰' इस आधे रलोक से। 'रसस्यं ' इस अधंरलोक के विरुद्ध 'परिपोध गतस्य ' इस अर्थ रलोक से। अलंड्कृतीनां०' इससे जो कहा गया है उसके विरुद्ध और दूसरा भी

प्रस्तुतरसापेक्षया विरोधी यो रसस्तस्य सम्बन्धनां विभावभावानुभावानां परिप्रहो रसविरोधहेतुकः सम्भवनीयः । तत्र विरोधिरसविभावपरिप्रहो यथा शान्तरसविभावेषु तिष्ठभावतयैव निरूपितेष्वनन्तरमेव शृङ्गारादिविभाववर्णने । विरोधिरसभावपरिप्रहो यथा प्रियं प्रति
प्रणयकलहकुपितासु कामिनीषु वैराग्यकथाभिरनुनये । विरोधिरसानुभावपरिप्रहो यथा प्रणयकुपितायां प्रियायामप्रसीदन्त्यां नायकस्य कोपावेश्चविवशस्य रौद्रानुभाववर्णने ।

अयं चान्यो रसभङ्गहेतुर्यतप्रस्तुतरसापेक्षया वस्तुनोऽन्यस्य कथप्रस्तुत रस की अपेना से विरोधो जो रस है उससे सम्बन्ध रखने वाले विभाव,
भाव और अनुभाव का परिप्रह रस के विरोध का हेतु हो सकता है। उनमें विरोधी
रस के विभाव का परिप्रह, जैसे शान्त रस के विभावों में उसके विभाव रूप से ही
निरूपित होने के बाद ही श्रङ्कार आदि के विभाव के वर्णन में। विरोधी रस के भाव
का परिप्रह, जैसे प्रिय के प्रति कामिनियों के प्रणयकलह से कुपित होने पर वैराग्य
की कथाओं द्वारा अनुनय करने पर। विरोधी रस के अनुभाव का परिग्रह, जैसे
प्रणयकुपित होने पर प्रिया के प्रसन्न न होने की स्थिति में कोप के आवेश से विवश
नायक के रीद्र के अनुभावों के वर्णन में।

और यह दूसरा रसमङ्ग का हेतु है कि प्रस्तुत रस की अपेचा किसी प्रकार सम्बद्ध लोचनम्

द्पि च विरुद्धं वृत्यनौचित्यमित्यनेन । एतत्क्रमेण व्याचष्टे-प्रस्तुतरसापेत्त्ये-त्यादिना । हास्यशृङ्गारयोवीराङ्गतयो रौद्रकरुणयोर्भयानकंबीभत्सयोर्न विभाव-विरोध इत्यभिप्रायेण शान्तशृङ्गारावुपन्यस्तौ, प्रशमरागयोविरोधात्। विरो-धिनो रसस्य यो भावो व्यभिचारी तस्य परिप्रहः, विरोधिनस्तु यः स्थायी स्थायितया तत्परिप्रहोऽसम्भवनीय एव तद्नुत्थानप्रसङ्गात्। व्यभिचारितया तु परिप्रहो भवत्येव । अत एव सामान्येन भावप्रहणम् । वैराग्यकथाभिरिति वैराग्यशब्देन निर्वेदः शान्तस्य यः स्थायी स उक्तः। यथा—'प्रसादे वर्तस्व विरुद्ध 'वृत्यनौचित्य॰' इससे (कहते हैं)। इस क्रम से व्याख्यान करते हैं। प्रस्तुत रस की अपेना से॰ इत्यादि से। हास्य-प्राङ्गार का, वीर-अद्मुत का, भयानक-बीमत्स का विभाव विरोध नहीं, इस अभिप्राय से शान्त-श्रृङ्गार का उपन्यास किया है, न्योंकि प्रशम और राग का विरोध है। विरोधी रस का जो भाव अर्थात् व्यभिचारी है ज्सका परिग्रह । परन्तु विरोधी का जो स्थायी है, स्थायी रूप से उसका परिग्रह असम्भव ही है, क्योंकि (स्थायी रूप से) उनके उत्थान का प्रसङ्ग नहीं है। परन्तु व्यभिचारी रूप से परिग्रह होगा ही। अतएव सामान्य रूप से 'भाव' का ग्रहण है। 'वैराग्य की कथाओं द्वारा' इसमें 'वैराग्य' शब्द से 'निवेंद' शान्त रस का जो स्थायी हैं वह कहा गया है। जैसे—'प्रसन्न हो जाओ, खुशी प्रकट़ करो, रोष छोड़ो' इत्यादि

श्चिदिन्वतस्यापि विस्तरेण कथनम् । यथा विश्रलम्भशृङ्गारे नायकस्य कस्यचिद्वर्णयितुमुपकान्ते कवेर्यमकाद्यलङ्कारनिबन्धनरसिकतया महता प्रवन्धन पर्वतादिवर्णने । अयं चापरो रसमङ्गहेतुरवगन्तव्यो यदकाण्ड एव विव्छित्तिः रसस्याकाण्ड एव च श्रकाशनम् । तत्रानवसरे विरामो रसस्य यथा नायकस्य कस्यचित्स्पृहणीयसमागमया नायिकया कयाचित्परां परिपोषपदवीं प्राप्ते शृङ्गारे विदिते च परस्परानुरागे समागमोपायचिन्तोचितं व्यवहारमुत्सृज्य स्वतन्त्रतया व्यापारान्तरवर्णने । भी अन्य वस्तु का विस्तार से वर्णन करना । जैसे विश्रकम्भ श्रङ्गार में किसी नायक के वर्णन का उपक्रम करने पर किव की यमक आदि अलङ्कारों के निबन्धन में रिक्ति के कारण बड़ा-चड़ा कर पर्वत आदि के वर्णन में । और यह दूसरा रसमङ्ग का हे। समझना चाहिए, जो असमय में ही रस का विच्छेद और असमय में ही प्रकाशन है। उनमें से असमय में रस का विराम, जैसे किसी नायक का स्पृहणीय समागम वाली किसी नायिका के साथ श्रङ्गार के परम परिपोप की अवस्था तक पहुँचने पर और परस्परानुराग के विदित होने पर समागम के उपाय की चिन्ता के उचित व्यवहार को छोड़कर स्वतन्त्र रूप से दूसरे व्यापार का वर्णन करने पर । और असमय में

लोचनम्

प्रकटय मुदं सन्त्यज रुषम्' इत्याद्युपक्रम्यार्थान्तरन्यासो 'न मुग्वे प्रत्येतुं प्रभवित गतः कालहरिणः' इति । मनागिष निर्वेदानुप्रवेशे सित रतेविंच्छेदः। ज्ञातिषयसतत्त्वो हि जीवितसर्वस्वामिमानं कथं भजेतः। न हि ज्ञातशुक्तिकाः रजततत्त्वस्तदुपादेयधियं भजते ऋते संवृतिमात्रात्। कथाभिरिति बहुवचनं शान्तरसस्य व्यभिचारिणो धृतिं मतिप्रभृतीन् सङ्गृह्णाति।

नन्वन्यद्नुन्मत्तः कथं वर्णयेत्, किमुत विस्तरत इत्याह्—कथि द्विताये ति । व्यापारांन्तरेति । यथा वत्सराजचिरते चतुर्थेऽङ्के—रत्रावलीनामधेयमप्यः

उपक्रम करके अर्थान्तरन्यास है 'री मुग्धे (नासमझ), काल का हिरन जाकर लौले का नहीं'। थोड़ा भी निर्वेद का अनुप्रवेश होने पर रित का विच्छेद हो जाता है। क्योंकि विषय का तत्त्व समझ चुकने वाला कैसे (किसी रमणी के प्रति) 'जीवितः सर्वेस्व' का अभिमान करेगा? क्योंकि शुक्तिकारजत (अर्थात् शुक्ति में भासमाव रजत) को तत्त्वतः समझ चुकने वाला व्यक्ति (उसमें) उपादेय बुद्धि नहीं करता, अम मात्र के बिना। 'कथाओं द्वारा' यह वहुवचन शान्तरस के घृति, मित प्रश्रृति व्यभिचारियों को सङ्गृहीत करता है।

अनुन्मत्त व्यक्ति कैसे अन्य का वर्णन करेगा, अथवा क्यों विस्तार से (करेगा)? इस पर कहते हैं—किसी प्रकार सम्बद्ध भी—। दूसरे ब्यापार—। जैसे 'वत्सराजचिति' में

अनवसरे च प्रकाशनं रसस्य यथा प्रश्चते प्रश्चतिविधवीरसङ्क्षये कल्प-सङ्क्षयकल्पे सङ्गामे रामदेवप्रायस्यापि तात्रन्नायकस्यानुपन्नान्तविप्रल-म्भशृङ्गारस्य निमित्तमुचितमन्तरेणैव शृङ्गारकथायामवतारवर्णने । न चैत्रंविधे विषये दैवव्यामोहितत्वं कथापुरुषस्य परिहारो यतो रसवन्ध एवं कवेः प्राधान्येन प्रश्चतिनिबन्धनं युक्तम् । इतिश्चत्तवर्णनं तदुपाय एवंत्युक्तंप्राक् 'आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवाञ्चनः' इत्यादिना ।

अत एवं चेतिवृत्तमात्रवर्णनप्राधान्येऽङ्गाङ्गिमावरहितरसभावित्व-न्येन च कवीनामेवंविधानि स्खलितानि भवन्तीति रसादिरूप्व्यङ्ग्य-रस का प्रकाशन, जैसे—प्रख्यकाल के सहश हो रहे विविध वीरों के नाश वाले संप्राम में विप्रलम्भ श्रङ्गार के उपक्रम के विना और विना उचित कारण के राम जैसे रेवता का भी श्रङ्गारकथा में पड़ जाने का वर्णन करने में। इस प्रकार के विषय में कथा के नायक का दैववश न्यामोहित हो जाना (उसके दोप का) परिहार नहीं है, क्योंकि प्राधान्यतः कथि की प्रवृत्ति का निवन्धन रसवन्ध में ही होना चाहिए। इतिवृत्त का वर्णन उसका उपाय ही है यह पहले कह चुके हैं 'आलोक चाहने वाला क्यक्ति जैसे दोपशिखा में यत्नवान होता है, इत्यादि द्वारा

और इसी लिए इतिवृत्त मात्र के वर्णन का प्राधान्य होने पर अङ्गाङ्गिभाव से रहित रसभाव के निवन्धन से कवियों के इस प्रकार के स्वलन होते हैं, इस प्रकार

लोचनम्

गृहतो विजयवर्मवृत्तान्तवर्णने । अपि-तावदितिशब्दाभ्यां दुर्योधनावेस्तद्वर्णनं दूरापास्तमिति वेणीसंहारे द्वितीयाङ्कमेवोदाहरणत्वेन ध्वनति । अतः एव वन्त्य-ति-दैवव्यामोहितत्विम' ति । पूर्रं तु सन्ध्यङ्गाभिप्रायेण प्रत्युदाहरणमुक्तम् । कथापुरुषस्येति प्रतिनायकस्येति यावत् ।

श्रत एव चेति । यतो रसबन्ध एव मुख्यः कविव्यापारविषयः इतिष्टत्तमात्र-वर्णनप्राधान्ये सति यदङ्गाङ्गभावरहितानामविचारितगुणप्रधानभावानां रसभा-

चतुर्थं अङ्क में—रत्नावली का नाम भी न लेते हुए का विजयवर्मा के वृत्तान्त के वर्णन में। (मूलग्रन्थ में 'अपि तावत्' इन) शब्दों से दुर्योधनादि का वह वर्णन छोड़ा जा चुका है, इसलिए वेणीसंहार में दूसरे अङ्क को ही उदाहरण रूप में घ्वनित करता है। अत्तएव कहेंगे—'दैववश व्यामोहित हो जाना'। किन्तु पहले सन्धि के अङ्क के अभिग्राय से प्रत्युदाहरण कहा गया है। कथा के नायक का अर्थात् प्रतिनायक का।

और इसी छिए-। अर्थात् क्योंकि रसवन्ध ही मुख्य कवि-व्यापार का विषय है. इतिवृत्त मात्र के वर्णन का प्राधान्य होने पर अङ्गाङ्गिभाव से रहित एवं अविचारित

तात्पर्यमेवेषां युक्तमिति यह्नोऽस्माभिरारच्यो न ध्वनिप्रतिपादनः मात्राभिनिवेशेन । पुनश्रायमन्यो रसमङ्गहेतुरवधारणीयो यत्परिपोषं गतस्यापि रसस्य पौनःपुन्येन दीपनम् । उपभ्रक्तो हि रसः स्वसामग्री-लब्धपरिपोषः पुनः पुनः परामृश्यमानः परिम्लानकुसुमकल्पः कल्पते । तथा वृत्तेव्यवहारस्य यदनौचित्यं तदिप रसमङ्गहेतुरेव । यथा नायकं प्रति नायिकायाः कस्याश्रिदुचितां भिष्नमन्तरेण स्वयं सम्मोगाभिलापकथने । यदि वा वृत्तीनां भरतप्रसिद्धानां कैशिक्यादीनां काव्यारसादि रूप व्यङ्ग्य का तार्प्यं ही इनका ठीक है, यह यत्न हमने आरम्म किया है न कि ध्वनि के प्रतिपादन मात्र के अभिनिवेश से । और यह फिर अन्य रसमङ्ग का हेतु अवधारण करना चाहिए जो परिपोष को प्राप्त भी रसका वार-वार उद्दीपन है। क्योंकि अपनी सामग्री से परिपोष-प्राप्त और उपयुक्त रस वार-वार परामर्श किए जाने पर परिम्लान पुरुप की मांति हो जाना है । तथा वृत्ति अर्थात् व्यवहार का जो अनी-वित्य है वह भी रसमङ्ग का हेतु ही है । जैसे नायक के प्रति किसी नायिका के द्वारा उचित मङ्गी के विना स्वयं सम्भोग की अभिलाषा कहने में । अथवा भरत की प्रसिद्ध केशिकी आदि वृत्तियों का अथवा 'काव्यालङ्कार' में प्रसिद्ध उपनागरिका आदि वृत्तियों का

लोचनम्

वानां निबन्धनं तिन्निमित्तांनि स्खलितानि सर्वे दोषा इत्यर्थः। न ध्वनिप्रतिणि दनमात्रेति। व्यङ्गचोऽर्थो भवतु मा वा भूत् कस्तत्राभिनिवेशः ? काकद्न्तपरी क्षाप्रायमेव तत्स्यादिति भावः। वृत्त्यनौचित्यमेव चेति बहुधा व्याच्छे, तद्णी त्यनेन चशव्दं कारिकागतं व्याच्छे। रसमङ्गहेतुरेव इत्यनेनैवकारस्यं कारिका गतस्य मिन्नक्रमत्वमुक्तम्। रसस्य विरोधायैवेत्यर्थः। नायकं प्रतीति। नायकं स्य हि धीरोदात्तादिभेद्भिन्नस्य सर्वथा वीररसानुवेधेन भवितव्यमिति तं गुणप्रधान-भाव वाले रस-भावों का जो निवन्धन है उसके कारण स्वलित अर्थात् सारे दोप होते हैं। न कि ध्वनि के प्रतिपादन मात्र—। व्यङ्गच अर्थं हो अथवा मत ही, उसमें कौन अभिनिवेश है ? माव यह कि वह कौवे के दांत की परीक्षा के समान ही होगा। वृत्त्यनौचित्य को भी बहुधा व्याख्यान करते हैं। 'वह भी' इससे कारिका में प्रयुक्त 'और' ('च') शब्द का व्याख्यान करते हैं। 'रसमङ्ग का हेतु ही हैं' इससे कारिका में प्रयुक्त 'ही' (अर्थात् एवकार) का भिन्नक्रमत्व कहा है। अर्थात् रस्के विरोध के लिए ही। नायक के प्रति—। घीरोदात्त आदि भेद से भिन्न नायक के सर्वेण वीररस का अनुवेध (संसर्ग) होना चाहिए, इसलिए उसके प्रति कातर पुरुषीचि अधेर्यं का योजन दोषयुक्त ही है। उनका अर्थात् रसादि का। उन्हें अर्थात् सुक्वियों को।

लङ्कारान्तरप्रसिद्धानाग्रुपनागरिकाद्यानां वा यदनौचित्यमविषये निवन्धनं तद्पि रसभङ्गहेतुः। एवमेषां रसविरोधिनामन्येषां चानया दिशास्त्रयग्रु-तप्रेक्षितानां परिहारे सत्कविभिरवहितैर्भवितव्यम् । परिकरस्रोकाश्रात्र—

मुख्या व्यापारविषयाः सुकवीनां रसाद्यः ।
तेषां निबन्धने भाव्ये तैः सदैवाप्रमादिभिः ॥
नीरसस्तु प्रबन्धो यः सोऽपशब्दो महान् कवेः ।
स तेनाकविरेव स्यादन्येनास्मृतलक्षणः ॥
पूर्वे विश्वङ्खलगिरः कवयः प्राप्तकीर्तयः ।
तान्समाश्रित्य न त्याज्या नीतिरेषा मनीषिणा ॥

जो अनौचित्य अर्थात् अविषय में निबन्धन है वह भी रसभङ्ग का हेतु है। इस प्रकार इनका और इस ढंग से स्वयं उच्छेचित रसिवरोधियों के परिहार में सस्कवियों को अवहित होना चाहिए। यहाँ परिकरश्लोक भी हैं—

सुकवियों के न्यापार के मुख्य विषय रसादि हैं, (इसिक्टिए) उन्हें उनके निवन्धन में सदैव अप्रमादी होना चाहिए।

जो प्रवन्ध नीरंस है वह कवि का महान् अपशब्द है। उस कारण वह अकवि ही रहे कि दूसरा उसे याद न करे।

प्राचीन किव स्वतन्त्र वाणी वाले और कीर्ति को प्राप्त हो चुके हैं, उनको आश्रयण करके मनोपी को यह नीति नहीं छोड़ देनी चाहिए।

लोचनम्

प्रति कातरपुरुघोचितमधैर्ययोजनं दुष्टमेव। तेषामिति रसादीनाम्। तैरिति सुकिविभिः। सोऽपशब्द इति दुर्यशः इत्यर्थः। ननु कालिदासः परिपोषं गतस्यापि करुणस्य रतिविलापेषु पौनःपुन्येन दीपनमकार्षीत्, तत्कोऽयं रसिवरोधिनां
परिहारनिर्वन्ध इत्याशङ्क्रयाह—पूर्वं इति। न हि वसिष्ठादिभिः कथि अधिवादि सम्वित्तार्थे स्मिति मार्गस्त्यक्तस्तद्वयमि तथा त्यजामः। अचिन्त्यहेतुकत्वादुपरिचरितानामिति भावः। इति शब्देन परिकरश्लोकसमाप्ति सूचयित॥ १६॥

वह अपशब्द अर्थात् दुर्यंश है। कालिदास ने परिपोष को प्राप्त भी करूण का रित के विलापों में बार-बार उद्दीपन किया है, तो रस के विरोधियों का यह कौन सा परिहार का निबंन्य (आग्रह) है? यह आशक्का करके कहते हैं—प्राचीन—। यदि किसी प्रकार विसष्ठ आदि ने स्मृतिमार्ग को छोड़ दिया तो हम उस प्रकार नहीं छोड़ हैं। ऊपर उठे महान् लोगों के सम्बन्ध में कारण नहीं सोचा जाता। 'इति' शब्द से परिकर खोक की समाप्ति सुचित करते हैं।। १९॥

रेद ध्व०

वाल्मीकिव्यासमुख्याश्च ये प्रख्याताः कत्रीश्चराः ।
तद्भिप्रायबाद्धोऽयं नास्माभिर्द्शितो नयः ॥ इति ॥ १६॥
विवक्षिते रसे लब्धप्रतिष्ठे तु विरोधिनाम् ।
बाध्यानामङ्गभावं वा प्राप्तानामुक्तिरच्छला॥ २०॥
स्वसामग्र्या लब्धपरिपोषे तु विवक्षिते रसे विरोधिनां विरोधिरसाङ्गानां बाध्यानामङ्गभावं वा प्राप्तानां सत्ताम्रक्तिरदोवा । बाध्यत्वं हि
विरोधिनां शक्यामिभवत्वे सति नान्यथा । तथा च तेषाम्रक्तिः प्रस्तुतरसपरिपोषायेव सम्पद्यते । अङ्गभावं प्राप्तानां च तेषां विरोधित्वमेव
निवर्तते । अङ्गभावप्राप्तिर्हिं तेषां स्वाभाविकी समारोपकृता वा । तव

येषां नैसिंगिकी तेषां ताबदुक्ताविरोध एव । यथा विप्रलम्भशृङ्गारे तद-और वास्मीकि, ज्यास प्रमुख जो प्रख्यात कवीश्वर हैं, उनके अभिप्राय से बाह्य नय (मार्ग) हमने नहीं दिखाया है । इति ॥ १९॥

विविचत रस के छडधप्रतिष्ठ हो जाने पर बाध्य अथवा अङ्गभाव को प्राप्त विरो-धियों का कथन छ्रछरिहतं है ॥ २० ॥

अपनी सामग्री से विविचत रस के परिपोष प्राप्त होने पर बाध्य अथना अङ्गात को प्राप्त विरोधियों अर्थात् विरोधी रसाङ्गों का कथन दोषरहित है। विरोधियों अ बाध्यस्व (उनका) अभिभव सम्भव होने पर हो सकता है अन्यथा नहीं। इसिंधर उनका कथन प्रस्तुत रस के परिपोष के लिए ही सम्पन्न होगा। और उनके अङ्गात प्राप्त होने पर (उनका) विरोधित्व ही निवृत्त हो जाता है। उनके अङ्गात की प्राप्ति स्वामाविक अथवा समारोपकृत होती है। उनमें से जिनकी (प्राप्ति) नैसिंक है उनके कथन में तो कोई विरोध ही नहीं। जैसे विप्रलम्भ श्रङ्गार में उसके अङ्गात

लोचनम्

एवं विरोधिनां परिहारे सामान्येनोक्ते प्रतिप्रसवं नियतविषयमाह्—िवि ज्ञित इति । वाध्यानामिति । बाध्यत्वाभिप्रायेणाङ्गत्वाभिप्रायेण वेत्वर्थः। श्रन्छला निर्देषित्यर्थः । बाध्यत्वाभिप्रायं व्याच्छे—बाध्यत्वं हीति । अङ्गभावाि

इस प्रकार विरोधियों के परिहार के सामान्यतः कहे जाने पर नियतिष्वक प्रतिप्रसव को कहते हैं—विविश्वत—। वाध्य—। अर्थात् बाध्यत्व के अभिप्राय है अथवा अञ्चल के अभिप्राय से। छलरिहत अर्थात् निर्दोष। वाध्यत्व के अभिप्राय की ज्यास्या करते हैं—वाध्यत्व—। अञ्चभाव के अभिप्राय की उभय प्रकार है व्यास्था करते हैं, उनमें से प्रथम स्वाभाविक प्रकार का निरूपण करते हैं

ङ्गानां व्याध्यादीनां तेषाश्च तदङ्गानामेत्रादोषो नातदङ्गानाम्। तदङ्गत्वे च सम्भवत्यिष मरणस्योपन्यासो न ज्यायान्। आश्रयविच्छेदे रसस्या-त्यन्तविच्छेदप्राप्तेः। करुणस्य तु तथात्रिधे विषये परिपोषो भविष्य-तीति चेत् न ; तस्याप्रस्तुतत्वात् प्रस्तुतस्य च विच्छेदात्। यत्र तु करुणरसस्यव काव्यार्थत्वं तत्रात्रिरोधः। शृङ्गारे वा मरणस्यादीर्घकाल-

ब्याधि आदि का, और उनके अङ्गों का ही दोष नहीं है, न कि जो उनके अङ्ग नहीं है उनका। और उनका अङ्ग सम्भव होने पर भी मरण का उपन्यास ठीक नहीं है, क्योंकि आश्रय के विच्छेद हो जाने पर रस का अत्यन्त विच्छेद प्राप्त हो जाता है। उस प्रकार के विषय में करुण का परिपोष तो होगा ? ऐसा नहीं; क्योंकि वह (करुण रस) प्रस्तुत नहीं है और (जो) प्रस्तुत है (उसका) विच्छेद हो जाता है। परन्तु जहां करुणरस का ही कान्यार्थस्व है वहां विरोध नहीं। अथवा श्रङ्गार में शोघ मिळन

लोचनम्

प्रायमुभयथा व्याचष्टे,तत्र प्रथमं स्वाभाविकप्रकारं निरूपयति –तदङ्गानामिति। निरपेक्षभावतया सापेक्षभावविप्रलम्भश्रक्षारविरोधिन्यपि करुणे ये व्याध्यादं-यस्तर्वथाङ्गत्वेन दृष्टाः तेषामिति । ते हि फरुएों भवन्त्येव त एव च भवन्ती-ति। शृङ्गारे तु भवन्त्येव नापि त एवेति। श्रतदङ्गानामिति। यथालस्यौप्रजु-गुप्सानामित्यर्थः । तदङ्गत्ये चेति । 'सर्व एव सृङ्गारे व्यभिचारिण इत्युक्तत्वादि' आश्रयस्य स्त्रीपुरुषान्यतरस्याधिष्ठानस्यापाये रतिरेबोच्छिबेत जीतित सर्वस्वाभिमान रूपत्वेनोमयाधिष्ठानत्वात् । प्रस्तुतस्येति । विप्रजन्मस्येत्यर्थः । काव्यार्थत्वमिति । प्रस्तुतत्विमत्यर्थः । नन्वेवं सर्व एव व्य-मिचारिण इति विघटितमित्याशङ्कथाह-शृङ्गारे वैति । अदीर्घकाले यत्र मरणे उनके अङ्गों का-। निरक्षेप भाव वाला होने के कारण सापेक्ष भाव वाले विप्रलम्भ मुङ्गार के विरोधी भी करुण में जो व्याधि आदि सर्वथा अङ्ग के रूप में देखे गए हैं उनका। वे करुण में होते हैं ही और वे ही करुण में होते हैं। श्रुङ्गार में होते हैं ही, किन्तु वेही नहीं होते । जो उनके अङ्ग नहीं हैं—। अर्थात् जैसे आलस्य, बौर्य, जुगुप्सा । और उनका अङ्ग होने पर-। भाव यह कि क्योंकि 'शृङ्गार में सभी प्यभिचारी हैं यह कहा गया है'। स्त्री-पुरुष के अन्यतर अधिष्ठान रूप आश्रय के नाश होने पर रित ही उच्छित्र हो जायगी, क्योंकि जीवितसर्वस्वाभिमान रूप होने के कारण वह जमयाधिष्ठान है। प्रस्तुत का—। अर्थात् विप्रलम्म का। काव्यार्थस्वे—। अर्थात् प्रस्तुतत्व । तब तो इस प्रकारं सभी व्यभिचारी हो जांयगे, इसलिए विघटन होगा, यह बाबक्का करके कहते हैं -अथवा श्रङ्गार में -। अदीर्घकाल में जिस मरण में प्रतीति की

प्रत्यापत्तिसम्भवे कदाचिदुपनिबन्धो नात्यन्तविरोधी। दीर्घकालः प्रत्यापत्तौ तु तस्यान्तरा प्रवाहविच्छेद एवेत्येवंविधेतिवृत्तोपनिकारं रसवन्धप्रधानेन कविना परिहर्तव्यम्।

सम्भव होने पर मरण का कदाचित् उपनिवन्ध अत्यन्त विरोधी नहीं। किन्तु के काल पर मिलन होने पर उस (रस) का बीच में प्रवाह-विच्छेद ही हो जायगा, का इस प्रकार के इतिवृत्त का उपनिवन्धन रसवन्धप्रधान कवि को छोड़ देना चाहिए।

लोचनम्

विश्रान्तिपदबन्ध एव नोत्पद्यते तत्रास्य व्यभिचारित्वम् । कदाचिदिति । क्रि

तीर्थे तोयव्यतिकरभवे जहुकन्यासरय्वो-र्देहन्यासादमरगणनालेख्यमासाद्य सद्यः। पूर्वाकाराधिकचतुरया सङ्गतः कान्तयासौ लीलागारेष्वरमत पुनर्नन्दनाभ्यन्तरेषु ॥

अत्र स्फुटैव रत्यङ्गता मरणस्य । अत एव सुकविना मरगो पद्बन्धमात्रेन कृतम्, अनुद्यमानत्वेनवोपनिबन्धनात् । पद्बन्धनिवशे तु सर्वथा शोकोत

एवातिपरिमितकालप्रत्यापत्तिलाभेऽपि ।

अथ दूरपरामर्शकसहृद्यसामाजिकाभित्रायेण मरणस्यादीर्घकालप्रत्याचे रङ्गतोच्यते, हन्त तापसवत्सराजेऽपि यौगन्धरायणादिनीतिमार्गाकर्णनसंस्क्षमतीनां वासवद्त्तामरणबुद्धेरेवाभावात्करुणस्य नामापि न स्यादित्यलम्बार्विवानित की प्रतिका ही जन्में जाएक को स्वार्वित्यलम्बार्विका

विश्रान्ति की प्रतिष्ठा ही नहीं उपपन्न होती वहाँ वह (मरण्) व्यभिचारी होगा कदाचित्—। यदि उस प्रकार की भङ्गी की घटना के लिए सुकवि का की होता है। जैसे—

'गङ्गा और सरयू के जल-सङ्गम से बने तीर्थ में शरीरत्याग करके सद्यः देवता में गणना प्राप्त कर, पूर्व आकृति से अधिक चतुर (अर्थात् सुभग) प्रियतमा के भी वह (अज) नन्दनवन के भीतरी लीलागारों में रमण करने लगा।' (रष्टु॰ दार्थ)

यहाँ स्पष्ट ही मरण रित का अब्ह है। अतएव सुकवि ने मरण में (प्रतीवि विश्वान्ति का) पदवन्य मात्र नहीं किया है, क्योंकि अनुद्यमान रूप से ही (स्वर्ष) उपनिवन्धन है। पदवन्य के निवेश में तो अतिपरिमित काल में प्रत्यापित सागम) लाभ होने पर भी सर्वथा शोक का उदय ही होता।

यदि अदीर्घकाल में समागम हो जाने के कारण मरण को अङ्ग दूर परार्क सामाजिक के अभिप्राय से कहते हैं, खेद है, (तव तो) 'तापसवत्सराज' हैं। यौगन्धरायण आदि के नीतिमार्ग के आकर्णन से संस्कृत बुद्धिवालों के वासवदत्ती मरण बुद्धि के ही न होने के कारण करण का नाम भी नहीं होगा। यह बहुत क्रवान

तत्र लब्धप्रतिष्ठे तु विविश्वते रसे विरोधिरसाङ्गानां वाध्यत्वेनोक्ता-बदोपो यथा—

क्काकार्यं शशलक्ष्मणः क च कुलं भ्र्योऽपि दृश्येत सा दोपाणां प्रश्नमाय मे श्रुतमहो कोपेऽपि कान्तं ग्रुखम् । कि वक्ष्यन्त्यपकल्मपाः कृतिधयः स्वप्नेऽपि सा दुर्लमा चेतः स्वास्थ्यग्रुपेहि कः खल्ल युवा धन्योऽधरं पास्यित ॥ यथा वा पुण्डरीकस्य महाधेतां प्रति प्रवृत्तनिर्भरानुरागस्य द्वितीय-ग्रुनिकुमारोपदेशवर्णने । स्वामाविक्यामङ्गभावप्राप्तावदोपो यथा—

उनमें से विवित्तत रस के लब्धमितिष्ठ होने पर बाध्यरूप से विरोधी रसाङ्गों के कथन में दोप का अभाव, जैसे----

यह अकार्य (अनुचित कार्य) कहां और चन्द्रवंश कहां ? फिर वह नजर आ जाती ! मैंने (शास्त्रों का) अवण दोपों (काम आदि विकारों) के शमन के लिए किया है, अहो; क्रोध में भी (उसका) मुख सुन्दर लगता था ! पापरहित विद्वान् क्या कहेंगे ? वह स्वप्न में भी दुर्लभ हो गई। अरे चित्त स्वस्थ हो जा, कौन धन्य युवक (उसका) अधरपान करेगा ?

अथवा जैसे महारवेता के प्रति पुण्डरीक के अधिक अनुरक्त हो जाने पर दूसरे मुनिकुमार (किपञ्जल) के उपदेश के वर्णन में । स्वामाविक अक्रमाव-प्राप्ति में दोप का अभाव, जैसे—

लोचनम्

रेण बहुना । तस्माद् दीर्घकालतात्र पदवन्धलाभ एवेति मन्तव्यम् । एवं नैस-र्गिकाङ्गता व्याख्याता । समारोपितत्वे तद्विपरीतेत्यर्थलब्धत्वात्स्वकण्ठेन न व्याख्याता ।

एवं प्रकारत्रयं व्याख्याय क्रमेणोदाहरति—तत्रेत्यादिना । काकार्यमिति । वितक्षे औत्सुक्येन मितः स्मृत्या राङ्का दैन्येन भृतिश्चित्वया च बाध्यते । एत- विविधित्योद्देशीतारम्भ एयोक्तमस्माभिः । द्वितीयेति । विपक्षीभूतवैराग्यविभा-

वर्षा व्ययं है। इसिलए यहाँ दीर्घकालता पदबन्ध के लाभ में ही (अर्थात् सह्दयों की प्रतीवित्रिश्रान्ति के पदबन्ध में ही) है यह मानना चाहिए। इस प्रकार नैसर्गिक अङ्गता का व्याख्यान किया। समारोपित अवस्था में उसके (नैसर्गिक) के विपरीत, यह अर्थ लब्ध हो जाने से स्वकष्ठतः ज्याख्यान नहीं किया है।

इस प्रकार प्रकारत्रय का व्याख्यान करके कम से उदाहरण देते हैं — उनमें से इत्यादि द्वारा। यह अकार्य कहाँ—। (यहां) वितर्क औत्सुक्य से, मित स्मृति से, शक्का देन्य से और धृति चिन्ता से बाधित होती है। इसे द्वितीय उद्योत के आरम्भ में

अमिमरितमलसहृदयतां प्रलयं मुच्छां तमः शरीरसादम्।

मरणं च जलदश्चजगजं प्रसद्ध कुरुते विषं वियोगिनीनाम्॥

इत्यादौ।समारोपितायामप्यविरोधो यथा—'पाण्डुक्षामम्'इलादौ
यथा वा—'कोपात्कोमललोलबाहुलतिकापाशेन' इत्यादौ। हां
चाङ्गभावप्राप्तिरन्या यदाधिकारिकत्वात्प्रधान एकस्मिन्वाक्याधै हाः
योभीवयोवी परस्परविरोधिनोर्द्वयोरङ्गभावगमनं तस्यामि न दोहा।

मेघरूपी मुजंग से उत्पन्न विष वियोगिनियों के चक्कर, अरति, आहरा, प्रति (चेष्टानांश), मुर्च्छा, मोह, शरीर में दर्द और मरण हठात उत्पन्न कर देता है। इत्यादि में । समारोपित (अङ्गभाव-प्राप्ति) में भी विरोध का अभाव, जैसे-

'पाण्डुचामं०' इत्यादि में।

अथवा जैसे—'कोपात् कोमळळोळबाहुळतिकापाशेन' इस्यादि में। और ए अन्य अङ्गमाव की प्राप्ति है कि आधिकारिक होने के कारण प्रधानभूत एक बाला में परस्पर विरोधी दो रसों अथवा मार्चों का अङ्गमाव प्राप्त होना, उसमें भी दोष हो।

लोचनम्

वाद्यवधारणेऽपि ह्यश्रम्यविच्छेद्द्वेन दाढर्श्यमेवानुरागस्योक्तं भवतीति भाषः। समारोपितायामिति । अङ्गभावप्राप्ताविति शेषः ।

> पाण्डुक्षामं वक्त्रं हृद्यं सरसं तवालसं च वपुः। आवेदयति नितान्तं चेत्रियरोगं सखि हृदन्तः॥

अत्र करुणोचितो व्याधिः स्रेषभङ्गंचा स्थापितः। कोपादिति बद्ध्वेति हत् त इति च रौद्रानुभावानां रूपकवलादारोपितानां तदनिर्वाहादेवाङ्गत्वम्। त्र पूर्वमेवोक्तं 'नातिनिर्वहणैषिता' इत्यत्रान्तरे। स्रन्येति। चतुर्थोऽयं प्रकार इत्य

ही हमने कह दिया है। दूसरे—। भाव यह कि विपक्षीभूत वैराग्य के विभाव औं का अवधारण होने पर भी विच्छेद के अशक्य होने के कारण अनुराग का दावर्ष है के होता है। समारोपित—। 'अङ्गप्राप्ति में' यह शेष है।

हे सबी,, तेरा पीला और झुलसा हुआ मुझ, सरस हृदय, आलस्य भरा ही हृदय के भीतर नितान्त क्षेत्रिय रोग (अर्थात् इस शरीर से भी साघ्य न होने बाते ही

को सुचित करते हैं।

यहाँ करण के उचित व्याधि श्लेष की मङ्गी से स्थापित है। 'कोप से', 'बीब ही खीर 'पीटा जाता है' रूपक के बल से आरोपित इन रौद्र के अनुभावों का कि 'ए स्पक के) निर्वाह न होने से ही अङ्गत्व है। और उसे पहले ही कह 'चुके हैं 'बर्ल निर्वाह करने की इच्छा 'नहीं' इसके बीच। अन्य —। अर्थात् यह चौथां प्रकारी

यथोकं 'क्षिप्तो हस्तावलयः' इत्यादौ । कथं तत्राविरोध इति चेत् , इयोरिप तयोरन्यपरत्वेन व्यवस्थानात् । अन्यपरत्वेऽिप विरोधिनोः कथं विरोधनिवृत्तिरिति चेत् , उच्यते—विधौ विरुद्धसमावेशस्य दुष्टत्वं नानुवादे ।

जैसे कहा है—'जिसो हस्तावलग्नः' इत्यादि में। वहां विरोध कैसे नहीं है यदि कहें ता (समाधान है कि) वे दानों अन्यपर रूप से (अर्थात् अङ्गरूप से) ज्यवस्थित होते हैं। यदि कहो कि अन्यपर होने पर भी दो विरोधियों के विरोध की निवृत्ति कैसे होगी, तो कहते हैं—विधि में (दो) विरोधियों के समावेश का दोप है, अनुवाद में नहीं।

लोचनम्

पूर्वं हि विरोधिनः प्रस्तुतरसान्तरेऽङ्गतोक्ता, अधुना तु द्वयोविरोधिनोर्वस्त्वन्त-रेऽङ्गभाव इति शेषः। सिप्त इति । व्याख्यातमेतत् 'प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे' इत्यत्र । नन्वन्यपरत्वेऽपि स्वभावो न निवर्तते, स्वभावकृत एव च विरोध इत्य-भिप्रायेणाह—अन्यपरत्वेऽपीति। विरोधिनोरिति । तत्स्वभावयोरिति हेतुत्वाभिप्रा-येण विशेषणम् । उच्यत इति । अयं भावः-सामग्रीविशेषपतितत्वेन भावानां विरोधाविरोधौ न स्वभावमात्रनिबन्धनौ शीतोष्णयोरिप विरोधासावात्। विधा-विति । तदेव कुरु मा कार्षीरिति यथा । विधिशब्देनात्रैकदा प्राधान्यमुच्यते । अत एवातिरात्रे घोडशिनं गृह्वन्ति न गृह्वन्तीति विरुद्धविधिर्विकल्पपर्यवसायी-ति चाक्यविदः। अनुवाद इति । अन्याङ्गतायामित्यर्थः। क्रीडाङ्गत्वेन ह्यत्र शेप यह कि विरोधी (रसाङ्ग) की प्रस्तुत रसान्तर में अङ्गता कही, अब दो विरोधी (रसाङ्गों) की (प्रस्तुत) वस्त्वन्तर में अङ्गमाव (कहते हैं)। 'चिप्तः'—। यह 'प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे' इस (कारिका) में व्याख्यात है। अन्यपर (अर्थात् अङ्ग रूप) होने पर भी स्वभाव निवृत्त नहीं होता, और विरोध स्वभावकृत ही होता है, इस अभिप्राय से कहते हैं —अन्यपर होने पर भी—। दो विरोधियों का—। उस (अर्थात् विरोध) के स्वभाव वाले' यह हेतुत्व के अभिप्राय से विशेषण है। कहते हैं—। भाव यह है—सामग्री-विशेष में अनुप्रवेश के कारण भावों के विरोध-अविरोध होते हैं, न कि स्वमावमात्र के कारण, क्योंकि (सामग्रीविशेष के अनुप्रवेश के कारण) शीत और जिला में भी विरोध नहीं होता। विधि में—। जैसे 'बही करो, मत करो'। 'विधि' शब्द से यहाँ एक समप प्राधान्य कहते कहा गया है। अतएव 'अतिरात्र में थोडशी (पात्र) को ग्रहण करते हैं, नहीं ग्रहण करते हैं यह विरुद्ध विधि विकल्प में पर्यवसन्न होती है यह मीमांसकों (वाक्यविदों) का कथन है। अनुवाद में--। अर्थात् अन्य की अज़ता में। यहाँ फ्रीड़ा (खिलवाड़) का अज़ रूप से अभिधान है, इस कारण 'राजा के

यथा-

एहि गच्छ पतोत्तिष्ठ वद मौनं समाचर । एवमाञाप्रहग्रस्तैः क्रीडन्ति धनिनोऽर्थिभिः ॥

इत्यादौ । अत्र हि विधित्रतिषेधयोरनुद्यमानत्वेन समावेशे न विरोधस्तथेहापि भविष्यति । श्लोके ह्यस्मिन्नीष्यीवित्रलम्भण्डनारकरुण-वस्तुनोर्न विधीयमानत्वम् । त्रिपुरिपुत्रभावातिद्ययस्य वाक्यार्थताः चदङ्गत्वेन च तयोर्व्यवस्थान।त् ।

न च रसेषु विध्यनुवादव्यवहारी नास्तीति शक्यं वक्तुम्, तेषं जैसे—आओ, जाओ, बैठो, उठो, बोलो, चुप हो जाओ, इस प्रकार धनी लेग

आज्ञा के प्रह से प्रस्त याचकों के साथ खिलवाड़ करते हैं।

इत्यादि में । यहां विधि और प्रतिषेध के अनुग्रमान रूप में समावेश करने पा विरोध (दोष) नहीं है, उस प्रकार यहां ('चिस्रो हस्तावलग्नः' इत्यादि में) भी होगा । इस रलोक में ईर्ष्याविप्रलग्भ और करूण विधीयमान नहीं हैं, क्योंकि त्रिपुति (शिव जी) का प्रभावातिशय वाक्यार्थ है और उसके अङ्ग के रूप से वे बेगें व्यवस्थित हैं।

नहीं कह सकते यह कि रसों में विधि-अनुवाद का ज्यवहार नहीं है, नगी

लोचनम्

विरुद्धानामश्रीनामभिधानमिति राजनिकटव्यवस्थिताततायिद्धयन्यायेन विरुद्धाः नामप्यन्यमुखप्रेक्षितापरतन्त्रीकृतानां श्रौतेन क्रमेण स्वात्मपरामशेंऽप्यविश्वायः ताम्, का कथा परस्परहृपचिन्तायां येन विरोधः स्यात् । केवलं विरुद्धवाः व्रुप्णाधिकरणस्थित्या यो वाक्यीय एषां पाश्चात्त्यः सम्बन्धः सम्भाव्यते व विघटताम्।

नतु प्रधानतया यद्वाच्यं तत्र विधिः । अप्रधानत्वेन तु वाच्येऽनुवादः । च रसस्य वाच्यत्वं त्वयेव सोढिमित्याशङ्कमानः परिहरित—न चेति । प्रधावाः निकट खड़े दो आततायी हैं इस न्याय के अनुसार् अन्यमुखंप्रेक्षिता से पत्व (वर्षात् उपसर्जनीकृत) हुए, सुने क्रम के अनुसार अपने परामशं में भी विश्ववि न प्राप्त करते हुए विश्वदों के भी परस्पर रूप की चिन्ता की कोई बात ही नहीं, जिले विरोध होगा। विश्व होने के कारण 'अरुणाधिकरण' न्याय के अनुसार जो वर्षः प्रतिपाद्य इनका सम्बन्ध सम्मावित होगा वह केवल विघटित होगा।

प्रधान रूप से जो वाच्य है वहाँ विधि है, अप्रधान रूप से वाच्य में अनुवार है और रस का बाच्यत्व तुमने ही सहन नहीं किया है, यह आशस्त्रा करते हुए विधि

वाक्यार्थत्वेनाभ्युपगमात् । वाक्यार्थस्य वाच्यस्य च यौ विघ्यनुवादौ
तौ तदाक्षिप्तानां रसानां केन वार्येते । यैर्वा साक्षात्काव्यार्थता रसादीनां
नाभ्युपगम्यते, तैस्तेषां तिनिमित्तता तावदवश्यमभ्युपगन्तव्या ।
तथाप्यत्र श्लोके न विरोधः । यस्मादनूद्यमानाङ्गनिमित्तोभयरसवस्तुसहकारिणो विधीयमानांशाद्भावविश्वेपप्रतीतिरुत्पद्यते ततश्च न
कश्चिद्विरोधः । दृश्यते हि विरुद्धोभयसहकारिणः कारणात्कार्यविश्वेषो-

उनको वाक्यार्थ रूप में माना जाता है। वाक्यार्थ और वाष्य के जो विधि-अनुवाद हैं उन्हें उसके (वाष्यार्थ) द्वारा आदिस रसों में कौन वारण कर सकता है ? अथवा जो रसादि को सादात कान्य का अर्थ नहीं मानते हैं उन्हें उन (रसादि) की तिक्षमित्तता (अर्थात् कान्य के अर्थ से व्यक्षयता) अवश्य माननी चाहिए। तथापि इस रहोक में विरोध नहीं है। क्योंकि अनुद्यमान अक्ष के निमित्त जो उभय रसवस्त वह सहकारी है जिसका ऐसे विधीयमान अंश से भावविशेष की प्रतीति उत्पन्न होती है, इस कारण कोई विरोध नहीं है। दो विरुद्ध हैं सहकारी जिसके ऐसे कारण से

लोचनम्

प्रधानत्वमात्रकृतौ विध्यनुवादौ, तौ च व्यङ्ग-यतायामपि भवत एवेति भावः। मुख्यतया च रस एव काव्यवाक्यार्थ इत्युक्तम् । तेनामुख्यतया यत्र सोऽर्थस्तः त्रानू ग्रमानत्वं रसस्यापि युक्तम्। यदि वानू ग्रमानिषमावादिसमाक्षिप्रत्वाद्रस-स्यानूद्यमानता तदाह—वान्यार्थस्येति । यदि वा मा भूदनूद्यमानतया विरुद्धयो रसयोः समावेशः, सहकारितया तु भिवष्यतीति सर्वथाविरुद्धयोर्युक्तियुक्तोऽङ्गा-क्रिभावो नात्र प्रयासः कश्चिदिति दर्शयति—यैर्वेति । तिचिमित्ततेति । काव्यार्थी विभावादिनिमित्तं येषां रसादीनां ते तथा तेषां भावस्तत्ता। अनुद्यमाना ये इस्तच्रेपादयो रसाङ्गभूता विभावादयस्तन्निमित्तं यदुभयं करुणविप्रलम्भात्मकं करते हैं---नहीं,--। भाव यह कि विधि और अनुवाद प्रधान-अप्रधानमात्रकृत हैं और वे व्यक्तघता में भी होते ही हैं। यह कहा जा चुका है कि मुख्य रूप से रस ही काव्य-वाक्य का अर्थ है। इसलिए जहाँ वह अर्थ अमुख्य रूप से है वहाँ रस का भी अनुसमा-नत्व ठीक है। अथवा अनूद्यमान विभाव आदि द्वारा समाक्षिप्त होने के कारण रस की अनुद्यमानता है, उसे कहते हैं-वाक्यार्थ-। अथवा यदि अनुद्यमान रूप से विरुद्ध रसों का समावेश मत हो, किन्तु सहकारी रूप से होगा ! इस प्रकार सर्वथा दो विषदी का अङ्गाङ्गिभाव युक्तियुक्त है, यहाँ कोई प्रयास नहीं, यह दिखाते हैं—अथवा जो—। तन्निमित्तता-। काव्यार्थ विभावादि निमित्त जिन रसादि का है उनका भाव। अनुद्यमान जो रसाङ्गभूत हस्तक्षेप आदि विभाव आदि तन्निमित्त जो उभय करणविप्रसः-

त्पत्तिः । विरुद्धफलोत्पादनहेतुत्वं हि युगपदेकस्य कारणस्य निरुद्धं न तु विरुद्धोभयसहकारित्वम् । एवंविधविरुद्धपदार्थिविषयः कथमिनियः कार्यविशेष की उत्पत्ति देखी जाती है। एक साथ एक कारण का विरुद्ध फल के उत्पादन का हेतुत्व विरुद्ध है, न कि दो विरोधियों का सहकारी होना (विरुद्ध है।) यदि कहो कि इस प्रकार के विरुद्ध पदार्थों के विषय का अभिनय कैसे प्रयोग किय

लोचनम्

रसवस्तु रससजातीयं तत्सहकारि यस्य विधीयमानस्य शाम्भवश्रवहिजितिः दुरितदाहलक्षणस्य तस्माद्भावविशेषे प्रयोलङ्कारिविषये भगवत्प्रभावातिशयलक्ष्णे प्रतीतिरिति सङ्गतिः । विरुद्धं यदुभयं वारितेजोगतं शीतोष्णं तत्सहकारि यस्य तण्डुलादेः कारणस्य तस्मात्कार्यविशेषस्य कोमलभक्तकरणलक्षणस्योत्पिक् देश्यते । सर्वत्र हीत्थमेव कार्यकारणभावो बीजाङ्करादौ नान्यथा ।

ननु विरोधस्ति सर्वत्राकि ख्रित्करः स्यादित्याराङ्कश्चाह्—विरुद्धफलेति । तथा चाहुः—'नोपादानं विरुद्धस्य' इति । नन्वभिनेयार्थे काव्ये यदीदृशं वाक्यं भवेत्तदा यदि समस्ताभिनयः क्रियते तदा विरुद्धार्थविषयः कथं युगपदिभिनयः कर्तुं शक्य इत्यारायेनाराङ्कमान आह—एविमिति। एतत्परिहरति—श्रनूधमानेति। अनुधमानमेवंविधं विरुद्धाकारं वाच्यं यत्र तादृशो यो विषयः 'एहि गच्छ पतो तिष्ठ' इत्यादिस्तत्र या वार्ता सात्रापीति।

एतदुक्तं भवति—'क्षिप्तो हस्तावलग्न' इत्यादी प्राधान्येन भीतविष्तुताहि

म्भात्मक रसवस्तु अर्थात् रसजातीयं वस्तु वह सहकारी है जिनका ऐसे शिवजी के बाप-विद्ध से उत्पन्न दुरितों का दाह रूप विधीयमान (अंश) से भावविशेष अर्थात् भगवत्प्रभावातिशय रूप प्रेयोऽलङ्कार के विषय में प्रतीति है यह सङ्गति है। विरुद्ध को उभय जल और तेजगत शीत-उष्ण वह सहकारी है जिस तण्डुल आदि कारण का उससे कोमल भक्त का निर्माण रूप कार्यविशेष की उत्पत्ति देखी जाती है। सब जगह इस प्रकार का ही कार्यकारण भाव है, बीज-अङ्कर आदि में अन्यथा नहीं है।

तव तो विरोध सभी जगह कुछ नहीं कर सकेगा ! यह आशस्त्रा करके कहते हैं—
विरुद्ध फळ—। जैसा कि कहा है— 'विरुद्ध के उपादान (? उत्पादन) नहीं'। अभिने
यार्थ काव्य में यदि इस तरह का वाक्य हो तब यदि समस्त अभिनय किया जाय तक
विरुद्ध अर्थों के सम्बन्ध का अभिनय कैसे किया जा सकता है ? इस आशय से आश्रद्धा
करते हुए कहते हैं—इस प्रकार—। इसका परिहार करते हैं—अनुद्यमान—। अर्थमान इस प्रकार का अर्थात् विरुद्ध आकार का वाच्य जहाँ है उस प्रकार का जो विषय
'आओ, जाओ, बैठो, उठो' इत्यादि है वहाँ जो बात होगी वह यहाँ भी।

वात यह कही गई—'क्षिप्तो हस्तावलप्तः' इत्यादि में प्राधान्यतः भीत, विश्वत

प्रयोक्तव्य इति चेत्, अनुद्यमानैवंविधवाच्यविषये या वार्ता सात्रापि भविष्यति । एवं विष्यनुवादनयाश्रयेणात्र श्लोके परिद्वतस्तावद्विरोधः ।

कि च नायकस्याभिनन्दनीयोदयस्य कस्यचित्प्रभावातिश्चय-वर्णने तत्प्रतिपक्षाणां यः करुणो रसः स परीक्षकाणां न वैक्कव्यमाद-जा सकता है तो (उत्तर है कि) अनुचमान इस प्रकार के वाच्य के सम्बन्ध में जो बात है वह यहां भी होगी। इस प्रकार विधि और अनुवाद की नीति का आश्चय लेकर इस रलोक में विरोध का परिहार किया गया।

और भी, अभिनन्दनीय उदय वाले किसी नायक के प्रभावातिशय के वर्णन में उसके प्रतिपत्तों (विरोधियों) का जो करुण रस है वह परीत्तक छोगों को न्याकुछ

लोचनम्

दृष्ट्यपपादनक्रमेण प्राकरणिकस्तावदर्थः प्रदर्शयितव्यः । यद्यप्यत्र करुणोऽपि पराङ्गमेव तथापि विप्रलम्भापेक्षया तस्य ताविष्ठकटं प्राकरणिकत्वं महेन्यर-प्रभावं प्रति सोपयोगत्वात् । विप्रलम्भस्य तु कामीवेत्युःश्रेक्षोपमाबलेनायातस्य दूरत्वात् । एवं च सास्रनेत्रोतपलाभिरत्यन्तं प्राधान्येन करुणोपयोगाभिनय-क्रमेण लेशतस्तु विप्रलम्भस्य करुणेन सादृश्यात्सूचनां कृत्वा । कामीवेत्यत्र यद्यपि प्रणयकोपोचितोऽभिनयः कृतस्तथापिततः प्रतीयमानोऽप्यसौ विप्रलम्भः समनन्तराभिनीयमाने स दहतु दुरितमित्यादौ साटोपाभिनयसम्पितो यो भगवत्प्रभावस्तत्राङ्गतायां पर्यवस्यतीति न कश्चिद्विरोधः । एतं विरोध-

परिहारमपसंहरति-एवमिति।

तिषयान्तरे तु 'प्रकारान्तरेण विरोधपरिहारमाह—किञ्चिति । परिक्षकाणामिति सामाजिकानां विवेकशालिनाम् । न वैक्लव्यमिति । न ताहरो विषये
आदि दृष्टियों को उपपन्न करने के क्रम से प्राकरणिक अर्थ का प्रदर्शनं (अभिनय) करना
चाहिए । यद्यपि यहाँ करुण भी पराङ्ग ही है तथापि विप्रलम्भ की अपेक्षा उसका
प्राकरणिकत्व निकट है, क्योंकि वह महेरवर (शिव जी) के प्रभाव के प्रति उपयोगी
है। किन्तु 'कामी की मौति' इस उत्प्रेक्षा या उपमा के बल से प्राप्त विप्रलम्भ दूर
पड़ जाता है। और इस प्रकार 'औसू-भरे नेत्र कमलों वाली' इस अत्यन्त प्राधान्यत
करुण के उपयोग के अभिनय के क्रम से लेशतः विप्रलम्भ की करुण के सादृश्य से सूचना
करके (अभिनय है)। 'कामी की मौति' यहाँ पर यद्यपि प्रणयकोप के उचित अभिनय
किया गया है तथापि उससे प्रतीयमान भी वह विप्रलम्भ तुरंत बाद में अभिनीयमान
'वह दुरित को दहन करें' इत्यदि में सारोप अभिनय से समर्पित जो भगवान का
प्रभाव है उसकी अञ्जता में पर्यवसन्न हो जाता है, इस प्रकार कोई विरोध नहीं। इस
विरोध के परिहार का उपसंहार करते हैं—इस प्रकार—।

किन्तु विषयान्तर में प्रकारान्तर से विरोध का परिहार करते हैं—और भी—। परीचक अर्थात् विवेकशाली सामाजिक। व्याकुल नहीं—। उस प्रकार के विषय में

धाति प्रत्युत प्रीत्यतिशयनिमित्ततां प्रतिपद्यत इत्यतस्तस्य कुण्ठशक्ति-कत्वात्तद्विरोधविधायिनो न कश्चिद्दोषः । तस्माद्वाक्यार्थीभूतस्य रसस्य भावस्य वा विरोधी रसिवरोधीति वक्तुं न्याय्यः, न त्वङ्ग-भूतस्य कस्यचित् ।

नहीं करता, बिंक अतिशय प्रीति का निमित्त बन जाता है, इस कारण उस (बीर रस के आस्वादातिशय का) विरोध करने वाला उस (करण) के इण्ठशक्ति हो जाने के कारण कोई दोप नहीं। इसलिए वाक्यार्थीभूत (अर्थात् प्रधानभूत) तर अथवा भाव के विरोधी को 'रस का विरोधी' कहना ठीक है, किन्तु अक्रभूत किसी (रस अथवा भाव के विरोधी) को 'रस का विरोधी' कहना ठीक नहीं।

लोचनम्

वित्तद्रुतिरूत्पद्यते करुणास्वादिवश्रान्त्यभावात् , किन्तु वीरस्य योऽसी क्रोधो व्यभित्तारितां प्रतिपद्यते तत्फलरूपोऽसी करुणरसः स्वकारणाभिव्यञ्जनद्वारेण वीरास्वादातिशय एव पर्यवस्यति । यथोक्तम्—'रौद्रस्य चैव यत्कर्म स क्षेयः करुणो रसः' इति । तदाह—प्रीत्यतिशयेति । अत्रोदाहरणम्—

कुरवक कुचाघातकीहासुखेन वियुज्यसे बकुलविटपिन् स्मर्तव्यं ते मुखासवसेचनम् । चरणघटनाशून्यो यास्यस्यशोक सशोकता-मिति निजपुरत्यागे यस्य द्विषां जगदुः स्त्रियः॥

भावस्य वैति । तस्मिन् रसे स्थायिनः प्रधानभूतस्य व्यमिचारिणो बा यथा विप्रलम्भश्वङ्गार औत्सुक्यस्य ।

चित्तद्रुति उत्पन्न नहीं होती, क्योंकि करुण के आस्वाद की विधान्ति नहीं। किन्तु वीर का जो वह क्रोध व्यभिचारी बन रहा है उसका फलरूप वह करुणरस अपने कारणों के अभिव्यन्नन के द्वारा वीर के अतिशय आस्वाद में ही पर्यवसित होता है। जैसे, कहा है—रौद्र का जो ही कमें है उसे करुण रस समझना चाहिए। उसे कहते हैं—-अतिशय अति—। यहाँ उदाहरण है—

है कुष्वक, तुम कुचाघात की कीड़ाओं के सुख से वियुक्त हो रहे हो, हे वकुलबूध, मुखासव द्वारा सेवन याद रखना, हे अओक, चरणाघात से रहित होकर तुम सबोक ही जाओगे, इस प्रकार जिसके शत्रुओं की पिलयाँ अपने नगर के त्याग के अवसर पर कहने लगीं।

अथवा भाव का—। उस रस में स्थायी अर्थात् प्रधानमूत का अथवा व्यभिवारी का, जैसे विप्रलम्भ श्रुङ्कार में औत्सुक्य का।

अथवा वाक्यार्थीभूतस्यापि कस्यचित्करुणरसविषयस्य ताद्दशेन शृङ्गारवस्तुना भिङ्गविशेषाश्रयेण संयोजनं रसपरिपोषायेव जायते। यतः प्रकृतिमधुराः पदार्थाः श्रोचनीयतां प्राप्ताः प्रागवस्थाभाविभिः संस्मर्यमाणैर्विलासरिथिकतरं श्रोकावेशस्रपजनयन्ति। यथा—

अयं स रशनोत्कर्पी पीनस्तनविमर्दनः। नाम्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्नंसनः करः॥

अथवा वाक्यार्थीमृत भी किसी कहण रस के विषय का उस प्रकार के श्रङ्कार वस्तु के साथ भिद्गिविशेष का आधार लेकर संयोजन रस के परिपोष के लिए ही होता है। क्योंकि प्रकृतिमधुर पदार्थ शोचनीयता प्राप्त होकर पूर्व अवस्था में होने वाले, स्मरण किए जाते हुए विलासों के कारण अधिकतर शोकावेश उत्पन्न करते हैं। जैसे—

रशना को ऊपर खींचने वाला, पीन स्तनों का विमर्दन करने वाला, नामि, ऊर, जघन का स्पर्श करने वाला, नीवी को ढीली करने वाला वह यह हाथ है।

लोचनम्

अधुना पूर्वस्मिन्नेव स्होके क्षिप्त इत्यादी प्रकारान्तरेण विरोधं परिहरति—
त्रथवैति । अयं चात्र भावः—पूर्व विप्रलम्भकरुणयोरन्यत्राङ्गभावगमनानिर्विरोधत्वमुक्तम् । अधुना तु स विप्रलम्भः करुणस्यैवाङ्गतां प्रतिपन्नः कथं विरोधीति व्यवस्थाप्यते—तथा हि करुणो रसो नामेष्टजनविनिपातादेविभावादित्युक्तम् । इष्टता च नाम रमणीयतामूला । ततश्च कामीवार्द्रापराध इत्युत्प्रेक्षयेदमुक्तम् । शांभवशायहिचेष्टितावलोकने प्राक्तनप्रणयकलहृन्तान्तः स्मर्यमाण
इदानीं विध्वस्ततया शोक्रविभावतां प्रतिपद्यते । तदाह्—मिन्निविशेषिति । अप्राम्यतया विभावानुभावादिकप्रताप्रापणया प्राम्योक्तिरहितयेत्यर्थः । अत्रैव
दृष्टान्तमाह्—यथा अयमिति । अत्र भूरिश्रवसः समर्भुवि निपतितं बाहुं दृष्ट्वा

अव 'क्षिप्तः' इत्यादि पूर्व क्लोक में ही प्रकारान्तर से विरोध का परिहार करते हैं—अथवा—। यहाँ यह भाव है—पहले विप्रलम्भ और करण का अन्यत्र (शिवजी के अतिशय प्रभाव में) अङ्गत्व प्राप्त होने से विरोध का अभाव कहा गया। अब वह विप्रलम्भ करण का ही अङ्गत्व प्राप्त करके कैसे विरोधी होगा? यह व्यवस्थापन करते हैं—जैसा कि करण रस इष्ट जन के विनिपात आदि विभाव आदि से होता है यह कह चूके हैं। रमणीयता इष्ट्रता के मूल में होती है। और उस कारण 'आर्द्रापराम कामी की भौति' यह उत्प्रेक्षा से कहा है। शिव जी के शराप्ति के कार्य के अवलोकन से स्मयंमाण प्राक्तन प्रणयकलह का वृत्तान्त अब विष्वस्त होने के कारण शोक का विभाव वन गया है। उसे कहते हैं—मिन्नविशेप—। अर्थात विभाव, अनुभाव आदि रूपता को प्राप्त कराने वाली ग्राम्योक्तिरहित अग्राम्यसा से। यहीं दृष्टान्त कहते हैं—जैसे—। भूरिश्रवा के युद्धेत्र में गिरे बाहु को देख कर उसकी पित्रयों का यह अनुशोचन है।

इत्यादौ । तदत्र त्रिपुरयुवतीनां शाम्भवः श्रराशिराद्वीपराधः कामी यथा व्यवहरति स्म तथा व्यवहत्वानित्यनेनापि प्रकारेणास्त्येव निर्विरोधत्वम् । तस्माद्यथा यथा निरूप्यते तथा तथात्र दोषामावः । इत्थं च—

क्रामन्त्यः क्षतकोमलाङ्गुलिगलद्रक्तैः सदर्भाः स्थलीः पादैः पातितयावकैरिव पतद्धाष्पाम्बुधौताननाः । भीता भर्तृकरावलम्बितकरास्त्वद्वैरिनाथोऽघुना दावाप्ति परितो भ्रमन्ति पुनरप्युद्यद्विवाहा इव ॥

इत्यादि में । इसिछए यहां शिवजी के शराग्नि ने आर्द्रापराध काम जिस प्रकार क्यवहार करता है उस प्रकार व्यवहार किया, इस प्रकार से भी निर्विरोधाव है ही। इसिछए जैसे-जैसे निरूपण होगा वैसे-वैसे यहां दोप का अभाव होगा। और इस प्रकार—

कोमल उंगलियों के चत हो जाने से रक्त टपकाते, मानों यावक (आलता) रस को गिराते, पैरों से कुनों वाली स्थलियों को पार करती, गिरते हुए वाष्पजल से धुले मुखों वाली, डरी हुई, पित के हाथ में हाथ पकड़ाए, तुम्हारे शत्रु की स्त्रियां इस समय वनाग्नि के चारों ओर अमण करती हैं, मानों उनका विवाह पुनः होने लगा हो।

लोचनम्

तत्कान्तानामेतदनुशोचनम् । रशनां मेखलां सम्भोगावसरेषूर्धं कषेतीति रशनोत्कर्षा । अमुना विरोधोद्धरणप्रकारेण बहुतरं लद्दयमुपपादितं भवतीत्वभिः प्रायेणाह—इत्थं चेति । होमाप्रिधूमकृतं बाष्पाम्बु यदि वा बन्धुगृहत्यागः दुःखोद्भवम् । भयं कुमारीजनोचितः साध्वसः । एविमयताङ्गभावं प्राप्तानामुक्तिः रच्छलेति कारिकामागोपयोगि निरूपितमित्युपसंहरति—एविमिति । तावद्पर्रः योन वक्तव्यान्तरमध्यस्तीति सुचयति ॥ २०॥

रशना अर्थात् मेसला को सम्मोग के अवसरों में ऊध्वं कर्षण करता है अतः रशनोत्कर्षी है। विरोध के उद्धरण के इस प्रकार से बहुत से लच्य उपपादित हो जायेंगे, इस अभिप्राय से कहते हैं—और इस प्रकार—। होमाप्ति के ध्रुयें से उत्पन्न बाष्पजल, अयबा बन्धुजनों के और गृह के त्याग के दुःख से उत्पन्न। भय अर्थात् कुमारीजन के उतित साष्ट्रसा। इस प्रकार इतने से 'अङ्गभाव को प्राप्त (विरोधियों) का कथन छलरिहा (अर्थात् निर्दोष) है इस कारिका भाग के उपयोगी निरूपण किया, इसलिए उपसंहरि करते हैं—इस प्रकार—। 'तब तक' ('तावत्') ग्रहण से यह सुचित करते हैं कि और भी वक्तव्य है।। २०।।

इत्येवमादीनां सर्वेषामेव निर्विरोधत्वमवगन्तव्यम् । एवं तावद्रसादीनां विरोधिरसादिभिः समावेश्वासमावेश्वयोविषय-विभागो दर्शितः ॥ २० ॥

इदानीं तेषामेकप्रचन्धविनिवेशने न्याय्योयः क्रमस्तं प्रतिपाद्यितु-ग्रुच्यते—

प्रसिद्धेऽपि प्रवन्धानां नानारसनिवन्धने। एको रसोऽङ्गोकर्तव्यस्तेषामुत्कर्षमिच्छता॥ २१॥

प्रवन्धेषु महाकाव्यादिषु नाटकादिषु वा विप्रकीर्णतयाङ्गाङ्गिभावेन बहवो रसा उपनिबध्यन्त इत्यत्र प्रसिद्धौ सत्यामपि यः प्रबन्धानां

इत्यादि प्रकार के सभी का निर्विरोधत्व समझना चाहिए।

इस प्रकार तत्र तक रसादि का विरोधी रसादि के साथ समावेश और असमावेश में विषय-विभाग दिखाया गया ॥ २० ॥

अब उन्हें एक प्रवन्ध में रखने में, जो उचित क्रम है उसे प्रतिपादन के छिए कहते हैं—

प्रवन्धों में नाना रसों के निवन्धन के प्रसिद्ध होने पर भी उनका उस्कर्ष चाहने वाला (कवि) एक रस को अङ्गीकार करे॥ २१॥

महाकान्य आदि अथवा नाटक आदि प्रबन्धों में विप्रकीर्ण रूप में अङ्गाङ्गिमाव से बहुत रस उपनिवद्ध होते हैं, इसकी प्रसिद्धि होने पर भी जो (किव) प्रवन्धों में

लोचनम्

तदेवावतारयति—इदानीमित्यादिना । तेषां रसानां क्रम इति योजना । प्रसिद्धे ऽपीति । भरतमुनिप्रभृतिभिर्निरूपितेऽपीत्यर्थः । तेषामिति प्रवन्धानाम् । महाकाव्यादिग्वित्यादिशवदः प्रकारे । अनभिनेयान्भेदानाहः, द्वितीयस्त्वभिनेयान्। विप्रकीर्णतयेति । नायकप्रतिनायकपताकाप्रकरीनायकादिनिष्ठतयेत्यर्थः ।

उसे ही उतारते हैं—'अब' इत्यादि द्वारा। 'उन रसों का क्रम' यह (वाक्य की) बोजना है। प्रसिद्ध होने पर भी—। अर्थात् भरत मुनि प्रभृति द्वारा निरूपित होने पर भी। उनका अर्थात् प्रबन्धों का। 'महाकाब्य आदि' में 'आदि' पद 'प्रकार' अर्थ में है। (वह प्रकारार्थंक 'आदि' चाब्द) अनिभनेय भेदों को कहता है, परन्तु दूसरा ('आदि' चाब्द) अभिनेय (भेदों को कहता है)। विश्वकीर्ण रूप में—। अर्थात् नायकित ह, प्रतिनायकित ह, प्रताकानायकित ह, प्रकरीनायकित आदि रूप में। अङ्गाङ्गिभाव से

छायातिश्चययोगमिच्छति तेन तेषां रसानामन्यतमः कश्चिद्विनक्षितो स्सोऽङ्गित्वेन विनिवेशयितव्य इत्ययं युक्ततरो मार्गः ॥ २१॥

ननु रसान्तरेषु वहुषु प्राप्तपरियोषेषु सत्सु कथमेकस्याङ्गिता न विरुध्यत इत्याशङ्कचेदमुच्यते—

रसान्तरसमावेशः प्रस्तुतस्य रसस्य यः।

नोपहन्त्यिक्षितां सोऽस्य स्थायित्वेनाव भासिनः ॥ २२॥ द्वायातिशय का योग चाहता है उसे उन रसों में से किसी एक विविश्वत रस के अक्की रूप से रखना चाहिए, यह मार्ग युक्ततर है ॥ २१॥

(शंका) बहुत से रसान्तरों के परिपोप प्राप्त होने पर कैसे एक का अङ्गी होना

विरुद्ध नहीं होगा ? यह आंशङ्का करके यह कहते हैं--

रसान्तरों के साथ जो प्रस्तुत रस का समावेश है वह स्थायी रूप से प्रतीत होने वाले इस (प्रधान रस) के अङ्गिख को उपहत नहीं करता ॥ २२ ॥

लोचनम्

अङ्गाङ्गिभावेनेत्येकनायकनिष्ठत्वेन । युक्ततर इति । यद्यपि समवकारादौ पर्यक् बन्धादौ च नैकस्याङ्गित्वं तथापि नायुक्तता तस्याप्येवंविधो यः प्रवन्धः तद्यग

नाटकं महाकाव्यं वा तदुत्कृष्टतरिमति तरशब्दस्यार्थः ॥ २१ ॥

निन्नित । स्वयं लब्धपरिपोषत्वे कथमङ्गत्वम् ? अलब्धपरिपोषत्वे वा कर्यं रसत्विमिति रसत्वमङ्गत्वं चान्योन्यविरुद्धं तेषां चाङ्गत्वायोगे कथमेकस्याङ्गतः मुक्तमिति भावः । रसान्तरेति । प्रस्तुतस्य समस्तेतिवृत्तव्यापिनस्तत एवं विततव्याप्तिकत्वेनाङ्गिभावोचितस्य रसस्य रसान्तरेरितिवृत्तवशायातत्वेन परिमतकथाशकलव्यापिभिर्यः समावेशः समुपबृंहणं स तस्य स्थायित्वेनिः अर्थात् एकनायकिष्ठ रूप से । युक्ततर—। यद्यपि समवकार आदि में और पर्यावक्त आदि में और पर्यावक्त आदि में एक अङ्गी नहीं होता, तथापि उसकी भी अयुक्तता नहीं है, इस प्रकार का के प्रवन्ध वह जैसे नाटक अथवा महाकाव्य है वह उत्कृष्टतर है, यह 'तर' शब्द के अर्थ है ॥ २१॥

(शक्का)—। स्वयं परिपोष प्राप्त कर लेने पर अङ्गरव कैसे होगा ? अवता परिपोप प्राप्त न होने पर रसत्व कैसे होगा, इस प्रकार रसत्व और अङ्गरव दोवें परस्पर विरुद्ध हैं और उनके अङ्गरव के न होने पर कैसे एक का अङ्गरव कहा गया यह माव है। रसान्तर—। अर्थात् प्रस्तुत अर्थात् समस्त इतिवृत्त में व्याप्त रहते बाले इसी लिए व्याप्ति के विस्तृत होने से अङ्गिरव के उचित रस का, इतिवृत्तवध्य प्राप्त होने के कारण परिमित कथाखण्डों में व्याप्त रहने वाले रसान्तरों के साथ जो समाविष् अर्थात् समुपबृंहण है वह स्थायी रूप से अर्थात् इतिवृत्त में व्यापक के रूप से आर्थि

प्रथन्धेषु प्रथमतरं प्रस्तुतः सन् पुनः पुनरजुप्तन्धीयमानत्वेन स्थायी यो रसस्तस्य सकलवन्धव्यापिनो रसान्तररन्तरालवर्तिभिः समावेशो यः स नाङ्गिताभ्रपहन्ति ।

एतदेवोपपादियतुमुच्यते-

CONTRACT OF STREET

कार्यमेकं यथा व्यापि प्रबन्धस्य विधीयते।
तथा रसस्यापि विधी विरोधी नैव विद्यते॥ २३॥

प्रवन्धों में पहले प्रस्तुत होता हुआ, बार-बार अनुसन्धीयमान होने के कारण स्थायी जो रस है, सकल रचना में ज्यास रहने वाले उसके मध्यवर्ता रसान्तरों के साथ जो न्यमावेश है वह अङ्गरिव को उपहत नहीं करता।

इसे ही उपपादन करने के लिए कहते हैं-

जिस प्रकार प्रवन्ध का एक न्यापक कार्य बनाया जाता है उस प्रकार रस के भी विधान में कोई विरोध नहीं है॥ २३॥

लोचनम्

वृत्तन्यापितया भासमानस्य नाङ्गितामुपहन्ति, अङ्गितां पोधयत्येदेत्यर्थः।

एतदुक्तं भगति —अङ्गभूतान्यपि रसान्तराणि स्वविभावादिसामप्रचा स्वान्स्थायां यद्यपि लव्यपरिपोषाणि चमत्कारगोचरतां प्रतिपद्यन्ते, तथापि स चमत्कारस्तावत्येव न परितुत्र्य विश्राम्यति किं तु चमत्कारान्तरमनुधावित । सर्वत्रैय हाङ्गाङ्गभावेऽयमेयोदन्तः। यथाह तत्रभवान् —

गुणः कृतात्मसंस्कारः प्रधानं प्रतिपद्यते । प्रधानस्योपकारे हि तथा भूयसि वर्तते ॥ इति ॥ २२ ॥

उपपादयित्तमिति । दृष्टान्तस्य समुचितस्य निरूपणेनेति भावः। न्यायेन

होनेवाले उस (रस) अङ्गित्व को उपहत (विघात) नहीं करता, बर्लिक अङ्गित्य को प्रष्ट ही करता है ।

वात यह कही गई—अङ्गभूत भी रसान्तर अपने विभावादि की सामग्री से अपनी अवस्था में यद्यपि परिपोध प्राप्त करके चमत्कारागिचर बन जाते हैं तथापि वह चगत्कार उतने ही तक परितृष्ट होकर विश्राम कर लेता किन्तु अन्य चमत्कार का अनुधावन करता है। क्योंकि सभी अङ्गाङ्गिभाव में यही वृत्तान्त है। जैसा कि कहते हैं—

गुण (अर्थात् अङ्गुमूत) अन्य के अपने संस्कार किये जाने पर प्रधान का अधिका-

षिक उपकार करता है।। २२।। उपपादन करने के छिए—। भाव यह कि समुचित दृष्टान्त के निरूपण के द्वारा २७ ध्व०

सन्ध्यादिमयस्य प्रबन्धशरीरस्य यथा कार्यमेकमनुयायि व्यापकं कल्प्यते न च तत्कार्यान्तरैर्न सङ्कीर्यते, न च तैः सङ्कीर्यमाणस्यापि तस्य प्राधान्यमपचीयते, तथैव रसस्याप्येकस्य सन्निवेशे क्रियमाणे

सन्धि आदि से युक्त प्रवन्ध-शरीर का एक अनुयायी व्यापक कार्य किएत करते हैं, ऐसा नहीं कि वह अन्य कार्यों से संकीर्ण नहीं होता और न कि उनसे संकीर्ण होकर भी उसके प्राधान्य का अपचय होता है, उसी प्रकार एक रस के भी सिब्रवेश

लोचनम्

चैतदेवोपपद्यते, कार्यं हि ताबदेकमेवाधिकारिकं व्यापकं प्रासिक्षककार्यान्तरोपक्रियमाणमवरयमङ्गीकार्यम्। तत्प्रष्ठवर्तिनीनां नायकचित्तवृत्तीनां तद्वलादेवाङ्गाङ्गभावः प्रवाहापतित इति किमत्रापूर्वमिति तात्पर्यम्। तथिति। व्यापितया। बिः
वा एवकारो भिन्नक्रमः, तथैव तेनैव प्रकारेण कार्योङ्गाङ्गिभावरूपेण रसानामि
बलादेवासावापततीत्यर्थः। तथा च वृत्तौ वन्त्यति 'तथैवे'ति।

कार्यमिति । 'स्वल्पमात्रं समुत्सृष्टं बहुधा यद्विस्पंति' इति लक्षितं बीजम्। बीजात्रभृति प्रयोजनानां त्रिच्छेदे यद्विच्छेद्दकारणं यावत्समाप्तिबन्धं सह बिन्दुः' इति बिन्दुक्षपयार्थप्रकृत्या निर्वहणपर्यन्तं व्याप्नोति तदाह—अतुः यायीति । अनेन बीजं बिन्दुश्चेत्यर्थप्रकृती सङ्गृहीते । कार्यान्तरेरिति । 'आग्भोदाविम्शोद्वा पताका विनिवर्तते' इति प्रासङ्गिकं यत्पताकालक्षणार्थप्रकृतिनिष्टं कार्यं यानि च ततोऽप्यूनव्याप्तित्या प्रकरीलक्षणानि कार्योणि तैरित्वें और न्याय के अनुसार यही उपपन्न होता है कि प्रासङ्गिक कार्यान्तरों से उपकृत होता हुआ एक ही आधिकारिक व्यापक कार्यं अवश्य अङ्गीकार करना चाहिए । उस (कार्यं) के पीछे चलने वाली नायक की चित्तवृत्तियों के उसके (अर्थात् कार्यों के अङ्गाङ्गिभाव के) बल से ही अङ्गाङ्गिभाव का कम चला है, यहाँ नई बात क्या है यह तात्पर्यं है। उस प्रकार—। अर्थात् व्यापक रूप से । अथवा 'ही' (एवकार) मिन्न कम है, उसी प्रकार उसी प्रकार से कार्यं के अङ्गाङ्गिभाव के रूप से रसों का भी बलपूर्वंक वह (अङ्गाङ्गिभाव) होगा । जैसा कि वृत्ति में कहेंगे उसी प्रकार—।

कार्य—। 'वीज' का लक्षण है 'जो थोड़ी मात्रा में छोड़े जाने पर बहुत प्रकार है फिल जाता है'। 'बीज' से लेकर प्रयोजनों के विच्छेद की स्थिति में जो अविच्छेद का कारण समाप्तिपर्यन्त है वह 'विन्दु' है। इस बिन्दुरूप अर्थप्रकृति से निर्वहणपर्यत व्याप्त रहता है उसे कहते हैं—अगुयायी—। इससे 'बीज' और 'बिन्दु' इन दो अर्थ प्रकृतियों को सङ्गृहीत किया। अन्य कार्यों से—। 'गमं' अथवा 'विमर्थ' सन्विपर्यत पताका लौटती है' इस पताका रूप अर्थ-प्रकृति में रहने वाला प्रासिक्षक जो कार्य है और जो उससे भी अधिक व्याप्ति रूप से प्रकार क्य कार्य हैं उनसे, इस प्रकार प्रवा

ध्वन्यास्तोकः

विरोधो न कश्चित् । प्रत्युत प्रत्युदितविवेकानामनुसन्धानवतां सचेतसां तथाविधे विषये प्रह्लादातिशयः प्रवर्तते ॥ २३॥ किए जाने पर कोई विरोध नहीं है। विक प्रत्युदित विवेक वाले एवं अनुसन्धानशील

सहद्यों का उस प्रकार के लियय में अतिराय प्रह्वाद होता है।

लोचनम्

पुद्धानामर्थं प्रकृतीनां वाक्येकवाक्यतया निवेश उक्तः । तथाविष इति । यथा तापसवत्सराजे ।

एवमनेन स्रोकेनाङ्गाङ्गतायां दृष्टान्तनिरूपणिमितिवृत्तवलापिततत्वं च रसाङ्गाङ्गिभावस्येति द्वयं निरूपितम्। वृत्तिप्रन्थोऽध्युभयाभिप्रायेणैव नेयः। शृङ्गारेण वीरस्याविरोधो युद्धनयपराक्रमादिना कन्यारत्नलाभादौ । हास्यस्य तु स्पष्टमेव तदङ्गत्वन् । हास्यस्य स्वयमपुरुपार्थस्वभावत्वेऽपि समधिकतररञ्जनो-त्पादनेन शृङ्गारङ्गतयेव तथात्वम् । रौद्रस्यापि तेन कथक्चिद्विरोधः। यथो-कम्—'शृङ्गारश्च तैः प्रसभं सेव्यते'। तैरिति रौद्रप्रभृतिभिः रक्षोदानवोद्धत-मनुष्येरित्यर्थः । केवलं नायिकाविषयमौग्न्यं तत्र परिहर्तव्यम् । असन् ग्राव्य-पृथिवीसम्मार्जनादिजनितविस्मयतया तु वीराद्भुतयोः समावेशः। यथाह् सुनिः—'वीरस्य चैव यत्कर्म सोऽद्भुतः' इति । वीररौद्रयोधीरोद्धते भीमसेनादौ समावेशः क्रोधोत्साहयोरविरोधात् । रौद्रकरुणयोरिय सुनिनैवोक्तः—

'रौद्रस्यैव च यत्कर्म स ज्ञेयः करुणो रसः।' इति।

अर्थ-प्रकृतियों के वाक्यैकवाक्य रूप से निवेश कहा है। उस प्रकार के--। जैसे 'तापसवत्सराज' में।

इस प्रकार इस श्लोक से अङ्गाङ्गिमाव में दृष्टान्त का निरूपण और (इसके अङ्गाङ्गिमाव का) इतिवृत्त के बल ते होना ये दो बातें निरूपण कीं : वृत्तिग्रन्थ को मी दोनों के अभिप्राय से ही समझना चाहिए। म्युङ्गार के साथ वीर का अविरोध युद्ध, नीति और पराक्रम आदि द्वारा कन्यारत्न के लाम आदि में। हास्य तो स्पष्ट ही उस (म्युङ्गार) का अङ्ग है। हास्य स्वयं अपुरुवार्थ रूप हैं तथापि सम्यक् प्रकार से अधिकतर रज्जन के उत्पन्न करने से म्युङ्गार के अङ्गरूप से ही उस प्रकार (पुरुवार्थ) है। रौद्र का भी उस (म्युङ्गार) के साथ कथि विरोध नहीं। जैसे, कहा है—वं लोग म्युङ्गार का हठात् सेवन करते हैं। 'वे लोग' अर्थात् रौद्र प्रमृति राक्षस, दानव और उद्धत मनुष्य। केवल नायिका के सम्बन्ध का औग्य वहाँ परिहर्तव्य है। पृथ्वी के सम्मार्जन आदि असम्भाव्य कार्यों से विस्मय के उत्पन्न करने के कारण बीर और अद्मुत का समावेश है। जैसे मुनि कहते हैं—'और वीर का ही जो कर्म है वह अद्मुत है'। वीर और रौद्र का धीरोद्धत भीमसेन आदि में समावेश है, क्योंकि क्रोध और उत्साह में विरोध नहीं। रौद्र और करण में भी मुनि ने ही कहा है—

'रौद्र का ही जो कर्म है लसे करुण रस समझना चाहिए।'

नतु येषां रसानां परस्पराविरोधः यथा—वीरश्रङ्गारयोः शृङ्गार हास्ययो रौद्रशृङ्गारयोवीराद्भुतयोवीररौद्रयो रौद्रकरुणयोः शृङ्गाराङ्कार योवी तत्र भवत्वङ्गाङ्गिभावः । तेषां तु स कथं भवेद्येषां परस्परं वाध्य-वाधकभावः । यथा—शृङ्गारवीभत्सयोवीरभयानकयोः ज्ञान्तरौद्रयोः ज्ञान्तशृङ्गारयोवी इत्याञ्जङ्कचेदग्रुच्यते—

अविरोधी विरोधी वा रसोऽङ्गिनि रसान्तरे। परिपोषं न नेतव्यस्तथा स्यादविरोधिता॥ २४॥

(शङ्का) जिन रसों का परस्पर में अविरोध है, जैसे वीर और श्रङ्कार का, श्रङ्कार का, रीद्र और श्रङ्कार का, वीर और अद्भुत का, वीर और रीद्र का, रीद्र और करुग की अथवा श्रङ्कार और अद्भुत का! उनमें अङ्काङ्किमाव हो। परन्तु उनका वह (अङ्काङ्किमाव) कैसे होगा जिनका परस्पर में वाध्यवाधक मार है। जैसे श्रङ्कार और वीमत्स का, वीर और भयानक का, शान्त और रीद्र का, अथवा शान्त और श्रङ्कार का। यह आशङ्का करके यह कहते हैं—

अन्य रस के अङ्गी होने पर अविरोधी अथवा विरोधी रस की परिपोष तक नहीं पहुँचाना चाहिए, इस प्रकार विरोध नहीं होगा॥ २४ ॥

लोचनम्

शृक्षाराञ्चतयोरिति। यथा रङ्गावल्यामैन्द्रजालिकदर्शने। शृङ्गारवीभत्तयोरिति। ययोर्हि, परस्परोन्भूलनात्मकतयेवोद्भवस्तत्र कोऽङ्गाङ्गिभावः आलम्बनिमारिति। स्पत्तयां च रितरुत्तिष्ठिति ततः पलायमानरूपतया जुगुप्सेति समानाश्रयतेव वयोरन्योन्यसंस्कारोन्मूलनत्वम् । अयोत्साहावण्येवमेव विरुद्धौ बाच्यौ। शान्तस्यापि तत्त्वज्ञानसमुत्थितसमस्तसंसार्श्वषयनिर्वेद्प्राणत्वेन सर्वते निरीहस्यभावस्य विषयासक्तिजीविताभ्यां रितक्रोधाभ्यां विरोध एव॥ २३॥ अविरोधी विरोधी वैति। वाप्रहणस्यायमिप्रायः—अङ्गिरसापेक्षया यस्य

श्रङ्गार और अद्भुत का—। जैसे 'रत्नावली' में ऐन्द्रजालिक के दर्शन के प्रसङ्ग में।
श्रङ्गार और बीमत्स का—। जिन (श्रङ्गार और बीमत्स का परस्पर उन्मूलनात्मक लें
से ही उद्भव है वहाँ कीन सा अङ्गाङ्गिमाव होगा? आलम्बन में निमम्रूक्पता से ग्री
का उद्भव होता है और उस (आलम्बन) से पलायमानक्ष्पता से जुगुप्सा का उस्मूलन कर्ण
होता है। इसलिए समानाश्रय रूप से दोनों एक दूसरे के संस्कारों का उन्मूलन कर्ण
हैं। भय और उत्साह भी इसी प्रकार विरुद्ध कहे जाने चाहिए। तत्त्वज्ञान से समुत्रिक
समस्त संसार के विषय में निर्वेद प्राण होने के कारण सब प्रकार से निरीहस्वभव
शान्त का भी विषयासक्ति से अनुप्राणित रित और क्रोध से विरोध ही है।। २३॥
अविरोधी अथवा विरोधी—। 'त्रथवा' ग्रन्ज का यह अभिप्राय है—अङ्गी रस के

आङ्गिनि रसान्तरे शृङ्गारादौ प्रवन्धव्यङ्गये सित आवेरोधी विरोधी वा रसः परिपोपं न नेतव्यः । तत्राधिरोधिनो रसस्याङ्गिरसापेक्षया-त्यन्तमाधित्रयं न कर्तव्यमित्ययं प्रथमः परिपोपपरिहारः । उत्कर्प-साम्येऽपि तयोर्विरोधासम्भवात् ।

यथा-

प्रनय श्वक्तार आदि रस के अक्नी अर्थात् प्रवन्धव्यक्तय होने पर अविरोधी अथवा विरोधी रस को परिपोप तक नहीं पर्धुचाना चाहिए। उसमें अविरोधी रस का अक्नी रस की अपेचा अत्यन्त आधिक्य नहीं करना चाहिए, इस प्रकार यह पहळा परिपोप का परिहार है। उत्कर्ष का साम्य होने पर भी उन दोनों का विरोध सम्भव नहीं। जैसे—

लोचनम्

रसान्तरस्योक्तर्षो निवध्यते तदा तद्विरुद्धोऽपि रसो निवद्धश्रोद्यावहः। अथ तु युक्त्याङ्गिति रसेऽङ्गभावतानयेनोपपत्तिष्टते तद्विरुद्धोऽपि रसो वक्ष्यभागेन विषयभेदादियोजनेनोपनिवध्यमानो न दोषावह इति विरोधाविरोषाव-किञ्चित्करौ । विनिवेशनप्रकार एव त्ववधातव्यमिति । श्रिङ्गनीति सप्तम्यनादरे । अङ्गिनं रसिवशेपमनादृत्य न्यक्कृत्याङ्गभूतो न पोषयितव्य इत्यर्थः । श्रिवरोधि-तेति । निर्दोषतेत्यर्थः । परिपोषपरिहारे त्रीन् प्रकारानाह—तत्रेत्यादिना तृतीय इत्यन्तेन । ननु न्यूनत्वं कर्तव्यमिति वाच्ये आधिक्यस्य का सम्भावना येनोक्तमाधिक्यं न कर्तव्यमित्याशङ्क्ष्याह—उत्कर्षसाम्य इति ।

अपेक्षा जिस अन्य रस का उत्कर्ष निबन्धन करते हैं तब उस (अङ्गी रस) के अविषद भी रस दोषांवह होता है। परन्तु युक्तिपूर्वंक अङ्गी रस में अङ्गमावता के प्रकार से उपपत्ति घटती है तो उसके (अङ्गी रस के) विषद्ध भी रस वच्यमाण विषयभेद आदि के योजन से उपनिवद्धधमान होकर दोषांवह नहीं होता, इस प्रकार विरोध और अविरोध नहीं कुछ नहीं करते। केवल विनिवेशन के प्रकार में हो अवधान रखना चाहिए। अङ्गी में 'सप्तमी' अनादरार्थंक है, अर्थात् अङ्गी रसविशेष का अनादर करके—तिरस्कार करके अङ्गभूत (रस) का पोषण नहीं करना चाहिए। विरोध नहीं (अविरोधिता)—! अर्थात् निर्दोषता। परिपोष के परिहार में तीन प्रकारों को कहते हैं—'उनमें' इत्यादि से लेकर 'तृतीय' तक। 'न्यूनत्व करना चाहिए' यह जब कि कहना चाहिए ऐसी स्थिति में आधिक्य की सम्भावना हो कौन, जिससे कहा कि 'अधिक्य नहीं करना चाहिए'! यह आश्चुला करके कहते हैं—उत्कर्ष का साम्य होने पर भी—।

एकन्तो रुअइ पिआ अण्णन्तो समरत्रणिग्घोसो । णेहेण रणरसेण अ भडस्स दोलाइअं हिअअम् ॥ यथा वा—

कण्ठाच्छिन्वाक्षमालावलयमिव करे हारमावर्तयन्ती कृत्वा पर्यङ्कवन्धं विषधरपतिना सेखलाया गुणेन । मिथ्यामन्त्राभिजापस्फुरद्धरपुटन्यिक्षतान्यक्तहासा

देवी सन्ध्याभ्यस्याहसितपशुपतिस्तत्र दृष्टा तु वोऽव्यात्॥
एक ओर प्रिया रो रही है दूसरी ओर युद्ध के तूर्य का गर्जन है। स्नेह की रणराग से भट का हृदय दोलायित हो रहा है। अथवा जैसे—

कण्ठ से हार निकाल कर अन्नमाला-वलय की आंति हाथ में फेरती हुई, मेलल (करधनी) के गुणरूपी सर्पराज के द्वारा पर्यञ्जवन्थ आसन मार कर झल्मुठ हे मंत्र पढ़ने से फुरफुराते अधरपुट के द्वारा अव्यक्त हास व्यक्षित करती हुई, सम्ब (अपनी सीत) के प्रति ईर्प्यावश पशुपति (शिव जी) का उपहास करती हुं देखी गई देवी (पार्वती) आप लोगों की रचा करें।

. लोचनम्

एकतो रोदिति प्रिया अन्यतः समरतूर्यनिर्घोषः। स्रोहेन रणरसेन च भटस्य दोलायितं हृद्यम्।।

इति च्छाया। रोदिति प्रियेत्यतो रत्युत्कर्षः । समरतूर्येति नटस्येति चोत्साहोत्कर्षः । दोलायितमिति तयोरन्यूनाधिकतया साम्यमुन्तम्। एत्य मुक्तकविषयमेव भवति त तु प्रवन्धविषयमिति केचिद्रहुस्तबास्यः आधिकारिकेष्वितवृत्तेषु त्रिवर्गफलसमप्राधान्यस्य सम्भवात् । तथाहि-रत्नावल्यां सचिवायत्तसिद्धित्वाभिप्रायेण पृथिवीराज्यलाभ आधिकारिकं पत्ने कन्यारज्ञलाभः प्रासङ्गिकं फलं, नायकाभिप्रारेण तु विपर्यय इति स्थिते मन्त्रिबुद्धौ नायकबुद्धौ च स्वाम्यमात्यबुद्धचेकत्वात्फलिति नीत्या एकेकिंग

'प्रिया रो रही है' यहाँ 'रित' का उत्कर्ण है। और 'युद्ध का तूर्य' यह मह के उत्साह का उत्कर्ण है। 'दोलायित' के द्वारा उन दोनों (रित और उत्साह) के अन्युनाधिक (न कम न ज्यादा) होने के कारण साम्य कहा है। 'यह मुत्तन में होता है न कि प्रवन्ध में होता है' यह फुछ लोगों ने कहा है वह ठीक नहीं क्योंकि आधिकारिक इतिवृत्तों में त्रिवर्ण रूप फल का समुप्रधान्य सम्भव है। जैसा कि 'रित. जी' में 'सचिवायत्तसिद्धित्व' के अभिप्राय से पृथ्वी के राज्य का लाम आधिकारिक फल है और कन्यारत का लाम प्रासिक्षण फल है, परन्तु नायक के अभिप्राय से विपरीत है, ऐसी स्थित में स्वामी और अमात्य की बुद्धि के एक होने से फल हैं हों है इस नीति से मन्त्री की बुद्धि और नायक को बुद्धि के एक किए जा। पर समप्रधान

इत्यत्र ।

अङ्गिरसविरुद्धानां व्यभिचारिणां प्राचुर्येणानिवेशनम् , निवेशने वा क्षिप्रमेवाङ्गिरसव्यभिचार्यजुवृत्तिरिति द्वितीयः ।

अङ्गत्वेन पुनः पुनः त्रत्यवेक्षा परियोपं नीयमानस्याप्यङ्गभूतस्य

यहाँ पर ।

अङ्गी रस के विरुद्ध व्यभिचारी भावों का अधिकता से निनेश न करना, अथवा निवेश करने पर शीघ्र ही अङ्गी रस के व्यभिचारी की अनुवृत्ति यह दूसरा (परिपोप का परिहार) है।

परिपोप तक पहुँचाए गए भी अङ्गभूत रस की अङ्ग रूप से बार-बार प्रत्यवेची,

लोचनम्

माणायां समप्राधान्यमेव पर्यवस्यति । यथोक्तम्-'कवेः प्रयन्नान्नेतृणां युक्तानाम्' इत्यलमवान्तरेण बहुना ।

एवं प्रथमं प्रकारं निरूष्य द्वितीयमाह—अङ्गीति । अनिवेशनमिति । अङ्गमूते रस इति शेषः । नन्वेवं नासौ परितुष्टो भवेदित्याशङ्कथ—निवेशने वेति । अत एव वाप्रहणमुत्तरपक्षदाढ्यं सूचयति न विकल्पम् । तथा चैक एवायं प्रकारः । अन्यथा तु द्वौ स्याताम् । अङ्गिनो रसस्य यो व्यभिचारी तस्यानुवृत्तिरनु-सन्धानम् । यथः—'कोपात्कोमललोल' इति स्रोकेऽङ्गिभृतायां रतावङ्गत्वेन यः कोघ उपनिवद्धस्तत्र वद्ध्वा दृढम्—इत्यमर्षस्य निवेशितस्य क्षिप्रमेव रुद्त्येति इसिर्जितं च इत्युचितेष्यौत्सुक्यहर्षानुसन्धानम् ।

तृतीयं त्रकारमाह—श्रङ्गत्वैनेति । अत्र च तापसवत्सराजे बत्सराजस्य ही पंथैनसित होता है। जैसे कहा है—'किव के प्रयत्न से युक्त नायकों का॰' यह बहुत अवान्तर चर्चा ठीक नहीं।

इस प्रकार प्रथम प्रकार का निरूपण करके दूसरे को कहते हैं—अङ्गी—। निवेशन न करना—। शेव यह कि अङ्गभूत रस में। इस प्रकार वह परितृष्ट नहीं होगा, यह आशक्का करके मतान्तर कहते हैं—अथवा निवेशन में—। अतएव 'अथवा' प्रहण उत्तर पक्ष का दाढ़्यं सूचित करता है न कि विकल्प। जैसा कि यह एक ही प्रकार है, अन्यथा दो होते। अङ्गी रस का जो व्यभिचारी है उसकी अनुवृत्ति अर्थाए अनुसन्धान। जैसे—'कोपाल् कोमललोलं इस रलोक में अङ्गभूत रित में अङ्गरूप से जो कोघ उपनिवद्ध किया गया है उसमें 'बद्ध्वा हढं' से निवेशित अमर्ष के शीघ्र ही (व्यभिचारी रूप से) 'श्दत्या' और 'हसन्' इस रित के उचित औत्सुक्य और हर्ष से अनुसन्धान है। तीसरा प्रकार कहते हैं—अङ्ग रूप से—। यहाँ पर 'तापसवत्सराज' में वत्सराज का

रसस्येति तृतीयः । अनया दिशान्येऽपि प्रकारा उत्प्रेक्षणीयाः। विरोधिनस्तु रसस्याङ्गिरसापेक्षया कस्यचिनन्यूनता सम्पादनीया। यथा शान्तेऽङ्गिनि शृङ्गारस्य शृङ्गारे वा शान्तस्य । परिपोपरित्तस्य रसस्य कथं रसत्विभिति चेत् उक्तमत्राङ्गिरसापेक्षयेति । अङ्गिनो हि रसस्य यावान् परिपोपस्तायांस्तस्य न कर्तव्यः, स्वतस्तु सम्भवी परिपोपः केन वार्यते । एतचापेक्षिकं प्रकर्पयोगित्वमेकस्य रसस्य यह तीसरा (परिपोप का परिहार) है । इस प्रकार से अन्य प्रकारों की भी उछेत्रा कर छेनी चाहिए । अङ्गी रस की अपेचा किसी विरोधी रस्य की न्यूनता सम्पाद्य करनी चाहिए । अङ्गी रस की अपेचा किसी विरोधी रस्य की न्यूनता सम्पाद्य करनी चाहिए । अङ्गी रस की अपेचा किसी विरोधी रस्य की न्यूनता सम्पाद्य करनी चाहिए । जैसे अङ्गी शान्त (रस) में श्वङ्गार की अथवा श्वङ्गार में शान्त करनी चाहिए । जेसे अङ्गी शान्त (रस) में श्वङ्गार की यहाँ कह चुके हैं धङ्गी रस की अपेचा' । अङ्गी रस का जितना परिपोप है उतना उसका नहीं करना चाहिए, परन्तु स्वतः होने वाले परिपोप को कीन निवारण कर सकता है ? बहुत रसीं वाले प्रवन्धों में एक रस का रसीं के साथ अङ्गाङ्गिभाव न स्वीकार करने वाला भी इस आवर्धों में एक रस का रसीं के साथ अङ्गाङ्गिभाव न स्वीकार करने वाला भी इस आपेचिक प्रवर्ध का निराकरण नहीं कर सकता, इस प्रकार से अविरोधी और विरोधी

लोचनम्

पद्मावतीदिषयः सम्भोगश्रङ्गार उदाहरणीकर्तव्यः। अन्येऽपीति। विभावानुः भावानां चापि उत्कर्षो न कर्तव्योऽङ्गिरसविरोधिनां निवेशनमेव वा न कार्यम्। कृतमि चाङ्गिरसविभावानुमावैरुपबृंहणीयम्। परिपोपिता अपि विरुद्धाः विभावानुभावा अङ्गरवं प्रति जागरयितव्या इत्यादि स्वयं शक्यमुत्प्रेक्षितुर्। एवं विरोध्यविरोधिसाधारणं प्रकारमभिधाय विरोधिविषया साधारणदीप परिहारप्रकारगतःवेनैव विशेषान्तरमप्याह्—विरोधिन इति । सम्भवीति। प्रधानाविरोधित्वेनेति शेपः। एतचेति । उपकार्योपकारकभावो रसानां नासि पद्मावती के प्रति सम्भोग शृङ्गार को उदाहरण देना चाहिए। अन्य प्रकारों की भी;—। और विभावों तथा अनुभाओं का भी उत्कर्ष नहीं करना चाहिए, अधवा अङ्गी द्रंस के विरोधी (विभावों तथा अनुभावों) का निवेश ही नहीं करना चाहिए, कर देने पर भी अङ्गी रस के किमावों तथा अनुभावों का पोषण करना चाहिए। परिपोषित भी विरुद्ध रस के विभाव सथा अनुभावों को अङ्गत्व के प्रति जागरित करना नाहिए इर्रयादि स्वयं उत्प्रेक्षा की जा सकती है। इस प्रकार विरोधी और अविरोधी के साधारण प्रकार का अभिधान करके विरोधी के विषय में असाधारण दोवपरिहार के प्रकार में ही विशेषान्तर की चर्चा करते हैं—परन्तु विरोधी—। सम्भव होने वाला-शेष यह कि प्रधान के अविरोधी रूप से । इस (आपे चिक)—। रसों का उपकार्योप

वहुरसे पु प्रवन्धेषु रसानामङ्गाङ्गिभात्रमनभ्युपगच्छताष्यश्चक्यप्रतिश्चेप-भित्यने प्रकारेणाविरोधिनां विरोधिनां च श्सानामङ्गाङ्गिभावेन समावेशे प्रवासे पुरुष्टि स्यादविरोपः । एतच्च सर्वे येषां रसो रसान्तरस्य व्यभिचारी-रही का अङ्गाङ्गिभाव से समावेश होने पर प्रवन्त्रों में विरोध न होगा। और यह राज के मत से कहा गया है जिनका यह सिद्धान्त है कि रस रसान्तर का व्यभि-लोखनम

स्वा । त्कारिविश्रान्तत्वात् ; अन्यथा रसत्वायोगात् , तद्भावे च कथमङ्गाङ्गित्य । येषां मतं तैरि कस्यचिद्रसस्य प्रकृष्ट्रत्यं भूयः प्रबन्धव्यापकत्वमन्येषां चा । प्रवन्थवागामित्वमभ्युपगन्तव्यमितिवृत्तसङ्घटनाया एवान्यथानुपपत्तेः, कृष्ण प्रवन्थवयापकस्य च रसस्य रसान्तरैर्विद न काचित्सङ्गतिस्तदितिवृत्तन्यापे न स्यात्सङ्गतिश्चेद्यमेवोपकार्योपकारकभावः । न च चमत्कारिवश्चान्ते । धः कश्चिदिति समनन्तरमेवोक्तं तदाह—श्चनम्युपगच्छ्रतापीति । शब्दमात्रे व ना । अन्यस्तु व ना भ्युपगच्छ्रतापीति । शब्दमात्रे व ना भ्युपगच्छ्रति । अकाम एवाभ्युपगमयित्वय इति भावः । अन्यस्तु व ना भ्युपगच्छ्रति । अकाम एवाभ्युपगमयित्वय इति भावः । अन्यस्तु व ना ना भ्युपगच्छ्रति । अकाम एवाभ्युपगमयित्वय इति भावः । अन्यस्तु व त्वा पि हि भूयो वृत्तव्याप्तत्वमेवाङ्गित्वमिति । एतचासत् ; एवं एतच सर्वनिति सर्वशब्देन य उपसंहार एकपक्षविषयः मतान्तरेऽपीत्यादिना यो दितीयपक्षोपक्रमः सोऽतीव दुःश्चिष्ट इत्यत्वं पूर्ववंश्यैः सह बहुना जापेन । येषामिति । भावाध्यायसमाप्तावस्ति स्रोकः—

ारक प्राव नहीं है, क्योंकि (वे) अपने ही चमरकार में विश्रान्त होते हैं। अन्यथा (उनका) रसत्व नहीं बन सकेगा । और रसत्व के अभाव में (उनका) अङ्गाङ्गिभाव । सा ? यह भी जिनका मत है उन्हें भी किसी रस का प्रकृष्टत्व अर्थात् प्रवन्ध में अधिक वापकत्व और अन्य (रसों) का थोड़े प्रवन्ध में अनुगामित्व स्वीकार करना चाहिए, गोंकि इसके विना इतिवृत्त सङ्घटन ही उपपन्न होगा। और प्रवन्ध में अधिक व्यापक रस का रसान्तरों के साथ यदि कोई सम्बन्ध नहीं, तब इतिवृत्त का भी सम्बन्ध नहीं है, (इस छिए) यही उपकार्योपकारकंगाव है। चमत्कारविश्रान्ति का कोई विरोध नहीं है यह जो अभी कहा है उसे कहते हैं—न स्वीकार करने वाला भां—। वचनमात्र से वह स्वीकार नहीं करता। भाव यह कि नहीं चाहता हुआ भी वह स्वीकार कराने योग्य है। किन्तु दूसरे व्याख्यान करते हैं—'इस आपे चिक' इत्यादि ग्रन्थ दूसरे मत को अभिप्रेत करके है, जहाँ रसों का उपकार्योपकारकभाव नहीं है, वहाँ भी वृत्त (अर्थात् कथा) में अधिक ज्याप्तत्व रूप ही अङ्गित्व हैं । यह (व्याख्यान) ठीक नहीं। क्योंकि इस प्रकार 'और यह सब' यहाँ 'सब' शब्द से एक पक्ष का उपसंहार है और 'मतान्तर में भी' इत्यादि द्वारा जो-जो दूसरे पक्ष का उपक्रम है वह अतीव दु:विलष्ट (वेमेल) होगा । अपने पूर्वजों के साथ बहुत संलाप ठीक नहीं । जिनका—। भावाच्याय की समाप्ति में क्लोक है-

लोचनम्

बहूनां समवेतानां रूपं यस्य भवेद्वहु। स मन्तव्यो रसस्थायी शेषाः सञ्ज्ञारिणो मताः॥ इति।

तत्रोक्तकमेणाधिकारिकेतिवृत्तव्यापिका चित्तवृत्तिरवश्यमेव स्थायितेन भाति प्रासङ्गिकवृत्तान्तगामिनी तु व्यभिचारितयेति रस्यमानतासमये स्थावि व्यभिचारिनावस्य न कश्चिद्विरोध् इति केचिद्वःचाचचित्रिरे। तथा च भागिर रिप कि रसानामपि स्थायिसद्भारितास्तीत्याक्षिण्याभ्युपगमेनैवोत्तरमयोक द्वादमस्तीति।

अन्ये तु स्थायितया पिठतस्यापि रसस्य रसान्तरे व्यभिचारितमित्, यथा क्रोधस्य वीरे व्यभिचारितया पिठतस्यापि स्थायित्वमेव रसान्तरे, यथा क्रोधस्य वीरे व्यभिचारितया पिठतस्यापि स्थायित्वमेव रसान्तरे, यथा तत्त्वज्ञानिवभावकस्य निषेदस्य शान्ते; व्यभिचारिणो वा सत एव व्यभिचारे न्तरापेक्षया स्थायित्वमेव, यथा विक्रमोर्वश्यामुन्मादस्य चतुर्थेऽद्वे इतीयत्व मर्थमब्बोधयितुमयं ऋोकः धहूनां चित्तवृत्तिरूपाणां भावानां मध्ये यस्य पद्धतं रूपं यथोपलभ्यते स स्थायी भावः, स च रसो रसीकरणयोग्यः; शेषासु सश्चारिण इदि व्याचक्षते, न सु रसानां स्थायिसञ्चारिभावेनाङ्गाङ्गितोक्ति। सत एवान्ये रसस्थायीति षष्ट्या सप्तम्या द्वितीयया वाश्रितादिषु गम्यादीनाः

बहुत से समवेत भावों में जिस (भाव) का रूप बहुत (अर्थात् व्यापक) हो अ स्थायी (भाव) को रस मानना चाहिए, शेष सङ्घारी (भाव) माने जाते हैं।

उस (कलो को ने उक्त कम के अनुसार आधिकारिक इतिवृत्त में व्याप्त रहने नाले वित्तवृत्तिं अवक्य ही स्थायी रूप से प्रतीत होती है और प्रासिङ्गिक वृत्तान्द में इले वाली (चित्तवृत्ति) व्यक्षिचारी रूप से (प्रतीत होती है), इस प्रकार रसास्वाद के समय में स्थायी और व्यभिचारी भाव का कोई वित्रोध नहीं है, यह कुछ छोगों क्याच्यान किया है। दीपा कि भागुरि ने भी 'क्या रसों का भी स्थायित्व बीर सङ्गारित्व है ?' इस (प्रश्न) का आक्षेप करके 'अम्युपगम' से ही उत्तर कहा है 'इं जरूर है'।

किन्तु अन्य कोग यह व्याख्यान करते हैं कि स्थायी रूप से पठित भी रस रसालर में व्यभिचारी हो जाता है, जैसे कोष बीर में; व्यभिचारी रूप से पठित भी (ख) रसान्तर में स्थायी ही हो जाता है, जैसे कोष बीर में; व्यभिचारी रूप से पठित भी (ख) रसान्तर में स्थायी ही हो जाता है, जैसे तस्वज्ञान रूप विभाव वाला निर्वेद बार्त में; अथवा व्यभिचारों की अपेक्षा स्थायी ही होता है जैसे 'विक्रमोवंशी' में उन्माद चतुर्थ अब्हु में; इतने अर्थ को जताने के लिए यह को है है वहुत से चित्तवृत्ति रूप भावों के तीथ जिसका बहुत रूप जैसे उपलब्ध होता है वह स्थायी भाव है, और वह रस रसीकरण के योग्य है, शेष तो सक्वारी (भाव) हैं। निर्वे रसों का स्थायित्व और के चारित्व रूप से अक्कान्तिभाव कहा गया है। अत्यप्त अवि लोग 'रसस्थायी' यूंह पद्यी सहमी अथवा दिलीया से आधित आदि में 'राम्मादीनांव' है

भवति इति दर्शनं तन्मतेनोच्यते । मतान्तरे'पि रसानां स्थायिनो भावा उपचाराद्रसञ्चदेनोक्तास्तेषामङ्गत्धं निर्विरोधमेव ॥ २४ ॥

एवमविरोधिनां विरोधिनां च प्रबन्धस्थेनाङ्गिना रसेन समावेशे साधारणमिकरोधोपायं प्रतिपाद्येदानीं विरोधिविषयमेव तं प्रतिपाद-यितुमिदस् व्यते—

निरुद्धैकाश्रयो यस्तु विरोधी स्थायिनो भवेत्। स्व विभिन्नाश्रयः कार्यस्तस्य पोषेऽप्यदोषता॥ २५॥ ऐकाधिकरण्यविरोधी नैरन्तर्यविरोधी चेति द्विविधो विरोधी। चारी होता है। किन्तु मतान्तर में भी रसी के स्थायी माव उपचार से (छन्नणा इतरा) 'रस' शब्द से कहे गए हैं, उनका अक्स्य निर्विरोध ही है॥ २४॥

इस प्रकार अविरोधी और विरोधी (रसों) का प्रवन्ध में रहने वाले अङ्गी रस के साथ समावेश में अविरोध का साधारण उपाय प्रतिपादन करके अब उस विरोधी (रस) के उसे ही प्रतिपादन करने के छिए यह कहते हैं—

स्थायी का जो विरोधी एकाश्रय रूप से विरोधी हो उसे विभिन्नाश्रय कर देना चाहिए, (ऐसी स्थिति में) उसके परिपोध होने पर भी दोष गहीं॥ २५॥

विरोधी (रस) दो प्रकार का है—ऐकाधिकरण्यविरोधी और नैरन्तर्यविरोधी। विरुद्ध एक आश्रय वाला जो विरोधी है, जैसे वीर के साथ भयानक, उसे विभिन्नाश्रय

लोचनम्

मिति समासं पटिन्त । तदाह्—मतान्तरेऽपीति । रसशब्देनेति । 'रसान्तर-समावेशः प्रस्तुतःय रसस्य यः' इत्यादिप्राक्तनकारिकानिविष्टेनेत्यर्थः ॥ २४ ॥

अथ साधा णं प्रकारमुपसंहरक्षसाधारणमासूत्रयति — एविमिति । तिमत्यिवि-रोधोपायम् । िरुद्धेति विशेषणं हेतुगर्भम् । यस्तु स्थायी स्थाय्यन्तरेणासंभाव्य-मानैकाश्रयत्वाद्विरोधी भवेद्यथोत्साहेन भयं स विभिन्नाश्रयत्वेन नायकविपक्षा-समास पढ़ते हैं । उसे कहते हैं — मतान्तर में भी—। 'रस' शब्द से—। अर्थात् 'प्रस्तुत रस का जो रसान्तर में समावेश हैं इत्यादि प्राचीन कारिका में निविष्ट ('रस' शब्द से) ॥ २४॥

अर साधारण प्रकार का उपसंहार करते हुए असाधारण (प्रकार) का सूत्र बनाते हैं—इस प्रकार—। 'उसे' अर्थात् अविरोध का उपायः। 'विरुद्ध' यह हेतुगर्भ विशेषण है। जो स्थायी अन्य स्थायी के साथ एकाश्रय रूप से रहने में सम्भव न होने कारण विरोधी हो, जैसे उत्साह के साथ भय, वह विशिष्ठाश्रय रूप से नायक के निपक्ष आदि में

तत्र प्रवन्धस्थेन स्थायिनाङ्गिना रसेनौचित्यापेक्षया विरुद्धेकाश्रेयो यो विरोधी यथा वीरेण भयानकः स विभिन्नाश्रयः कार्यः। तस्य वीरस्य य आश्रयः कथानायकस्तद्धिपक्षविषये सिन्नवेश्चयितव्यः। तथा सित च तस्य विरोधिनोऽपि यः परिपोषः स निर्दोषः। विषश्च विषये हि भयःतिश्चयवर्णने नायकस्य नयपराक्रमादिसम्पत्सुतरागुः स्थोतिता भवति। एतच एमदीयेऽर्जुनचरितेऽर्जुनस्य पातालावतरण-प्रसङ्गे वैश्वचेन प्रदर्शितस्।

एत्रमेकाधिकरण्यितरोधिनः प्रवन्धस्थेन स्थायिना रसेनाङ्गमात्र-कर देना चाहिए। उस दीर (रस) का जो आश्रय कथानायक है उसके विश्व (अर्थात प्रतिनायक) में (उस भयानक रस) का सिश्ववेश करना चाहिए। एसी स्थिति में उस विरोधी का भी जो परिपोप है वह निर्देषि है। क्योंकि विष्य में अतिशय भय के वर्णन करने पर नायक की नीति, पराक्रम आदि सम्पत्ति सुतरां प्रकाशित हो जाती है। यह मेरे 'अर्जुनचरिन' में अर्जुन के पातालावतरण के प्रसंग में स्पष्ट रूप से दिखाया गया है।

इस प्रकार ऐकाधिकरण्यविरोधी का प्रबन्ध में रहने वाले स्थायी रस के सव लोचनम

दिगामित्वेन कार्यः । तस्येति । तस्य विरोधिनोऽपि तथाकृतस्य तथानिबद्धस्य परिपुष्टतायाः प्रत्युत निर्दोषना नायकोत्कर्षाधानात् । अपरिपोषणन्तु दोष एवेति यावत् । अपिशब्दो भिन्नक्रमः । एवमेव वृत्तावपि व्याख्यानात् । ऐकाधिकरण्यमेकाश्रयेण सम्बन्धमात्रम् , तेन विरोधी यथा—भयेनोत्साहः, एकाध्यत्वेऽपि सम्भवति कश्चित्रिरन्तरत्वेन निर्व्यवधानत्वेन विरोधी, यथा रत्या निर्वेदः । प्रदर्शितमिति । 'समुत्थिते धनुर्ध्वनौ भयावहे किरीटिनो महानुपप्तवोऽभवत्थुरे पुरन्दरद्विषाम् ।' इत्यादिना ।। २४ ।।

जाने वाजा किया जाना चाहिए। उसका—। उस प्रकार निबद्ध उस विरोधां की भी परिपृष्टता के कारण प्रत्युत निर्देशता होगी, क्यों कि नायक के उत्कर्ष का आधान होता है। अपरिपोषण तो दोव ही होगा। 'भी' शब्द भिन्नक्रम है। क्यों कि इसी प्रकार वृति में भी व्याख्यान है। ऐकाधिकरण्य अर्थात् एक आश्रय से सम्बन्ध मात्र, उससे विरोधी, जैसे भय से उत्साह। एकाश्रयत्व के सम्भव होने पर भी कोई नैरन्तर्य अर्थात् निर्मंत धानत्व के कारण विरोधी कोता है, जैसे रित से निर्वेद दिखाया राया है—। 'अर्जुन के गाण्डीव की भवावह आवाज के होने पर इन्द्र-शत्रु असुरों के नगर में बड़ी खलवली गर्थ गई' इत्यादि द्वारा॥ २५॥

गमने निर्विरोधित्वं यथा तथा तद्दश्चितम् । द्वितीयस्य तु तत्प्रतिपाद-यितुमुच्यते —

एकाश्रयत्वे निर्दोषो नैरन्तर्ये विरोधवान्। रसान्तरव्यवधिना रसी व्यङ्गयः सुमेधसा॥ २६॥ यः पुनरेकाधिकरणत्वे निर्विरोधो नैरन्तर्ये तु विरोधी स रसान्त-रव्यवधानेन प्रवन्धे निवेश्वयितव्यः। यथा शान्तम्बङ्गारौ नागानन्दे निवंशितौ।

अङ्गभाव प्राप्त करने में निर्विरोधत्व जैसा है वैसा उसे दिखाया। दूसरे का उसे प्रति-पादन करने के लिए कहते हैं—

एकाश्रय होने में निर्दोप और नैरन्तर्य में विरोधी रस को सुमेधा (कवि) रसान्तर का व्यवधान करने से व्यक्षित करे॥ २६॥ \

जो एकाधिकरण होने में निर्विरोध है, किन्तु नैरन्तर्य में विरोधी है उसे रसान्तर के न्यवधान से प्रवन्ध में निवेशित करना चाहिए। जैसे शान्त और श्रङ्गार नागानन्द में निवेशित किए गए हैं।

लोचनम

द्वितीयस्येति । नैरन्तर्यविरोधिनः । तिति । निर्विरोधित्वम् । एकाश्रयत्वेन् निमित्तेन यो निर्देशिः न विरोधी किं तु निरन्तरत्वेन निमित्तेन विरोधमेति स तथाविधविरुद्धरसद्धयाविरुद्धेन रसान्तरेण मध्ये निवेशितेन युक्तः कार्य इति कारिकार्थः । प्रवन्धं इति बाहुल्यापेक्षं, मुक्तकेऽपि कदाचिदेवं मवेदिप । यद्धत्त्यति—'एकवाक्यस्थयोरिप' इति । यथेति । तत्र हि—'रागस्यास्पद्मित्य-वैमि न हि मे ध्वंसीति न प्रत्ययः' इत्यादिनोपत्तेपात्प्रसृति परार्थशरीरिवत-रणात्मकनिर्वहणपर्यन्तः शान्तो रसस्तस्य विरुद्धो मलयवतीविषयः सङ्गर-स्तदुभयाविरुद्धमदुभुतमन्त्रीकृत्य क्रमप्रसरसम्भावनाभिप्रायेण कविना

दूसरे का—। अर्थात् नैरन्तयंविरोधी का । उसे—। निर्विरोधित्व को । कारिका का अर्थ यह है कि एकाश्रयत्व रूप कारण से जो निर्दोष अर्थात् विरोधी नहीं है, किन्तु निरन्तरत्व रूप कारण से विरोध ग्रहण करता है उसे उस प्रकार के विरुद्ध दो रसों के बीच अविरुद्ध रसान्तर के साथ ग्रुक्त करना चाहिए । प्रबन्ध में—। अपेक्षा करके बहुल रूप से, कदाचित् उस प्रकार मुक्तक में भी हो सकता है । जिसे कहेंगे—'एक वाक्य में स्थित का भी'। जैसे—। क्योंकि वहां—'जिस (शरीर) का राग का आस्पद' करके समझता हूं, (वह शरीर) मेरा विश्वास नहीं कि ध्वंसशील नहीं है! इत्यादि 'उपक्षेप' से लेकर दूसरे के लिए शरीर का वितरण रूप 'निर्वहण' तक शान्त रस है, उसके विरुद्ध मल्यवतीनिषयक श्रञ्जार को, उन दोनों (शान्त और श्रञ्जार) के अविरुद्ध अद्भुत

ध्यन्यास्रोकः

श्चान्तश्च तृष्णाक्षयसुम्बस्य यः परिपोषस्तस्रक्षणो रसः प्रतीयत

और ज्ञान्त, तृष्णाचय रूप सुख का जो परिपोष है तद्रूप रस प्रतीत होता ही है। जैसा कि कहा है—

लोचनम्

निबद्धः 'अहो गीतमहो वादित्रम्' इति । एतद्रथमेय 'व्यक्तिव्यंञ्जनधातुना' इत्यादि नीरसप्रायमप्यत्र निबद्धमद्भुतरसपरिपोषकतयात्यन्तरसरसताः बहमिति 'निदोषदर्शनाः कन्यकाः' इति च क्रमप्रसरो निबद्धः। यथाहुः— 'चित्तवृत्तिप्रसरप्रसंख्यानधनाः सांख्याः पुरुषार्थहेतुकिमदं निमित्तनैमित्तिक प्रसङ्गेने'ति । अनन्तरं च निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गागतो यः शोखरकवृत्तान्तो वितहास्यरसोपकृतः शृङ्गारस्तस्य विरुद्धो यो वैराग्यशमपोषको नागीयकलेवराः दिखजालावलोकनादिवृत्तान्तः स मित्रावसोः प्रविष्टस्य मलयवतीनिगमन कारिणः 'संसप्द्रिः समन्तात्' इत्यादि काव्योर्गनश्दकोधव्यमिचार्युपकृतः वीररसान्तरितो निवेशितः।

नतु नास्त्येव शान्तो रसः तस्य तु स्थाय्येव नोपिद्छो अनिनेत्याशङ्कशाह्रशान्तर्थित । तृष्णानां विषयाभिलाषाणां यः क्ष्यः सर्वतो निवृत्तिरूपो निर्वेदः (रस) को मध्य में रखकर किव ने कम से प्रसर की सम्भावना के अभिप्राय से निक्च्य किया है 'अहो गीतं अहो वादित्रं'। एतदर्थं ही 'व्यक्तिव्यंक्षनषातुना' इत्यादि अद्भुत रस के परिपोषक रूप से अत्यन्त रस की रसता का वहन करने वाले इस नीरस्प्राय को भी यहां निबन्धन किया है और 'निर्दोषदर्श्वनाः कन्यकाः' यह कम से प्रसर को भी निबन्धन किया है। जैसे चित्तवृत्ति के प्रसरों में दोषदर्शन करने वाले साङ्ख्य लोग कहते हैं—'निमित्त (धमं आदि) और नैमित्तिक (स्थूल देह आदि) के प्रस्कृ (सम्बन्ध) से यह (लिज्ज अर्थात् सूक्ष्म शरीर नट की भांति विविध रूप शरण करके) पुष्पायं फल के लिए व्यवस्थित होता है'। अनन्तर जो निमित्त-नैमित्तिक के प्रसङ्ग से आया हुआ, शेखरक के वृत्तान्त से उत्पन्न हास्य-रस से उपकृत श्रुङ्कार है उसके विष्य जो वैराय्य एवं शम का पोषक, नाग के शरीर में अस्थिजाल का अवलोकन आदि वृत्तान्त है वह मलयवती का निर्ममन करने वाले प्रविष्ट मित्रावसु के 'संसर्पद्भिः समन्तात्' इत्यादि काव्य द्वारा उपनिवद्ध कोध के व्यभिचारी से उपकृत रस से अन्तरित होकर रखा गया है।

(शङ्का) ज्ञान्त रस तो है ही नहीं, क्योंकि मुनि ने उसके स्थायी का उपदेश नहीं किया है, यह आशङ्का करके कहते हैं—और शान्त—। विषयाभिलाष रूप तृष्णाओं का जो क्षय अर्थात् सब से निवृत्ति रूप निर्वेद है तदूप ही सुख है, स्थायी रूप में उस

यच कामसुखं लोके यच दिव्यं महत्सुखम्। तृष्णाक्षयसुखस्यैते नाईतः पोडशीं कलाम्॥

होक में जो कामसुख है और जो दिन्य महान् सुख है, ये दोनों नृष्णाचय रूप सुख के पोडशांश भी प्राप्त नहीं करते।

लोचनम्

तदेव सुखं तस्य स्थायिभूतस्य यः परिपोषो रस्यमानताकृतस्तदेव लक्षणं यस्य स शान्तो रसः। प्रतीयत एवैति । स्वानुभवेनापि निवृत्तभोजनाद्यशेषविषये-च्छाप्रसरत्वकाले सम्भाव्यत एव ।

अन्ये तु सर्विचित्तवृत्तिप्रशम एवास्य स्थायीति मन्यन्ते । तृष्णासद्भावस्य प्रसच्यप्रतिपेधरूपत्वे चेतोवृत्तित्वाभावेन भावत्वायोगात् । पर्युदासे त्वस्मत्पक्ष एवायम् । अन्ये तु—

स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद्भावः प्रवर्तते । पुनर्निमित्तापाये तु शान्त एव प्रलीयते ॥

इति भरतवाक्यं दृष्टवन्तः सर्वरससामान्यस्यभावं शान्तमाचक्षाणा अनु पजातिवशेषान्तरचित्रतिरूपं शान्तस्य स्थायिभावं मन्यन्ते। एतच नाती-वास्मत्पक्षाद् दूरम्। प्रागभावप्रध्वंसाभावकृतस्तु विशेषः। युक्तस्य प्रध्वंस एव (निवेंद) का जो रस्यमानताकृत परिपोष है वह रूप है जिसका ऐसा शान्त रस है। प्रतीत होता ही है—। भोजन आदि अशेष विषयों की इच्छा के प्रसरत्व के समय अपने अनुभव से भी सम्भावित होता ही है।

अन्य लोग सभी चित्तवृत्तियों का प्रशम ही इसका स्थायी है ऐसा मानते हैं। तृष्णा के सद्भाव के प्रसज्यप्रतिषेध (अर्थात् अत्यन्ताभाव) होने पर चित्तवृत्ति मात्र के अत्राव से भावत्व सम्भव नहीं होगा। पर्युदास के प्रकार से (मानने पर) तो हमारा पक्ष ही यह है (हमें भी यह स्वीकार है कि सभी चित्तवृत्तियों का प्रशम का अर्थ सभी चित्तवृत्तियों का विरोधी चित्तवृत्तिविशेष है)। अन्य लोग तो—

भाव अपना-अपना निमित्त पाकर शान्त से प्रवृत्त होता है, परन्तु फिर निमित्त के समाप्त होने पर शान्त में ही प्रलीन हो जाता है।

इस भरत-वाक्य को देख कर सभी रस के सामान्य स्वरूप का अभाव रूप शान्त को कहते हुए शान्त का सायी भाव विशेष में उत्पन्न न होने वाली आन्तर (अर्थात् आत्मविषयक) चित्तवृत्ति को मानते हैं। यह भी हमारे पक्ष से अतीव दूर नहीं है। किन्तु भेद प्रागमाव और प्रध्वंसाभाव का है (अर्थात इस मत का प्रागमाव में पर्यंव-सान है और हमारे मत का प्रध्वंसाभाव में)। तृष्णाओं का प्रध्वंसक ही ठीक है।

लोचनम्

तृरणानाम् । यथोक्तम्—'वीतरागजनमादर्शनात्' इति । प्रयोवत ्वैति । सुनिनाध्यङ्गीक्रियत एव 'क्विच्छमः' इत्यादि वदता । त च तदीया पर्यन्ता वस्था वर्णनीया येन सर्वचेष्ट्रोपरमादनुभावाभावेनाप्रःगेयमानता स्यात् । 'शृङ्गारादेरपि फलभूमाववर्णनीयते च पूर्वभूमौ तु तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात्', 'तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्दः' इति स्त्रद्वयनीत्य चित्राकारा यमनियमादिचेष्टा राज्यधुरोद्वहनादिलक्षणा वा शान्तस्यापि जनकादेर्दृष्टेवेत्यनुभावसद्भावाद्यमनियमादिमध्यसम्भाव्यमानभूयोव्यभिचारिक द्वावाच प्रतीयत एव ।

ननु न प्रतीयते नास्य विभावाः सन्तीति चेत्—नः प्रतीयत एव तावद्सौ।
तस्य च भवितव्यमेव प्राक्तनकुशलपरिपाकपरमेश्वरानुप्रहाध्यात्मरहस्यशाक्षवीतरागपरिशीलनादिभिर्विभावैरितीयतैव विभावानुभावव्यभिचारिसद्भावः
स्थायी च दर्शितः । ननु तत्र हृद्यसंवादाभावाद्रस्यमानतैव नोपपन्ना।
क एवमाह स नास्तीति, यतः प्रतीयत एवेत्युक्तम् ।

जैसा कि कहा है—'क्योंकि रागरहित (पुरुष) का जन्म नहीं देखा जाता'। प्रतीत होता ही है—। 'कहीं पर शम है' इत्यादि कथन करते हुए मुनि ने भी अङ्गीकार किया ही है। उस (शान्त) की पर्यन्त अवस्था का वर्णन नहीं करना चाहिए, जिससे अवस्थ के उपरम हो जाने से उस शान्त की) अप्रतीति हो। फल-भूमि (अर्थात् गुरु आदि पर्यन्त भूमि) में श्रुङ्गार आदि की भी अवर्णनीयता है ही। 'तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात्' (अर्थात उक्त निरोध के संस्कार से वह चित्त विक्षेपरहित होकर प्रशान्ववाही अर्थात् सहशप्रवाहपरिणामी हो जाता है) और 'तिच्छिद्रेपु प्रत्ययान्तराणि संस्कार म्यः' (अर्थात् उस समाधि में स्थित योगी के छिद्रों = अन्तरालों में प्रत्ययान्तर व्युत्यान रूप ज्ञान होते हैं अर्थात् प्राग्भूत व्युत्थान के अनुभव से उत्पन्न 'अहं मर्य इत्याकारक क्षीयमाण संस्कारों से भी व्युत्थान रूप ज्ञान होते हैं) इन दोनों सूत्रों के अनुसार राज्यधुरा के उद्वहन रूप यम-नियमादि आक्चर्यकारिणी चेष्टाजनक आदि के मी देखी ही गई है इस कारण अनुभावों के सद्भाव से और यम, नियम आदि के बीच सम्भाव्यमान बहुत से व्यभिचारी भावों के सद्भाव से (शान्त रस) प्रतीत होता ही है।

यदि यह कहो कि (शान्त रस) प्रतीत नहीं होता, क्यों कि इसके विभाव नहीं है तो ऐसा; वह तो प्रतीत ही होता है और उसके प्राक्तन कुशल (सत्कमों) का विवाह, परमेश्वर का अनुग्रह तथा अध्यात्मरहस्य के शास्त्रों और वीतरागों के सम्बन्ध में विश्वालन बादि विभाव होने ही चाहिए, इस प्रकार इतने से ही विभाव, अनुभाव, सम्बाध का सद्भाव और स्थायी दिखाया गया। (शक्का) उस (शान्त रस) में हृद्यसंविद के न होने से रस्यमानता ही नहीं बनती ! (समाधान) कौन ऐसा कहता है कि विश्व (हृदयसंवाद) नहीं है, क्योंकि 'प्रतीत होता ही है' यह कहा जा चुका है।

यदि नाम सर्वजनानुभवगोचरता तस्य नास्ति नैतावतासा-वलोकसामान्यमहानुभावचित्तवृत्तिविशेषः प्रतिक्षेप्तुं शक्यः। न च वीरे तस्यान्तर्भावः कर्तुं युक्तः। तस्याभिमानमयत्वेन व्यवस्थापनात्। अस्य चाहङ्कारप्रश्रमैकरूपतया स्थितेः। तयोश्चेवंविधविशेषसद्भावेऽपि

यदि वह (शान्त) सभी छोगों के अनुभव का गोचर नहीं है, इतने से अछोक-सामान्य महापुरुपों के चित्तवृत्तिविशेष को निराकरण नहीं किया जा सकता। और बीर में उसका अन्तर्भाव करना ठीक नहीं। क्योंकि उस (वीर) का असिमानमय रूप से ज्यवस्थापन होता है। और यह (शान्त) अहङ्कार के एकमात्र प्रशमरूप से

लोचनम्

ननु प्रतीयते सर्वस्य स्ताघास्पदं न भवति । तिहं वीतरागाणां शृङ्गारो न स्ताघ्य इति सोऽपि रसत्वाच्च्यवतामिति तदाह—यि नामेति । ननु धर्मप्रधानोऽसौ वीर एवेति सम्भावयमान आह—न चेति । तस्येति वीरस्य। श्रिममान-मयत्वेनेति । उत्साहो ह्यहमेवंविध इत्येवंप्राण इत्यर्थः । अस्य चेति शान्तस्य । तयोश्येति । ईहामयत्विनिरीहत्वाभ्यामत्यन्तिविरुद्धयोरपीति चशब्दार्थः । वीररौ-द्रयोस्त्वत्यन्तविरोधोऽपि नास्ति । समानं रूपं च धर्मार्थकामार्जनोपयोगित्वम्।

नन्वेवं दयावीरो धर्मवीरो दानवीरो वा नासौ कश्चित्, शान्तस्यैवेदं नामान्तरकरणम्। तथा हि सुनिः—

दानवीरं धर्मवीरं युद्धवीरं तथैव च । रसवीरमपि प्राह ब्रह्मा त्रिविघसम्मितम् ॥

(शक्का) प्रतीत तो होता है पर सब की प्रशंसा का पात्र नहीं होता (अर्थाप् सब लोग उसे नहीं चाहते)। (समाधान) तब तो वीतराग पुरुषों की दृष्टि में प्रक्लार क्लाध्य नहीं है तो वह भी रसत्व से च्युत हो जाय! इसे कहते हैं—यदि—। 'वह (शान्त) धर्मप्रधान वीर ही है' यह सम्भावना करते हुए कहते हैं—वीर में ''ठीक नहीं—: 'उसका' अर्थात् वीर का। अभिमानमय रूप से—। अर्थात् 'मैं इस प्रकार का हूं' एतद्-रूप उत्साह होता है। 'और' शब्द का अर्थ है कि ईहामयत्व और निरी-हत्व से अत्यन्त विरुद्ध भी (उन दोनों में)। वीर और रौद्ध का तो अत्यन्त विरोध भी नहीं है। धर्म, अर्थ, काम के अर्बन का उपयोगित्व समान रूप है।

(शङ्का) इस प्रकार वह दयावीर, धर्मवीर अथवा दानवीर कोई नहीं, बल्कि यह

शान्त का ही दूसरा नामकरण है। जैसा कि मुनि कहते हैं-

दानवीर, धर्मवीर और उसी प्रकार युद्धवीर ये रस वीर को ही ब्रह्माजी ने तीन प्रकार से विभक्त करके कहा है।

रेप ध्व०

यद्यैक्यं परिकल्प्यते तद्वीररौद्रयोरिप तथा प्रसङ्गः । दयाबीरादीनां च चित्तवृत्तिविशेषाणां सर्वाकारमहङ्काररहितत्वेन शान्तरसप्रभेदत्वम्, इतरथा तु वीरप्रभेदत्वमिति व्यवस्थाप्यमाने न कश्चिद्विरोधः। तदेवमस्ति शान्तो रसः । तस्य चाविरुद्धरसव्यवधानेन प्रवन्धे विरोधिरस्समावेशे सत्यपि निर्विरोधत्वम् । यथा प्रदर्शिते विषये ।

रहता है। और उन दोनों में इस प्रकार के विशेष (भेद) के विद्यमान रहने पर भी यदि ऐक्य (अभेद) की परिकल्पना करते हैं तो वीर और रौद्र में भी स्व प्रकार का प्रसङ्ग होगा। और द्यावीर आदि चित्तवृत्ति-विशेषों के सब प्रकार के अहड़ाररहित होने के कारण शान्त रस के प्रभेद हो सकते हैं, अन्यथा वीर रस के प्रभेद हैं, इस प्रकार व्यवस्था करने पर कोई विरोध नहीं है। तो इस प्रकार शान्त रस है। और प्रवन्ध में अविरुद्ध रस का व्यवधान करके उसके विरोधी रस का समाने वेश होने पर भी विरोध नहीं होगा। जैसे प्रदर्शित विषय में।

लोचनम्

इत्यागमपुरःसरं त्रैविध्यमेवाभ्यधात् । तदाह—दयावीरादीनाश्चेतादि पहणेन । विषयजुगुष्सारूपत्वाद् बीमत्सेऽन्तर्भावः शङ्क्रयते । सा त्वस्य व्यमिचारिणी भवति न तु स्थायितामेति, पर्यन्तिनवीहे तस्या मूलत एव विच्छेदात्। आधिकारिकत्वेन तु शान्तो रसो न निबद्धव्य इति चन्द्रिकाकार। तचेहास्मामिन पर्यालोचितं, प्रसङ्गान्तरात् । मोक्षफलत्वेन चायं परमपुरुषार्थं निष्ठत्वात्सर्वरसभ्यः प्रधानतमः । स चायमस्मदुपाध्यायभट्टतौतेन काव्यक्षीतुके, अस्मामिश्च तद्विवरणे बहुतरकृतनिर्णयपूर्वपक्षसिद्धान्त इत्यतं बहुना ॥ २६ ॥

इस आगम के अनुसार त्रैविष्य ही कहा है। उसे कहते हैं—'और द्यावीर आरिं इत्यादि ग्रहण द्वारा। (शान्त रस के स्थायी के) विषयजुगुप्सा रूप होने के कारण वीमत्स में अन्तर्भाव की (कुछ लोग) सम्भावना करते हैं। परन्तु वह (जुगुप्सा) इसकी (शान्त की) व्यभिचारी भाव होती है, न कि स्थायी भाव है, पर्यन्त तक निर्वाह की स्थिति में वह मूल में ही विच्छित्र हो जाती है। चिन्द्रकाकार का कहना है कि आधिकारिक रूप से शान्त रस को निवन्धन नहीं करना चाहिए। प्रसङ्गान्तर होने के कारण हमने उसका पर्यालोचन नहीं किया है। मोक्ष रूप फल वाला होने के कारण परमपुरुषार्थनिष्ठ होने से यह (शान्त) सभी रसों में प्रधानतम है। उसे हमारे उपाध्या महतीत ने 'काव्यकीतुक' में और हमने उसके 'विवरण' में पूर्वंपक्ष और सिद्धान के द्वारा बहुत प्रकार से निणंय किया है। २६॥

एतदेव स्थिरीकर्तुमिदमुच्यते-

रसान्तरान्तरितयोरेकवाक्यस्थयोरि । निवर्तते हि रसयोः समावेशे विरोधिता ॥ २७ ॥ रसान्तरव्यवहितयोरेकप्रबन्धस्थयोर्विरोधिता निवर्तत इत्यत्र न काचिद्धान्तिः । यस्मादेकवाक्यस्थयोरिपरसयोरुक्तया नीत्या विरुद्धता निवर्तते । यथा—

भूरेणुदिग्धास्त्रवपारिजातमालारजोवासितबाहुमध्याः ।
गाढं शिवाभिः परिरम्यमाणान्सुराङ्गनाश्चिष्टश्चजान्तरालाः ॥
सशोणितैः क्रव्यश्चजां स्फुरद्भिः पक्षैः खगानाग्नुपवीज्यमानान् ।
संवीजिताश्चन्दनवारिसेकैः सुगन्धिभः कल्पलतादुक्लैः ॥
विमानपर्यङ्कतले निपण्णाः कृत्हलाविष्टतया तदानीम् ।
निर्दिश्यमानां छलना जुली भिवीराः स्वदेहान् पतितानपश्यन् ॥

इसे ही स्थिर करने के लिए यह कहते हैं-

एक ही वाक्य में स्थित रहने वाले होने पर भी दो रसों का दूसरे रस के बीच में होने से समावेश होने पर विरोध नहीं होता॥ २७॥

दूसरे रस के बीच में होने से एक ही प्रवन्ध में रहने वाले भी (रसों का) विरोध निवृत्त हो जाता है, इसमें कोई भ्रम नहीं। क्योंकि उक्त नीति के अनुसार एक वाक्य में रहने वाले (रसों) का भी विरोध निवृत्त हो जाता है। जैसे—

नये पारिजात की माला के पराग से वासित बाहुमध्य वाले, सुराङ्गनाओं द्वारा आलिङ्गन किए जाते हुए भुजमध्य वाले, सुगन्धि चन्द्रन के पानी के ख़िद्दकात्र से युक्त कल्पलता के दुकूलों द्वारा झले जाते गए, विमान के पर्यङ्क पर बैठे वीरों ने कल्पलता के उंगलियों से दिखाए जाते हुए पृथ्वी की घूल में सने, सियारियों द्वारा कसकर पकड़े जाते हुए, खून से भिंगे और चमकते हुए मांसभन्नी पिच्चों के पंखों से झले जाते हुए अपने शरीरों को उस समय कुत्हल से आविष्ट होकर देखा।

लोचनम्

स्थिरीकर्तुमिति । शिष्यबुद्धावित्यर्थः । अपिशब्देन प्रबन्धविषयतया सिद्धो-ऽयमर्थे इति दर्शयति—मूरे जिति । विशेषजैरतीव दूरापेतत्वमसम्भावनास्पद-

स्थिर करने के लिए—। अर्थात् शिष्य की बुद्धि में। 'भी' शब्द से यह बात सिद्ध हो चुकी है' यह दिखाते हैं— नये पारिजात—। विशेषणों से बहुत दूर की बात होना

इत्यादौ । अत्र हि शृङ्गारवीभत्सयोस्तदङ्गयोत्री वीर्रसञ्यवधानेन समात्रेशो न विरोधी ।

विरोधमविरोधं च सर्वज्ञेत्थं निरूपयेत्। विशेषतस्तु शृङ्गारे सुकुमारतमा ह्यसौ ॥ २८॥ यथोक्तलक्षणानुसारेण विरोधाविरोधौ सर्वेषु रसेषु प्रबन्धेऽन्य च निरूपयेत्सहृदयः; विशेषतस्तु शृङ्गारे । स हि रतिपरिपोपात्मकत्ता

इत्यादि में । यहाँ श्रङ्कार और वीभत्स का अथवा उनके अङ्गों का बीच में के रस को रसकर समावेश विरोधी नहीं है ।

इस प्रकार सभी जगह विरोध और अविरोध का निरूपण करे, किन्तु मङ्गार है ।। २८ ॥

सहृदय (कवि) यथोक्त लक्षण के अनुसार सव रसों में, प्रबन्ध में और अन्तर विरोध और अविरोध का निरूपण करे, विशेष रूप से श्टङ्गार में; क्योंकि वह रित ब

लोचनम्

मुक्तम् । स्वदेहानित्यनेन देहत्वाभिमानादेव तादात्म्यसम्भावनानिष्पत्तेशे श्रयत्वमस्ति, अन्यथा विभिन्नविषयत्वात्को विरोधः । ननु वीर एवात्र रसो र शृङ्गरो न बीमत्सः किन्तु रतिजुगुष्से हि वीरं प्रति व्यमिचारीभूते। भवत्वेष् तथापि प्रकृतोदाहरणता तावदुपपन्ना । तदाह—तदङ्गयोर्वेति । तथेषे तत्स्थायिभावावित्यर्थः। वीररसेति । 'वीराः स्वदेहान्' इत्यादिना तदीयोत्साहार वगत्या कर्त्वकर्मणोः समस्तवाक्यार्थानुयायितया प्रतोतिरिति मध्यपाठाभावेऽपि सुतरां वीरस्य व्यवधायकतेति भावः ॥ २७ ॥

अन्यत्र चेति मुक्तकादौ । स हि शृङ्गारः सुकुमारतम इति सम्बन्धः और सम्भावना का आस्पद न होना कहा है । 'अपने शरीरों को' इससे शरीरत्वाभिषा के कारण हो तादात्म्य (अभेद) की सम्भावना निष्पन्न होती है अतः एकाध्यत । अन्यथा विभिन्न विषय होने के कारण कीन विरोध होता ! (शङ्का) यहां वीर है है

है, न श्रृङ्गार है, न वीमत्स है, किन्तु रित और जुगुप्सा वीर के प्रित व्यभिवारी भी हो गए हैं। (समाधान) इस प्रकार हो भी, तथापि प्रकृत में उदाहरण होना उपक है। उसे कहते हैं—अथवा उनके अङ्गों का—। उनके अङ्गे अर्थात् उनके स्थायी भाषी वीर रस—। भाव यह कि 'वीरों ने अपने शरीरों को' इत्यादि से उनके उत्साह बीर के जान से कर्ने

के ज्ञान से कर्ता और कमें की समस्त वाक्यार्थ में अनुगत रूप से प्रतीति होती हैं हैं। अनुसार बीच में पाठ न होने पर भी सुतरां बीर ही व्यवधायक है।। २७॥

और अन्यन्न-। मुक्तक आदि में। वह प्रुङ्गार सुकुमारतम है, यह (बार्म का

रतेश्व स्वरूपेनापि निमित्तेन भङ्गसम्भवात्सुकुमारतमः सर्वेभ्यो रसेभ्यो मनागपि विरोधिसमावेशं न सहते।

अवधानातिश्वायवान् रसे तत्रैव सत्कविः।
अवेत्तस्मिन् प्रजादो हि झटित्येवोपलक्ष्यते॥ २९॥
तत्रैव च रसे सर्वेभ्योऽपि रसेभ्यः सौकुमार्यातिश्वययोगिनि
कविरवधानवान् प्रयत्नवान् स्यात्। तत्र हि प्रमाद्यतस्तस्य सहृदयमध्ये
क्षिप्रमेवावज्ञानविषयता भवति। शृङ्गारस्तो हि संसारिणां नियमेनानुभवविषयत्वात् सर्वरसेभ्यः कमनीयतया प्रधानभृतः।
एवं च सति—

विनेयानुन्मुखीकर्तुं काव्यशोभार्थमेव वा। तद्विरुद्धरसस्पर्शस्तदङ्गानां न दुष्यति॥३०॥

परिपोषरूप होने से और रित का थोड़े भी निमित्त से भक्न सम्भव हो जाने से सब रसों से अधिक सुकुमार होता है, थोड़ा भी विरोधी का समावेश नहीं सहन करता।

सत्कवि उसी रस में अतिशय अवधान करे, क्योंकि उसमें प्रमाद झट से छित

हो जाता है ॥ २९॥

सभी रसों से अतिहाय सौकुमार्य रखने वाले उसी रस में कवि अवधान करे, प्रयस्त्र शील हो। क्यों कि उसमें प्रमाद करते हुए उसका अज्ञान शील्ल ही सहद्यों के मध्य में विदित हो जायगा। श्रङ्गार रस संसारी जनों के नियमतः अनुमव का विषय होने के कारण सभी रसों से कमनीय होने के कारण प्रधानसूत है।

और ऐसा होने पर— शिष्यों को उन्मुख करने के छिए जो कान्य की शोभा है उसके छिए ही उसके विरुद्ध रसों में उसके अङ्गों का स्पर्श अथवा दूषित नहीं होता ॥ ३० ॥

लोचनम्

सुकुमारस्तावद्रसजातीयस्ततोऽपि करुणस्ततोऽपि शृङ्गार इति तम-

प्रत्ययः ।। २६-२६ ।।
एवं चेति । यतोऽसौ सर्वसंवादीत्यर्थः । तिदिति । श्रङ्गारस्य विरुद्धा ये
सान्ताद्यस्तेष्वपि तद्ङ्गानां श्रङ्गाराङ्गानां सम्बन्धी स्पर्शो न दुष्टः । तया
सम्बन्ध है । एक तो रसमात्र सुकुमार होता है, उसमें भी करण और उसमें भी श्रङ्गार
स्त लिए 'तमप्' प्रत्यय है ।। २६-२९ ॥

और पेसा—। अर्थात् जिस कारण वह (ग्रुङ्गार) सर्वसंवादी (अर्थात् सभी तहरयों के हृदव का संवाद रखने वाला) है। उसके—। ग्रुङ्गार के विरुद्ध जो शान्त

शृङ्गारविरुद्धरसस्पर्शः शृङ्गाराङ्गानां यः स न केवलमित्रोधलक्ष. णयोगे सित न दुष्यति याविद्वनियानुन्मुखीकर्तुं काव्यशोमार्थमेव व क्रियमाणो न दुष्यति । शृङ्गाररसाङ्गेरुन्मुखीकृताः सन्तो हि विनेपाः

श्रङ्गार के विरुद्ध रसों में श्रङ्गार के अङ्गों का जो स्पर्श है वह न केवल अविरोध है लिए जाना योग होने पर नहीं दूषित होता, बिक शिष्यों को उन्मुख करने के निमित्र कान्य की शोभा के लिए ही अथवा किया जाता हुआ नहीं दूषित होता। श्रोहि श्रङ्गार रस के अङ्गों द्वारा उन्मुख किए जाने पर शिष्य लोग सुखपूर्वक विना है

लोचनम्

भङ्गचा रसान्तरगता अपि विभावानुभावाद्या वर्णनीया यया शृङ्गाराङ्गमार मुपागमन्। यथा ममैव स्तोत्रे—

> त्वां चन्द्रचूडं सहसा स्पृशन्ती प्राणेश्वरं गाढवियोगतप्ता। सा चन्द्रकान्ताकृतिपुत्रिकेव संविद्विलीयापि विलीयते मे॥

इत्यत्र शान्तविभावानुभावानामपि शृङ्गारभङ्गचा निरूपणम्। विनेशतुन्मुखीकर्तुं या काव्यशोभा तद्र्यं नैव दुष्यतीति सम्बन्धः। वाष्रह्णेन
पक्षान्तरमुच्यते। तदेव व्याचष्टे—न केवलमिति। वाशव्दस्यैतद्व्याख्यानम्।
अविरोधलक्षणं परिपोषपरिहारादि पूर्वोक्तम्। विनेयानुन्मुखीकर्तुं या काव्यशोभा तद्र्थमपि वा विरुद्धसमावेशः न केवलं पूर्वोक्तः प्रकारैः, न तु काव्यशोभा विनेयोन्मुखीकरणमन्तरेणास्तेः, व्यवधानाव्यवधाने नापि लग्नेते
आदि हैं उनमें भी उस शृङ्गार के अङ्गों का सम्बन्धी स्पर्ध दोषयुक्त नहीं। उस अङ्गी
से रसान्तरगत भी विभाव, अनुभाव आदि का वर्णन करना चाहिए जिसते (वे)
शृङ्गार के अङ्ग वन जाँष। जैसे, मेरे ही स्तोत्र में—

चन्द्र का भूषण धारण करने वाले तुम प्राणेश्वर को सहसा स्पर्श करती हुई, गाँ वियोग से तम मेरी संवित् (अन्तः करण अथवा उसकी वृत्ति) चन्द्रकान्त की बनी पुत्री

की मांति विलीन होकर भी विलीन हो रही है।

यहां शान्त के विभाव और अनुभावों का भी शृङ्गार की भङ्गी से निरूपण है। 'शिष्यों को उन्मुख करने के लिए जो काव्य की शोभा है उसके लिए नहीं दूषित होगें यह (वाक्य का) सम्बन्ध है। 'अथवा' ग्रहण से पक्षान्तर कहा गया है। उसी ब व्याख्यान करते हैं—न केवल—। 'अथवा' शब्द का यह व्याख्यान है। पिरी परिहार आदि अविरोध के लक्षण पहले कहे जा चुके हैं। शिष्यों को उन्मुख करते हिए जो काव्यं की शोभा है उसके लिए भी अथवा विरुद्ध समावेश है, न केवल पूर्वी प्रकारों से (विरुद्ध समावेश नहीं दूषित होता है), न कि काव्य की शोभा शिष्यों के उन्मुख करने के बिना हो सकती है, (बिल्क वह तो रसान्तर से व्यवधान और

मुखं विनयोपदेशान् गृह्णन्ति । सदाचारोपदेशरूपा हि नाटकादिगोष्टी विनेयजनहितार्थमेव मुनिभिरवतारिता ।

र्कि च शृङ्गारस्य सकलजनमनोहराभिरामत्वात्तदङ्गसमावेशः काच्ये शोभातिश्यं पुष्यतीत्यनेनापि प्रकारेण विरोधिनि रसे शृङ्गारा-ङ्गसमावेशो न विरोधी । ततश्र—

उपदेशों को प्रहण कर लेते हैं। सदाचार के उपदेशरूप नाटक आदि गोष्टियों को सुनियों ने शिप्य जनों के हित के लिए ही निकाला है।

और भी, श्रङ्गार क्योंकि समस्त लोगों के मन को हरण करने वाला एवं सुन्दर होता है इस कारण उसके अङ्गों का समावेश काव्य में अतिशय शोभा को पुष्ट करता है, इस प्रकार भी विरोधी रस में श्रङ्गार के अङ्गों का समावेश विरोधी नहीं। और इसलिए—

लोचनम्

यथान्यैर्ग्याख्याते । सुस्रिमिति । रञ्जनापुरःसरिमत्यर्थः । ननु कान्यं क्रीडारूपं क च वेदादिगोचरा उपदेशकथा इत्याशङ्कर्णाह—सदाचारेति । सुनिर्मिरिति— भरतादिभिरित्यर्थः । एतच प्रभुमित्रसम्मितेभ्यः शास्त्रेतिहासेभ्यः प्रीतिपूर्वकं जायासम्मित्तत्वेन नाट्यकाव्यगतं व्युत्पत्तिकारित्वं पूर्वमेव निरूपितमस्मा-भिरिति न पुनरुक्तभयादिह लिखितम् ।

ननु श्रङ्गाराङ्गताभङ्गन्या यद्विभावादिनिरूपणमेतावतैव किं विनेयोन्मुखी-कारः। नः अस्ति प्रकारान्तरं, तदाह—किं चेति। शोभातिश्यमिति। अलङ्कार-विशेषमुपमाप्रभृतिं पुष्यित सुन्द्रीकरोतीत्यर्थः। यथोक्तम्—'काव्यशोभायाः अव्यवधान से भी प्राप्त होती है, जैसा कि अन्य छोगों द्वारा किए गए व्याख्यान में। सुल्प्यंक अर्थात् रज्ञनापूर्वंक। 'काव्य तो क्रीडा रूप है फिर वेद आदि में रहने वाली उपदेश की कथा कहां?' यह आशङ्का करके कहते हैं—सदाधार—। सुनियों ने—। अर्थान् भरत आदि ने। प्रभुसम्मित तथा मित्रसम्मित शास्त्रों और इतिहासों से (अतिरिक्तः ही) यह प्रीतिपूर्वंक जायासम्मित रूप से नाट्यात और काव्यगत व्युत्पत्तिकारित्व को हमने पहले ही निरूपण किया है, इसलिए पुनक्क होने के भय ते यहां नहीं लिखा।

(शङ्का) शृङ्कार के अङ्ग होने की भङ्गी जो विभाव आदि का निरूपण है उतने से ही (काम चल जायगा) शिष्यों को उन्मुख करना क्या ? (समाधान) नहीं; प्रका-रान्तर है, उसे कहते हैं—और भी—। अतिशय शोभा को—। अर्थात् उपमा प्रभृति अलङ्कार विशेष को पुष्ट करता है। जैसे, कहा है—'काव्य की शोभा करने वाले धर्म

सत्यं मनोरमा रामाः सत्यं रम्या विभूतयः। कि तु मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्गलोलं हि जीवितम्॥ इत्यादिषु नास्ति रसविरोधदोषः।

विज्ञायेत्यं रसादीनामविरोधविरोधयोः। विषयं सुकविः काव्यं कुर्वन्मुद्यति न किचित्॥ ३१॥

'यह ठीक है कि खियां मनोरम होती हैं, यह ठीक है कि विभूतियां रम्य होती हैं, किन्तु जीवन मतवाली अङ्गना के कटाच-भङ्ग की भांति चञ्चल होता है।'

इत्यादि में रसविरोध का दोष नहीं है।

इस मकार रस आदि के अविरोध और विरोध के विषय को जान कर सुकृति काच्य निर्माण करता हुआ कहीं पर भ्रमित नहीं होता ॥ ३१॥

लोचनम्

कर्तारो धर्मा गुणास्तव्तिशयहेतवस्त्वलङ्कारा' इति । मत्ताङ्गनेति । अत्र हि शान्तिविभावे सर्वस्यानित्यत्वे वर्ण्यमाने न कस्यचिद्धिभावस्य शृङ्गारमङ्गण निबन्धः कृतः, किं तु सत्यिमिति परहृद्यानुप्रवेशोनोक्तम् ; न खल्वलीक वैराग्यकौतुकर्श्च प्रकटयामः, अपि तु यस्य कृते सर्वमभ्यर्थ्यते तदेवेदं चलिमिति; तत्र मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्गस्य शृङ्गारं प्रति सम्भाव्यमानिष्माण नुभावत्वेनाङ्गस्य लोलतायागुपमानतोक्तेति प्रियतमाकटाक्षो हि सर्वस्याभित्वषणीय इति च तत्प्रीत्या प्रयुत्तिमान् गुडिजिह्विकया प्रसक्तानुप्रसक्त वस्तुतत्त्वसंवेदनेन वैराग्ये पर्यवस्यित विनेयः ॥ ३०॥

तदेतदुपसंहरन्नस्योक्तस्य प्रकरणस्य फलमाह—विज्ञायेत्थमित ॥ ३१॥
गुण है और (शोमा) को बढ़ाने वाले अलङ्कार हैं'। मतवाली अङ्गना—। यहां सर्ग का अनित्यत्व रूप शान्त के विभाव के वर्णन में किसी विभाव का श्रृङ्कार की भङ्गी है निवन्धन नहीं किया है, 'किन्तु ठीक है' यह दूसरे के हृदय में अनुप्रवेश के द्वारा कही है; हम मिष्या बैराग्य के कौतुक के प्रति किच प्रकट करते हैं, अपितु जिसके लिए सर्व कुछ चाहते हैं वही यह (जीवन) चन्नल है; बहां श्रृङ्कार के प्रति विभाव और अनुभव के सम्भाव्यमान होने से अङ्गभूत मतवाली अङ्गना के अपाङ्गभङ्ग की चन्नलता में उप मानता कही गई है, क्यों कि प्रियतमा का कटाक्ष सबका अभिलवणीय है इसिल्य उसकी प्रीति से प्रवृत्त होकर शिष्य गुडजिह्निका द्वारा प्रसक्तानुप्रसक्त वस्तुओं के तत्व के संवेदन से वैराग्य में पर्यवसित होगा ॥ ३०॥

तो इसका उपसंहार करते हुए इस उक्त प्रकरण का फल कहते हैं — इस प्रकार " जानकर ॥ ३१॥

इत्थमनेनानन्तरोक्तेन प्रकारेण रसादीनां रसभावतदामासानां परस्परं विरोधस्याविरोधस्य च विषयं विज्ञाय सुकविः काव्यविषये प्रतिभातिश्चययुक्तः काव्यं कुवेन कचिन्मुह्यति ।

एवं रसादिषु विरोधाविरोधनिरूपणस्योपयोगित्वं प्रतिपाद्य व्यञ्जकवाच्यवाचकनिरूपणस्यापि तद्विपयस्य तत्प्रतिपाद्यते—

वाच्यानां वाचकानां च यदौचित्येन योजनम् । रसादिविषयेणैतत्कर्म मुख्यं महाकवेः ॥ ३२॥ वाच्यानामितिवृत्तविशेषाणां वाचकानां च तद्विषयाणां रसादि-

इस प्रकार अभी कहे गए प्रकार के अनुसार एस आदि रस, भाव उसके आभास के परस्पर विरोध और अविरोध के विषय को जान कर सुकवि काव्य के विषय में अतिकाय प्रतिभा से युक्त होकर काव्य निर्माण करता हुआ कहीं पर अमित नहीं होता।

इस प्रकार रस आदि में विरोध और अविरोध के निरूपण की उपयोगिता का प्रतिपादन करके उनके विषय (सम्बन्ध) के व्यक्षक वाच्यं तथा वाचक के निरूपण की भी उस (उपयोगिता) का प्रतिपादन करते हैं—

वाच्य और वाचकों का जो रसादिविषयक औचित्य से जोड़ना है महाकि

मुख्य कर्म है ॥ ३२ ॥

वाच्य अर्थात् इतिवृत्त विशेषां का और उनके विषय के वाचकों का रसादिविषयक

लोचनम्

रसादिषु रसादिविषये व्यञ्जकानि यानि वाच्यानि विभावादीनि वाचकानि च सुप्तिङादीनि तेषां यित्रह्मपणं तस्येति । तिद्विषयस्येति । रसादिविषयस्य । तिदिति उपयोगित्वम् । मुख्यमिति । 'आलोकार्थी' इत्यत्र यदुक्तं तदेवोपसंहृतम् । महाकवैरिति सिद्धवत्फलनिरूपणम् । एवं हि महाकवित्वं नान्यथेत्यथः । इति- चृत्तिविशेषाणामिति । इतिवृत्तं हि प्रचन्धवाच्यं तस्य विशेषाः प्रागुक्ताः— 'विभावभावानुभाव-सञ्चार्योचित्यचारुणः । विधिः कथाशरीरस्य' इत्यादिना ।

'रसादि में अर्थात् रसादि के विषय में जो वाच्य विभावादि और वाचक सुप् तिङ् आदि हैं उनका जो निरूपण हैं उसका। उनके विषय के—। रसादि के विषय के। उस—। उपयोगिता। मुख्य—। 'आलोकार्थी' में जो कहा है उसी का उपसंहार किया है। महाकि —। सिद्ध की भांति फल का निरूपण है, अर्थात् इस प्रकार महाकि वित्य होता है अन्यथा नहीं। इतिचृत्तविशेप—। इतिचृत्त प्रबन्ध का वाच्य होता है, उसके विशेष पहले कहे गए हैं—विभाव, भाव, अनुभाव और सल्चारी के औषित्य से

विषयेणौचित्येन यद्योजनमेतन्महाकवेर्प्युष्यं कर्म । अयमेव हि महाक वेर्ष्युष्यो व्यापारो यद्रसादीनेव ग्रुष्यतया काव्यार्थीकृत्य तज्ञक्य नुगुणत्वेन शब्दानामर्थानां चोपनिवन्धनम् ।

एतच रसादितात्पर्येण कान्यनिवन्धनं भरतादाविष सुप्रसिद्धः मेवेति प्रतिपादियतुमाह —

औचित्य के साथ जो जोड़ना है, यह महान् किव का मुख्य कर्म है। महाकित का मुख्य यही ब्यापार है जो रसादि को मुख्य रूप से कान्य का अर्थ बना कर उनकी, ब्युअना के अनुगुण रूप से शब्दों और अर्थों का उपनिवन्धन है।

और यह रसादि के तात्पर्य से काव्य का निवन्धन भरत आदि में भी सुप्रसिद् ही है यह प्रतिपादन करने के लिए कहते हैं—

लोचनम्

काव्यार्थीकृत्येति ! अन्यथा लौकिकशास्त्रीयवाक्यार्थेभ्यः कः काव्यार्थस्य विशेषः । एतच निर्णीतमाद्योद्दचोते-'काव्यस्यात्मा स एवार्थः' इत्यत्राः न्तरे ॥ ३२ ॥

एतच्चेति । यदस्माभिरुक्तमित्यर्थः । भरतादावित्यादिप्रहणादलङ्कारशाखेषु परुषाचा वृत्तय इत्युक्तं भवति । द्वयोरिप तयोरिति । वृत्तिलक्षणयोर्व्यवहारयोरित्यर्थः । जीवभूता इति । 'वृत्तयः काव्यमातृकाः' इति ब्रुवार्योन मुनिना रसोचिते विवृत्तसमाश्रयणोपदेशेन रसस्यैव जीवितत्वमुक्तम् । भामहादिभिश्च—

स्वादुकाव्यरसोनिमश्रं वाक्यार्थमुपभुञ्जते । शयमालीढमधवः पिबन्ति कटुभेषजम् ॥

मुन्दर कथाशरीर का विधान o' इत्यादि द्वारा। काव्य का अर्थ बनाकर —। अल्पा कौकिक और शास्त्रीय वाक्यार्थों से काव्यार्थ का विशेष (भेद) कौन होगा? यह प्रथम उद्योत में निर्णय कर चुके हैं—'काव्य का आत्मा वही अर्थ हैं' इस प्रसङ्ग में ॥ ३२॥

और यह—। अर्थात् जिसे हमने कहा है। 'भरत आदि में' इस ग्रहण से यह बात कही गई कि अलब्क्षार शास्त्रों में परुषा आदि वृत्तियां हैं। उन दोनों के भी—। अर्थात् दोनों वृत्ति रूप व्यवहारों के। जीवभूत—। 'वृत्तियां काव्य की माताएं होती हैं' यह कथन करते हुए मुनि ने रसोचित वृत्ति के समाश्रय के उपदेश द्वारा रस का ही जीविं तत्व कथन किया है। और भामह आदि ने—

स्वादु काव्य के रंस से मिले वाक्यार्थ का उपयोग करते हैं, (इसका मतलब हुन

कि) पहंछे मधु का आलेहन करके कटु औषध का पान करते हैं।

रसाचनुगुणत्वेन व्यवहारोऽर्थशब्दयोः। औचित्यवान्यस्ता एता वृत्तयो द्विविधाः स्थिताः ॥३३॥ व्यवहारो हि वृत्तिरित्युच्यते । तत्र रसानुगुण औचित्यवान् वाच्याश्रयो यो व्यवहारस्ता एताः कैशिक्याद्या वृत्तयः। वाचकाश्रया-

श्रोपनागरिकाद्याः । वृत्तयो हि रसादितात्पर्येण संनिवेशिताः कामपि नाट्यस्य काव्यस्य च च्छायामावहन्ति । रसादयो हि द्वयोरपि

तयोजीवभृताः । इतिवृत्तादि तु शरीरभृतमेव ।

अत्र केचिदाहुः--'गुणगुणिव्यवहारो रसादीनामितिवृत्तादिभिः सह युक्तः, न तु जीवशरीरव्यवहारः । रसादिमयं हि वाच्यं प्रतिभासते न तु रसादिभिः पृथम्भूतम्' इति । अत्रोच्यते--यदि रसादिमयमेव

अर्थ और शब्द का रसादि के अनुगुण रूप से जो औचित्यवान् व्यवहार है वह

ये दो प्रकार की वृत्तियां मानी गई हैं ॥ ३३ ॥

ब्यवहार 'वृत्ति' कहलाता है। वहां रस के अनुगुण औचित्यवान् वाच्याश्रित जो न्यवहार है वे ये कैशिकी आदि वृत्तियां हैं। और वाचकाश्रित (वृत्तियां) उपनाग-रिका आदि हैं। वृत्तियां रसादि के तात्पर्य से संनिवेशित होकर नाट्य और काव्य की अपूर्व शोभा कर देती हैं। रसादि उन दोनों के भी जीवभूत हैं। इतिवृत्त आदि तो शरीरभूत ही हैं।

यहां कुछ लोग कहते हैं---'रसादि का इतिवृत्त आदि के साथ गुणगुणिन्यवहार ठीक है न कि जीव-शरीरव्यवहार। क्यों कि वाष्य रसाविमय प्रतीत होता है न कि रसादि से प्रथम्मून (प्रतीत होता है)'। यहां कहते हैं-विद वाच्य रसादिमय ही

लोचनम

इत्यादिना रसोपयोगजीवितः शब्दवृत्तिलक्षणो व्यवहार उक्तः। शरीरभूत-मिति । 'इतिवृत्तं हि नाट्यस्य शरीरं' इति मुनिः । नाट्यं च रस एवेत्युक्तं शकः।

गुणगुणिव्यवहार इति । अत्यन्तसम्मिश्रतया प्रतिभासनाद्धर्मधर्मिव्यवहारो

युक्तः । न त्विति । क्रमस्यासंवेदनादिति भावः ।

इत्यादि द्वारा रस के उपयोग से जीवित शब्दवृत्तिरूप व्यवहार कहा गया है। कारीरभून-। मुनि के अनुसार 'इतिवृत्त नाट्य का कारीर है'। और नाट्य रस ही है यह पहले कह चुके हैं।

गुणगुणिब्यवहार्—। अत्यन्तः मिले-ग्रुले (सम्मिश्र) रूप से मालूम पड्ने के कारण

थर्मेर्घीमव्यवहार ठीक है। न कि—। भाव यह कि कम मालूम नहीं पड़ता।

वाच्यं यथा गौरत्वमयं श्वरीरम् । एवं सित यथा श्वरीरे प्रतिभासमाने नियमेनैव गौरत्वं प्रतिभासते सर्वस्य तथा वाच्येन सहैव रसादयोऽपि सहृदयस्यासहृदयस्य च प्रतिभासेरन् । न चैत्रम् ; तथा चैतत्प्रतिपादि-तमेव प्रथमोइयोते ।

स्यान्मतम् ; रत्नानामिव जात्यत्वं प्रतिपत्तृविशेषतः संवेद्यं वाच्यानां है, जैसे शरीर गौरत्वमय है। ऐसा होने पर जैसे शरीर के प्रतीत होने पर नियमतः ही गौरत्व सबको प्रतीत होता है उस प्रकार वाच्य के साथ ही रसादि भी सहदय और असहदय को प्रतीत होने चाहिए। और ऐसा नहीं होता, जैसा कि प्रथम उद्योत में प्रतिपादन किया ही जा चुका है।

यह कह सकते हैं कि रहों के जात्यस्व की भांति वाच्यों का रसादि रूपस्व प्रति-

लोचनम्

प्रथमेति । 'शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते' इत्यादिना प्रतिपादितमदः। ननु यद्यस्थ धर्मरूपं तत्तत्प्रतिमाने सर्वस्य नियमेन भातीत्यनैकान्तिकमेतत्। माणिक्यधर्मो हि जात्यत्वलक्षणो विशेषो न तत्प्रतिभासेऽपि सर्वस्य नियमेन भातीत्याशङ्कते—स्यादिति । एतत्परिहरति—नैवमिति । एतदुक्तं भवति—अत्यन्तोन्मप्रस्वभावत्वे सति तद्धर्मत्वादिति विशेषणमस्माभिः कृतम् । उन्मप्तः स्पता च न रूपवज्ञात्यत्वस्य, अत्यन्तलीनस्वभावत्वात् । रसादीनां चोन्म- स्वतास्त्येवेत्येवं केचिदेतं प्रन्थमनेषुः । अस्मद्गुरवस्त्वाहुः—अत्रोच्यत इत्यन्ते स्वसुच्यते—यदि रसादयो वाच्यानां धर्मास्तथा सति द्वौ पक्षौ रूपादिसदृशा

प्रथम—। 'शब्द और अर्थ के शासन के ज्ञान मात्र से नहीं जाना जाता है' इत्यादि

द्वारा यह प्रतिपादन किया जा चुका है।

(शक्का) जो (गौरत्वादि) जिस (शरीरादि) का धर्मरूप है, वह (गौरत्वादि) उस (शरीरादि) के प्रतीत होने पर सब को नियमतः प्रतीत होते हैं, यह (नियम) खनैकान्तिक (व्यभिचारी) है, क्योंकि माणिक्य का धर्म जात्यत्वरूप विशेष उस (माणिक्य) के प्रतीत होने पर भी सबको नियमतः प्रतीत नहीं होता, यह आशक्का करते हैं—यह कह सकते हैं—। इसका परिहार करते हैं—ऐसा नहीं—। बात यह कही गई—'हमने यह विशेषण बनाया है कि उसका धर्म अत्यन्त उन्मान स्वभाव बाला होना चाहिए (अर्थात् धर्म को बस्तु से अत्यन्त भिन्न रूप से प्रतीत होना चाहिए)। और जात्यत्व में रूप की भांति उन्मान रूपता (वस्तु से भिन्न रूपता) नहीं, क्योंकि वह अत्यन्त लीन स्वभाव का है। और रसादि में उन्मानता है ही' इस प्रकार इसको कुछ लोगों ने लगाया है। परन्तु हमारे गुरु कहते हैं—'यहां कहते हैं' इससे यहं बात कहीं गई है—यदि रसादि वाच्यों के धर्म हैं, ऐसा होने पर दो पक्ष होंगे (तो वे रसादि

रसादिरूपत्वमिति । नैवम् ; यतो यथा जात्यत्वेन प्रतिमासमाने रहे रह्मस्वरूपानतिरिक्तत्वमेव तस्य लक्ष्यते तथा रसादीनामिष विभावानुभावादिरूपवाच्याव्यतिरिक्तत्वमेव लक्ष्येत । न चैवम् ; न हि
विभावानुभावव्यभिचारिण एव रसा इति कस्यचिद्वगमः । अत एव
च विभावादिप्रतीत्यविनाभाविनी रसादीनां प्रतीतिरिति तत्प्रतीत्योः

पत्ता विशेष द्वारा संवेध है। (किन्तु) ऐसा नहीं; क्योंकि जिस प्रकार जात्यत्व रूप से प्रतिभासमान रत्न में उस (जात्यत्व) को रत्न के स्वरूप से अनितिरिक्तता छित होती है उस प्रकार रसादि की भी विभाव, अनुभाव आदि रूप वाच्य से अध्यितिरिक्तता ही छित्तत होनी चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं होता, क्योंकि किसी के ऐसी प्रतीति नहीं होती कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी ही रस हैं। और इसिछिए विभावादि की प्रतीति की अविनाभाविनी रसादि की प्रतीति है, इस प्रकार उन

लोचनम्

वा स्युमीणिक्यगतजात्यत्वसदृशा वा । न तावत्त्रथमः पक्षः, सर्वोन् प्रति तथाः नवभासात् । नापि द्वितीयः, जात्यत्ववदनितिक्तत्वेनाप्रकाशनात् । एष च हेतुराचेऽपि पन्ने सङ्गच्छत एव । तदाह—स्यान्मतिमत्यादिना न चैविमत्य-न्तेन । एतदेव समर्थयति—न हीति । अत एव चेति । यतो न वाच्यधर्मत्वेन रसादीनां प्रतीतिः, यत्रश्च तत्प्रतीतौ वाच्यप्रतीतिः सर्वथानुपयोगिनी तत एव हेतोः क्रमेणावश्यं भाव्यं, सह्भूतयोग्गपकारायोगात् । स तु सहृदयभावना-भ्यासात्र लच्यते अन्यथा तु लच्येतापीत्युक्तं प्राक् । यस्यापि प्रतीतिविशेषा-त्मेव रस इत्युक्तः, प्राक्तस्यापि व्यपदेशिवक्तवाद्रसादीनां प्रतीतिरित्येवमन्यत्र ।

धर्म) रूपादि के सहश हैं अथवा माणिक्य में रहने वाले जात्यत्व के सहश हैं। प्रथम पक्ष नहीं होगा, क्योंकि (रसादि धर्म) सब को उस प्रकार प्रतीत नहीं होते। दूसरा भी नहीं होगा, क्योंकि जात्यत्व की भांति अनतिरिक्त रूप से प्रकाशित नहीं होते। यह हेतु प्रथम पक्ष में संगत होता ही है। उसे कहते हैं—'यह कह सकते हैं' इत्यादि द्वारा 'ऐसा नहीं इस (ग्रन्थ) तक। इसी का समर्थन करते हैं—नहीं होतो कि—। और इसिल्यु—। जिस कारण वाच्य के धर्म के रूप में रसादि की प्रतीति नहीं है और जिस कारण उस (रसादि) की प्रतीति में वाच्य की प्रतीति सर्वथा लनुपयोगिनी है उसी कारण से कम को अवश्य होना चाहिए। क्योंकि साथ में उत्पन्न होने वाले एक दूसरे का उपकार नहीं कर सकते। परन्तु वह कम सहदयों की भावना के अम्यास से नहीं लक्षित होता अन्यथा लक्षित भी होता यह पहले कह चुके हैं। पहले जिसकी भी यह उक्ति है कि रस प्रतीतिविशेष रूप ही है उसकी भी रसादि की प्रतीति ('राहु का सिर' की मांति) व्यपदेशिवद्भाव (भेदारोप) से होगी। इसी प्रकार अन्यत्व भी।

कार्यकारणभावेन व्यवस्थानात्क्रमोऽवश्यम्भावी। स तु लाधवान प्रकाश्यते 'इत्यलक्ष्यक्रमा एवं सन्तो व्यङ्गचा रसादयः' इत्युक्तम्।

नतु शब्द एव प्रकरणाद्यविक्छनो वाच्यव्यङ्गचयोः सममेत्र प्रतीतिम्रपजनयतीति किं तत्र क्रमकल्पनया । न हि शब्दस्य वाच्य-प्रतीतिपरामर्श एव व्यञ्जकत्वे निवन्धनम् । तथा हि गीतादिशब्देभ्यो-ऽपि रसामिव्यक्तिरस्ति । न च तेषामन्तरा वाच्यपरामर्शः । अत्रापि प्रतीतियों में कार्यकारणभाव के होने से क्रम अवश्यम्भावी है, परन्तु वह लावन के कारण प्रकाशित नहीं होता, इस लिए 'अल्ब्यकम होते हुए ही रसादि व्यङ्गब होते हैं' यह कहा गया है।

(शक्का) शब्द ही प्रकरणादि से सहकृत होकर वाच्य और व्यक्क्य की साथ ही प्रतीति उत्पन्न करता है, वहाँ क्रम की कल्पना से क्या ? वाच्य की प्रतीति का परामर्श ही शब्द के व्यक्षक होने में कारण तो है नहीं। जैसा कि गीत आदि शब्दों से भी रस की अभिव्यक्ति है, न कि वीच में उन (गीतादि शब्दों) के वाच्य का

लोचनम्

ननु भवन्तु वाच्यादितिरिक्ता रसादयस्तत्रापि क्रमो न लच्यत इति ताव-स्वयैवोक्तम् । तत्कल्पने च प्रमाणं नास्ति । अन्वयव्यतिरेकाभ्यामर्थप्रतीति-मन्तरेण रसप्रतीत्युद्यस्य पद्विरिहतस्वरालापगीतादौ शब्दमात्रोपयोगकृतस्य दर्शनात् । ततश्चैकयैव सामप्रचा सहैव वाच्यं व्यङ्ग-याभिमतं च रसादि भातीति वचनव्यञ्जनव्यापारद्वयेन न किञ्जिदिति तदाह—निवित । यत्रापि गीतशब्दानामर्थोऽस्ति तत्रापि तत्प्रतीतिरनुपयोगिनी प्रामरागानुसारेणापहस्ति-तवाच्यानुसारतया रसोदयदर्शनात् । न चापि सा सर्वत्र भवन्ती दृश्यते, तदेतदाह—न चेति । तेषाभिति गीतादिशब्दानाम् । आदिशब्देन वाद्यवित

मानते हैं कि रसादि वाच्य से अतिरिक्त हैं, उनमें भी कम लक्षित नहीं होता यह बात तुमने ही कही है। उस (क्रम) की कल्पना में प्रमाण नहीं है। क्योंकि अन्वय-व्यतिरेक से अर्थ की प्रतीति के बिना, पदिवरिहत स्वरालाप वाले गीतादि में शब्दमात्र के उपयोग से हुआ रस-प्रतीति का उदय देखा जाता है। तब एक ही सामग्री से साथ ही वाच्य और व्यक्त्रय के रूप में अभिमत रसादि प्रतीत होता है, इस प्रकार दो वचन और व्यक्तन व्यापार से कुछ नहीं होता, उसे कहते हैं—(शक्ता)—। जहां भी गीत के शब्दों का अर्थ है वहां भी उसकी प्रतीति का उपयोग नहीं, क्योंकि ग्राम्य, राग के अनुसार वाच्य का अनुसरण छोड़ देने से रस का उदय देखा जाता है। ऐसा नहीं कि वह (वाच्य की प्रतीति) सब जगह होती देखी जाती है, इसलिए यह कहते हैं—वि—। 'उनका' गीतादि शब्दों का। 'आदि' शब्द से वाद्य शब्द, विलिपत शब्द आदि

ब्रूमः — प्रकरणाद्यवच्छेदेन व्यञ्जकत्वं शब्दानामित्यनुमतमेवैतद्स्मा-कम् । किं तु तद्वयञ्जकत्वं तेषां कदाचित्स्वरूपविशेषनिवन्धनं कदाचि-द्वाचकशक्तिनिवन्धनम् । तत्र येषां वाचकशक्तिनिवन्धनं तेषां यदि वाच्यप्रतीतिमन्तरेणैव स्वरूपप्रतीत्या निष्पन्नं तद्भवेन्न तिहं वाचक-शक्तिनिवन्धनम् । अथ तिनवन्धनं तिन्यमेनैव वाच्यवाचकभाव-प्रतीत्युत्तरकालत्वं व्यङ्गवप्रतीतेः प्राप्तमेव ।

परामर्श होता है। (समाधान) यहां भी हम कहते हैं—प्रकरण आदि के सहकार से शब्दों का व्यक्षकरन है यह हमें अनुमत ही है। किन्तु वह व्यक्षकरन उनका कभी स्वरूप विशेष के कारण और कभी वाचक शक्ति के कारण है। उनमें जिनका वाचक शक्ति के कारण है उनके यदि वाच्य की प्रतीति के बिना ही स्वरूप की प्रतीति से वह निष्पन्न हो तो वाचकशक्तिमूलक नहीं है और यदि वाचकशक्तिमूलक है तो नियमतः ही व्यक्ष्य की प्रतीति का वाच्यवाचकभाव की प्रतीति के उत्तरकाल में होना प्राप्त ही है।

लोचनम्

पितराब्दादयो निर्दिष्टाः । श्रनुमतमिति । 'यत्रार्थः राब्दो वा' इति ह्यवोचामेति भावः । न तहीं ति । ततश्च गीतवदेवार्थावगमं विनेव रसावभासः स्यात्काव्य-शब्देभ्यः, न चैवमिति वाचकशक्तिरिप तत्रापेक्षणीयाः सा च वाच्यनिष्ठैवेति प्राग्वाच्ये प्रतिपत्तिरित्युपगन्तव्यम् । तदाह्—श्रयेति । तदिति वाचकशक्तिः । वाच्यवाचकभावैति । सैव वाचकशक्तिरित्युच्यते ।

एतदुक्तं भवति—मा भूद्वाच्यं रसादिव्यक्षक्रम्; अस्तु शब्दादेव तत्प्रतीति-स्तथापि तेन स्ववाचकशक्तिस्तस्यां कर्तव्यायां सहकारितयावश्यापेक्षणीये-त्यायातं वाच्यप्रतीतेः पूर्वभावित्वमिति । ननु गीतशब्दवदेव वाचकशक्तिर्त्रा-निर्देष्ट हैं। अनुमत—। भाव यह कि 'जहां अयं अथवा शब्द'॰ यह हमने कहा है। तो वाचकशक्तिमूलक नहीं है—। तब तो गीत ही की भांति अयंज्ञान के बिना ही काव्य-शब्दों से रस की प्रतीति होगी, पर ऐसा नहीं, इसिलए वहां वाचकशक्ति की अपेक्षा है; और वह वाच्यनिष्ठ ही है, अतः पहले वाक्य का ज्ञान मानना चाहिए। उसे कहते हैं—यदि—। 'वह' अर्थात् वाचकशक्ति । वाच्यवाचकभाव—। वही वाचकशक्ति कहतो हैं।

े बात यह कही गई—वाच्य रसादि का व्यक्तक मत हो; शब्द ही से उनकी प्रतीति हो, तथापि उसे (शब्द को) अपनी वाचकशक्ति की उसे (रसादि की प्रतीति को) उत्पन्न करने में अवश्य अपेक्षा करनी होगी, इस कारण वाच्य की प्रतीति का पहले उत्पन्न होने की बात आ जाती है। (शक्क्या) गीत शब्दों की भांति ही यहां भी वाचक-

स तु क्रमो यदि लाघवान लक्ष्यते तर्तिक क्रियते। यदि च वाच्यव्रतीतिमन्तरेणैव प्रकरणाद्यवच्छिन्नशब्दमात्रसाध्या रसादिव्रतीतिः स्यात्तद्वनवधारितप्रकरणानां वाच्यवाचकभावे च स्वयमव्युत्पन्नानां प्रतिपत्तृणां काव्यमात्रश्रवणादेवासौ भवेत्। सहभावे च वाच्यप्रतिते-

वह कम यदि छाघव के कारण छत्तित नहीं होता तो क्या किया जाय ? और यदि वाच्य-प्रतीति के विना ही प्रकरणादि से सहकृत शब्दमात्र से साध्य रसादि की प्रतीति हो तो प्रकरण को नहीं समझे और स्वयं वाच्यवाचकभाव में ब्युरपत्तिरहित ज्ञाताओं को काव्यमात्र के सुनने से वह (रसादि को प्रतीति) होनी चाहिए। (वाच्य और व्यङ्गय की प्रतीति के) साथ होने पर वाच्य की प्रतीति का कोई उपशेष

लोचनम्

प्यनुपयोगिनी, यत्तु कचिच्छुतेऽपि काव्ये रसप्रतीतिर्न भवति तत्रोचितः प्रकरणावगमादिः सहकारी नास्तीत्याशङ्कचाह - यदि चेति । प्रकरणावगमो हि क खच्यते ? किं वाक्यान्तरसहायत्वम् ? अथ वाक्यान्तराणां सम्बन्धिवाच्यम्। खभयपरिज्ञानेऽपि न भवति प्रकृतवाक्यार्थावेदने रसोदयः । स्वयमिति । प्रकरणमात्रमेव परेण केनचिद्येषां व्याख्यातिमिति भावः । न चान्वयव्यतिरेक्वती वाच्यप्रतीतिमपह्नत्यादृष्टसद्भावाभावौ शरणत्वेनाश्रितौ मात्सर्यादृष्टिकं किञ्चित्रायः।

नन्वस्तु वाच्यप्रतीतेरुपयोगः क्रमाश्रयेण किं प्रयोजनम् , सहभावमात्रमेव ह्युपयोग एकसामप्रयधीनतालक्षणिमत्याशङ्कर्याह्—सहिति । एवं ह्युपयोग इति अनुपकारके सञ्ज्ञाकरणमात्रं वस्तुरुद्धन्यं स्यादिति भावः । उपकारिणो हि पूर्वः विक्ति का कोई उपयोग नहीं, किन्तु जो कहा पर काव्य के सुनने पर भी रस की प्रतीति नहीं होती है वहां उचित प्रकरण-ज्ञान आदि सहकारी नहीं है, यह आशङ्का करके कहते हैं —और यदि—। प्रकरण-ज्ञान किसको कहते हैं ? सहकारी वाक्यान्तर क्या है ? यदि वाक्यान्तरों का वाच्य है तो दोनों के (वाक्यान्तर और उसका वाच्य) परिज्ञान से भी प्रकृत वाक्य के अर्थं का ज्ञान करने पर रस का उदय नहीं होता । स्वयं—। आव यह कि किसी दूसरे ने किन्हीं (ज्ञाताओं) का प्रकरणमात्र ही व्याख्यान किया है। अभिप्राय यह कि यदि अन्वय-व्यतिरेक वाली वाच्यप्रतीति का अपह्नव करके प्रयोक्ष रूप से अद्दृष्ट के सद्भाव और अभाव को मानते हैं तो वे मात्सर्य से अधिक और की पृष्टि नहीं करते हैं।

अच्छा, वाच्य की प्रतीति का उपयोग तो माना, पर क्रम के आश्रयण से क्षां प्रयोजन है? एक सामग्री की अधीनतारूप सहभावमात्र ही उपयोग है, यह आश्र करके कहते हैं—सहभाव—। भाव यह कि इस प्रकार यदि उपयोग है तो अनुपकार का सिर्फ नामकरण वस्तुशून्य होगा। क्योंकि आपने भी अङ्गीकार किया है कि बी

रजुपयोगः, उपयोगे वा न सहभावः । येगामि स्वरूपविशेषप्रतीति-निमित्तं व्यञ्जकत्वं यथा गीतादिश्चव्दानां तेषामि स्वरूपप्रतीतेव्यङ्गय प्रतीतेश्च नियमभावी क्रमः । तत्तु श्चव्दस्य क्रियापौर्वापर्यमनन्यसाध्य-तत्फलघटनास्त्राशुभाविनीषु वाच्येनाविरोधिन्यभिधेयान्तरविलक्षणे रसादौ न प्रतीयते ।

नहीं है और यदि उपयोग है तो (उन दोनों का) सहभाव नहीं होगा। और जिनका भी स्वरूपविशेष प्रतीतिमूलक व्यक्षकत्व है, जैसे गीतादि शब्दों का, उनकी भी स्वरूपप्रतीति और व्यक्षध्रतीति का नियमतः क्रम है। किन्तु वह शब्द की क्रियाओं का पौर्वापर्य अनन्यसाध्य उस फल वाली आग्रुभाविनी घटनाओं में वाच्य से विरोध न रखने वाले तथा अन्य वाच्य से विल्हाण रसादि में प्रतीत नहीं होता है।

लोचनम्

भावितेति त्वयाप्यङ्गीकृतमित्याह—येषामिति । त्वद्द्षष्टान्तेनैव वयं वाच्य-प्रतीतेरिप पूर्वभावितां समर्थयिष्याम इति भावः । ननु संश्चेत्क्रमः किं न लद्यत इत्याशङ्कर्याह – तिलिति । क्रियापौर्वापर्यमित्यनेन क्रमस्य स्वरूपमाह—क्रियेते इति । क्रिये वाच्यव्यङ्गर्यप्रतीती यदि वाभिधाव्यापारो व्यञ्जनापरपर्यायो ध्वनव्यापारश्चेति क्रिये तयोः पौर्वापर्य न प्रतीयते । क्रेत्याह—रसादौ विषये । कीदृशि ? अभिधेयान्तरात्तद्मिधेयविशेषाद्विलक्षणे सर्वयेवानिभिषेये अनेन भवितव्यं तावत्क्रमेणेत्युक्तम् । तथा वाच्येनाविरोधिनि, विरोधिनि तु लस्यत एवेत्यर्थः । कुतो न लद्यते इति निमित्तसप्तमीनिर्दिष्टं हेत्वन्तरगर्मं हेतुमाह— श्वाशुमाविनीिष्विति । अनन्यसाध्यतत्फलघटनासु घटनाः पूर्वं माधुर्यादिलक्षणाः

उपकारी होता है वह पहले होता है, यह कहते हैं—जिनका—। भाव यह कि तुम्हारे दृष्टान्त से ही हम वाच्य-प्रतीति का भी पूर्व में होना समर्थन करेंगे। तो यदि कम है तो क्यों नहीं लक्षित होता, यह आशक्षा करके कहते हैं—किन्तु वह—। 'क्रियाओं का पौर्वापय' इसके द्वारा कम का स्वरूप कहते हैं—क्रिया—। 'जो की जांय' वे क्रिया हैं, यहां वाच्य और व्यङ्गच की प्रतीतियां (क्रिया) हैं, अथवा अभिघाव्यापार और व्यञ्जनाख्य ध्वनन व्यापार, ये क्रियायें हैं, उनका पौर्वापयं प्रतीत नहीं होता। कहां ? इस पर कहते हैं—रसादि विषय में। किस प्रकार के ? उस अभिध्य विशेष अभिध्यान्तर से विलक्षण, अर्थात् उसे सर्वथा ही अनभिद्येय होना चाहिए इसलिए 'क्रम से' यह कहा है। अर्थात् वह भी वाच्य से विरोध वाले (रसादि में), अविरोध वाले में तो लक्षित ही हो जाता है। किस कारण लक्षित नहीं होता, इस (प्रका के समाधान में) निमित्तसममी के द्वारा निर्देश करके दूसरा हेतु वेते हुए हेतु कहते हैं—आग्रुमाविनी—। 'अनन्यसाध्य उस फल वाली घटनाओं में' पहले गुणनिक्षण के अवसर में प्रतिपादित

लोचनम्

प्रतिपादिता गुणनिरूपणावसरे ताश्च तत्फलाः रसादिप्रतीतिः फलं यासाप्, तथा अनन्यत्तदेव साध्यं यासाम्, न ह्योजोघटनायाः करुणादिप्रतीतिः साध्या।

एतदुक्तं भवति —यतो गुणवति काव्येऽसंकीणविषयतया सङ्घटना प्रयुक्ता ततः क्रमो न लक्ष्यते । ननु भवत्वेवं सङ्घटनानां स्थितिः, क्रमस्तु कि न लक्ष्यते । ननु भवत्वेवं सङ्घटनानां स्थितिः, क्रमस्तु कि न लक्ष्यते अत आह्—श्राशुभाविनीषु । वाच्यप्रतीतिकालप्रतीक्ष्रणेन विनेव महित्येव ता रसादीन् भावयन्ति तदास्वादं विद्धतीत्यर्थः । एतदुक्तं भवति—सङ्घटनाव्यङ्ग-यत्वाद्रसादीनामनुपयुक्तेऽप्यथविज्ञाने पूर्वमेवोचितसङ्घटनाव्रवण्य यत आस्त्रितो रसास्वादस्तेन वाच्यप्रतीत्युक्तरकालभवेन परिस्फुटास्वाद्युक्तोऽपि पश्चादुत्पन्नत्वेन न भाति । अभ्यस्ते हि विषयेऽविनाभावप्रतीतिक्रम इत्थमेव न लक्ष्यते । अभ्यासो ह्ययमेव यत्प्रणिधानादिनापि विनेव संस्कारस्य वलवक्त्वात्सदेव प्रबुमुत्सुतया अवस्थापनिमत्येवं यत्र धूमस्तत्राग्निरिति हृदय-स्थितत्वाद्यातेः पक्षधम्ज्ञानमात्रमेवोपयोगि भवतीति परामर्शस्थानमाक्रमिति, महित्युत्पन्ने हि धूमज्ञाने तद्वचानिस्मृत्युपकृते तद्विज्ञातीयप्रणिधानानुसरणिद्विप्रतित्वत्वाद्वात्रभवेशविरहादाशुभाविन्यामग्निप्रतीतौ क्रमो न लक्ष्यते तद्वदिहापि।

माधुर्यादि लक्षण घटनाएं, रसादि की प्रतीति रूप फल है जिनका ऐसे वे (घटनाएं), तथा नहीं अन्य (अर्थात् वही) है साध्य जिनका (ऐसी वे घटनाएं), ओज वाली घटना का साध्य करुण आदि की प्रतीति नहीं है।

बात यह कही गई-जिस कारण गुणवान् काव्य में असङ्कीर्ण विषय के रूप में सङ्घटनाएं प्रयुक्त होती हैं, उस कारण क्रम लक्षित नहीं होता। इस प्रकार की सङ्घट नाओं की स्थिति हो, किन्तु ऋम क्यों नहीं लक्षित होता है ? इसलिए कहते हैं— आशुमाविनी—। वाच्य की प्रतीतिकाल की प्रतीक्षा के विना ही झट से वे रसादिका मावन करने लगती है, अर्थात् उनका आस्वाद कराने लगती हैं। बात यह कही गई रसादि के सङ्घटना से व्यञ्जय होने के कारण अर्थज्ञान के अनुपयुक्त होने पर भी पहले ही उचित सङ्घटना के श्रवण में ही जिस कारण थोड़ा स्फुरित (आसूत्रित) रसाखार होता है, (वह) वाच्य की प्रतीति के उत्तरकाल में होने वाले उस कारण से परिस्पृट आस्वाद से युक्त होकर भी पंक्चात् उत्पन्न रूप से प्रतीत नहीं होता, क्योंकि अमस्त विषय में अविनाभाव (अर्थात् व्याप्ति) की प्रतीति का कम यों ही नहीं लक्षित होता। अम्यास यही है जो कि प्रविधान आदि के बिना ही संस्कार के प्रबल होने के कारण हमेशा जानने के इच्छुक मान से अवस्थापन है, इस प्रकार 'जहां धूम है वहां अपि है इस ब्याप्ति के हृदय में स्थित होने के कारण केवल (धूम आदि का पक्षधर्मता ज्ञान है उपयोगी होता है, इस कारण परामर्श का स्थान ग्रहण कर लेता है, क्योंकि उस विक्र की व्याप्ति की स्मृति से उपकृत धूमज्ञान के झटिति उत्पन्न होने पर उन (धूमज्ञान और व्याप्तिस्मृति) से विजातीय प्रणिघान का अनुसरण आदि अन्य प्रतीतियों का की प्रवेश न होने से आशु होने वाली अग्नि की प्रतीति में क्रम लक्षित नहीं होता है

क्रिचित्तु लक्ष्यत एव । यथानुरणनरूपव्यङ्गचप्रतीतिषु । तत्रापि कथिमिति चेदुच्यते अर्थशक्तिम्लानुरणनरूपव्यङ्गचे ध्वनौ तावद-मिधेयस्य तत्सामध्यीक्षिप्तस्य चार्थस्याभिधेयान्तरविलक्षणतयात्यन्त-विलक्षणे ये प्रतीनी तयोरशक्यिनिह्नवो निमित्तनिमित्तिमाव इति स्फुटमेव तत्र पौर्वापर्यम् । यथा प्रथमोद्द्योते प्रतीयमानार्थसिद्ध्यर्थ-

परन्तु कहीं पर प्रतीत होता ही है, जैसे अनुरणन रूप ज्यङ्ग्य की प्रतीतियों में।
यदि कहो कि वहां पर भी कैसे ? तो कहते हैं—अर्थशक्तिमूल अनुरणनरूपन्यङ्गय
व्विन में अभिषेय की और उसकी सामर्थ्य से आचिस अर्थ की अन्य अभिषेय से
विलच्चण रूप होने के कारण अत्यन्त विलच्चण जो प्रतीतियां हैं, उनके निमित्तनिमित्तिभाव को छिपाया नहीं जा सकता, इसलिए स्पष्ट ही वहां पौर्वापर्य है। जैसे प्रथम
उद्योत में प्रतीयमान अर्थ को सिद्ध करने के लिए उदाहत गाथाओं में। और उस

यदि तुवाच्याविरोधी रसो न स्यादुचिता च घटना न भवेत्तल्लह्येतेव क्रम इति । चित्रकाकारस्तु पठितमनुपठतीति न्यायेन गजनिमीलिकया व्याचचत्ते— तस्य शब्दस्य फलं तद्वा फलं वाच्यव्यङ्गचप्रतीत्यात्मकं तस्य घटना निष्पादना यतोऽनन्यसाध्या शब्दव्यापारैकजन्येति । न चात्रार्थसतत्त्वं व्याख्याने किञ्चि- दुत्पश्याम इत्यलं पूर्ववंश्यैः सह विवादेन बहुना ।

यत्र तु सङ्घटनाव्यङ्गचत्वं नास्ति तत्र लद्द्यत एवेत्याह्—किचिति। तुल्ये व्यङ्गचत्वे कुतो भेद् इत्याशङ्कते—तत्रापीति। स्फुटमेवैति।

अविवक्षितवाच्यस्य पदवाक्यप्रकाशता । तदन्यस्यानुरणनुकपञ्जन्यस्य च ध्वनेः ॥

प्रकार यहां मी । किन्तु यदि रस वाच्य का अविरोघी न हो और घटना उचित हो तो कम लक्षित होगा हो ।

परन्तु 'चिन्द्रकाकार' ने 'पढ़े को ही पढ़ते हैं' इस न्याय के अनुसार गजिनसीलिका (हाथी की भांति ऊंघते हुए) व्याख्यान किया है—'उस शब्द का फल, प्रथवा वाच्य-व्यङ्गच प्रतीतात्मक वह फल, उसकी घटना अर्थात् निष्पादना जिस कारण अनन्य सांच्य है, अर्थात् एकमात्र शब्द के व्यापार से जन्य है।' इस व्याख्यान में कोई अर्थतत्त्व हम नहीं देखते। पूर्वजों के साथ बहुत विवाद अनावस्यक है!

किन्तु जहां सङ्घटना द्वारा व्यङ्गचत्व नहीं है वहां प्रतीत होता ही है, यह कहते हैं—परन्तु कहीं पर—। व्यङ्गचत्व के सहशा होने पर कैसे भेद है, यह आशङ्कां करते हैं—वहां पर भी—। स्पष्ट ही—।

विविधितवाच्य और उससे इतर अनुरणनरूप व्यक्तघ व्यक्ति पदप्रकाश्य और वाक्यप्रकाश्य होता है।

मुदाहृतासु गाथासु । तथाविधे च विषये वाच्यव्यङ्गचयोरत्यन् विलक्षणत्वाद्येव एकस्य प्रतीतिः सैवेतरस्येति न शक्यते वक्तुम्। शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्गचे तु ध्वनौ-

गावो वः पावनानां परमपरिमितां ग्रीतिम्रत्पादयन्तु

इत्यादावर्थद्वयप्रतीतौ शाञ्द्यामर्थद्वयस्योपमानोपमेयभावप्रतीति रुपमावाचकपदविरहे सत्यर्थसामध्यीदाक्षिप्तेति, तत्रापि सुलक्षमिषेक व्यङ्गचालङ्कारप्रतीत्योः पौर्वापर्यम् ।

पदप्रकाशशब्दशक्तिमुलानुरणनरूपन्यङ्गचेऽपि ध्वनौ विशेषण्यः स्योभयार्थसम्बन्धयोग्यस्य योजकं पदमन्तरेण योजनमञ्जाब्दमपर्या प्रकार के विषय में वाच्य और व्यक्त्य के अत्यन्त विलक्षण होने के कारण जो ही ए की प्रतीति है वही अन्य की है ऐसा नहीं कह सकते । किन्तु शब्दशक्तिमूल अनुत्ता रूपव्यङ्गय ध्वनि में-

'पावनों में श्रेष्ठ किरणें (गायें) आप छोगों की अपरिमित प्रीति उत्पन्न करें।' इत्यादि में, दो अर्थों की शाब्दी प्रतीति में उपमानीपमेयभाव की प्रतीति उपक वाचक पद के अभाव में अर्थ की सामर्थ्य से आचिस है, इसलिए वहां भी अभिके और न्यक्रय अलङ्कार की प्रतीतियों का पौर्वापर्य स्पष्ट लचित हो जाता है।

पद्मकाश शब्दशक्तिमूळ अनुरणनरूपव्यङ्गय ध्वनि में भी उमय अर्थ के हा सम्बन्ध के योग्य विशेषण पद को जोड़ने वाले पद के विना जोड़ना अशाब्द हो वा

लोचनम

इति हि पूर्व वर्णसङ्घटनादिकं नास्य व्यक्षकत्वेनोक्तमिति भावः। स्विति । 'भम धम्मिअ' इत्यादिकासु । ताश्च तत्रैव व्याख्याताः । शाबामि शान्द्यामपीत्यर्थः । उपमावाचकं यथेवादि । अर्थसामर्थ्यादिति । वाक्यार्थसा ध्योदिति यावत्।

एवं वाक्यप्रकाशाशब्द्शक्तिमूलं विचार्य पद्प्रकाशं विचार्यि प्रकाशेति । विशेषग्रपदस्येति । जङ इत्यस्य । योजकमिति । कूप स्व

भाव यह कि इसमें पहले इस (ध्विन) के व्यक्तजक रूप से वर्ण, सङ्कृता को नहीं कहा है। गाथाओं में—। 'भम धम्मिअ' इत्यादि में। वे वहीं पर हो चुकी हैं। शाब्दी (प्रतीति) में—। अर्थात् शाब्दी (प्रतीति) में भी । उपमान यथा, इव आदि । अर्थ की सामर्थ्य से-। वाक्यार्थ की सामर्थ्य से ।

इस प्रकार वाक्यप्रकाश शब्द शक्ति (ब्विन्) का विचार करके प्रकार र करते हैं— विचार करते हैं—पद्प्रकाश—। विशेषण पद कोः—। 'जड' इसको ।—जोदने

न्तु.

41

lig.

वेष-

पद-

यो-

रणक

₹1'

उपस-

E

TF.

桐

HIT

F

दवस्थितमित्यत्रापि पूर्ववदिभिधेयतत्सामध्यीक्षिप्तालङ्कारमात्रप्रतीत्योः मुस्थितमेव पौर्वापर्यम् । आर्थ्यपि च प्रतिपत्तिस्तथाविधे विषये उभयार्थसम्बन्धयोग्यशब्दसामध्यप्रसावितेति शब्दशक्तिमुला कल्प्यते । अविवक्षितवाच्यस्य तु ध्वनेः प्रसिद्धस्वविषयवैग्जुरूयप्रतीतिपूर्वकमेवार्था-न्तरप्रकाशनमिति नियमभावी क्रमः तत्राविवक्षितवाच्यत्वादेव वाच्येन सह व्यङ्गचस्य क्रमप्रतीतिविचारो न कृतः।

है तथापि अर्थ से अवस्थित होता है, इसिछए यहां भी पहले की मांति अभिषेय की और उसकी सामर्थ्य से आचिप्त अलङ्कारमात्र की प्रतीति का पौर्वापर्य सुस्थित ही है। उस प्रकार के विषय में आर्थी भी प्रतीति को उभय अर्थ के साथ सम्बन्ध के के योग्य शब्द से उत्पन्न की जाने के कारण शब्दशक्तिमूळ मानी जाती है। अवि-विज्ञतवाच्य ध्वनि का तो प्रसिद्ध अपने विषय में वैमुख्य की प्रतीतिपूर्वक ही अर्थान्तर का प्रकाशन है, अतः क्रम नियमतः होगा । वहां अविविद्यतवाच्य होने के कारण ही वाच्य के साथ व्यङ्गय के क्रम की प्रतीति का विचार नहीं किया है।

<u>खोचनम्</u>

अहमिति चोभयसमानाधिकरणतया संवलनम् । अभिषेयं च तत्सामर्थ्याक्षिप्तं च तयोरलङ्कारमात्रयोः। ये प्रतीती तयोः पौर्वापर्यं क्रमः। सुस्थितं सुलक्षित-मित्यर्थः । मात्रप्रह्योन रसप्रतीतिस्तत्राप्यलच्यक्रमैवेति दर्शयति । नन्वेवमार्थत्वं शब्दशक्तिमूलत्वं चेति विरुद्धमित्याशङ्कचाह—आर्थिपीति । नात्र विरोधः कश्चिविति भावः । एतच वितत्य पूर्वमेव निर्णीतमिति न पुनरुच्यते। स्वविषयेति । अन्धशब्दादेरुपहतत्त्वक्षुष्कादिः स्वो विषयः, तत्र यद्वैमुख्यमनादर इत्यर्थः । विचारो न कृत इति । नामघेयनिरूपणद्वारेगोति शेषः । सहमावस्य शिक्कुतुमत्रायुक्तत्वादिति भावः । एवं रसादयः कैशिक्यादीनामितिवृत्तभाग-'कूप' और 'मैं' इन दोनों को समानाधिकरण रूप से सम्मिश्रण हैं। अभियेय और उसकी सामर्थ्यं से आक्षिप्त उन दो अलङ्कार मात्रों की। जो प्रतीतियाँ हैं उनका पौर्वापर्य अर्थात् कम । युस्थित है अर्थात् युलक्षित है । 'मात्र' ग्रहण से यह दिखाते हैं कि रख की प्रतीति वहाँ भी सुलक्ष ही है। तब तो इस प्रकार आर्थ होना और शब्दशक्तिमूल होना विरुद्ध है, यह आशस्त्रा करके कहते हैं—आर्थी भी-। भाव यह कि यहाँ कोई विरोध नहीं। इसे विस्तारपूर्वक पहले ही निर्णय कर चुके हैं, इसलिये फिर नहीं कहते हैं। अपने विषय में-। अयांत् 'धन्म' आदि शब्द का 'उपहतचतुष्क' (अंघी आंखीं बाला आदमी) अपना विषय है, उसमें वैमुख्य अर्थात् अनादर। विचार नहीं किया है-। शेष यह है- 'नाम के निरुपण द्वारा'। भाव यह कि यहाँ सहभाव की शक्रा भी ठीक नहीं। इस प्रकार डांतवृत्त के आप रूप कैशिकी आदि

तस्मादिभधानाभिधेयप्रतीत्योरिव वाच्यव्यङ्गयप्रतीत्योनिमित्ति-मित्तिभावानियमभावी क्रमः । स त्क्तयुक्त्या क्रचिल्लक्ष्यते क्रिचेत्र लक्ष्यते ।

तदेवं व्यञ्जकमुखेन ध्वनिप्रकारेषु निरूपितेषु कश्चिद् न्यात् किमिदं व्यञ्जकत्वं नाम व्यङ्गचार्थप्रकाशनम्, न हि व्यञ्जकत्

इसिंछए अभिधान और अभिधेय की प्रतीति की भांति ही वाच्य बीर व्यङ्गय की प्रतीति का निमित्तनिमित्तिभाव के कारण क्रम नियमभावी है। किन् वह उक्त युक्ति के अनुसार कहीं पर छित्तत होता है, कहीं पर नहीं छित्तत होता है।

(शङ्का) तो इस प्रकार व्यक्षक के द्वारा ध्वनि के प्रकारों का निरूपण होने प्र यदि कोई कहे—क्या यह व्यक्षकत्व व्यङ्गध अर्थ का प्रकाशन (रूप) है १ अर्थ का लोचनम

रूपाणां वृत्तीनां जीवितसुपनागरिकाद्यानां च सर्वस्यास्योभयस्यापि वृत्तिव्यक्ति हारस्य रसादिनियन्त्रितविषयत्वादिति यत्प्रस्तुतं तत्प्रसङ्गेन रसादीनां वाच्यक्तिरिक्तत्वं समर्थयितुं क्रमो विचारित इत्येतदुपसंहरति—तस्मादिति । अभिषक्तिस्य शब्दरूपस्य पूर्वं प्रतीतिस्ततोऽभिषेयस्य । यदाह तत्र भवान्

'विष्यत्वमनापन्नैः श्ब्दैर्नार्थः प्रकाश्यते' इत्यादि ।

अतोऽनिर्ज्ञातरूपत्वात्किमाहेत्यभिधीयते' इत्यत्रापि चाविनाभाववत्सम् यस्याभ्यस्तत्वात्क्रमो न लच्येतापि ।

उद्द्योतारम्भे यदुक्तं व्यञ्जनमुखेन ध्वनेः स्वरूपं प्रतिपाद्यत इति तिव्वानी मुपसंहरन्व्यञ्जकभावं प्रथमोद्द्योते समर्थितमपि शिष्याणामेकप्रघट्टकेन हरि निवेशयितुं पूर्वपक्षमाह—तदेवमिति । कश्चिदिति । मीमांसकादिः । किमिदिमिति।

बौर उपनागरिका आदि वृत्तियों के जीवित हैं, क्यों कि यह समस्त वृत्तिव्यवहार का विका रसादि से नियन्त्रित होता है, यह जो प्रस्तुत था उसके प्रसंग से रसादि का वार्ज्यार्थ रिक्तत्व समर्थन करने के लिए क्रम विचार किया है। अब इसे उपसंहार करते हैं— इसिल्ए—। पहले शब्दरूप अभिघान की प्रतीति तब अभिघेय की। क्यों कि महावृक्षि का कहते हैं—

'स्वयं ज्ञात न हुए शब्दों से अर्थ प्रकाशित नहीं होता है' इत्यादि। इसलिए रूप के ज्ञात न होने के कारण 'क्या कहते हैं ?' 'यह कहते हैं' गहाँ की मी (अर्थात् आभिधान और अभिधेय की प्रतीतियों में भी) अविनाभाव की गीं समय (अर्थात् सन्द्वेत) के अम्यस्त होने के कारण क्रम लक्षित न भी होगा।

उद्योत के आरम्भ में जो कहा है कि व्यक्षक के द्वारा ध्विन का स्वरूप प्रतिविक्ष करते हैं, उसका अब उपसंहार करते हुए व्यक्षकत्व का प्रथम उद्योत में समर्थन है औ पर भी एक प्रकरण के द्वारा शिष्यों के हृदय में निविष्ट करने के लिए पूर्वपक्ष कहते 2

4-

19

ing.

W

14

याः

4

दि

il

वर्ष

1

ध्वन्यालोकः

व्यङ्गयत्वं चार्थस्य व्यञ्जकसिद्ध्यधीनं व्यङ्गयत्वम्, व्यङ्गयापेक्षया च व्यञ्जकत्वसिद्धिरित्यन्योन्यसंश्रयादव्यवस्थानम् । ननु वाच्यव्यति-रिक्तस्य व्यङ्गयस्य सिद्धिः प्रागेव प्रतिपादिता तत्सिद्ध्यधीना च व्यञ्जकसिद्धिरिति कः पर्यनुयोगावसरः। सत्यमेवैतत् ; प्रागुक्तयुक्ति-भिर्वाच्यव्यतिरिक्तस्य वस्तुनः सिद्धिः कृता, स त्वर्थो व्यङ्गयत्यैव

ब्यक्षकत्व और ज्यङ्गयस्य इसिलए अब्यवस्थित है कि ज्यङ्गयस्य की सिद्धि क्यक्षक की सिद्धि के अधीन है और ज्यङ्गय की अपेचा से ज्यक्षकस्य की सिद्धि है यह अन्योन्या-अय हो जाता है। (समाधान) वाच्य से ज्यतिरिक्त ज्यङ्गय की सिद्धि का प्रतिपादन पहले ही कर चुके हैं, और उसके अधीन ज्यक्षक की सिद्धि है, फिर प्रश्न का अवसर कैसा ? (शङ्का) यह ठीक ही है; पहले कही हुई युक्तियों द्वारा वाच्य से ज्यतिरिक्त वस्तु की सिद्धि की है, परन्तु उस अर्थ को ज्यङ्गयरूप से ही क्यों ज्यपदेश करते हैं ? और जहां (वह अर्थ) प्राधान्यतः रहता है वहां उसे वाच्यरूप से ही ज्यपदेश

लोचनम्

वत्त्यमाणश्चोदकस्यामिप्रायः। प्रागेवेति। प्रथमोद्द्योते अभाववादनिराकरणे। अतश्च न व्यञ्जकसिद्धःच तिसिद्धिर्येनान्योन्याश्रयः शङ्क्येत, अपि तु हेत्वन्त-रैस्तस्य साधितत्वादिति भावः। तदाह—तिसद्धीति। स तिति। अस्त्वसौ द्वितीयोऽर्थः, तस्य यदि व्यङ्ग्य इति नाम कृतम्, वाच्य इत्यपि कस्मान्न क्रियते ? व्यङ्ग्य इति वा वाच्याभिमतस्यापि कस्मान्न क्रियते ? अवगम्य-मानत्वेन हि शब्दार्थत्वं तदेव वाचकत्वम्। अभिधा हि यत्पर्यन्ता तत्रैवाभिधाय-कत्वमुचितम्, तत्पर्यन्तता च प्रधानीमूते तस्मिन्नर्थं इति मूर्धामिषक्तं ध्वनेर्य-

तो इस प्रकार—। कोई—। मीमांसक आदि । क्या यह—। अर्थात् चोद्यवादी (दोषद्रष्टा) का वच्यमाण अभिप्राय । पहले ही—। प्रथम उद्योत में अभाववाद के निराकरण के प्रसङ्ग में । भाव यह कि इसलिए व्यक्षक की सिद्धि से उसकी सिद्धि नहीं होती है, जिससे अन्योन्याश्रय की शङ्का की जाय, बल्क अन्य हेतुओं से वह सिद्ध किया जातां है । इसलिए कहते हैं— उसकी सिद्धि—। परन्तु उस—। माना कि वह दूसरा अर्थे है, यदि उसका 'वङ्ग्य' नाम देते हैं तो 'वाज्य' भी नाम क्यों नहीं करते? अथवा वाज्य रूप से अभिमत का भी 'व्यङ्ग्य' क्यों नहीं (नाम)करते है ? शब्द के द्वारा जो अवगम्य-मानत्व है वही वाचकत्व है । जहां तक अभिषा है वहीं अभिषायकत्व उचित है और उस (अभिषा) की पर्यन्तता प्रधानीभूत उस अर्थ में है, इस प्रकार जो ध्वनि का भूषिभिषिक्त रूप निरुपण किया गया है, उसमें ही अभिषा व्यापार को होना ठीक है ।

कस्माद्यपदिश्यते यत्र च प्राधान्येनानवस्थानं तत्र वाच्यतयैवासी व्यपदेष्टुं युक्तः, तत्परत्नाद्वाक्यस्य । अतश्च तत्प्रकाशिनो वाक्यस्य वाचकत्वमेव व्यापारः । कि तस्य व्यापारान्तरकल्पनया ? तस्मान्तात्पर्यविषयो योऽर्थः स तावन्मुख्यतया वाच्यः । या त्वन्तरा तथाविधे विषये वाच्यान्तस्प्रतीतिः सा तत्प्रतीतेरुपायमात्रं पदार्थप्रतीतिरिव वाक्यार्थप्रतीतेः ।

करना ठीक है, क्योंकि वाक्य का तास्पर्य उसी में है। और इसिक्टए उस (अर्थ) के प्रकाशक वाक्य का वाचकरव ही व्यापार है। उसके अन्य व्यापार की कल्पना से क्या छाम ? इसिक्टए जो अर्थ तास्पर्य का विषय है वह मुख्यरूप से वाच्य है। किन्तु जो उस प्रकार के विषय में बीच में वाच्यान्तर की प्रतीति है वह उस उस प्रतीति का वाक्यार्थप्रतीति का पदार्थप्रतीति की भांति उपायमात्र है।

लोचनम्

तत्रैवाभिधाव्यापारेण भवितुं युक्तम् । तदाह—यत्र चेति। इति । तद्र चङ्गन्याभिमतं प्रकाशयत्यवश्यं यद्वाक्यं तस्येति। उपायमात्रमित्यनेन साधारण्योक्त्या भाट्टं प्राभाकरं वैयाकरणं च पूर्वपक्षं सूचयति । भाट्टमते हि—

वाक्यार्थमितये तेषां प्रवृत्तौ नान्तरीयकम् । पाके ज्वालेव काष्टानां पदार्थप्रतिपादनम् ॥

इति शब्दावगतै: पदार्थेस्तात्पर्येण योऽर्थ उत्थाप्यते स एव वाक्यार्थः, स एव च वाच्य इति । प्राभाकरदर्शनेऽपि दीर्घदीर्घो व्यापारो निमित्तिनि वाक्यार्थः पदार्थानां तु निमित्तमावः पारमार्थिक एव । वैयाकरणानां तु सोऽपारमार्थिक इसलिए कहते हैं—और जहाँ—। उसके प्रकाशक—. उस व्यङ्गण्य रूप अभिमत को जो वाक्य अवस्य प्रकाशिक करता है उसका । 'उपाय मान्न' इस साधारण कथन से महि प्राभाकर और वैयाकरण पूर्वपक्ष को सूचित करते हैं। क्योंकि माहुमत में वाक्यार्थं के जोन के लिए उन (पदों) की प्रवृत्ति में पदार्थं का प्रतिपादन पाक कार्य में कार्धे की जन्नाका की मौति नान्तरीयक (उपाय मान्न) है।

इसलिए शब्दों से अवगत पदार्थों द्वारा तात्पर्य रूप से जो अर्थ उठाया जाता है वही पानयार्थ है और वही वाच्य है। प्राभाकरदर्शन में भी दीर्घदीर्घ व्यापार नैनितिक कार्यस्य पानयार्थ में (होता है), किन्तु पदार्थों का निमित्तभाव पारमाधिक ही होता है। (देवाकरणों की दृष्टि में) वह अपारमाधिक है यह विशेष है। इसे हमने प्रवर्थ

अत्रोच्यते यत्र शब्दः स्वार्थमिमदधानोऽर्थान्तरमवगमयित तत्र यत्तस्य स्वार्थाभिधायित्वं यच तदर्थान्तरावगमहेतुत्वं तयोरिविशेषो विशेषो वा। न तावद्विशेषःः यस्मात्तौ द्वौ व्यापारौ भिन्नविपयौ भिन्नरूपौ च प्रतीयेते एव। तथाहि वाचकत्वलक्षणो व्यापारः शब्दस्य स्वार्थविषयः गमकत्वलक्षणस्त्वर्थान्तरविषयः। न च स्वपरव्यवहारो वाच्यव्यङ्गययोरपह्नोतुं शक्यः, एकस्य सम्बन्धित्वेन प्रतीतेरपरस्य सम्बन्धिसम्बन्धित्वेन। वाच्यो ह्यर्थः साक्षाच्छब्दस्य

यहां कहते हैं — जहां शब्द अपने अर्थ का अभिधान करता हुआ अर्थान्तर का अवगमन कराता है वहां जो उसका उसका स्वार्थाभिधायित्व और जो उसके अर्थान्तर का अवगमहेतुत्व है उन दोनों में अविशेष है अथवा विशेष ? अविशेष तो नहीं है, क्योंकि वे दोनों क्यापार भिन्न विषय और भिन्नरूप प्रतीत होते ही हैं। जैसा कि शब्द का वाचकत्यरूप व्यापार अपने अर्थ को विषय करता है, किन्तु गमकत्वरूप (व्यापार) अर्थान्तर को विषय करता है। वाच्य और व्यक्त्य के स्व-पर व्यवहार का अपह्नव नहीं किया जा सकता, क्योंकि एक सम्बन्धीरूप से प्रतीत होता है दूसरा सम्बन्धी के सम्बन्धी रूप से। वाच्य अर्थ शब्द का सान्नात् सम्बन्धी है, किन्तु

लोचनम

इति विशेषः। एन्चास्माभिः प्रथमोद्दशेत एव वितत्य निर्णीतमिति न पुनरा-

यस्यते प्रनथयोजनैव तु क्रियते । तदेतन्मतत्रयं पूर्वपत्ते योज्यम् ।

श्रत्रेति, पूर्वपत्ते । उच्यत इति सिद्धान्तः । वाचकत्वं गमकत्वं चेति स्वरूपतो भेटः स्वार्थेऽर्थान्तरे च क्रमेग्रोति विषयतः। नतु तस्माचेदसौ गम्यते-ऽर्थः कथं तह्यंच्यतेऽर्थान्तरमिति । नो चेत्स तस्य न कश्चिदिति को विषयार्थं इत्याराङ्कचाह्—न चेति । न स्यादिति । एवकारो भिन्नक्रमः, नैव स्यादित्यर्थः। यावता न साक्षात्सम्बन्धित्वं तेन युक्त एवार्थोन्तरव्यवहार इति विषयभेद् उद्योत में ही विस्तार करके निर्णय किया है, इसिलए पुनः श्रम नहीं करते, किन्तु ग्रन्थ की योजना है कर देते हैं। इन तीनों मतों को पूर्वपक्ष में लगाना चाहिए।

यहां अर्थात् पूर्वपक्ष में । कहते हैं सिद्धान्त । वाचकत्व और गमकत्व यह स्वरूपतः भेद है और क्रम से स्वार्थ में और अर्थान्तर में विषयतः (भेद) है । यदि उस (शब्द) से वह अर्थ (ब्यप्क्षच अर्थ) अवगत होता है तो क्यों अर्थान्तर कहते हैं? यदि नहीं, तो उसका (वह) कोई नहीं, फिर 'विषय' का अर्थ क्या ? यह आशक्का करके कहते हैं—स्व-पर ब्यवहार—। नहीं होगा—। 'ही' मिन्नक्रम है, अर्थात् नहीं हो होगा। जिस कारण साक्षात् सम्बन्धित्व नहीं है उस कारण अर्थान्तर ब्यवहार ठीक ही

सम्बन्धी तदितरस्त्विभिधेयसामध्यीक्षितः सम्बन्धिसम्बन्धी । यदि च स्वसम्बन्धित्वं साक्षात्तस्य स्यात्तदार्थान्तरत्वव्यवहार एव न स्यात्। तस्माद्विषयभेदस्तावत्तयोवर्यापारयोः सुप्रसिद्धः । रूपभेदोऽपि प्रसिद्धः एव । न हि यैवाभिधानशक्तिः सैवावसमनशक्तिः । अवाचकस्यापि गीतशब्दादे रसादिलक्षणार्थावगमदर्शनात् । अशब्दस्यापि चेष्टादेर्श्वनिशेषः सुकविनार्थप्रकाशनहेतुः प्रदर्शित एव । तस्माद्भिन्निविषयः सम्बन्धी है । तस्माद्भिन्निविषयः सुकविनार्थप्रकाशनहेतुः प्रदर्शित एव । तस्माद्भिन्निविषयः सम्बन्धी है । यदि वह शब्द का साजात सम्बन्धी होगा तव (उसमें) अर्थान्तरत्व का व्यवहार ही नहीं होगा । इसिल्य उन दानी व्यापारी का विषयभेद सुप्रसिद्ध है । रूपभेद भी प्रसिद्ध ही है , क्योंकि जो ही अभिधानशक्ति है वही अवगमनशक्ति नहीं है । क्योंकि अवाचक भी गोत शब्द आदि से रसादिरूप अर्थ का अवगम देखा जाता है अशब्द भी चेष्टा आदि से अर्थविशेष के प्रकाशन की प्रसिद्ध है । जैसा कि 'ब्रीडा-योगान्नतवदनया' इत्यादि रलोक में सुकिव ने अर्थ प्रकाशन के हेतु चेष्टाविशेष को दिखाया ही है । इसल्प्रि मिन्न विषय और मिन्नरूप होने के कारण शब्द का बे दिखाया ही है । इसल्प्रि मिन्न विषय और मिन्नरूप होने के कारण शब्द का बे दिखाया ही है । इसल्प्रि मिन्न विषय और मिन्नरूप होने के कारण शब्द का बे दिखाया ही है । इसल्प्रि मिन्न विषय और मिन्नरूप होने के कारण शब्द का बे

लोचनम्

उक्तः। ननु भिन्नेऽपि विषये अक्षशब्दादेर्बह्वर्थस्य एक एवाभिधालक्षणो व्यापार इत्याशङ्क्य रूपभेद्मुपपादयति—रूपभेदोऽपीति । प्रसिद्धिमेव दर्शयति— न हीति । विप्रतिपन्नं प्रति हेतुमाह—श्रवाचकस्यापीति । यदेव वाचकत्वं तदेवः गमकत्वं यदि स्यादवाचकस्य गमकत्वमपि न स्यात्, गमकत्वे नैव वाचकतः मपि न स्यात्। न चैतदुभयमपि गीतशब्दे शब्दव्यतिरिक्ते चाधोवक्त्रत्व चकम्पनबाष्पावेशादौ तस्यावाचकस्याप्यवगमकारित्वदर्शनाद्वगमकारिणोऽ प्यवाचकत्वेन प्रसिद्धत्वादिति तात्पर्यम् । एतदुपसंहरति—तस्माद्भिचेति। है, इसलिए विषयभेद कहा है। विषय भिन्न होने परं भी बह्वर्थ 'अक्ष' आदि शब्दों का एक ही अभिधारूप व्यापार होगा, यह आशस्त्रा करके रूपमेद का उपपादन करते हैं रूपभेद भी-। प्रसिद्धि को ही दिखाते हैं- नहीं-। विप्रतिपन्न के प्रति हेतु कहते है—अवाचक का—। तात्पर्यं यह कि यदि जो ही वाचकत्व है वही गमकत्व है तो अवाचक का भी गमकत्व न होगा, गमकत्व न होने पर वाचकत्व भी नहीं है होगा। यह दोनों भी (वाचकत्व और गमकत्व) गीत शब्द में और शब्दस्यतिरिक्त नीत्र मुख होना, कुचकम्पन, वाष्पावेश आदि में नहीं हैं, क्योंकि वह अवाचक (गीत शब्द भी) अवनमकारी देखा जाता है और अवगमकारी भी अवाचक रूप से प्रसिद्ध होता है। इसका उपसंहार करते हैं—इसिछए भिन्न—। नहीं—। वाच्य अभिया

त्वाद्भिन्नरूपत्वाच स्वार्थाभिधायित्वमर्थान्तरावगमहेतुत्वं च शब्दस्य यत्तयोः स्पष्ट एव भेदः । विशेषश्चेन्न तहींदानीमवगमनस्याभिधेयसा-मध्यीक्षिप्तस्यार्थान्तरस्य वाच्यत्वव्यपदेश्यता । शब्दव्यापारगोचरत्वं तु तस्यास्माभिरिष्यत एव, तत्तु व्यङ्गचत्वेनैव न वाच्यत्वेन । प्रसिद्धा-भिधानान्तरसम्बन्धयोग्यत्वेन च तस्यार्थान्तरस्य प्रतीतेः शब्दान्त-रेण स्वार्थाभिधायिना यद्विषयीकरणं तत्र प्रकाशनोक्तिरेव युक्त ।

स्वार्थाभिधायित्व और अर्थान्तरावगमहेतुत्व है, उन दोनों का मेद स्पष्ट ही है। बिद भेद है तो फिर अब अवगमनरूप, अभिषेय की सामर्थ्य से आिहास अर्थान्तर को बाच्य नहीं कहा जा सकता। परन्तु वह शब्द व्यापार का गोचर है वह हम तो स्वीकार करते ही हैं, किन्तु उसे ज्यङ्गयरूप से हां, न कि वाच्यरूप से। और प्रसिद्ध अभिधान से अतिरिक्त सम्बन्ध के योग्य रूप से उस अर्थान्तर की प्रतीति का जो स्वार्थ का अभिधान करने वाले शब्दान्तर के द्वारा विषयीकरण है वहां 'प्रकाशन' यह कथन ही ठीक है।

लोचनम्

न तहींति । बाच्यत्वं द्यभिधाव्यापारविषयता न तु व्यापारमात्रविषयता, तथात्वे तु सिद्धसाधनमित्येतदाह—शब्दव्यापारेति ।

ननु गीतादौ मा भूद्वाचकत्विमह त्वर्थान्तरेऽपि शब्दस्य वाचकत्वमेबोच्यते, कि हि तद्वाचकत्वं सङ्कोच्यत इत्याशङ्क्रचाह—प्रसिद्धित । शब्दान्तरेण तस्या-थान्तरस्य यद्विषयीकरणं तत्र प्रकाशनोक्तिरेव युक्ता न वाचकत्वोक्तिः शब्दस्य, नापि वाच्यत्वोक्तिरथस्य तत्र युक्ता, वाचकत्वं हि समयवशाद्व्यवधानेन प्रति-पादकत्वं, यथा तस्यैव शब्दस्य स्वार्थे; तदाह—स्वार्थीभधायिनेति । वाच्यत्वं हि समयवत्तेन निव्यवधानं प्रतिपाद्यत्वं यथा तस्यैवार्थस्य शब्दान्तरं प्रति-व्यापार का विषय होता है, ऐसा होने पर तो सिद्धसाधन होगा, यह कहते हैं—शब्द व्यापार—।

गीत आदि में वाचकत्व मत हो, परन्तु यहाँ अर्थान्तर में भी सब्द का बाचकत्व ही कहा जायगा, उसके वाचकत्व को सङ्कृचित क्यों करते हैं ? यह आशक्का करके कहते हैं —और असिद्ध—। शब्दान्तर द्वारा उस अर्थान्तर का जो विषयीकरण है वहां 'प्रकाशन' कः न ही ठीक हो न कि शब्द का 'वाचकत्व' कंपन । और अर्थ का वहां वाच्यत्व कथन भी ठीव नहीं, क्योंकि समय (सङ्केत) के द्वारा विना किसी व्यवधान के प्रतिपादकत्व 'वाचकत्व' है, जैसे उसी शब्द का अपने अर्थ में, उसे कहते हैं—स्वार्थ का अमिशान करने वाले—। समय (सङ्केत) के बल से विना किसी व्यवधान के

न च पदार्थवाक्यार्थन्यायो वाच्यव्यङ्गचयोः । यतः पदार्थप्रतीतिरसत्यैवेति कैश्चिद्विद्वद्भिरास्थितम् । यैरप्यसत्यत्वमस्या नाम्युपेयते
तौर्वाक्यार्थपदार्थयोर्घटतदुपादानकारणन्यायोऽभ्युपगन्तव्यः । यथाहि
घटे निष्पने तदुपादानकारणानां न पृथगुपलम्भस्तथैव वाक्ये तद्थे
वा प्रतीते पदतदर्थानां तेषां तदा विभक्ततयोपलम्भे वाक्यार्थनुद्विरेव

वाच्य और व्यक्त्य में पदार्थ और वाक्यार्थ का न्याय नहीं चलेगा, क्योंकि कुछ विद्वानों का निश्चय है कि पदार्थ की प्रतीति असत्य ही है। जो इसे असत्य नहीं स्वीकार करते उन्हें पदार्थ और वाक्यार्थ में घट और उसके उपादानकारणों का न्याय स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि जैसे घट के निष्पन्न होने पर उसके उपादान कारणों का अलग से उपलम्म नहीं होता, उसी प्रकार वाक्य अथवा उसके अर्थ के प्रतीत होने पर पदों का अथवा उनके अर्थों का तब अलग से उपलम्भ होने पर वाक्यार्थ-

लोचनम्

तदाह—प्रसिद्धेति । प्रसिद्धेन वाचकतयामिधानान्तरेण यः सम्बन्धो वाच्यतं तदेव तत्र वा यद्योग्यत्वं तेनोपलक्षितस्य । न चैविविधं वाचकत्वमर्थं प्रति शब्दः स्येहास्ति, नापि तं शब्दं प्रति तस्यार्थस्योक्तरूपं वाच्यत्वम् । यदि नास्ति तर्हि कथं तस्य विषयीकरणमुक्तमित्याशङ्कचाह्-प्रतीतेरिति । अथ च प्रतीयते सोऽथों न च वाच्यवाचकत्वव्यापारेखेति विलक्षण एवासौ व्यापार इति यावत् ।

नन्वेवं मा भूद्राचकशक्तिस्तथापि तात्पर्यशक्तिभीविष्यतीत्याशङ्कर्याह्—न चेति । कैश्चिदिति वैयाकरणैः । यैरपीति भट्टप्रभृतिभिः । तमेव न्यायं व्याचष्टे-यथाहीति । तदुपादानकारणानामिति । समवायिकारणानि कपालानि अनयो-क्त्या निरूपितानि । सौगतकापिलमते तु यद्यप्युपादातव्यघटकाले उपादाना-

प्रतिपाद्यत्व वाच्यत्व है, उसी अर्थं का शब्दान्तर के प्रति, उसे कहते हैं—प्रसिद्ध—। वाचक रूप से प्रसिद्ध अभिधानान्तर के साथ जो सम्बन्ध वाच्यत्व है वही अथवा वहां जो योग्यत्व है उससे उपलक्षित । इस प्रकार का वाचकत्व अर्थं के प्रति शब्द का यहां नहीं है और उस शब्द के प्रति उस उक्तरूप अर्थं का वाच्यत्व भी नहीं है। यदि नहीं है, तो कैसे उसका विषयीकरण कहा है, यह आशङ्का करके कहते हैं—प्रतीति का—। वह अर्थं प्रतीत होता है, न कि वाच्यवाचकत्व व्यापार द्वारा (प्रतीत होता है), इस-लिए वह व्यापार विलक्षण ही है।

इस प्रकार वाचक शक्तिमत हं, तथापि तात्पर्य शक्ति होगी, यह आशङ्का करके कहते हैं—वाच्य और—। कुछ अर्थात् वैयाकरण लोग। जो भट्ट प्रमृति। उसी न्याय की व्याख्या करते हें—क्योंकि जैसे—। उसके उपादानकारणों का—। इस कथन से समवायी कारण कपाल निरूपित होते हैं। परन्तु बौद्ध और साङ्ख्य के मत में यद्यपि

दूरीभवेत् । न त्वेष वाच्यव्यङ्गचयोन्यीयः, न हि व्यङ्गचे प्रतीयमाने वाच्यवुद्धिदूरीभवति, वाच्यावभासाविनाभावेन तस्य प्रकाशनात् । तस्माद् घटप्रदीपन्यायस्तयोः, यथैव हि प्रदीपद्धारेण घटप्रतीतावुत्पन्नाचां न प्रदीपप्रकाशो निवर्तते तद्ध द्वङ्गचप्रतीतौ वाच्यावभासः । यत्तु बुद्धि हो दूर हो जायगी । परन्तु यह न्याय वाच्य और व्यङ्गच में नहीं है, क्योंकि व्यङ्गच के प्रतीयमान होने पर वाच्य की बुद्धि दूर नहीं होती, उसका प्रकाशन वाच्य के साथ अविनामाव से होता है। इसिल्ए उन दोनों में घट और प्रदीप का न्याय है, क्योंकि जैसे ही कि प्रदीप के द्वारा घट की प्रतीति उत्पन्न होने पर प्रदीप का प्रकाश निवृत्त नहीं होता उसी प्रकार व्यङ्गच की प्रतीति ने वाच्य का अवभास । जो

लोचनम्

नां न सत्ता एकत्र क्षणक्षयित्वेन परत्र तिरोभूतत्वेन तथापि पृथक्तया नास्तु-पलम्भ इतीयत्यंशे दृष्टान्तः । दूरीभवैदिति । अर्थेकत्वस्याभावादिति भावः । एवं पदार्थवाक्त्यार्थन्यायं तात्पर्यशक्तिसाधकं प्रकृते विषये निराकृत्याभिमतां प्रका-शशक्ति साधियतुं तदुचितं प्रदीपघटन्यायं प्रकृते योजयन्नाह्—तस्मादिति । यतोऽसौ पदार्थवाक्त्यार्थन्यायो नेह् युक्तस्तस्मात्, प्रकृतं न्यायं व्याकरणपूर्वकं दार्ष्टोन्तिके योजयति — यथैव हीति ।

नतु पूर्वमुक्तम्— यथा पदार्थद्वारेण वाक्यार्थः सम्प्रतीयते । वाक्यार्थपूर्विका तद्वत्प्रतिपत्तस्य वस्तुनः ॥

इति तत्कथं स एव न्याय इह यक्नेन निराकृत इत्याशङ्कचाह-यस्त्रिति।

उपादातच्य घट के काल में उपादानों की सत्ता एक में (बौद्ध मत में) क्षण भर स्थायी होने के कारण और दूसरे में (सांख्य मत में) तिरोग्नत होने के कारण नहीं होती तथापि अलग से उपलम्म नहीं है इस अंश में दृष्टान्त है। दूर हो जायगी—। भाष यह कि एक अर्थ के न होने के कारण। इस प्रकार तात्पर्य शक्ति के साधक पदायं वाक्यार्थ न्याय को प्रकृत विषय में निराकरण करके अभिमत प्रकाश शक्ति को सिद्ध करने के लिए उसके उचित प्रदीप-घट न्याय को प्रकृत में लगाते हुए कहते हैं— इसल्लिए—। जिस लिए वह पदार्थ-वाक्यार्थ न्याय यहीं ठीक नहीं है, इसलिए, प्रकृत न्याय को विवरणपूर्वक दार्थन्तिक में लगाते हैं—जैसे ही कि—।

पहले कहा है—
'जैसे पदार्थ के द्वारा वाक्यार्थ प्रतीत होता है उसी प्रकार उस (व्यक्क्यरूप)
वस्तु की प्रतिपत्ति वाच्यार्थ की प्रतीतिपूर्वक होती है।'
तो कैसे उस न्याय को यहां यत्न से निराकरण किया है ? यह आशक्का करके

प्रथमोद्द्योते 'यथा पदार्थद्वारेण' इत्याद्युक्तं तदुपायत्वमात्रात्साम्य-

नन्वेवं युगपद्रश्रद्धययोगित्वं वाक्यस्य प्राप्तं तद्भावे च तस्य वाक्यतेव विघटते, तस्या ऐकार्थ्यलक्षणत्वातः नैष दोपः गुणप्रधानभावेन तयोर्थ्यस्थानात् । व्यङ्गचस्य हि क्वचित्प्राधान्यं वाच्यस्योपसर्जनभावः क्वचिद्धाच्यस्य प्राधान्यमपरस्य गुणभावः । तत्र व्यङ्गचप्राधान्ये ध्वनिरित्युक्तभेवः वाच्यप्राधान्ये तु प्रकारान्तरं निर्देश्यते । कि 'प्रथम उद्योत' में 'प्रथा पदार्थद्वारेण' इत्यादि कहा है वह उपायमात्र के अंश में साम्य की विवचा से ।

तव ती इस प्रकार एक काल में वाक्य दो अथों से युक्त होगा, ऐसा होने पर उसकी वाक्यता ही विघटित होगी, क्योंकि 'एकार्थत्व उसका लक्कण है! (उत्तर) यह दोप नहीं; क्योंकि उन दोनों का गुण-प्रधानरूप से व्यवस्थान है। कहीं पर व्यक्त्य का प्राधान्य है, वाक्य का उपसर्जनमाव और कहीं पर वाक्य का प्राधान्य है, अपर का गुणभाव। उनमें, व्यक्त्य के प्राधान्य में ध्वनि है यह कहा जा चुका है, किन्तु वाक्य के प्राधान्य में प्रकारान्तर का निर्देश करेंगे। इसलिए यह निश्चित

लोचनम्

ति । न तु सर्वथा साम्येनेत्यर्थः । एविमिति । प्रदीपघटवद्युगप्दुभयाव-मासप्रकारेग्रेत्यर्थः । तस्या इति वाक्यतायाः । ऐकार्ध्यत्तक्षणमथंकत्वाद्धि वाक्यमेकिमत्युक्तम् । सकृत् श्रुतो हि शब्दो यत्रैव समयस्मृतिं करोति स चेदने-नैवावगमितः तिद्वरम्यव्यापाराभावात्समयस्मरणानां बहूनां युगपद्योगात्कोऽ-र्थभेद्स्यावसरः । पुनः श्रुतस्तु स्मृतो वापि नासाविति भावः । तयोरिति वाच्य-व्यङ्गययोः । तत्रेति । उभयोः प्रकारयोर्मध्याद्यदा प्रथमः प्रकार इत्यर्थः । प्रका-रान्तरमिति । गुणीभूतव्यङ्गयसिक्ज्ञतम् । व्यङ्गवत्वमेवैति प्रकाश्यत्वमेवेत्यर्थः ।

कहते हैं—जो कि—। वह—। अर्थात् न कि सर्वथा साम्यपूर्वक । इस प्रकार—। अर्थात् प्रदीप-घट की मांति एक काल में दोनों के अवभास के प्रकार से । उसका वाक्यता का । 'अर्थ एक होने से एकार्थंत्व रूप एक वाक्य होता है' यह कहा है । भाव यह कि एक बार श्रुत शब्द वहां पर हो समय (सक्क्षेत्र) की स्मृति करता है वह यदि इसी से (एक बार श्रुत शब्द ही से) विदित हो गया तो विरत होने पर व्यापार नहीं होता इसलिए बहुत से सक्क्षेत्र के स्मरणों एक समय में न होने के कारण अर्थंभेद का अवसर ही कहां ? यह (शब्द) फिर से न श्रुत है अथवा न स्मृत है । उन दोनों का बाच्य और व्यक्ष्य का । उनमें—। अर्थात् दोनों प्रकारों के बीच से जब प्रथम प्रकार होगा । प्रकारान्तर—। गुणीश्रतव्यक्षसंत्रक । व्यक्ष्यत्व ही अर्थात् प्रकाश्यत्व ही ।

तस्मात्-स्थितमेतत् — व्यङ्गचपरत्वेऽपि काव्यस्य न व्यङ्गचस्याभिधे-यत्वमपि तु व्यङ्गचत्वमेव ।

कि च व्यङ्गचस्य प्राधान्येनाविवक्षायां वाच्यत्वं तावद्भवद्भिनीस्युपगन्तव्यमतत्परत्वाच्छव्दस्य । तदस्ति तावज्ञङ्गचः शब्दानां किथद्विषय इति । यत्रापि तस्य प्राधान्यं तत्रापि किमिति तस्य स्वरूपमपहन्यते । एवं तावद्वाचकत्वादन्यदेव व्यञ्जकत्वम्; इतश्च वाचकत्वाग्रञ्जकत्वस्यान्यत्वं यद्वाचकत्वं शब्दैकाश्रयमितरत्तु शब्दाश्रयम्थीश्रयं
च शब्दार्थयोद्वयोरपि व्यञ्जकत्वस्य प्रतिपादितत्वात् ।

हुआ—काव्य का व्यङ्गय में तारपर्य होने पर भी व्यङ्गय का अभिधेयत्व नहीं, अपितु व्यङ्गयत्त्र ही है।

और भी, प्राधान्य से व्यङ्गय की विवज्ञा न होने पर शब्द के तत्पर न होने के कारण आप वाच्यत्व को नहीं भानेंगे। इसिछए शब्दों का कोई विषय व्यङ्गय है। जहां भी उसका प्राधान्य है वहां उसके स्वरूप का अपद्भव क्यों करते हैं? इस प्रकार व्यञ्जकत्व वाचकत्व से अन्य ही है। और इस कारण भी व्यञ्जकत्व वाचकत्व से अन्य है कि वाचकत्व एकमात्र शब्द के आश्रित है, परन्तु दूसरा शब्द के और अर्थ के आश्रित है, क्योंकि शब्द और अर्थ दोनों के भी व्यञ्जकत्व का प्रतिपादन कर चुके हैं।

लोचनम्

नतु यत्परः शब्दः स शंब्दार्थं इति व्यङ्गयस्य प्राधानये वाच्यत्वमेव ज्याय्यम्, तर्ह्यप्रधानये किं युक्तं व्यङ्गयत्विमिति चेत्सिद्धो नः पक्षः, एतदाह्— किञ्चेति । नतु प्राधानये मा भृद्धः यङ्गयत्विमित्याशङ्कः याह—यत्रापीति । अर्थान्त-रत्वं सम्बन्धिसम्बन्धित्वमनुपयुक्तसमयत्विमिति व्यङ्गः यतायां निबन्धनं, तच प्राधानयेऽपि विद्यत इति स्वरूपमहेयमेवेति भावः । एतदुपसंहरति—एवमिति । विषयभेदेन स्वरूपभेदेन चेत्यर्थः । ताविदिति वक्तव्यान्तरमासूत्रयति । तदे-वाह—इतश्चेति । अनेन सामग्रीभेदात्कारणभेदोऽप्यस्तीति दर्शयति । एतच

'शब्द जिसमें तात्पर्य रखता हो वह शब्दार्थ है' इसके अनुसार व्यङ्गय के प्राधान्य में वाच्यत्व ही उचित है, तो अप्राधान्य में क्या व्यङ्गयत्व ठीक हैं? तब तो हमारा पक्ष सिद्ध हो गया, इसे कहते हैं—और मीं—। प्राधान्य में व्यङ्गयत्व मत हो, यह आशङ्का करके कहते हैं—जहां भी—। अर्थान्तर होना, सम्बन्धी का सम्बन्धी होना, अनुपयुक्त समय (सङ्केत) का होना, यह व्यङ्गय होने में कारण हैं, और यह प्राधान्य में भी विद्यमान हैं, इस प्रकार स्वरूप अत्याज्य ही हैं, येह भावे हैं। इसका उपसंहार करते हैं—इस प्रकार—। अर्थात् विषयभेद से और स्वरूपभेद से। दूसरा वक्तव्य प्रस्तुत करते हैं। उसे ही कहते हैं—और इस कारण भी—। 'सामग्रीभेद से कारणभेद

गुणवृत्तिस्त्पचारेण लक्षणया चोभयाश्रयापि भवति। किन्त ततोऽपि व्यञ्जकत्वं स्वरूपतो विषयतश्च भिद्यते । रूपभेदस्तावदयम्-यदमुख्यतया व्यापारो गुणवृत्तिः प्रसिद्धा । व्यञ्जकत्वं तु मुख्यतयैव श्चन्दस्य व्यापारः। न ह्यर्थाद्यङ्गचत्रयप्रतीतियी तस्या अमुख्यत्वं मनागपि लक्ष्यते ।

अयं चान्यः स्वरूपभेदः —यद्गुणवृत्तिरम्जुख्यत्वेन व्यवस्थितं वाचः कत्वमेत्रोच्यते । व्यञ्जकत्वं तु वाचकत्वादत्यन्तं विभिन्नमेव । एतः

गुणवृत्ति तो उपचार और छत्तणा से शब्द और अर्थ दोनों के भी आश्रित होती है। किन्तु उससे भी व्यक्षकरव स्वरूप से और विषय से भिन्न हो जाता है। रूपमेंद यह है कि गुणवृत्ति अमुख्यरूप से न्यापार प्रसिद्ध है, परन्तु न्यक्षकत्व मुख्यरूप से ही शब्द का ब्यापार है। अर्थ से तीनों ब्यङ्गयों की जो प्रतीति है उसका अमुख्यत थोड़ा भी नहीं दिखाई देता।

और यह दूसरा स्वरूप भेद है कि अमुख्यरूप से ज्यवस्थित वाचकत्व को ही गुणवृत्ति कहते हैं। परन्तु व्यक्षकस्व अत्यन्त विभिन्न ही है। इसे प्रतिपादन कर जुके

लोचनम्

वितत्य ध्व्निलक्ष्णे 'यत्रार्थः शब्दो वा' इति वाग्रहणं 'व्यङ्कः' इति द्विर्वचनं च व्याचक्षाणैरस्माभिः प्रथमोद्दोत एव दर्शितमिति पुनर्ने विस्तायते।

विषयभेदात्स्यरूपभेदात्कारणभेदाच वाचकत्वान्मुख्यात्प्रकाश्क त्वस्य भेदं प्रद्यिपाद्योभयाश्रयत्वाविशेषात्तर्हि व्यञ्जकत्वगौणत्वयोः को भेद इत्याशङ्कर्यामुख्यादि प्रतिपादियतुमाह—गुरावृत्तिरिति । उभयाश्रयापीति शब्दार्थाश्रया । उपचारलक्षणयोः प्रथमोद्द्योत एव विभव्य स्वरूपमिति न पुनर्लिख्यते । मुख्यतयैवेति । अस्खलद्गतित्वेनेत्यर्थः । भी हैं यह इससे दिखाते हैं। इसे विस्तार करके 'ध्विन' लक्षण में 'यत्रार्थः शब्दो वा यहां 'वा' ग्रहण और 'व्यङ्क्तः' इसमें द्विवंचन का व्याख्यान करते हुए हमने प्रवन उद्योत में ही दिखा दिया है इसलिए फिर विस्तार नहीं करते हैं।

इस प्रकार विषयमेद, स्वरूपमेद और कारणमेद द्वारा मुख्य वाचकत्व से प्रकार कत्व के भेद का प्रतिपादन करके (शब्द और अर्थ रूप) उभय के आश्रित होते के अविशेष होने से, व्यव्जकत्व और गौणत्व का क्या भेद हैं ? यह आशक्ता करके अपूर्व से भी (भेद) प्रतिपादनार्थं कहते हैं - गुणवृत्ति -। उभय के आश्रित अर्थात् शब्द और अर्थ के आश्रित । उपचार और लक्षणा का स्वरूप प्रथम उद्योत में ही निर्णीत हो कुर्व है इसलिए फिर नहीं लिखते हैं। मुख्यरूप से ही—। अर्थात् अस्वलद्गतिरूप से ही।

CC-0. Mumukshu Bhawan Vern

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

प्रतिपादितम् । अयं चापरो रूपभेदो यहुणवृत्तौ यदार्थोड्यन्तिरमुपल-श्वयित तदोपलक्षणीयार्थोत्मना पारणत एवासौ सम्पद्यते । यथा 'गङ्गा-यां घोपः' इत्यादौ । व्यञ्जकत्वमार्गे तु यदार्थोड्योन्तरं द्योतयित तदा स्वरूपं प्रकाशयक्षेत्रासायन्यस्य प्रकाशकः प्रतीयते प्रदीपवत् । यथा— 'लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती' इत्यादौ । यदि च यत्राति-रस्कृतम्बप्रतीतिरथोंड्योन्तरं लक्षयित तत्र लक्षणाव्यवहारः क्रियते, त-देवं सति लक्षणेव मुख्यः शब्दव्यापार इति प्राप्तम् । यस्मात्प्रायेण वाक्यानां वाच्यव्यतिरिक्ततात्पर्यविषयार्थावभासित्वम् ।

हैं। और यह अन्य रूपभेन है कि जब गुणवृत्ति में अर्थ अर्थान्तर का उपलित करता है तब उपलक्षणाय अर्थ के रूप से परिगत हो वह होता है। जैसे—'गङ्गायां घोपः' इत्यादि में। परन्तु व्यक्षकत्व मार्ग में जब अर्थ अर्थान्तर को चोतित करता है तब प्रदीप की मांति स्वरूप को प्रकाशित करता हुआ ही वह अन्य का प्रकाशक प्रतीत होता है। जैसे—पार्वती लीलाकमल के पत्ते गिनने लग गई' इत्यादि में। और यिन जहां अर्थ अपनी प्रतीति को तिरस्कृत करता हुआ अर्थान्तर को लिक्त करता है वहां लक्षणाव्यवहार किया जाना है, तो इस प्रकार होने पर लक्षणा ही मुख्य शब्द का क्यापार है, यह प्राप्त होता है। जिस कारण प्रायः करके वाक्य वाच्य से व्यतिरिक्त तात्पर्य विपयक अर्थ के अवभासक होते हैं।

लोचनम्

प्रतिपादितमिति । इटानीमेव । परिणत इति । स्वेन रूपेणानिर्मासमान इत्यर्थः।

कीदृश इति मुख्यो या न वा प्रकारान्तराभावात्। मुख्यत्वे वाचकत्वम-न्यथा गुणवृत्तिः, गुणा निमित्तं सादृश्यादि तद्द्वारिका वृत्तिः शब्दस्य व्यापारा गुणवृत्तिरिति भावः। मुख्य एवासौ व्यापारः सामग्रीभेदाच वाचकत्वाद्व्यति-रिच्यत इत्यभिप्रायेणाह—उच्यत इति। एवमस्खलद्गतित्वात् कथिद्वदिपि तीनो व्यङ्गय— वस्तु, अलङ्कार और रस रूप। प्रतिपादन कर चुके हैं—अभी ही। परिणत—। अर्थात् अपने रूप से प्रतीत न होता हुआ।

किस प्रकार का मुख्य अथवा नहीं (अर्थात् अमुख्य), क्योंकि तीसरा प्रकार नहीं किस प्रकार का मुख्य अथवा नहीं (अर्थात् अमुख्य), क्योंकि तीसरा प्रकार नहीं है। मुख्य होने पर वाचकत्व (व्यापार) होगी। अन्यथा गुणवृत्ति (व्यापार) होगी। माव यह कि गुण अर्थात् साहश्य आदि निमित्त, उसके द्वारा वृत्ति अर्थात् अब्द का व्यापार 'गुणवृत्ति' है। वह व्यापार है मुख्य ही है और सामग्री के भेद से बाचकत्व से कलग हो जाता है, इस अभिप्राय से कहते हैं—कहते हैं—। इस प्रकार स्खलद्गित न

३० ध्व०

नतु त्वत्पक्षेऽपि यदार्थो व्यङ्गचत्रयं प्रकाशयति तदा शब्दस्य कीदशो व्यापारः। उच्यते—प्रकरणाद्यवच्छिनशब्दवशेनैवार्थस्य तथा-विधं व्यञ्जकत्वमिति शब्दस्य तत्रोपयोगः कथमपह्न्यते। विपयभेदोऽ पि गुणवृत्तिव्यञ्जकत्वयोः स्पष्ट एव । यतो व्यञ्जकत्वस्य रसादयोऽल-क्कारविशेषा व्यङ्गचरूपावच्छिनं वस्तु चेति त्रयं विषयः। तत्र रसादि-प्रतीतिर्गुणवृत्तिरिति न केनचिदुच्यते न च शक्यते वक्तुम्। व्यङ्गचालङ्कारप्रतीतिरपि तथैव। वस्तुचारुत्वप्रतीतये स्वशब्दानभिधेयत्वेन

तुम्हारे पद्म में भी जब अर्थ तीनों न्यङ्गयों को प्रकाशित करता है तब शब्द का न्यापार किस प्रकार का होता है ? कहते हैं—प्रकरण आदि से सहकृत शब्द के वश से ही अर्थ का उस प्रकार का न्यञ्जकत्व है, इसलिए शब्द का वहां उपयोग कैसे छिपाया जा सकता है ! गुणवृत्ति और न्यञ्जकत्व में विषयमेद भी स्पष्ट ही है, क्योंकि रसादि, अलङ्कारविशेष और न्यङ्गयरूप से अविच्छिन्न वस्तु ये तोनों न्यञ्जकत्व के विषय हैं। उनमें, रसादि की प्रतीति को गुणवृत्ति नहीं कहता और न कह सकता है। न्यङ्गय अलङ्कार की प्रतीति भी उसी प्रकार है। वस्तु के चारत्व की प्रतीति के

लोचनम्

प्रकारैः प्रकाशकत्वस्यैत-ममयानुपयोगात्प्रथगाभासमानत्वाचेति त्रिभिः द्विपरीतरूपत्रयायाश्च गुणवृत्तेः स्त्ररूपभेदं व्याख्याय विषयभेदमप्याह्-विषयभेदो-Sपीति । वस्तुमात्रं गुणवृत्तेरपि विषय इत्यभित्रायेण विशेषयति -व्यङ्गचरूपाव-च्छित्रमिति । व्यञ्जकत्वस्य यो विषयः स गुणवृत्तेर्न विषयः अन्यश्च तस्या विषयभेदो योज्यः। तत्र प्रथमं प्रकारमाह्—तत्रेति। न च शक्यत इति। लक्षणासामग्न्यास्तत्राविद्यमानत्वादिति हि पूर्वमेवोक्तम्। तथैवैति। न तत्र गुणवृत्तिर्युक्तेत्यर्थः। वस्तुनो यत्पूर्वं विशेषणं कृतं तद्व-याच्छे-चारुत्वप्रतीतय होने के कारण, किसी प्रकार समय (सङ्केत) के उपयोग न होने के कारण और पृथक् आभासमान होने के कारण, इन तीनों प्रकारों से प्रकाशकत्व (ब्यज्जकत्व) का और इनके विपरीत तीन रूपों वाली गुणवृत्ति का स्वरूपभेद व्याख्यान करके विषयभेद की भी कहते हैं - विषयभेद भी-। वस्तु मात्र गुणवृत्ति का भी विषय है यह विशेषता बताते हैं - च्यङ्ग्ध रूप से अविच्छन्न । जो व्यक्तकत्व का विषय है वह गुणवृत्ति का विषय नहीं है, और अन्य उसका विषयभेद लगा लेना चाहिए। उनमें प्रथम प्रकार की कहते हैं - उनमें -। नहीं कह सकता है -। क्यों कि यह पहले ही कह चुके हैं कि लक्षणा की सामग्री वहां विद्यमान नहीं । उसी प्रकार है-। अर्थात् वहां गुणवृत्ति ठीक नहीं। वस्तु का जो पहले विशेषण किया है उसकी व्याख्या करते हैं - चारूव की

यत्प्रतिषिपादियतुमिष्यते तद्व्यङ्गचम् । तच न सर्वं गुणवृत्तेविषयः प्रसिद्ध्यनुरोधाभ्यामपि गौणानां श्रव्दानां प्रयोगदर्शनात् । तथोक्तं प्राक् । यदिष च गुणवृत्तेविषयस्तदिष च व्यञ्जकत्वानुप्रवेशेन । तस्मा-द्रुणवृत्तेरिष व्यञ्जकत्वस्यात्यन्तविरुक्षणत्वम् । वाचकत्वगुणवृत्तिवि-स्क्षणस्यापि च तस्य तदुभयाश्रयत्वेन व्यवस्थानम् ।

िछ स्वशब्द द्वारा अनिभिधेय रूप से जिसे प्रतिपादन करना चाहते हैं वह व्यक्तय है। वह सब नहीं गुगवृत्ति का विषय है, क्योंकि प्रसिद्धि और अनुरोध से भी गौण इत्दों का प्रयोग देखा जाता है। जैसा कि पहले कह चुके हैं। और जो भी गुणवृत्ति का विषय होगा वह भी व्यक्षकरन के सम्बन्ध से होगा। इसलिए गुणवृत्ति से भी व्यक्षकरन अस्यन्त विल्लग है। वाचकरन और गुणवृत्ति से विल्लग भी वह (व्यक्ष-करन) दोनों के आश्रित रूप से रहता है।

लोचनम्

इति । न सर्वमिति । किंचित्तु भवति । यथा—'निःश्वासान्य इवादर्शः' इति । यदुक्तम्—'कस्यचिद् ध्वनिभेदस्य सा तु स्यादुपलक्षणम्' इति । प्रसिद्धितो लावण्यादयः शब्दाः, वृत्तानुरोधव्यवहारानुरोधादेः 'वद्ति बिसिनीपञ्चशयन-म्' इत्येवमादयः । प्राणिति । प्रथमोद्द्योते 'क्द्वा ये विषयेऽन्यत्र' इत्यत्रान्तरे । न सर्वमिति यथास्माभिव्याख्यातं तथा स्फुट्यति—यदिष चेति । गुणवृत्तेरिति पञ्चमी । अधुनेतरह्रपोपजीवकत्वेन तदितरस्मात्तदितरह्रपोपजीवकत्वेन च तदितरस्मादितरह्रपोपजीवकत्वेन च तदितरस्मादित्यस्मादित्यनेन पर्यायेण वाचकत्वाद् गुणवृत्तेश्च द्वितयादिष भिन्नं व्यञ्चकत्वित्रस्मादित्यनेन पर्यायेण वाचकत्वाद् गुणवृत्तेश्च द्वितयादिष भिन्नं व्यञ्चकत्वित्यस्माद्यप्पाद्यति—वाचकत्वैति । चोऽवधार्यो भिन्नक्रमः, अपिशब्दोऽपि । न केवलं पूर्वोक्तो हेतुकलापो यावत्तदुभ्याश्रयत्वेन मुख्योपचाराश्रयत्वेन यद्व्य-

प्रतीति के लिए—। सब नहीं—। कुछ तो होता है, जैसे 'निःश्वासान्ध इवादर्शः'। क्योंकि कहा है—'किसी घ्वनि के मेद का वह उपलक्षण हो सकती है'। प्रसिद्धि से 'लावष्य' आदि शब्द। वृत्तानुरोध और व्यवहारानुरोध आदि से 'वदित बिसिनीपत्र-शयनम्' इत्यादि। पहले—। प्रथम उद्योत में 'रूढा ये विषयेऽन्यत्र' इसके बीच। 'सव नहीं' को जिस प्रकार हमने व्याख्यान किया है उस प्रकार स्पष्ट करते हैं—और जो कि—। 'गुणवृत्ति' यहां पव्चमी विभक्ति है। अब (व्यक्तत्व) इतर रूप (गुणवृत्ति) के उपजीवक (आश्रय) रूप के कारण इतर रूप (वाचकत्व) से (भिन्न होता है) और इतर रूप (वाचकत्व) के उपजीवक रूप से उससे इतररूप (गुणवृत्ति) से (भिन्न होता है), इस प्रकार कंम से वाचकत्व और गुणवृत्ति इन दोनों से भी व्यक्षकत्व भिन्न होता है यह उपपादन करते हैं—वाचकत्व—। 'और' शब्द अवधारणार्थंक और भिन्न कम है। 'भी' शब्द भी भिन्नकम है। न केवल पूर्वोक्त हेतुसमूह बल्कि दोनों के आश्रित

व्यञ्जकत्वं हि कचिद्वाचकत्वाश्रयेण व्यवतिष्ठते, यथा विविधितान्यपरवाच्ये ध्वनौ । कचित्तु गुणवृत्त्याश्रयेण यथा अविविधितवाच्ये
ध्वनौ । तदुभयाश्रयत्वप्रतिपादनायैव च ध्वनेः प्रथमतरं द्वौ प्रभेदावुपन्यस्तौ । तदुभयाश्रितत्वाच तदेकरूपत्वं तस्य न शक्यते वक्तुम् ।
यस्मान्न तद्वाचकत्वैकरूपमेव, क्रचिछक्षणाश्रयेण वृत्तेः । न च लक्षणैकरूपमेवान्यत्र वाचकत्वाश्रयेण व्यवस्थानात् । न चोभयधर्मत्वेनैव
तदेकैकरूपं न भवति । यावद्वाचकत्वलक्षणादिरूपरहितशब्दधर्मत्वेनापि । तथाहि गीतध्वनीनामपि व्यञ्जकत्वमस्ति रसादिविषयम् । न च

च्यक्षकत्व कहीं पर वाचकत्व के आश्रय से व्यवस्थित होता है, जैसे विविद्यतान्य-परवाच्य ध्विन में, परन्तु कहीं पर गुणवृत्ति के आश्रय से, जैसे अविविद्यतवाच्य ध्विन में। और उन दोनों (वाचकत्व और गुणवृत्ति) के आश्रयत्व के प्रतिपादनार्थ ही ध्विन के पहले-पहल दो प्रमेद उपन्यस्त हैं। और उन दोनों पर आश्रित होने के कारण वह (व्यक्षकत्व) उनके साथ एक रूप नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह वाचकत्व के साथ एक रूप ही नहीं है, क्योंकि कहीं पर लच्चणा के आश्रय से भी रहता है। और लच्चणा के साथ एक रूप ही नहीं है, अन्यत्र वाचकत्व के आश्रय से भी व्यवस्थित होता है। और न केवल उभयधर्म रूप से ही वह एक-एकरूप का नहीं होता है, अपि तु वाचकत्व, लच्चणा आदि रूप से रहित शब्द के धर्म रूप से भी। जैसा कि गीत ध्विनयों का भी रसादिविषयक व्यक्षकत्व है। किन्तु उनका

लोचनम्

वस्थानं तदिप वाच्कगुणवृत्तिविलक्षणस्यैवेति व्याप्तिघटनम् । तेनायं तात्प-

र्यार्थः-तदुभयाश्रयत्वेन व्यवस्थानात्तदुभयवैलक्षण्यमिति ।

पतदेव विभजते—व्यक्षकत्वं हीति । प्रथमतरिमिति । प्रथमोद्द्योते 'स च' इत्यादिना प्रन्थेन । हेत्वन्तरमि सूचयित—न चेति । वाचकत्वगौणत्वोभय-वृत्तान्तवेलक्षण्यादिति सूचितो हेतुः । तमेव प्रकाशर्यात—तथाहीत्यादिना । होकर मुख्य और उपचार के आश्रित रूप से जो व्यवस्थान है वह भी वाचक और गुणवृत्ति से विलक्षण उस व्यक्षक की व्याप्ति बनी है । इससे यह तात्पर्यायं है—उन दोनों के आश्रित रूप से रहने के कारण उन दोनों से वैलक्षण्य है ।

इसी का विभाग करते हैं—व्यक्षकत्व—। पहले-पहल्ल—। प्रथम उद्योत में 'और वह' इत्यादि ग्रन्थ द्वारा । दूसरा हेतु सूचित करते हैं—और लच्चणा—। 'वाचकत्व और गौणत्व इन दोनों वृत्तान्तों से वैलक्षण्य के कारण' ग्रह हेतु सूचित किया है। उसे ही प्रकाशित करते हैं—जैसा कि—। इत्यादि द्वारा । उनका गीतादि शब्दों का । दूसरा

तेषां वाचकत्वं लक्षणा वा कथि अलिक्ष्मपते । शब्दादन्यत्रापि विषये व्यअकत्वस्य दर्शनाद्वाचकत्वादिशब्द्धमेप्रकारत्वमयुक्तं वक्तुम् । यदि च
वाचकत्वलक्षणादीनां शब्दप्रकाराणां प्रसिद्धप्रकारिवलक्षणत्वेऽपि व्यञ्चकत्वं प्रकारत्वेन परिकर्ण्यते तच्छव्दस्येव प्रकारत्वेन कस्मान्न परिकल्प्यते । तदेवं शाब्दे व्यवहारे त्रयः प्रकाराः—वाचकत्वं गुणवृत्तिव्यवाचकत्व अथवा लच्गा किसी प्रकार नहीं लच्चित होती। शब्द के अतिरिक्त मी
विषय में व्यक्षकत्व के देखे जाने के कारण वाचकत्व आदि शब्द-धर्मों का प्रकार
कहना ठीक नहीं। और यदि प्रसिद्ध प्रकारों से विल्चण होने पर भी व्यक्षकत्व
को वाचकत्व और लच्चणा आदि शब्द-प्रकारों प्रकार (धर्म) वनाते हैं तो शब्द का
ही प्रकार रूप से क्यों नहीं (उसे) वनाते हैं ?

तो इस प्रकार शाब्द व्यवहार में तीन प्रकार हैं—वाचकत्व, गुणवृत्ति और लीचनम

तेषामिति । गीतादिशब्दानाम् । हेत्यन्तरमपि सूचयति—शब्दादन्यत्रेति । वाचकत्वगौणत्वाभ्यामनयद् व्यञ्जकत्वं शब्दादन्यत्रापि वर्तमानत्वात्त्रमेयत्वादिवदिति हेतुः सूचितः । नन्वन्यत्रावाचके यद्व्यञ्जकत्वं तद्भवतु वाचकत्वादेविलक्षणम्, वाचके तु यद् व्यञ्जकत्वं तद्भविलक्षणमेवास्त्वित्याशङ्कथाह—
यदीति । आदिपदेन गौणं गृह्यते । शब्दस्यैवैति । व्यञ्जकत्वं वाचकत्विमिति यदि
पर्यायौ कल्प्येते तर्हि व्यञ्जकत्वं शब्द इत्यपि पर्यायता कस्मान्न कल्प्यते,
इच्छाया अव्याहतत्वात् । व्यञ्जकत्वस्य तु विविक्तं स्वरूपं दर्शितं तद्धिपयान्तरे कथं विपर्यस्यताम् । एवं हि पर्वतगतो धूमोऽनिनजोऽपि स्यादिति
भावः । अधुनोपपादितं विभागमुपसंहरति—तदेविमिति । व्यवहारमहर्योन समुद्रिषोषादीन् व्यवस्यति ।

हेतु भी सूचित करते हैं—शब्द के अतिरिक्त—। व्यक्षंकत्व वाचकत्व और गौणत्व से भिन्न है, क्योंकि शब्द के अतिरिक्त भी (स्थल में) वर्तमान रहता है, प्रमेयत्व आदि को मांति' यह हेतु सूचित किया। अन्यत्र अवाचक (गीतादि) स्थल में जो व्यक्षकत्व है वह वाचकत्व आदि से विलक्षण हो, परन्तु जो वाचक में व्यक्रजकत्व है वह विलक्षण नहीं है, यह आशक्का करके कहते हैं—और यदि—। 'आदि' पद से गौण को प्रहण करते हैं। शब्द का ही—। व्यक्जकत्व और वाचकत्व को यदि पर्याय बनाते हो तो व्यक्रजकत्व और शब्द को क्यों नहीं पर्याय बना लेते हैं, क्योंकि इच्छा तो अव्याहत होती है। व्यक्षकत्व का तो अलग रूप दिखा चुके हैं वह विषयान्तर में कैसे विपर्यस्त होगा? भाव यह कि इस प्रकार तो पर्वतगत धूम अनिप्रज भी हो सकता है। अव जपपदित विभाग का उपसंहार करते हैं—तो इस प्रकार—। 'व्यवहार' के प्रहण से समुद्र की आवाज आदि का निराकरण करते हैं।

ञ्जकत्वं च। तत्र व्यञ्जकत्वे यदा व्यङ्गचप्राधान्यं तदा ध्वनिः, तस्य चाविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्रेति द्यौ प्रभेदावजुकान्तौ प्रथमतरं तौ सविस्तरं निर्णीतौ।

अन्यो ब्र्यात् — ननु विवक्षितान्यपरवाच्ये ध्वनौ गुणवृत्तिता नास्तीति यदुच्यते तद्युक्तम् । यस्माद्धाच्यवाचकप्रतीतिपूर्विका यत्रार्था- नतरप्रतिपत्तिस्तत्रं कथं गुणवृत्तिच्यवहारः, न हि गुणवृत्तौ यदा निमिन्तेन केनचिद्विषयान्तरे शब्द आरोप्यते अत्यन्तितरस्कृतस्वार्थः यथा— व्यक्षकत्व । उनमें से व्यक्षकत्व में जब व्यक्ष्य का प्राधान्य होता है तब ध्वनि होती है, और उसके अविविद्यतवाच्य और विविद्यतान्यपरवाच्य ये दो प्रभेद क्रम-प्राप्त होते हैं, उन्हें पहले ही विस्तारपूर्वक निर्णय कर चुके हैं ।

अन्य कोई कह सकता है—विविचितान्यपरवाच्य ध्विन में गुणवृत्ति व्यवहार नहीं है यह जो कहते हैं सो ठीक है, क्योंकि वाच्य-वाचक की प्रतीतिपूर्वक जहां अर्थान्तर की प्रतीति होती है वहां गुणवृत्तिव्यवहार कैसे हो सकता है ? गुणवृत्ति में जब किसी निमित्त से अत्यन्त तिरस्कृत स्वार्थ शब्द को विपयान्तर में आरोप करते

लोचनम्

नतु वाचकत्वरूपोपजीवकत्वाद् गुणवृत्त्यनुजीवकत्वादिति च हेतुद्वयं यदुक्तं तदिविविश्वतवाच्यभागे सिद्धं न भवति तस्य लक्षणेकशरीरत्वादित्य-भिप्रायेणोपक्रमते-श्रन्यो वृयादिति । यद्यपि च तस्य तदुभयाश्रयत्वेन व्यवस्थानादिति बुवता निर्णीतचरमेवैतत्, तथापि गुणवृत्तेरिवविश्वतवाच्यस्य च दुर्निरूपं वैलक्षण्यं यः पश्यति तं प्रत्याशङ्कानिवारणार्थोऽयमुपक्रमः । अत एवाच्यमेदस्याङ्गीकरणपूर्वकम्यं द्वितीयभेदान्तेषः । विविद्यतान्यपरवाच्य इत्यादिना पराभ्युपगमस्य स्वाङ्गीकारो दश्यते । गुणवृत्तिव्यवहाराभावे हेतुं दर्शयितुं तस्या एव गुणवृत्तेस्तावद् वृत्तान्तं दर्शयति—न हीति । गुणतया वृत्तिव्यापारो

जो कि वाचकत्व रूप उपजीवकत्व और गुणवृत्ति रूप अनुजीवकत्व ये दो हेतु कहे हैं वह अविविक्षितवाच्य के अंश में सिद्ध नहीं होते, क्योंकि उसका एकमात्र शरीर लक्षणा है, इस अभिप्राय से उपक्रम करते हैं—अन्य कोई कह सकता है—। 'वह उन दोनों के आश्रय से व्यवस्थित होता है' यह यद्यपि कथन करते हुए निर्णय कर ही चुके हैं तथापि जो व्यक्ति गुणवृत्ति और अविविक्षितवाच्य का वैलक्षण्य दुनिरूप देखता है उसकी आश्रक्ता के निवारणार्थ यह उपक्रम है। इसी लिए यह प्रथम भेद का अङ्गीकार-पूर्वक दूसरे भेद का आक्षेप है। 'विविच्चतान्यपरवाच्य ध्वनि में' इत्यादि द्वारा अन्य किसी के मन्तव्य की स्वीकृति दिखाते हैं। गुणवृत्ति व्यवहार के न होने का कारण दिखाने के लिए उसी गुणवृत्ति का वृत्तान्त दिखाते हैं—गुणवृत्ति में—। गुण रूप

(अग्निर्माणवकः' इत्यादौ, यदा वा स्त्रार्थमंशेनापरित्यजंस्तत्सम्बन्धद्वा-रेण विषयान्तरमाक्रामिति, यथा—'गङ्गायां घोपः' इत्यादौ । तदावि-विश्वतवाच्यत्वप्रपपद्यते । अत एव च विविश्वतान्यपरवाच्ये घ्वनौ वा-च्यवाचकयोर्द्वयोरिप स्वरूपप्रतीतिरर्थावगमनं च दृश्यत इति व्यञ्ज-कत्वव्यवहारो युक्त्यनुरोधी । स्वरूपं प्रकाशयनेव परावभासको व्य-ज्ञक इत्युच्यते, तथाविधे विषये वाचकत्वस्यव व्यञ्जकत्विमिति गुण-वृत्तिव्यवहारो नियभेनेव न शक्यते कर्तुम् ।

हैं, जैसे 'माणवक अग्नि है' इत्यादि में; अथवा जब (शब्द) स्वार्थ को अंशतः नहीं को इता हुआ विषयान्तर पर पहुंच जाता है, जैसे 'गङ्गा में घोष' इत्यादि में, विविधत-वास्यव नहीं बनता। और इसोलिए विविधतान्यपरवास्य ध्विन में वास्य और वास्क दोनों की भी स्वरूपप्रतीति और अर्थ का ज्ञान देखा जाता है इस लिए व्यक्ष-क्ष्यवहार युक्त्यनुकूल है। स्वरूप को प्रकाशित करता हुआ भी अन्य को अवभा-रित कराने वाला 'व्यक्षक' कहलाता है, उस प्रकार के विषय में वाचकरव का ही स्वक्षक है, इसलिए गुणवृत्ति-व्यवहार नियमतः ही नहीं किया जा सकता।

लोचनम

गुणवृत्तिः । गुरोन निमित्तेन सादृश्यादिना वृत्तिः अर्थान्तरिषयेऽपि शृब्दस्य सामानाधिकरण्यमिति गौणं दर्शयति । यदा वा स्वार्थमिति लक्षणां दर्शयति । अतेन भेदृद्वयेन च स्वीकृतमविवक्षितवाच्यभेदृद्वयात्मकमिति सूचयति । अत एव अत्यन्तितरस्कृतस्त्रार्थशब्देन विषयान्तरमाक्रामित चेत्यनेन शब्देन तदेव भेदृद्वयं दर्शयति—अत एव चेति । यत एव न तत्रोक्तहेतुबलाद् गुणवृत्ति-व्यवहारो न्याय्यस्तत इत्यर्थः । युक्तिं लोकप्रसिद्धिक्तपामबाधितां दर्शयति—स्वरूपमिति । उच्यत इति प्रदीपादिः, इन्द्रियादेस्तु करणत्वाम् व्यञ्जकत्यं प्रतीत्यत्त्वते ।

(अप्रधान रूप) से वृत्ति अर्थात् व्यापार गुणवृत्ति है। साहश्य आदि गुण के निमित्त से वृत्ति अर्थात् अर्थान्तर के विषय में शब्द का सामानाधिकरण्य ('गुणवृत्ति') है, इससे गौण भेद दिखाते हैं। 'अथवा जब स्वार्थ को' इससे लक्षणा को दिखाते हैं। इन दोनों भेदों से अविवक्षितवाच्य का स्वीकृत भेदद्वयात्मक है' यह सूचित करते हैं। इसी लिए और 'अत्यन्तितरस्कृत स्वार्थ' शब्द से और 'विषयान्तर पर पहुंच जाता है' इस शब्द से उन्हों दोनों भेदों को दिखाते हैं—और इसीलिए—। अर्थात् जिस कारण ही वहां जिक हैतु के बल से गुणवृत्ति व्यवहार ठीक नहीं है उस कारण। लोकप्रसिद्धिष्ट्रप अबा- वित युक्ति दिखाते हैं—स्वरूप की—। कहलाता है प्रदीप आदि, किन्तु इन्द्रियादिकरण होते हैं अतः प्रतीति की उत्पत्ति में व्यक्त नहीं कहलाते।

अविवक्षितवाच्यस्तु ध्वनिर्गुणवृत्तेः कथं भिद्यते । तस्य प्रभेदद्वये गुणवृत्तिप्रभेदद्वयरूपता लक्ष्यत एव यतः । अयमपि त दोपः । यस्माद्विवक्षितवाच्यो ध्वनिर्गुणवृत्तिमार्गाश्रयोऽपि भवति न तु गुणवृत्तिरूप एव । गुणवृत्तिर्हं व्यञ्जकत्वश्च्यापि द्वयते । व्यञ्जकत्वं च यथोक्तचारुत्वहेतं व्यञ्जवं विना न

परन्तु अविविश्वनवाच्य ध्विय गुणवृत्ति से भिन्न कैसे होगा, जब कि उसके दोनों प्रभेदों में गुणवृत्ति के दो प्रभेदों की रूपना छित्त ही होती है ! यह भी दोप नहीं के है, क्योंकि अविविश्वनवाच्यध्विति गुणवृत्ति के मार्ग पर आश्रित भी होता है, न कि गुणवृत्तिरूप ही होता है। क्योंकि गुणवृत्ति व्यक्षकत्व से रहित भी देखी जाती है। और व्यक्षकत्व यथोक्त चाहत्व के हेतु व्यक्षय के बिना व्यवस्थित नहीं होता। परन्तु

लोचनम्

एवमभ्युष्णमं प्रदश्यांत्रेपं द्श्यति—श्रविविद्यतेति । तुशब्दः पूर्वस्माद्विशेषं योतयित । तस्येति । अविविश्चितवाच्यस्य यत्प्रभेदद्वयं तस्मिन् गौणलाक्षणिकत्वात्मकं प्रकारद्वयं लच्यते निर्भोस्यत इत्यर्थः । एतत्परिहरति—श्रयमपीति । गुणवृत्तेर्यो मार्गः प्रभेदद्वयं स आश्रयो निमित्ततया प्राक्षत्वयानिवेशी यस्येत्यर्थः । एतन्त्र पूर्वमेव निर्णीतम् । ताद्र्र्याभावे हेतुमाह्—गुणवृत्तिरिति । गौणलाश्चणिकक्षणोभयी अपीत्यर्थः । ननु व्यञ्जकत्वेन कथं शून्या गुणवृत्ति भवति, यतः पूर्वमेवोक्तम्—

मुर्भं वृत्ति परित्यज्य गुणवृत्त्यार्थदर्शनम् । यदुद्दिश्य फलं तत्र शब्दो नैव स्खलद्गृतिः ॥ इति ।

इस प्रकार अभ्युपगम को दिखा कर आक्षेप दिखाते हैं—अधिविच्चित—। 'परतु' शहर पहले ने विशेष को प्रकट करता है। उसके—। अविविक्षित वाच्य के जो दो प्रभेद हैं उनमें गौण और लाक्षणिक रूप दो प्रकार लिधत होते हैं, अर्थात् निर्भासित होते हैं। (इसका परिहार करते हैं—यह भी—। गुणवृत्ति का जो मार्ग पप्रभेदद्वय है वह आश्रय अर्थात् निमित्त रूप से पहली कक्ष्या में रहने वाला है जिसका। इसे पहले ही निर्णय कर चुके हैं। ताद्रूप्य के अभव का हेतु कहते हैं—गुणवृत्ति—। अर्थात् गौण और लाक्षणिक रूप दोनों भी। गुणवृत्ति व्यंजकत्व से शूत्य कैसे हो सकती है ? क्योंकि पहले ही कहा है—

'जिस फल को उद्देश्य करके, मुख्य वृत्ति को छोड़ कर गुण वृत्ति द्वारा अर्थ का ज्ञान कराते हैं उसमें शब्दस्खलद्गिति (अर्थात् वाधित अर्थ वाला) नहीं है।'

व्यवतिष्ठते । गुणवृत्तिस्तु वाच्यधर्माश्रयेणैव व्यङ्गव्यमात्राश्रयेण चामे-दोपचाररूपा सम्भवति, यथा—तीक्ष्णत्वादिश्वमीणवकः, आह्नाद-कत्वाद्यन्द्र एवास्या मुखमित्यादौ । यथा च 'प्रिये जने नास्ति पुन-रुक्तम्' इत्यादौ । यापि लक्षणरूप गुणवृत्तिः साप्युपलक्षणीयार्थसंव-न्धमात्राश्रयेण चारुरूपव्यङ्गवप्रतीति विनापि सम्भवत्येव, यथा— मञ्जाः क्रोशन्तीत्यादौ विषये ।

गुणवृत्ति वाच्यधर्म के आश्रय से ही और व्यक्तयमात्र के आश्रय से अमेदोपचार रूप सम्भव होती है, जैसे 'तीचग होने से माणवक अग्नि है'; आह्वादक होने से इस इसका मुख चन्द्र ही है' इत्यादि में। और जैसे 'प्रिय जन में पुनरुक्ति नहीं है' इत्यादि में। जो भी लच्चणारूप गुणवृत्ति है वह भी उपलच्चणीय अर्थ के साथ सम्बन्ध मात्र के आश्रय से चारुरूप व्यक्त्य की प्रतीति के विना भी सम्भव होती है, जैसे—'मञ्ज आक्रोश करते हैं' इत्यादि विषय में।

लोचनम्

न हि प्रयोजनशून्य उपचारः प्रयोजनांशनिवेशी च व्यञ्जनव्यापार इति भवद्भिरेवाभ्यधायीत्याशचाभिमतं व्यञ्जकत्वं विश्वान्तिस्थानरूपं तत्र नास्ती-त्याह्—व्यञ्जकत्वं चेति । वाच्यघमंति । वाच्यविषयो यो धर्मोऽभिधाव्यापारस्य-स्याश्रयेण तदुबृंह्णायेत्यर्थः । श्रुतार्थापत्ताविवार्थान्तरस्याभिषेयार्थोपपादन एव पर्यवतानादिति भावः । तत्र गौणस्योदाहरणमाह—यथेति । द्वितीयभिप प्रकारं व्यञ्जकत्वशून्यं निद्शीयतुमुपक्रमते —यापीति । चारुरूपं विश्वान्तिस्थानं, तद्भावे स व्यञ्जकत्वश्र्वापारो नैवोन्मीलति, प्रत्यावृत्त्य वाच्य एव विश्वान्तेः, श्रणदृष्टनष्टिवृत्यविभवप्राकृतपुरुषवत् ।

आप ही कह चुके हैं कि उपचार प्रयोजनशून्य नहीं होता और ब्यंजन व्यापार प्रयोजन के अंश में रहता है, यह आशक्का करके विश्वान्तिस्थान रूप अभिमत ब्यंजकत्व वहां नहीं है— और ब्यञ्जकत्व—। वाच्यधर्म—। अर्थात् वाच्यविषयक जो प्रमं अभिषा ब्यापार उसके आश्रय से उसके उपयृंहण के लिए। भाव यह कि क्योंकि श्रुतार्थापति की भांति अर्थान्तर का पर्यवसान अभिषेय अर्थ के उपपादन में ही होता है। उनमें, गौण का उदाहरण कहते हैं—जैसे—। ब्यंजकत्वरित दूसरे प्रकार को भी दिखाने के लिए उपक्रम करते हैं—जो भी—। चारु रूप अर्थात् विश्वान्ति का स्थान, उसके अभाव में वह ब्यंजकत्व व्यापार उन्मीलित नहीं होता, क्योंकि लौट कर वाच्य में ही विश्वान्ति हो जाती है, उस दिद्ध पुरुष की मौति जिसकी दिव्य सम्पत्ति क्षण में ही दिख जाने के बाद नष्ट हो जाती है।

यत्र तु सा चारुरूपव्यङ्गचप्रतीतिहेतुस्तत्रापि व्यञ्जकत्वानुप्रवेशे-नैव वाचकत्ववत् । असम्भविना चार्थेन यत्र व्यवहारः, यथा— 'सुवर्णपुष्पां पृथिवीम्' इत्यादौ तत्र चारुरूपव्यङ्गचप्रतीतिरेव प्रयोजि-केति तथाविधेऽपि विषये गुणवृत्तौ सत्यामपि ध्वनिव्यवहार एव

परन्तु जहाँ वह (गुणवृत्ति) चारुरूप व्यक्त्य की प्रतीति का कारण है वहाँ भी वाचकरव की भाँति व्यक्षकरव के अनुप्रवेश से ही और असम्भवी अर्थ के साथ जहाँ व्यवहार है, जैसे, 'सुवर्णपुष्पां पृथिवीं' इत्यादि में, वहाँ चारुरूप व्यक्त्य की प्रतीति ही प्रयोजिका है, इसल्पि उस प्रकार के भी विषय में गुणवृत्ति के होने पर भी व्यविन्यवहार ही युक्ति के अनुकूल है। इसल्पि अविविचत वाच्यव्यति में

लोचनम्

ननु यत्र व्यङ्गचेऽर्थे विश्रान्तिस्तत्र किं कर्तव्यमित्याशङ्क चाह—यत्र त्विति । अस्ति तत्रापरो व्यञ्जनव्यापारः परिस्फुट एवेत्यर्थः । दृष्टान्तं पराङ्गीकृतमेवाह—वाचकत्वदिति । वाचकत्वे हि त्वयैवाङ्गीकृतो व्यञ्जनव्यापारः प्रथमं ध्वनिप्रभेद्मप्रत्याचक्षाणेनेति भावः । किञ्ज वस्त्वन्तरे मुख्ये सम्भवति सम्भवदेव वस्त्वन्तरं मुख्यमेवारोप्यते विषयान्तरमात्रतस्त्वारोपव्यवहार इति जीवितमुपचारस्य, सुर्णपुष्पाणां तु मूलत एवासम्भवात्तदुचयनस्य तत्र क आरोपव्यवहारः; 'सुवर्णपुष्पां पृथिवीम्' इति हि स्यादारोपः, तस्माद्त्र व्यञ्जनव्यापार एव प्रधानभूतो नारोपव्यवहारः, स परं व्यञ्जनव्यापारानुरोधितयोत्तिष्ठति । तदाह—असम्भविनेति । प्रयोजिकेति । व्यङ्गन्यमेव हि प्रयोजनरूपं प्रतीतिविश्रामस्थान

जहाँ व्यङ्गय अर्थ में विश्वान्ति हो जाती है वहाँ क्या करना चाहिए ? यह आशक्षा करके कहते हैं—परन्तु जहाँ—। अर्थात् वहाँ दूसरा व्यंजन व्यापार स्पष्ट ही है। दूसरे द्वारा अङ्गीकृत ही दृष्टान्त को कहते हैं—वाचकरव की भाँति—। भाव यह कि वाचकरव में प्रथम ध्वनि प्रभेद का प्रत्याख्यान न करते हुए तुमने ही व्यंजन व्यापार को स्वीकार कर लिया है। और भी, मुख्य सम्भव वस्त्वन्तर में सम्भव होता हुआ ही मुख्य वस्त्वन्तर आरोपित होता है, और आरोप का व्यवहार विषयान्तर होने के कारण होता है, यह उपचार (आरोप) का जीवित है, परन्तु सुवर्णपुष्प शामूलतः ही सम्भव नहीं, फिर उनके चुनने का आरोप व्यवहार कैसा ? 'सुवर्णपुष्प पृथिवीं' यह आरोप होगा, इस लिए व्यंजन व्यापार हो यहां प्रधानभूत है न कि आरोप व्यवहार । वह (आरोप व्यवहार) केवल व्यंजन व्यापार के अनुरोध से उठता है। उसे कहते हैं—असरभवी—। प्रयोजिका—। प्रयोजन रूप व्यङ्गय ही प्रतीति का विश्वामस्थान

गुक्त्यतुरोधी । तस्मादिविवक्षितवाच्ये ध्वनौ द्वयोरिप प्रभेदयोर्व्यञ्ज-कत्विविशेषाविशिष्टा गुणवृत्तिर्ने तु तदेकरूपा सहृदयहृदयाह्नादिनी प्रतीयमाना प्रतीतिहेतुत्वाद्विषयान्तरे तद्र्पश्चन्याया दर्शनात् । एतच्च सर्वे प्राक्ष्यचितमपि स्फुटतरप्रतीतये पुनरुक्तम् ।

होनों भेदों में भी समान न्यक्षकत्व विशेष वाली गुणवृत्ति है, न कि उस (व्यक्षकत्व) की प्रतीति का हेतु होने के कारण सहृद्यों को आहृदित करने वाली उस (व्यक्षकत्व) के साथ एक रूप की होती है। क्यों कि दूसरे स्थल में उस (व्यक्षकत्व) के रूप से शून्य देखी जाती है। ये सभी बातें पहले स्चित हो चुकी हैं तथापि स्पष्ट रूप से प्रतीत होने के लिए पुनः कही गई है।

लोचनम्

मारोपिते त्वसम्भवति प्रतीतिविश्रान्तिराशङ्कनीयापि न भवति । सत्यामपीति । व्यञ्जनव्यापारसम्पत्तये क्षणमात्रमवलम्बितायामिति भावः । तस्मादिति । व्यञ्जकत्वलक्षणो यो विशेषस्तेनाविशिष्टा अविद्यमानं विशिष्टं विशेषो भेदनं यस्याः व्यञ्जकत्वं न तस्या भेद इत्यर्थः । यदि वा व्यञ्जकत्वलक्षणेन व्यापार-विशेषणाविशिष्टा न्यक्कृतस्वभावा आसमन्ताद्वःचाप्ता । तदेकेति । तेन व्यञ्जक-व्यवस्थान सद्देकं रूपं यस्याः सा तथाविधा न भवति । अविविक्षतवाच्ये व्यञ्जकत्वं गुणवृत्तेः पृथकचारुप्रतीतिहेतुत्वात् विविक्षतवाच्यनिष्ठव्यञ्जकत्ववत्, न हि गुणवृत्तेश्चारुप्रतीतिहेतुत्वमस्तीति दर्शयति—विषयान्तर इति । अप्रिवेदुर्शित्वादौ । प्राणिति प्रथमोद्दं चोते ।

नियतस्वभावाश्व वाच्यवाचकत्वादौपाधिकत्वेनानियतं व्यक्षकत्वं कथं न
होता है, सम्भव न होते हुए आरोपित में प्रतीतिविश्रान्ति की आशक्का भी नहीं की
जा सकती। होने पर भी—। भाव यह कि व्यंजन व्यापार को सम्पन्न करने के लिए
क्षण मात्र (गुणवृत्ति के) अवलम्बत होने पर भी इसलिए—। व्यंजकत्व रूप जो
विशेष उससे अविशिष्ट अर्थात् जिसका विशिष्ट = विशेष = भेदन विद्यमान नहीं, अर्थात्
व्यंजकत्व उस (गुणवृत्ति) का भेद (अवान्तर धर्म) नहीं। अथवा व्यंजकत्व रूप
व्यापार विशेष से अविशिष्ट तिरस्कृत स्वभाव बाली, या आ समन्तात् व्यापा। उस
व्यंजकत्व रूप (व्यापार) के साथ एक रूप है जिसका, वह उस प्रकार की नहीं होगी।
विविक्षित वाच्य में व्यंजकत्व गुणवृत्ति के अलग से चारुप्रतीति का हेतु होने के कारण
विविक्षित वाच्य में रहने बाले व्यंजकत्व की भौति होता है, गुणवृत्ति चारु की प्रतीति
का हेतु नहीं है यह दिखाते हैं—दूसरे स्थल में—। 'अग्निर्माणवकः' इत्यादि में।
पहले—। प्रथम बचीत में।

नियत स्वरूप वाच्य वाचक भाव से औपाधिक होने के कारण अनियत होने से

अपि च व्यञ्जकत्वलक्षणो यः शब्दार्थयोधिमः स प्रसिद्धसम्ब-न्धानुरोधीति न कस्यचिद्धिमतिविषयतामहिति । शब्दार्थयोहि प्रसिद्धो यः सम्बन्धो वाच्यवाचकभावाख्यस्तमनुरुन्धान एव व्यञ्जकत्वलक्षणा व्यापारः सामम्यन्तरसम्बन्धादौपाधिकः प्रवर्तते । अत एव वाचक-त्वात्तस्य विशेषः । वाचकत्वं हि शब्दविशेषस्य नियत आत्मा व्यु-त्पत्तिकालादारम्य तदविनाभावेन तस्य प्रसिद्धत्वात् । स त्वनियतः, औपाधिकत्वात् । प्रकरणाद्यवच्छेदेन तस्य प्रतीतेरितरथा त्वप्रतीतेः । ननु यद्यनियतस्तिकं तस्य स्वरूपपरीक्षया । नैष दोषः ; यतः शब्दात्मिन तस्यानियतत्वम्, न तु स्वे विषये व्यङ्गचलक्षणे । लिङ्ग-

और मी, व्यञ्जकत्व रूप जो शब्द और अर्थ का धर्म है वह प्रसिद्ध गम्बन्ध की अपेचा करता है इसमें किसी को विवाद नहीं। शब्द और अर्थ का प्रसिद्ध जो वाच्यवाचकभाव नामक सम्बन्ध है उसे अपेचा करता हुआ ही व्यञ्जकत्व रूप व्यापार दूसरी सामग्री के सम्बन्ध से औपाधिक रूप से प्रवृत्त होता है। इसी छिए वाचकत्व से उसका मेद है। वाचकत्व शब्द्दिशेष का नियत आत्मा है, क्योंकि व्युत्पत्तिकाल से लेकर वह उसके (शब्द के) अविनामाव से प्रसिद्ध है। परन्तु वह (व्यञ्जकत्व) औपाधिक होने के कारण अनियत है। क्योंकि प्रकरण आदि के सहयोग से उसकी प्रतीति होती है, अन्यथा प्रतीति नहीं होती। (शङ्का) यदि अनियत है तो उसके स्वरूप की परीचा से क्या लाम ? (समाधान) यह दोग नहीं है, क्योंकि शब्द रूप में वह अनियत है, न कि व्यङ्ग रूप अपने विषय में। और

लोचनम्

मिन्निनिमित्तिमिति दर्शयित—अपि चिति । अगिपधिक इति । व्यञ्जकत्वेवै नि उयं यत्पूर्वमुक्तं तत्कृत इत्यर्थः । अत एव समयनियमितादिमधाव्यापाराद्विलशण इति यावत् । एतदेव स्फुटयिति—अत एवेति । औपाधिकत्वं दर्शयिति—प्रकर्रणादांति । कि तस्येति । अनियतत्वाद्यथारुचि कृत्येत पारमार्थिकं हृपं नास्नीतिः न चावस्तुनः परीक्षोपपद्यत इति भावः । शब्दात्मनीति । सङ्कृताहपदं व्यंजकत्व कैसे भिन्न निमित्त वाला नहीं है ? यह दिखाते हैं—और भी—। आंपाधिक—। अथात् व्यंजकत्व का वैचित्र्य जो पहले कहा है तत्कृत (औपाधिक)। इसीलिए सङ्कृत में नियमित अभिन्ना व्यापार में विलक्षण है। इसे ही स्पष्ट करते हैं—इसी खिए—। औपाधिकत्व को दिखाते हैं—प्रकरण आदि—। उसके स्वरूप की—। भाव यह कि अनियत होने के कारण जो जाहे किल्पत हो सकता है, (उसका) पारमाधिक रूप नहीं है, और अवस्तु की परीक्षा उपपन्न नहीं । इन्दर

त्वन्यायश्चास्य व्यञ्जकभावस्य लक्ष्यते, यथा लिङ्गत्वमाश्रयेष्वनियता-वभासम्, इच्छाधीनत्वात्; स्वविषयाव्यभिचारि च । तथैवेदं यथा हर्शितं व्यञ्जकत्वम् । शब्दात्मन्यनियतत्त्रादेव च तस्य वाचकत्त्रप्र-कारता न शक्या कल्पयितुम्। यदि हि वाचकत्वप्रकारता तस्य भवत्तच्छव्दात्मनि नियततापि स्याद्वाचकत्ववत्। स च तथाविध औषाधिको धर्मः शब्दानामौत्पत्तिकशब्दार्थसम्बन्धवादिना वाक्यतन्व-विदा पौरुषापौरुपेययोविक्ययोविंशेषमभिद्धता नियमेनाभ्यपग्नन्वव्यः तदनम्युपगमे हि तस्य शब्दार्थसम्बन्धनित्यत्वे सत्यप्यपौरुपेपपौरुपे-इस रपञ्जकत्व का लिङ्गत्वसाम्य माल्यम पड़ता है, जैसे लिङ्गत्व आश्रयों में अनियन ह्य में मालूम पड़ता है, क्योंकि (वह) इच्छा के अधीन होता है और अपने विषय में अन्यमिचारो होता है। उसी प्रकार यह न्यक्षकत्त्र है, जैसा कि दिखा चुके हैं। और शब्द रूप में अनियत होने के कारण ही उसे वाचकत्व का प्रकार नहीं बनाया जा सकता । यदि वह वाचकरव का प्रकार होगा तो शब्द-रूप में नियनता मी वाचकरव की भौंति होगी। और शब्द और अर्थ का औरपत्तिक सम्बन्ध मानने वाले, पौरुपेय और अपीरुपेय वाक्यों का भेद कहने वाले वाक्यतस्ववंत्ता (मामां-सक) को शब्दों का उस प्रकार का वह औपाधिक धर्म नियमतः स्वीकार-करना चाहिए, क्योंकि उसके स्वीकार न करने पर शब्द और अर्थ के सम्बन्ध के नित्य होने पर अपीरुपेय और पौरुपेय वाक्यों के अर्थ के प्रतिपादन में कोई भेद न होगा।

लोचनम्

परस्वरूपमात्र इत्यर्थः । श्राश्रयेष्विति । न हि धूमे विह्नगमकत्वं सदातनम् , अन्यगमकत्वस्य वह्नचगमकत्वंस्य च दर्शनात् । इच्छाधीनत्वादिति । इच्छात्र पक्षयमत्विज्ञासाव्यातिसुस्मूषीप्रभृतिः । स्विवषयेति । स्विस्मिन्वपये च गृहीतं त्रेरुप्यादौ न व्यभिचरित । न कस्यिचिद्वमितमेतीति यदुक्तं तत्स्फुट-यित—स चेति । व्यञ्जकत्वलक्षण इत्यर्थः । श्रोत्पत्तिकेति । जन्मना द्वितीयो भावविकारः सत्तारूपः सामीप्याङ्गद्वयते विपरीतलक्षणातो वानुत्पत्तिः, रूढ्या रूप—। अर्थात् सङ्कृत के आस्पद पदस्वरूप मात्र । आश्रमो मं—। धूम का विद्विषक भाव सदातन नहीं है, क्योंकि वह अन्य का बोधक और बिह्वि का अवीधक भी देखा गया है क्योंकि इच्छा के अर्धान होता है—। यहाँ इच्छा पक्षधमंता (व्याप्य धूम की पक्ष पर्वत में स्थिति) की जिज्ञासा और व्याप्ति के स्मरण की इच्छा प्रभृति । अपने विषय के गृहीत होने पर श्रेरूप्य (पक्षसत्व, सपक्ष-सत्व और विपक्षासत्व) आदि में व्यभिचरित नहीं होता । 'किसी को विवाद नहीं' यह जो कहा है उसे स्पष्ट करते हैं—वह औपाधिक—। अर्थात् व्यंजकत्व रूप । औरपितिक—। जन्म (उत्पत्ति) से दूसरा सत्तारूप भावविकार सामीप्य से विवाद होता

ययोर्वाक्ययोरर्थप्रतिपादने निर्विश्चेपत्वं स्यात् । तद्भ्युपगमे तु पौरु-षेयाणांवाक्यानां पुरुषेच्छानुविधानसमारोपितौपाधिकव्यापारान्तराणां सत्यपि स्वाभिध्यसम्बन्धापरित्यागे मिथ्यार्थतापि भवेत् ।

हत्रयते हि भावानामपरित्यक्तस्वस्वभावानामपि सामग्न्यन्तर-सम्पातसम्पादितौपाधिकव्यापारान्तराणां विरुद्धिक्रयत्वम् । तथा हि-हिममयूखप्रभृतीनां निर्वापितसकलजीवलोकं शीतलत्वमुद्धहतामेव परन्तु उसके स्वीकार कर लेने पर पुरुष की इच्छा के अनुविधान से समारोपित

परन्तु उसके स्वीकार कर लेने पर पुरुष का इच्छा के अनुविधान स समारोपित औपाधिक ज्यापारान्तर वाले पौरुपेय वाक्य अपने अभिधेय के सम्बन्ध का परित्याग होने पर भी मिथ्यार्थ भी होंगे।

क्योंकि अन्य सामग्री के उपस्थित होने से सम्पादित औपाधिक व्यापारान्तर वाले, अपना स्वभाव न छोड़ने वाले भावों की भी विरुद्ध किया देखी जाती है। जैसा कि समस्त जीवलोक का ताप दूर करने वाली ठंडक धारण करने वाले ही

लोचनम्

वा औत्पत्तिकशब्दो नित्यपर्यायः तेन नित्यं यः शब्दार्थयोः शक्तिलक्षणं संवन्धिमच्छिति जैमिनेयस्तेनेत्यर्थः। निर्विशेषत्विमिति । तत्रश्च पुरुषदोषानुप्रवेशस्याकिश्चित्करत्वात्तिविवन्धं पौरुषयेषु वाक्येषु यदप्रामाण्यं तन्न सिध्येत्। प्रतिपत्तुरेव हि यदि तथा प्रतिपत्तिस्ति वाक्यस्य न कश्चिद्पराध इति कथम-प्रामाण्यम्। अपौरुषये वाक्येऽपि प्रतिपत्तुदौरात्म्यात्तथा स्यात्।

न्तु धर्मान्तराभ्युपगमेऽपि कथं मिथ्यार्थता, न हि प्रकाशकत्वलक्षणं स्वधर्मं जहाति शब्द इत्याशङ्कथाह—हश्यत इति । प्राधान्येनेति । यदाह—

है, अथवा विपरीत लक्षणा से (औत्पत्तिक शब्द से) 'अनुत्पत्ति' (रूप अर्थ का ग्रहण होगा), अथवा रूढ़ि से औत्पत्तिक शब्द नित्य का पर्याय (माना जायगा—), इसलिए जो नित्य शब्द-अर्थ का शक्ति रूप सम्बन्ध चाहता है उस जैमिनेय (मीमांसक) को । भेद (निविशेषत्व)—। और उस कारण पुरुष के दोषों का अनुप्रवेश कुछ नहीं कर सकेगा, इसलिए पौरुषेय वाक्यों में तत्प्रयुक्त जो अप्रामाण्य है वह सिद्ध न होगा । यदि प्रतिपत्ता की ही उस प्रकार प्रतिपत्ति है तो वाक्य का कोई अपराध नहीं है, इसलिए अप्रामाण्य कैसे होगा ? (यदि औपाधिक धर्म को स्वीकार नहीं करते हो तब) अपीष्ध वेय वाक्य में भी प्रतिपत्ता के दोष से उस प्रकार (अयथार्थता की प्रतीति से अप्रामाण्य) होगा ।

धर्मान्तर को स्वीकार करने पर भी मिथ्यार्थता कैसे होगी, क्योंकि शब्द अपने प्रकाशकत्वं रूप धर्म को नहीं छोड़ता है, यह आशस्त्रा करके कहते हैं—देखी जाती

_{प्रियाविरहृदृह्}नदृह्ममानमानसैजनैरालोक्यमानानां सतां सन्तापकारित्वं प्रसिद्धमेव । तस्मात्पौरुषेयाणां वाक्यानां सत्यपि नैसर्गिकेऽर्थसम्बन्धे मिथ्यार्थत्वं समर्थयितुमिच्छता वाचकत्वव्यतिरिक्तं किंचिद्रपमौपाधिकं व्यक्तमेवाभिधानीयम् । तच व्यञ्जकत्वादते नान्यत् । व्यङ्गवप्रकाशनं हि व्यञ्जकत्वम् । पौरुषेयाणि च वाक्यानि प्राधान्येन प्ररुपामिप्राय-मेव प्रकाशयन्ति । स च व्यङ्गच एव न त्वभिधेयः, तेन सहाभिधान-स्य वाच्यवाचकभावलक्षणसम्बन्धाभावात् । नन्वनेन न्यायेन सर्वेषा-मेव होकिकानां वाक्यानां ध्वनिव्यवहारः प्रसक्तः । सर्वेषामप्यनेन न्यायेन व्यञ्जकत्वात् । सत्यमेतत्; किं तु वक्रभिप्रायप्रकाशनेन यदुव्यञ्जकत्वं तत्सर्वेषामेव लौकिकानां वाक्यानामविशिष्टम्। चन्द्र प्रभृति प्रियतमा की विरहामि से दह्यमान चित्त वाले लोगों को सन्तप्त करने वाले प्रसिद्ध ही हैं। इसलिए पौरुपेय वाक्यों का नैसर्गिक सम्बन्ध होने पर भी मिष्यार्थता का समर्थन करना चाहते हए (मीमांसक) को वाचकत्व से अतिरिक्त किञ्चिदुरूप औपाधिक स्पष्ट ही अमिधान करना चाहिए। और वह (औपाधिक) व्यक्षकत्व के अतिरिक्त द्सरा कुछ नहीं। व्यक्ष्य का प्रकाशन व्यक्षकत्व है। और पौरुपेय वाक्य प्राधान्यतः पुरुष के अभिप्राय को ही प्रकाशित करते हैं। और वह (अभिप्राय) व्यङ्गय ही होता है, न कि अभिधेय, क्योंकि उसके साथ अभिधान का वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध नहीं होता। (शङ्कां) इस न्याय से सभी छौकिक वाक्यों में ध्वनि व्यवहार प्रसक्त होगा। क्योंकि इस न्याय से सभी व्यक्षक हैं। (समाधान) यह ठीक है, किन्तु वक्ता के अभिप्राय के प्रकाशन से जो व्यक्तकत्व है वह सभी छौकिक वाक्यों में अविशिष्ट है। परन्तु वह वाचकस्व से भिन्न नहीं है,

लोचनम्

प्यमयं पुरुषो वेदेति भवति प्रत्ययः न त्वेवमयमर्थं इति । तथा प्रमाणान्तरदर्शनमत्र बाध्यते, न तु शाब्दोऽन्वय इत्यनेन पुरुषाभिप्रायानुप्रवेशादेवाकुल्यप्रवाक्यादौ मिश्यार्थत्वमुक्तम् । तेन सहेति । अनियतत्या नैसर्गिकत्वाभावादिति
है—। प्रधान्यतः—। क्योंकि कहा है—'इस पुरुष ने इस प्रकार समझा' यह प्रत्यय
होता है, यह प्रत्यय नहीं होता कि यह अर्थ इस प्रकार है । इस प्रकार यहाँ प्रमापान्तर का दर्शन बाधित होता है न कि शाब्द अन्वय, इसलिए पुरुष के अभिप्राय के
अनुप्रवेश के कारण हो 'अक्नुल्यग्रे करिवरशतम्' इत्यादि वाक्य में मिश्यार्थता कही
गई है।—उसके साथ—। भाव यह कि अनियत होने से नैसर्गिकता के अभाव के

वाचकत्वास भिद्यते व्यङ्गयं हि तत्र नान्तरीयकत्तया व्यवस्थितम्। न तु विवक्षितत्वेन। यस्य तु विवक्षितत्वेन व्यङ्गयस्य स्थितिः तद्यञ्जकत्वं ध्वनिव्यवहारस्य प्रयोजकम्।

यस्त्रभिप्रायिवशेषरूपं व्यङ्गश्चं शब्दार्थाभ्यां प्रकाशते तद्भविति विद्यक्षितं तात्पर्येण प्रकाश्यमानं सत् । किन्तु तदेव केवलमपितिवि-प्रयम्य ध्वितव्यवहारस्य न प्रयोजकमव्यापकत्वात् । तथा दक्षित्भेद-त्रयरूपं तात्पर्येण द्योत्यमानमभिप्रायरूपमनभिश्रायरूपं च सबैमेव व्यङ्गय वहाँ नान्तरीयक रूप से रहता है न कि विवित्तत रूप से । परन्तु जो व्यंग्य विवित्त रूप से रहता है वह ध्वित व्यवहार का प्रयोजक है ।

जो कि अभिप्राय विशेष रूप व्यङ्गय शब्द-अर्थ से प्रकाशित होता है वह नाम्पर्य से प्रकाश्यमान होकर विक्वित होता है। किन्तु वहीं केवल अपरिमित विषय वाले ध्वनि व्यवहार का अन्यापक होने के कारण प्रयोजक नहीं होता है। इस प्रकार दिखाए जा चुके तीन भेदों वाला, तात्पर्य से द्योत्यमान अभिप्रायरूप और अनिभ-

लोचनम्

भावः । नान्तरीयकतयेति । गामानयेति श्रुतेऽप्यभिप्राये व्यक्ते तद्भिशार्यावशि-ष्टाऽर्थ एवाभिष्रेतानयनादिकियायोग्यो न त्वभिप्रायमात्रेण किचित्कृत्यमिति भावः । विविद्यतत्वेनेति । प्राधानयेनेत्यर्थः । यस्य त्विति । ध्वन्युदाहर्गोष्टिविति भावः । काव्यवाक्येभ्यो हि न नयनानयनाद्यपयोगिनी प्रतीतिरभ्यर्थ्यते, अपि तु प्रतीतिविश्रान्तिकारिणी, सा चाभिप्रायनिष्ठैत नाभिष्ठेतवस्तुपर्यवसाना ।

नन्त्रेवमिप्रायस्यैव व्यङ्गचत्वात्त्रिविधं व्यङ्गचिमिति यदुक्तं तत्कथमित्याहयिविति । एवं मीमांसकानां नात्र विमितिर्युक्तेति प्रदर्श्य वैयाकरणानां नैवात्र
कारण । नान्तरीयक रूप ते—। भाव यह कि 'गाय को लाओ' यह सुनने पर अभिप्राय
के व्यक्त होने पर भी उस अभिप्राय से विशिष्ट अर्थ ही अभिप्रेत आनयन आदि क्रिया
के योग्य है, न कि अभिप्रायमात्र कुछ होगा । विवित्त रूप से—। अर्थात् प्राधान्यतः ।
परन्तु जो—। भाव यह कि ध्वनि के उदाहरणों में । काव्य वाक्यों से नयन-आनयन
आदि क्रियाओं के उपयोग की प्रतीति नहीं उपस्थापित होती है, बिल्क (उस) प्रतीति
की विश्वान्तिकारिणी प्रतीति (उपस्थापित होती है) और वह (प्रतीति) अभिप्राय में ही रहती है, न कि अभिप्रेत वस्तु (वाच्य अर्थ) में पर्यवसित होती है।

इस प्रकार जब कि अभिप्राय ही व्यङ्गिय होता है तो 'तीन प्रकार का व्यङ्गिय होता है' यह जो कहा है वह कैसे ? यह कहते हैं—जोकि—। इस प्रकार यहाँ मीमांसकों की विमित ठीक नहीं यह दिखा कर यहाँ वह वैयाकरणों की (भी ठीक)

स्वित्यवहारस्य प्रयोजकिमिति यथोक्तव्यञ्जकत्विविशेषे ध्वनिलक्षणे नातिव्याप्तिने चाव्याप्तिः । तस्माद्वाक्यतत्त्वविदां मतेन तावम्रञ्जकन्वलक्षणः शाब्दो व्यापारो न विरोधी प्रत्युतानुगुण एव लक्ष्यते । परिनिश्चितनिरपभ्रंशशब्दब्रह्मणां विपश्चितां मनमाश्चित्येव प्रवृत्तोऽयं स्विन्वयवहार इति तैः सह कि विरोधाविरोधौ चिन्त्येते । कृत्रिम-प्रायहप सभी ध्वनिव्यवहार का प्रयोजक होता है, इस प्रकार यथोक्त व्यञ्जकत्व विशेषहप ध्वनि के लच्चण में न अतिव्याप्ति है और न अन्याप्ति है । इसलिए वाक्य-तष्ववेत्ताओं (मीमांसकों) के मत से भी व्यञ्जकत्व रूप शाब्द व्यवहार विरोधी नहीं, विहक अनुकूल ही लचित होता है । निरपभंश शब्दब्रह्म को परिनिश्चित करने वाले विद्वानों (वैयाकरणों) के मत के आधार पर ही यह ध्वनिव्यवहार प्रवृत्त हुआ है, इसलिए जिनके (उनके ?) साथ विरोध-अविरोध की चिन्ता क्यों की

लोचनम्

सास्तीति दर्शयति—परिनिश्चितिति । परितः निश्चितं प्रमाणेन स्थापितं निरप-भ्रंशं गिलतभेदप्रपञ्चतया अविद्यासंस्काररिहतं शब्दाख्यं प्रकाशपरामशंस्वभावं ब्रह्म व्यापकत्वेन बृहद्विशेषशक्तिनिभरतया च बृहित विश्वनिमीणशक्तीश्वर-लाच बृंहणम् यैरिति ।

एतदुक्तं भयति—वैयाकरणास्तावद्ब्रह्मपदेनात्यत्किचिद्च्छ्रन्ति तत्र का कथा वाचकत्वव्यञ्जकत्वयोः, अविद्यापदे तु तैरिप व्यापारान्तरमभ्युपगतमेव। एतच प्रथमोद्द्योते वितत्य निरूपितम्। एवं वाक्यविदां पद्विदां चाविमिति-विषयत्वं प्रदश्यं माणतत्त्वविदां तार्किकाणामिप न युक्तात्र विमितिरिति दशिय-तुमाह—कृत्रिमिति। कृत्रिमः सङ्केऽतमात्रस्वभावः परिकल्पितः शब्दार्थयोः नहीं यह दिखाते हैं —परिनिश्चित—। जिन्होंने शब्दास्य प्रकाशपरामर्थस्वभाव ब्रह्मं—

ब्यापक होने के कारण और बृहत् एवं विशेष शक्ति से पूर्ण होने के कारण बृंहित तथा विश्व का निर्माण करने वाली शक्ति का ईश्वर होने के कारण बृंहण (परिपोष रूप)— को निरपभ्रंश अर्थात् भेद प्रपंच के गलित हो जाने से अविद्या के संस्कार से रहित

परिनिश्चित अर्थात् प्रमाण से स्थापित किया है।

वात यह कही गई—वैयाकरण लोग 'ब्रह्म' पद से कुछ दूसरा ही चाहते हैं, वहाँ वाचकत्व और व्यंजकत्व का प्रसंग ही नहीं, परन्तु उन्होंने भी अविद्या की स्थिति में व्यापारान्तर को स्वीकार किया ही है। इसे प्रथम उद्योत में विस्तार करके निरूपण कर चुके हैं। इस प्रकार वाक्यविदों (मीमांसकों) और पदिवदों (वैयाकरणों) की विवित्ति का विषयत्व दिखा कर प्रमाणतत्त्वविद तार्किकों (नैयायिकों) की भी विमित्ति यहां ठीक नहीं है यह दिखाने के लिए कहते हैं—कृत्रिम—। कृत्रिम अर्थात्

३१ ध्व०

शब्दार्थसम्बन्धवादिनां तु युक्तिविदामनुभवसिद्ध एवायं व्यञ्जकभावः शब्दानामर्थान्तराणामियाविरोधश्रेति न प्रतिक्षेप्यपदवीमवतरति ।

वाचकत्वे हि तार्किकाणां विप्रतिपत्तयः प्रवर्तन्ताम्, किमिदं स्वा-भाविकं शब्दानामाहोस्वित्सामयिकमित्याद्याः । व्यञ्जकत्वे तु. तत्पृ-जाय ? शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को कृत्रिम मानने वाले युक्तिवत्ताओं (नैयायिकों) के मत में यह शब्दों का व्यञ्जकत्व अन्य अर्थों (के व्यञ्जकत्व) की भाँति सिद्ध एवं विरोधरहित है, अतः निराकरण के योग्य नहीं है।

वाचकत्व के सम्बन्ध में तार्किकों की विप्रतिपत्तियां हो सकती हैं, क्या शब्दों का यह (वाचकत्व) स्वामाविक है अथवा सङ्केतकृत (सामयिक) है इत्यादि। परन्तु

लोचनम्

सम्बन्ध इति ये वदन्ति नैयायिकसौगतादयः । यथोक्तम्—'न सामयिकत्वाच्छव्दार्थप्रत्ययस्ये'ति । तथा शब्दाः संकेतित प्राहुरिति । अर्थान्तराणामिति । दीपादीनाम् । नन्वनुभवेन द्विचन्द्राद्यपि सिद्धं तच्च विमतिपदमित्याशङ्क्षयाह्—अविरोधशेति । अविद्यमानो विरोधो निरोधो बाधकात्मको द्वितीयेन ज्ञानेन यस्य तेनानुभवसिद्धश्चाबाधितश्चेत्यर्थः । अनुभवसिद्धं न प्रतिचेष्यं यथा वाच-कत्वम् ।

ननु तत्राप्येषां विमतिः। नैतत्; न हि वाचकत्वे सा विमतिः, अपि तु वाचकत्वस्य नैसिंगिकत्वकृत्रिमत्वादौ तदाह—वाचकत्वे हीति। नन्वेवं व्यक्षकत्वस्यापि धर्मान्तरमुखेन विप्रतिपत्तिविषयतापि स्यादित्याशङ्कश्याह—व्यक्षकत्वं सङ्क्षेम मात्र स्वभाव का वनाया गया शब्द-अर्थं का सम्बन्ध है यह जो कहते हैं, नैयायिक, बौद्ध आदि। जैसे कहा है—'शब्द लिङ्ग द्वारा अर्थं का बोधक नहीं होता क्योंकि शब्द के अर्थं का बोध सामयिक (अर्थात् सङ्कोतकृत्) होता है। इस प्रकार शब्द संकेतित (अर्थं) को कहते हैं। अन्य अर्थों—। दीप आदि। द्विचन्द्र आदि भी अनुभव से सिद्ध है और उसमें विमति होगी, यह आशङ्का करके कहते हैं—विरोध रहित—। अर्थात् जिस (व्यंजकत्व) का द्वितीय ज्ञान का वाधकात्मक निरोध स्य विरोध विद्यमान नहीं, इसलिए (व्यंजकत्व) अनुभवसिद्ध और अवाधित है। अनुभव से सिद्ध को निराकरण नहीं किया जा सकता, जैसे वाचकत्व को।

(शक्का) उस (वाचकत्व के विषय) में भी इन (नैयायिकों) की विमित है।, (समाधान) यह नहीं, वाचकत्व के विषय में वह विमित्त नहीं है, अपितु वाचकत्व के नैसिंगकत्व और कृत्रिमत्व आदि के सम्बन्ध में है, उसे कहते हैं—वाचकत्व के सम्बन्ध में—। तब तो इस प्रकार धर्मान्तर (नैसिंगकत्व आदि) के द्वारा व्यंजकत्व के विषय में भी विप्रतिपत्ति हो सकती है! यह आशक्का करके कहते हैं—व्यंजकत्व में—।

हुमाविनि भावान्तरसाधारणे लोकप्रसिद्ध एवानुगम्यमाने को विम-तीनामवसरः । अलोकिके हार्थे तार्किकाणां विमतयो निखिलाः प्रव-तन्ते न तु लोकिके । न हि नीलमधुरादिष्वशेषलोकेन्द्रियगोचरे बाधारहिते तन्त्वे परस्परं विश्रतिपन्ना दृश्यन्ते । न हि बाधारहितं नीलं नीलमिति ब्रुवन्नपरेण प्रतिषिध्यते नैतन्नीलं पीतमेतदिति । तथैव व्यञ्जकत्वं वाचकानां शब्दानामवाचकानां च गीतध्वनीनाम-शब्दरूपाणां च चेष्टादीनां यत्सर्वेषामनुभवसिद्धमेव तत्केनापहनूयते ।

उसके (वाचकरव के) वाद होने वाले, भावान्तर-साधारण, लोकप्रसिद्ध, अनुगम्य-मान व्यक्षकरव में विमितयों का अवसर हो कहां ? क्योंकि तार्किकों की विमितयों अलौकिक पदार्थ में प्रयुत्त होती हैं न कि लौकिक में। नील, मधुर आदि अक्षेष लोगों की इन्द्रियों के गोचर वाधारहित तत्त्व में परस्पर विप्रतिपन्न नहीं देखे जाते। वाधा-रहित नील को 'नील' कहते हुए को 'यह पीत है नील नहीं' यह (कह कर) दूसरा कोई प्रतिषेध नहीं करता। उसी प्रकार वाचक शब्दों का, अवाचक गीत स्वनियों का और अशब्दक्ष चेष्टा आदि का जो व्यक्षकरव सभी का अनुभव सिद्ध है

लोचनम्

लिति । भावान्तरेति । अक्षिनिकोचादेः साङ्केतिकत्वं चक्षुरादिकस्यानादियोंग्यतेति दृष्ट्वा काममस्तु संशयः शब्दास्याभिषेयप्रकाशने व्यञ्जकत्वं तु यादः
शमेकरूपं भावान्तरेषु तादृगेव प्रकृतेऽपीति निश्चितैकरूपे कः संशयस्यावकाश
इत्यथः। नैतन्नीलिमिति नीले हि न बिप्रतिपत्तिः,अपि तु प्राधानिकमिदं पारमाणविमदं ज्ञानमात्रमिदं तुच्छिमिद्मिति तत्सृष्टावलौकिक्य एव विप्रतिपत्तयः।
वाचकानामिति । ध्वन्युदाहर्यो्ष्विति भावः। श्रश्च्दमिति। अभिधाव्यापारेणा-

भावान्तर—। अर्थात् अक्षिनिकोच आदि का सांकेतिकत्व चक्षु आदि की अनादि योग्यता है यह देख कर शब्द के अभिषेय के प्रकाशन में चाहे जो संशय हो परन्तु व्यंजकत्व जिस प्रकार भावान्तरों में एकरूप है उस प्रकार ही प्रकृत में भी है इस प्रकार निश्चित एक रूप वाले (व्यंजकत्व) में संशय का अवकाश कहाँ ? 'यह नील नहीं है' यह विप्रतिपत्ति नील में नहीं, अपि दु उस (जगत्) की सृष्टि में अलौकिक में ही यह प्रधान (अर्थात् मूल प्रकृति) द्वारा रचित है, यह परमाणुओं द्वारा रचित है, यह जान मात्र है, यह तुच्छ (शून्य) है ये विप्रतिपत्तियों हैं। वाचक शब्दों का—। भाव यह कि ध्वनि के उदाहरणों में। शब्दरहित—। अर्थात् अभिधा व्यापार से

अशब्दमर्थं रमणीयं हि स्चयन्तो व्याहारास्तथा व्यापारा निबद्धा-श्रानिबद्धाश्र विदग्धपरिषत्सु विविधा विभाव्यन्ते । तानुपहास्यता-मात्मनः परिहरन् कोऽतिसन्दधीत सचेताः । श्रूयात् , अस्त्यतिसन्धा-नावसरः व्यञ्जकत्वं शब्दानां गमकत्वं तच लिङ्गत्वमतश्र व्यङ्गध-प्रतीतिर्लिङ्गप्रतीतिरेवेति लिङ्गिलिङ्गभाव एव तेषां व्यङ्गधव्यञ्जकभावो नापरः कश्चित् । अतश्रेतदवश्यमेव बोद्धव्यं यस्माद्धञ्जभिप्रायापेक्षया व्यञ्जकत्वमिदानीमेव त्वया प्रतिपादितं वङ्गभिप्रायश्रानुमेयरूप एव ।

उसे कीन छिपा सकता है ? विद्ग्ध जनों की सभाओं में शब्दरहित रमणीय अर्थ को सूचित करने वाले वचन तथा ज्यापार विविध प्रकार के निवद्ध और अनिवद्ध रूप में मिलते हैं। अपनी उपहास्यता से बचता हुआ कौन सचेता उन्हें अतिसन्धान करेगा ? कोई कह सकता है, अतिसन्धान का है अवसर। शब्दों का गमकल (बोधकल) ज्यक्षकल है और वह लिक्कल है, और इसलिए ज्यक्कय की प्रतीति लिक्की की प्रतीति ही है, इस प्रकार उनका (शब्दों का) लिक्कलिक्किभाव ही है, दूसरा कोई ज्यक्कय-ज्यक्षकमाव नहीं। और यह अवश्य जान लेना चाहिए क्योंकि आपने अभी ही वक्का के अभिप्राय की अपेचा से ज्यक्षकत्व का प्रतिपादन किया है और वक्का का अभिप्राय अनुमेय रूप ही है।

लोचनम्

स्पृष्टिमित्यर्थः । रमणीयमिति । यद्गोप्यमानतयैव सुन्दरीभवतीत्यनेन ध्वन्यमानतायामसाधारणप्रतीतिलाभः प्रयोजनमुक्तम् । निबद्धाः प्रसिद्धाः । तानिति व्यवहारान् । कः सचेता अतिसन्द्धीत नाद्रियेतेत्यर्थः । लक्ष्यो शत्रादेशः आत्मनः कर्मभूतस्य योपहसनीयता तस्याः परिहारेणोपलक्षितस्तां परिजीही- पुरित्यर्थः । अस्तीति । व्यञ्जकत्वं नापह्न्यते तत्त्वतिरिक्तं न भवति अपि ति लिङ्गिलङ्गभाव एवायम् । इदानीमेवेति । जैमिनीयमतोपन्तेपे ।

अस्पृष्ट । रमणीय—। जो गोप्यमान रूप से ही सुन्दर होता है, इससे (अर्थ की) ध्वन्यमानता में असाधारण प्रतीति का लाम इस प्रयोजन को कहा है। निवद्ध प्रसिद्ध । उन्हें व्यवहारों को । कौन सचेता अतिसन्धान करेगा, अर्थात् आदर नहीं करेगा । लक्षण में शतृ आदेश कर्मभूत आत्मा की अर्थात् अपनी जो उपहसनीयता है उसका परिहार उपलक्षित है, अर्थात् उस (उपहसनीयता) को छोड़ देना चाहने वाला । है (अवसर)—। व्यंजकत्व को छिपाते नहीं, परन्तु वह अतिरिक्त नहीं अपितु यह लिक्कुलिक्कि भाव ही है। अभी ही—। जैमिनीय मत के निराकरण के प्रसङ्क में।

अत्रोच्यते — नन्वेवमि यदि नाम स्यात्तिकं निश्चित्रम् । वाच-कत्वगुणवृत्तिच्यतिरिक्तो च्यञ्जकत्वलक्षणः शब्दच्यापारोऽस्तीत्यस्मा-भिरम्युपगतम् । तस्य चैवमि न काचित् क्षतिः । तद्धि च्यञ्जकत्वं लिङ्गत्वमस्तु अन्यद्धा । सर्वथा प्रसिद्धशाब्दप्रकारविलक्षणत्वं शब्दच्या-पारविषयत्वं च तस्यास्तीति नास्त्येवावयोर्विवादः । न पुनर्यं परमार्थो यद्यञ्जकत्वं लिङ्गत्वमेव सर्वत्र च्यङ्गयप्रतीतिश्च लिङ्गप्रती-तिरेवेति ।

यहाँ कहते हैं—यदि इस प्रकार भी हो तो इमारा कुछ गहीं विशवा है। वाच-करव और गुणवृत्ति से व्यतिरिक्त व्यक्षकरव रूप सब्द ब्यापार है यह इसने स्वीकार किया है। उसकी इस प्रकार भी कोई हानि नहीं। वह व्यक्षकरव किन्नस्व हो अथवा और कुछ सर्वथा वह प्रसिद्ध शांब्द प्रकार से विक्रम्न और शब्दब्यापार का विषय है, इस प्रकार हम दोनों में विवाद ही महीं। फिर यह (कोई) परमार्थ नहीं कि व्यक्षकरव लिक्करव ही है और सर्वश्र ब्यक्क्य की प्रतीति किन्नो की प्रतीति ही है।

लोचनम्

यदि नाम स्यादिति । प्रौढवादितयाभ्युपगमेऽपि स्वपक्षस्तावन्न सिष्यतीति दर्शयिति—शन्देति । शब्दस्य व्यापारः सम् विषयः शब्दव्यापारिवषयः, अन्ये तु शब्दस्य यो व्यापारस्तस्य विषयो विशेष इत्याहुः । न पुनिरिति । प्रदीपाली कादौ लिङ्गिलङ्गभावशून्योऽपि हि व्यङ्गश्यक्षकभावोऽस्तीति व्यङ्गश्यव्यक्षकभावस्य लिङ्गिलङ्गभावोऽव्यापक इति कथं तादात्म्यम् । विषय इति । शब्द उचिरिते यावति प्रतिपत्तिस्तावान्विषय इत्युक्तः । तत्र शब्दप्रयुद्धाः अर्थप्रतिपिपादिषा चेत्युभय्यपि विवक्षानुमेया तावत् । यस्तु प्रतिपादिषायां कर्मभूतोऽ-र्थस्तत्र शब्दः करणत्वेन व्यवस्थितः न त्वसावनुमेयः, तिष्ठिषया हि प्रति-

यदि इस प्रकार भी हो—। प्रौढ़वादी बन कर स्वीकार करने पर भी (पूर्व-पक्षी का) अपना पक्ष सिद्ध नहीं होता, यह दिसाते हैं—शब्द—। शब्द का व्यापार होता हुआ विषय शब्दव्यापार का विषय है, परन्तु अन्य लोग शब्द का जो व्यापार उसका विषय अर्थात् विशेष यह कहते हैं। फिर—। प्रदीप के आलोक आदि में लिङ्गिलिङ्गभाव से रहित भी व्यङ्गधव्यंजक भाव है, इस प्रकार व्यङ्गधव्यंजक भाव का लिङ्गिलिङ्गभाव अव्यापक है, इसलिए तादात्म्य (अभेद) कैसे होगा ? विषय—। शब्द के उसरित होने पर जितने अंश में ज्ञान होगा उतना विषय है यह कहा गया है। वहां शब्द के प्रयोग की इच्छा और अर्थ के प्रतिपादन की इच्छा ये दोनों विवक्षायें अनुमेय हैं। परन्तु जो प्रतिपादन की इच्छा में कर्मभूत अर्थ है उसमें शब्द करण रूप से व्यवस्थित है न कि वह अनुमेय है, क्योंकि उसके विषय की

यद्पि स्वपक्षसिद्धयेऽस्महुक्तमनृदितं त्वया वक्रभिप्रायस्य व्यङ्गय-त्वेनाम्युपगमात्तत्रकाशने शब्दानां लिङ्गत्वमेवेति तदेतद्यथास्मामिर-मिहितं तद्विभज्यं प्रतिपाद्यते श्रूयताम्—द्विविधो विषयः शब्दानाम्— अनुमेयः प्रतिपाद्यश्च । तत्रानुमेयो विवश्वालक्षणः । विवश्वा च शब्द-स्वरूपप्रकाशनेच्छा शब्देनार्थप्रकाशंनेच्छा चेति द्विप्रकारा । तत्राद्या न शाब्दव्यवहाराङ्गम् । सा हि प्राणित्वमात्रप्रतिपत्तिफला । द्वितीया तु शब्दविशेषावधारणावसित्वयवहितापि शब्दकरणव्यवहारनिवन्धनम् । ते तु द्वे अप्यनुमेयो विषयः शब्दानाम् । प्रतिपाद्यस्तु प्रयोक्तुरर्थप्रति-पादनसमीहाविषयीकृतोऽर्थः ।

स च द्विविधः — वाच्यो व्यङ्गचश्च । प्रयोक्ता हि कदाचित्स्वशऔर जो कि अपने पत्त की सिद्धि के लिए तुमने हमारे-कथन को अनुदित
किया है कि वक्ता के अभिप्राय को व्यङ्गय रूप से स्वीकार करने के कारण उस
(व्यङ्गय) के प्रकाशन में शब्द लिङ्ग ही होते हैं, तो इसे जैसा कि हमने कहा है
उसे प्रतिपादन करते हैं, सुनो—शब्दों का विषय दो प्रकार का है अनुमेय और
प्रतिपाद्य। उनमें अनुमेय विवद्या रूप है। और दो प्रकार की है, शब्द के
स्वरूप के प्रकाशन की इच्छा और शब्द से अर्थ के प्रकाशन की इच्छा। उनमें
पहली शब्द व्यवहार का अङ्ग नहीं है। क्योंकि उसका फल प्राणित्व मात्र का ज्ञान
है। परन्तु दूसरी शब्द विशेष के अवधारण से अवसित (समाप्त) एवं व्यवहित होकर
भी शब्दकरणक व्यवहार का निबन्धन है। वे दोनों ही शब्दों का विषय अनुमेय
हैं। प्रतिपाद्य तो प्रयोक्ता की अर्थप्रतिपादन की इच्छा से विषयीकृत अर्थ है।

और वह दो प्रकार का है—वाच्य और व्यङ्ग्य । प्रयोक्ता कभी अपने शब्द से लोचनम्

पिपादियषैव केवलमनुमीयते । न च तत्र शब्दस्य करणत्वे यैव लिङ्ग-स्येतिकर्तव्यता पक्षधमंत्वप्रहणादिका सास्ति, अपि त्वन्यैव संकेतस्फुर-णादिका तन्न तत्र शब्दो लिङ्गम् । इतिकर्तव्यता च द्विधा-एकयामि-धाव्यापारं करोति द्वितीयया व्यक्षनाव्यापारम् । तदाह—तत्रेत्यादिना । प्रतिपादनेच्छा ही केवल अनुमेय होती है। शब्द के करणत्व में जो ही लिङ्ग की यक्षधमंत्व ग्रहण आदि इतिकर्तव्यता (सहकारी कारण) है वह है, बिल्क अन्य ही सङ्केतस्फुरण आदि (इतिकर्तव्यता) है, इसिलए वहाँ शब्द लिङ्ग नहीं है। इति-कर्तव्यता दो प्रकार की है—(शब्द) एक से अमिधा व्यापार करता है, दूसरी वे व्यंजना व्यापार। उसे कहते हैं—वहाँ इत्यादि द्वारा। किसी अपेचा से—। अर्थात

देनार्थं प्रकाशियतुं समीहते कदाचित्स्वशन्दानिमधियत्वेन प्रयोजनाने विश्वया कपाचित् । स त द्विविधोऽपि प्रतिपाद्यो विषयः शन्दानां न लिङ्गित्या स्वरूपेण प्रकाशते, अपि त कृत्रिमेणाकृत्रिमेण वा सम्बन्धान्तरेण । विवक्षाविषयत्वं हि तस्पार्थस्य शन्देलिङ्गितया प्रतीयते न त स्वरूपम् । यदि हि लिङ्गितया तत्र शन्दानां न्यापारः स्यात्तन्त्रव्या सम्यङ् मिध्यात्वादि विवादा एव न प्रवर्तेरन् धूमादिलिङ्गानुमितानु-मेयान्तरवत् । न्यङ्ग्यश्वाशें वान्यसामध्यिक्षिप्ततया वान्यवन्छन्दस्य सम्बन्धी भवत्येव । साक्षादसाक्षाद्भावो हि सम्बन्धस्याप्रयोजकः । वान्यवाचकभावाश्रयत्वं च न्यञ्जकत्वस्य प्रागेव दर्शितम् । तस्मादक्र-भिप्रायरूप एव न्यङ्गचे लिङ्गतया शन्दानां न्यापारः । तद्विषयीकृते तु प्रतिपाद्यतया । प्रतीयमाने तस्मिन्नभिप्रायरूपेऽनभिप्रायरूपे च वाचकत्वे नैव न्यापारः सम्बन्धान्तरेण वा । न तावद्वाचकत्वेन यथोक्तं प्राक् ।

अर्थ का प्रतिपादन करना चाहता है, कभी प्रयोजन की किसी अपेचा से अपने शब्द के अनिभिधेय रूप से। वह दोनों प्रकार का भी शब्दों का प्रतिपाद्य विषय लिक्नी (अनुभेय) रूप से स्वरूपतः प्रकाशित नहीं होता, अपि तु कृत्रिम अथवा अकृत्रिम सम्बन्धान्तर से। शब्दों से इस अर्थ का विवचाविषयत्व लिक्नी (अनुभेय) रूप से प्रतीत होता है न कि (अर्थ का) स्वरूप नहीं (प्रतीत होता)। यदि वहाँ शब्दों का ब्यापार लिक्नी रूप से हो तो धूम आदि लिक्न से अनुमित अन्य अनुमेय की भाँति शब्द के अर्थ में 'सम्यक् है था मिथ्या है' ऐसे विवाद ही न हों और व्यक्तय अर्थ वाषय के सामर्थ्य से आचिस होने के कारण वाष्य की भाँति शब्द का सम्बन्धी होता ही है, क्योंकि साचात् और असाचाद भाव सम्बन्ध का प्रयोजक नहीं है। और व्यक्तव्व का वाष्यवाचक भावाश्रयत्व पहले ही दिखाया जा चुका है। इसलिए वक्ता के अभिप्राय रूप ही व्यक्त्य में लिक्न रूप से शब्दों का व्यापार होता है और वसके द्वारा विषयीकृत (अर्थ) में प्रतिपाद्य रूप से। अभिप्राय रूप और अनिप्राय रूप वस प्रतीयमान में वाचकत्व से ही व्यापार होगा अथवा सम्बन्धान्तर से ? वाचकत्व से तो नहीं होगा जैसा कि पहले कह चुके हैं। सम्बन्धान्तर से, व्यक्तव्व

लोचनम्

क्याचिदिति । गोपनकृतसौन्दर्योदिलाभाभिसन्धानादिकयेत्यर्थः । शब्दार्थं भोपनकृत सौन्दर्यादिलाम के अभिसन्धान आदि अपेक्षा से । शब्द के अर्थं में—। भाव

सम्बन्धान्तरेण व्यञ्जकत्वमेत्र । न च व्यञ्जकत्वं लिङ्गत्वरूपमेत्र आलोकादिष्वन्यथा दृष्टत्वात् । तस्मात्प्रतिपाद्यो विषयः शब्दानां न लिङ्गित्वेन सम्बन्धी वाच्यवत् । यो हि लिङ्गित्वेन तेषां सम्बन्धी यथा दिश्वेतो विषयः स न वाच्यत्वेन प्रतीयते, अपि त्पाधित्वेन । प्रतिपाद्यस्य च विषयस्य लिङ्गित्वे तिद्विषयाणां विप्रतिपत्तीनां लौकि-कैरेव क्रियमाणानामभावः प्रसज्येतेति । एतचोक्तमेत्र ।

ही है और न्यक्षकस्व लिङ्गस्व रूप नहीं है, आलोक आदि में अन्यथा देखा जा जुका है। इसलिए शन्दों का प्रतिपाद्य विषय वाच्य की भौति ही लिङ्गी रूप से सम्बन्ध नहीं रखता। जो लिङ्गी रूप से उनका सम्बन्धी है, जैसा विपय दिखाया जा जुका है, वह वाच्य रूप से प्रतीत नहीं होता, अपि तु उपाधि रूप से। और प्रतिपाद्य विपय के लिङ्गी होने में उनके सम्बन्ध की लौकिक लोगों द्वारा ही की गई विप्रतिपत्तियों का अधाद प्रसक्त होगा। इसे कह चुके ही हैं।

लोचनम्

इति । अनुमानं हि निश्चयस्वरूपमेवेति भावः । उपाधित्वेनेति । विक्तिच्छा हि वाच्यादेरर्थस्य विशेषणत्वेन भाति । प्रतिपाद्यस्येति । अर्थोद्वः चङ्गः चस्य । लिङ्गिल इति । अनुमेयत्व इत्यर्थः । लोकिकैरैवेति । इच्छायां लोको न विप्रतिपद्यतेऽथे तु विप्रतिपत्तिमानेव ।

नतु यदा व्यङ्गचोऽर्थः प्रतिपन्नस्तदा सत्यत्वनिश्चयोऽस्यानुमानादेव प्रमाः णान्तरात् क्रियत इति पुनरप्यनुमेय एवासौ । मैवम् ; वाच्यस्यापि हि सत्य-त्वनिश्चयोऽनुमानादेव । यदाहुः—

'आप्तवादाविसंवादसामान्यादत्र चेदनुमानता' इति ।

यह कि अनुमान निश्चयस्वरूप ही होता है। उपाधिरूप से—। वक्ता की इच्छा बाच्यादि अर्थ के विशेषण रूप से प्रतीत होती है। प्रतिपाद्य विषय के—। अर्थात् व्यक्त्य के। लिक्सी होने में—। अर्थात् अनुमेय होने में। लौकिक लोगों द्वारा ही—। कोग इच्छा में विप्रतिपन्न नहीं होते, परन्तु अर्थ में विप्रतिपत्तिमान् होते ही हैं।

(शक्का) जब व्यंग अर्थ ज्ञात होता है तब उसके सत्यत्व का निश्चय अत्य प्रमाण अनुमान से ही किया जाता है इसिलए फिर भी वह अनुमेय ही है (समाधान) ऐसा नहीं, क्योंकि वाच्य के भी सत्यत्व का निश्चय अनुमान से ही होगा। क्योंकि कहते हैं—

'यहाँ आप्तवाद के अविसंवाद होने से अनुमानता होगी।'

यथा च वाच्यविषये प्रमाणान्तराजुगमेन सम्यक्त्वप्रतीतौ किचितिक्रयमाणायां तस्य प्रमाणान्तरिवषयत्वे सत्यपि न शब्दव्यापारविषयताहानिस्तद्यङ्गयस्यापि । काव्यनिषये च व्यङ्गयप्रतीतीनां सत्यासत्यनिरूपणस्याप्रयोजकत्वमेवेति तत्र प्रमाणान्तरव्यापारपरीक्षोपहासायैव सम्पद्यते । तस्माछिङ्गिप्रतीतिरेव सर्वत्र व्यङ्गयप्रतीतिरिति न
शक्यते वक्तुम् ।

और जैसे वाष्य के विषय में प्रमाणान्तर के अनुगमन से कहीं पर सम्यवस्य की प्रतीति करने पर उसके प्रमाणान्तर का विषय होने पर भी शब्दन्यापार विषयत्व की हानि नहीं होती उसी प्रकार न्यङ्मय की भी। और कान्य के विषय में ब्यङ्मय की प्रतीतियों का सत्यासत्यनिरूपण अप्रयोजक ही है, इसिल्प वहाँ प्रमाणान्तर के न्यापार की परीचा उपहासास्पद ही होगी। इसिल्प लिङ्गी की प्रतीति ही यह नहीं कह सकते।

लोचनम्

न त्तैतावता वाच्यस्य प्रतीतिरानुमानिकी किं तु तद्भवस्य ततोऽधिकस्य सत्यत्वस्य तद्भग्द्वन्येऽपि भविष्यति । एतदाह्—यथा चेत्यादिना । एतदाश्युप गम्यक्तं न त्वनेन नः प्रयोजनिमत्याहुः । काव्यविषये चेति । अप्रयोजकत्वमिति । न हि तेषां वाक्यानामाप्रिष्टोमादिवाक्यवत्सत्यार्थप्रतिपादनद्वारेण प्रवर्तकत्वाय प्रामाण्यमन्विष्यते, प्रीतिमात्रपर्यवसायित्वात् । प्रीतेरेव चालौकिकचमत्कार- स्पाया व्युत्पत्त्यङ्गत्वात् । एतज्ञोक्तं वितत्य प्राक् । उपहासायैवेति । नायं सहृदयः केवलं शुङ्कतकोपक्रमकर्कशहृदयः प्रतीति परामण्डुं नालिमत्येष चपहासः ।

इतने मात्र से वाच्य की प्रतीति अनुमान-प्राप्त नहीं समझी जा सकती, उसे व्यङ्गय मानने पर भी उसके अधिक सत्यत्व की (प्रतीति) हो सकती है। इसे कहते हैं—और जैसे—। इत्यादि द्वारा। इसे अम्युपगम करके कहा है इससे हमारा कोई प्रयोजन नहीं है यह कहते हैं। और काव्य के विषय में—। अप्रयोजक—। अग्निष्टोमादि वाक्यों ('अग्निष्टोमेन स्वगंकामो यजेत') की मौति सत्य अयं के प्रतिपादन के द्वारा प्रवृत्त कराने के लिए उन वाक्यों का प्रामाण्य नहीं ढूँढ़ते, क्योंकि (ये) प्रीति मात्र तक पर्यवसित हो जाते हैं। क्योंकि अलौकिक वमत्कार रूप प्रीति ही व्युत्पत्ति का अङ्गे है। इसे विस्तारपूर्वक कह चुके हैं। उपहासास्पद ही—। यह सहत्य नहीं है, केवल शुष्क तर्क के उपक्रम से कर्कश हृदय वाला व्यक्ति है क्योंकि प्रतीति का परामशं नहीं कर सकता, यह उपहास है।

यस्वतुमेयरूपव्यङ्गचिषयं शब्दानां व्यङ्गकत्वं तद्घ्वनिव्यवहार-स्याप्रयोजकम् । अपि तु व्यङ्गकत्वलक्षणः शब्दानां व्यापार औत्प-त्तिकशब्दार्थसम्बन्धवादिनाप्यम्युपगन्तव्य इति प्रदर्शनार्थम्रपन्यस्त-म् । तद्धि व्यञ्जकत्वं कदाचिल्लिङ्गत्वेन कदाचिद्रपान्तरेण शब्दानां वाचकानामवाचकानां च सर्ववादिभिरप्रतिक्षेप्यमित्ययमस्माभिर्यक्ष

जो कि अनुमेय रूप व्यङ्गय के विषय वाला शब्दों का व्यक्षकत्व है, वह ध्विन व्यवहार का प्रयोजक नहीं। अपितु शब्दों के व्यक्षकत्वरूप व्यापार को शब्दार्थ सम्बन्ध को औरपत्तिक मानने वाले को भी स्वीकार करना चाहिए, यह दिखाने के लिए उपन्यस्त किया है। वाचक और अवाचक शब्दों के उस व्यक्षकत्व को कभी अनुमान के द्वारा कभी रूपान्तर से सभी वादियों को मानना ही होगा, इसलिए यह यत हमने किया है। तो इस प्रकार गुणवृत्ति, वाचकत्व आदि शब्द के प्रकारों

लोचनम्

नन्वेवं तर्हि मा भूद्यत्र यत्र व्यञ्जकता तत्र तत्रानुमानत्वम्; यत्र यत्रानुमानत्वं तत्र तत्र व्यञ्जकत्वमिति कथमपद्भयत इत्याशङ्कचाह—यत्वनुमेवेति। तद्भचञ्जकत्वं न ध्वनिलक्षणमित्रायव्यतिरिक्तविषयाव्यापरादिति भावः। नन्त्रमित्रायविषयं यद्भचञ्जकत्वमनुमानेकयोगन्तेमं तच्चेत्र प्रयोजकं ध वनिव्यव्यव्यमित्रायविषयं यद्भचञ्जकत्वमनुमानेकयोगन्तेमं तच्चेत्र प्रयोजकं ध वनिव्यव्यव्यादस्य तर्हि किमथे तत्पूर्वमुपिक्षिप्तमित्याशङ्कचाह—अपि त्विति। एतदेव संक्षिप्य निरूपयति—तद्यीति। अत एव हि कचिद्वमानानेनिमित्रायादौ कचित्रत्यन्तेण दीपालोकादौ कचित्कारणत्वेन गीतध्वन्यादौ कचिद्मिधया विक्षितान्यपरे कचिद्गुणवृत्त्या अविविक्षितवाच्येऽनुगृह्यमाणं व्यञ्जकत्वं दृष्टं

इस प्रकार जहाँ-जहाँ व्यंजकता है वहाँ-वहाँ अनुमानता मत हो, किन्तु जहाँ-जहाँ अनुमानता है वहाँ-वहाँ व्यंजकत्व है इसे कैसे छिपाया जा सकता है, यह आशाङ्का करके कहते हैं—जो कि अनुमेय—। भाव यह कि वह व्यंजकत्व व्यंजकत्व व्यंजकत्व व्यंजकत्व व्यंजकत्व व्यंजकत्व है। स्थोंकि अभिप्राय से व्यंतिरक्त विषय (रस अलङ्कार आदि व्यंङ्ग्य) में व्यापार-रहित है। एकमात्र अनुमान के साथ योगक्षेम वाला जो अभिप्राय के विषय का व्यंजकत्व है वह यदि व्यनिव्यवहार का प्रयोजक नहीं है तो उसे पहले कैसे उपन्यस्त किया है? यह आशंका करके कहते हैं—अपि तु—। इसे ही संक्षेप में निरूपण करते हैं—उस अयंजकत्व को—। जिस कारण कहीं अनुमान से, जैसे अभिप्राय आदि में, कहीं प्रत्यक्ष से जैसे दीप के आलोक आदि में, कहीं कारण रूप से जैसे गीत ध्विन आदि में, कहीं अभिष्या से विवक्षितान्यपर से, कहीं गुणवृत्ति जैसे अविवक्षितवाच्य में अनुगृह्यमाण

आरब्धः । तदेवं गुणवृत्तिवाचकत्वादिम्यः शब्दप्रकारेम्यो नियमेनैव तावद्विलक्षणं व्यञ्जकत्वम् । तदन्तः पातित्वेऽपि तस्य हठादिभिधीय-माने तद्विशेषस्य ध्वनेर्यत्प्रकाशनं विप्रतिपत्तिनिरासाय सहृदयव्युत्पत्तये वा तिक्रयमाणमनितसन्धेयमेव । न हि सामान्यमात्रलक्षणेनोपयोगि-विशेषलक्षणानां प्रतिश्लेपः शक्यः कर्तुम् । एवं हि सित सत्तामात्रल-क्षणे कृते सकलसद्वस्तुलक्षणानां पौनरुक्त्यप्रसङ्गः । तदेवम्—

से ब्यक्षकरव नियमतः ही विलचण है। जबर्दस्ती अभिधा में उसे (ब्यक्षकरव) अनतभुंक करने पर भी उसके विशेष रूप ध्वनि का जो प्रकाशन विप्रतिपत्तियों के निराकरण के लिए अथवा सहदयों की ब्युत्पत्ति के लिए किया जा रहा है उसे अतिसंधान नहीं किया जा सकता। सामान्य मात्र के लच्चण कर देने पर उपयोगी विशेष के
लच्चणों का निराकरण नहीं किया जा सकता। क्योंकि ऐसा होने पर 'सत्ता' मात्र के
लच्चण कर दिये जाने पर समस्त सद्वस्तुओं का पौनक्क प्रसक्त होगा। तो इस प्रकार-

लोचनम

तत एव तेभ्यः सर्वेभ्यो विलक्षणमस्य रूपं निस्सध्यति तदाह—तदेविपिति ।
ननु प्रसिद्धस्य किमर्थं रूपसंकोचः क्रियते अभिधाव्यापारगुणवृत्त्यादेः ।
तस्यव सामप्रचन्तरोपनिपाताद्यद्विशिष्टं रूपं तदेव व्यञ्जकत्वमुच्यतामित्याशक्रुचाह—तदन्तःपातित्वैऽपीति । न वयं संज्ञानिवेशनादि निषेधाम इति भावः ।
विप्रतिपत्तिस्ताद्यविशेषो नास्तीति । व्युत्पत्तिः संशयाज्ञाननिरासः । न हीति ।
वपयोगिषु विशेषेषु यानि लक्षणानि तेषाम् । उपयोगिपदेनानुपयोगिनां काकदन्तादीनां व्युदासः । एवं हीति । त्रिपदार्थसङ्करी सत्तेत्यनेनेव द्रव्यगुणकर्मणां
लक्षितत्वाच्छुतिस्मृत्यायुर्वेदधनुर्वेदप्रभृतीनां सकललोकयात्रोपयोगिनामनारम्भः
व्यंजकत्व देखा गया है इसी कारण इन सभी से इसका विलक्षण रूप हमें सिद्ध होता है,
उसे कहते हैं—तो इस प्रकार—।

प्रसिद्ध अभिधा व्यापार, गुणवृत्ति आदि का रूपसंकोच किसिलए करते हैं, उसी (अभिधा व्यापार आदि) का अन्य सामग्री के प्राप्त होने से जो विशिष्ट रूप है वही व्यंजकत्व कहा जाय, यह आशस्त्रा करके कहते हैं—अन्तर्भुक्त करने पर भी—। भाव यह कि हम नाम के प्रवेश आदि का निषेध नहीं करते । विप्रतिपत्ति अर्थात् इस प्रकार का विशेष (व्यंजकत्व) नहीं है (यह विषद्ध ज्ञान) व्युत्पत्ति अर्थात् संशय और अज्ञान का निराकरण । सामान्य मात्र—। उपयोगी विशेषों में जो लक्षण हैं उनका । उपयोगी पद से अनुपयोगी काकदन्त आदि का निराकरण है। क्योंकि ऐसा होने पर—। भाव यह कि 'सत्ता तीन पदार्थों में रहती है। इसी (लक्षण) से ही द्रव्य, गुण, कमं लक्षित हो जाने पर सकल लोकयात्रा के उपयोगी श्रुति, स्मृति, आयुर्वेद,

विमतिविषयो य आसीन्मनीषिणां सततमविदितसतत्तः। ध्वनिसञ्ज्ञितः प्रकारः काव्यस्य व्यक्षितः सोऽयम्॥ प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यङ्गयः काव्यस्य दृइयते। यत्र व्यङ्गयान्वये वाच्यचारुत्वं स्यात्प्रकर्षवत्॥३४॥ व्यङ्गयोऽर्थो ललनालावण्यप्रख्यो यः प्रतिपादितस्तस्य प्राधान्ये ध्ननिरित्युक्तम्। तस्य तु गुणीभावेन वाच्यचारुत्वप्रकर्षे गुणीभृत-

हमेशा से अविदितस्वरूप होने के कारण जो मनीषी छोगों की विमित का विषय था, काब्य के ध्वनि नाम के उस इस प्रकार को व्यक्षित किया गया।

जहाँ स्यक्त्य का सम्बन्ध होने पर वाच्य का चारुत्व प्रकृष्ट होता है, काच्य का

(वहाँ) अन्य प्रकार गुणीभूतन्यक्कय देखा जाता है ॥ ३४ ॥

छलना के लावण्य के समान जो न्यङ्गय अर्थ प्रतिपादन किया गया है उसके प्राधान्य में ध्वनि है यह कह चुके हैं। किन्तु उसके गुणीभाव से वाच्य के चारुख

लोचनम्

स्यादिति भावः । विमतिविषयत्वे हेतुः—श्रविदितसतत्त्व इति । अत एवाधुनात्र न कस्यचिद्विमतिरेतस्मात्क्षणात्प्रभृतीति प्रतिपादयितुम्—श्रासीत् इत्युक्तम्॥३३॥

एवं यावद्ध्वनेरात्मीयं रूपं भेदोपभेदसहितं यश्च व्यञ्जकभेदमुखेन रूपं सत्सवं प्रतिपाद्य प्राणभूतं व्यङ्गचव्यञ्जकभावमेकप्रघट्टकेन शिष्यबुद्धौ विनिवेश्यितुं व्यञ्जकवादस्थानं रिचतिमिति ध्वनिं प्रति यद्वक्तव्यं तदुक्तमेव । अधुना तु गुणीभूतोऽप्ययं व्यङ्गचः कविवाचः पवित्रयतीत्यमुना द्वारेण तस्यैवातमत्वं समर्थियतुमाह—प्रकार इति । व्यङ्गचेनान्वयो वाच्यस्योपस्कार इत्यर्थः । प्रतिपादित इति । 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव' इत्यत्र । उक्तमिति । 'यत्रार्थः शब्दो

भगुर्वेद प्रभृति शास्त्र बन्द हो जाँयगे। विमित का विषय होने में कारण है—अविदित-स्वरूप—। अतएव अव इस क्षण से इसमें किसी की विमित नहीं है इसे प्रतिपादन

करने के लिए 'था' यह कहा है।। ३३।।

इस प्रकार जितना व्वनि का भेदोपभेदसहित स्वरूप है और जो ब्यंजक के भेद के प्रकार में रूप है उन सबको प्रतिपादन करके प्राणभूत व्यङ्गचव्यंजक भाव को एक प्रघट्टक द्वारा शिष्य की बुद्धि में बैठाने के लिए ब्यंजकवाद का स्थान बनाया है। इस प्रकार ध्वनि के प्रति जो कहना चाहिए वह कह ही चुके। अब गुणीभूत भी यह व्यङ्गच कवियों की वाणी को पवित्र करता है, इसलिए इस द्वारा उसी (ब्यङ्गच) का स्वरूप समर्थनायं कहते हैं—जहाँ व्यङ्गच—। ब्यङ्गच का सम्बन्ध और वाच्य का उपस्कार। प्रतिपादन किया गया है—। 'प्रतीयमानं पुनरत्यदेव' इस स्थल में। कह खुके

व्यङ्गचो नाम काव्यप्रभेदः प्रकल्प्यते । तत्र वस्तुमात्रस्य व्यङ्गचस्य तिरस्कृतवाच्येभ्यः प्रतीयमानस्य कदाचिद्वाच्यरूपवाक्याथीपेक्षया गुणीभावे सति गुणीभूतव्यङ्गचता । यथा—

लावण्यसिन्धुरपरैत हि केयमत्र यत्रोतपलानि शशिना सह सम्प्लवन्ते । उन्मज्जति द्विरदकुम्भतटी च यत्र यत्रापरे कदलिकाण्डमृणालदण्डाः ॥

का प्रकर्ष होने पर गुणीभूत व्यङ्गग्र. नाम का काव्य का प्रभेद किएत किया जाता है। वहाँ तिरस्कृत वाच्य वाले (शब्दों) से प्रतीयमान व्यङ्ग्य का कभी वाच्य रूप वाक्यार्थ की अपेचा गुणीभाव होने पर गुणीभूत व्यङ्गग्रता होती है। जैसे—

यहाँ यह कौन विलक्षण ही लावण्य की नदी है जिसमें चन्द्रमा के साथ कमल तैर रहे हैं, जिसमें हाथी के कुम्म का अग्रभाग निकल रहा है और जिसमें विलक्षण ही कदलीकाण्ड और मृणाल दण्ड हैं।

लोचनम्

वा' इत्यत्रान्तरे व्यङ्गचं च वस्त्वादित्रयं तत्र वस्तुनो व्यङ्गचस्य ये भेदा उक्तास्तेषां क्रमेण गुणभावं दर्शयति—तत्रेति । लावण्येति । अभिलाषविस्मय-गर्भेयं कस्यचित्तरुणस्योक्तिः ।

अत्र सिन्धुशब्देन परिपूर्णता, उत्पत्तशब्देन कटाक्षच्छटाः, शशिशब्देन वदनं, द्विरदेकुन्भतटीशब्देन स्तनयुगतं, कदितकाण्डशब्देनोरुयुगतं, मृणातद-ण्डशब्देन दोर्युग्ममिति ध्वन्यते । तत्र चैषां स्वार्थस्य सर्वथानुपपत्तरन्धशब्दो-केन न्यायेन तिरस्कृतवाच्यत्वम् । स च प्रतीयमानोऽप्यर्थविशेषः 'अपरैव हि केयं' इत्युक्तिगर्भीकृते वाच्येंऽशे चारुत्वच्छायां विधत्ते, वाच्यस्यैव स्वात्मोन्म-

हैं—। 'यत्रार्थ: शब्दो वा' इसके प्रसङ्ग में वस्तु आदि तीन व्यङ्गय कहे गये हैं। उनमें वस्तु व्यङ्गय के जो मेद कहे गये हैं उनका क्रम से गुणभाव दिखाते हैं— वहाँ—।—छावण्य—। यह किसी तरुण की अभिलाव और विस्मय से युक्त उक्ति है।

यहाँ 'नदी' शब्द से परिपूर्णता, 'कमल' शब्द से कटाक्ष की छटा, 'शशी' शब्द में मुझ, 'हाथ के कुम्म का अग्रभाग' शब्द से स्तनयुगल 'कदलीकाण्ड' शब्द से उच्छुगल, 'मृणालदण्ड' शब्द से हस्तयुगल घ्वनित होते हैं और वहां इनके स्वार्थ के सर्वथा अनुपपन्न होने के कारण 'अन्ध' शब्द में कहे गये न्याय के अनुसार तिरस्त्रत वाच्यत्व है। और वह प्रतीयमान (व्यङ्गध) भी अर्थविशेष 'यह कौन विलक्षण ही' इस उक्ति से युक्त वाच्य अंश में चारत्वच्छाया का विधान करता है,

अतिरस्कृतवाच्येभ्योऽपि शब्देभ्यः प्रतीयमानस्य व्यङ्गगस्य कदाचिद्वाच्यप्राधान्येन काव्यचारुत्वापेक्षया गुणीभावे सति गुणी-भृतव्यङ्गग्रता, यथोदाहृतम्-'अनुरागवती सन्ध्या' इत्येवमादि।

अतिरस्कृतवाच्य भी शब्दों से प्रतीयमान व्यङ्गय की कभी वाच्य के प्राधान्य से काव्य चारुत्व की अपेचा गुणीभाव होने पर गुणीभूत व्यङ्गयता होती है, जैसे उदाहरण दे चुके हैं 'अनुरागवती सन्व्या' इस प्रकार आदि । उसी (व्यङ्गय) का लोचनम्

ज्जनया निमज्जितव्यङ्गयजातस्य सुन्द्रत्वेनावभासनात् । सुन्द्रत्वं चास्यासस्माव्यमानसमागमसकललोकसारभूतकुवलयादिभाववर्गस्यातिसुभगैकाधिकरः
णविश्रान्तिलव्धसमुच्चयरूपतया विस्मयविभावनाप्राप्तिपुरस्कारेण व्यङ्गयार्थोपस्कृतस्य तथा विचित्रस्यैव वाच्यरूपोन्मज्जनेनाभिलाषादिविभावत्वात् । अत
एवेयति यद्यपि वाच्यस्य प्राधान्यं, तथापि रसध्वनौ तस्यापि गुणतेति सर्वस्य
गुणीभूतव्यङ्गयस्य प्रकारे मन्तव्यम् । अत एव ध्वनेरेवात्मत्वमित्युक्तचरं बहुशः ।

अन्ये तु जलक्रीडावतीर्णतरुणीजनलावण्यद्रवसुन्दरीकृतनदीविषयेयमुक्ति-रिति सहृद्याः, तत्रापि चोक्तप्रकारेणैव योजना । यदि वा नदीसिन्नधौ स्नाना-वतीर्णयुवतिविषया । सर्वथा ताबिहस्सयमुखेनेयति व्यापाराद्गुणताव्यङ्गयस्य। उदाहृतमिति । एतच प्रथमोद्द्योत एव निरूपितम् । अनुरागशब्दस्य चामिलापे तदुपरक्तवलक्षणयाः लावण्यशब्दवत्प्रवृत्तिरित्यिमप्रायेणातिरस्कृतवाच्यत्वमुः

क्योंकि वाच्य के ही स्वरूप के उन्मिज्जित होने और व्यंङ्गचसमूह के निम्निज्जित होने से मुन्दर रूप से प्रतीति होती है। सुन्दरत्व इस लिए है कि जिनका समागम सम्भा-व्यमान नहीं है ऐसे सकललोक के सारभूत कुवलयादि भाव वर्ग की अतिसुभग (नायिकारूप) एक अधिकरण में विश्वान्ति से समुचयरूप प्राप्त होने से विस्मय के विभावत्व की प्राप्तिपूर्वक व्यङ्गच अर्थ से उपस्कृत तथा विचित्र ही (वाच्य) वाच्य रूप के उन्मज्जन के कारण अभिलाष आदि का विभाव बन जाता है। इसी लिए इतने में यद्यपि वाच्य का प्राधान्य है तथापि रसम्बनि में उसका भी गुणभाव हो जाता है, इस प्रकार सभी गुणीभूत व्यङ्गच के प्रकार में मानना चाहिए। इसीलिए बहुत वार कह चुके हैं कि म्वनि ही काव्य का आतमा है।

किन्तु अन्य सहृदय लोगों के अनुसार यह जलकीड़ा के लिए अवतीएाँ युवितयों के लावण्यद्रव से सुन्दरीकृत नदी के सम्बन्ध में उक्ति है और वहाँ पर भी उक्त प्रकार से ही योजना होगी । अथवा यह नदी में स्नानार्थ अवतीणं युवितयों के सम्बन्ध में (उक्ति) है। सब प्रकार से विस्मय के प्रकार से इतने में व्यापार होने से व्यक्त्य का नुणों भाव है। उदाहरण दे चुके हैं—। इसे प्रथम उद्योत में ही निरूपण कर चुके हैं । 'अनुरान' शब्द की 'अभिलाष' अर्थ में उसमें उपरक्तस्य में लक्षणा द्वारा 'लावण्य'

तस्यैव स्वयमुक्त्या प्रकाशीकृतत्वेन गुणीभावः, यथोदाहृतम्— (सङ्केतकालमनसम्' इत्यादि । रसादिरूपच्यङ्गचस्य गुणीभावो रसवद-लङ्कारे दर्शितः ; तत्र च तेपामाधिकारिकवाक्यापेक्षया गुणीभावो विवहनप्रवृत्तमृत्यानुयायिराजवत् । व्यङ्गचालङ्कारस्य गुणीभावे दीपकादिविषयः ।

तथा--

स्वयं उक्ति से प्रकाशित होने पर गुगीभाव होता है, जैसे उदाहरण दे चुके हैं 'सङ्केतकालमनसं०' इत्यादि। रसादि रूप व्यङ्गय का गुणीभाव रसवद अलङ्कार में दिखाया जा चुका है, वहाँ उनका आधिकारिक वाक्य की अपेन्ना गुणीभाव विवाह में प्रवृत्त स्ट्रिय का अनुगमन करने वाले राजा की भांति होता है। व्यङ्गय अलङ्कार के गुणीभाव में दीपक आदि विषय हैं।

उस प्रकार—

लोचनम्

कम्। तस्यैवैति । वस्तुमात्रस्य । रसादीति । आदिशब्देन भावादयः रसवच्छ-

ब्देन प्रेयस्विप्रभृतयोऽलङ्कारा उपलक्षिताः।

नन्त्रत्यर्थं प्रधानभूतस्य रसादेः कथं गुणीभावः, गुणीभावे वा कथमचा-रुत्वं न स्यादित्याशङ्क्य प्रत्युत सुन्दरता भवतीति प्रसिद्धदृष्टान्तमुखेन दश-यति—तत्र चेति । रसवदाद्यलङ्कारिवषये । एवं वस्तुनो रसादेश्च गुणीभावं प्रदश्योलङ्कारात्मनोऽपि तृतीयस्य व्यङ्ग-यप्रकारस्य तं दर्शयति—व्यङ्ग्यालङ्का-रस्येति । उपमादेः ॥ ३४॥

एवं प्रकारत्रयस्यापि गुणभावं प्रदर्श्य बहुतरलच्यव्यापकतास्येति दर्शयितुमाह—तथिति । प्रसन्नानि प्रसादगुणयोगाद्गभीराणि च व्यङ्ग्यार्थाचेपकत्वाशब्द की भांति प्रवृत्ति है, इसलिए अतिरस्कृत बाच्यत्व कहा है उसी का—। वस्तुमात्र का । रसादि—। 'आदि' शब्द से भाव आदि, 'रसवत्' शब्द से प्रेयस्वी प्रभृति
बल्ह्यार उपलक्षित होते हैं।

अत्यन्त प्रधानभूत रस आदि का गुणीभाव कैसे होगा ? या गुणोभाव होने पर अचारत कैसे नहीं होगा ? यह आशक्का करके 'बल्कि सुन्दरता होती है' इस बात को प्रसिद्ध हष्टान्त के द्वारा दिखाते हैं—वहाँ—। रसवत् आदि अलक्कारों के विषय में । इस प्रकार वस्तु रूप और रसादि का गुणीभाव प्रदिश्ति करके अलक्कार रूप उस तीसरे व्यक्त्य प्रकार को दिखाते हैं—डयक्क्य अलक्कार के—। उपमा आदि के—।। ३४।।

है यह दिसाने के लिए कहते हैं—उस प्रकार—। प्रसादगुण के योग से प्रसन्न और

प्रसन्नगम्भीरपदाः काव्यबन्धाः सुखावहाः। ये च तेषु प्रकारोऽयमेव योज्यः सुमेघसा ॥ ३५॥

ये चैतेऽपरिमितस्वरूपा अपि प्रकाशमानास्तथाविधार्थरमणीयाः सन्तो विवेकिनां सुखावहाः काव्यबन्धास्तेषु सर्वेष्वेवायं प्रकारो गुणी-भूतव्यङ्गयो नाम योजनीयः । यथा-

प्रसन्न और गम्भीर पद वाले जो सुखावह कान्यवन्ध। होते हैं उनमें सुमेधा को

यही प्रकार जोड़ना चाहिए॥ ३५॥

और जो ये अपरिमितस्वरूप भी प्रकाशमान उस प्रकार के अर्थ रमणीय होते हुए विवेकी जनों के सुखावह काव्य बन्ध हैं उन सभी में यह गुणीभूत व्यङ्गध नाम का प्रकार जोड़ना चाहिए। जैसे-

लोचनम्

त्पदानि येषु । सुखावहा इति चारुत्वहेतुः । तत्रायमेव प्रकार इति भावः । सुमेघसेति। यस्त्वेतं प्रकारं तत्र योजयितुं न शक्तः स परमलीकसहृदयभावना-

मुकुलितलोचनोक्त्योपहसनीयः स्यादिति भावः।

लक्मीः सकलजनाभिलाषभूमिदुंहिता । जामाता हरिः यः समस्तभोगाप-वर्गदानसततोद्यमी । तथा गृहिणी गङ्गा यस्याः समभिलषणीये सर्वस्मिन्वस्तुः न्यपहत उपायभावः। अमृतमृगाङ्कौ च सुतौ, अमृतमिह वारुणी। तेन गङ्गा स्नानहरिचरणाराधनायुपायशतलब्धाया लद्म्याश्चन्द्रोदयपानगोष्ट्रश्चपभोगल क्षणं मुख्यं फलमिति त्रैलोक्यसारभूतता प्रतीयमाना सती अहो कुदुम्बं महोद्घेरित्यहोशब्दाच गुणीमावमनुभवत ॥ ३४॥

व्यक्त्रय अर्थं के आक्षेपक होने से गम्भीर पद हैं जिनमें। सुखावह अर्थात् चारूव के हेतु। भाव वह कि यहाँ भी यही प्रकार—है। सुमेघा को—। भाव यह कि जो इस प्रकार को वहाँ जोड़ने में समर्थ नहीं है वह 'अलीक सहृदय भावना से मुकुलित

लोचनों वाला है' इस कथन से उपहास के योग्य है।

समस्त लोगों के अभिलाष की भूमि लच्मी पुत्री है। जामाता विष्णु जी समस्त मोग और अपवर्ग (मोक्ष) को देने के लिए सतत उद्यमशील रहते हैं। पत्नी गङ्गा जिसका उपायभाव समिमलवणीय समस्त वस्तु में अपहत है और अमृत तथा चन्द्रमा पुत्र हैं। 'अमृत' यहाँ वारुणी (मदिरा) है। इस (अर्थ) से गङ्गारनान, हरिचरण के आराधन आदि सैकड़ों उपायों से छक्ष्मी का मुख्य फल चन्द्रोदय और पानगोष्ठी का उपभोग है, इस प्रकार (समुद्र की) त्रैलोक्य में सारभूतता प्रतीयमान (व्यक्त्य) होती हुई 'वाह रे, महासमुद्र का परिवार !' यहाँ 'वाह रे' शब्द से गुणीमाव को प्राप्त करती है।। ३४॥

लच्छी दुहिदा जामाउओ हरी तंस घरिणिआ गङ्गा।
अमिअमिअङ्का अ सुआ अहो कुडुम्बं महोअहिणो॥
वाच्यालङ्कारवर्गोऽयं व्यङ्गयांशानुगमे सति।
प्रायेणैव परां छायां विभ्रह्यक्ष्ये निरीक्ष्यते॥ ३६॥

वाच्यालङ्कारवर्गोऽयं व्यङ्गचांशस्यालङ्कारस्य वस्तुमात्रस्य वा यथायोगमनुगमे सति च्छायातिशयं विश्रह्मक्षणकारैरेकदेशेन दर्शितः। स तु तथारूपः प्रायेण सर्व एव परीक्ष्यमाणो लक्ष्ये निरीक्ष्यते।

उसकी पुत्री छचमी जामाता विष्णु, परनी गङ्गा और असृत और चन्द्रमा पुत्र हैं बाह रे ! यह ससुद्र का परिवार है ?

यह वाच्य अलङ्कारवर्ग व्यङ्गय—अंश का अनुगम होने पर प्रायः करके अतिश्रव शोभा धारण करता हुआ लच्य में देखा जाता है ॥ ३६ ॥

यह वाच्य अलङ्कारवर्ग व्यङ्गयांश अलङ्कार अथवा वस्तुमात्र का यथायोग्य अनुगम होने पर अतिशय शोभा को धारण करता हुआ लचणकारों द्वारा एक देश से (स्थाली-पुलाक न्याय से) दिखाया गया है। उस प्रकार का वह परीचा करने पर प्रायः

लोचनम्

एव निरलङ्कारेपूत्तानतायां तुच्छतयेव भासमानममुनान्तःसारेण काव्यं पवित्रीकृतमित्युक्त्वालङ्कारस्याप्यनेनैव रम्यतरत्विमिति दर्शयति—वाच्येति। अंशत्वं गुणमात्रत्वम् । एकदेशेनेति । एकदेशविवर्तिरूपकमनेन दर्शितम् ।

तद्यमर्थः-एकदेशविवर्तिरूपके-

राजहंसैरवीज्यन्त शरदैव सरोनृपाः

इत्यत्र हंसानां यञ्चामरत्वं प्रतीयमानं तन्त्रुपा इति वाच्येऽर्थे गुणतां प्राप्त-मलङ्कारकारैर्यावदेव दर्शितं तावद्गुना द्वारेण स्चितोऽयं प्रकार इत्यर्थः। अन्ये त्वेकदेशेन वाच्यभागवैचित्र्यमात्रेग्रीत्यनुद्भित्रमेव व्याचचित्ररे। व्यङ्गचं यद-

इस प्रकार निरलङ्कार (काव्यों) में आपातः प्रतीति में तुच्छरूप से भासमान काव्य इस अन्तःसार (गुणीभूत व्यङ्गध) द्वारा पित्र कर दिया गया है यह कह कर अलङ्कार का भी इसी से रम्यतः होता है यह दिखाते हैं—यह वाष्य—। अंश अर्थात् युणमात्र । एकदेश से—। इससे एकदेशविवर्ति रूपक को दिखाया है।

तो यह अर्थ है-एकदेशविवर्तिरूपक में-

'शरद ने ही सरोवररूपी राजाओं के राजहंसों से झले।'

अर्थात् यहाँ जो हंसों का चामरत्व व्यङ्गध हो रहा है वह 'राजा' इस बाच्य अर्थ में गुणता को प्राप्त है, इस प्रकार आलक्कारिकों ने जितना ही दिसाया है उस प्रकार को इस ढंग से सूचित किया है। किन्तु अन्य लोगों ने 'एकदेश से अर्थात् वाच्यभाग

३२ ध्व०

तथा हि—दीपकसमासोक्त्यादिवदन्येऽप्यलङ्काराः प्रायेण व्यङ्गचालङ्कारान्तरवस्त्वन्तरसंस्पिश्चेनो दृश्यन्ते । यतः प्रथमं तावदितश्योक्तिगर्भता सर्वालङ्कारेषु शक्यक्रिया । कृतेव च सा महाकविभिः कामिष काव्यच्छिवं पुष्यित, कथं द्यतिशययोगिता स्वविषयौचित्येन क्रियमाणा सभी लक्ष्य में देखा जाता है। जैसा कि—दीपक, समासोक्ति आदि की भाँति अन्य भी अलङ्कार प्रायः करके व्यङ्गय अलङ्कान्तर और वस्त्वन्तर का स्पर्श करने वाले देखे जाते हैं। क्योंकि पहले तो सब अलङ्कारों में अतिशयोक्ति—गर्भता हो सकती है। महाकवियों द्वारा की जाने पर ही वह कुछ अपूर्व काव्य की शोभा बढ़ाती है। क्योंकि

लोचनम्

लङ्कारान्तरं वंस्त्वन्तरं च संस्पृशन्ति ये स्वात्मनः संस्कारायाश्लिष्यन्तीति ते तथा। महाकविभिरिति । कालिदासादिभिः । काव्यशोभां पुष्यतीति यदुक्तं तत्र हेतुमाह—कथं हीति । हिशब्दो हेतौ । अतिशययोगिता कथं नोत्कर्षमावहेत् काव्ये नास्त्येवासौ प्रकार इत्यर्थः । स्विवये यदौचित्यं तेन चेद्धृदयस्थितेन तामितशयोक्तिं कविः करोति । यथा भट्टेन्दुराजस्य—

यद्विश्रम्य विलोकितेषु बहुशो निःस्थेमनी लोचने
यद्गात्राणि दरिद्रति प्रतिदिनं लूनाब्जिनीनालवत् ।
दूर्वोकाण्डविडम्बकश्च निबिडो यत्पाण्डिमा गण्डयोः
कृष्णे यूनि सयौवनासु वनितास्वेषेव वेषस्थितिः ॥
अत्र हि भगवतो मन्मथवपुषः सौभाग्यविषयः सम्भाव्यत एवायमितश्य

के वैचित्र्यमात्र से' यह अस्पृष्टार्थंक व्याख्यान किया है। जो व्यक्त्व्य अलङ्कारान्तर और वस्त्वन्तर का स्पर्श करते हैं, अपने संस्कार के लिए आश्लेष करते हैं वे उस प्रकार। महाकंवियों द्वारा—। कालिदास आदि द्वारा। 'काव्य की शोमा को बढ़ाती है' यह जो कहा है उसमें हेतु कहते हैं—अतिशययोगिता—। ('हि' शब्द हेतु' अर्थ में है।) अतिशययोगिता कैसे नहीं उत्कर्ष लायेगी अर्थात् काव्य में वह प्रकार नहीं ही है। अपने विषय में जो औचित्य है उस हृदयस्थित (औचित्य से) उस अतिशयोक्ति को किव करता है। जैसे मट्ट इन्दुराज का—

दृष्टिपातों के प्रसंग में बहुत बार आंखें विश्वाम करके जो स्थैयंरहित हो जाती हैं, अङ्ग प्रतिदिन कहे हुए कमिलनी के नाल की भाँति जो सूखते जा रहे हैं, गालों में दूर्वाकाण्ड का अनुकरण करने वाला घना जो कि पीलापन है, युवक कृष्ण के प्रति तरुणी गोपियों में ऐसी ही वेषरचना हो गई है।

यहाँ मन्मथ की मौति शरीर वाले भगवान का सौभाग्यविषयक अतिशय सम्भा

सती काच्ये नोत्कर्षमावहेत् । भामहेनाप्यतिश्चयोक्तिलक्षणे यदुक्तम्— सैवा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।

यह्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना ॥ इति ।

अतिशय योगिता अपने विषय के औचित्य से की जाने पर कैसे नहीं काव्य में उत्कर्ष हायेगी ? भामहने भी अतिशयोक्ति के छन्नण में जो यह कहा है—

यह सभी ही (अतिशयोक्ति) वक्रोक्ति है, इससे अर्थ शोमित हो जाता है।

इसमें कवि को यत्न करना चाहिए। इसके बिना कौन अछङ्कार है!

लोचनम्

इति तत्काव्ये लोकोत्तरैव शोभोल्लसति। अनौचित्येन तु शोभा लीयेत एव। यथा—

अल्पं निर्मितमाकाशमनालोच्यैव वेधसा । इद्मेवंविधं भावि भवत्याः स्तनजूम्भणम् ॥ इति ।

नन्वतिशयोक्तिः सर्वोलङ्कारेषु व्यङ्गश्वतयानतर्त्तीनैवास्तं इति यदुक्तं तत्कः यम् १ यतो भामहोऽतिशयोक्तिं सर्वोलङ्कारसामान्यरूपामवादीत्। न च सामान्यं शब्दाद्विशेषप्रतीतेः पृथग्भृततया पश्चात्तनत्वेन चकास्तीति कथमस्य व्यङ्गश्वत्विमत्याशङ्कश्याह—भामहेनेति। भामहेनापि यदुक्तं तत्रायमेवार्थोऽवगन्तव्य इति दूरेण सम्बन्धः। किं तदुक्तम्—सैषेति। यातिशयोक्तिकिलिक्षता सैव सर्वो वक्रोक्तिरलङ्कारप्रकारः सर्वः।

वक्राभिषेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः। इति वचनात्। शब्दस्य हि वक्रता अभिषेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन वित ही हो रहा है, इसलिए काव्य में लोकोत्तर ही शोमा उल्लसित होती है। परन्तु

बनौचित्य से शोभा समाप्त ही हो जाती है। जैसे—

इस प्रकार के होने वाले तेरे स्तन के उठान को ध्यान में न रख कर ही विधाता

ने आकाश को छोटा बना दिया।

अतिशयोक्ति सभी अलंकारों में व्यङ्गचरूप से अन्तर्लीन ही है यह जो कहा है वह कैसे ? क्योंकि मामह ने अतिशयोक्ति को सभी अलङ्कारों का सामान्यरूप कहा है। सामान्य शब्द से विशेष की प्रतीति होने से पृथम्भूत होकर पश्चाद्दभावी रूप से नहीं प्रतीति होता है, तो फिर कैसे इसका व्यङ्गचर्व है ? यह आशङ्का करके कहते हैं— भामह ने—। मामह ने भी जो कहा है वहां यही अर्थ समझना चाहिए यह दूर से अन्वय है। वह क्या कथन है—वह सभी—। जो अतिशयोक्ति लक्षित की गई है वहां स्व वक्रोक्ति अलङ्कार का सब प्रकार है।

वक अर्थ और शब्द की उक्ति वाणी की अलंकृति मानी जाती है। स वचन से। शब्द की वक्रता और अभिषेय की वक्रता अर्थात् लोकोत्तीणंरूप से

तत्रातिश्रयोक्तिर्यमलङ्कारमधितिष्ठति कविप्रतिभावशात्तस्य चारुत्वातिश्रययोगोऽन्यस्य त्वलङ्कारमात्रतैवेति सर्वालङ्कारशरीरस्वी-करणयोग्यत्वेनाभेदोपचारात्सैव सर्वालङ्काररूपेत्ययमेवाथोऽवग-

वहाँ, अतिशयोक्ति जिस अलङ्कार किव की प्रतिमा के वश से जिस अलङ्कार पर अधिष्ठित होती है, उसमें अतिशय चारश्व का योग्य हो जाता है और अन्य अल-इत्रारमात्र होते हैं, इस प्रकार सभी अलङ्कारों के शरीर को अङ्गीकार की योग्यता लोचनम

रूपेणावस्थानिमत्ययमेवासावलङ्कारभावः ; लोकोत्तरतेव चातिशयः, तेनातिश्वाक्तिः सर्वोलङ्कारसामान्यम् । तथा हि —अनया अतिशयोक्त्या, अर्थः सकल्जनोपभोगपुराणीकृतोऽपि विचित्रतया भाव्यते । तथा प्रमदोद्यानादिः विभावतां नीयते । विशेषेण च भाव्यते रसमयीक्रियते, इति तावत्तेनोक्तं, तत्र कोऽसावर्थं इत्यत्राह्—अभेदोपचारात्सेव सर्वालङ्काररूपेति । उपचारे निमित्तमाह—सर्वालङ्कारेति । उपचारे प्रयोजनमाह—अतिशयोकिरित्यादिना अलङ्कारमात्रतेवेत्यन्तेन । मुख्यार्थबाघोऽप्यत्रैव दर्शितः कविप्रतिभावशादित्यादिना ।

अयं भावः—यदि तावद्तिशयोक्तेः सर्वालङ्कारेषु सामान्यरूपता सा तर्हि तादात्म्यपर्यवसायिनीति तब्यतिरिक्तो नैवालङ्कारो दृश्यत इति कविप्रतिभानं न तत्रापेक्षणीयं स्यात् । अलङ्कारमात्रं च न किश्चिद्दृहश्येत । अथ सा काव्य-जीवितत्वेनेत्यं विवक्षिता, तथाप्यनौचित्येनापि निबध्यमाना तथा स्यात्।

अवस्थान, यही वह अलङ्कार का अलङ्कारत्व है। और लोकोत्तरता ही अतिशय है, इस कारण अतिशयोक्ति सब अलङ्कार का सामान्य है। जैसा कि—इस अतिशयोक्ति से, बहुत लोगों के द्वारा उपयोग करने से पुराना हुआ भी अर्थ विचित्र रूप से मालूम पड़ता है। उस प्रकार प्रमदा, उद्यान आदि को विभाव बनाते हैं। विशेषरूप से माबित किया जाता है, अर्थात रसमय किया जाता है, यह जो उसने कहा है उसका अर्थ क्या है, इस प्रसंग में कहते हैं—अभेदोपचार से वही सर्वालङ्काररूप है। उपचार में निमित्त कहते हैं—सर्वालङ्कार—। उपचार में प्रयोजन कहते हैं—अतिशयोक्ति से लेकर अलङ्कारमात्र होते हैं तक। किव की प्रतिभा के वश से—इत्यादि से मुख्यार्य-बाघ भी यहीं दिखा दिया गया।

माव यह है—यदि अतिशयोक्ति सभी अलङ्कारों में सामान्यरूप है और वह (उसकी सामान्यरूपता) तादात्म्य में पर्यवसित होती है। (अर्थात् सभी अलङ्कार अतिशयोक्तिरूप हैं) तो उस (अतिशयोक्ति) से व्यतिरिक्त अलङ्कार नहीं है, ऐसी स्थिति में किव की प्रतिभा की अपेक्षा नहीं रह जायगी, और कोई (अतिशयोक्ति से अतिरिक्त) अलंकारमात्र नहीं दिखेगा। यदि वह (अतिशयोक्ति) काव्य का जीवितरूप से विवक्षित है, ऐसी स्थिति में भी औचित्य से भी निबन्ध्यमान होकर

त्तव्यः । तस्याश्वालङ्कारान्तरसंकीर्णत्वं कदाचिद्वाच्यत्वेन कदाचिद्य-ङ्गवत्वेन । व्यङ्गवत्वमपि कदाचित्प्राधान्येन कदाचिद्गुणभावेन । तत्राद्ये पक्षे वाच्यालङ्कारमार्गः । द्वितीये तु ध्वनावन्तर्भावः । तृतीये तु गुणीभृतव्यङ्गवरूपता ।

हो जाने से अमेदोपचार से वही सर्वालङ्कार स्वरूप है, यही अर्थ समझना चाहिए। और वह अलङ्कारान्तर से सङ्कीर्ण कभी वाच्यरूप से कभी व्यङ्गय रूप से होती है। व्यङ्गयस्व भी कभी प्राधान्य से कभी गुणभाव से होता है। उनमें पहले पच में वाच्य अलङ्कार का मार्ग है, दूसरे में ध्वनि में अन्तर्भाव है और तीसरे में गुणीभूत-व्यङ्गयरूपता है।

लोचनम्

बोचित्यवती जीवितमिति चेत्—औचित्यनिबन्धनं रमभावादि मुक्त्वा

नान्यत्किञ्चिद्स्तीति तदेवान्तयोमि मुख्यं जीवितमित्यभ्युपगन्तव्यं न तु सा । एतेन यदाहुः केचित् अीचित्यघटितसुन्दरशब्दार्थमये काव्ये किमन्येन-ध्वनिनात्मभूतेनेति ते स्ववचनमेव ध्वनिसद्भावाभ्यपगमसाक्षिभूतं मन्यमानाः प्रत्यकाः। तस्मान्मरूयार्थवाधादुपचारे च निमित्तप्रयोजनसङ्खादभेदोपचार एवायम् । ततश्चोपपन्नमतिशयोक्तेव्यंङ्गचत्विमति । यदुक्तमलङ्कारान्तरस्वीकरणं तदेव त्रिधा विभजते—तस्याश्चीत । वाच्यत्वेनीत । सापि वाच्या भवति । यथा-'अपरैव हि केयमत्र' इति । अत्र रूपकेऽप्यतिशयः शब्दस्पृगेव । अस्य त्रैवि-ध्यस्य विषयित्रभागमाह—तत्रेति । तेषु प्रकारेषु मध्ये य आद्यः प्रकारस्तस्मिन्। वह उस प्रकार (काव्य का जीवित) हो सकती है। औचित्य वाली अतिशयोक्ति (काव्य का) जीवित है यदि कहो तो औचित्य के निबन्धन रस, भाव आदि को छोड़ कर कोई दूसरा नहीं है, इसलिए वही अन्तर्यामी होने से मुख्य जीवित है यह मानना चाहिए न कि वह (ओचित्ययुक्त अतिशयोक्ति)। इसलिए जो कि कुछ लोग कहते हैं कि औचित्यघटित सुन्दरशब्दार्थमय काव्य में अन्य किसी आत्मभूत ध्वनि से क्या होगा ? वे अपने वचन को ही ध्वनि के सद्भाव के स्वीकार का साक्षिमूत मानते हुए जवाब दिये जा चुके। इसलिए मुख्यार्थं के बाघ से और निमित्तरूप प्रयोजन के सद्भाव से यह अभेदोपचार ही है। इसलिए अतिशयोक्ति के व्यञ्जय होने की बात बन गई। जो कि अलङ्कारान्त का स्वीकरण कहा है उसे ही तीन प्रकार से विभाग करते हैं —और वह अलङ्कारान्तर से—। वाच्यरूप से—। वह (अतिशयोक्ति) मी वाच्य होती है (जैसे— 'अपरैव हि केयमत्र' । यहाँ रूपक में भी अतिशय शब्द का स्पर्ध कर ही रहा है (अर्थात् वाच्य ही है) इस त्रैविध्य का विषयविभाग कहते है उनमें ा उन प्रकारों के बीच जो पहला प्रकार है उसमें।

अयं च प्रकारोऽन्येषामप्यलङ्काराणामस्ति, तेषां तु न सर्वविषयः।
अतिशयोक्तेस्तु सर्वालङ्कारविषयोऽपि सम्भवतीत्ययं विशेषः। येषु
चालङ्कारेषु साद्द्रयमुखेन तन्त्वप्रतिलम्भः यथा रूपकोपमातुल्ययोगितानिदर्शनादिषु तेषु गम्यमानधर्ममुखेनैव यत्सादृश्यं तदेव शोभातिशयश्वालि भवतीति ते सर्वेऽपि चारुत्वातिशययोगिनः सन्तो गुणीभूतन्यङ्मचस्यैव विषयाः। समासोक्त्याक्षेपपर्यायोक्तादिषु तु गम्यमानांशाविनाभावेनैव तन्त्वन्यवस्थानाद्गुणीभूतन्यङ्गता निर्विवादैव। तत्र च

यह प्रकार अन्य अलङ्कारों का भी है, परन्तु उनका (प्रकार) सब विषय वाला नहीं है, परन्तु अतिशयोक्ति का (प्रकार) सब अलङ्कार के विषय वाला भी सम्भव होता है इस प्रकार यह विशेष है। जिन अलङ्कारों में साहरय के द्वारा तस्व (अलङ्कारत्व) का लाम होता है, जैसे रूपक, उपमा, तुल्ययोगिता, निद्र्भना आदि, उनमें गम्यमान धर्म के प्रकार से ही जो साहरय है वही अतिशय शोभा वाला होता है, इस प्रकार वे सभी अतिशय चारत्व से युक्त होते हुए गुणीभूत व्यङ्गय के ही विषय होते हैं। किन्तु समासोक्ति, आचेप, पर्यायोक्त आदि में गम्यमान अंश के अविनामाव से ही तस्व (अलङ्कारत्व) की व्यवस्था होने से गुणीभूतव्यङ्गयता निर्विवाद ही

लोचनम्

नन्वतिशयोक्तिरेव चेदेवन्भूता तिकमपेक्षया प्रथमं ताविदिति क्रमः सूचित इत्याशङ्कथाह्—अयं चेति । योऽतिशयोक्तौ निक्रिपतोऽलङ्कारान्तरेऽप्यनुप्रवेश्यात्मकः । नन्वेवमपि प्रथममिति केनाशयेनोक्तमित्याशङ्कथाह्—तेषामिति । एवमलङ्कारेषु तावद्वथङ्कथस्पर्शोऽस्तीत्युक्तया तत्र कि व्यङ्कथत्वेन भातीिति विभागं व्युत्पाद्यति—येषु चेति । रूपकादीनां पूर्वमेवोक्तं स्वरूपम् । निदर्शना-यास्तु 'क्रिययेव तदर्थस्य विशिष्टस्योपदर्शनम् । इष्टा निदर्शने'ति । उदाहरणम्

जब अतिशयोक्ति इस प्रकार की है तो किस अपेक्षा से 'पहले' यह कम सूर्जित किया है? यह आशस्त्रा करके कहते हैं—यह प्रकार—। अतिशयोक्ति में अलङ्कारान्तर में अनुप्रवेशस्य जो निरूपण किया गया है। फिर भी 'पहले' यह किस आशय से कहा है? यह आशस्त्रा करके कहते हैं—उनका—। इस प्रकार 'अलङ्कारों में व्यङ्गय का स्पर्श है' यह कह कर व्यङ्गयत्व से क्या होता है यह व्युत्पादन करते हैं—और जिन अलंकारों में—। रूपक आदि का स्वरूप पहले ही कह चुके हैं। किन्तु निदर्शना का (लक्षण है)—'क्रिया के द्वारा ही उसके विशिष्ट अर्थ का उपदर्शन निदर्शना मानी जाती है' उदाहरण—

गणीभृतव्यङ्गचतायामलङ्काराणां केपाश्चिदलङ्कारविशेषगर्भतायां नियमः। यथा व्याजस्तुतेः प्रेयोलङ्कारगर्भत्वे । केषाश्चिद्लङ्कारमात्रगर्भतायां नियमः । यथा सन्देहादीनामुपमागर्भत्वे । केपाश्चिदलङ्काराणां परस्प-रगर्भतापि सम्भवति । यथा दीपकोपमयोः । तत्र दीपकम्पपमागर्भत्वेन प्रसिद्धम् । उपमापि कदाचिद्दीपकच्छायानुयायिनी । यथा मालोपमा । तथा हि 'प्रभामहत्या शिखयेव दीपः' इत्यादौ स्फ्रटैव दीपकच्छाया लक्ष्यते ।

तदेवं व्यङ्गयांशसंस्पर्शे सति चारुत्वातिशययोगिनो रूपकाद्योऽ-लङ्काराः सर्वे एव गुणीभृतव्यङ्गचस्य मार्गः। गुणीभृतव्यङ्गचत्वं च है। और उस गुणीभूतव्यङ्गयता में कुछ अलङ्कार नियमतः—अलङ्कार विशेषगर्भ होते हैं, जैसे व्याजस्तुति प्रेयोऽलङ्कारगर्भ होती है; कुछ (अल्ङ्कार) नियमतः अल-क्कारमात्रगर्भ होते हैं, जैसे सन्देह आदि उपमागर्भ होते हैं; कुछ अलङ्कार परस्पर गर्भ भी सम्भव होते हैं, जैसे दीपक और उपमा में वहाँ दीपक उपमागर्भ रूप से प्रसिद्ध है। उपमा भी कभी दीपक की छायानुयायिनी हो जाती है, जैसे माछोपमा। जैसा कि 'प्रभा मंहत्या शिखयेव दीपः' इत्यादि में स्पष्ट ही दीपक की छाया छित

तो इस प्रकार व्यङ्गयांश का संस्पर्श होने पर रूपक आदि अलङ्कार अतिशय चारुव से युक्त होते हैं, यह सभी गुणीभूतव्यङ्गय का मार्ग है। उस प्रकार की जाति

लोचनम्

अयं मन्द्युतिर्भास्वानस्तं प्रति यियासति । उद्यः पतनायेति श्रीमतो बोधयन्नरान्॥

प्रेयोलङ्कारेति । चादुपर्यवसायित्वात्तस्याः । सा चोदाहर्तेव द्वितीयोद्दचोतेऽ-स्माभिः। उपमागर्भत्व इत्युपमाशब्देन सर्व एव तद्विशेषा रूपकादयः, अथवी-पम्यं सर्वसामान्यमिति तेन सर्वमाक्षिप्तमेव। स्फुटैवैति। 'तया स पूत्रश्च विभू-षितश्च' इत्येतेन दीपस्थानीयेन दीपनाद्दीपकमत्रानुप्रविष्टं प्रतीयमानतया,

यह मन्द प्रकाश वाला सूर्य 'उदय पतन के लिए होता है' यह वैभवशाली लोगों

को बोध कराता हुआ अस्त जाना चाहता है।

प्रेयोऽलङ्कार—। क्योंकि वह (व्याजस्तुति) चाटु में पर्यवसान प्राप्त करती है । और उसे हमने दूसरे उद्योत में उदाहृत किया ही है। 'उपमागर्म' यहां 'उपमा' शब्द से उसके सभी विशेष रूपक आदि, अथवा 'औपम्य सब में सामान्य है' इसलिए सब आक्षिप्त ही हैं। स्पष्ट हो-। 'तया स पूतश्च विभूषितश्च' इस दीपस्यानीय से दीपन होने के कारण प्रतीमयान रूप से यहां दीपक अनुप्रविष्ट है। इस उपमा में साधारण-

तेषां तथाजातीयानां सर्वेषामेबोक्तानुक्तानां सामान्यम् । तल्लक्षणे सर्वे वाले उन उक्त और अनुक्त सभी का गुणीभूतब्यङ्गयत्व सामान्य है। उसके छन्नण में सभी ये सुष्ठु प्रकार से छन्नित हो जाते हैं। सामान्य छन्नण से रहित प्रत्येक का

लोचनम्

साधारणधर्माभिधानं ह्येतदुपमायां स्पष्टेनाभिधाप्रकारेणेव । तथाजातीयानामिति । चारुत्वातिशयवतामित्यर्थः । सुलक्षिता इति यत्किलेषां तद्विनिर्मुक्तं रूपं न तत्काव्येऽभ्यर्थनीयम् । उपमा हि 'यथा गौस्तथा गवयः' इति । रूपकं 'खलेवाली यृप' इति । रूपकं 'द्विवंचनेऽची'ति तन्त्रात्मकः । यथासंख्यं 'तुदीशालातुरे'ति । दीपकं 'गामश्वम्' इति । ससन्देहः 'स्थाणुवी स्यात्' इति । अपह्तुतिः 'नेदं रजतम्' इति । पर्यायोक्तं 'पीनो दिवा नात्ति' इति । तुल्ययोगिता 'स्थाध्वोरिच' इति । अपस्तुतप्रशंसा सर्वाणि ज्ञापकानि, यथा पदसंज्ञायामन्तवचनम् "अन्यत्र संज्ञाविधौ प्रत्ययप्रह्णो तदन्तविधिनं' इति । आदेपश्चोमयत्र विभाषासु विकल्पात्मकविशेषाभिधित्सया इष्टस्यापि विषेः पृवं निपेषनात्प्रतिषेवेन समीकृत इति न्यायात् । अतिशयोक्तिः 'समुद्रः कुण्डिका' 'विन्ध्योविधितवानकवर्त्मागृहणात्' इति । एवमन्यत् ।

न चैवमादि काव्योपगीति, गृणीभूतव्यङ्ग-यतैवात्रालङ्कारतायां मर्मभूता लक्षिताः तान् मुष्ठु लक्ष्यति । यया मुपूर्ण कृत्वा लक्षिताः सङ्गृहीता धर्म का अभिधान स्पष्ट अभिधा प्रकार से ही है। उस प्रकार की जाति वाले—। अर्थात् अतिशय चारुत्व वाले । सुष्ठु प्रकार से लिखत—। जो कि इन (उपमा आदि अलङ्कारों) का उस (गुणीभूतव्यङ्गचत्व) से रहित रूप है वह काव्य में अभीष्ट नहीं है । क्योंकि उपमा—'जैसा गौ वैसा गवय'। रूपक—'खलेवाली यूप है'। क्लेष—'दिवंचनेऽचि' तन्त्रात्मक है। यथासङ्क्रध—'नुदीशालानुरुं। दीपक—'गौ अरव'। समन्देह—'अथवा स्थाणु होगा' अपह्नुति—'यह रजत नहीं है'। पर्यायोक्त—'पीन दिन में भोजन नहीं करता है'। तुल्ययोगिता—स्थव्योरिच'। अप्रस्तुतप्रशंसा—सव जापक, जैसे पदसंज्ञा में अन्तवचन—'अन्यत्र संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तविधिनं'। आक्षेप—विभाषाओं में दोनों जगह विकल्परूप विशेष के अभिधान की इच्छा से दृष्ट भी विधि के निषेष से प्रतिषेध के समान बना हुआ' इस न्याय से । अतिशयोक्ति—'कुण्डिका समुद्र है'; 'विन्ध्य ने वढ़ कर सूर्यं के मार्ग को छेक लिया'। इस प्रकार दूसरा।

इत्यादि को काव्य नहीं कहते। अलङ्कारता में ममंभूत गुणीभूतव्यङ्गचता ही यहाँ लिसत होकर उन्हें मुप्ठु प्रकार से लिसत करती है। जिस (गुणीभूतव्यङ्गचता से) मुपूर्ण करके लिसत अर्थाते संगृहोत होते हैं, अन्यथा अवश्य अव्याप्ति हो जाती। उसे

एवते सुलक्षिता भवन्ति । एकैकस्य स्वरूपिवशेषकथनेन तु सामान्यलक्षणरिहतेन प्रतिपादपाठेनेव शब्दा न शक्यन्ते तत्त्वतो निर्ज्ञातुम्,
आनन्त्यात् । अनन्ता हि वाग्विकल्पास्तत्प्रकारा एव चालङ्काराः ।
गुणीभूतव्यङ्गयस्य च प्रकारान्तरेणापि व्यङ्गयार्थानुगमलक्षणेन
स्वरूपिवशेष कहने से तो प्रत्येक पद के पाठ से शब्दों की मांति अनन्त होने के
कारण तस्वतः ज्ञान नहीं किया जा सकता । क्योंकि वाग्विकल्प अनन्त है और अलङ्कार
उनके प्रकार ही है ।—गुणीभूतव्यङ्गय का विषय व्यङ्गय अर्थ के अनुगम से प्रकारान्तर

लोचनम्

भवन्ति, अन्यथा त्ववश्यमञ्याप्तिर्भवेत् । तदाह्—एकैकस्येति । न चातिशयो-क्तित्रक्रोक्त्युपमादीनां सामान्यरूपत्वं चारुताहीनानामुपपद्यते, चारुता चैतदा-यत्तेत्येतदेव गुणीभूतञ्यङ्गचत्वं सामान्यलक्षणम् । ज्यङ्गचस्य च चारुत्वं रसाभिज्यक्तियोग्यतात्मकम् , रसस्य स्वात्मनैव विश्रान्तिधान्न आनन्दात्म-कत्वमिति नानवस्था काचिदिति तात्पर्यम् । श्रनन्ता हीति । प्रथमोद्दश्योत एव ज्याख्यातमेतत् 'वाग्विकल्पानामानन्त्यात्' इत्यत्रान्तरे ।

ननु सर्वेष्वलङ्कारेषु नालङ्कारान्तरं व्यङ्गश्चं चकास्ति ; तत्कथं गुणीभूत-व्यङ्गश्चेन लक्षितेन सर्वेषां संग्रहः। मैवम् ; वस्तुमात्रं वा रसो वा व्यङ्गश्चं सद्गुणीभूतं भविष्यति तदेवाह—गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य चेति। प्रकारान्तरेण वस्तु रसात्मनोपलक्षितस्य।

यदि वेत्थमवतरणिका—ननु गुणीभूतव्यङ्ग्येनालङ्कारा यदि लक्षितास्तर्हि कहते हैं—प्रत्येक का—। चारुताहीन अतिशयोक्ति, वक्रोक्ति, उपमा आदि का सामान्य- रूपत्व वन सकता है, और चारुता इसके अधीन है, यही गुणीभूतव्यङ्गयत्व सामान्य लक्षण है और व्यङ्गय का चारुत्व रसाभिव्यक्ति योग्यतारूप है, इस स्वस्वरूप से ही विश्वान्तिधाम है, अतएव आनन्दात्मक है, इस प्रकार कोई अनवस्था नहीं है यह तात्पर्यं है। क्योंकि अनन्त—। प्रथम उद्योत में ही 'वाग्विकल्पानामानन्त्यात्' इस प्रसंग में यह व्याख्यान किया जा चुका है।

(प्रश्न) सव अलङ्कारों में अलङ्कारान्तर व्यङ्गच नहीं होता, तो गुणीभूतव्यङ्गच के लक्षित होने पर कैसे सभी का संग्रह होगा? (उत्तर) ऐसा नहीं, वस्तुमात्र अथवा रस व्यङ्ग होता हुआ गुणीभूत होगा, उसे ही कहते हैं—गुगीभृतव्यङ्गच का—। वस्तु और रसहप प्रकारान्तर से—। उपलक्षित ।

अथवा अवतरणिका इस प्रकार है—गुणीभूतव्यङ्गच से यदि अलङ्कार लक्षित हो गये तो लक्षण कहना चाहिए, फिर क्यों नहीं, कहा, यह आशङ्का करके कहते हैं—

विषयत्वमस्त्येव । तदयं ध्विनिष्यन्दरूपो द्वितीयोऽपि महाकविविष-योऽतिरमणीयो लक्षणीयः सहृदयैः । सर्वथा नास्त्येव सहृदयहृदयहा-रिणः काव्यस्य स प्रकारो यत्र न प्रतीयमानार्थसंस्पर्शेन सौभाग्यम् । तदिदं काव्यरहस्यं परमिति द्वरिभिभीवनीयम् ।

मुख्या महाकविगिरामलङ्कृतिभृतामपि । प्रतीयमानच्छायैषा भूषा लज्जेव योषिताम् ॥ ३७॥

से भी होता ही है। इसिलिए ध्विनिष्यन्द रूप, महाकवियों का विषय, अतिरम-णीय दूसरा भी सहद्यों को लिखत करना चाहिए। सहद्य हृदयहारी काव्य का वह सर्वथा प्रकार नहीं ही है जिसमें प्रतीयमान अर्थ के संस्पर्श से सौभाग्य नहीं है। तो यह उत्कृष्ट काव्यरहस्य है यह विद्वानों को समझना चाहिए।

महाकवियों को अलङ्कार युक्त भी वाणी की यह प्रतीयमानकृत छाया खियों की

लजा की भाँति मुख्य भूषा है।

लोचनम्

त्रश्रणं वक्तव्यं किमिति नोक्तमित्याशङ्क्रचाह—गुणीम्तेति । विषयत्वमिति त्रास्त्रणीयत्वमिति यावत् । केन लक्ष्रणीयत्वं ध्वनिव्यतिरिक्तो यः प्रकारो व्यङ्गच-त्वेनार्थानुगमो नाम तदेव लक्ष्रणं तेनेत्यर्थः । व्यङ्गचे लक्षिते तद्गुणीभावे च निक्तिते किमन्यदस्य लक्ष्रणं क्रियतामिति तात्पर्यम् । एवं 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' इति निर्वाह्योपसंहरति—तद्यमित्यादिना सौमाग्यमित्यन्तेन । यत्प्रागुक्तं सक्लसत्कविकाव्योपनिषद्भूतमिति तन्न प्रतारणमात्रमर्थवादक्तपं मन्तव्यमिति वर्शियतुम्-तदिदिमिति ॥ ३६ ॥

मुख्या भूषेति । अलङ्कृतिमृतामिपशब्दादलङ्कारश्रून्यानामपीत्यर्थः। प्रतीयमानकृता छाया शोभा सा च लज्जासदृशी गोपनासारसौन्दर्यप्राणत्वात्। अलङ्कारधारिणीनामिप नायिकानां लज्जा मुख्यं भूषणम्। प्रतीयमाना च्छाया

गुणीभूतच्यक्वय का—। विषय अर्थात् लक्षणीय । अर्थात् किससे लक्षणीय होगा, व्यक्ष्य-रूप से अर्थानुगम नाम का घ्वनिव्यतिरिक्त जो प्रकार है वही लक्षण है उससे । व्यक्षय के लक्षित होने पर और उसके गुणीभाव के निरूपण किये जाने पर दूसरा लक्षण क्या किया जाय, यह तात्पर्य है । इस प्रकार 'काव्य का आत्मा ध्वनि है' यह निर्वाह करके उपसंहार करते हैं—इसलिए—। इत्यादि से लेकर सौभाग्य तक । जो पहले कहा है कि समस्त सत्कवियों के काव्य का उपनिषद्भूत है वह प्रतारणमात्र नहीं है, बिल्क अर्थवाद-रूप. मानना चाहिए यह दिखाने के लिए—तो यह—।। ३६।।

सुस्य भूषे।—। 'अलङ्कारयुक्त भी' शब्द से 'अलङ्कारशून्य भी' यह अर्थ है। प्रतीयमानकृत छाया अर्थात् शोभा, वह लज्जा के समान है, क्योंकि गोंपना के सार

अनया सुप्रसिद्धोऽप्यर्थः किमपि कामनीयकमानीयते ।

तद्यथा—

विश्रम्मोत्था मन्मथाज्ञाविधाने ये मुग्धाक्ष्याः केऽि लीलाविशेषाः। अक्षुण्णास्ते चेतसा केवलेन स्थित्वैकान्ते सन्ततं भावनीयाः॥

इससे सुप्रसिद्ध भी अर्थ कुछ कमनीय बन जाता है।

मन्मग्र की आज्ञा के विधान में जो मुग्धाची के विश्रम्म से उत्पन्न कुछ अपूर्व छीछा-विशेष हैं, अचुण्ण उन्हें एकान्त में स्थित होकर केवल (एकाप्र) चित्त से भावना के योग्य हैं।

लोचनम्

अन्तर्भवनोद्धेदजहृदयसौन्दर्थस्पा यया, लज्जा धन्तरुद्धिन्नमान्मथिवकारजुगोपियषारूपा मदनविजृम्भैव । वीतरागाणां यतीनां कौपीनापसारणेऽपि
त्रपाकलङ्कादर्शनात् । तथा हि कस्यापि कवे:—'कुरङ्गीवाङ्गानि' इत्यादिश्लोकः ।
तथा प्रतीयमानस्य प्रियतमाभिलाषानुनाथनमानप्रभृतेः छाया कान्तिः यया ।
शृङ्गाररसतरङ्गिणी हि लज्जावरुद्धा निर्भरतया तांस्तान् विलासान्नेत्रगात्रविकारपरम्परारूपान् प्रसूत इति गोपनासारसौन्दर्यलज्जाविजृम्भितमेतदिति मावः ।

विश्रमीति । मन्मथाचार्येण त्रिभुवनवन्द्यमानशासनेन अत एव लजासाध्व-सध्यंसिना दत्ता येयमलङ्कनीयाज्ञा बद्नुष्ठानेऽवश्यकर्तव्ये सति साध्वसलज्जा-त्यागेन विस्नम्भसम्सोगकालोपनताः, मुग्धास्या इति अकृतकसम्भोगपरिमाव-

सौन्दर्य का प्राण है। अलङ्कार घारण करने वाली भी नायिकाओं की लज्जा मुख्य भूषण है। अन्तर्मदन के उद्भेद से उत्पन्न सौन्दर्यं ए छाया प्रतीयमान हो जिससे, क्योंकि लज्जा भीतर उद्भिन्न मान्मथिवकार की गोपने च्छा ए मदनजृम्मा ही है। क्योंकि वीतराग यितयों के कौपीन हटा देने पर भी त्रपा का कलङ्क नहीं दिखता। जैसा कि किसी किव का—'कुरङ्गीवाङ्गानि॰' इत्यादि इलोक। उस प्रकार प्रतीयमान प्रियतम के अभिलाप, अनुनाथन प्रभृति की छाया अर्थात् कान्ति है जिससे। भाव यह कि शृङ्गार रस की तरिङ्गणी लज्जा से अवख्द होकर नेत्र और गात्र के विकार परम्परा- स्प उन-उन विलासों को उत्पन्न करती है, इस प्रकार यह गोपना हप द्वार वाले सौन्दर्यवाली लज्जा का विज्ञिम्सत है।

मन्मथ की—। त्रिभुवन द्वारा वन्द्यमान शासन वाले, अतएव लज्जा और साध्वस के ध्वंस कर देने वाले मन्मथाचार्य की दी हुई जो यह अलङ्कृतीय आज्ञा है उसके अनुष्ठान अर्थांत् अवश्यन नंद्य की अवस्था में साध्वस और लज्जा के त्याग से विसम्भ-सम्भोग के अवसर मे त्राप्त, सुग्धाची के—अकृत्रिम सम्भोग के परिभावन से उचित

जा सकते ॥ ३७ ॥

ध्वन्यालोकः

इत्यत्र केऽपीत्यनेन पदेन वाच्यमस्पष्टमिमद्यता प्रतीयमानं वस्त्वक्किष्टमनन्तमपेयता का छाया नोपपादिता । अर्थान्तरगतिः काक्वा या चैषा परिदृश्यते । सा व्यक्क्यस्य गुणीभावे प्रकारिमममाश्रिता ॥ ३८॥

यहाँ वाच्य का अस्पष्ट अभिधान करते हुए 'कुछ' इस पद ने अक्छिष्ट और अनन्त प्रतीयमान को अर्पित करते हुए कौन शोभा उत्पन्न नहीं की है ?

और काकु से जो यह अर्थान्तर की गति देखी जाती है वह स्यङ्गय के गुणीभाव होने पर इस प्रकार को आश्रयण करती है ॥ ३८ ॥

लोचनम्

नोचितदृष्टिप्रसरपवित्रिता येऽन्ये विलासा गात्रनेत्रविकाराः, अत एवाक्षुण्णाः नवनवरूपतया प्रतिक्षणमुन्मिषन्तस्ते, केवलेनान्यत्राव्यमेणेकान्तावस्थानपूर्वं सर्वेन्द्रियोपसंहारेण भावियतुं शक्या अही उचिताः। यतः केऽपि नान्येनो-पायेन शक्यिनरूपणाः॥ ३७॥

गुणीभूतव्यङ्गचस्योदाहरणान्तरमाह—श्रर्थान्तरित । 'कक लौल्ये' इत्यस्य धातोः काकुशब्दः । तत्र हि साकाङ्क्ष्वित्राकाराकाङ्क्षादिक्रमेण पठ्यमानोऽसौ शब्दः प्रकृतार्थातिरिक्तमपि वाञ्छतीति लौल्यमस्याभिधीयते । यदि वा ईषदर्थे कुशब्दस्तस्य कादेशः । तेन हृद्यस्थृवस्तुप्रतीतेरीपद्भूमिः काकुः तया याऽर्थान्तरगितः स काव्यविशेष इमं गुणीभूतव्यङ्गचप्रकारमाश्रितः । अत्र हेतुव्यङ्गयस्य तत्र गुणीभाव एव भवति । अर्थान्तरगितशब्देनात्र काव्यमेवो हिष्प्रसार द्वारा पवित्रित जो अन्य गात्र और नेत्र के विकाररूप विलास हैं, अतप्र अद्युष्ण अर्थात् नवनवरूप से प्रतिक्षण उन्मिषित हो रहे हैं, उन्हें केवल अर्थात् अत्यत्र व्ययतारिहत, एकान्त में अवस्थानपूर्वंक समस्त इन्द्रियों का उपसंहार करके भावना के योग्य, उन्वत हैं। वर्योंकि 'कुछ अपूर्व' है अर्थात् अन्य उपाय से निरूपण नहीं किए

गुणीभूतव्यङ्गय का अन्य उदाहरण कहते हैं—और काकु—। कक लौत्ये' इस धातु का 'काकु' शब्द है। वहां साकांक्ष और निराकांक्ष आदि क्रम से पढ़ा गया वह शब्द प्रकृत अर्थ से अतिरिक्त की भी इच्छा करता है यह इसका 'लौत्य' प्रकट करता है। अयवा 'ईषत्' अर्थ में 'कु' शब्द है, उसका 'का' आदेश है। इसलिए हृदयस्य वस्तु की प्रतीति की ईषद भूमि काकु है, उससे जो अर्थान्तर की प्रतीति है वह काव्यविशेष स्स गुणीभूतव्यङ्गय के प्रकार का आश्रयण करता है। यहां हेतु वहां व्यङ्गय का गुणीभाव ही होता'है। 'अर्थान्तरगित' शब्द से यहां काव्य ही कहा गया है। यहां

या चैषा काका कचिद्शीन्तरप्रतीतिर्देश्यते सा व्यङ्गयस्यार्थस्य गुणीभावे सति गुणीभूतव्यङ्गयलक्षणं काव्यप्रभेदमाश्रयते । यथा— 'स्वस्था भवन्ति मिय जीवति धार्तराष्ट्राः' ।

यथा वा-आम असइओं ओरम पइव्वए ण तुएँ मलिणिअं सीलम्।

और जो यह काकु से कहीं पर अर्थान्तर की प्रतीति देखी जाती है वह न्यक्र्य अर्थ के गुणीभाव होने पर गुणीभूतन्यक्र्य रूप कान्य प्रभेद का आश्रयण करती है। जैसे—'मेरे जीते जी धृतराष्ट्र के पुत्र स्वस्थ हो जांए!'

अथवा जैसे-

हाँ, हम तो बदचलन हैं, रुक जा, री पतिबरता, तूने आवरू को मैला नहीं लोचनम्

च्यते । न तु प्रतीतेरत्र गुणीभूतव्यङ्गश्चत्वं वक्तव्यं, प्रतीतिद्वारेण वा काव्यस्य निरूपितम् ।

अन्ये त्वाहु:—व्यङ्गश्यस्य गुणीभावेऽयं प्रकारः अन्यथा तु तत्रापि ध्विति-त्वमेवेति । तच्चासत्; काकुप्रयोगे सर्वत्र शब्दस्पृष्टत्वेन व्यङ्गश्यस्योन्मीलित-स्यापि गुणीभावात्, काकुर्हि शब्दस्यैव कश्चिद्धमंस्तेन स्पृष्टं 'गोप्यैवं गित्तः सलेशम्' इति, 'हसन्नेत्रापिताकृतम्' इतिवच्छब्देनैवानुगृहीतम् । अत एव 'मम धिन्मअ' इत्यादौ काकुयोजने गुणीभूतव्यङ्गश्वतेव व्यक्तोक्तत्वेन तदाभि-मानाङ्गोकस्य । स्वस्था इति, भवन्ति इति, मिय जीवित इति, धातराष्ट्रा इति च साकाङ्कदीप्तगद्भदतारप्रशमनोद्दीपनचित्रिता काकुरसम्भाव्योऽयमर्थोऽत्यर्थ-मनुचितश्चेत्यमुं व्यङ्गश्चमर्थं स्पृशन्ती तेनेवोपकृता सती क्रोधानुभावरूपतां व्यङ्गश्चोपस्कृतस्य वाच्यस्यैवाधत्ते । श्रामेति ।

प्रतीति का गुणीभूतव्यङ्गचत्व नहीं कहंना चाहिए, अथवा प्रतीति के द्वारा काव्य का (गुणीभूतव्यङ्गचत्व) निरूपण किया है।

किन्तु अन्य लोग कहते हैं—'व्यङ्गच का गुणीभाव होने पर यह प्रकार है, अन्यथा वहां भी ध्वनित्व ही है'। वह ठीक नहीं; क्योंकि काकु के प्रयोग में सभी जगह शब्दस्पृष्ट होने के कारण उन्मीलित भी व्यङ्गच का गुणीभाव हो जाता है। काकु शब्द का ही कोई धर्म है, उससे स्पृष्ट 'गोप्यैवं गदितः सलेखं' और 'हसक्रेत्रापिताकृतं' की मांति शब्द से ही अनुगृहीत होता है। इसीलिए 'भम धम्मिअ' इत्यादि में काकु की योजना करने पर गुणीभूतव्यङ्गचत्व ही व्यक्त होगा, तब उक्त रूप से लोग समझेंगे। 'त्वस्थ' 'हो जांए' 'मेरे जीते जी' 'धातंराष्ट्र' इस साकांक्ष, दीप्त, गद्दगद, तार, प्रश्नमन, और उद्दीपन से चित्रित काकु 'यह अर्थ असम्भाव्य है और अत्यन्त अनुचित है' इस स्वक्ष्य अर्थ का स्पर्ध करती हुई उसी के द्वारा उपकृत होती हुई व्यङ्गच से उपस्कृत

कि उण जणस्स जाअ व्य चिन्दरुं तं ण कामेमो ॥
शब्दशक्तिरेव हि स्वाभिधेयसामध्योक्षिप्तकाकुसहाया सत्यर्शविशेषप्रतिपत्तिहेतुर्न काकुमात्रम् । विषयान्तरे स्वेच्छाकुतात्काकुमात्रा
तथाविधार्थप्रतिपत्त्यसम्भवात् । स चार्थः काकुविशेषसहायशब्दव्यापारोपारूढोऽप्यर्थसामध्येलम्य इति व्यङ्गचरूप एव । वाचकत्वानुगमेनैव
किया, और फिर हम तो (किसी) आदमी की पत्नी की तरह उस नाई को नहीं
वाहतीं।

शब्द शक्ति ही अपने अभिधेय की सामर्थ्य से आचिस काकु की सहायता से अर्थ-विशेष की प्रतिपत्ति का हेतु है न कि काकुमात्र । क्योंकि विषयान्तर में स्वेच्छा से प्रयुक्त काकुमात्र से उस प्रकार के अर्थ की प्रतिपत्ति सम्भव नहीं । और वह अर्थ काकुविशेष की सहायता वाले शब्द के ब्यापार से उपारूद होकर भी अर्थ की सामर्थ

लोचनम्

आम् असत्यः उपरम पतित्रते न त्वया मिलनितं शीलम् । किं पुनर्जनस्य जायेव नापितं तं न कामयामहे ॥ इति च्छाया। आम् असत्यो भवामः इत्यभ्युपगमकाकुः साकाङ्कोपहासा।

उपरमेति निराकाङ्कतया सूचनगर्भा। पतित्रते इति दीप्तस्मितयोगिनी। न त्वया मिलिनितं शीलिमिति सगद्गदाकाङ्का । किं पुनर्जनस्य जायेव मन्मयाः न्धीकृता, चन्दिलं नापितमिति पासरप्रकृति न कामयामहे इति निराकाङ्काः द्रदोपहासगर्भा। एषा हि कयाचिन्नापितानुरक्तया कुल्वध्वा दृष्टाविनयाया प्रत्युपहासावेशगर्भोक्तिः काकुप्रधानैवेति । उपहास्यमानायाः दर्शयितुं शब्दस्पृष्टतां तावत्साधयति—शब्दशक्तिरेवैत्यादिना । नन्वेवं व्यक्क्यतं कथमित्याशङ्कर्याह—स चेति। अधुना गुणीभावं दर्शयति—वाचकत्वेति। वाच्य की ही क्रोध के अनुभावरूपता का आधान करती है। हां हम तो-। 'हां हम बदमाश औरतें हैं' अम्युपगम काकु आकांक्षा और उपहास के सहित है। 'रुक जा' यह निराकांक्ष होने के कारण सूचनगर्भ (काकु) है। 'री पतिबरता' यह दीप्त स्मित से युक्त है, 'तूने आवरू को मैला नहीं किया' यह गद्गद भाव और आकांक्षा से युक्त है, 'और फिर किसी आदमी की पत्नी की तरह चन्दिल अर्थात् नाई को हम नहीं चाहतीं' यह निराकांक्ष गद्गदभाव एवं उपहास से युक्त है। यह किसी नाई से फंसी कुलवधू द्वारा अविनय देखकर खिल्ली उड़ाई गई किसी (नायिका) की प्रत्युपहास के आवेश से युक्त उक्ति है, काकुपूर्ण ही है। गुणीभाव को दिखाने के लिए शब्द के स्पर्श को सिद्ध कर रहे हैं—शब्दशक्ति ही इत्यादि से। तो इस प्रकार व्यङ्गधत्व कैसे होगा ? यह आशक्का करके कहते हैं —और वह अर्थ —। अब गुणीभाव को दिलाते

तु यदा तद्विशिष्टवाच्यप्रतीतिस्तदा गुणीभूतव्यङ्गचतया तथाविधार्थ-द्योतिनः काव्यस्य व्यपदेशः। व्यङ्गचिविशिष्टवाच्याभिधायिनो हि गुणीभूतव्यङ्गचत्वस्।

प्रभेदस्यास्य विषयो यश्च युक्त्या प्रतीयते । विधातव्या सहृदयैने तत्र ध्वनियोजनो ॥ ३९ ॥

से प्राप्त है, इसिक्ष्य व्यङ्गगरूप ही है। परन्तु जब उस (व्यङ्गग) विशिष्ट वाच्य की प्रतीति वाचकत्व के अनुगम से ही होती है तब उस प्रकार का अर्थ धोतन करनेवाले काव्य का गुणीभूत व्यङ्गगरूप से व्यपदेश होता है। क्योंकि उस (व्यङ्गग) से विशिष्ट वाच्य का अभिधान करनेवाला गुणीभूतव्यङ्गग है।

और जो विषय इस प्रभेद का युक्ति से प्रतीत होता है वहां सहद्यों को व्वनि

की योजना नहीं करनी चाहिए॥ ३९॥

लोचनम्

वाचकत्वेऽनुगमो गुणत्वं व्यङ्ग-यव्यञ्जकभावस्य व्यङ्ग-यविशिष्टवाच्यप्रतीत्या तत्रैव काव्यस्य प्रकाशकत्वं कल्प्यते; तेन च तथा व्यपदेश इति काकुयोजनायां सर्वत्र गुणीभूतव्यङ्ग-यतेव । अत एव भण्नामि कौरवशतं समरे न कोपात्' इत्यादौ विपरीतलक्षणां य आहुस्ते न सम्यक्पराममृगुः । यतोऽत्रोचारणकाल एव न कोपात्' इति दीप्ततारगद्भदसाकाङ्ककाकुबलान्निषेघस्य निषिध्यमानतयैव युधिष्ठिरामिमतसन्धिमागीक्षमारूपत्वाभिप्रायेण प्रतिपत्तिरिति मुख्यार्थवाधा-यनुसरणविष्नाभावात्को लक्षणाया अवकाशः । 'दर्शे यजेत' इत्यत्र तु तथाविष-काकायुपायान्तराभावाद्भवतु विपरीतलक्षणा इत्यलमवान्तरेण बहुना ॥ ३८ ॥ अधुना संकीणं विषयं विभजते—प्रमेदस्येति । युक्त्येति । चाक्त्वप्रतीति-

हैं—परन्तु जब—। वाचकत्व में अनुगम अर्थात् व्यङ्गयव्यञ्जकभाव का गुणत्व है, व्यङ्गयिविशिष्ट वाच्य की प्रतीति से वहीं पर काव्य का प्रकाशकत्व माना जाता है, और इसिलए उस प्रकार व्यपदेश होता है, इस प्रकार काकु की योजना में सर्वत्र गुणीभूत-व्यङ्गयता ही है। अतएव 'मध्नामि कौरवशतं समरे न कोपात्' इत्यादि में जिन्होंने विपरीत लक्षणा कही है, उन्होंने सम्यक् परापर्श्व नहीं किया है। क्योंकि यहां उच्चरण-काल में ही 'न कोपात्' इस दीप्त, तार, गद्गद और साकांक्ष काकु के बल से निषेष का निषध्यमानरूप से ही युधिष्ठिर के अभिमत सन्धि के मार्ग के अक्षम्यत्व के प्रमिप्राय से प्रतीति हो जाती है, इस प्रकार मुख्यार्थवाघ आदि के अनुसरण का विध्न न होने के कारण लक्षणा का अवकाश कहां ? परन्तु दर्शे यजोत' (दर्श अर्थात् अमान्तास्या में याग करे) इस स्थल में उस प्रकार के काकु आदि उपायान्तर के न होने से विपरीतलक्षणा हो सकती है। बहुत अवान्तर चर्चा व्यथं है॥ ३८॥

वब सङ्कीर्णं विषय का विभाग करते हैं - और जो विषय-। युक्ति से-। यहां

सङ्कीणों हि कश्चिद्घ्वनेर्गुणीभूतव्यङ्गचस्य च लक्ष्ये दृश्यते मार्गः । तत्र यस्य युक्तिसहायता तत्र तेन व्यपदेशः कर्तव्यः । न सर्वत्र ध्वनिरागिणा भवितव्यम् । यथा—

पत्युः शिरश्रन्द्रकलामनेन स्पृशेति सख्या परिहासपूर्वम् । सा रञ्जयित्वा चरणौ कृताशीर्माल्येन तां निर्वचनं जघान ॥

यथा च-

प्रयच्छतोचैः कुसुमानि मानिनी विपक्षगोत्रं दियतेन लिम्भता।

लच्य में कुछ मार्ग ध्विन और गुणीभूतन्यङ्गय का सङ्कीर्ण देखा जाता है। वहां जिसके साथ युक्ति हो वहां उससे न्यपदेश करना चाहिए। सर्वत्र ध्विन का पत्तपाती नहीं होना चाहिए। जैसे—

'पति के सिर की चन्द्रकछा को इससे स्पर्श करना' (यह कह कर) सखी द्वारा परिहासपूर्वक चरणों को रंग कर असीसी गई उस (पार्वती) ने विना कुछ कहे

माल्य से उस (सखी) को मारा । और जैसे-

ऊँचे से फूळ देते हुए प्रियतम से विपन्न (सौत) का नाम छिए जाने पर मानिनी

लोचनम्

रेबात्र युक्तिः। पत्युरिति । श्रनेनेति । श्रतक्तकोपरक्तस्य हि चन्द्रमसः परभाग-लाभोऽनवरतपादपतनप्रसादनैर्विना न पत्युर्झटिति यथेष्टानुवर्तिन्या भाव्य-मिति चोपदेशः। शिरोधृता या चन्द्रकला तामपि परिभवेति सपत्रीलोकाप-जय उक्तः।

निर्वचनमिति । अनेन लज्जावहित्यहुर्षेष्यासाध्वससौभाग्याभिमानप्रभृति य-द्यपि ध्वन्यते, तथापि तन्निर्वचनशब्दार्थस्य कुमारीजनोचितस्याप्रतिपत्तिलक्षण-स्यार्थस्योपस्कारकतां केवलमाचरति । उपस्कृतस्त्वर्थः शृङ्गाराङ्गतामेतीति ।

प्रयच्छतेति । उच्चैरिति । उच्चैर्यानि कुसुमानि कान्तया स्वयं प्रहीतुमश-

चारत्वप्रतीति ही युक्ति है। पित के—। इससे—। आलते से रंगे हुए चन्द्रमा को दूसरे (चरण) के भाग (अंश) का लाभ करना अर्थात् निरन्तर पैरों पर गिर कर प्रसादन के बिना झट से पित की इच्छा के अनुकूल मत चलना, यह उपदेश है। सिर पर रखी हुई जो चन्द्रकला है उसे भी परिभूत करो, इस प्रकार सपत्नी जन का पराजय कहा है। बिना कुछ कहे—। इससे यद्यपि लज्जा, अवहित्थ, हर्ष, ईर्ष्या, साध्वस, सौभाग्याभिमान घ्वनित होते हैं तथापि वे कुमारी जन के उचित 'बिना कुछ कहे' शब्द के अर्थ अप्रतिपत्तिरूप अर्थ के उपस्कारक हो जाते हैं। और उपस्कृत अर्थ प्रप्नुत का अङ्ग बन जाता है।

ऊँचे से—। अर्थात् जो फूल कंची डाल पर थे प्रियतमा ने स्वयं ग्रहण करने में

न किञ्चिद् चे चरणेन केवलं लिलेख वाष्पाकुललोचना भुवम् ॥
इत्यत्र 'निर्वचनं जघान' 'न किञ्चिद् चे' इति प्रतिषेघमुखेन व्यक्वास्यार्थस्योक्त्या किञ्चिद्विषयीकृतत्वाद् गुणीभाव एव शोमते । यदा
वक्कोक्ति विना व्यङ्गचोऽर्थस्तात्पर्येण प्रतीयते तदा तस्य प्राधान्यम् ।
यथा 'एवं वादिनि देवणीं' इत्यादौ । इह पुनरुक्तिर्मङ्गचास्तीति वाच्यस्यापि प्राधान्यम् । तस्मानात्रानुरणनरूपव्यङ्गचध्वनिव्यपदेशो विधेयः।

ने कुछ नहीं कहा, केवल वाष्प से आकुल आँखों वाली चरण से जमीन कुरेदने लगी। यहां 'विना कुछ कहे मारा' 'कुछ नहीं बोली' इस प्रतिषेध के द्वारा क्यक्र्य अर्थ का उक्ति द्वारा कुछ विषय कर दिए जाने के कारण गुणीभाव ही शोभता है। जब वक्रोक्ति के बिना क्यक्र्य अर्थ तारपर्य से प्रतीत होता है तब उसका प्राधान्य है। जैसे 'एवं वादिनि देवचीं' इस्यादि में। यहां भक्नी से उक्ति है इसलिए वाष्य का भी प्राधान्य है। इसलिए यहाँ अनुरणनरूप व्यक्त्य ध्विन का व्यपदेश नहीं करना चाहिए।

लोचनम्

क्यत्वाद्याचितानीत्यर्थः । अस्मदुपाध्यायास्तु हृद्यतमानि पुष्पणि अमुके,
गृहाण गृहाणोत्युचैस्नारस्वरेणादरातिशयार्थं प्रयच्छता । अत एव लिम्मतेति ।
न किंचिदिति । एवं विघेषु शृङ्गारावमरेषु तामेवायं स्मरतीति मानप्रदर्शनमेवात्र
न युक्तमिति सातिशेयमन्युसंभारो व्यङ्गचो वचनिषधस्यैव वाच्यस्य
संस्कारः । तद्वस्यति – उक्तिर्भङ्गचास्तीति । तस्येति व्यङ्गचस्य । इहेति पत्युरित्यादौ । वाच्यस्यापीति । अपिशब्दो भिन्नक्रमः । प्राधान्यमपि मवति वाच्यस्य,
रसाद्यपेक्षया तु गुणंतापीत्यर्थः । अत एवोपसंहारे ध्वनिशब्दस्य विशेषणमुक्तम् ॥ ३६ ॥

असमर्थ होकर याचना की। परन्तु हमारे उपाच्याय (कहते हैं कि) अरो अमुके ! इन अच्छे फूलों को ले, ले' इस प्रकार ऊंचे तारस्वर से अतिशय आदर के लिए देते हुए। अतएव 'लिम्भता'। 'कुछ नहीं'। इस प्रकार के प्रृङ्कार के अवसरों में उसे ही यह स्मरण करता है, इसलिए यहां मानप्रदर्शन ही ठीक नहीं, इस व्यङ्क्य सातिशय मन्युमार वचनिषेषरूप वाच्य का ही संस्कार (क) है। उसे कहेंगे—उक्ति भक्षी से हैं—। उसका अर्थात् व्यङ्क्य का। यहां 'पत्युः' इत्यादि में। वाच्य का भी—। 'भी' शब्द मिलकम है। अर्थात् वाच्य का प्राधान्य भी होता है किन्तु रसादि की अपेक्षा से गुणता भी होती है। अतएव उपसंहार में ध्विन शब्द का विशेषण (अनुरणनरूपव्यङ्क्य) कहा है॥ ३९॥

प्रकारोऽयं गुणीभूतव्यङ्गयोऽपि ध्वनिरूपताम् । धत्ते रसादितात्पर्यपर्यालोचनया पुनः ॥ ४० ॥

गुणीभूतव्यङ्गचोऽपि काव्यप्रकारो रसभावादितात्पर्यालोचने पुनर्ध्वनिरेव सम्पद्यते । यथात्रैवानन्तरोदाहृते श्लोकद्वये । यथा च-दुराराधा राधा सुभंग यदनेनापि मृजत-

यह गुणीभूतव्यङ्गध भी प्रकार रसादि के तात्पर्य के पर्यालोचन से पुनः ध्वनि-रूप हो जाता है ॥ ४० ॥

गुणीभूतव्यङ्गध भी काव्य का प्रकार रसभावादि के तात्पर्य के पर्यालोचन करने पर पुनः ध्वनि ही बन जाता है। जैसे यहीं अभी उदाहत दोनों रलोकों में। और जैसे—

'हे सुभग, जो कि प्राणेश्वरी के इस जघन (सुरतकालीन) वस्त्र से भी गिरे

•लोचनम्

एतदेव निर्वाहयन् काव्यात्मत्वं ध्वनेरेव परिदीपयति—प्रकार इति । श्लोकद्वयं इति तुल्यच्छायं यदुदाहृतं पत्युरित्यादि तत्रेति द्वयशवदादेवंवादिनीत्यस्यानवः काशः । दुराराधित । अकारणकुपिता पादपितते मिय न प्रसीद्सि अहो दुराराधासि मा रोदीरित्युक्तिपूर्वं प्रियतमेऽश्रूणि मार्जयित इयमस्या अभ्युपगम्मार्गिक्तः । सुभगेति । प्रियया यः स्वसंभोगभूषणिवहीनः क्षणमि मोक्तुं न पार्यसे । अनेनापीति । पश्येदं प्रत्यत्तेगोत्यर्थः । तदेव च यदेवमादृतं यत् लज्जादित्यागेनाप्येवं घार्यते । मृजत इत्यनेन हि प्रत्युत स्रोतस्सहस्रवाही बाष्पो भवति । इयच त्वं हत्वेतनो यन्मां विस्मृत्य तामेव कुपितां मन्यसे । अन्यथा

इसे ही निर्वाह करते हुए (कारिकाकार) ब्विन को ही काव्य का आत्मा प्रकाशित करते हैं—यह गुणीभूत—। दोनों श्लोकों में—। समान छायावाला जो उपहृत है 'पत्युः'० इत्यादि, तहां, । 'दो' शब्द 'एवं वादिनि' इस क्लोक का अवसर नहीं।

हे सुभग—। विना कारण के कुपित तू पैरों पर गिरने पर भी मुझ पर प्रसन्न नहीं होती, हन्त दुराराधा अर्थात् प्रसन्न होने वाली नहीं है, मत रो' यह कह कर प्रियतम जब आंसू पोछने लगे तब उसकी यह अम्युपगमगर्भ उक्ति है। सुभग—। अपने सम्भोग के भूषणों से विहीन जो तुम प्रियतमा द्वारा क्षणभर भी छोड़े नहीं जाते। इसः से भी—। अर्थात् इसे प्रत्यक्ष देख लो। जो कि उसे जिसे आदरपूर्वक लज्जा आदि का त्याग करके भी धारण कर रहे हो। पोंछुने से—। इससे बल्कि बाष्य हजारों स्रोतों में बहुता है। इतना भी तुम्हें होश नहीं कि जो मुझे छोड़ कर उस

स्तवैतत्प्राणेशाजधनवसनेनाश्च पतितम् । कठोरं स्त्रीचेतस्तदलम्रपचारैविरम हे क्रियात्कल्याणं वो हरिरनुनयष्वेवसुदितः ॥

हुए आँसू को तुम्हारे पोंछने से राधा प्रसन्न होने वाली नहीं है। स्त्री का चित्त कठोर होता है, उपचार न्यर्थ हैं, वस करो' इस प्रकार अनुनय के (अवसरों में राधा द्वारा) कहे गये कृष्ण आप लोगों का करयाण करें।

लोचनम् कथमेवं कुर्याः । पतितमिति । गत इदानीं रोदनावकाशोऽपीत्यर्थः । यदि तुच्यते

इयताप्यादरेण किमिति कोपं न मुद्धासि, तरिक क्रियते कठोरस्वभावं स्त्रीचेतः। बीति हि प्रेमाद्ययोगाद्रस्तुविशेषमात्रमेतत्; तस्य चैष स्वभावः, आत्मनि चैतत्सुकुमारहृदया योषित इति न किञ्चिद्रज्ञसाराधिकमासां हृदयं यदेवंविध-वृत्तान्तसाक्षात्कारेऽपि सहस्रधा न दलति । उपचारैरिति । दाक्षिण्यप्रयुक्तैः । श्रुनुनयेष्टिति बहुवचनेन वारं वारमस्य बहुवक्कमस्येयमेव स्थितिरिति सौभाग्यातिशय उक्तः। एवमेष व्यङ्गचार्थसारो वाच्यं भूषयति। तत्त वाच्यं मूषितं सदीष्यीविप्रलम्भाङ्गत्वमेतीति । यस्तु त्रिष्वपि ऋक्षेषेषु प्रतीयमानस्यैव रसाङ्गत्वं व्याचष्टे स्म । स देवं विक्रीय तद्यात्रोत्सवमकार्षीत् । एवं हि व्यङ्गयं-स्य या गुणीभूतता प्रकृतां सैव समूलं बुट्येत्। रसादिव्यतिरिक्तस्य हि व्यङ्गय-स्य रसाङ्गभावयोगित्वमेव प्राधान्यं नान्यत्किञ्चिदित्यलं पूर्ववंश्यैः सह विवादेन । कुपिता को ही मानते हो, अन्यथा ऐसा तुम क्यों करते ! गिरे हुए-। अर्थात् अब तो रोने का समय भी नहीं रहा। यदि कहते हो कि इतने आदर से भी कोप का त्याग क्यों नहीं करती तो क्या करूं स्त्री का चित्त कठोर स्वभाव का होता है। स्त्री यह प्रेम का योग न होने से वस्तुमात्र है, और उस (वस्तुमात्र) का यह स्वभाव। अपने में (यह सोचना) कुछ नहीं कि स्त्रियां सुकुमार हृदय की होती हैं, इनका हृदय वजसार में भी अधिक (कठोर) होता है क्योंकि इस प्रकार के वृत्तान्त का साक्षात्कार होने पर भी हजार टुकड़े नहीं हो जाता। उपचार दाणिण्यप्रयुक्त। अनुनय के अवसरों में इस बहुबचन से इस बहुबल्लम की बार-बार की यही स्थिति है, यह अतिशय सौभाग्य कहा है। इस प्रकार यह व्यङ्गचार्य का सार वाच्य को अलङ्कृत करता है। वह वाच्य मूर्वित होकर ईर्घ्याविप्रलम्भ का अङ्ग हो जाता है। जिसने कि 'तीनों रलोकों में अतीयमान ही रस का अङ्ग है' यह व्याख्यान किया है उसने देवता को वेच कर उनकी यात्रा का उत्सव मनाया है। क्योंकि इस प्रकार (ब्याख्यान करने पर) जो त्यङ्गच की गुणीमूतता प्रकृत है वही समूल टूट जायगी। रसादि से व्यतिरिक्त व्यं क्रिय का रस का अझमान प्राप्त करना ही प्राधान्य है, दूसरा कुछ नहीं। पूर्वजों के साथ विवाद व्यथं है।

एवं स्थिते च 'न्यक्कारो ह्ययमेव' इत्यादिश्लोकनिर्दिशनां पदानां व्यङ्गयविश्विष्टवाच्यप्रतिपादनेऽप्येतद्वाक्यार्थीभूतरसापेश्वया व्यञ्जकत्वप्रक्तम् । न तेषां पदानामर्थान्तरसंक्रमितवाच्यघ्वनिप्रमो विधातव्यः, विविश्वतवाच्यत्वात्तेपाम् । तेषु हि व्यङ्गयविशिष्टतं वाच्यस्य प्रतीयते न तु व्यङ्गयरूपपरिणतत्वम् । तस्माद्वाक्यं तत्र ध्वनिः, पदानि तु गुणीभूतव्यङ्गयानि । न च केवलं गुणीभूतव्यङ्गयान्येव पदान्यलक्ष्यक्रमव्यङ्गयध्वनेव्यङ्गकानि यावदर्थान्तरसंक्रमित्वाच्यानि ध्वनिप्रभेदरूपाण्यपि । यथात्रेव श्लोके रावण इत्यस्य प्रभेदान्तररूपव्यङ्गकत्वम् । यत्र तु वाक्ये रसादितात्पर्यं नास्ति गुणीभूतव्यङ्गयौ पदेरुद्वासितेऽपि तत्र गुणीभूतव्यङ्गयतैव सम्रदायधर्मः।

इस प्रकार स्थित होने पर 'न्यक्कारो हथयमेव' इत्यादि श्लोकों में निर्दिष्ट पर्ते का व्यक्त्यविशिष्ट वाच्य के प्रतिपादन में इसके वाक्यार्थीमून रस की अपेचा से व्यक्तकस्य कहा है। उन पर्दों में अर्थान्तरसङ्क्रमित वाच्यभ्वनि का अम नहीं करना चाहिए, क्योंकि वे विविच्चतवाच्य होते हैं। उनमें वाच्य का व्यक्त्यविशिष्टस्य प्रतीत होता है । इसलिए वाक्य वहां ध्वांक्स्प है और पद गुणीमूतव्यक्त्य हैं। केवल गुणीमूतव्यक्त्य ही पद अलक्यक्तम् व्यक्त्य ध्वनि के व्यक्षक नहीं होते, विक्त ध्वनि के प्रभेदरूप अर्थान्तरसङ्क्रमितः वाच्य भी। जैसे इसी श्लोक में 'रावण' इस पद का प्रभेदान्तररूप का व्यक्षकस्य है। परन्तु जिस वाक्य में रसादि में तास्पर्य नहीं है, गुणीमूतव्यक्त्य पदों से उद्यक्तित भी उसमें गुणीमूतव्यक्त्र्यता ही समुदाय का धर्म है।

लोचनम्

एवं स्थित इति । अनन्तरोक्तेन प्रकारेण ध्वनिगुणीभूतव्यङ्गचयोर्विभागे स्थिते सतीत्यर्थः । कारिकागतमिपशब्दं व्याख्यातुमाह—न चेति । एष च स्रोकः पूर्वमेव व्याख्यात इति न पुनर्त्तिख्यते । यत्र त्विति । यद्यपि चात्र विषयनिर्वेदात्मकशान्तरसप्रतीतिरस्ति, तथापि चमत्कारोऽयं वाच्यनिष्ठ एव ।

इस प्रकार स्थित—। अर्थात् अनन्तरोक्त प्रकार से इविन और गुणीभूतव्यक्त्य का विभाग स्थित होने पर । कारिकागत 'भी' शब्द का व्याख्यान करने के लिए कहते हैं केवल—। यह स्लोक पहले ही व्याख्यात हो चुका है, इसलिए फिर नहीं लिखते हैं। जिस वाक्य में—। यद्यपि यहां विषय के प्रति निर्वेदरूप शान्तरस की प्रतीति होती है तथापि यह चमत्कार वाक्य में ही है। असम्भाव्यत्व, विपरीतकारित्वादि व्यक्त्य

यथा-

राजानमपि सेवन्ते विषममप्युपयुक्तते । रमन्ते च सह स्त्रीभिः कुशलाः खलु मानवाः ॥

इत्यादौ । वाच्यन्यङ्गचयोः प्राधान्याप्राधान्यविवेके परः प्रयत्नो विधातन्यः, येन ध्वनिगुणीभृतन्यङ्गचयोरलङ्काराणां चासङ्कीणों विषयः सुज्ञातो भवति । अन्यथा तु प्रसिद्धालङ्कारविषय एवं न्यामोहः प्रवर्तते। यथा—

जैसे—राजाओं की भी सेवा करते हैं, विष का भी भद्मग करते हैं और स्त्रियों के साथ भी रमण करते हैं, मानव बड़े कुशल होते हैं।

इत्यादि में । वाच्य और व्यङ्गय के प्राधान्य और अप्राधान्य के विवेक में अधिक प्रयत्न करना चाहिए, जिससे ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्गय का तथा अलङ्कारों का असङ्कीर्ण विषय सुविदित होता है । अन्यथा अलङ्कार के प्रसिद्ध विषय में ही न्यामोह हो जाता है । जैसे—

लोचनम्

व्यङ्गयं त्वसम्भाव्यत्वविपरीतकारित्वादि तस्यैवानुयायि, तच्चापिशब्दाभ्यासु-भयतो योजिताभ्यां चशब्देन स्थानत्रययोजितेन खलुशब्देन चोभयतो योजि-तेनमानवशब्देन स्पृष्टमेवेति गुणीभूतम् । विवेकदर्शना चेयं न निरुपयोगिनीति दर्शयति—वाच्यव्यङ्गययोरिति । ऋलङ्काराणां चेति । यत्र व्यङ्गयं नास्त्येव तत्र तेषां शुद्धानां प्राधान्यम् । श्रन्यथा त्विति । यदि प्रयत्नवता न भूयत इत्यर्थः ।

व्यक्त चप्रकारस्तु यो मया पूर्व मुत्पेक्षितस्तस्यासंदिग्धमेव व्यामोहस्थानत्व-मित्येवकाराभिप्रायः। द्रविणशब्देन सर्वस्वप्रायत्वमनेकस्वकृत्योपयोगित्वमुक्तम्।

उसी का अनुगमन करते हैं। और वह (व्यक्तघ) दो 'भी' शब्दों के दो जगहों (कमें और किया) में लगाये जाने से, 'और' शब्द के तीनों स्थानों पर लगाये जाने से, (क्लोक में) 'खलु' शब्द के दोनों जगहों ('कुशल' शब्द और 'मानव' शब्द के साथ)

लगाये जाने से और 'मानव' शब्द से स्पष्ट होने ही के कारण गुणीमूत हैं। विवेक की यह दृष्टि निरूपयोगिनी नहीं है यह दिखाते हैं—वाच्य और ब्यक्तय के—। तथा अलक्कारों का—। जहां व्यक्तय नहीं ही है वहां शुद्ध (अलक्कारों) का प्राधान्य हैं। अन्यथा—। वर्षात्र प्रदत्त नहीं करते हैं।

'ही' का अभिप्राय यह है कि जो मैंने व्यङ्ग्य के प्रकार की पहले उत्प्रेक्षा की है उसमें व्यामोह होना असन्दिग्ध ही है। (लावण्य में) 'द्रविण' शब्द से स्वित्रायत्व तथा अपने अनेक कार्यों का उपयोगी होना कहा है। प्रवाह—।

लावण्यद्रविणव्ययो न गणितः क्लेशो महान् स्वीकृतः स्वच्छन्दस्यं सुखं जनस्य वसतिश्रन्तानलो दीपितः। एषापि स्वयमेव तुल्यरमणाभावाद्वराकी हता कोऽर्थश्रेतसि वेधसा विनिहितस्तन्व्यास्तनुं तन्वता॥

इत्यत्र व्याजस्तुतिरलङ्कार इति व्याख्यायि केनचित्तन चतुरस्रम्।
यतोऽस्याभिधेयस्यैतदलङ्कारस्वरूपमात्रपर्यवसायित्वे न सुक्षिष्टता।
यतो न तावद्यं रागिणः कस्यचिद्विकल्पः। तस्य 'एषापि स्वयमेव
तुल्यरमणाभावाद्वराकी हता' इत्येवंविधोक्त्यनुपपत्तेः। नापि नीरागस्यः

विधाता ने छावण्य के धन के व्यय की परवाह न की, महान क्लेश उठाया, स्वच्छन्द भाव से सुखपूर्वक निवास करते हुए छोगों के (मन में) चिन्ता की आग छगाई, और इस बेचारी को भी समान प्रिय के न प्राप्त होने से स्वयं ही मार डाडा (कुछ समझ में नहीं आता) विधाता ने उसकी शरीर-रचना करते हुए, मन में क्या छाम सोच रखा था ?

यहां ब्याजस्तुति अलङ्कार है यह किसी ने ब्याख्यान किया है सो ठोक नहीं है, क्योंकि यह अभिषेय इस अलङ्कार के स्वरूप में पर्यवसित होने में सुसङ्गत नहीं है। क्योंकि यह किसी रागी पुरुष का विकरूप नहीं है, क्योंकि 'इस बेचारी को समान प्रिय न प्राप्त होने से स्वयं ही मार डाला' यह उसकी उक्ति उपपन्न नहीं होती। रागरहित

लोचनम्

गणित इति । चिरेण हि यो व्ययः सम्पद्यते न तु विद्युद्वि भटिति तत्रावर्षे गणनया भवितव्यम् । अनन्तकालनिर्माणकारिणोऽपि तु विघेन विवेकलेशोऽ उत्युद्दभूदिति परमस्योपेक्षावत्त्वम् । अत एवाह— क्लेशो महानिति । स्वच्छन्दं स्येति । विश्वक्कलस्येत्यर्थः । एषापीति । यत्स्वयं निर्मीयते तदेव च निहन्यत इति महद्वेशसमपिशब्देन एवकारेण चोक्तम् । कोऽर्थ इति । न स्वात्मनो न जो व्यय देर तक होता रहता है, न कि विजली की तरह झट से हो जाता है, उसमें परवाह अवश्य होती है । अनन्त काल से निर्माण करने वाले भी विधारा को विवेक का लेश भी न हुआ यह उसकी परम उपेक्षाकारिता है । इसीलए कहते हैं—महान् क्लेश—। स्वच्छन्द—। अर्थात् श्रृह्वलारहित है । इस वेचारी—। जिसे स्वयं बनाता है उसे ही मार डालता है यह बड़ी कूरता है यह 'भी' और 'ही' से कहा है । क्या लाभ सोच—। अर्थात् न अपना न संसार का, न निर्मित की

तस्यैवंविधविकलपपरिहारैकच्यापारत्वात् । न चायं श्लोकः क्वित्प्रवन्ध इति श्रूयते, येन तत्प्रकरणानुगतार्थतास्य परिकल्प्यते । पुरुष का भी (विकल्प) नहीं है, क्योंकि उसका इस प्रकार के (विकल्पों) का परिहार एकमात्र व्यापार है न कि यह श्लोक कहीं प्रवन्ध में है ऐसा सुना जाता है जिससे इसका उस प्रकरण के अनुगत अर्थ परिकल्पित होगा। इसल्पि यह अप्रस्तुत-

लोचनम्

लोकस्य न निर्मितस्येत्यर्थः । तस्येति । रागिणो दि वराकी हतेति कृपणतालि-क्कितममङ्गलोपदतं चानुचितं वचनम् । तुल्यरमणाभावादिति स्वात्मन्यत्यन्तः मनुचितम् । आत्मन्यपि तद्र्पासम्भावनायां रागितायां च पशुप्रायत्वं स्यात् ।

तनु च रागिणोऽपि कुतिश्चित्कारणात्परिगृश्चीतकतिपयकालव्रतस्य वा रावणव्रायस्य वा सीतादिविषये दुष्यन्तप्रायस्य वाऽनिर्कातजातिविशेषे शकुन्तलादौ
किमियं स्वसौभाग्याभिमानगर्भो तत्स्तुतिगर्भाः चोक्तिर्न भवति । वीतरागस्य
वा अनादिकालाभ्यस्तरागवासनावासिततया मध्यस्थत्वेनापि तां वस्तुतस्तथा
प्रयतो नेयमुक्तिः न संभाव्या । न हि बीतरागा विपर्यस्तान् भावान् पश्यति ।
व ह्यस्य वीणाक्कणितं काकरटितकल्पं प्रतिभाति । तस्मात्प्रस्तुतानुसारेणोभयस्यापोयमुक्तिरुपपद्यते । अप्रस्तुतप्रशंसायामपि ह्यप्रस्तुतः सम्भवन्नेवार्थो
वक्तव्यः, न हि तेजसीत्थमप्रस्तुतप्रशंसा सम्भवति—अहो धिक्ते काप्ण्यमिति
सा पर प्रस्तुतपरतयेति नात्रासम्भव इत्याराङ्कवाह—न चेति । निस्सामान्येति

उसकी—। 'वेचारी को मार डाला' यह कृपणता से आलिङ्गित और अमङ्गल से उपहत वचन रागी पुरुष के अनुचित है। अपने आप के सम्बन्ध में 'समान रमण के प्राप्त न होने से यह वचन तो अत्यन्त अनुचित है। अपने में भी उसके समान रूप की

न सम्भावना में और फिर भी रागिता में पशुप्रायता होगी।

सीता आदि के विषय में रावणप्राय की अथवा अविदित जातिविशेष वाली शकुन्तला आदि के विषय में क्या यह किसी कारणवश कुछ काल के लिये वर धारण किए हुए रागी पुरुष की भी अपने सौमाय के अभिमान से युक्त और उसकी (नायिका की) स्नुति से युक्त उक्ति नहीं हो सकती है? अथवा अनादिकाल से राग की वासना से वासित होने के कारण मध्यस्थ रूप से भी उस (नायिका) को देखते हुए वीतराग पुरुष की यह उक्ति नहीं सम्भावित है? वीतराग पुरुष भावों को विपर्यस्तरूप से नहीं देखता, वीएग का क्रणित उसे काकरित कल्प प्रतीत नहीं को विपर्यस्तरूप से नहीं देखता, वीएग का क्रणित उसे काकरित कल्प प्रतीत नहीं होता। इस लिए प्रस्तुत के अनुसार यह उक्ति दोनों की (रागी अथवा वीतराग की) उपपन्न होती है। अप्रस्तुतप्रशंसा में भी अप्रस्तुत अर्थ सम्भव होता हुआ ही कहा जाना चाहिए। (प्रस्तुत) तेज के विषय में अप्रस्तुतप्रशंसा नहीं हो सकती। 'अहो तेरी कालिमा को धिकार है' इस प्रकार वह (अप्रस्तुतप्रशंसा) बल्कि प्रस्तुत में

तस्मादप्रस्तुतप्रशंसेयम् । यस्मादनेन वाच्येन गुणीभूतात्मना निस्सा-मान्यगुणावलोपाध्मातस्य निजमहिमोत्कर्षजनितसमत्सरजनज्वरस्य विशेषज्ञमात्मनो न कश्चिदेवापरं पश्यतः परिदेवितमेतदिति प्रकाश्यते । तथा चायं धर्मकीर्तेः श्लोक इति प्रसिद्धिः । सम्भाव्यते च तस्यैव । यस्मात—

प्रशंसा है। क्योंकि इस गुणीभूतरूप वाक्य से, (अपने) असाधारण गुण के दर्प से भरे, अपनी महिमा के उत्कर्ष से ईप्यांछ जनों को ज्वर उत्पन्न करनेवाले, तथा दूसरे किसी विशेषज्ञ को नहीं देखते हुए (किसी विद्वान का) यह परिदेवित (क्रन्दन) है यह प्रकाशित किया जाता है। जैसा कि ऐसी प्रसिद्धि है कि यह धर्मकीर्ति का रछोक है। और सम्भावित होता है उन्हींका। क्योंकि—

लोचनम्

निजमिहमेति विशेषक्षमिति परिदेवितमित्येतैश्चतुर्भिर्वाक्यखण्डैः क्रमेण पादच-तुष्टयस्य तात्पर्यं व्याख्यातम् । नन्वत्रापि किं प्रमाणमित्याशङ्कः चाह—तथा चेति । नन्तु किमियतेत्याशङ्कः तदाशयेन निर्विवादतदीयस्रोकार्पितेनास्याशयं संवाद्यति—सम्भाव्यत इति । अवगाहनमध्यवसितमपि न यत्र आस्तां तस्य सम्पादनम् । परमं यदर्थतत्त्वं कौस्तुभादिभ्योऽप्युत्तमम् , अलब्धं प्रयत्नपरिश्चितमपि न प्राप्तं सहशं यस्य तथाभूतं प्रतिप्राहमेकैको प्राहो जलचरः प्राणी ऐरावते चैः अवोधन्वन्तरिप्रायो यत्र तदलब्धसहशप्रतिप्राहकम् ।

एवंविष इति । परिदेवितविषय इत्यर्थः । इयति चार्थे अप्रस्तुतप्रशंसोपमा-लक्षणमलङ्कारद्वयम् । अनन्तरं तु स्वात्मनि विस्मयधामतयाद्भुते विश्रान्तिः।

तात्पर्यं रखती है इसिलए यहां असम्भव नहीं, यह आशिक्षा करके कहते हैं—न कि—। असाधारण०, अपनी मिहमा०, विशेषज्ञ०, परिदेवित इन चार वाक्यखण्डों से कम से (श्लोक के) चारो चरणों के तात्पर्यं का व्याख्यान किया। यहां भी क्या प्रमाण है ? यह आशिक्षा करके कहते हैं—जेसा कि—। इतने से क्या ? यह आशिक्षा करके निविवाद उनके (धर्मकीर्ति के) इलोक से अपित उनके आश्रय से इसके आश्रय का संवाद करते हैं—सम्भावित होता है—। जिसमें अवगाहन अध्यवसाय का विषय भी नहीं दना है तो उसका सम्पादन दूर रहे। परम जो अर्थतत्त्व कौस्तुभ आदि हैं उससे भी उत्तम, अलब्ध अर्थात् प्रयत्न से परीक्षा करने पर भी नहीं प्राप्त है सहश जिसका ऐसा प्रतिग्राह अर्थात् एक-एक ग्राह जलचर प्राणी ऐरावत, उच्चे:श्रवा, धन्वन्तिर प्राय हैं जहां वह अलब्धसहश प्रतिग्राहक है।

इस प्रकार का-। अर्थात् परिदेवित का विषय । इतने अर्थ में अप्रस्तुतप्रशंसा और उपमारूप से अलङ्कार हैं। अनन्त अपने आप में (धर्मकीर्ति को) विस्मय का

अनध्यवसितावगाहनमनल्पधीशक्तिना-प्यदृष्टपरमार्थतन्त्वमधिकाभियोगैरपि । मतं मम जगत्यलब्धसदृशप्रतिग्राहकं प्रयास्यति पयोनिधेः पय इव स्वदेहे जराम् ॥

इत्यनेनापि कलोकेनैवंविधोऽभिप्रायः प्रकाशित एव । अप्रस्तुत-प्रशंसायां च यद्वाच्यं तस्य कदाचिद्विवक्षितत्वं, कदाचिद्विवक्षितत्वं, कदाचिद्विवक्षितत्वं, कदाचिद्विवक्षिताविवक्षितत्वमिति त्रयी वन्धच्छाया । तत्र विवक्षित-त्वं यथा—

जिसका अवगाहन अनल्प धीशक्तिवाले द्वारा भी अध्यवसाय का विषय नहीं हुआ है, अधिक अभियोग (प्रयत्न) करनेवालों द्वारा भी जिसका परमार्थ तस्व देखा नहीं गया है, संसार में अपने योग्य प्रतिप्राहक (समझवाला) जिसे प्राप्त नहीं, ऐसा मेरा मतं (सिद्धान्त) समुद्र के जल की भांति अपने शरीर में ही जरा को प्राप्त होगा।

इस श्लोक से भी इस प्रकार का अभिप्राय प्रकाशित ही है। अप्रस्तुतप्रशंसा में जो वास्य है वह कभी विविच्चित, कभी अविविच्चित और कभी विविच्चिताविविच्चत होता है यह तीन प्रकार की बन्धच्छाया है। उनमें से विविच्चित, जैसे—

लोचनम्

परम्य च श्रोतृजनस्यात्यादरास्पदतया प्रयत्नप्राह्यतया चोत्साहजननेनैवंभूतम-त्यन्तोपादेयं सत्कतिपयसमुचितजनानुप्राहकं कृतिमिति स्वात्मिन कुशलकारि-ताप्रदर्शनयां धर्मवीरस्पर्शनेन वीररसे विश्रान्तिरिति मन्तव्यम् । अन्यथा परि-देवितमात्रेण कि कृतं स्यात् । अपेक्षापूर्वकारित्वमात्मन्यावेदितं चेत्कि ततः स्वार्थपराशीसम्भवादित्यलं बहना ।

ननु यथास्थितस्यार्थस्यासङ्गतौ भवत्वप्रस्तुतप्रशंसा, इह तु सङ्गतिरस्त्ये-वेत्याराङ्क्य सङ्गतावपि भवत्येवैषेति दर्शयितुमुपक्रमते—अप्रस्तुतेति ।

पाम होने के कारण अद्भुत में विश्वान्ति है। और दूसरे श्रोता जल के अत्यादर का आस्पद होने से और प्रयत्नग्राह्य होने से उत्साह के जनन द्वारा एवंभूत अत्यन्त उपादेय होता हुआ, कितपय समुचित जनों का अनुग्राहक किया है, इस प्रकार अपने में कुशलकारिता के प्रदर्शन से धर्मवीर के स्पर्श द्वारा वीररस में विश्वान्ति है यह मानना बाहिए। अन्यथा परिदेवितमात्र से क्या लाभ होता। यदि अपने में अपेक्षापूर्वकारित्व की आवेदन किया है तो उस स्वार्थ और परार्थ के असम्भव से क्या! अलं बहुना!

जब कि यथास्थित अर्थं की सङ्गति न हो तो अप्रस्तुतप्रशंसा हो सकती है, यहां तो सङ्गति ही है, यह आशंका करके 'सङ्गति में भी यही होगी' यह दिखाने के लिए

परार्थे यः पीडामनुभवति भङ्गेऽपि मधुरो यदीयः सर्वेषामिह खलु विकारोऽप्यभिमतः । न सम्प्राप्तो वृद्धि यदि स भृशमक्षेत्रपतितः किमिश्लोदोंषोऽसौ न पुनरगुणाया मरुस्रवः ॥

यथा वा ममैव-

अमी ये दृश्यन्ते ननु सुभगरूपाः सफलता भवत्येषां यस्य क्षणग्रुपगतानां विषयताम् । निरालोके लोके कथमिदमहो चक्षुरधुना समं जातं सर्वेन सममथवान्येरवयवैः ॥

अनयोर्हि द्रयोः क्लोकयोरिक्षुचक्षुपी विवक्षितस्वरूपे एव न च दूसरों के लिए जो पीड़ा का अनुभव करता है, भक्न होने पर भी जो मधुर बना रहता है, जिसका विकार भी यहां सभी के अभिमत होता है, यदि वह इच्च खराव चेत्र में गिर कर नहीं वृद्धि प्राप्त हुआ तो वह दोप क्या इच्च का है गुणरहित महभूमि का नहीं ?

अथवा जैसे मेरा ही-

ये जो सुभग रूपोंवाले (शरीर के अवयव) दिखाई देते हैं इनकी जिसका चुण भर विषय हो जाने से सफलता होती है, आश्चर्य है यह चच्च भी अब अन्धकारमय जगत् में सभी अन्य अवयवों के समान भी नहीं रहा।

इन दोनों रलोकों में इच्च और चच्च विविचतस्वरूप ही हैं न कि प्रस्तुत हैं।

लोचनम्

निर्नित । यैरिदं जगद्भूषितिमत्यर्थः । यस्य चक्षुषो विषयतां क्षणं गतानामेषां सफलता भवति तदिदं चक्षुरिति सम्बन्धः । आलोको विवेकोऽपि। न समिति। इस्तो हि परस्पर्शादानादावप्युपयोगी । अवयवैरिति । अतितुच्छप्रायैरित्यर्थः अप्राप्तः पर उत्कृष्टो भागोऽर्थलाभात्मकः स्वरूपप्रथनलक्षणो वा येन तस्य। कथ्याः मीत्यादिप्रत्युक्तिः । अनेन पदेनेद्माह—अकथनीयमेतत् श्रूंयमाणं हि निर्वेदाय उपक्रम करते हैं—अप्रस्तुतप्रशंसा—। सुभग—। अर्थात् जिन्होंने इस जगत् को भूषित कर रखा है। सम्बन्ध यह कि जिस चक्षु को विषयता क्षण भर प्राप्त हुए इनकी सफलता होती है वह यह चक्षु । आलोक विवेक भी । समान भी नहीं—। हाथ दूसरेका स्मशं ग्रहणं करने आदि में भी उपयोगी है। अवयवों—। अर्थात् अतितुच्छप्राय । जिसने पर

अर्थात् उत्कृष्ट अर्थलामरूप अथवा स्वरूपस्यातिरूप भाग प्राप्त नहीं किया है उसका। 'कहता हूँ' इत्यादि प्रत्युक्ति है। इस पंद से यह कहा है—यह कहने की बात नहीं,

प्रस्तुते । महागुणस्याविषयपतितत्त्रादप्राप्तपरभागस्य कस्यचित्स्वरूप-ग्रुपवर्णियतुं द्वयोरिप क्लोकयोस्तात्पर्येण प्रस्तुतत्त्रात् । अविवक्षित-त्वं यथा—

कर्त्वं भोः कथयामि दैवहतकं मां तिद्धि शाखोटकं वैराग्यादिव विक्षे, साधु विदितं कस्मादिदं कथ्यते । वामेनात्र वटस्तमध्वगजनः सर्वात्मना सेवते न च्छायापि परोपकारकरिणी मार्गिस्थतस्यापि मे ॥

क्योंकि महान् गुणवाला, अविषय में पड़े होने के कारण परभाग की प्राप्त न हुआ कोई (व्यक्ति) स्वरूप वर्णन करने के छिए दोनों रछोकों में ताल्पर्य के कारण प्रस्तुत है। अविविचित, जैसे—

'हे तुम कीन हो, कहता हूँ, 'मुझे दैव का मारा शाखोटक समझो', जैसे वैराग्य से बोल रहे हो', 'तुमने ठीक समझा', 'यह क्यों' 'यह कहता हूँ ?' बाईं ओर यहां बटवृत्त है, उसे पथिकजन सब प्रकार से सेवन करते हैं, मार्ग पर पड़े भी मेरो छाया भी परोपकार करने वाली नहीं।'

े लोचनम्

भवति, तथापि तु यदि निर्बन्धस्तत्कथयामि वैराग्यादिति । काका दैवहतकमि-त्यादिना च सूचितं ते वैराग्यमिति यावत् । साधु विदितमित्युत्तरम् । कस्मादिति वैराग्ये हेतुप्रश्नः । इदं कथ्यत इत्यादिसनिर्वेदस्मरणोपक्रमं कथंकथमि निरूप्णीयतयोत्तरम् । वामेनेति । अनुचितेन कुलादिनोपलक्षित इत्यर्थः । वट इति । च्छायामात्रकरणादेव फलदानादिशुत्यादुद्धरकन्धर इत्यर्थः । छायापीति । शास्त्रोटको हि स्मशानामिन्वालालीढलतापक्षवादिस्तक्विरोषः ।

सुनने से निवेंद होगा, तथापि यदि आग्रह है तो कहता हूँ। वैराग्य से—। काकु से और 'दैव का मारा' इत्यादि से तुम्हारा वैराग्य मालूम हो गया। 'तुमने ठीक समझा' यह उत्तर है। 'क्यों' यह वैराग्य के सम्बन्ध में हेतु प्रश्न है। 'यह कहता हूँ' इत्यादि निवेंदसिहत स्मरण का उपक्रम करते हुए किसी-किसी प्रकार, निरूपणीय होने के कारण उत्तर है। बाई ओर—। अर्थात् अनुचित कुल आदि से उपलक्षित। वट वृच्च—। अर्थात् फलदान आदि से रहित केवल छाया करने से उत्पर कंघा किए हुए। छाया अर्थात् फलदान आदि से रहित केवल छाया करने से उत्पर कंघा किए हुए। छाया मी—। स्मशान की आग की ज्वाला से मुलसे लता-पञ्जवों आदि वाला कोई वृक्षा 'शाक्षोटक' है।

न हि वृक्षविशेषेण सहोक्तिप्रत्युक्ती सम्भवत इत्यविविश्वताभिधे-येनैवानेन इलोकेन समृद्धासत्पुरुषसमीपवर्तिनो निर्धनस्य कस्यिनम-निस्त्रनः परिदेवितं तात्पर्येण वाक्यार्थीकृतमिति प्रतीयते ।

विविश्वतत्वाविविश्वतत्वं यथा— उप्पहजाआएँ असोहिणीएँ फलकुसुमपत्तरहिआए वेरीएँ वइं देन्तो पामर हो ओहसिजिहिस ॥

अत्र हि वाच्यार्थों नात्यन्तं सम्भवी न चासम्भवी । तस्माद्धा-च्यव्यङ्गचयोः प्राधान्याप्राधान्ये यत्नतो निरूपणीये ।

किसी घृष के साथ बातचीत सम्भव नहीं, इसिए अविविधित अभिधेय वाले ही इस रलोक से समृद्ध असरपुरुष के समीप रहनेवाले किसी निर्धन मनस्वी का निर्वेद-वचन तात्पर्य द्वारा वाक्यार्थ किया गया है, यह प्रतीत होता है। विविधित-अविविधित जैसे—

'हे पामर, कुमार्ग में पैदा हुई, अशोभन, फल और फूल और पत्रीरहित बदरी

को बोता हुआ तू उपहास का पात्र बनेगा।'

यहां वाच्य अर्थ अत्यन्त सम्भवी है और न असम्भवी है। इसिलए वाच्य और व्यङ्गय के प्राधान्य और अप्राधान्य का यत्नपूर्वक निरूपण करना चाहिए।

लोचनम्

अत्राविवक्षायां हेतुमाह—न हीति । समृद्धो योऽसत्पुरुषः । 'समृद्धसत्पुरुष' इति पाठे समृद्धेन ऋद्धिमात्रेण सत्पुरुषो न तु गुणादिनेति व्याख्येयम् । नात्य-न्तिमिति । वाच्यमावनियमो नास्तीति न शक्यं वक्तुं, व्यङ्ग-यस्यापि भावादिति तात्पर्यम् । तथा हि उत्पथजाताया इति न तथाकुलोद्भूतायाः । अशोभनाया इति लावण्यरहितायाः । फलकुसुमपञ्चरहितायाः इत्येवम्भूतापि काचित्पुत्रिणो वा भात्रादिपक्षपरिपूर्णतया सम्बन्धवर्गपोपिता वा परिरच्यते । ब्रद्यो वृत्ति वृद्दरपामर मोः, हिसद्यसे सर्वलोकैरिति भावः । एवमप्रस्तुतप्रशंसां प्रसङ्गतो

यहां अविवक्षा में हेतु कहते हैं—िकसी बृज्ञ—। समृद्ध जो असत्पुरुप। 'समृद्ध-सन्पुरुप' इस पाठ में समृद्ध से अर्थात् ऋद्धिमात्र से सत्पुरुप, न कि गुण आदि से, ऐसा व्याख्यान करना चाहिए। अत्यन्त—। नान्पर्य यह कि वाच्य का सम्भवनहीं है यह नहीं कह सकते, क्योंकि व्यङ्गच भी सम्भव है। जसा कि कुमार्ग में पैदा हुई अर्थात् उस प्रकार कुलीन नहीं। अशोभन अर्थात् लावण्यरिहत। फल, फूल और पत्तों से रहित, इस प्रकार की भी कोई पुत्रवाली अर्थवा माई आदि के भरे होने से अर्थवा संवन्धि-वर्ग द्वारा पोषित होकर रिक्षत होती है। हे पामर, बदरी को बोता हुआ सभी लोगों द्वारा उपहास का पात्र बनेगा, यह भाव है। इस प्रकार अप्रस्तुतप्रशंसा को प्रसङ्गतः निक्ष्पण करके

प्रधानगुणभावाभ्यां व्यङ्गग्रस्यैवं व्यवस्थिते
काव्ये उभे ततोऽन्यचत्ति सम्त्रिभिधोयते ॥ ४१ ॥
चित्रं दाव्दार्थभेदेन द्विविधं च व्यवस्थितम् ।
तत्र किञ्चिव्छव्दिच्रं वाव्यिचत्रमतः परम् ॥ ४२ ॥
व्यङ्गग्रस्यार्थस्य प्राधान्ये ध्वनिसंज्ञितकाव्यप्रकारः गुणभावे तु
गुणीभूतव्यङ्गग्रता । ततोऽन्यद्रसभावादितात्पर्यरिहतं व्यङ्गग्रार्थयेणोप्रकाशनशक्तिग्र्न्यं च काव्यं केत्रलग्रच्यवाचकत्रै चित्र्यमात्राश्रयेणोपनिवद्धमालेख्यप्रख्यं यदाभासते तिचित्रम् । न तन्मुख्यं काव्यम् ।
काव्यानुकारो ह्यसौ । तत्र किञ्चिच्छब्दिच्तं यथा दुष्कर्यमकादि ।

प्रधानाभाव और गुणभाव के द्वारा इस प्रकार व्यङ्गय के व्यवस्थित होने पर काव्य दो प्रकार के हैं, उनसे जो अन्य है वह 'चित्र' कहलाता है ॥ ४१ ॥

शब्द और अर्थ के भेद से चित्र दो प्रकार का होता है, उनमें कुछ शब्दचित्र होता है, उससे दूसरा वाच्यचित्र ॥ ४२ ॥

न्यक्तय अर्थ के प्राधान्य में घ्वनि नाम का कान्य प्रकार होता है, गुणभाव में गुणीभूतन्यक्तथता होती है। उनसे अन्य रस, भाव आदि के तार्श्य से रहित और ज्यक्त्य अर्थ की प्रकाशन की शक्ति से शून्य काव्य केवल वाज्य और वाचक के वैचित्र्य-मात्र के आश्रय से उपनिवद्ध होकर जो आलेख्य (चित्र) की भांति माल्झ होता है वह 'चित्र' है। वह मुख्य कान्य नहीं है। वह कान्य का अनुकरण है। उनमें कुछ शब्दचित्र हैं, जैसे दुष्कर यमक आदि। उस शब्दचित्र से अन्य, न्यक्त्य अर्थ के संस्पर्श से

लोचनम्

निरूप्य प्रकृतमेव यन्निरूपणीयं तदुपसंहरति—तस्मादिति । अप्रस्तुतप्रशंसा-यामि लावण्येत्यत्र ऋोके यस्माद्धामोहो लोकस्य दृष्टस्ततो हेतोरित्यर्थः॥४०॥

एवं व्यङ्गश्यस्त्ररूपं निरूप्य सर्वथा यत्तच्छून्यं तत्र का वार्तेति निरूपयितु-माह्—प्रधानेत्यादिना । कारिकाद्वयेन ।

प्रकृत ही जो निरूपणीय है उसका उपसंहार करते हैं—इस छिए—। अर्थात् अप्रस्तुत-प्रशंसा में भी 'लावण्यद्रविण्ठ' इस क्लोक में जो लोगों का व्यामोह देखा जा चुका है उस कारण ॥ ४० ॥

इस प्रकार व्यङ्गच का स्वरूप-निरूपण करके जो सर्वथा उस (व्यङ्गच) से शून्य है उसकी बात क्या, यह निरूपण करने के लिए कहते हैं—प्रधान—। इत्यादि दो

वाच्यचित्रं ततः शब्दचित्रादन्यद्यङ्गयार्थसंस्पर्शरहितं प्राधान्येन वाक्यार्थतया स्थितं रसादितात्पयरहितमुत्प्रेक्षादि ।

अथ किमिदं चित्रं नाम ? यत्र न प्रतीयमानार्थसंस्पर्शः । प्रती-यमानो ह्यर्थस्त्रिमेदः प्राक्प्रदिश्तिः । तत्र यत्र वस्त्वरुङ्कारान्तरं वा व्यङ्गयं नास्ति स नाम चित्रस्य कल्प्यतां विषयः । यत्र तु रसादीना-मविषयत्वं स काव्यप्रकारो न सम्भवत्येत्र । यस्मादवस्तुसंस्पर्शिता काव्यस्य नोपपद्यते । वस्तु च सर्वमेव जगद्गतमवश्यं कस्यचिद्र-सस्य भावस्य वाङ्गत्वं प्रतिपद्यते अन्ततो विभावत्वेन । चित्तवृत्तिवि-शेषा हि रसाद्यः, न च तद्स्ति वस्तु किश्चिद्यन्न चित्तवृत्तिविशेष-रहित, प्राधान्य अर्थात् वाक्यार्थरूप से स्थित, एवं रस आदि के ताल्पर्य से रहित उत्प्रेषा आदि वाच्यचित्र हैं।

यह 'चिन्न' क्या है ? जहां प्रतीयमान अर्थ का संस्पर्श न हो। प्रतीयमान अर्थ तीन प्रकार का पहले प्रदर्शित हो चुका है। वहां जहां वस्तु अथवा अलङ्कारान्तर ज्यङ्गय नहीं है वह चिन्न का विषय समझ लीजिए। परन्तु जहां रसादि का विषयत्व नहीं वह कान्य का प्रकार हो सकता हो नहीं। क्योंकि कान्य में वस्तुसंस्पर्श का अभाव नहीं बन सकता और संसार की सभी वस्तुएँ अवश्य किसी रस का अथवा भाव की अङ्क बन जाती है, अन्ततः विभावरूप से। रसादि चित्तवृत्ति विशेष हैं। वह कोई ऐसी वस्तु नहीं जो चित्तवृत्तिविशेष को उत्पन्न नहीं करती, यदि वह उसे

लोचनम्

शन्दिचत्रिमिति । यमकचक्रबन्धादिचित्रतया प्रसिद्धमेव तत्तुल्यमेवार्थचित्रं मन्त व्यमिति भावः। त्रालेख्यप्रस्यमिति। रसादिजीवरिहतं मुख्यप्रतिकृतिरूपं चेत्यर्थः।

श्रथ किमिदमिति । आन्तेषे वन्त्यमाण आशयः । अत्रोत्तरम्—यत्र नेति । आन्तेप्ता स्वामिप्रायं दर्शयति—प्रतीयमान इति । श्रवस्तुसंस्पशितेति । कचटत-पादिवन्निरर्थकत्वं दशदाडिमादिवदसंबद्धार्थत्वं नेत्यर्थः ।

कारिकाओं से। शब्दचित्र—। भाव यह कि यमक, चित्रबन्ध आदि चित्ररूप से प्रसिद्ध ही हैं, उनके तुल्य ही अर्थचित्र को समझना चाहिए। आलेख्य की भांति—। अर्थात् रसादिरूप जीव से रहित और मुख्य अनुकरणुरूप।

यह चित्र—। आक्षेप में बच्यमाण आशय है। यहां उत्तर है—जहां प्रतीय-मानं—। आक्षेप करनेवाला अपना अभिप्राय दिखाता है—प्रतीयमान—। यस्तु संस्पर्श का अभाव—। अर्थात् क च ट त प आदि की मांति निर्श्वक होगा अथवा दशदांडिय आदि की मांति असम्बद्धार्थ होगा। वन्यालोकः

मुवजनयति तदनुत्पादने वा कविविषयतैव तस्य न स्यात् कविविष-यश्च चित्रतया कश्चिकिरूप्यते ।

अत्रोच्यते—सत्यं न ताद्दकाच्यप्रकारोऽस्ति यत्र रसादीनाम-प्रतीतिः । किं तु यदा रसभावादिविवक्षाग्र्न्यः कविः ग्रब्दालङ्कार-मर्थालङ्कारं वोपनिवध्नाति तदा तद्विचक्षापेक्षया रसादिग्र्न्यतार्थस्य

उत्पन्न न करे तो वह कवि का विषय ही नहीं होगी और कुछ कवि का विषय चित्र-रूप से निरूपण किया जाता है।

यहां कहते हैं —ठीक है, वह कान्य का कोई प्रकार नहीं है जहां रसादि की प्रतीति न हो। किन्तु जब रस, भाव आदि की विवन्ता से रहित कवि शब्दालङ्कार अथवा अर्थालङ्कार का उपनिबन्धन करता है तब उसकी विवन्ता की अपेन्ना अर्थ रसादि-

लोचनम्

ननु मा भूक्तिविवय इत्याशङ्कश्राह—किविवयश्चेति । काव्यरूपतया यद्यपि न निर्दिष्टस्तथापि किवगोचरीकृत एवासौ वक्तव्यः अन्यस्य वासुकि-वृत्तान्ततुत्त्यस्येहाभिधानायोगात् कवेश्चेद्गोचरो नूनममुना प्रीतिर्जनयितव्या सा चावश्यं विभावानुभावव्यभिचारिपर्यवसायिनीति भावः । किं तिति ।

विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कथंचन।

इत्यादिर्योऽलंकारिनवेशने समीक्षाप्रकार उक्तस्तं यदा नानुसरतीत्यर्थे । स्वादिश्चिति । नैव तत्र रसप्रतीतिरस्ति यथा पाकानिमझसूद्विरिचते मांस-पाकविशेषे । ननु वस्तुसौन्दर्योदवश्यं भवति कदाचित्तथास्वादोऽकुशलकृता-

किव का विषय मत हो (तो क्या हानि है!) यह आशंका करके कहते हैं— और किव का विषय—। भाव यह कि काव्यरूप से यद्यपि निर्देष्ट नहीं है तथापि उसे किव द्वारा गोचरीकृत ही कहना चाहिए क्योंकि वासुिक के बृतान्त के सदश अन्य का यहां अभिधान नहीं है, यदि किव का गोचर है तो निश्चय ही इसे प्रीति उत्पन्न करनी चाहिए, और वह (प्रीति) अवश्य ही विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी में प्र्यवितित होती है। किन्तु—। अर्थात् 'तत्पररूप से विवक्षा होनी चाहिए, अङ्गीरूप से नहीं होनी चाहिए' इत्यादि जो अलङ्कार के निवेशन में समीक्षा का प्रकार कहा है जब उसे अनुसरण नहीं करता है। रसादिशून्यता—।

वहाँ रस की प्रतीति नहीं ही है, जैसे पाकितया को न जानने वाले रसोइया के विशेष हुए किसी मांस के पाक में। वस्तुं के सोन्दर्य से भी उस प्रकार का आस्वाद किशिवत हो सकता है जैसे अकुशल व्यक्ति द्वारा (दही आदि को मिलाकर बनाई

परिकल्प्यते । विवश्लोपारूढ एव हि काव्ये शब्दानामर्थः । वाच्यसाम-र्थ्यवशेन च कविविवश्लाविरहेऽपि तथाविधे विषये रसादिप्रतीतिर्भवन्ती परिदुर्वला भवतीत्यनेनापि प्रकारेण नीरसत्वं परिकल्प्य चित्रविषयो व्यवस्थाप्यते । तदिदम्रक्तम्—

'रसभावादिविषयविवक्षाविरहे सित । अलङ्कारनिबन्धो यः स चित्रविषयो मतः ॥ रसादिषु विकक्षा तु स्यात्तात्पर्यवती यदा । तदा नास्त्येव तत्काव्यं ध्वनेयत्र न गोचरः ॥'

शून्यता मानी जाती है। क्योंकि कान्य में शब्दों का अर्थ (कवि की) विवत्ता के उपारूढ़ ही होता है। और वाच्य की सामर्थ्य के वश किव की विवत्ता के न होने पर भी उस प्रकार के विषय में रसादि की प्रतीति होती हुई बहुत दुर्बल होती है, इस प्रकार से भी नीरसत्व को मान कर चित्र का विषय व्यवस्थित करते हैं। इसिल्ए यह कहा है—

'रस, साव आदि के विषय की विवचां न होने पर जो अलङ्कार का निवन्ध है वह

'चित्र' का विषय माना गया है।

परन्तु जब रसादि में तात्पर्य रखनेवाली त्रिवचा हो तब वह काव्य नहीं है वहाँ घ्वनि का गोचर न हो।

लोचनम्

यामि शिखरिण्यामिवेत्याशङ्कथाह—नाच्येत्यादि । स्त्रनेनापीति । पूर्वं सर्वधा तच्छून्यत्यमुक्तमधुना तु दौर्बल्यमित्यिपशब्दस्यार्थः । अज्ञकृतायां च शिखरिण्यामहो शिखरिणीति न तज्ज्ञानाचमत्कारः अपि तु द्धिगुडमिरचं चैतद्सम् स्त्रस्योजितमिति वक्तारो भवन्ति । उक्तमिति । मयैवेत्यर्थः ।

अलङ्काराणां शब्दार्थगतानां निवन्ध इत्यर्थः। ननु 'तिचित्रमिधीयते'

हुई) शिखरिणी में, यह आगङ्का करके कहते हैं—वाच्य की सामर्थ्य के वश—। इस प्रकार से भी—। पहले तो उस (रसादि) का सर्वथा शून्यत्व कहा है परन्तु अब दौर्बल को (कहते हैं) यह 'भी' शब्द का अर्थ है। वेवकूफ द्वारा रचित शिखरिणी में 'कमाल की शिखरिणी है' यह चमत्कार उसके ज्ञान से नहीं होता बल्कि 'यह दही, गुड़ और और मरिच को वेकायदे डालकर बनाया गया है' यह कहने वाले हो जाते हैं। कहा है—। अर्थात् मैंने ही।

अर्थात् शब्दगत और अर्थगत अलङ्कारों का निबन्ध । तो उस चित्र का अभिवान

एतच चित्रं कवीनां विश्वक्षलिगां रसादितात्पर्यमनपेक्ष्येव काव्यप्रशृतिदर्शनादस्माभिः परिकल्पितम् । इदानीन्तनानां तु न्याय्ये
काव्यनयव्यवस्थापने कियमाणे नास्त्येव घ्वनिव्यतिरिक्तः काव्यप्रकारः । यतः परिपाकवतां कवीनां रसादितात्पर्यविरहे व्यापार
एव न शोभते । रसादितात्पर्ये च नास्त्येव तद्वस्तु यदिभमतरसाङ्गतां
नीयमानं न प्रगुणीभवति । अचेतना अपि हि भावा यथायथम्रचितरसिविभावतया चेतनवृत्तान्तयोजनया वा न सन्त्येव ते ये यान्ति न
रसाङ्गताम् । तथा चेदमुच्यते—

और निरक्करा वाणी वाले किवयों की रसादि के ताल्पर्य की अपेचा न करके ही प्रवृत्ति देखी जाने से हमने इस 'चित्र' की परिकल्पना की है। परन्तु न्यायानुकूल कान्यमार्ग का व्यवस्थान हो जाने पर अब के किवयों के किए ध्विन से न्यतिरिक्त कान्य का प्रकार नहीं ही है। क्यों कि परिपाक वाले किवयों का रसादि के ताल्पर्य के अभाव में व्यापार ही नहीं शोभा देता। और रसादि के ताल्पर्य में वह वस्तु नहीं ही है जो अभिमत रस का अंग होती हुई प्रगुण न हो जाती हो। अचेतन भी वे भाव यथानुकूल उचित रस के विभाव के रूप में अथवा चेतन वृत्तान्त की योजना से नहीं ही हैं जो रस का अङ्ग नहीं बन जाते हैं। जैसा कि यह कहते हैं—

लोचनम्

र्शत किमनेनोपदिष्टेन । अकाव्यरूपं हि तदिति कथितम् । हेयतया तदुपदि-रयत इति चेत्—घटें कृते किवन भवतीत्येतदिप वक्तव्यमित्याशङ्कर्य कविभिः खलु तत्कृतमतो हेयतयोपदिश्यत इत्येति स्ररूपयित —एत बेत्यादिना । परिपाक-षतामिति । शब्दार्थविषयो रसौचित्यलक्षणः परिपाको विद्यते येषाम् ।

यत्पदानि त्यजन्त्येव परिवृत्तिसिहष्णुताम्।

करते हैं' इस उपदेश से क्या लाभ ? क्योंकि उसे अकाव्यरूप कह चुके हैं। यदि कहें कि 'हेय रूप होने से उसका उपदेश करते हैं तो 'घट निर्माण करने पर किव नहीं होता है' यह भी कहना चाहिए, यह आशक्का करके यह निरूपण करते हैं कि कवियों ने उसे किया है इसलिए हेयरूप से उसका निरूपण करते हैं — और निरक्का—। परिपाक वाले—। शब्द और अर्थ का रसौचित्यरूप परिपाक है जिनका।

'जों कि पद परिवर्तन का सहन नहीं ही करते (उसे शब्दन्यास में निष्णात लोग शब्दपाक कहते हैं)'।

अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः। यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥ शृङ्गारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत् । स एव वीतरागश्रेनीरसं सर्वमेव तत् ॥ भावानचेतनानपि चेतनवचेतनानचेतनवत् । व्यवहारयति यथेष्टं सुकविः काव्ये स्वतन्त्रतया ॥

अपार काज्य-संसार में कवि एक प्रजापित है जिस प्रकार उसे विश्व लगता है उस प्रकार उसे बद्छ देता है।

यदि कवि काव्य में श्रंगारी है तो संसार रसमय हो गया और वही वीतराग है

तो सभी वह नीरस हो गया।

सुकवि स्वतन्त्ररूप से कान्य में अचेतन भी भावों को चेतन की भांति और चेतन को अचेतन की भांति यथेष्ट व्यवहार करता है।

लोचनम

इत्यपि रसौचित्यशरणमेव वक्तव्यमन्यथा निर्हेतुकं तत्। अपार इति। अनाद्यन्त इत्यर्थः । यथारुचि परिवृत्तिमाह—शृङ्गारीति । शृङ्गारोक्तविभावातुः भावव्यभिचारिचर्वणारूपप्रतीतिमयो न तु स्त्रीव्यसनीति मन्तव्यम्। अत एव भरतमुनिः—'कवेरन्तर्गतं भावं' 'काव्यार्थान् भावयति' इत्यादिषु कविशब्दमेव मुर्घोभिषिक्ततया प्रयुङ्कते । निरूपितं चैतद्रसस्वरूपनिर्णयावसरे । जगदिति । तद्रसनिमज्जनादित्यर्थः । शृङ्गारपद्गं रसोपलक्षणम् । स एवेति । यावद्रसिको न मवति तदा परिदृश्यमानोऽप्ययं भाववर्गो यद्यपि सुखदुःखमोहमाध्यस्थ्यमात्रं लौकिकं वितरति, तथापि कविवर्णनोपारोहं विना लोकातिकान्तरसास्वादमुवं नाधिशेत इत्यर्थः। चारुत्वातिशयं यन्न पुष्णाति तन्नास्त्येवेति संबन्धः।

यह रसौचित्य की शरणमें ही कहना चाहिए, अन्यथा उसका कोई कारण न होगा। अपार-। अर्थात् आदि-अन्त रहित । रुचि के अनुसार परिवर्तन कहते हैं-श्रङ्गारी-। शृङ्गार के उक्त विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी की चवंणारूप प्रतीति रखने वाला, न कि स्त्रीव्यसनी, ऐसा समझना चाहिए। अतएव भरत मुनि 'किव के अन्तर्गत माव को 'काव्य के अर्थों का भावन करता है' इत्यादि में 'कवि' शब्द की ही मूर्घामिषिक्त रूप से प्रयोग करते हैं। रसस्वरूप के निर्णय के अवसर में इसे निरूपण कर चुके हैं। संसार—। अर्थात् उस रस में हुब जाने से (रसमय हो गया)। 'श्रुक्तार' पद रस का उपलक्षण है। वही—। अर्थात् जब तक रसिक नहीं होता तब तक परिदृश्यमान भी यह भावसमूह यद्यपि लौकिक सुख, दुःख, मोह के मान्यस्य (अनुभव) मात्र का वितरण करता है तथापि कवि के वर्णन के उपारोह के विना अलौकिक रसास्वाद की भूमि को नहीं प्राप्त करता। जो अतिशय चारुत्व की पृष्टि

तस्मान्नास्त्येव तद्वस्तु यत्सर्वात्मना रसतात्पर्यवतः कवेस्तुदि-क्क्या तदभिमतरसाङ्गतां न धत्ते। तथोपनिवध्यमानं वा न चारुत्वा-तिश्चयं पुष्णाति । सर्वमेतच महाकवीनां काव्येषु दृश्यते । अस्माभि-ापि स्वेषु काव्यप्रवन्धेषु यथायथं दर्शितमेव । स्थिते चैवं सर्व एव काव्यप्रकारो न ध्वनिधर्मतामतिपतति रसाद्यपेक्षायां कवेर्गुणीभृतव्य-इ्चलक्षणोऽपि प्रकारस्तदङ्गतामवलम्बत इत्युक्तं प्राक्। चाहुषु देवतास्तुतिषु वा रसादीनामङ्गतया व्यवस्थानं हृदयवतीषु च इसिंडिए रस में तात्पर्य रखनेवाले किव की कोई वह वस्तु नहीं है जो सब प्रकार हे उसकी इच्छा से उसके अभिमत रस का अङ्गमाव नहीं प्राप्त करती है अथवा उस कार उपनिवध्यमान होकर अतिशय चारुत्व को नहीं बढ़ाती है। और यह सब महाकवियों के कान्यों में देखा जाता है। हमने भी अपने काव्य-प्रवन्धों में यथानुसार दिलाया ही है। और इस प्रकार स्थित होने पर सभी काव्य के प्रकार ध्विन के धर्म-

लोचनम

याव का अतिक्रमण नहीं करते, कवि की रसादि की अपेचा में गुणीभूतन्यङ्गय रूप में प्रकार उसका अङ्गभाव बन जाता है यह पहले कह चुके हैं। जब चादुओं में भगवा देवता की स्तुतियों में रसादि का अंगरूप से अयवस्थान होता है और हृदय-

सेषिति । विषमबाणत्तीलादिषु । हृद्यवतीषिति । 'हिअअललिआ' इति गक्तकविगोष्ठयां प्रसिद्धासु । त्रिवर्गोपायोपेयकुशलासु सप्रज्ञाकाः सहृद्या न्यन्ते। तद्राथा यथा भट्टेन्दुराजस्य-

> लङ्किअगअणा फलहीलआओ होन्तुत्ति वढ्ढअन्तीअ। हालिअस्स आसिसं पालिवेसवतुआ विणिठ्ठविका॥

अत्र लङ्कितगगना कपीसलता भवन्त्वित हालिकस्याशिषं वर्धयन्त्या क्षिकरता वह नहीं ही है यह (वाक्य का) सम्बन्ध है। अपने काब्य-प्रबन्धों में—। विषमवाणलीला' आदि में। हृद्यवती—। 'हिअअललिआ' इस प्रकार से प्राकृत वियों की गोष्ठियों में प्रसिद्ध (गाथाओं में)। धर्म आदि त्रिवर्ग के उपायरूप ज्ञातव्य विकास किया ने असिद्ध (गायाना न)। यन सामा के सि मह के प्रतिष्ठियों में) सप्रज्ञक लोग सहृदय कहे जाते हैं। वह गाया जैसे मह न्द्रिराज की---

कपास की लत्तरें आकाश को लांघ जांय' यह हालिक को बार-बार असीसती विष्होंस में रहने वाली स्त्री बहुत आनन्दित हुई ।

यहां 'कपास की लत्तरें आकाश को लांघ जांय' यह हालिक को बार-बार असीसती

सप्रज्ञकगाथासु कासुचिद्यङ्गचिविशृष्टवाच्ये प्राधान्यं तदपि गुणीभृत-व्यङ्गचस्य ध्वनिनिष्पन्दभूतत्वमेवेत्युक्तं प्राक् । तदेविमदानीतनकि काव्यनयोपदेशे क्रियमाणे प्राथमिकानामभ्यासार्थिनां यदि परं चित्रेण व्यवहारः, प्राप्तपरिणतीनां तु ध्वनिरेव काव्यमिति तदयमत्र संग्रहः-

यस्मिन् रसो वा भावो वा तात्पर्येण प्रकाशते। संवृत्त्याभिहितौ वस्तु यत्रालङ्कार एव वा ॥

वती सप्रज्ञक जनों (सहृद्यों) की किन्ही गाथाओं में व्यङ्गविशिष्ट वाच्य में प्राधान्य हो तब भी गुणीभूतन्यङ्गय ध्वनि का निष्पन्द रूप ही है यह पहले कह चुके हैं। तो इस प्रकार आधुनिक कवि के काव्य के मार्ग का उपदेश किए जाने पर प्राथमिक अम्यासार्थी (कवियों) का चित्र से न्यवहार हो सकता है। परन्तु प्राप्त परिपाक वालों के लिए ध्वनि ही कान्य है यह निश्चित है। तो यह यहां सङ्ग्रह है-

जिस काब्य के मार्ग में रस अथवा भाव तात्पर्यरूप से प्रकाशित हों, जहां वस्

लोचनम्

प्रातिवेश्यकवधुका निर्वृतिं प्रापिता इति चौर्यसंभोगाभिलाविणीयमित्यनेन व्यङ्गचेन विशिष्टं वाच्यमेव सुन्द्रम्।

गोलाकच्छकुडङ्गे भरेण जम्बूसु पचमाणासु । हिलअबहुआ णिअंसइ जम्बूरसरत्तअं सिअअम् ॥

अत्र गोदावरीकच्छलतागहने भरेण जम्बूफलेषु पच्यमानेषु । हालिकव्यू परिधत्ते जम्बूफलरसरकं निवसनमिति त्वरितचौर्यसंभोगसंभाव्यमानजम्बूक

लरसरक्तवपरभागनिह्नवनं गुणीभूतव्यङ्गश्रमित्यलं बहुना।

ध्वनिर्व काव्यमिति । आत्मारिमनोरभेद एव वस्तुतो व्युत्पत्त्ये तु विमाण कृत इत्यर्थः । वाप्रहणात्तदामासादेः पूर्वोक्तस्य प्रहणम् । संवृत्येति । गीप्यमान हुई पड़ोस में रहने वाली स्त्री बहुत आनन्दित हुई' इससे 'चौर्य सुरत की अभिनाष रखने वाली है' इस व्यङ्गय से विशिष्ट वाच्य ही सुन्दर है।

भोदावरी नदी के तीर पर जामुनों के खूब पक जाने पर हालिक की पत्नी वाहुत के रंस में रंगा कपड़ा धारण करती है' यहां त्वरित चौर्यंसम्भोग जो सम्भाव्यमात है उसके लिए जामुन के रस की लाली से परभाग (दूसरे अंश) का गोपन गुणीमूतव्यक्ष

है। अलं वहुना।

ध्वनि ही काव्य है—। अर्थात् आत्मा और आत्मी (शरीर) का वस्तुतः वर्षे ही है, किन्तु विभाग व्युत्पत्ति के लिए किया है। 'अथवा' ग्रहण से पूर्वोक्त के लिए किया है। 'अथवा' ग्रहण से पूर्वोक्त के आदि का ग्रहण है। गोपन के प्रकार से—। अर्थात् गोप्यमान रूप से प्राप्त होती

काव्याध्वनि ध्वनिव्यङ्गयप्राधान्यैकनिवन्धनः। सर्वत्र तत्र विषयी ज्ञेयः सहद्यैर्जनैः ॥ सगुणीभृतंव्यङ्गयैः सालङ्कारैः सह प्रभेदैः स्वैः। सङ्करसंसृष्टिभ्यां पुनरप्युद्योतते बहुधा॥ ४३॥ तस्य च ध्वनेः स्वप्रभेदैर्गुणीभृतव्यङ्गयेन वाच्यालङ्कारैश्र सङ्कर-संसृष्टिच्यवस्थायां क्रियमाणायां बहुप्रभेदता लक्ष्ये दृश्यते। स्वप्रभेदसङ्कीर्णः, स्वप्रभेदसंसृष्टो गुणीभृतव्यङ्गचसङ्कीर्णो गुणीभृतव्य-अथवा अलंकार ही गोपन के प्रकार से अभिहित हों, वहाँ सर्वत्र व्यङ्गय के प्राधान्य में एकमात्र होनेवाले ध्वनि को सहृद्यजन विषयी (विषय वाला) समझें।

(वह ध्वनि) गुणीभूतच्यङ्गय के साथ, अलंकारों के साथ और अपने प्रभेदों के साय सङ्कर और संसृष्टि द्वारा फिर और भी बहुत प्रकार से प्रकाशित होता है ॥४३॥

वह ध्वनि अपने प्रभेदों से, गुणीभूतन्यङ्ग से और वाच्य अल्ङ्कारों से संकर और संष्षि की व्यवस्था की जाने पर छदय में बहुत प्रमेदों वाला देखा जाता है। जैसा कि अपने प्रमेद से संकीर्ण, अपने प्रभेद से संस्रष्ट, गुणीसूतन्यङ्गय से सङ्कीर्ण, गुणीसूत-

लोचनम

त्या लब्धसौन्द्र्य इत्यर्थः । काव्याद्ध्वनीति । काव्यमर्गि । विषयीति । स त्रिवि-

षस्य ध्वनेः काव्यमार्गो विषय इति यावत् ॥ ४१-४२ ॥

एवं स्रोकद्वयेन संप्रहार्थमिमाय बहुप्रकारत्वप्रदर्शिकां पठित्-सगुणीति। सहगुणीभूतव्यक्कचेन सहालंकारैचे वर्तन्ते स्वे ध्वनेः प्रभेदास्तैः संकीर्णतया संस्थ्या वानन्तप्रकारो ध्वनिरिति तात्पर्यम्। बहुप्रकारतां दर्शयति-तथाहीति। स्वमेदैर्गुणीभूतव्यङ्गचेनालंकारैः प्रकाश्यत इति त्रयो सेदाः। तत्रापि प्रत्येकं संकरेण संसृष्ट्या चेति षट् । संकरस्यापि त्रयः प्रकाराः अनुप्राह्यानुप्राहकमावेन संदेहास्पदत्वेनैकपदानुप्रवेशेनेति द्वादश भेदाः। पूर्वं च ये पद्मत्रिशद्भेदा विषयी—। वह काव्य के मार्ग में—। विषयी—। वह काव्यमार्ग तीन प्रकार की ध्वनियों का

विषय है।। ४१, ४२॥

इस प्रकार दो रुलोकों से सङ्ग्रहार्थं का अभिधान करके (घ्वनि का) बहुप्रकारत्व भर्शन करने वाली (कारिका को) पढ़ते हैं — वह ध्वनि—। गुणीमूतव्यक्र्य के साथ, बलक्कारों के साथ जो हैं वे ध्वनि के अपने प्रभेद, उनसे संकीण होने के कारण अथवा मेंगृष्टि के कारण ध्विन अनन्त प्रकार की है यह तालयं है। बहुप्रकारता को दर्शात जैसा कि—। अपने प्रभेदों के साथ, गुणीभूतव्यक्त्य के साथ, अलङ्कारों के साथ काशित होता है यह तीन भेद हुए। उनमें भी प्रत्येक सङ्कर और संपृष्टि से छ हुए। कार के भी तीन प्रकार हैं—अनुप्राह्मानुप्राहकसाव से, संदेहास्पद होने से और

ङ्गचसंसृष्टो वाच्यालङ्कारान्तरसङ्कीणी वाच्यालङ्कारान्तरसंसृष्टः संसृष्टा-लङ्कारसङ्कीणः संसृष्टालङ्कारसंसृष्टश्रेति बहुधा ध्वनिः प्रकाशते।

तत्र स्वप्रभेदसङ्कीर्णत्वं कदाचिदनुप्राह्यानुप्राहकभावेन । यथा— 'एवंवादिनि देवर्षी' इत्यादौ । अत्र ह्यर्थश्चन्त्युद्भवानुरणनरूपन्यङ्गयः ध्वनिप्रभेदेनालक्ष्यक्रमन्यङ्गयध्वनिप्रभेदोऽनुगृह्यमाणः प्रतीयते । एवं कदाचित्प्रभेदद्वयसम्पातसन्देहेन । यथा—

न्यङ्गय से संसृष्ट, वाच्य अलङ्कारान्तर से सङ्कीर्ण, वाच्य अलङ्कारान्तर से संसृष्ट, संसृष्ट अलङ्कार से सङ्कीर्ण और संसृष्ट अलङ्कार से संसृष्ट इस प्रकार बहुत प्रकार से जिल्ली प्रकाशित होती है।

उनमें, अपने प्रभेद से सङ्कीर्णंत्व कभी अनुग्राह्यानुग्राकभाव से होता है। जैसे— 'एवंवादिनि देवधीं' इत्यादि में। यहां अर्थशक्त्युद्भव अनुरणनरूप व्यङ्गय (नामक) ध्वनिप्रभेद द्वारा अल्ड्यक्रमव्यंगय (नाम का) ध्वनिप्रभेद अनुगृद्धमाण प्रतीत होता है। इस प्रकार कभी दो प्रभेदों के सम्पात के संदेह से। जैसे—

लोचनम्

उक्तास्ते गुणीभूतव्यङ्गग्यस्यापि मन्तव्याः।स्वप्रभेदास्तावन्तोऽलंकार इत्येकसः प्रतिः। तत्र संकरत्रयेण संसृष्टगा च गुणने द्धे शते चतुरशीत्यधिके। तावता पञ्चित्रंशतो मुख्यभेदानां गुणने सप्तसहस्राणि चत्वारि शतानि विंशत्यधिकानि भवन्ति। अलंकाराणामानन्त्यात्वसंख्यत्त्वम्।

तत्र व्युत्पत्तये कतिपयभेदेषूदाहरणानि दित्सुः स्वप्रभेदानां कारिकायामः न्यपदार्थत्वेन प्रधानतयोक्तत्वात्तदाश्रयाण्येव चत्वार्युदाहरणान्याह—तत्रेति। अत्रुत्याण्यं इति । लज्जया हि प्रतीतया । अभिलाषश्रङ्कारोऽत्रानुगृह्यते व्यभिः चारिभृतत्वेन । क्षण उत्सवस्तत्र निमन्त्रणेनानीता हे देवर ! एषा ते जायवा

एकपदानुप्रवेश से। इस प्रकार बारह भेद हुए। और पहले जो पैंतीस भेद कहें जा चुके हैं वे गुणीभूतव्य क्लघ के भी माने जाने चाहिएँ। जतने (पैंतीस) अपने प्रभेद अलक्कार में भी, इस प्रकार इकहत्तर भेद हुए। वहाँ तीन संकर और संपृष्टि से गुणन करने पर २०४ भेद हुए। उनके साथ पैंतीस मुख्य भेदों का गुणन करने पर सात हजार चार सौ बीस (?) होते हैं। अलब्कारों के आनन्त्य से (ध्विनिभेद) असंख्य हो जाता है।

वहां व्युत्पत्ति के लिए कित्यय भेदों में उदाहरण देने के इच्छुक (वृत्तिकार) कारिका में 'अपने प्रभेदों' के (दो बहुन्नीहियों में) अन्यपदार्थ होने से प्रधान रूप से उक्त होने के कारण उनके आश्रित ही चार उदाहरणों को कहते हैं—उनमें—। अनुगृह्यमान प्रतीत हुई लज्जा से। व्यभिचारो रूप से अभिलाव स्युङ्गार यहां अनुगृहीत होता है। सण अर्थात् उत्सव, उसमें निमन्त्रण से लाई गई, हे देवर, यह तेरी पत्नी से कुछ कही

खणपाहुणिआ देअर एसा जाआऍ किंपि दे मणिदा। रुअइ पडोहरवलहीघरम्मि अणुणिज्जउ वराई।। (क्षणप्राघुणिका देवर एषा जायया किमपि ते मणिता। रोदिति शून्यवलभीगृहेऽनुनीयतां वराकी।। इति च्छाया।)

अत्र ह्यनुनीयतामित्येतत्पदमर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यत्वेन विव-श्वितान्यपरवाच्यत्वेन च सम्भाव्यते । न चान्यतरपश्चनिर्णये प्रमाण-मस्ति । एकव्यञ्जकानुप्रवेशेन तु व्यङ्गचत्वमलक्ष्यक्रमव्यङ्गचस्य

हे देवर, उत्सव में पाहुन बन कर आई हुई यह तेरी पत्नी कुछ कही जाने

पर रो रही है । बेचारी का सूनी अटारी में मनावन करो ।

यहाँ 'मनावन करो' यह पद अर्थान्तरसङ्क्रमित वाच्यरूप से और विविचि-तान्यपरवाच्यरूप से सम्भावित होता है। दोनों में किसी एक पच के निर्णय में प्रमाण नहीं है। अल्प्यक्रमज्यक्रय का एकव्यक्षकानुप्रवेश से व्यक्कयत्व अपने अन्य

लोचनम्

किम्पि भणिता रोदिति । पडोहरे शून्ये वलभीगृहे अनुनीयतां वराकी । सा वावद्देवरानुरक्ता तज्जायया विदितवृत्तान्तया किमप्युक्तेत्येषोक्तिस्तद्वृत्तान्तं दृष्टवत्या अन्यस्यास्तद्देवरचौरकामिन्याः। तत्र तव गृहिण्यायं वृत्तान्तो ज्ञात इत्युभयतः कलहायितुमिच्छन्त्येवमाह । तत्रार्थान्तरे संमोगेनैकान्तोचितेन परि-तोष्यतामित्येवंरूपे वाच्यस्य संक्रमणम्। यदि वा त्वं तावदेतस्यामेवानुरक्त इतीर्घ्याकोपतात्पर्योदनुनयनमन्यपरं विवक्षितम्। एषा तवेदानीमुचित्मगई-णीयं प्रेमास्पदमित्यनुनयो विविक्षतः, वयं त्विदानीं गईणीयाः संवृत्ता इत्येतत्प-रतया उभयथापि च स्वाभिप्रायप्रकाशनादेकतरनिश्चये प्रमाणाभाव इत्युक्तम्। जाने पर रो रही है। पडोहर अर्थात् शून्य बलभी गृह (सूनी अंटारी) में मनावन करो । वह देवर में अनुराग करती है, वृतान्त जान कर उसकीं (देवर की) पत्नी ने उसे कुछ कह दिया' यह उस वृत्तान्त को देखने वाली अन्य उस देवर की चौरकामिनी की उक्ति है। वहाँ 'तुम्हारी घर वाली ने यह वृत्तान्त जान लिया है' दोनों ओर लड़ाई लगाना चाहती हुई इस प्रकार कहती है। वहां 'एकान्त में उचित सम्भोग से उसे परितृष्ट करो' इस प्रकार के अर्थान्तर में वाच्य का सङ्क्रमण है। अथवा 'तुम तो इसी में अनुरक्त हो' इस ईर्व्याकोप के तात्पर्यं से अन्य पर (ईर्व्या कोप व्यक्त्र्य में तात्पर्यं बाला) अनुनयन विवक्षित है। 'इस समय यह तुम्हारे लिये उचित अगर्हणीय प्रेमास्पद हैं इस प्रकार अनुनय विवक्षित है, 'हम तो अब गर्हणीय हो गईं' इसमें तात्पर्य होने के कारण और दोनों में अपना अभिप्राय प्रकाशन करने से एकतरफे निश्चय में प्रमाण

स्वप्रभेदान्तरापेक्षया बाहु ल्येन सम्भवति । यथा—'स्निग्धश्यामल' इत्यादौ । स्वप्रभेदसंसृष्टत्वं च यथा पूर्वोदाहरण एव । अत्र ह्यर्थान्तर-संक्रमितवाच्यस्यात्यन्ततिरस्कृतवाच्यस्य च संसर्गः । गुणीभृतव्यङ्गय-सङ्कीर्णत्वं यथा—'न्यकारो ह्ययमेव मे यदरयः' इत्यादौ । यथा वा—

प्रभेदों की अपेचा करने से बहुत हो सकता है। जैसे—'स्निग्ध श्यामल' इत्यादि में। अपने प्रभेद से संस्थात, जैसे पहले उदाहरण में ही। यहां अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य का और अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य का संसर्ग है। गुणीभूतव्यङ्ग्यसङ्कीर्णस्य जैसे—'यक्कारो ह्ययमेव मे' इत्यादि में। अथवा जैसे—

लोचनम्

विविश्वतस्य हि स्वरूपस्थस्यैवान्यपरत्वम्, संक्रान्तिस्तु तस्यैतद्रूपतापितः। यदि वा देवरानुरक्ताया एव तं देवरमन्यया सहावलोकितसंभोगवृत्तान्तं प्रतीयमुक्तिः, देवरेत्यामन्त्रणात्। पूर्वव्याख्याने तु तद्पेक्षया देवरेत्यामन्त्रणं व्याख्यातम्। बाहुल्येनेति। सर्वत्र काव्ये रसादितात्पर्यं तावदस्ति तत्र रसध्वनेभीवध्वनेश्चैकेन व्यञ्जकेनामिव्यञ्जनं स्निग्धश्यामलेत्यत्र विप्रलम्भग्यङ्गारस्य तद्वधिमचारिणश्च शोकावेगात्मनश्चवंणीयत्वात्। एवं त्रिविधं संकरं व्याख्याय संसृष्टिमुदाहरति—स्वप्रमेदेति। श्रत्र हीति। लिप्तशब्दादौ तिरस्कृतो वाच्यः, रामादौ
तु संक्रान्त इत्यर्थः।

एवं स्वप्रभेदं प्रति चतुर्भेदानुदाहृत्य गुणीभूतव्यङ्गचं प्रत्युदाह्रति—गुणी-मृतेति ।

नहीं है यह कहा है। विवक्षित (वाच्य) का अपने रूप में स्थित अवस्था में ही अन्यपरत्व है, किन्तु संक्रान्ति उसका अन्य रूप को प्राप्त होना है। अथवा देवर में अनुरक्त ही (नायिका) की अन्य नायिका के साथ जिसका सम्भोग वृत्तान्त देख चुकी ऐसे देवर के प्रति यह उक्ति है, क्योंकि 'देवर' यह आमन्त्रण है। किन्तु पूर्व व्याख्यात में उसकी (जो पाहुन है) अपेक्षा से 'देवर' यह आमन्त्रण व्याख्यात है। बहुत—। सभी काव्य में रसादि का तात्पर्य है, वहां रसध्विन और भावव्यित का एक व्याख्या होरा अभिव्याजन है क्योंकि 'स्निग्धश्यामल' यहाँ विप्रलम्भ प्राङ्गार और शोकावेग ह्य व्याभिचारी चवंणीय हैं। इस प्रकार त्रिविध शङ्कर का व्याख्यान करके संपृष्टि का उदाहरण देते हैं—अपने प्रमेद—। यहाँ—। अर्थात् 'लिप्त' आदि शब्द में बाब्य तिरस्कृत है और 'राम' आदि में संक्रान्त है।

इस प्रकार अपने प्रमेद के प्रति चार भेदों को उदाहृत करके गुणोभूतव्य क्रिय के प्रति उदाहरण देते हैं—गणीभत—।

कर्ता द्यूतच्छलानां जतुमयश्वरणोद्दीपनः सोऽभिमानी कृष्णाकेश्वोत्तरीयव्यपनयनपदुः पाण्डवा यस्य दासाः। राजा दुःशासनादेर्गुरुरजुजशतस्याङ्गराजस्य मित्रं कास्ते दुर्योधनोऽसौ कथयत न रुषा द्रष्टुमभ्यागतौ स्वः॥

अत्र ह्यलक्ष्यक्रमञ्यक्ष्यस्य वाक्यार्थीभृतस्य ज्यङ्ग्यविशिष्टवाच्या-जुये के छळ करनेवाला, लाह का बना घर जलाने वाला, वह अभिमानी, द्रौपदी के केश और उत्तरीय को हटाने में चतुर, पाण्डव जिसके दास हैं, दुःशासन आदि सौ भाइयों में बड़ा, अङ्गराज कर्ण का मित्र वह दुर्योधन कहां है ? बताओ, हम दोनों क्रोध से नहीं, (केवल) देखने के लिए आये हैं।

वहां वाष्यार्थीभूत अलच्यक्रमन्यङ्गय की न्यङ्गयविशिष्ट वाच्य का अभिधान

लोचनम्

त्रंत्र हीत्युदाहरण्ड्रयेऽपि । त्रलस्यकमन्यङ्गधस्येति । रौद्रस्य व्यङ्गधिविशिष्टे-त्यनेन गुणता व्यङ्गधस्योक्ता । पदैरित्युपलक्षणे तृतीया । तेन तदुपलिक्षता योऽर्थो व्यङ्गधगुणीभावेन वर्तते तेन संमिश्रता संकीर्णता । सा चानुप्राह्यानु-प्राह्मकभावेन सन्देहयोगेनैकव्यञ्जकानुप्रवेशेन चेति यथासंभवमुदाहरणद्वये योज्या । तथा हि—मे यद्रय इत्यादिभिः सर्वे रेव पदार्थेः कर्तेत्यादिभिश्च विभावादिक्षपत्या रौद्र एवानुगृह्यते ।

कर्तेत्यादौ च प्रतिपदं प्रत्यवान्तरवाक्यं प्रतिसमासं च व्यङ्गचमुत्प्रेक्षितुं शक्यमेवेति न लिखितम् । पाण्डवा यस्य दासा इति तदीयोक्त्यनुकारः । तन्न गुणीभूतव्यङ्गच्यतापि योजयितुं शक्या, वाच्यस्यैव क्रोधोद्दीपकत्वात् । दासैश्च कृतकृत्यैः स्वाम्यवश्यं द्रष्टव्य इत्यर्थशक्त्यनुरणन्क्षपतापि । उभयथापि चार

यहाँ—दोनों उदाहरणों में । अलच्यक्रमच्यक्तय की—। 'ब्यङ्गधिविशिष्ट' इस (कथनं) से व्यङ्गध रीद्र का गुणाभाव कहा है। 'पदों के साथ' यहाँ उपलक्षण में तृतीया। उससे उपलक्षित, अर्थात् जो अर्थ गुणीभृतव्यङ्गध भाव से हैं उससे सिम्मश्रता अर्थात् सङ्कीर्णता। और उसे (सङ्कीर्णता को) अनुप्राह्मानुप्राहकमाव से, सन्देह-योग से और एक व्यञ्जकानुप्रवेश से यथासम्भव दोनों उदाहरणों में लगा लेना चाहिए। जैसा कि 'मे यदरथः' इत्यादि सभी पदार्थों से और 'कर्त्ता' इत्यादि द्वारा विभावादि रूप से रौद्र ही अनुगृहीत होता है। 'कर्ता' इत्यादि में प्रति पद, प्रति अवान्तर वाक्य और प्रति समास व्यङ्गध की उत्प्रेक्षा की ही जा सकती है यह नहीं लिखा है। 'पाण्डव जिसके दास है' यह उस (दुर्योघन) की उक्ति का अनुकरण है। वहां गुणीभूतव्यङ्गधमाव को भी लगा सकते हैं, क्योंकि वाच्य ही क्रोध का उद्दीपक है। और 'कृतकृत्य दासों को चाहिए कि स्वामी को अवश्य देखें' यह अर्थंशक्त्यनुरणन रूपता भी है। दोनों प्रकार से भी चारूव

भिघायिभिः पदैः सम्मिश्रता । अत एव च पदार्थाश्रयत्वे गुणीभृतव्य-क्रयस्य वाक्यार्थाश्रयत्वे च ध्वनेः सङ्कीर्णतायामपि न विरोधः स्वप्रभेदान्तरवत् । यथाहि ध्वनिप्रभेदान्तराणि परस्परं सङ्कीर्यन्ते पदार्थवाक्यार्थाश्रयत्वेन च न विरुद्धानि ।

कि चैकव्यङ्गचाश्रयत्वे तु प्रधानगुणभावो विरुध्यते न तु व्यङ्गच-भेदापेक्षया, ततोऽप्यस्य न विरोधः । अयं च सङ्करसंसृष्टिव्यवहारो करनेवाले पदों के साथ सम्मिश्रता है। और इसीलिए गुणीभूतव्यङ्गच के पदार्थाश्रित होने में और ध्वनि के वाक्यार्थाश्रित होने में सङ्गीर्णता होने पर भी अपने अन्य प्रभेद की मांति विरोध नहीं है। जैसा कि ध्वनि के अन्य प्रभेद परस्पर सङ्गीर्ण होते हैं, और पदार्थ और वाक्यार्थ के आश्रित होने से विरुद्ध नहीं हैं।

और भी, एक न्यङ्ग्य में आश्रित होने से प्रधानभाव और गुणभाव विरुद्ध हो सकते हैं न कि न्यङ्ग्यभेद की अपेज्ञा से। इस कारण भी इसका विरोध नहीं है।

लोचनम्

त्वादेकपक्षमहे प्रमाणाभावः। एकव्यक्षकानुप्रवेशस्तु तै रेव पदैः गुणीभूतस्य व्यङ्गचस्य प्रधानीभूतस्य च रसस्य विभावादिद्वारतयाभिव्यक्षनात्। श्रत एव चिति। यतोऽत्र लच्ये दृश्यते तत इत्यर्थः। नृनु व्यङ्गच्यं गुणीभूतं प्रधानं चेति विरुद्धमेव तद्दृश्यमानमप्युक्तत्वान्न श्रद्धेयमित्याशङ्कच व्यक्षकभेदात्तावन्न विरोध इति दर्शयति—श्रत एवेति। स्वैति। स्वप्रभेदान्तराणि संकीर्णतया पूर्वभुदाहृतानीति तान्येव दृष्टान्तयति। तदेव व्याच्छे—यथाहीति। तथात्रापीन्त्यध्याह्रारोऽत्र कर्त्व्यः। 'तथा हि' इति वा पाठः।

नतु व्यञ्जकभेदात्प्रथमभेद्योः परिहारोऽस्तु एकव्यञ्जकानुप्रवेशे तु किं वक्तव्यमित्याशङ्क्य पारमार्थिकं परिहारमाह—किञ्चेति । ततोऽपीति । यतोऽन्य-

के कारण एक पक्ष के ग्रहण में प्रमाण नहीं है। एक व्यञ्जकानुप्रवेश उन्हीं पदों से गुणीभूत व्यञ्जय और प्रधानीभूत रस का विभावादि के प्रकार से अभिव्यञ्जन से होता है। और इसी छिए—। अर्थात् जिस कारण इस लक्ष्य में देखा जाता है उस कारण। गुणीभूत और प्रधान व्यञ्जय दोनों देखे जाने पर भी विश्व ही है, केवल कह देने से श्रद्धा के योग्य नहीं, यह आशङ्का करके व्यञ्जक भेद से विरोध नहीं है' यह दिखाते हैं—इसी छिए—। अपने—। अपने अन्य प्रभेद सङ्कीणं रूप से पहले उदाहृत हो चुके हैं उन्हें ही दृष्टान्त करते हैं। उसे ही व्याख्यान करते हैं—जैसा कि'—। 'उस प्रकार यहाँ भी' इसका अध्याहार यहाँ करना चाहिए। अथवा 'तथाहि' यह पाठ है।

व्यक्तक के भेद से प्रथम दो भेदों में (विरोध का) परिहार हो जाय, किन्तु एक व्यंजकानुप्रवेश में क्या कहियेगा? यह आशक्का करके पारमार्थिक परिहार कहते हैं

बहूनामेकत्र वाच्यवाचकभाव इव व्यङ्गयव्यञ्जकभावेऽिप निर्विरोध एव मन्तव्यः । यत्र तु पदानि कानिचिद्विवक्षितवाच्यान्यनुरणनरूप-व्यङ्गयवाच्यानि वा तत्र ध्वनिगुणीभूतव्यङ्गययोः संसृष्टत्वम् । यथा-'तेषां गोपवधूविलाससुहृदाम्' इत्यादौ । अत्र हि 'विलाससुहृदां' 'राधारहःसाक्षिणाम्' इत्येते पदे ध्वनिप्रभेदरूपे 'ते' 'जाने' इत्येते च पदे गुणीभूतव्यङ्गयरूपे ।

और इस संसृष्टि और सङ्कर व्यवहार को एक जगह बहुतों के वाच्यवाचक भाव की भाँति व्यङ्गयव्यञ्जकभाव में भी निर्विरोध ही मानना चाहिए। परन्तु जहां कुछ पद अविविद्यञ्जव्यञ्जकभाव में भी निर्विरोध ही मानना चाहिए। परन्तु जहां कुछ पद अविविद्यञ्जव्यञ्जव्यङ्गय की संसृष्टि है। जैसे—'तेषां गोपवधूविलाससुहृदां' इत्यादि में। यहां 'विलाससुहृदां' 'राधारहःसाचिणां' ये दो पद ध्वनिप्रभेद रूप हैं और 'ते' 'जाने' ये पद गुणीभूतव्यङ्गय रूप हैं।

लोचनम्

ह्रयङ्गचं गुणीभूतमन्यच प्रधानमिति को विरोधः। नतु वाच्यालंकारिवषये श्रुतोऽयं संकरादिव्यवहारो न तु व्यङ्गचिवय इत्याशङ्कचाह—श्रुयं चेति। मन्तव्य इति। मननेन प्रतीत्या तथा निश्चेयः उभयत्रापि प्रतीतेरेव शरणत्वा-दिति भावः। एवं गुणीभूतव्यङ्गचसंकरभेदांक्षीनुदाहृत्य संसृष्टिमुदाहरित—यत्र तु पदानीति। कानिचिदित्यनेन संकरावकाशं निराकरोति। सुहृच्छज्देन साक्षि-शब्देन चौविवक्षितवाच्यो ध्वनिः 'ते' इतिपदेनासाधारणगुणगणोऽभिव्य-राव्येन चौववक्षितवाच्यो ध्वनिः स्ति। सुह्नच्छज्देन साक्षि-शब्देन चौवविविक्षितवाच्यो ध्वनिः 'ते' इतिपदेनासाधारणगुणगणोऽभिव्य-राव्येन चौवविविक्षतवाच्यो स्विनः स्तरणस्य प्राधान्येन चारुत्वहेतुत्वात।

भीर भी—। इस कारण भी—। क्योंकि गुणीभूत व्यङ्गच अन्य है और प्रधान व्यङ्गच अन्य है, फिर विरोध कैसा ? (शङ्का) वाच्य अलङ्कारों के विषय में यह सङ्कर आदि का व्यवहार सुनने में आता है न कि व्यङ्गच के विषय में, यह आशङ्का करके कहते हैं—और इस—। मानना चाहिए—। मनन अर्थात् प्रतीति से उस प्रकार निश्चय करता चाहिए, भाव यह कि क्योंकि दोनों स्थानों में प्रतीति ही शरण है। इस प्रकार करना चाहिए, भाव यह कि क्योंकि दोनों स्थानों में प्रतीति ही शरण है। इस प्रकार गुणीभूतव्यङ्गचसङ्कर के तीन भेदों को उदाहृत करके संमृष्टि को उदाहृत करते हैं— पुरानु जहां कुछ पद—। 'कुछ' इस (कथन) से संकर के अवकाश का निराकरण परन्तु जहां कुछ पद—। 'कुछ' इस (कथन) से संकर के अवकाश का निराकरण परन्तु जहां कुछ पद—। 'कुछ' इस (कथन) से संकर के अवकाश का निराकरण पर से असाधारण गुणसमूह अभिव्यक्त होकर भी (वाच्य के प्रति) गुणमाव प्राप्त पद से असाधारण गुणसमूह अभिव्यक्त होकर भी (वाच्य के प्रति) गुणमाव प्राप्त कर लेता है, क्योंकि वाच्य स्मरण ही प्राधान्यतः चारुत्व का हेतु है। उत्प्रेक्यमाण कर लेता है, क्योंकि वाच्य स्मरण ही प्राधान्यतः चारुत्व का हेतु है। उत्प्रेक्यमाण

वाच्यालङ्कारसङ्कीर्णत्वमलक्ष्यक्रमच्यङ्गचापेक्षया रसविति सालङ्कारे काच्ये सर्वत्र सुच्यवस्थितम् । प्रभेदान्तराणामपि कदाचि-रसङ्कीर्णत्वं भवत्येव । यथा ममैव—

वाच्य अलंकारों का संकीर्णत्व अलच्यकमन्यक्षय की अपेचा के साथ रसयुक्त और अलंकारयुक्त सभी काव्य में सुनिश्चित है। अन्य प्रभेदों का भी कदाचित संकीर्णत्व (संकर) होता ही है। जैसे मेरा ही—

लोचनम्

'जाने' इत्यनेनोत्प्रेच्यमाणानन्तधर्मव्यञ्जकेनापि वाच्यमेवोत्प्रेक्षणरूपं प्रधानी-क्रियते । एवं गुणीभूतव्यङ्गचेऽपि चत्वारो भेदा उदाहृताः ।

अधुनालंकारगतांस्तान्दर्शयति—वाच्यालङ्कारीत । व्यङ्गचत्वे त्वलंकाराणामुक्तभेदाष्टक एवान्तभीव इति वाच्यशब्दस्याशयः । काव्य इति । एवंविधमेव हि
काव्यं भवति । सुव्यवस्थितमिति । 'विवक्षा तत्परत्वेन' इति द्वितीयोद्द्योतम्लोदाहरणेभ्यः संकरत्रयं संसृष्टिश्च लभ्यत एव । 'चलापाङ्गां दृष्टिम्' इत्यत्र हि
क्पकव्यतिरेकस्य प्राग्व्याख्यातस्य शृङ्कारानुप्राहकत्वं स्वभावोक्तेः शृङ्कारस्य
चैकानुप्रवेशः । 'उप्पह जाया' इति गाथायां पामरस्वभावोक्तिर्वो ध्वनिर्वेति
प्रकरणाद्यभावे एकतरप्राहकं प्रमाणं नास्ति ।

यद्यत्यत् द्वारो रसमवश्यमनुगृह्णाति, तथापि 'नातिनिर्वहणैषिता' इति यद्भिप्रायेणोक्तं तत्र सङ्करासम्भवात्संसृष्टिरेवालङ्कारेण रसध्वनेः । यथा-'बाहु-त्वतिकापाशेन बद्ध्वा दृढम्' इत्यत्र । प्रमेदान्तरासामपीति । रसादिध्वनिव्यति-

अनन्त धर्म के व्यंजक भी 'जाने' इस से उत्प्रेक्षण रूप वाच्य ही प्राधानीकृत होता है। इस प्रकार गुणीभूतव्यङ्गच में भी चार भेद उदाहृत हुए।

अब अलंकारत उन्हें दिखाते हैं—वाच्य अलंकारों का—। व्यङ्गच होने पर्
अलङ्कारों का उक्त आठ भेदों में ही अन्तर्भाव है यह 'वाच्य' शब्द का आश्य है। काच्य
में—। इस प्रकार का ही काव्य होता है। सुनिश्चित—। 'विवक्षा तत्परत्वेन' इस द्वितीय
उद्योत के मूल के उदाहरणों से तीनों संकर और संसृष्टि प्राप्त ही होते हैं। 'चलपाङ्गा
दृष्टि' यहां पहले व्याख्यात रूपक और व्यतिरेक शृङ्गार के अनुग्राहक हैं, स्वभावोक्ति
का और श्रंगार का एकानुप्रवेश है। उप्पइ जाया' इस गाथा में पामर की स्त्रभावोक्ति है
अथवा ब्विन है, प्रकरण आदि के शंभाव में दोनों में से एक का ग्राहक प्रमाण नहीं है।

यद्यपि अलंकार रसं को अवश्य अनुगृहीत करता है तथापि जिस अभिप्राय से 'नातिनिवंहणैषिता' (अर्थात् अलंकार को अत्यन्त निर्वाह करने की इच्छा न रखना) कहा है। कहाँ संकर के सम्भव न होने से अलंकार के साथ रसध्वनि की संपृष्टि ही होती है। जैसे 'बाहुललिकायाग्रेन बद्ध्वा हढं' यहाँ (रूपक के साथ रस की संपृष्टि ही है)। अन्य प्रभेदों का भी—। रसादि ध्वनि से व्यतिरिक्त । व्यापारशील—। कह

या व्यापारवती रसान् रसियतुं काचित्कवीनां नवा दृष्टियी परिनिष्टितार्थविषयोन्मेषा च वैपश्चिती।

हे समुद्र में शयन करनेवाले भगवान, जो रसों के आस्वाद करने के लिए ज्यापारशील कवियों की नई कोई दृष्टि है और परिनिष्ठित है अर्थ के विपय में उन्मेष

लोचनम्

रिक्तानाम् । व्यापारवतीति । निष्पादनप्राणो हि रसं इत्युक्तम् । तत्र विभावादि-योजनात्मिका वर्णना, ततः प्रभृति घटनापर्यन्ता क्रिया व्यापारः, तेन सतत-युक्ता । रसानिति । रस्यमानतासारान् स्थायिभावान् रसयितुं रस्यमानताप-त्तियोग्यान् कर्तुम्। काचिदिति लोकवार्तापतितबोधावस्थात्यागेनोन्मीलन्ती। अत एव ते कवयः वर्णनायोगात् तेषाम्। नवेति । क्षणे क्षणे नूतनैर्नूतनैवेचित्रयै-र्जगन्त्यासूत्रयन्ती । दृष्टिरिति । प्रतिभारूपा, तत्र दृष्टिश्राक्षुषं ज्ञानं पाडवादि रसयतीति । विरोधालङ्कारोऽत एव नवा । तद्नुगृहीतश्च ध्वनिः, तथाहि चासुपं ज्ञानं नाविधिक्षतमत्यन्तमसम्भवाभावात्। न चान्यपरम्; अपि त्वर्थान्तरे ऐन्द्रियकविज्ञानाभ्यासोल्लसिते प्रतिभानलक्ष्योऽर्थे संक्रान्तम्। संक्रमगो च विरोधोऽनुप्राहक एव । तद्वच्यति — 'विरोधालङ्कारेण' इत्यादिना । या चैवंविधा दृष्टिः परिनिष्ठितोऽचलः अर्थविषये निश्चेतव्ये विषये उन्मेषो यस्याः। तथा परिनिष्ठिते लोकप्रसिद्धेऽर्थे न तु कविवदपूर्वस्मित्रर्थे उन्मेषो यस्याः सा। चुके हैं कि रस का प्राण निष्पादन है। वहाँ विभावादि की योजना रूप वर्णना होती है, उससे लेकर घटना (तत्तत् पदों की घटना) तक किया व्यापार है। उस (व्यापार) से सततयुक्त । रसों के—। रस्यमानतासार स्थायिभावों के आस्वाद कराने अर्थात् रस्यमानता की प्राप्ति के योग्य करने । कोई--। लोकवार्ती में प्राप्त बोघावस्था के त्याग से उन्मीलित रोती हुई। इसी लिए वे 'कवि' हैं क्योंकि उनमें वर्णना का योग होता है । नई-- । क्षण-क्षण में नये-नये वैचित्र्यों से संसार को प्रासूत्रित (प्रकाशित) करती हुई । दृष्टि— । प्रतिभा रूप, वहाँ दृष्टि अर्थात् चाक्षुष ज्ञान, पाउप् आदि पेय द्रव्यों को आस्वाद करती है, यह विरोध अलङ्कार है, इसी लिए नई। और उससे अनुगृहीत ध्वनि है जैसा कि चाक्षुष ज्ञान अत्यन्त अविवक्षित (अर्थात् अत्यन्त तिरस्कृत) नहीं है, क्योंकि अत्यन्त असम्भव नहीं है और अन्य पर (अर्थात् विवक्षित भी) नहीं है, बल्कि ऐन्द्रियक विज्ञान के अम्यास से उज्जसित प्रतिमान रूप अर्थ में सङ्कान्त है। और सङ्क्रमण में विरोध अनुग्राहक हीं है। उसे कहेंगे—'विरोध अलङ्कार से' इत्यादि द्वारा। जो इस प्रकार की दृष्टि है, परिनिष्ठित अर्थात् अचल है अर्थ के विषय में अर्थात् निश्चेतव्य विषय में उन्मेष जिसका। उस प्रकार परिनिष्ठित अर्थात् लोकप्रसिद्ध अर्थ में, न कि कवि की भौति अपूर्व अर्थ में उन्मेष है जिसका वह । विपश्चित् (विद्वान्) लोगों

ते द्वे अप्यवलम्बय विश्वमिनशं निर्वर्णयन्तो वयं श्रान्ता नैव च लब्धमिब्धिशयन त्वद्भक्तितुल्यं सुखम् ॥ जिसका ऐसी जो विद्वानों की दृष्टि है उन दोनों को अवलम्बन करके निरन्तर विश्व को निर्वर्णन करते हुए हम थक गये, तुम्हारी भक्ति के तुल्य सुख नहीं पाया।

लोचनम्

विपश्चितामियं वैपश्चिती। ते अवलम्ब्येति। कवीनामिति वैपश्चितीति वचनेन नाहं कविर्न पण्डित इत्यात्मनोऽनौद्धत्यं ध्वन्यते । अनात्मीयमपि दरिद्रगृह इवोपकरणतयान्यत आहृतमेतन्मया दृष्टिद्वयमित्यर्थः। ते द्वे अपीति। न ह्येकया दृष्ट्या सम्यङ्निर्वर्णनं निर्वहति । विश्वमित्यशेषम् । स्रनिशमिति । पुनः पुनरनवरतम् । निर्वर्णयन्तो वर्णनया, तथा निश्चितार्थं वर्णयन्तः इदिमत्थिमिति परामशोनुमानादिना निर्भज्य निर्वर्णनं किमत्र सारं स्यादिति तिलशस्तिलशो विचयनम्। यच निर्वर्ण्यते तत्खलु मध्ये व्यापार्यमाणया मध्ये चार्थविशेषेषु निश्चितोन्मेषया निश्चलया दृष्टचा सम्यङ्निर्विणितं भवति । वयमिति । मिध्या-तत्त्वदृष्टचाहरणव्यसनिन इत्यर्थः। श्रान्ता इति। न केवलं सारं न लब्धं यावत्प्रत्युत . खेदः प्राप्त इति भावः । चशब्दस्तुशब्दस्यार्थे । श्रब्धिशयनेति । योगनिद्रया त्वमत एव सारस्वरूपवेदी स्वरूपावस्थित इत्यर्थः। श्रान्तस्य शयनस्थितं प्रति बहुमानो भवति । त्वद्रकीति । त्वमेव परमात्मस्वरूपो विश्व-की यह वैपिक्तिती। उन्हें अवलम्बन करके—। 'किवयों की' 'विद्वानों की' इस कथन से 'मैं कवि नहीं हूँ, पण्डित नहीं हूँ' यह अपना अनौद्धत्य ध्वनित होता है। अर्थात् दरिद्र के घर में की मांति अपनी न होने पर भी उपकरण के रूप में अन्य के यहाँ से मैंने दोनों दृष्टियां लाई हैं—उन दोनों को—। क्योंकि एक दृष्टि से सम्यक् निवंगंन नहीं पूर्ण हो सकता। विश्व अर्थान् अशेष। निरन्तर—। बार-बार अनवरत। निर्वर्णन करते हुए-। वर्णना द्वारा उस प्रकार निश्चितार्थं रूप में वर्णन करते हुए, 'यह इस प्रकार है' यह परामर्श आदि से विभाग करके निर्वर्शन अर्थात् यहाँ सार क्या होगा यह तिल-तिल विचयन करके। जो निर्वेणित होता है वह मध्य में व्यापार्यमाण और मध्य में अर्थविशेषों में निश्चित उन्मेष वाली निश्चल दृष्टि से सम्यक् निर्वणित होता है। हम- । अर्थात् मिथ्यादृष्टि और तत्त्वदृष्टि के आहरण में शौक रखने वाले। थक गए- । भाव यह कि न केवल सार नहीं पाया, प्रत्युत सेद भी पाया । 'और' शब्द (स्त्रोक में 'च' शब्द) 'तु' शब्द के अर्थ में है। समुद्र में शयन करने वाले—। अर्थात् योगनिद्रा के द्वारा तुम इसीलिए सारस्वरूप की जानने वाले स्वरूप में अवस्थित हो । थके हुए आदमी के सोये हुए के प्रति गौरव होता है । तुम्हारी भक्ति— । तुम्ही परमात्मस्वरूप विश्व का सार हो, उस (विश्वसार) की भक्ति अर्थात् श्रद्धादिपूर्वक

इत्यत्र विरोधालङ्कारेणार्थान्तरसंक्रमितवाच्यस्य ध्वनिप्रभेदस्य सङ्कीर्णत्वम् ।

यहाँ विरोध अलङ्कार से अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य (नामक) ध्वनि के प्रमेद का सङ्कर है।

लोचनम्

सारस्तस्य भक्तिः श्रद्धादिपूर्वक खपासनाक्रमजस्तदावेशस्तेन तुल्यमपि न

लब्धमास्तां तावत्तज्ञातीयम्।

एवं प्रथममेव परमेश्वरभक्तिमाजः कुतृह्लमात्रावलिम्बतकविप्रामाणिको-भयवृत्तेः पुनरिष परमेश्वरमिकिविश्रान्तिरेव युक्तित मन्वानस्येयमुक्तिः । सकल-प्रमाणपरिनिश्चितदृष्टादृष्टविषयिवरोषजं यत्सुखं, यदिष वा लोकोत्तरं रसचवणात्मकं तत उमयतोऽपि परमेश्वरविश्रान्त्यानन्दः प्रकृष्यते तदानन्दिवपुण्मात्रावमासो हि रसास्वाद इत्युक्तं प्रागस्माभिः । लौकिकं तु सुखं ततोऽपि निकृष्टप्रायं बहुतरदुःखानुषङ्गादिति तात्पर्यम् । तत्रैव दृष्टिशब्दापेक्षयैकपदानुप्रवेशः । दृष्टिमवलम्बय निर्वर्णनमिति विरोधालङ्कारो वाश्रीयताम् , अन्धपदन्यासेन दृष्टिशब्दोऽत्यन्तितरस्कृतवाच्यो वास्तु इत्येकतरनिश्चये नास्ति प्रमाणम् , प्रकारद्वयेनापि हृद्यत्वात् । न च पूर्वत्राप्येवं वाच्यम् । नवाशब्देन शब्दशक्त्य-नुरणनत्या विरोधस्य सर्वथावलम्बनात् ।

उपासनाक्रम से उत्पन्न तद्विषयक आवेश (प्रेमातिशय), उसके तुल्य भी (सुब) नहीं

पाया उसकी जाति का (तज्जातीय सुख) तो दूर रहे।

इस प्रकार परयेश्वर के प्रति मिक्त रखने वाले और यह मानने वाले कि यह उक्ति है कि कुत्हल मात्र से किव और प्रामाणिक (विपिश्चित्) दोनों के व्यवहारों को अवलम्बन करके फिर भी परमेश्वर की मिक्त में विश्वान्ति ही ठीक है। सकल प्रमाणों से परिनिश्चित् हष्ट-अहष्ट विषय-विशेष से उत्पन्न जो सुख है अथवा जो कि लोकोत्तर चवंणा रूप (सुख) है उन दोनों से भी परमेश्वर में विश्वान्ति का आनन्द प्रकृष्ट है, हम पहले कह चुके हैं कि रसास्वाद उस आनन्द के बिन्दुमात्र का अवभास है। तात्पर्य यह कि बहुतर दु:खों के मिश्रण से लौकिक सुख उस (रसास्वाद) से भी निकृष्ट्रप्राय है। वहीं 'पर'—। 'हिष्ट' शब्द की अपेक्षा से एकपदानुपवेश है। अथवा 'हिष्ट' का अवलम्बन करके 'निवंणंन' यह विरोध अलङ्कार आश्रयण किया जाय, अथवा 'अन्ध' पद के न्यास की मौति 'हिष्ट' शब्द अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य हो, इनमें से एक के निश्चय में प्रमाण नहीं है, क्योंकि हुखता दोनों प्रकार से है। पहले में भी इस प्रकार नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'नई' शब्द से शब्द शक्त्यनुरणन रूप से विरोध का सर्वंथा अवलम्बन है।

ते द्वे अप्यवलम्बय विश्वमनिशं निर्वर्णयन्तो वयं श्रान्ता नैव च लब्धमब्धिशयन त्वद्भक्तितुल्यं सुख्म् ॥ जिसका ऐसी जो विद्वानों की दृष्टि है उन दोनों को अवलम्बन करके निरन्तर विश्व को निर्वर्णन करते हुए हम थक गये, तुम्हारी भक्ति के तुल्य सुख नहीं पाया।

लोचनग्

विपश्चितामियं वैपश्चिती । ते श्रवलम्ब्येति । कवीनामिति वैपश्चितीति वचनेन नाहं कविन पण्डित इत्यात्मनोऽनौद्धत्यं ध्वन्यते । अनात्मीयमपि दरिद्रगृह इवोपकरणतयान्यत आहतमेतन्मया दृष्टिद्वयमित्यर्थः। ते द्वे अपीति। न द्येकया दृष्टचा सम्यङ्निर्वर्णनं निर्वहति । विश्वमित्यशेषम् । अनिशमिति । पुनः पुनरनवरतम् । निर्वर्णयन्तो वर्णनया, तथा निश्चितार्थं वर्णयन्तः इद्मित्थमिति परामशोनुमानादिना निर्भेज्य निर्वर्णनं किमत्र सारं स्यादिति तिलशस्तिलशो विचयनम्। यच निर्वण्यते तत्खलु मध्ये व्यापार्यमाणया मध्ये चार्थविशेषेषु निश्चितोन्मेषया निश्चलया दृष्टचा सम्यङ्निर्वर्णितं भवति । वयमिति । मिण्या-तत्त्वदृष्टश्याहरणव्यसनिन इत्यर्थः। श्रान्ता इति । न केवलं सारं न लब्धं यावत्प्रत्यत खेदः प्राप्त इति भावः। चशब्दस्तुशब्दस्यार्थे। श्रव्धिशयनेति। योगनिद्रया त्वमत एव सारस्वरूपवेदी स्वरूपावस्थित इत्यर्थः। श्रान्तस्य शयनस्थितं प्रति बहुमानो भवति । त्वद्गनीति । त्वमेव परमात्मस्वरूपो विश्व-की यह वैपश्चिती । उन्हें अवलम्बन करके—। 'कवियों की' 'विद्वानों की' इस कथन से 'मैं कवि नहीं हूँ, पण्डित नहीं हूँ' यह अपना अनौद्धत्य ध्वनित होता है। अर्थात् दरिद्र के घर में की भाँति अपनी न होने पर भी उपकरण के रूप में अन्य के यहाँ से मैंने दोनों दृष्टियां लाई हैं—उन दोनों को—। क्योंकि एक दृष्टि से सम्यक् निवंगान नहीं पूर्ण हो सकता। विश्व अर्थान् अशेष। निरन्तर- । बार-बार अनवरत। निर्वर्णन करते हुए- । वर्णना द्वारा उस प्रकार निश्चितार्थं रूप में वर्णन करते हुए, 'यह इस प्रकार है' यह परामर्श आदि से विभाग करके निर्वर्शन अर्थात् यहाँ सार क्या होगा यह तिल-तिल विचयन करके। जो निर्विणित होता है वह मध्य में व्यापार्यमाण और मध्य में अर्थविशेषों में निश्चित उन्मेष वाली निश्चल दृष्टि से सम्यक् निर्वेणित होता है। हम-। अर्थात् मिथ्यादृष्टि और तत्त्वदृष्टि के आहरण में शौक रखने वाले। थक गए- । भाव यह कि न केवल सार नहीं पाया, प्रत्युत खेद भी पाया । 'और' शब्द (स्होक में 'च' शब्द) 'तु' शब्द के अर्थ में है। समुद्र में शयन करने वाले-। अर्थात् योगनिद्रा के द्वारा तुम इसीलिए सारस्वरूप की जानने वाले स्वरूप में अवस्थित हो । थके हुए आदमी के सोये हुए के प्रति गौरव होता है । तुम्हारी भिक्त- । तुम्ही परमात्मस्वरूप विश्व का सार हो, उस (विश्वसार) की भक्ति अर्थात् श्रद्धादिपूर्वक

इत्यत्र विरोधालङ्कारेणार्थान्तरसंक्रमितवाच्यस्य ध्वनिप्रभेदस्य सङ्कीर्णत्वम् ।

यहाँ विरोध अलङ्कार से अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य (नामक) ध्वनि के प्रभेद का सङ्कर है।

लोचनम्

सारस्तस्य भक्तिः श्रद्धादिपूर्वक उपासनाक्रमजस्तदावेशस्तेन तुल्यमपि न

लब्धमास्तां तावत्तजातीयम्।

एवं प्रथममेव परमेश्वरभक्तिभाजः कुतूहलमात्रावलिम्बतकविप्रामाणिको-भयवृत्तेः पुनरिष परमेश्वरभक्तिविश्रान्तिरेव युक्तित मन्वानस्येयमुक्तिः । सकल-प्रमाणपरिनिश्चितदृष्टादृष्टविषयविशेषजं यत्सुखं,यदिष वा लोकोत्तरं रसचवणात्मकं तत उभयतोऽपि परमेश्वरविश्रान्त्यानन्दः प्रकृष्यते तदानन्दविपुण्मात्रावभासो हि रसास्वाद इत्युक्तं प्रागस्माभिः । लौकिकं तु सुखं ततोऽपि निकृष्टप्रायं बहुतरदुःखानुषङ्गादिति तात्पर्यम् । तत्रैव दृष्टिशब्दापेक्षयैकपदानुप्रवेशः । दृष्टिमवलम्बय निर्वर्णनिमिति विरोधालङ्कारो वाश्रीयताम् , अन्धपदन्यासेन दृष्टिशब्दोऽत्यन्तितरस्कृतवाच्यो वास्तु इत्येकतरिनश्चये नास्ति प्रमाणम् , प्रकारद्वयेनापि हृद्यत्वात् । न च पूर्वत्राप्येवं वाच्यम् । नवाशब्देन शब्दशक्त्य-नुरणनत्या विरोधस्य सर्वथावलम्बनात् ।

उपासनाक्रम से उत्पन्न तद्विषयक आवेश (प्रेमातिशय), उसके तुल्य भी (सुख) नहीं

पाया उसकी जाति का (तज्जातीय सुख) तो दूर रहे।

इस प्रकार परयेश्वर के प्रति भक्ति रखने वाले और यह मानने वाले कि यह उक्ति है कि कुत्हल मात्र से किव और प्रामाणिक (विपिश्चित्) दोनों के व्यवहारों को अवलम्बन करके फिर भी परमेश्वर की भक्ति में विश्वान्ति ही ठीक है। सकल प्रमाणों से पिरिनिश्चित् हष्ट-अहष्ट विषय-विशेष से उत्पन्न जो सुख है अथवा जो कि लोकोत्तर चवंणा रूप (सुख) है उन दोनों से भी परमेश्वर में विश्वान्ति का आनन्द प्रकृष्ट है, हम पहले कह चुके हैं कि रसास्वाद उस आनन्द के बिन्दुमात्र का अवसास है। तात्पर्य यह कि बहुतर दु:खों के मिश्रण से जौकिक सुख उस (रसास्वाद) से भी निकृष्ट्रप्राय है। वहीं 'पर'—। 'हिष्टु' शब्द की अपेक्षा से एकपदानुपवेश है। अथवा 'हिष्टु' का अवलम्बन करके 'निवंणंन' यह विरोध अलक्कार आश्रयण किया जाय, अथवा 'अन्ध' पद के न्यास की भांति 'हिष्ट' शब्द अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य हो, इनमें से एक के निश्चय में प्रमाण नहीं है, क्योंकि हुखता दोनों प्रकार से है। पहले में भी इस प्रकार नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'नई' शब्द से शब्द शक्त्यनुरणन रूप से विरोध का सवंधा अवलम्बन है।

वाच्यालङ्कारसंसृष्टत्वं च पदापेक्षयैव । यत्र हि कानिचित्पदानि वाच्यालङ्कारभाञ्जि कानिचिच ध्वनिप्रभेदयुक्तानि । यथा— दीर्घीकुर्वन् पदु मदकलं कुजितं सारसानां

और वाच्याळङ्कार की संसृष्टि पद को अपेजा से ही होती है। क्योंकि जहां कुछ पद वाच्याळङ्कार वाले होते हैं और कुछ ध्वनि प्रभेदयुक्त । जैसे—

जहाँ सारस पिचयों के पटु एवं मदकल कूजित को बढ़ाता हुआ, प्रातःकालों में

लोचनम्

एवं सङ्करं त्रिविधमुदाहृत्य संसृष्टिमुदाह्र्रति—वाच्येति । सकलवाक्ये हि यद्यलङ्कारोऽपि व्यङ्ग-यार्थोऽपि प्रधानं तदानुप्राह्यानुप्राह्मकत्वसङ्करस्तद्भावे त्वसङ्गतिरित्यलङ्कारेण वा ध्वनिना वा पर्योयेण द्वाभ्यामपि वा युगपत्पदविश्रान्ताभ्यां भाव्यमिति त्रयो भेदाः । एतद्गर्भीकृत्य सावधारणमाह्—पदापेच्चयेतेत । यत्रानुप्राह्यानुप्राह्यानुप्राह्मक्ष्मावं प्रत्याराङ्कापि नावतरति तं तृतीयमेव प्रकारमुदाह्र्तुमुप्रक्रमते—यत्र हीति । यस्माद्यत्र कानिचिद्ष्व्वत्युक्तानि, यथा दीर्घीकुर्वन्नित्यत्रेति । तथाविधपदापेक्षयेव वाच्यालङ्कारसंस्पृष्टत्वमित्यावृत्या पूर्वप्रन्थेन सम्बन्धः कर्तव्यः । अत्र हीति । अत्रत्यो हिशव्दो मैत्रीपद्मित्यस्यान्तरं योज्य इति प्रन्थसङ्गतिः ।

दीवीकुंवेचिति । सिप्रावातेन हि दूरमप्यसौ शब्दो नीयते, तथा कुसुमार पवनस्पर्शजातहर्षाः चिरं कूजन्ति, तत्कूजितं च वातान्दोलितसिप्रातरङ्गज-मधुरशब्दमिश्रं भवतीति दीर्घत्वम् । पट्विति । तथासौ सुकुमारो वायुर्येन तज्जः

इस प्रकार त्रिविध सङ्कार को उदाहृत करके संसृष्टि को उदाहृत करते हैं—वाच्य-।
यदि सम्पूणं वाक्य में अलङ्कार भी व्यङ्गय अर्थ भी प्रधान हो तब अनुप्राह्मानुप्राहक स्थ सङ्कर होगा, उसके अभाव में असङ्गित होगी, इस प्रकार अलङ्कार को अथवा व्वित को अथवा कम से दोनों को एक ही पद में विश्रान्त होना चाहिए, इस प्रकार तीन भेद हैं। इसे भीतर रखकर अवधारणपूर्वंक कहते हैं—पद की अपेचा से ही—। जहाँ अनुप्राह्मानुप्राहक भाव के प्रति आशङ्का भी नहीं होती उस तृतीय प्रकार को उदाहृत करने के लिए उपकम करते हैं—क्योंकि जहाँ कुछ अलङ्कार वाले, कुछ ध्वनियुक्त (पद), जैसे 'जहाँ सारस पिक्षयों के' यहाँ। 'उस प्रकार के पद की अपेक्षा से ही वाच्य अलङ्कार की संसृष्टि है' यह आवृत्ति द्वारा पूर्वं प्रन्थ से सम्बन्ध लगा लेना चाहिए। यहाँ—। (वृत्तिग्रन्थ में) यहाँ का 'हि' शब्द 'मैत्रीपद' के बाद जोड़ना चाहिए। इस प्रकार ग्रन्थ की सङ्गिति है।

जहाँ सारस—। सिप्रा का वायु उस शब्द की दूर ले जाता है, उस प्रकार मुकुमार पवन स्पर्ध से प्रसन्न होकर (सारसं) देर तक कूजन करते हैं, और व हैं कूजित वातान्दोलित सिप्रा की तर्झों से उत्पन्न मधुर शब्दों से मिल जाता है अतः

प्रत्यृषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्त्रीकषायः। यत्र स्त्रीणां हरति सुरतग्लानिमङ्गानुद्वलः सिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थनाचादुकारः॥

बिले कमलों की गन्ध की मैत्री से कपाय, अङ्गानुकूल सिप्रा का वायु प्रियतम में प्रार्थनाचाटुकार की भांति स्त्रियों का सुरत-खेद हरण करता है।

लोचनम्

शब्दः सारसकूजितमपि नाभिभवति प्रत्युत तत्सब्रह्मचारी तदेव दीपयति । न च दीपनं तदीयमनुपयोगि यतस्तन्मदेन कलं मधुरमाकर्णनीयम् । प्रत्यूषेिष्वित । प्रभातस्य तथाविधसेवावसरत्वम् । बहुवचनं सदैव तत्रैषा हृद्यतेति
निरूपयति । स्फुटितान्यन्तर्वर्तमानमकरन्दभरेण । तथा स्फुटितानि विकसितानि नयनहारीणि यानि कमलानि तेषां य आमोदस्तेन या मैत्री अभ्यासाक्वावियोगपरस्परानुकूल्यलाभस्तेन कषाय उपरक्तो मकरन्देन च कषायवर्णीकृतः । स्रीणामिति । सर्वस्य तथाविधस्य त्रैलोक्यसारभूतस्य य एवं करोति
सुरतकृतां ग्लानि तान्ति हरित, अथ च तद्विषयां ग्लानि पुनः सम्मोगामिलाषोद्दीपनेन हरित ।

न च प्रसद्धप्रभूततयापि त्वङ्गानुकूलो हृद्यस्पर्शः हृदयान्तर्भूतश्च । प्रियतमे तिहिषये प्रार्थनार्थं चाटूनि कारयति । प्रियतमोऽपि तत्पवनस्पर्शप्रबुद्धसम्भो-

दीघं हो जाता है। पदुं । उस प्रकार वह वायु सुकुमार है जिससे कि उससे उत्पन्न शब्द सारसों के कूजित को भी अभिभूत नहीं करता प्रत्युत उसका सब्रह्मचारी होकर उसे ही बढ़ाता है। उसका बढ़ाना अनुपयोगी नहीं है, क्योंकि वह मद से कल अर्थात मधुर आकर्णनीय है। प्रातःकालों में । प्रभात उस प्रकार की सेवा का अवसर है। बहुवचन 'वहां यह हृद्धता सदैव है' यह निरूपण करता है। भीतर वर्तमान मकरन्द के गार से खिले। उस प्रकार स्फुटित अर्थात् विकसित (खिले) नयनहारी जो कमल हैं उनकी जो गन्ध उससे जो मैत्री अर्थात् अविच्छित्र आलिङ्गन से परस्पर आनुकूल्य का जाम उससे कथाय अर्थात् उपरक्त, और मकरन्द से कथाय वणं का बना दिया गया। क्रियों का । सभी उस प्रकार के त्रैलोक्यसारभूत की जो (बायु) इस प्रकार सुरत्कृत ग्लानि अर्थात् तान्ति (खेद) को हरण करता है। वार्या के अभिलाध के उद्दीपन द्वारा हरण करता है।

न कि प्रभूत होने के कारण हठात (हरण करता है) बल्कि अङ्गानुकूल अर्थात् हैंच स्पर्धनाला और हृदय के अन्तर्भूत है। प्रियतम में अर्थात् उसके विषय में प्रार्थना

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अत्र हि मैत्रीपदमिवविश्वतवाच्यो ध्वनिः । पदान्तरेष्वलंकारान्त-राणि ।

यहाँ 'मैत्री' पद अविवित्तितवाच्य ध्विन है । अन्य पदों में अछङ्कारा न्तर हैं।

लोचनम्

गाभिलाषः । प्रार्थनार्थं चादूनि करोतीति तेन तथा कार्यत इति परस्परानुराग्राणशृङ्कारसर्वस्वभूतोऽसौ पवनः । युक्तं न्वैतत्तस्य यतः सिप्रापरिचितोऽसौ वात इति नागरिको न त्वविद्ग्धो मान्यभाय इत्यर्थः । प्रियतमोऽपि रतान्तेऽङ्गानुकूलः संवाहनादिना प्रार्थनार्थं चादुकार एवमेव सुरतग्लानि हरति । कूजितं चानङ्गीकरणवचनादि मधुरध्वनितं दीर्घीकरोति । चादुकरणावसरे च स्फुटितं विकसितं यत्कमलकान्तिधारिवदनं तस्य यामोदमैत्री सहजसौरमपरिचयस्तेन कषाय उपरक्तो भवति । अङ्गेषु चातुष्वष्टिकप्रयोगेध्वनुकूलः एवं शव्दरूपगन्ध-स्पर्शो यत्र हृद्या यत्र च पवनोऽपि तथा नागरिकः स तवाऽवश्यमभिगन्तव्यो देश इति मेघदूते मेघं प्रति कामिन इयमुक्तिः । उदाहर् से लक्षणं योजयित—मैत्रीपदिनिति । हिशब्दोऽनन्तरं पठितव्य इत्युक्तमेव । अलङ्कारान्तरासीति । उत्रेक्षास्वभावोक्तिस्पकोपमाः क्रमेसेस्वयंः । एविमयता

के लिए चाटु करवाता है। प्रियतम भी उस पवन के स्पर्श से प्रबुद्ध सम्भोग का अभिल्लावाला है। प्रार्थनार्थ चाटु करता है उसके द्वारा उस प्रकार कराया जाता है इस प्रकार परस्परानुरागप्राण श्रुङ्कार का सर्वस्वभूत वह पवन है। अर्थात् और उसके लिए यह ठीक है क्योंकि वह वात सिप्रा से परिचित है अतः नागरिक है, न कि अविदग्ध ग्राम्यप्राय है। प्रियतम भी रतान्त में अङ्गानुकूल होकर संवाहन आदि द्वारा प्रार्थनार्थ चाटुकार होकर इसी प्रकार सुरतग्लानि को हरण करता है। और क्जित अर्थात अस्वीकार केवचन आदि मधुर आवाज को बढ़ा देता है। और चाटु करने के अवसर में स्फुटित अर्थात् विकसित जो कमल की कान्ति धारण करने वाला वदन उसकी जो आमोद-मेत्री अर्थात् सहज सौरभ का परिचय उससे कषाय अर्थात् उपरक्त होता है। अङ्गों में अर्थात् चातुःषष्टिक प्रयोगों में अनुकूल होता है। इस प्रकार शब्द, स्म, गन्ध, स्पर्श जहां हु है और जहां पवन भी उस प्रकार नागरिक है वह देश तुम्हारे अवस्थ जाने योग्य है, भिषदूत' में मेघ के प्रति कामी की यह उक्ति है। उदाहरण में लक्षण को घटाते हैं—मेत्री पद—। ('हि' शब्द को बाद में पढ़ना चाहिए यह कह ही कुके हैं। अलङ्कारान्तर—। अर्थात् कम से उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति, स्थक, उपमा। इस प्रकार इतने से—

संसृष्टालंकारान्तरसंकीणों घ्वनिर्यथा— दन्तश्वतानि करजैश्र विपाटितानि प्रोद्भिन्नसान्द्रपुलके भवतः श्ररीरे।

संसृष्ट अलंकारान्तर से संकीर्ण ध्वनि, जैसे— उत्पन्न सघन पुलक वाले आपके शरीर में रक्त के मन वाली (पन्न में अनुरक्त

लोचनम्

सगुणीभूतव्यङ्गचैः सालङ्कारैः सहप्रभेदैः स्बैः। सङ्करसंसृष्टिभ्याम्।

इत्येतदन्तं व्याख्यायोदाहरणानि च निरूप्य 'पुनरिप' इति यत्कारिका-भागे पदद्वयं तस्यार्थं प्रकाशयत्युदाहरणद्वारेणैव—संस्पृष्टेत्यादि । पुनःशब्दस्या-यमर्थः— न केवलं ध्वनेः स्वप्रभेदौर्गुणीभूतव्यङ्गचेन वा सङ्कीर्णानां संस्पृष्टानां च ध्वनीनां सङ्कीर्णत्वं संस्पृष्टत्वं च दुर्लक्षिमिति विस्पष्टोदाहरणं न भवतीत्यिभ-प्रायेणालङ्कारस्यालंकारेण संस्पृष्टस्य संकीर्णस्य वा ध्वनौ संकरसंसगौं प्रदर्शनीयौ।

तदस्मिन् भेदचतुष्टये प्रथमं भेद्मुदाहरति—दन्तज्ञतानीति । बोधिसत्त्वस्य स्विकशोरमक्षणप्रवृत्तां सिंहीं प्रति निजशरीरंवितीर्णयतः केनचिचादुकं क्रियते।

(वह ध्वनि) गुणीभूतव्यङ्गच के साथ, अलङ्कारों के साथ और अपने प्रभेदों के साथ संकर और संपृष्टि द्वारा।

यहां तक व्याख्यान करके और उदाहरणों को निरूपण करके 'फिर और भी' यह जो कारिकाभाग में दो पद हैं, उनका अयं उदाहरण के द्वारा ही प्रकाशित करते हैं— संस्ट इत्यादि। 'फिर' शब्द का यह अयं है—न केवल ध्विन के अपने प्रभेद आदि के साथ संसृष्टि और सङ्कर विविध्यत हैं, बिल्क उनका परस्पर भी अपने प्रभेदों का अपने प्रभेदों के अथवा गुणीभूत व्यङ्गय से सङ्कीणं और संसृष्ट ध्विनयों का सङ्कीणंत्व और संसृष्टत्व दुलंक्ष है इस प्रकार स्पष्ट उदाहरण नहीं होता, इस अभिप्राय से अलङ्कार का अलङ्कार से संसृष्ट के अथवा सङ्कीणं की ध्विन में सङ्कर और संसर्ग विद्यान चाहिए।

तो इन चारो भेदों में से प्रथम भेद को उदाहृत करते हैं—उत्पन्न सचन—।
वपने बच्चे को खाने में प्रवृत्त सिंही अपने शरीर देनेवाले बोधिसस्य का किसी ने चादु

दत्तानि रक्तमनसा मृगराजवध्वा जातस्पृद्वैर्धुनिभिरप्यवलोकितानि ॥

अत्र हि समासोक्तिसंसृष्टेन विरोधालंकारेण संकीर्णस्यालक्ष्य-क्रमन्यङ्गचस्य ध्वनेः प्रकाशनम् । .दयावीरस्य परमार्थतो वाक्यार्थी-भूतत्वात् ।

मनवाली) सृगराजवधू (सिंहनी, पत्त में राजवधू) द्वारा दिए गए दन्तज्ञतों और नर्खों द्वारा विदारणों को उत्पन्न स्पृहा वाले मुनियों ने भी देखा।

यहाँ समासोक्ति से संसृष्ट (जो) विरोधालङ्कार (उसके) द्वारा संकीर्ण अलक्ष्यक्रमन्यङ्गय ध्वनि का प्रकाशन है। क्योंकि परमार्थ रूप से द्यावीर वाक्यार्थीमूत है।

लोचनम्

प्रोद्भृतः सान्द्रः पुलकः परार्थसम्पत्तिजेनानन्द्भरेण यत्र । रक्ते रुधिरे मनोऽनिलाषो यस्याः, अनुरक्तं च मनो यस्याः । मुनयश्चोद्वोधितमद्नावेशाश्चेति विरोधः । जातस्पृहेरिति च वयमपि कदाचिदेवं काश्वणिकपदवीमधिरोद्त्याम् स्तदा सत्यतो मुनयो भविष्याम इति मनोराज्ययुक्तः । समासोक्तिश्च नायिका- वृत्तान्तप्रतीतेः । दयावीरस्येति । द्याप्रयुक्तत्वादत्र भर्मस्य धर्मवीर एव द्यावीर- शब्देनोक्तः । वीरश्चात्र रसः, उत्साहस्यैव स्थान्यत्वादिति भावः । दयावीरशः बदेन वा शान्तं व्यपदिशति । सोऽत्र रसः संसृष्टालङ्कारेणानुगृह्यते । समासोक्तिमहिन्ना ह्ययमर्थः सम्पद्यते—यथा कश्चिन्मनोर्थशतप्रार्थितप्रेयसीसम्भोगा-

किया है। उत्पन्न सघन पुलक परार्थ सम्पत्ति से उत्पन्न आनन्दभर से है जहाँ। क्त अर्थात् रुधिर में मन अर्थात् अमिलाय है जिसका, अनुरक्त है मन जिसका। मुनि हैं और उद्बोधित मदन के आवेश वाले हैं यह विरोध है। उत्पन्न स्पृहा वाले कि हम भी कदाचित् इस प्रकार कार्यणिक की पदवी पर पहुँच जांय तब सत्यरूप से मुनि हो जायेंगे इस प्रकार के मनोराज्य से युक्त। नायिका ब्रुत्तान्त के प्रतीत होने से समासीकि है। दयावीर—। घम का यहाँ दयाप्रयुक्त होने के कारण घमंवीर ही दयावीर शब्द से कहा गया है। माव यह कि यहां वीररस है. क्योंकि उत्साह ही स्थायी भाव है। अथवा 'दयावीर' शब्द से 'शान्त' को व्यपदेश करते हैं। वह रस यहाँ संस्ट अल्डार हारा अनुगृहीत होता है। समासोक्ति की महिमा से यह अर्थ सम्पन्न होता है—जैसे कोई सैकड़ों मनोरय से प्राप्त प्रियतमा के सम्भोग के अवसर में रोमाझित हो जाता है

संसृष्टालङ्कारसंसृष्टत्वं च घ्वनेर्यथा— अहिणअपओअरसिएसु पहिअसामाइएसु दिअहेसु ।

सोहइ पसारिअगिआणं णिचअं मोरवन्दाणम् ॥

संस्ष्ट अलङ्कारों से ध्वनि का संस्रष्टस्व, जैसे-

नये बादलों के गर्जन से भरे तथा पथिकों के प्रति श्यामायित दिनों में गर्दन पसारे हुए मोरों का नाच अच्छा लगता है।

लोचनम्

वसरे जातपुलकस्तथा त्वं परार्थसम्पादनाय स्वशरीरदान इति करुणातिशयोऽ-नुमावसम्पदोद्दीपितः।

द्वितीयं भेदमुदाहरति—संसृष्टेति । अभिनवं हृद्यं पयोदानां मेघानां रसितं येषु दिवसेषु । तथा पथिकान् प्रति श्यामायितेषु मोहजनकत्वाद्रात्रिरूपतामा-चितवत्मु । यदि वा पथिकानां श्यामायितं दुःखवशेन श्यामिका यभ्यः । शोमते प्रसारितप्रीवाणां सयूरवृन्दानां नृत्तम् । अभिनयप्रयोगरसिकेषु पथिक-सामाजिकेषु सत्सु मयूरवृन्दानां प्रसारितगीतानां प्रकृष्टसारणानुसारिगीतानां तथा प्रीवारेचकाय प्रसारितप्रीवाणां नृत्तं शोभते । पथिकान् प्रति श्यामा इवा-चरन्तीति क्यच् । प्रत्ययेन तुप्तोपमा निर्दिष्टा । पथिकसामाजिकेष्विति कर्म-धारयस्य स्पष्टत्वाद्रपक्रम् । ताभ्यां ध्वनेः संसर्ग इति प्रन्थकारस्याशयः । अत्रैवोदाहर्गोऽन्यद् भेदद्वयमुदाहर्तुं शक्यमित्याशयेनोदाहरणान्तरं न दत्तम् ।

वैसे ही तू परार्थसम्पादन के लिए अपने शरीर के दान में, इस प्रकार अतिशय करणा को अनुभाव और विभाव की सम्पदा से उद्दीप्त किया है।

द्वितीय भेद को उदाहृत करते हैं—संसृष्ट— । अभिनव अर्थात् हुद्य पयोद अर्थात् मेघों का रिसत है जिन दिनों में, तथा पिथकों के प्रति क्यामायित अर्थात् मोहजनक होने के कारण रात्रिरूपता को आचरण करते हुए, अथवा पिथक जनों की दुःख के कारण क्यामिका पड़ गई है जिनके कारण (ऐसे दिनों में) गर्दन पसारे हुए मोरों का नाच शोभा देता है। अभिनय के प्रयोगों में रिसक पिथक रूप सामाजिकों के होने पर असारितगीत अर्थात् प्रकृष्ट सारण के अनुसारी गीत वाले तथा ग्रीवारेचक के लिए फैला दी हुई ग्रीवा वाले मोरों का नृत्त शोभा देता है। पिथकों के प्रति क्यामा की भाँति आचरण करने वाले यहाँ क्यच् प्रत्यय है। (क्यच्) प्रत्यय से छुप्तोपमा निर्देश की गई है। 'पिथक सामाजिक' यहाँ कर्मधारय के स्पष्ट होने से रूपक है। उनसे घ्विन का संसर्ग है यह ग्रन्थकार का आशय है। इसी उदाहरण में अन्य दो भेद उदाहृत हो सकते हैं, इस आशय से अन्य उदाहरण नहीं दिया है। जैसा कि—क्यामादि से

अत्र ह्युपमारूपकाभ्यां शब्दशक्त्युद्भवातुरणनरूपव्यङ्गयस्य घ्वतेः संसृष्टत्वम् ।

एवं ध्वनेः प्रभेदाः प्रभेदभेदाश्च केन शक्यन्ते । संख्यातुं दिङ्मात्रं तेषामिदसुक्तमस्माभिः ॥ ४४ ॥ अनन्ता हि ध्वनेः प्रकाराः सहृदयानां व्युत्पत्तये तेषां दिश्चात्रं कथितम् ।

यहाँ उपमा . और रूपक के शब्दशक्ययुद्भव अनुरणन रूपव्यक्त्य ध्विन की संस्थिट है।

इस प्रकार ध्विन के प्रभेदों और प्रभेदों के भेदों की गणना कौन कर सकता है, उनका यह हमने दिख्मात्र कहा है ॥ ४४ ॥

व्वित के अनन्त प्रकार हैं, सहदयों की ब्युरपित के लिये उन्हें दिङ्मात्र कहा है।

लोचनम्

तथाहि च्याघादेराकृतिगणत्वे पथिकसामाजिकेष्वित्युपमारूपकाभ्यां सन्दे हास्पदत्वेन सङ्कीणभ्यामभिनयप्रयोगे, अभिनवप्रयोगे च रसिकेष्विति प्रसारितगीतानामिति यः शब्दशक्त्युद्भवस्तस्य संसर्गमात्रमनुप्राह्य-त्वाभावात् । 'पहिअसामाइएसु' इत्यत्र तु पदे सङ्कीणभ्यां ताभ्यामुप-मारूपकाभ्यां शब्दशक्तिमूलस्य ध्वनेः सङ्कीर्णत्वमेकव्यञ्जकानुप्रवेशादिति सङ्कीर्णालङ्कारसंसृष्टः । सङ्कीर्णालङ्कारसङ्कीर्णश्चेत्यपि भेदद्वयं मन्तव्यम् ॥ ४३॥

एतदुपसंहरति—एविमिति । स्पष्टम् ॥ ४४ ॥ अथ 'सहृदयमनःश्रीतये' इति यत्सूचितं तदिदानीं न शब्दमात्रमि तु

बाकृतिगण होने पर 'पथिक सामाजिक' यहाँ सन्देहांस्पद होने के कारण कन्द्वीएँ उपना बौर रूपक से 'अभिनव प्रयोगों में रिसक' 'प्रसारित गीतोंबाले' इस प्रकार जो शब्द सन्देश्चर है उसका संसर्ग मात्र है क्योंकि अनुप्राह्मता नहीं है। 'पहिअसामाइएसुं इस पद में सन्द्वीणं उन उपमा और रूपक से शब्दशक्तिमूल ध्वनि का सन्द्वर एकव्यक्षित नुप्रवेश से है इस प्रकार सन्द्वीणं छन्द्वार संसृष्ट, और सन्द्वीणं से सन्द्वीणं है, इस प्रकार इन दोनों मेर्दों को भी मानना नाहिए।। ४३।।

इसका उपसंहार करते हैं—इस प्रकार—। स्पष्ट है।। ४४।।
'सहदयों के मन को प्रसन्न करने के लिए' यह जो सूचित किया है वह अब

इत्युक्तलक्षणो यो ध्वनिर्विवेच्यः प्रयक्षतः सद्भिः। सत्काव्यं कर्तुं वा ज्ञातुं वा सम्यगभियुक्तैः॥ ४५॥ उक्तस्वरूपध्वनिनिरूपणनिपुणा हि सत्कवयः सहृदयाश्च नियतमेव काव्यविषये परां प्रकर्षपद्वीमासादयन्ति।

अस्फुटस्फुरितं काव्यतत्त्वमेतचथोदितम् । अद्युक्तुवद्भिव्योकर्तुं रोतयः सम्प्रवर्तिताः ॥ ४६॥

एतद्घ्वनिप्रवर्तनेन निर्णीतं काव्यतत्त्वमस्फुटस्फुरितं सद्रशक्तु-वद्भिः प्रतिपादयितुं वैदर्भी गौडी पाश्वाली चेति रीतयः प्रवर्तिताः। रीतिलक्षणविधायिनां हि काव्यतत्त्वमेतदस्फुटतया मनाक्स्फुरितमासी-

सत्काव्य को करने अथवा समझने के छिए अभियुक्त सजानों को इस प्रकार उक्त छत्तण वाछी जो ध्वनि है उसे प्रयत्न करके विवेचन करना चाहिए॥ ४५॥

उक्त स्वरूप ध्विन के निरूपण में निपुण सत्कवि और सहृदय निश्चय ही कान्य के विषय में अत्यन्त प्रकर्ष पदवी को प्राप्त कर जाते हैं।

यह अस्फुटस्फुरित कान्धतत्त्व जैसे कहा गया है उसे न्याकृत करने में असमर्थ हुए छोगों ने रीतियाँ प्रवर्तित की हैं॥ ४६॥

इस ध्वनिप्रवर्तन से निर्णीत कान्यतस्य को अस्फुटस्फुरित की स्थिति में प्रतिपादन करने में असमर्थ होते हुए (छोगों ने) वैदर्भी, गौणी और पाझाछी इन रीतियों को प्रवर्तित किया है। रीति का छचण विधान करने वाछों के यह कान्यतस्व

लोचनम्

निव्यूढिमित्याशयेनाह — इत्युक्तेति । यः प्रयत्नतो विवेच्यः अस्माभिश्चोक्तक्षणो ध्वनिरेतदेव काव्यतत्त्वं यथोदितेन प्रपञ्चनिरूपणादिना व्याकर्तुमशक्तुवद्भिर-लङ्कारैः रीतयः प्रवर्तिता इत्युत्तरकारिकया सम्बन्धः । अन्ये तु यच्छव्दस्थाने अयं' इति पठन्ति । प्रकर्षपद्वीमिति । निर्माणे बोधे चेति भावः । ब्याकर्तुम-

शब्दमात्र नहीं, अपितु निर्वाह किया गया है इस आशय से कहते हैं—सस्काब्य—। जो प्रयत्न से विवेचनीय और हमारे द्वारा उक्तस्वरूप ध्विन है इसी काव्यतत्त्व को यथोदित प्रपञ्च निरूपण आदि द्वारा व्याख्या करने में असमर्थ अलङ्कारों ने (?) (आलङ्कारिकों ने) रीतियों को चलाया है। अन्य लोग 'जो' के स्थान पर 'यह' पाठ करते हैं। प्रकर्षपद्वी—। भाव यह कि निर्माण और बोध में। व्याख्या करने में

दिति लक्ष्यते तदत्र स्फुटतया सम्प्रदर्शितेनान्येन रीतिलक्षणेन न किश्चित्।

शब्दतत्त्वाश्रयाः काश्चिदर्थतत्त्वयुजोऽपराः।
वृत्तयोऽपि प्रकाशन्ते ज्ञातेऽस्मिन् काव्यलक्षणे॥ ४७॥
अस्मिन् व्यङ्गयव्यञ्जकभावविवेचनमये काव्यलक्षणे ज्ञाते सति
याः काश्चित्प्रसिद्धा उपनागरिकाद्याः शब्दतत्त्वाश्चया वृत्तयो याश्चार्थतत्त्वसम्बद्धाः कैशिक्यादयस्ताः सम्यग्रीतिपदवीमवतरन्ति। अन्यथा
तु तासामदृष्टार्थीनामिव वृत्तीनामश्चद्धेयत्वमेव स्यान्नानुभवसिद्धत्त्वम्।
अस्फुटरूप से स्कृरित हो जुका था ऐसा प्रतीत होता है। तो यह स्पष्टरूप से
अद्धित अन्य रीति के छक्नण से कुछ नहीं।

इस कान्यलचण के ज्ञात होने पर कुछ शब्दतस्व के आश्रित और दूसरी अर्थतस्व के साथ योग वाली वृत्तियाँ प्रकाशित होती हैं॥ ४७॥

इस व्यक्त्यस्यक्षकभाव के विवेचनमय काव्यलचण के ज्ञात होने पर जो कुछ प्रसिद्ध उपनागरिका आदि शब्दतस्व के आश्रित वृत्तियां हैं और जो अर्थतस्व से सम्बद्ध कैशिको आदि हैं वे सम्यक् प्रकार से रीति की स्थिति में आ जाती हैं। अन्यया अदृष्ट अर्थों के समान ही वृत्तियां अश्रद्धय ही हो जायंगी अनुभवसिद्ध नहीं। इस

लोचनम्

शक्तुद्भिरित्यत्र हेतुः—अस्फुटं कृत्वा स्फुरितमिति । लद्द्यत इति । रीतिर्हि गुणेष्वेव पर्यवसिता । यदाह्—विशेषो गुणात्मा गुणाश्च रसपर्यवसायिन एवेति हुक्तं प्राग्गुणनिरूपणे 'शृङ्कार एव मधुरः' इत्यत्रेति ॥ ४४–४६ ॥

प्रकाशन्त इति । अनुभवसिद्धतां काव्यजीवितत्वे प्रयान्तीत्यर्थः । रीतिपदः वीपिति । तद्वदेव रसपर्यवसायित्वात् । प्रतीतिपद्वीमिति वा पाठः । नागरिकया

असमर्थं होते हुए यहाँ हेतु है—अस्फुट करके स्फुरित । प्रतीत होता है— । रीति गुणों में ही पर्यवसित है । क्योंकि कहते हैं—विशेष गुणरूप है, और गुणरस में पर्यवसायी ही होते हैं यह पहले गुण के निरूपण में कह चुके हैं 'श्रुङ्कार ही मधुर होता है' यहाँ ॥ ४५-४६ ॥

प्रकाशित होते हैं—। अर्थात् काव्य के जीवित रूप में अनुभवसिद्ध हैं। रीति की स्थिति में—। क्योंकि उसी (रीति) के समान ही रस में पर्यवसान प्राप्त करते हैं। अथवा प्रतीति की पदवी (स्थिति) यह पाठ है। नागरिका से 'उपमिता' यह

एवं स्फुटतयैव लक्षणीयं स्वरूपमस्य घ्वनेः । यत्र शब्दानामशीनां च केषाश्चित्प्रतिपचित्रोषसंवेद्यं जात्यत्विमित्र रह्मविशेषाणां चारुत्वमना- ख्येयमवभासते काव्ये तत्र घ्वनिव्यवहार इति यल्लक्षणं घ्वनेरुच्यते प्रकार स्फुटरूप से ही इस ध्वनि का स्वरूप समझ छेना चाहिये। जिसमें कुछ शब्दों और अर्थों का रानविशेषों के जात्याव की भांति विशेष प्रतिपत्ता (जानकार) द्वारा संवेध चारुत्व अनाख्येयरूप से प्रतीत होता है उस काव्य में ध्वनि का व्यवहार है'

लोचनम्

ह्युपिमतेत्यनुप्रासवृत्तिः शृङ्गारादौ विश्राम्यति । परुषेति दीप्तेषु रौद्रादिषु । कोम-तेति हास्यादौ । तथा—'वृत्तयः काव्यमातृकाः' इति यदुक्तं मुनिना तत्र रसो-चित एत्र चेष्टाविशेषो वृत्तिः । यदाह्—

'कैशिकी ऋरणनेपध्या शृंगाररससम्भवा' इत्यादि।

इयता 'तस्याभावं जगदुरपरे' इत्यादावभावविकल्पेषु 'वृत्तयो रीतयश्च गताः श्रवणगोचरं, तद्तिरिक्तः कोऽयं ध्वनिरि'ति । तत्र कथञ्चिद्दश्युपगमः कृतः कथञ्चिच दूषणं दत्तमस्फुटस्फुरितिमिति वचनेन । इदानीं 'वाचां स्थितमिवषये' इति यदू चे तत्तु प्रथमोद्दश्चोते दूषितमित दूषयित सर्वप्रपञ्चकथने हि असम्भान्यमेवानाख्येयत्विमत्यभिप्रायेण । श्रक्षिष्टत्व इति । श्रुतिकष्टाद्यभाव इत्यर्थः । अप्रयुक्तस्य प्रयोग इत्यपीनक्षक्त्यम् । ताविति शब्दगतोऽर्थगतश्च । विवेकस्यान्यसादो यत्र तस्य भावो निर्विवेकत्वम् । सामान्यस्पर्शी यो विकल्पस्ततो यः शब्दः दृष्टान्तेऽपि अनाख्येयत्वं नास्तीति दर्शयित—रत्नावशेषाणां चेति । ननु

अनुप्रासवृत्ति शृंङ्गार आदि में विश्वान्त होती है। 'परुषा' दीप्त रौद्र आदि में। कोमला हास्य आदि में। तथा—'वृत्तियां काव्य की माताएं हैं' यह जो कि मुनि ने कहा है उसमें रसोचित ही चेष्टा विशेष वृत्ति है। क्योंकि कहते हैं—'रल्क्णनेपथ्यवाली कैशिकी शृङ्गाररस में सम्भव होती है' इत्यादि। 'कुछ लोगों ने उसका अभाव कहा है' इत्यादि अमाविकरूपों में 'वृत्तियां और रीतियां श्रवणगोचर हुई हैं उससे अतिरिक्त यह ब्वित कौन है ?' वहां कुछ स्वीकार किया है और 'अस्फुट करके स्फुरित' इस वचन से किसी प्रकार दोष दिया है। अव 'वाणी के अविषय में स्थित' जो कहा है वह प्रथम उद्योत में द्रिवत है तब भी दूषित करते हैं, सारे प्रपञ्च के कहे जाने पर अनाख्ययत्व असम्भाव्य ही है इस अभिप्राय से। अक्छिष्ट—। अर्थात् श्रुतिकष्ट आदि का अभाव होने पर। 'अप्रयुक्त का प्रयोग' यह पौनरुक्त्य नहीं है। वे दोनों—। शब्दगत और अर्थगत। विवेक का अभाव (अवसाद) है जहां उसका भाव निविवेकत्व। सामान्य का स्पर्ध करने वाला जो विकल्प उससे जो शब्द। दृष्टान्त में भी अनाख्येयत्व नहीं है यह दिखाते हैं—और रखविशेपों का—। सब उसे नहीं जानेंगे यह आशक्का करके

केनचित्तदयुक्तमिति नाभिधेयताम्हति । यतः शब्दानां स्वरूपाश्रय-स्तावदक्षिष्टत्वे सत्यप्रयुक्तप्रयोगः । वाचकाश्रयस्तु प्रसादो व्यञ्जकत्वं चेति विशेषः । अर्थानां च स्फुटत्वेनावभासनं व्यङ्गचपरत्वं व्यङ्गचांश-विशिष्टत्वं चेति विशेषः ।

तौ च विशेषी व्याख्यातुं शक्येते व्याख्यातौ च बहुप्रकारम्।
तद्मितिरिक्तानाख्येयविशेषसम्भावना तु विवेकावसादभावमुळेव। यस्मादनाख्येयत्वं सर्वशब्दागोचरत्वेन न कस्यचित्सम्भवति। अन्ततोऽनाख्येयशब्देन तस्याभिधानसम्भवात्। सामान्यसंस्पर्शिविकल्पशब्दागोचरत्वे सित, प्रकाशमानत्वं तु यदनाख्येयत्वमुच्यते क्रचित्
तदिप काव्यविशेषाणां रत्नविशेषाणामिव न सम्भवति। तेषां
सक्षणकारैव्यिकृतस्पत्वात्। रत्नविशेषाणां च सामान्यसम्भावनयैव
मृल्यस्थितिपरिकल्पनादर्शनाच। उभयेषामिप तेषां प्रतिपच्चिशेषसंवेयह जो ध्वनि का छक्षण कोई कहता है वह ठीक नहीं, अतः कहा नहीं जा सकता।
क्योंकि शब्दों का स्वस्प के आश्रित (विशेष) अनिल्छ होने पर अप्रयुक्त का प्रयोग
और वाचक के आश्रित (विशेष) प्रसाद और व्यक्षकत्व है। और अर्थों का विशेष
स्पुटस्प से अवभासन, व्यक्ष्यपरत्व और व्यक्षय संश से विशिष्टवं है।

वे दोनों विशेष व्याख्यात हो सकते हैं और बहुत प्रकार से व्याख्यात हुए हैं।
उनसे व्यतिरिक्त अनाख्येय विशेष की सम्भावना का तो विवेक का अभाव ही कारण
है। न्यींकि सभी शब्दों के अगोचर रूप से अनाख्येयत्व किसी का सम्भव नहीं है,
अन्ततः अनाख्येय शब्द से उसका अभिधान सम्भव है। सामान्य का स्पर्श करनेवाला
विकल्प शब्द का गोचर न होकर जो प्रकाशमान है वह अनाख्येय है जो कहीं पर
यह कहा है वह भी रत्नविशेषों की भाँति काव्यविशेषों का सम्भव नहीं है। क्योंकि
उनके रूप की उच्चणकारों ने व्याख्या की है। और रत्नविशेषों के सामान्य की
सम्भावना से ही मृत्य की स्थिति की कल्पना देखी जाती है। उन दोनों का भी

लोचनम्

सर्वेण तम्र संवेद्यत इत्याशङ्कराभ्युपगमेनैवोत्तरयति — उभयेषामिति । रत्नानां काव्यानां च।

नतु नार्थं शब्दाः स्पृशन्त्यपीति, अनिर्देश्यस्य वेदकिमत्यादौ कथमनार्थं अस्युगम से ही उत्तर देते हैं—उन दोनों का—। रंत्नों का और काव्यों का। 'अर्थं को शब्द स्पर्श भी नहीं करते' 'अनिर्देश्य का ज्ञापक (वेदक)' इत्यादि में

द्यत्वमस्त्येव । वैकटिका एव हि रत्नतत्त्वविदः, सहृद्या एव हि कान्यानां रसज्ञा इति कस्यात्र विप्रतिपत्तिः।

यत्त्वनिर्देश्यत्वं सर्वलक्षणिवषयं बौद्धानां प्रसिद्धं तत्तनमतपरीक्षायां ग्रन्थान्तरे निरूपियष्यामः । इह तु ग्रन्थान्तरश्रवणलवप्रकाशनं सहृदय-वैमनस्यप्रदायीति न प्रक्रियते । बौद्धमतेन वा यथा प्रत्यक्षादिलक्षणं तथास्माकं व्वनिलक्षणं भविष्यति । तस्माल्लक्षणान्तरस्याघटंनादशब्दा-र्थत्वाच तस्योक्तमेव ध्वनिलक्षणं साधीयः । तदिद्युक्तम्—
प्रतिपत्ता विशेष द्वारा संवेद्यत्व है ही । वैकटिक लोग ही रत्न के तत्त्व के जानकार होते हैं और सहदय लोग ही काव्यों के रसज्ञ होते हैं । यहाँ कौन सन्देह करता है ?

जो कि बौद्धों का सभी छत्तणों के सम्बन्ध में 'अनिर्देश्यत्व' अछत्तणीयत्व प्रसिद्ध है उसे उनके मत की परीचा के अवसर में प्रन्थान्तर में निरूपण करेंगे। यहाँ प्रन्थान्तर के सुनने का छवमात्र भी प्रकाशन सहद्वयों के वैमनस्य प्रदान करनेवाछा होगा, इसिछए नहीं करते हैं। अथवा बौद्ध मत से जैसे प्रत्यच्च आदि का छच्चण है उस प्रकार हमारा ध्वनि का छच्चण होगा। इसिछए दूसरे छच्चण के न घटने से और अशब्दार्थ (ध्वनिशब्द का अर्थ न) होने से पूर्वोक्त छच्चण ही ठीक है। तो यह कहा है—

लोचनम्

यत्वं वस्तूनामुक्तमिति चेदत्राह—यत्विति । एवं हि सर्वभाववृत्तान्ततुल्य एवं घ्विनिरिति ध्विनस्वरूपमनाख्येयमित्यतिव्यापकं लक्षणं स्यादिति भावः । यन्थान्तर इति । विनिश्चयटीकायां धर्मोत्तर्यां या विवृत्तिरमुना प्रन्थकृता कृता तत्रैव तद्व्याख्यातम् । उक्तमिति । संप्रहार्थं मयैवेत्यर्थः । अनाख्येयांशस्या-भासो विद्यते यस्मिन् काव्ये तस्य भावस्तन्न लक्षणं ध्वनेरिति सम्बन्धः । अत्र वस्तुओं का बनाख्येयत्व कैसे कहा है ? ('यहां निर्णयसागरीय छोचन' में पाठ प्रष्ट है, किन्तु बालप्रिया में इसका सम्भावित संशोधन किया गया है) इस पर कहते हैं—

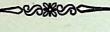
जो कि— । भाव यह कि सभी भाव पदायें के वृत्तान्त के तुल्य ही घ्वित है, इस लिए ध्वित स्वरूप अनाख्येय है, इस प्रकार लक्षण अतिव्यापक होगा। प्रम्थान्तर 'धर्मोत्तरी' नाम की 'विनिश्चय' ग्रन्थ की टीका में इस ग्रन्थकार ने जो विवृति की है वहीं पर उसे व्याख्यान किया है। कहा है—। अर्थात् मैं ने ही। अनाख्येय ग्रंश का आमास है जिस काव्य में उसभाव, वह ध्वित का लक्षण नहीं है यह सम्बन्ध है।

अनाल्येयांशभासित्वं निर्वाच्यार्थतया ध्वनेः। न लक्षणं, लक्षणं तु साधीयोऽस्य यथोदितस्।।

इति श्रीराजानकानन्दवर्धनाचार्यविरचिते ध्वन्यालोके तृतीय उद्योतः॥

ध्वित के निर्वादयार्थ होने के कारण अनाख्येय अंश का भासित होना छन्नण नहीं है, जैसा कि छन्नण कहा है (वह) ठीक है।

श्रीराजानक आनन्दवर्धानाचार्य विरचित ध्वन्याछोक में तीसरा उचात समाप्त।



, लोचनम्

हेतु:—निर्वाच्यार्थतयेति । निर्विभज्य वक्तुं शक्यत्वादित्यर्थः । अन्यस्तु 'निर्वाच्यार्थतया' इत्यत्र निस्तो नव्यर्थत्वं परिकल्प्यानाख्येयांशभासित्वेऽयं हेतुरिति व्याचष्टे, तत्तु क्लिष्टम् । हेतुस्र साध्याविशिष्ट इत्युक्तव्याख्यानमेवेति शिवम् ।

काव्यालोके प्रथां नीतान् ध्वनिभेदान् परामृह्यत् । इदानीं लोचनं लोकान् कृतार्थान्संविधास्यति ॥ आसूत्रितानां भेदानां स्फुटतापत्तिदायिनीम् । त्रिलोचनप्रियां वन्दे मध्यमां परमेखरीम् ॥

इति श्रीमहामाद्देश्वराचार्यवर्याभिनवगुप्तोन्मीलिते सहृदयालोक-लोचने ध्वनिसङ्केते तृतीय खद्चोतः ॥



यहाँ हेतु है—निर्वाच्यार्थ होने के कारण—। अर्थात् विभाग करके कहे जा सकते के कारण। किन्तु अन्य ने 'निर्वाच्यर्थत्या' में 'निर' को नवर्थ समझकर अनाख्येयांशमादी होने में यह हेतु है' यह व्याख्यान किया है, किन्तु वह क्लिष्ट है। और हेतु साध्य से विशिष्ट है यह व्याख्यान उक्त है। शिवम्।

काष्यालोक में फैले हुए व्विनिभेदों का परामर्श करता हुआ यह लोचन लोगों की कृतार्थ करेगा।

आसूचित भेदों को स्फुटता प्राप्त कराने वाली त्रिलोचन (शिव) की प्रिया परमेश्वरी मध्यमा की बन्दना करता है।

श्री महामाहेश्वराचार्यवर्यं अभिनवगुप्त द्वारा उन्मीलित ध्वनिसङ्केत सह्दयालोकलोचन में तृतीय उद्योत समाप्त हुआ।

चतुर्थ उद्योतः

ध्वन्यालोकः

एवं ध्वनि सप्रपञ्चं विप्रतिपत्तिनिरासार्थं व्युत्पाद तद्व्युत्पादने प्रयोजनान्तरम्रच्यते—

ध्वनेर्यः सगुणीभूतव्यङ्गयस्याध्वा प्रदर्शितः। अनेनानन्त्यमायाति कवीनां प्रतिभागुणः॥१॥ य एष ध्वनेर्गुणीभूतव्यङ्गयस्य च मार्गः प्रकाशितस्तस्य फला-न्तरं कविप्रतिभानन्त्यम्।

इस प्रकार ध्विन का प्रपञ्ज विस्तार के साथ विरुद्ध राङ्का के निवारण के छिए ब्युरपादन करके उस (ध्विन) के ब्युरपादन में दूसरा प्रयोजन कहते हैं—

गुणीभूतच्यक्रथ के सहित ध्वनि का जो मार्ग दिखाया जा चुका है, इससे कवियों

का प्रतिभागुण अनन्त (अनेकानेक) हो जाता है ॥ १ ॥

जो यह ध्विन और गुणीभूतव्यङ्गय का मार्ग (पूर्व उद्योतों में) प्रकाशित किया है उसका दूसरा फल (प्रयोजन) किव की प्रतिमा का आनन्त्य है।

लोजनम्

ऋत्यपञ्चकनिर्वाहयोगेऽपि परमेश्वरः। नान्योपकरणापेक्षो यया तां नौमि शाङ्करीम्॥

ज्योतान्तरसङ्गतिं विरचयितुं वृत्तिकार आह्—एविमित । प्रयोजनान्तरमिति । यद्यपि 'सहृद्यमनः प्रीतय' इत्यनेन प्रयोजनं प्रागेवोक्तं, तृतीयोद्योतावधौ च सत्काव्यं कर्तुं वा ज्ञातुं वेति तदेवेषत्स्फुटीकृतं, तथापि स्फुटतरीकर्तुमिदानीं यत्रः । यतस्युस्ष्टकृपत्वेन विज्ञायते, अतोऽस्पष्टनिकृपितात्स्पष्टनिकृपणमन्यथैव प्रतिमातीति प्रयोजनान्तरमित्युक्तम् । अथवा पूर्वोक्तयोः प्रयोजनयोरन्तरं विशे-

मैं उस शाङ्करी (शङ्कर की माया शक्ति) को नमन करता हूँ जिसके कारण परमेश्वर (सृष्टि आदि) पाँच प्रकार के कार्यों को पूरा करने में भी दूसरे उपकरण की अपेक्षा नहीं रखते।

अन्य उद्योत की सङ्गित बैठाने के लिए वृत्तिकार कहते हैं—इस प्रकार—। दूसरा प्रयोजन— । यद्यपि 'सहृदयमनःप्रीयते' इसके द्वारा प्रयोजन पहले ही कहा वा चुका है, और तृतीय उद्योत के अन्त में 'सत्काव्यं कर्तुं ज्ञातुं वा' से उसे ही कुछ स्पुट किया है तथापि और अधिक स्पुट (स्पुटतर) करने के लिए अब यत्न हैं। विससे सुस्पष्ट रूप से जाना जाता है, अतः अस्पष्ट रूप से निरूपण किए गए (प्रयोजन से) स्पष्ट निरूपण अन्यथा ही मालूम पड़ता है, सो दूसरा प्रयोजन यह कहा। अथवा,

कथमिति चेत् — अतो ह्यन्यतमेनापि प्रकारेण विभूषिता। वाणी नवत्वमायाति पूर्वीर्थान्वयवत्यपि ॥ २॥

अतो ध्वनेरुक्तप्रमेदमध्यादन्यतमेनापि प्रकारेण विभूषिता सती

वह कैसे ? तो-

इसमें से एक भी प्रकार से विभूषित वाणी प्राचीन अर्थ के साथ सम्बन्ध रखती हुई भी नवत्व प्राप्त कर छेती है ॥ २ ॥

इस ध्वनि के कहे गए प्रभेदों के बीच से एक भी प्रकार से विभूषित होती हुई लोचनम्

षोऽभिधीयते; केन विशेषेण सत्काव्यकरणमस्य प्रयोजनं, केन च सत्काव्य-बोध इति विशेषो निरूप्यते । तत्र सत्काव्यकर्गो कथमस्य व्यापार इति पूर्व वक्तव्यं निष्पादितस्य ज्ञेयत्वादिति तदुच्यते—ध्वनेर्य इति ॥ १॥

न्नु ध्वनिभेदात् प्रतिभानामानन्त्यमिति व्यधिकरणमेतदित्यभिप्रायेणा-

शङ्कते-कथमितीति।

अत्रोत्तरम्—त्रातो हीति । आसतान्तावद् बहवः प्रकाराः, एकेनाप्येवं भव-

पहले कहे गए दोनों प्रयोजनों का अन्तर अर्थात् विशेष कहते हैं —िकिस विशेष से सत्काव्य का निर्माण इसका प्रयोजन है और किससे सत्काव्य बोघ (इसका प्रयोजन हैं!) इस प्रकार विशेष का निरूपण करते हैं। वहाँ सत्काव्य के निर्माण में कैसे इसका (व्युत्पादन का) व्यापार है ? यह पहले वक्तव्य है क्योंकि जो निष्पादित (व्युत्पादित) होता है वही ज्ञेय या ज्ञान का विषय होता है, अतः उसे कहते हैं - जो यह - ।

व्यक्ति के भेद से प्रतिभा का आनन्त्य, यह व्यधिकरण³ है, इस अभिप्राय से

आशङ्का करते हैं-कैसे-।

यहाँ उत्तर है—इसमें से—। हों बहुत से प्रकार (प्रमेद), एक (प्रकार या

१. प्रस्तुत शङ्का का तात्पर्य है कि ध्वनि का मेद काव्यनिष्ठ है और प्रतिमा का आनन्त काविनिष्ठ है, और जैसा कि कार्यकारणमाव का नियम है कि वह समानाधिकरण में होता है, यहाँ दोनों का अधिकरण समान नहीं है, ऐसी स्थिति में ध्वनि के भेद और प्रतिमा के आनन्त का कार्य-करण-मान कैसे बन सकता ? इसका समाधान यह है कि ध्वनि के मेद का इति प्रतिभा के आनन्त्य का कारण है, यह आचार्य का वक्तव्य है। इसी बात को दूसरे प्रकार है दितीय कारिका में कहा गया है। कवि ध्वनि के मेदों का ज्ञान करके अनन्त प्राचीन कवियों के वर्णित भी विषय के वर्णन में प्रतिमान प्राप्त करके अपनी वाणी में नवस्व उत्पन्न कर हता ध्वनि के ज्ञान का फल प्रतिमा का आनन्त्य है तो प्रतिमा के आनन्त्य का फल वाणी का नवत्व है।

वाणी पुरातनकविनिवद्धार्थसंस्पर्शवत्यपि नवत्वमायाति । तथाद्यविव-क्षितवाच्यस्य ध्वनेः प्रकारद्वयसमाश्रयणेन नवत्वं पूर्वार्थानुगमेऽपि यथा—

स्मितं किञ्चिन्सुग्धं तरलमधुरो दृष्टिविभवः

बाणी पुराने जमाने के किव द्वारा वांधे गए अर्थ का संस्पर्श रखती हुई भी नवस्व प्राप्त कर छेती है (नई वन जाती है)। जैसा कि अविविश्वत वाच्यध्वनि के दो प्रकारों के समाश्रयण से प्राचीन अर्थ का अनुगम (सम्बन्ध) होने पर भी नवस्व है, जैसे— 'कुछ स्मित सुग्ध (वन जाता है), आँखों का विभव (ऐश्वर्य) तरस्र एवं

लोचनम्

तीत्यिपशब्दार्थः । एतदुक्तं भवति चर्णनीयवस्तुनिष्ठः प्रज्ञाविशेषः प्रतिभानं, तत्र वर्णनीयस्य पारिमित्यादाद्यकविनैव स्पृष्टत्वात् सर्वस्य तद्विषयं प्रतिभानं तज्ञातीयमेव स्यात् । ततश्च काव्यमपि तज्ञातीयमेवित श्रष्ट इदानीं कवित्र-योगः, उक्तवैचित्र्यण तु त एवार्था निरवधयो भवन्तीति तद्विषयाणां प्रतिभान्तामानन्त्यमुपपन्नमिति । ननु प्रतिभानन्त्यस्य किं फलमिति निर्णेतुं वाणी नवत्वमायातीत्युक्तं, तेन वाणीनां काव्यवाक्यानां तावन्नवत्वमायाति । तच्च प्रतिभानन्त्ये सत्युपपद्यते, तच्चार्थानन्त्ये, तच्च ध्वनिप्रभेदादिति ।

तत्र प्रथममत्यन्ततिरस्कृतवाच्यान्वयमाह—स्मितमिति । मुग्धमधुरविभ-

प्रमेद) से भी इस प्रकार (प्रतिभा का आनन्त्य) हो जाता है, यह 'भी' ('अपि') शब्द का अर्थ है । बात यह हुई—वर्णनीय वस्तु में रहने वाला (किव का) प्रज्ञा-विशेष प्रतिभान (कहलाता है), वहां वर्णनीय (वस्तु) के परिमित होने से पूर्व के किव द्वारा हो स्पर्श कर लिए जाने के कारण सबका उस (वर्णनीय वस्तु) को विषय (करने वाला) प्रतिभान उसी जाति का ही होगा। और तब काव्य भी उसी जाति का ही (हो जायगा, ऐसी स्थिति में) इस समय किव का प्रयोग बेकार (प्रष्ट) है, किन्तु उक्त (ध्विन और गुणीभूतव्यक्ष्मच के) वैचित्र्य से वे ही वर्णनीय अर्थ अवधिरहित (अनन्त) हो जाते हैं, इस प्रकार त्रद्विषयक (वर्णनीय अर्थविषयक) प्रतिभानों का आनन्त्य बन जाता है। शक्का—प्रतिभा के आनन्त्य का क्या फल है ? इसका निर्णय करने के लिए 'वाणी नवत्व को प्राप्त करती है' यह कहा। उससे वाणियों अर्थात् काव्य वाक्यों का नवत्व आ जाता है। वह (वाणी का नवत्व) प्रतिभा के आनन्त्य होने पर ही बनता है, और वह (प्रतिभा का आनन्त्य) अर्थ (वर्णनीय वस्तु) के आनन्त्य होने पर (बनता है) और वह (अर्थ का आनन्त्य) क्वि के प्रभेद से (बनता है)।

वहाँ, पहले अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य (ध्वनि) का अन्वयं कहते हैं—इछ

परिस्पन्दो वाचामभिनवविलासोर्भिसरसः । गतानामारम्भः किसलयितलीलापरिमलः स्पृज्ञन्त्यास्तारुण्यं किमिव हि न रम्यं मृगद्द्यः ॥

इत्यस्य,

सविभ्रमस्मितोद्भेदा लोलाक्यः प्रस्वलद्भिरः।

मधुर (हो जाता है), बातों का लगातार (चल पड़ना) नये हान-मान की तरंगों से रसीला (बन जाता है), चालों शुरुआत किसलय वाली (किसलियत) लीला का पराग (बन जाता है), इस प्रकार तरुनाई को छूती (स्पर्श करती) हुई हिरन जैसी आँखों वाली का क्या नहीं चौचक (लगता है!)।

इसका,

विलास-सिहत मुस्कानों के उद्भेद वाली, चंचल आँखों वाली, लड़खड़ाती

लोचनम्

वसरसिकसलियतपरिमलस्पर्शनान्यत्यन्तितरस्कृतानि । तैरनाहृतसीन्द्रयस-वजनवाल्लभ्याक्षीणप्रसरत्वसन्तापप्रशमनतपंकत्वसीकुमार्यसार्वकालिकतत्संस्का-रानुवृत्तित्वयत्रामिलवणीयसङ्गतत्वानि ध्वन्यमानानि यानि, तैः स्मितादेः प्रसिद्धस्यार्थस्य स्थविरवेधीविद्दितधर्मव्यतिरेकेण धर्मान्तरपात्रता यावत् क्रियते, तावत्तदपूर्वमेव सम्पद्यत इति सर्वत्रेति मन्तव्यम् । अस्येति अपूर्वत्व-

मुस्कुराना-— । मुग्ध, मधुर, विभव (ऐश्वयं), रसीला (सरस), किसलियत, परिमल और स्पर्शन, ये अत्यन्तितरस्कृत (पूर्ण रूप से छोड़ दिए गए) हैं । उनसे, (क्रमशः) अनाहृत (न-आहृत अर्थात् अकृत्रिम, स्वाभाविक) सीन्दर्य, सब लोगों का प्रिय होना प्रसार या प्रभाव का क्षीण न होना, मन की आग ठंढी करना, तृप्त करना, मुलायमी, (लीला) के संस्कार को सब काल में (हमेशा) अनुवर्तन, यत्नपूर्वक अभिलवणीय (क्रमनीय—चाहने लायक) के साथ सङ्गत होना, जो ध्वनित हो रहे हैं, उन (ध्वन्यमान अर्थों) से स्मित आदि प्रसिद्ध अर्थ का बूढ़े ब्रह्मा (द्वारा) विहित धर्म के व्यतिरेक (त्याग) से (अकृत्रिम सीन्दर्य आदि) दूसरे धर्मों की पात्रता जब कर देते हैं तब वह (स्मित आदि) अपूर्व (नया) ही बन जाता है, यह सर्वत्र मानना चाहिए। इसका—'अपूर्वत्व आदि) अपूर्व (नया) ही बन जाता है, यह सर्वत्र मानना चाहिए। इसका—'अपूर्वत्व

१. प्रस्तुत प्रच में किन ने स्थित आदि के प्रसिद्ध अर्थ को उनके प्राकृतिक धर्मों के स्थान पर अपनी ओर से धर्मान्तर का आधान जो किया है उससे उनसे ने अपूर्व जैसे हो गए हैं। जैसा कि स्मित को मुग्ध कह कर स्वामाविक सौन्दर्य की, 'मधुर' शब्द से दृष्टि की सर्वजनप्रियता एवं अक्षोणप्रभावत्व आदि को व्यक्षित किया है। इस प्रकार व्यक्षनाओं के कारण प्रत्येक वस्तु में अपूर्वता या नवीनता का अनुभव होता है।

नितम्बालसगामिन्यः कामिन्यः कस्य न प्रियाः । इत्येवमादिषु क्लोकेषु सत्स्वपि तिरस्कृतवाच्यध्वनिसमाश्रयेणा-पूर्वत्वमेव प्रतिभासते । तथा—

यः प्रथमः प्रथमः स तु तथाहि हतहस्तिबहलपललाशी । श्वापदगणेषु सिंहः सिंहः केनाधरीक्रियते ॥ इत्यस्य,

> स्वतेजःक्रीतमहिमा केनान्येनातिशय्यते । महद्भिरिप मातङ्गैः सिंहः किमिभृयते ॥

आवाज वाली, नितम्ब (के भार से) अलसा कर चलने वाली कामिनियां किसे प्रिय नहीं हैं ?

इत्यादि रलोकों के (पहले से) होने पर भी तिरस्कृत वास्थध्विन के समाश्रयण से अपूर्वस्व (नवस्व) ही प्रतिभासित होता है। इसी प्रकार---

जो पहला है वह तो पहला है, जैसा कि मारे गए हाथी के पर्याप्त मांस को खाने वाला, जंगली जानवरों में सिंह किससे नीचा किया जाता है ? इसका,

अपने पराक्रम से खरीदा हुआ वड्ण्पन किस दूसरे द्वारा दवाया जाता है ? बड़े भी हाथियों से सिंह क्या अभिभूत होता है ?

लोचनम्

मेव भासत इति दूरेण सम्बन्धः। सर्वत्रैवास्य नवत्वमिति सङ्गतिः। द्वितीयः प्रथमशब्दोऽर्थान्तरेऽनपाकरणीयप्रधानत्वासाधारणत्वादिव्यंग्यधर्मान्तरे संकान्त स्वार्थं व्यनक्ति। एवं सिंहशब्दोऽपि वीरत्वानपेक्षत्वविस्मयनी-यत्वादौ व्यंग्यधर्मान्तरे सङ्क्रान्तं स्वार्थं ध्वनति।

(नवत्व) ही भासित होता है' यह दूसरे से सम्बन्ध (अन्वय) है। सब जगह ही इसका नवत्व (अपूर्वत्व) है, यह सङ्गित है। दूसरा 'पहला' शब्द (अन्वित न होने के कारण) दूसरे अर्थ में 'जिसकी प्रधानता निराकरण के योग्य नहीं है (अनपाकरणीय प्रधानत्व)' (और) असाधारणत्व आदि रूप व्यङ्गिय धर्मान्तर में सङ्कान्त अपने अर्थ (स्वार्थ) को व्यंजित करता है। इसी प्रकार—'सिंह' शब्द मी वीरत्व, अनपेक्षत्व (दूसरे की अपेक्षा न करना), विस्मयनीयत्व आदि व्यङ्गिय धर्मान्तर में सङ्कान्त अपने अर्थ (स्वार्थ) को ध्वनित करता है।

३६ ध्व०

इत्येवमादिषु श्लोकेषु सत्स्वप्यर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनिसमाश्र-येण नवत्वम् । विवक्षितान्यपरवाच्यस्याप्युक्तप्रकारसमाश्रयेण नवत्वं यथा—

निद्राकैतिवनः प्रियस्य वदने विन्यस्य वक्कं वधू-बोंधत्रासनिरुद्धचुम्बनरसाप्याभोगलोलं स्थिता । वैलक्ष्याद्विम्रुखीभवेदिति पुनस्तस्याप्यनारम्भिणः साकाङ्कप्रतिपत्ति नाम हृदयं यातं तु पारं रतेः ॥

इत्यादि रहोकों के होने पर भी (पूर्वोक्त रहोक में) अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य ध्वनि के समाश्रयण से नवत्व है। जैसे—

नींद की ढोंग करने वाले प्रिय के मुख पर (अपना) मुख रखकर नई-नौहर वधू (उसके) जग जाने के डर से चुम्बन की इच्छा रोक कर भी पूरी तरह देखने के कारण चंचल हो बैठी। लजा जाने से विमुख हो जायगी इससे फिर (अपनी ओर से) आरम्भ न करने वाले उस प्रिय का भी हृदय साकांच की स्थिति में पहुँच कर परम आनन्द (रित) की सीमा तक चला गया।

लोचनम्

एवं प्रथमस्य द्वौ भेदानुदाहृत्य द्वितीयस्याप्युदाहर्तुमासूत्रयति—विवित्ति तिति । निद्रायां कैतवी कृतकसुप्त इत्यर्थः । वदने विन्यस्य वक्त्रमिति । वदनस्पर्शः जमेव ताबिद्दव्यं सुखं त्यक्तुन्न पारयतीति । अतएव प्रियस्येति । वधूः नवोढा । बोधत्रासेन प्रियतमप्रबोधमयेन निरुद्धो हठात् प्रवर्तमानः प्रवर्तमानोऽपि कथः ख्रित्कथित्वन् क्षणमात्रन्धृतश्चुम्बनामिलाषो यया । अतएव आभोगेन पुनः पुनिद्राविचारनिर्वर्णनया विलोलं कृत्वा स्थिता, न तु सर्वथैव चुम्बनान्निव-

इस प्रकार प्रथम (अविविक्षतवाच्य व्विन) के दोनों भेदों को उदाहृत करके द्वितीय (विविक्षतान्यपरवाच्य व्विन) के (भेदों को) भी उदाहृत करने के लिए निर्देश करते हैं—विविद्यतान्यपरवाच्य— । नींद में ढोंगी अर्थात् बनावटी सोया हुआ । मुख पर मुख को रख कर— । मुख का स्पर्श करने से उत्पन्न दिव्य सुख को ही छोड़ नहीं पाता । अतएव प्रिय का । नई-नौहर (वधू) तुरन्त की व्याही हुई । जग जाने के डर से, प्रियतम के जग जाने के डर से निरुद्ध, हञ्पूर्वक प्रवर्तमान—प्रवर्तमान मी किसी-किसी प्रकार खण भर रोक रखा है चुम्बन के अभिलाव को जिसने । अतएव पूरी तरह देखने के कारण (आभोग से) बार-बार नींद को विचार करके देखने से, चंचल हो गई, न कि सब प्रकार से चुम्बन से निवृत्त हो सकती है, यह अर्थ है । ऐसी

इत्यादेः श्लोकस्य, शुन्यं वासग्रहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छने-र्निद्राव्याजग्रुपागतस्य सुचिरं निर्वण्यं पत्युर्गुखम् । विस्नव्धं परिचुम्व्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता वाला चिरं चुम्बिता ॥ इत्यादिषु श्लोकेषु सत्स्विप नवत्वम् । यथा वा—'तरङ्गम्भूभङ्गा' इत्यादिश्लोकस्य 'नानाभङ्गिभ्रमद्भूः' इत्यादिश्लोकापेश्वयान्यत्वम् ॥२॥ इत्यादिश्लोक का,

सूने शयनक च को देख, कुछ धीरे पर्लग से उठ कर, नींद की ढोंग किए हुए पति के मुख को देर तक निहार कर, विश्वास के साथ जोर से चुम्बन कर, (तरप्रधात) उत्पन्न रोमाञ्च वाली (पति की) गण्डस्थली को देख कर लजा से हुके मुख वाली बाला हंसते हुए प्रिय द्वारा देर तक चुम्बित हुई।

इत्यादि रहोकों के होते हुए भी नवत्व है। अथवा, जैसे—'तरक्रभूमङ्गा०'— इत्यादि रहोक का 'नानाभक्तिभ्रमद्भू०'—इत्यादि रहोक की अपेचा अन्यत्व (नवत्व) है।

लोचनम्

र्तितुं शक्नोतीत्यर्थः । एवंभूतैषा यदि मया परिचुम्ब्यते, तद्विलक्षा विमुखीमवे-दिति तस्यापि प्रियस्य परिचुम्बनविषये निरारम्भस्य । हृद्यं साकां सप्रतिपत्ति नामेति । साकांक्षा सामिलाषा प्रतिपत्तिः स्थितिर्यस्य तादृशं रुद्रहिकाकद्-र्थितं न तु मनोरथसम्पत्तिचरितार्थं, किन्तु रतेः परस्परंजीवितसर्वस्वामिमान रूपायाः परिनिर्वृतेः केन चिद्द्यनुभवेनालब्धावगाहनायाः पारङ्गतमिति परि-पूर्णीभृत एव शृङ्गारः । द्वितीयस्रोके तु परिचुम्बनं सम्पन्नं लज्जा स्वराब्देनोका । तेनापि सा परिचुन्बितित यद्यपि पोषित एव शृङ्गारः, तथापि प्रथमस्रोके हुई यह यदि मेरे द्वारा चूमी जाती है लजा कर (मुझसे) विमुख हो जायगी, इस प्रकार वह प्रिय भी परिचुम्बन के विषय में आरम्भशून्य है। हृदय साकांच की स्थिति वाळा—। आकांक्षा, अभिलाष से सहित है प्रतिपत्ति अर्थात् स्थिति जिसकी, उस प्रकार का (हृदय) उत्सुकता से पीड़ित, न कि मनोरय की सम्पत्ति से चरितायं; किन्तु रित के अर्थात् परस्पर जीवन के सर्वस्त्र होने के अभिमान रूप परम निर्वृति (आनन्द) के, जिसका किसी के द्वारा भी, अनुभव से अवगाहन न हुवा, पार पहुंच गया, इस प्रकार म्युङ्गार परिपूर्ण ही हो गया। परन्तु दूसरे क्लोक में परिचुम्बन कर लिया गया, लज्जा अपने (लज्जा) शब्द से कह दी गई है। 'उसके द्वारा बह परिवृत्वित हुई, इससे एत्रपि श्रुङ्गार पोषित ही हुआतथापि पहले स्लोक में एक-दूसरे के

युक्त्याऽनयानुसर्तव्यो रसादिर्बहुविस्तरः। सिथोऽप्यनन्ततां प्राप्तः काव्यमार्गो यदाश्रयात्॥३॥

बहुविस्तारोऽयं रसभावतदामासतत्प्रश्नमनलक्षणो मार्गो यथास्वं विभावानुभावप्रभेदकलनया यथोक्तं प्राक् । स सर्व एवानया युक्त्यानु-सर्तव्यः । यस्य रसादेराश्रयादयं कंाव्यमार्गः पुरातनैः कविभिः सहस्न-संख्यैरसंख्यैवी बहुप्रकारं क्षुण्णत्वान्मितोऽप्यनन्ततामेति । रसभावा-

इस युक्ति से बहुत विस्तार वाले रस आदि को अनुसरण करना चाहिए, जिसके आश्रय (आधार) से थोड़ा भी काव्य का मार्ग अनन्तता को प्राप्त है ॥ ३ ॥

जैसा कि पहले कह जुके हैं, यह रस, भाव, भावाभास, भावप्रशम रूप मार्ग, विभाव, अनुभाव के प्रभेदों की गणना से बहुत विस्तृत हो जाता है, वह सभी इस युक्ति से अनुसरण करने योग्य है। जिस रसादि के आश्रय से यह कान्य-मार्ग पुराने हजारों अथवा असंख्य कवियों द्वारा बहुत प्रकार से अभ्यस्त होने के कारण थोड़ा भी अनन्त बन जाता है। रस, भाव आदि का प्रत्येक विभाव, अनुभाव, न्यभिचारी का

लोचनम्

परस्पराभिलाषप्रसरिनरोधपरम्परापर्यवसानासम्भवेन या रतिकृत्ता, सोभयो-रप्येकस्वरूपचित्तवृत्त्यनुप्रवेशमाचक्षाणा रतिं सुतरां पोषयति ॥ २ ॥

एवं मौलं भेदचतुष्टयमुदाहृत्यालच्यक्रमभेदेष्वतिदेशमुखेन सर्वोपभेदविषय-निर्देशं करोति—युक्त्यानयेति । त्र्रानुसर्तव्य इति । उदाहर्तव्य इत्यर्थः । यथी-क्रमिति ।

अभिलाष-वेग के रुकने के क्रम में पर्यवसान न होने से जो रात कही गई है वह दोनों (प्रिय और प्रिया) की एक स्वरूप वाली चित्तवृत्ति की स्थिति (अनुप्रवेश) को स्पष्ट कहती हुई रति को पूर्ण रूप से पुष्ट करती है ।। २।।

इस प्रकार मूल के (आदि के) चार भेदों को उदाहृत करके अलच्यकम ध्वित के अतिदेश के प्रकार से समस्त उपभेदों के सम्बन्ध में निर्देश करते हैं—इस युक्ति से—। अर्जुसरण करना चाहिए—। अर्थात् उदाहृत कर लेना चाहिए। जैसा कि कहा है—।

१. प्रथम 'निद्राकैतविनः ' और द्वितीय 'शून्यं वासगृहं ' इन दोनों की परिस्थितियां प्रायः समान ही हैं, किन्तु प्रथम इलोक में नायक और नायिका दोनों अपने अभिलाष को किसी प्रकार रोक कर परस्पर जीवित सर्वस्व होने की भावना से समान चित्त वृत्ति का अनुमव कर रहे हैं, इस प्रकार यहां रित परिपोष प्राप्त करके यहाँ शृङ्कार की अवस्था तक पहुँच जाती है। द्वितीय खोक में यथि शृङ्कार पोषित है तथापि कब्जा के स्वश्चद से उक्त हो जाने के कारण कुछ शिथिलता अवस्थ आ गई है।

दीनां हि प्रत्येकं विभागानुभावव्यभिचारिसमाश्रयादपरिमितत्वम् ।
तेषां चैकैकप्रभेदापेक्षयापि तावज्ञगद्वृत्तमुपनिबध्यमानं सुकविभिस्तदिच्छावद्यादन्यथा स्थितमप्यन्यथैव विवर्तते । प्रतिपादितं चैतचित्रविचारावसरे । गाथा चात्र कृतैव महाकविना—

अतहद्विए त्रि तहसिष्ठिए व्य हिअअम्मि जा णिवेसेइ। अत्थिविसेसे सा जअइ विकडकइगोअरा वाणी॥ [अतथास्थितानिप तथासंस्थितानिव हृदये या निवेशयित।

पूर्ण रूप से आश्रय छेने के कारण आनन्त्य है। और उनके एक-एक प्रभेद की अपेचा से भी संसार का ज्यवहार उपनिवध्यमान होकर सुकवियों द्वारा उनकी इच्छावश दूसरे प्रकार से स्थित होकर भी दूसरे प्रकार का हो जाता है (माल्स होने छगता है) और इसे 'चिन्न' (काब्य) के विचार के प्रसंग में प्रतिपादन किया है। और, महाकवि ने यह गाथा भी कही है—

'महाकवि की वह वाणी सब से बढ़ कर है, जो उस प्रकार (रमणीय रूप में) लोचनम

तस्याङ्गानां प्रभेदा ये प्रभेदाः स्वगताश्च ये । तेषामानन्त्यमन्योन्यसम्बन्धपरिकल्पना ॥

इत्यत्र । प्रतिपादितं चैतदिति । चशब्दोऽपिशब्दार्थे भिन्नक्रमः । एतद्पि प्रतिपादितं 'भावानचेतनानिप चेतनवद्येतनानचेतनवदि'त्यत्र । त्रतथास्य-तानिप चिहस्तथासंस्थितानिवैति । इवशब्देन एकतरत्र विष्ठान्तियोगाभावादेव सुतरां विचित्ररूपानित्यर्थः । हृदय इति । प्रधानतमे समस्तभावकनकिकष्म् स्थान इत्यर्थः । निवैशयति यस्य यस्य हृदयमस्ति, तस्य तस्य अचलतया तत्र स्थापयतीत्यर्थः । अतएव ते प्रसिद्धार्थेभ्योऽन्य एवेत्यर्थविशेषास्सम्पद्यन्ते ।

उस (ध्विन) के जो प्रभेद हैं और स्वगत जो प्रभेद हैं उनका आनन्त्य परस्पर सम्बन्ध की परिकल्पना है।।

इसमें। और "प्रतिपादित किया है—। 'और' शब्द 'भी' शब्द के अर्थ में क्रम को भिन्न (करके पठनीय है)। इसे भी प्रतिपादन किया है—अचेतन भावों को भी चेतन की मांति, चेतन (भावों को) अचेतन की भाँति—इस स्थल में। इस प्रकार नहीं स्थित हुए भी बाहर उस प्रकार पूर्ण स्थित जैसे—। 'जैसे' शब्द से एक स्थान पर विश्राम के न मिलने के कारण ही पूर्णक्ष्पेण विचित्र रूप बाले—यह अर्थ है। इदय में—। प्रधानतम अर्थात् सम्पूर्ण भाव (वर्णनीय अर्थ) रूपी सोने की कसौटी रूप (ह्दय में)। निवेश कर देती है—अर्थात् जिस जिसका हृदय है, उस उसके अचल रूप से वहां स्थापित कर देती है। अतएव वे पदार्थ (अर्थविशेष) प्रसिद्ध अर्थों से

अर्थविशेषान् सा जयित विकटकविगोचरा वाणी ॥ इति छाया।]
तदित्थं रसमावाद्याश्रयेण काव्यार्थीनामानन्त्यं सुप्रतिपादितम्।
एतदेवोपपादयितुमुच्यते—

न भी स्थित पदार्थों को हृद्य में उस प्रकार (रमणीय रूप में) स्थित जैसे निवेश

तो इस प्रकार रस, भाव आदि के आश्रय से कान्यार्थों का आनन्त्य सुष्ठु प्रति-पादित हुआ। इसे ही उपपादन के लिए कहते हैं—

लोचनम्

हृद्यनिविष्टा एव च तथा भवन्ति नान्यथेत्यर्थः । सा जयित परिच्छिन्नश-किभ्यः प्रजापतिभ्योऽप्युत्कर्षेण वर्तते । तत्प्रसादादेव कविगोचरो वर्णनीयोऽर्थो विकटो निस्सीमा सम्पद्यते ॥ ३॥

प्रतिभानां वाणीनाञ्चानन्त्यं ध्वनिकृतिमिति यदनुद्धित्रमुक्तं, तदेव कारिक्या भङ्ग्या निरूपत इत्याह—उपपादिषितुमिति । उपपत्त्या निरूपितुमित्यर्थः । यद्यप्यर्थानन्त्यमात्रे हेतुवृत्तिकारेणोक्तः, तथापि कारिकाकारेण नोक्त इति भावः । यदि वा उच्यते संप्रहस्रोकोऽयिमिति भावः । अत एवास्य स्रोकस्य वृत्तिप्रन्थे व्याख्यानं न कृतम् ।

बन्य (भिन्न) ही हो जाते हैं। अर्थात् हृदय में निवेश पाकर ही उस प्रकार हो जाते हैं बन्यथा नहीं। सबसे बढ़ कर है--। सीमित (परिच्छिन्न) शक्ति वाले प्रजापितयों से भी बढ़ कर है। उसके प्रसाद से ही किब की दृष्टि में आया हुआ वर्णनीय अर्थ विकट अर्थात् सीमारहित हो जाता है।

प्रतिमाओं का और वाणियों का आनन्त्य ब्विन द्वारा होता है, यह जो अस्पष्ट कहा है उसे ही कारिका द्वारा ढंग (भङ्गी) से निरूपित करते हैं, यह कहते हैं— उपपादन करने लिए—। अर्थात् उपपत्ति द्वारा निरूपण करने के लिए। भाव यह कि यद्यपि अर्थ के आनन्त्य भें हेतु को वृत्तिकार ने कहा है तथापि कारिकाकार ने (इसे) नहीं कहा है। अथवा यदि कहते हैं तो सङ्ग्रह क्लोक यह है, यह भाव है। अतएव इस क्लोक का वृत्तिग्रन्थ में व्याख्यान नहीं किया है। ?

१ कारिकाओं में कारिकाकार ने ध्वनि के कारण प्रतिमा और किव की वाणी के आनन्त्य का निर्देश किया था, किन्तु अर्थ के आनन्त्य के सम्बन्ध में कारिकाकार का निर्देश नहीं है, इसे इितकार ने ३।३ कारिका के ज्याख्यान में कहा है। ऐसी स्थित में, आगे वाली कारिका ३।४ जब अर्थ के आनन्त्य के सम्बन्ध का निर्देश करती है तो यह बात संगत प्रतीत नहीं होती। पीछे की कारिकाओं में, जहाँ प्रतिमा और वाणी के आनन्त्य की प्रतिका की है वहीं अर्थ के आनन्त्य की प्रतिका करनी चाहिए थी। अतएव लोचनकार ने अपना अन्तिम मत यह दिया कि इष्टपूर्वां (३।४) यह वृत्तिकार का 'संग्रहस्थोक' है, इस बात को उपपन्न करने के लिए लोचनकार का यह

दृष्टपूर्वी अपि ह्यथीः काव्ये रसपरिग्रहात्। सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः॥ ४॥

तथा हि विवक्षितान्यपरवाच्यस्यैव शब्दशक्त्युद्भवानुरणन-रूपव्यङ्गचप्रकारसमाश्रयेण नवत्वम् । यथा—'धरणीधारणायाधुना त्वं श्लेषः' इत्यादेः ।

शेषो हिमगिरिस्त्वं च महान्तो गुरवः स्थिराः । यदलङ्कितमयीदाश्रलन्तीं विभ्रते भ्रुवम् ॥

इत्यादिषु सत्स्विप । तस्यैवार्थश्च स्युद्धवानुरणनरूपन्यङ्गयसमाश्र-येण नवत्वम् । यथा—'एत्रंवादिनि देवर्षौ' इत्यादि स्रोकस्य ।

पहले देखे हुए भी अर्थ कान्य में रस के परिग्रह से सब नवीन जैसे लगते हैं,

वसन्त-मास में जैसे वृत्तं॥ ४॥

जैसा कि विविच्चतान्यपरवाच्य ध्विन का, शब्द की शक्ति से उत्पन्न हुए अनुर-णन रूप व्यक्त्य के समाश्रयण से नवत्व है, जैसे—'पृथ्वी के घारण के छिए इस समय तम शेप हो' इत्यादि का,।

'शेप (शेप नाग), हिमालय और तुम (तीनों) महान् , भारी और स्थिर हो, जो कि नहीं लंधित है मर्यादा जिनकी (ऐसे तीनों) चलती हुई पृथ्वी को

धारण करते हैं।'

इत्यादि (श्लोकों के) होने पर भी। उस (विविधतान्यपरवाष्य) का ही अर्थ-शक्ति से उत्पन्न अनुरणन रूप न्यङ्गध के समाश्रयण से नवस्व है, जैसे—
'दैवर्षि के इस प्रकार कहने पर।' इत्यादि का।

लोचनम्

हष्टपूर्वा इति । बहिः प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणैः प्राक्तनैश्च कविमिरित्युभयथा
पहले से देखे गए—। बाहर प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से और प्राचीन कवियों द्वारा
इस उभय प्रकार से (अर्थ को) ले जाना चाहिए। काव्य मधुमास के स्थान पर है,

तर्क भी है कि इस इलोक का वृत्तिग्रन्थ में व्याख्यान नहीं है। इस इलोक को कारिका माना जाय या संग्रह इलोक, इसका निर्णय जब प्रमाणभूत आचार्य लोचनकार अभिनवगुप्त 'संग्रह इलोक' या संग्रह इलोक, इसका निर्णय जब प्रमाणभूत आचार्य लोचनकार अभिनवगुप्त 'संग्रह इलोक' के पक्ष में दे रहे हैं तब भी ध्वन्यालोक के पूर्व के अनेक संस्करणों में इस इलोक को कारिका के क्य में ही सम्पादनकर्ताओं ने छापा है! ऐसा करने का ताल्पर्य यही हो सकता है कि कारिका के क्य में यह इलोक बहुत प्राचीन काल से. अभिनवगुप्त के गुग से ही जब माना जाता है, तभी तो क्य में यह इलोक वहुत प्राचीन काल से. अभिनवगुप्त को गुग से ही जब माना जाता है, तभी तो क्य में यह इलोक' माना जाय यह अभिनवगुप्त का गुक्तिसंगत पक्ष विचारणीय होगा, अन्यथा इसे इसे 'संग्रह इलोक' स्वीकार कर लेने पर 'लोचन' के वक्तव्य के निर्मूल हो जाने की स्थित उत्पन्न होगी, 'संग्रह इलोक' स्वीकार कर लेने पर 'लोचन' के वक्तव्य के निर्मूल हो जाने की स्थित उत्पन्न होगी,

कृते वरकथालापे कुमार्यः पुलकोद्गमैः । स्चयन्ति स्पृहामन्तर्लेखयावनताननाः ॥

इत्यांदिषु सत्सु अर्थशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्गयस्य कवित्रौढो-क्तिनिर्मितश्ररीरत्वेन नवत्वम् । यथा—'सञ्जेइ सुरहिमासो' इत्यादेः।

सुरिमसमये प्रवृत्ते सहसा प्रादुर्भवन्ति रमणीयाः । रागवतामुत्कलिकाः सहैव सहकारकलिकाभिः ॥ इत्यादिषु सत्स्वप्यपूर्वत्वमेव ।

'वरके सम्बन्ध में बातचीत की जाने पर रोमाञ्च के उद्गर्मो द्वारा भीतर की छज्जा से झुके हुए मुखों वाली कारियां अभिलाप को सूचित करती हैं।'

इत्यादि रहोकों के होने पर (भी)। अर्थ शक्ति से उत्पन्न अनुरणन रूप न्यक्तय का, किव की प्रौदोक्ति से निष्पन्नशारीर होने के कारण नवस्व है, जैसे— 'वसन्तमास सजाता है।' इत्यादि का।

वसन्तमास के प्रवृत्त होने पर रागियों (प्रणयिजनों) की उस्किलकाएँ (उस्कण्ठाएं) आमों की किलकाओं के साथ ही प्रादुर्भूत हो जाती हैं। इस्यादि रहोकों के होने पर भो अपूर्वस्व ही है।

लोचनम्

नेयम् । काव्यं मधुमांसस्थानीयम्, स्पृहां लज्जामिति, रागवतामुत्कलिका इति च। शब्दस्पृष्टेऽर्थे का हृगता ।

एतानि चोदाहरणानि वितत्य पूर्वमेव व्याख्यातानीति कि पुनरुत्त्या सत्यिप प्राक्तनकविस्पृष्टत्वे नूतनत्वं भवत्येवैतत्प्रकारानुप्रहादित्येतावित तात्पर्ये हि प्रन्थस्याधिकन्नान्यत् । करिणीवैधव्यकरो मम पुत्रः एकेन काण्डेन विनि

'स्पृहा', 'लज्जा' और 'राग वालों की उत्कलिका (उत्कण्ठा)' इस प्रकार शब्द द्वारा स्पष्ट अर्थ में क्या हृद्यता (मनोहरता) होगी ?

इन उदाहरणों की विस्तार करके पहले ही व्याख्या हो चुकी है, पुन: कथन से क्या (लाम) ? प्राचीन किव द्वारा स्पृष्ट होने पर भी इस प्रकार के अनुग्रह से नूतनता होती ही है, इतने में ही ग्रन्थ का तात्पर्य है, दूसरा नहीं। 'हथिनी को विधवा बना देने वाला मेरा पुत्र एक बाण से गिरा देने में समर्थ है, मुई पतोहू ने ऐसा कर डाला

जो किसी प्रकार ठीक नहीं। अतएव प्रस्तुत संस्करण में मैंने इस क्लोक की कारिकाओं के क्रम में मोटे टाइए से छाप करके भी संख्या नहीं दी है, जिससे इसके सम्बन्ध में अध्ययन करने वालें की जिज्ञासा पढ़ते ही उत्पन्न हो।

अर्थशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्गयस्य कविनिवद्भवक्तृशौढोक्तिमात्र-निव्यन्नशरीरत्वेन नवत्वम् । यथा-'वाणिअअ हत्थिदन्ता' इत्यादिगा-थार्थस्य ।

करिणीवेहव्यअरो मह पुत्तो एककाण्डविणिवाइ । हअसोन्हाऍ तह कहो जह कण्डकरण्डअं वहइ ॥ [करिणीवैधव्यकरो मम पुत्र एककाण्डविनिपाती ।

हतस्तुषया तथा कृतो यथा काण्डकरण्डकं वहति ॥ इतिच्छाया]

एवमादिष्वर्थेषु सत्स्वप्यनालीढतैव ।

यथा व्यङ्गचभेदसमाश्रयेण घ्वनेः काव्यार्थानां नवत्वम्रत्पद्यते,
तथा व्यञ्जकभेदसमाश्रयेणापि । तत्तु ग्रन्थविस्तरभयान लिख्यते,
स्वयमेव सहृदयैरम्यूह्मम् । अत्र च पुनःपुनक्कमिप सारतयेदम्रुच्यते—

व्यङ्गयव्यञ्जकभावेऽस्मिन्विविधे सम्भवत्यपि । रसादिमय एकस्मिन् कविः स्यादवधानवान् ॥ ५ ॥ अस्मिन्यशीनन्त्यहेतौ व्यङ्गयव्यञ्जकभावे विचित्रे शब्दानां सम्भव-

अर्थशक्ति से उत्पन्न अनुरणन रूप व्यङ्गय का, कविनिवद्ध वक्ता की प्रौढिक्ति मात्र से निष्पञ्चशरीर होने के कारण नवस्व है जैसे—'ओ व्यापारी, हाथी के दांत'

इत्यादि गाथा के अर्थ का। इत्यादि अर्थों के होने पर भी अस्पृष्टत्व (अनालीडत्व) है।। ४।।

इत्याद अथा क हान पर भा जरहटत (जनाविक्यार्थों का नवस्व उत्पन्न होता जैसे ध्वनि के ध्यङ्गय भेद के समाश्रयण से काव्यार्थों का नवस्व उत्पन्न होता है, उसी प्रकार व्यक्षक भेद के समाश्रयण से भी। किन्तु उसे प्रन्थ के विस्तृत हो जाने के भय से नहीं छिखते हैं, स्वयं ही सहृद्य छोग उहं कर छेंगे। और यहाँ, वार-वार भी उक्त इसे सार रूप से यह कहते हैं—

इस न्यङ्गध-न्यक्षक भाव के बहुत प्रकार के सम्भव होने पर भी कवि रसादि

रूप अर्थ में सावधान हो। अर्थ के आनन्त्य के हेतु, न्यङ्गय-न्यन्जकभाव के विचित्र होने पर भी अपूर्व अर्थ के

लोचनम् पातनसमर्थः हतस्नुषया तथा कृतो यथा काण्डकरणकं वहतीत्युत्तान एवाय-मर्थः, गाथार्थस्यानालीढतैवेति सम्बन्धः ॥ ४ ॥

है कि वाणों का करण्ड (तरकस) लिए रहता है। यह सीघा ही अर्थ है। सम्बन्ध यह कि गाथा के अर्थ का अस्पृष्टत्व (अनालीडत्व है)॥ ४॥

त्यपि कविरपूर्वार्थलामार्थी रसादिमय एकस्मिन् व्यङ्गचव्यञ्जकमावे यहादवद्घीत । रसभावतदाभासरूपे हि व्यङ्गचे तद्यञ्जकेषु च यथानिर्दिष्टेषु वर्णपद्वाक्यरचनाप्रवन्धेष्ववहितमनसः कवेः सर्वमपूर्वं काव्यं सम्पद्यते । तथा च रामायणमहाभारतादिषु सङ्गामादयः पुनःपुनरमिहिता अपि नवनवाः प्रकाश्चन्ते । प्रवन्धे चाङ्गी रस एक एवोपनिबध्यमानोऽर्थविशेषलामं छायातिशयं च पुष्णाति । कस्मिन्नविति
चेत्—यथा रामायणे यथा वा महाभारते । रामायणे हि करुणो रसः
स्वयमादिकविना स्त्रितः 'शोकः क्लोकत्वमागतः' इत्येवंवादिना ।
निर्व्युद्ध स एव सीतात्यन्तवियोगपर्यन्तमेत्र स्वप्रवन्धमुपरचयता ।
महाभारतेऽपि शास्त्रकाव्यरूपच्छायान्वियनि वृष्णिपाण्डवितरसावसानवेमनस्यदायिनीं समाप्तिम्रपनिवध्नता महाम्रनिना वैराग्यजननतात्पर्यं

लाभ का इच्छुक कि रसादिमय एक व्यङ्गय-व्यञ्जकमात्र में यरनपूर्वक ध्यान दे। क्योंकि रस, भाव, रसाभास, भावाभास रूप व्यङ्गय में और व्यव्जकों में जैसे निर्देश किए गए वर्ण, पद, वाक्य, रचना और प्रबन्धों में अवधानयुक्त मन वाले कि का पूरा काव्य अपूर्व (नवीन) वन जाता है। जैसा कि रामायण, महा-भारत आदि (काव्यों) में सङ्ग्राम आदि वार-वार कहे जाने पर भी नये-नये होकर प्रकाशित होते हैं। और प्रबन्ध (काव्य) में अङ्गी रस एक ही उपनिवध्यमान होकर अर्थविशेष के लाम को और शोभातिशय को वढ़ाता है। किस प्रवन्ध के समान १ ऐसा (पूछ्ने) पर तो—जैसे, रामायण में अथवा जैसे महामारत में। जैसा कि रामायण में कर्ण रस को स्वयं आदिकवि (वाल्मीकि) ने सम्यक् प्रकार से निर्देश किया है, 'शोक ही श्लोकस्व को प्राप्त हो गया, इस प्रकार कहते हुए। और उन्होंने ही सीता के अत्यन्त वियोग तक अपने प्रबन्ध को बनाते हुए करूण रस का निर्वाह किया है। शास्त्र और काव्य की छाया से युक्त महामारत में भी वृष्णियों (याद्वों) और पाण्डवों के रसहीन अवसान में वैमनस्य (निर्वेद) उत्पन्न कर देने वाली समाप्ति का उपनिवन्धन करते हुए महामुनि

लोचनम्

श्रत्यन्तप्रहर्गेन निरपेक्षभावतया विप्रलम्भाराङ्कां परिहरति । वृष्णीनां परस्परक्षयः, पाण्डवानामपि महापथक्लेशेनानुचिता विपत्तः, कृष्णस्यापि

'अत्यनत' के ग्रहण से, (करण रस के निरपेक्ष भाव) होने के कारण विप्रलम्म (श्रुङ्गार) की आशङ्का का परिहार करते हैं। वृष्णियों का परस्पर क्षय, पाण्डवों की

प्राधान्येन स्वप्रवन्धस्य दर्शयता मोक्षलक्षणः पुरुषार्थः शान्तो रसश्च मुख्यतया विवक्षाविषयत्वेन सचितः। एतचांशेन विवतमेवान्यैन्यी- ख्याविधायिभिः। स्वयमेव चैतदुद्गीर्णं तेनोदीर्णमहामोहमग्नम्रिजिहीर्षता लोकमतिविमलज्ञानालोकदायिना लोकनाथेन—

यथा यथा विपर्येति लोकतन्त्रमसारवत्। तथा तथा विरागोऽत्र जायते नात्र संग्रयः॥

(ब्यास) ने वैराग्य के जनन रूप तारपर्य को प्रधान रूप से अपने प्रबन्ध का दिखाते हुए, मोच रूप मुख्यार्थ को और शान्त रस को मुख्यतः विवचा के विषय के रूप में सूचित किया है। और इसे अंश रूप से अन्य व्याख्याकारों ने स्पष्ट किया ही है। स्वयं ही उन्होंने भारी मोह में पड़े हुए संसार के उद्धार की इच्छा करते हुए, अध्यन्त निर्मल ज्ञान के प्रकाश को देने वाले, संसार के नाथ (स्वामी) उन्होंने इसे कहा है—

जैसे-जैसे छोक-प्रपञ्च असार विपरीत रूप में प्रतीत होता जाता है, वैसे-वैसे यहाँ विराग उत्पन्न होता जाता है, इसमें सन्देह नहीं।

लोचनम्

व्याधादिष्वंस इति सर्वस्यापि विरसमेवावसानमिति। मुख्यतयेति। यद्यपि धर्मे चार्थे च कामे च मोद्ये चे'त्युक्तं, तथापि चत्वारश्चकारा एवमाहुः— यद्यपि धर्मार्थकामानां सर्वस्वं तादृङनास्ति यदन्यत्र न विद्यते, तथापि पय-न्तविरसत्वम्त्रवावलोक्यताम्। मोद्ये तु यद्र्पं तस्य सारतात्रव विचार्यतामिति।

यथा यथेति । लोकैस्तन्त्र्यमाणं यत्नेन सम्पाद्यमानन्धर्मार्थकामतत्साधन-लक्षणं वस्तुभूतत्याभिमतमपि । येन येनार्जनरक्षणक्षयादिना प्रकारेण । असा-रवतुच्छेन्द्रजालादिवत् । विपर्येति । प्रत्युत विपरीतं सम्पद्यते । आस्तान्तस्य स्वरूपचिन्तेत्यर्थः । तेन तेन प्रकारेण अत्रः लोकतन्त्रे । विरागो जायत । इत्यनेन

भी महापथ के क्लेश के कारण अनुचित विपत्ति, कृष्ण का भी वहेलिया से विनाश, इस प्रकार सभी का रसहीन ही अवसान है। सुक्य रूप से—। यद्यपि 'और धमं में, और अपे काम में और मोक्ष में' यह कहा है, तथापि चार (बार प्रयुक्त) 'और' ('चकार') इस प्रकार कहते हैं—यद्यपि धमं, अर्थ और काम का प्रधान स्वरूप (सवंस्व) उस प्रकार का नहीं है जो अन्यत्र नहीं है, तथापि परिणाम में विरसत्व को यहीं देखिए। मोक्ष में तो जो स्थिति है उसकी सारता (महत्त्व) यहीं विचारणीय है।

जैसे-जैसे—। जैसे-जैसे लोगों द्वारा तत्त्र्यमाण यत्न से सम्पाद्यमान धर्म, अर्थ, काम और उनके साधन रूप बस्तु रूप में अभिमत भी। जिस-जिस अर्थन, रक्षण और स्वय (नाश) आदि प्रकार से। असार अर्थात् तुच्छ इन्द्रजाल आदि की मांति।

इत्यादि बहुन्नः कथयता । ततश्र शान्तो रसो रसान्तरैमीक्षलक्षणः पुरुषार्थः पुरुषार्थान्तरैरस्तदुपसर्जनत्वेनानुगम्यमानोऽङ्गित्वेन विवश्चा-विषय इति महाभारततात्पर्यं सुन्यक्तमेवावभासते । अङ्गाङ्गिभावश्च यथा रसानां तथा प्रतिपादितमेव ।

पारमार्थिकान्तस्तन्वानपेक्षया शरीरस्येवाङ्गभूतस्य रसस्य पुरुषा-र्थस्य च स्वप्राधान्येन चारुत्वमप्यविरुद्धम् । नन्न महाभारते यावान्वि-वक्षाविषयः सोऽनुक्रमण्यां सर्व एवानुक्रान्तो न चैतत्तत्र दृश्यते, प्रत्युत सर्वपुरुषार्थप्रवोधहेतुत्वं सर्वरसगर्भत्वं च महाभारतस्य तस्मिन्नुदेशे स्वश्रव्दिनवेदितत्वेन प्रतीयते । अत्रोच्यते—सत्यं शान्तस्यैव रसस्या-

इत्यादि बहुत प्रकार से कहते हुए। और इसिल्ए शान्त रस दूसरे रसों से, मोच रूप पुरुषार्थ दूसरे पुरुपार्थों से, उन्हें उपसर्जन कर देने के कारण अङ्गी होकर विवचा का विषय है, यह महाभारत का तारपर्य विलकुल साफ ही अवभासित होता है। अङ्गाङ्गिभाव जैसा कि रसों का होता है, उस प्रकार प्रतिपादित किया ही गया है।

पारमार्थिक आभ्यन्तर तस्व (आत्मा) की अपेन्ना न करके शरीर की भाँति अङ्ग रूप रस का और पुरुषार्थ का अपने प्राधान्य से चारुत्व भी अविरुद्ध है। (शङ्का) महाभारत में तो जितना कुछ विवन्ना का विषय है वह अनुक्रमणी में सब कुछ ही अनुक्रान्त (निर्दिष्ट) है, किन्तु यह देखा जाता है, प्रत्युत सब पुरुषार्थों के ज्ञान का हेतुत्व और सर्वरसगर्भत्व महाभारत के उस उद्देश (प्रकरण) में अपने शब्द द्वारा निवेदित होने के रूप में प्रतीत होता है। (समाधान) यहाँ

लोचनम्

तत्वज्ञानोत्थितं निर्वेदं शान्तरसस्थायिन सूचयता तस्यैव च सर्वेतरासारत्वप्र-तिपादनेन प्राधान्यमुक्तम्।

नतु शृङ्गारवीरादिचमत्कारोऽपि तत्र भातीत्याशङ्कचाह—पारमाथिकेति । भोगाभिनिवेशिनां लोकवासनाविष्टानामङ्गभूतेऽपि रसे तथाभिमानः, यथा विपरीत रूप में हो जाता है—। इससे तत्त्वज्ञान से उत्पन्न, ज्ञान्त रस के स्थायी निर्वेद को सुचित करते हुए और उसीका ही सब दूसरों की असारता (तुच्छता) के प्रतिपादन से प्राधान्य कहा है।

श्रुङ्गार, वीर आदि (रसों) का भी चमत्कार वंहाँ प्रतीत होता है ? यह आशङ्का करके कहते हैं—पारमार्थिक—। भोग (इन्द्रियजन्य मुख) में अभिनिवेश रखने वालों

क्तित्वं महाभारते मोक्षस्य च सर्वपुरुवार्थेभ्यः प्राधान्यमित्येतन्त्र स्व-श्रव्दाभिधेयत्वेनानुक्रमण्या दिशतम्, दिशतं तु व्यङ्गयत्वेन

'भगवान्वासुदेवश्र कीर्त्यतेऽत्र सनातनः'

इत्यस्मिन् वाक्ये । अनेन ह्ययमर्थो व्यङ्गयत्वेन विवक्षितो यदत्र महाभारते पाण्डवादिचरितं यत्कीत्यते तत्सर्वमवसानविरसमविद्याप्र-पश्चरूपश्च, परमार्थसत्यस्वरूपस्तु भगवान् वासुदेवोऽत्र कीर्त्यते। तस्मात्तिसम्नेव परमेश्वरे भगवति भवत भावितचेतसो, मा भूत विभू-तिपु निःसारासु रागिणो गुणेषु वा नयविनयपराक्रमादिष्वमीषु केवलेषु केषुचित्सर्वात्मना प्रतिनिविष्टिधियः। तथा चाग्रे-पद्मयत निःसारतां संसारस्येत्यग्रुमेवार्थं द्योतयन् स्फुटमेवावभासते व्यञ्जकशक्त्यनुगृहीतश्र यह कहते हैं -- ठीक है, महाभारत में शान्त रस का हो अङ्गिख और मोच का सब पुरुपार्थों से प्राधान्य, यह अपने शब्द द्वारा अभिधेय रूप में अनुक्रमणी में नहीं दिखाया है, किन्त न्यङ्गय के रूप में दिखाया है-

'और सनातन भगवान् वासुदेव की यहाँ कीर्ति गाई गई है।' इस वाक्य में। इससे यह अर्थ व्यङ्गय रूप में विवित्ति है कि यहां महाभारत में पाण्डवादिचरित जो कीर्तित हैं वह सब अवसान में रसहीन और अविद्या के कारण प्रपंच रूप हैं. किन्तु परमार्थ-सत्यस्वरूप भगवान् वासुदेव की यहां कीर्ति गाई गई है। इसलिए उसी परमेश्वर भगवान में भावभरे चित्त वाले बनो, सारहीन विभूतियों में रागयुक्त, अथवा नय, विनय, पराक्रम आदि इन केवल किन्हीं गुर्णों में सब प्रकार से अभि-निवेश प्राप्त बुद्धि से युक्त मत हो । और वैसे आगे-'संसार की सारहीनता देखो ।' इसी अर्थ को द्योतित करता हुआ स्पष्ट ही न्यन्जकशक्ति से अनुगृहीत शब्द प्रतीत

लोचनम्

शरीरे प्रमानृत्वासिमानः प्रमातुर्भोगायतनमात्रेऽपि । केवलेष्विति । परमेश्वरभ-क्त्युपकरगोषु तु न दोष इत्यर्थः। विभूतिषु रागिणो गुगोषु च निविष्टिधियो मा भूतेति सम्बन्धः । श्रम इति । अनुक्रमण्यनन्तरं यो भारतप्रन्थः तत्रेत्यर्थः । एवं संसार की वासना में आविष्ट (लोगों) का अङ्गरूप भी उस रस में उस प्रकार का अभिमान (मान्यता) होता है, जैसे भोग के आयतन मात्र शरीर में प्रमाता का प्रमातृत्व का अभिमान होता है ।क्रेवल-।अर्थात् किन्तु परमेश्वर की मिक्त के उपकरणों में तो दोष नहीं है। विभूतियों (ऐश्वयों) में राग्युक्त और गुणों में अभिनिवेश बुद्धि वाले मत बनो, यह सम्बन्ध है। आगे-। अर्थात् अनुक्रमणी के बाद जो भारत ग्रन्थ

शब्दः । एवंविधमेवार्थं गर्भोकृतं सन्दर्शयन्तोऽनन्तरक्लोका लक्ष्यन्ते— 'स हि सत्यम्' इत्यादयः ।

अयं च निगृहरमणीयोऽर्थों महाभारतावसाने हरिवंश्ववणनेन समाप्ति विद्धता तेनैव कविवेधसा कृष्णद्वैपायनेन सम्यक्र्फुटीकृतः। अनेन चार्थेन संसारातीते तन्त्वान्तरे भक्त्यतिश्चयं प्रवर्तयता सकल एव सांसारिको व्यवहारः पूर्वपक्षीकृतो न्यक्षेण प्रकाशते। देवतातीर्थ-तपःप्रभृतीनां च प्रभावातिश्चयवर्णनं तस्यैव परब्रह्मणः प्राप्त्युपायत्वेन तिह्नभूतित्वेनैव देवताविशेषाणामन्येषां च। पाण्डवादिचरितवर्णन-स्यापि वैराग्यजननतात्पर्योद्धराग्यस्य च मोक्षमूलत्वान्मोक्षस्य च भगवत्प्राप्त्युपायत्वेन ग्रुख्यतया गीतादिषु प्रदर्शितत्वात्परब्रह्मप्राप्त्यु-पायत्वमेव परम्परया। वासुदेवादिसञ्ज्ञाभिधेयत्वेन चापरिमितशक्त्या-होता है। बाद के रलोक इसी प्रकार के गर्भीकृत अर्थ को सम्यक् निर्देश करते हुए माल्स पहते हैं—'क्योंकि वह सत्य है॰' इत्यादि।

और यह निगृद एवं रमणीय अर्थ—महाभारत के अन्त में हरिवंशवर्णन से समाप्ति करते हुए उसी किविवेधा कृष्णद्वेपायन (व्यास) ने सम्यक् प्रकार से स्पष्ट कर दिया है। और इस अर्थ से अलीकिक तस्वान्तर में अधिक मिक्त को प्रवृत्त करते हुए सारा ही सांसारिक व्यवहार पूर्वपचीकृत होकर पूर्ण रूप से प्रकाशित है। और देवताओं, तीथों, तपों आदि का एवं उस (परब्रह्म) की विभूति के रूप में देवता विशेष और अन्य के अतिशय प्रभाव का वर्णन उसी पर ब्रह्म की प्राप्ति के उपाय के रूप में है। पाण्डव आदि के चिरत के वर्णन का भी तास्पर्य वैराग्य का जनन होने से और वैराग्य का मूल मोच के होने से, और मोच का भगवान की प्राप्ति के उपाय होने से मुख्य रूप से गीता आदि प्रन्थों में प्रदर्शित होने के कारण परम्परया (पाण्डवादि चिति का वर्णन) परब्रह्म की प्राप्ति का उपाय ही है। और वासुदेव आदि संज्ञाओं द्वारा अभिधेय होने के कारण अपरिमित शक्ति का प्रतिष्ठान, परायर

लोचनम्

नतु वसुदेवापत्यं वासुदेव इत्युच्यते, न परमेश्वरः परमात्मा महादेव इत्याश-इचाह—वासुदेवादिसंज्ञाभिषेयत्वेनेति ।

है वहां वसुदेव का अपस्य (सन्तान) 'वासुदेव' कहा जाता है, न कि परमेश्वर, परमेश्वर, महादेव?, यह आशक्का करके कहते हैं—'वासुदेव' आदि संज्ञाओं द्वारा असिधेय होने के कारण—।

स्पदं परं ब्रह्म गीतादिप्रदेशान्तरेषु तदिभिधानत्वेन लब्धप्रसिद्धि माथु-रप्रादुर्भावानुकृतसकलस्वरूपं विवक्षितं न तु माथुरप्रादुर्भावांश एव, सनातनशब्दिविशेषितत्वात् । रामायणादिषु चानया सञ्ज्ञया भगवन्मू-त्यन्तरे व्यवहारदर्शनात् । निर्णीतश्रायमर्थः शब्दतस्वविद्धिरेव ।

बहा गीता आदि दूसरे स्थानों में उसी संज्ञा से उसके प्रसिद्ध होने के कारण, मथुरा में प्रादुर्भाव के अवसर में प्राप्त समग्र स्वरूप युक्त विविच्चत है न कि मथुरा में प्रादुर्भाव (प्राप्त हुए कृष्ण) का अंशमात्र (विविच्चत है); क्योंकि (महामारत के उपर्युक्त पद्यांश में) 'सनातन' इस विशेषण रूप शब्द से विशेषित हैं। और रामायण आदि में इस संज्ञा से भगवान् की अन्य मूर्ति (के विषय) में ब्यवहार देखा जाता है। और इस अर्थ का निर्णय शब्दतस्त्रवेत्ताओं ने ही किया है।

लोचनम्

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते । वासुदेवः सर्वम् · · · · ।

इत्यादौ अंशिरूपमेवत्संज्ञाभिषेयमिति निर्णीतं तात्पर्यम्। निर्णीतश्चेति। शब्दा हि नित्या एव सन्तोऽनन्तरं काकतालीयवशात्तथा सङ्केतिता इत्युक्तम्— 'ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्चे'त्यत्र।

> 'बहुत जन्मों के बाद ज्ञानी मुझे प्राप्त करता है। वासुदेव सब कुछ हैं—' (गीतां ७।१९)

इत्यादि में 'अंशीरूप (पर ब्रह्म) इस संज्ञा का अभिषेय है' यह तात्पर्य निर्णय किया है। और निर्णय किया है—'ऋष्यन्वकवृष्णिकुरुम्यश्च' इस (पाणिनिसूत्र) पर (काशिकाकार ने) कहा है कि शब्द नित्य ही होते हैं, बाद में काकतालीयवश उस प्रकार सङ्केतित हो जाते हैं। "

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपचते । बासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥ (गीता ७।१९)

यहाँ 'वासुदेव सब कुछ है' यह कहते हुए 'वासुदेव' का अभिषेय परब्रह्म ही निर्णय किया है। जैसा कि आचार्य आनन्दवर्धन ने इस सम्बन्ध में शब्दतत्ववेत्ताओं का स्मरण किया है, लोचनकार ने काशिकाकार के वचन की टद्धृत किया है। उसका तात्वर्य यह है सभी शब्द नित्य हो ते हैं, किन्तु जब उनका किसी देश या काल से सम्बद्ध अनिस्य वस्तु के लिए प्रयोग करते हैं तो उन्हें काकतालीयवश (आकस्मिकता से, घटनावश) उन अर्थों में सङ्केतित समझना चाहिए। प्रस्तुत में

१ प्रश्न है कि जब 'वासुदेव' आदि संशाएँ किसी समय मथुरा में प्रादुर्भून वसुदेव के अपत्य रूप श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में प्रयुक्त हैं ऐसी स्थिति में अंशी परब्रह्म के अर्थ में उनके प्रयोग का कोई प्रामाणिक संकेत होना चाहिए। इसके समाधान में आनन्दवर्थन ने 'गाता' आदि में भी इस संशा का अंशीभूत पारमार्थिक तस्व परब्रह्म में ही संकेत का निर्देश किया हैं—

तदेवमनुक्रमणीनिर्दिष्टेन वाक्येन भगवद्यतिरेकिणः सर्वस्यान्य-स्यानित्यतां प्रकाशयता मोक्षलक्षण एवेकः परः पुरुषार्थः शास्त्रनये, काव्यनये च तृष्णाक्षयसुखपरिपोषलक्षणः शान्तो रसो महाभारतस्या-ङ्गित्वेन विवक्षित इति सुप्रतिपादितम् । अत्यन्तसारभूतत्वाच्चायमर्थो व्यङ्गचत्वेनैव दर्शितो न तु वाच्यत्वेन । सारभृतो ह्यर्थः स्वशब्दानिभ-घेयत्वेन प्रकाशितः सुतरामेव शोभामावहति । प्रसिद्धिश्चेयमस्त्येव विद्मधविद्वत्परिषत्सु यदिभमतत्तरं वस्तु व्यङ्गचत्वेन प्रकाश्यते न

तो, इस प्रकार भगवान् के अतिरिक्त सबकी अनित्यता को प्रकाशित करते हुए अनुक्रमणी में निर्दिष्ट वाक्य से मोच रूप ही एक अन्तिम पुरुषार्थ शास्त्रदृष्टि से (विविच्चत है) और कान्यदृष्टि से तृष्णा के चय से (उत्पन्न) सुख का परिपोप (वृद्धि) रूप शान्त रस महाभारत के अङ्गी के रूप में विविच्चत है, यह प्रतिपादन किया। और अस्यन्त सारमूत होने के कारण यह अर्थ न्यङ्गय रूप से ही दिखाया गया है, न कि वाच्य रूप से। क्योंकि सारमूत अर्थ अपने शब्द से अनिभिधेय रूप से प्रकाशित (होकर) सुतरां ही शोभा प्राप्त करता है। और, विद्वां, विद्वां की परिचर्तों में यह प्रसिद्धि है ही कि अभिमततर (प्रियतर) वस्तु को न्यङ्गय

लोचनम्

शास्त्रनय इति । तत्रास्वादयोगाभावे पुरुषेणाध्येत इत्ययमेव व्यपदेशः सादरः, चमत्कारयोगे तु रसव्यपदेश इति भावः । एतच्च प्रन्थकारेण तत्त्वा-लोके वितत्योक्तमिह त्वस्य न मुख्योऽवसर इति नास्माभिस्तद्दर्शितम् । सुतरामेवेति । यदुक्तं तत्र द्देतुमाह—प्रसिद्धिश्चेति । चशब्दो यस्मादर्थे । यत इयं लौकिकी प्रसिद्धिरनादिस्ततो भगवद्यासप्रभृतीनामप्ययमेवास्वशब्दाभिधाने

शास्त्रदृष्टि से—। भाव यह कि वहां आस्वाद के सम्बन्ध के अभाव में पुरुष द्वारा अधित होता है यही व्यपदेश आदरयुक्त है, चमत्कार के योग (सम्बन्ध) में तो रस का व्यपदेश है। और इसे ग्रन्थकार ने तत्त्वाळोक में विस्तार करके कहा है यहां तो इसका मुख्य अवसर नहीं है अतः हमने नहीं दिखाया है। सुतरां ही—। यह जो कहा है वहां हेतु कहते हैं—और प्रसिद्धि है ही। 'और' ('च') शब्द 'जिस कारण' के

नित्यान्वाख्यानं दृश्यते । यथा शकास्रयेण काळस्य ।'

^{&#}x27;वासुदेव' यह संज्ञा शब्द सनातन परब्रह्म का ही हमेशा से सूचक होता चला आ रहा था कि अकस्मात मशुरा में प्रादुभूत अंशभृत वसुदेवपुत्र मगवान कृष्ण के लिए भी प्रयुक्त होने लगा। इसी प्रकार महाभाष्य के टीकाकार 'कैयट' ने भी उपर्युक्त पाणिनि-सूत्र पर ही यह लिखा है 'कथं पुनः नित्यानां शब्दानां अनित्यान्थकादिवंशाश्रयेणान्वाख्यानं युक्यते ? अत्र समाभिः। त्रिपुरुषानुकं नाम कुर्यादिति न्यायेनान्थकादिवंशा अपि नित्या एव । अथवाऽनित्योपाश्रयेणापि

साक्षाच्छब्दवाच्यत्वेन । तस्मारिस्थतमेतत् — अङ्गिभूतरसाद्याश्रयेण काव्ये क्रियमाणे नवार्थलाभो भवति वन्धच्छाया च महती सम्पद्यत इति । अत एव च रसानुगुणार्थविशेपोपनिवन्धमलङ्कारान्तरविरहेऽपि छायातिश्रययोगि लक्ष्ये दश्यते । यथा—

रूप से ही प्रकाशित किया जाता है न (कि) साचात् शब्द द्वारा वाच्य रूप से। अतः यह स्थिर हुआ—अङ्गिमृत रसादि के आश्रय से काव्य रचे जाने पर नये अर्थ का लाभ होता है और बन्ध की छाया (शोभा) अधिक (महती) होती है। और इसी लिए रस के अनुगुण (अनुरूप) अर्थ-विशेष का उपनिबन्ध अलङ्कारान्तर के अभाव में भी लच्य (काव्य) में अतिशयशोभायुक्त देखा जाता है। जैसे—

लोचनम्

आशयः, अन्यथा हि क्रियाकारकसम्बन्धादौ 'नारायणं नमस्कृत्ये'त्यादिशब्दार्थनिक्ष्वणे च तथाविध एव तस्य भगवत आशय इत्यत्र कि प्रमाणमिति
भावः । विद्ग्धविद्धद्भह्णोन काव्यनये शास्त्रनय इति चानुसृतम् । रसादिमय
एतस्त्रिन् कवः स्याद्वधानवानिति यदुक्तं, तदेव प्रसङ्गागतभारतसम्बन्धनिकृषणानन्तरमुपसंहरति—तस्मात्स्थितमिति । अत इति । यत एवं स्थितमत
एवेदमपि यह्नद्ये दृश्यते, तदुपपन्नमन्यथा तद्नुपपन्नमेव, न च तद्नुपपन्नम्;
चारुत्वेन प्रतीतेः । तस्याश्चेतदेव कारणं रसानुगुणार्थत्वमेवेत्याशयः । अलङ्गारानारेति । अन्तरशब्दो विशेषवाची। यदि वा दित्सिते उदाहरणे रसवदलङ्कारस्य
विद्यमानत्वात्तद्पेक्षयालङ्कारान्तरशब्दः ।

अर्थ में । जिस कारण यह लौकिक प्रसिद्धि अनादि है उस कारण भगवान क्यास प्रभृतियों का भी यही अपने शब्द से न कथन में आश्य है, अन्यथा क्योंकि किया-कारक सम्बन्ध आदि में 'नारायण को नमस्कार करके' इत्यादि शब्द के निरूपण में उस प्रकार का ही उन भगवान का आश्य है, यहां क्या प्रमाण है ? यह भाव है । 'विद्य्य' और 'विद्वान्' के ग्रहण से काव्यदृष्टि से शास्त्रदृष्टि से इसका अनुसरण किया है । 'रसादिरूप इसमें कि सावधान हो' यह जो कहा है उसे ही प्रसंग से प्राप्त 'भारत' के सम्बन्ध में निरूपण के बाद उपसंहार करते हैं —अतः यह स्थित हुआ— -। इस कारण—। जिस कारण इस प्रकार स्थिर हुआ इस कारण ही यह भी लक्ष्य में देखा जाता है, वह संगत (क्यप्पन्न) है, अन्यथा अनुपपन्न ही है, किन्तु वह अनुपपन्न नहीं है, क्योंकि चार रूप से प्रतीत होता है । अन्तर' शब्द विशेष का वाचक है । अथवा देने के लिए इच्छित उदाहरण में रसवदलङ्कार के विद्यमान होने के कारण उसकी अपेक्षा-से 'अलङ्कारान्तर' शब्द है ।

मुनिर्जयित योगीन्द्रो महात्मा कुम्भसम्भवः । येनैकचुलके दृष्टी तो दिन्यौ मत्स्यकच्छपो ॥

इत्यादौ । अत्र ह्यद्भुतरसानुगुणमेकचुलके मत्स्यकच्छपदर्शनं छायातिश्चयं पुष्णाति । तत्र ह्येकचुलके सकलजलिधसिकिधानादिपि दिव्यमत्स्यकच्छपदर्शनमक्षुण्णत्वादद्भुतरसानुगुणतरम् । क्षुण्णं हि वस्तु लोकप्रसिद्ध्याद्भुतमपि नाश्चर्यकारि भवति । न चाक्षुण्णं वस्त्पनिवध्यमानमद्भुतरसस्यैवानुगुणं यावद्रसान्तरस्यापि । तद्यथा—

योगियों में श्रेप्ट, महात्मा अगस्त्य (कुम्भसम्भव) मुनि की जय हो, जिन्होंने एक चुल्छ में उन दिन्य मत्स्य और कच्छप को देख छिया।

इत्यादि में । यहां अद्भुत रस के अनुकूछ एक चुल्छ में मत्स्य और कच्छप का दर्शन अधिक शोमातिशय को पोषण करता है। वहां एक चुल्छ में पूरे समुद्र के सिश्रधान से भी दिव्य मत्स्य और कच्छप का दर्शन चुण्ण (अभ्यस्त) न होने के कारण अद्भुत रस के अधिक अनुकूछ है। क्योंकि अभ्यस्त वस्तु छोक की प्रसिद्धि के कारण अद्भुत भी (होकर) आश्चर्यकारी नहीं होती। और अनभ्यस्त वस्तु का उपनिवन्धन केवछ अद्भुत रस के ही अनुकूछ नहीं होता विक दूसरे रस के भी। वह जैसे—

लोचनम्

ननु मत्स्यकच्छपदर्शनात्त्रतीयमानं यदेकचुंलके जलनिधिसन्निधानं ततो सुनेर्माङ्गाल्यप्रतिपत्तिरिति न रसानुगुणेनार्थेन च्छायापोषितेत्याशङ्कृषाह— अत्र हीति । नन्वेवं प्रतीयमानं जलनिधिदर्शनमेवाद्भुतानुगुणं भवत्विति रसानुगुणोऽत्र वाच्योऽर्थ इत्यस्मिन्नंशे कथमिद्मुदाहरणमित्याशङ्कचाह— तत्रे-ति । क्षुण्णं हीति । पुनः पुनर्वर्णनिक्षपणादिना यत्पिष्टपिष्टत्वादिनिर्मिन्नस्व- कपिमत्यर्थः । बहुतरलच्यव्यापकञ्चैतदिति दर्शयति—न चेत्यादिना । रध्या-

मत्स्य और कच्छप के दर्शन से प्रतीयमान जो एक चुल्लू में जलराशि का सिन्नधान है उससे मुनि के माहात्म्य का जान होता है, न कि रस के अनुकूल अर्थ से शोमा (छाया) पोधित है, यह आशदूरा करके कहते है —यहां—। इस प्रकार प्रतीयमान जलराशि का दर्शन हो अद्भुतं (रस) के अनुकूल हो, (इस प्रकार) रस के अनुकूल यहां वाच्य अर्थ है' इस अंश में, कैसे यह उदाहरणं है ? यह आशद्धा करके कहते हैं—वहां ।—क्योंकि अम्यस्त—। अर्थात् वार-वार वर्णन (और) निरूपण आदि द्वारा जो पिष्ट-पिष्ट हो जाने से अत्यन्त निर्मिन्न-स्वरूप है। और यह वहुत लद्धों में व्यापक है, यह दिखाते हैं—और अनम्यस्त इत्यादि से। रथ्या

सिजइ रोमश्रिजइ वेवइ रत्थातुलग्गपिडलग्गो। सोपासो अज वि सुहअ जेणासि वोलीणो॥

एतद्राथार्थोद्भाव्यमानाद्या रसप्रतीतिर्भवति, सा त्वां स्पृष्ट्वा स्विद्य-ति रोमाश्चते वेषतं इत्येवंविधादर्थात्प्रतीयमानान्मनागपि नो जायते । तदेवं ध्वनिप्रभेदसमाश्रयेण यथा काव्यार्थानां नवत्वं जायते तथा प्रतिपादितम् । गुणीभृतव्यङ्गचस्यापि त्रिभेदव्यङ्गचापेक्षया ये प्रकारा-

'हे सुभग, वह पार्श्वभाग, जो गली में (मेरी सखी का) तुमसे अनजाने में छू गया था और तुम चले गए थे, आज मी स्वेद, रोमाद्य और कम्प से युक्त हो रहा है।'

इस गाथा के भावित होते हुए अर्थ से जो रस की प्रताति होती है वह 'तुम्हें देखकर पसीज जाती है, रोमाञ्चित हो जाती है, कांपने छगतो है' इस प्रकार के प्रतीत हुए अर्थ से, थोड़ी भी नहीं उत्पन्न होती है।

तो इस प्रकार ध्वनि-प्रभेद के समाश्रयण से जैसे काव्य के अर्थों का नवत्व हो जाता है उस प्रकार प्रतिपादन किया। गुणीभूतव्यक्ष्य के भी तीन भेद वाले व्यक्ष्यकी लोचनम

यान्तुलाभेण काकतालीयेन प्रतिलग्नस्साम्मुख्येन स पार्श्वोऽद्यापि सुमग तस्या येनास्यतिक्रान्तः । रसप्रतीतिरिति । परस्परहेतुकःशृङ्गारप्रतीतिः । अस्यार्थस्य रसानुगुणत्वं व्यतिरेकद्वारेण द्रढर्यात—सा त्वामित्यादिना ।

'ध्वनेर्यस्सगुणीभूतव्यंग्यस्याध्वा प्रदर्शित'

इत्युद्योतारम्भे यः रलोकः तत्र ध्वनेरध्वना कवीनां प्रतिमागुणोऽनन्तो भवतीत्येष भागो व्याख्यात इत्युपसंहरति—तदेविमत्यादिना । सगुणीभूतव्यक्त्रन्थस्येत्यमुं भागं व्याच्छे-गुणीभूतेत्यादिना । त्रिप्रभेदो वस्त्वलङ्काररसात्मना यो व्यक्तचः तस्य यापेक्षा वाच्ये गुणीभावः तयेत्यर्थः । तत्र सर्वे ये ध्वनिभेदा- (गली) में तुलाग्र (काकतालीय) से छू गया हुआ, सामने से वह पाक्वं आज भी हे सुभग उसका जिससे तुम चले गए थे। रस की प्रतीति—। परस्पर हेतु वाले श्वाह की प्रतीति । इस अर्थं का रसानुकूलत्व व्यतिरेक द्वारा हवं करते हैं—वह तुन्ने० इत्यादि से।

'गुणीभूत व्यंङ्गच के सहित व्विन का जो मार्ग दिखाया गया है।'

यह उद्योत के आरम्भ में जो क्लोक है उसमें ध्विन के मार्ग से किवयों का प्रतिभागुण अनन्त हो जाता है, यह भाग व्याख्यान किया, इसे उपसंहार करते हैं—तो इस प्रकार॰ इत्यादि से। 'गुणीभूतव्यङ्गच के सहित' इस भाग का व्याख्यान करते हैं—गुणीभूत॰ इत्यादि से। अर्थात् तीन प्रभेदों वाला वस्तु, अलङ्कार और रस के रूप में जो व्यङ्गच है उसकी जो अपेक्षा अर्थात् वाच्य में गुणीभाव उससे।

स्तत्समाश्रयेणापि काव्यवस्तुनां नवत्वं भवत्येव । तत्त्वतिविस्तारका-रीति नोदाहृतं सहृदयैः स्वयग्रुत्प्रेक्षणीयम् ॥ ५ ॥

अपेचा से जो प्रकार हैं उनके समाश्रयण से भी काव्य की वस्तुओं का नवस्त्र हो ही जाता है। वह तो ज्यादा विस्तार करेगा इसिछए उदाहत नहीं किया, सहद्य छोग स्वयं उरशेचा कर हों। ५॥

लोचनम्

स्तेषां गुणीभावादानन्त्यमिति तदाह—अतिविस्तरेति । स्वयमिति । तत्र वस्तुना व्यंग्येन गुणीभूतेन नवत्वं सत्यिप पुराणार्थंस्पर्शे यथा ममैव—

> भअविहत्तरत्व्योककमञ्जसरणारःशाणअध्याण । खणमत्तं विण दिण्णा विस्सामकहेत्ति जुत्तमिणम् ॥

अत्र त्वमनवरतमर्थांस्त्यज्ञसीति औदार्यलक्षणं वस्तु प्राच्यमानं वाच्यस्यो-पस्कारकं नवत्वन्ददाति, सत्यिप पुराणकविस्यृष्टेऽर्थे । तथाहि पुराणी गाथा—

चाइअणकरपरम्परसञ्चारणखे अणिस्सहससरीरा।
अथ्था किवणघरंथ्था सथ्नापथ्थास्ववंतीव।।
अलङ्कारेण व्यङ्गचेन वाच्योपस्कारे नवत्वं यथा ममेव—
वसन्तमत्तालिपरम्परोपमाः कचास्तवासन् किल रागवृद्धये।
रमशानभूभागपरागभासुराः कथन्तदेतेन मनाग्विरक्तये।

वहां सव जो व्विन के भेद हैं उनके गुणीभाव से आनन्त्य है, उसे कहते हैं—अध्यन्त विस्तार—। स्वयं—। वहां, गुणीभूत व्यङ्गच वस्तु से नवत्व, पुराने अर्थ का स्पर्ध होने पर भी, जैसे मेरा ही—

'भय से व्याकुल हो, रक्षा करने में एक ही मल्ल (तुम्हारी) शरण में आए हुए अर्थों (घनों) को क्षणमात्र भी (तुमने) विश्राम नहीं दिया, यह ठीक है ?'

यहां 'तुम हमेशा अर्थों को त्याग देते हो' यह औदार्य रूप ध्वन्यमान वस्तु वाच्य का उपस्कारक होकर नवत्व अपित करता है, पुराने किव द्वारा स्पृष्ट अर्थ के होने पर भी। जैसी कि पुरानी गाथा है—

'त्यागीजनों के हाथों की ंपरम्परा में सब्चार करने के खेद से थके-मांदे वारीर वाले अर्थ (घन) कृपण के घर में स्थित (होने से) स्वस्थ अवस्था वाले (होकर) शयन करते हैं।'

व्यङ्गध अलङ्गार द्वारा वाच्य का उपस्कार होने पर नवत्व, जैसे—मेरा ही.। (पहले) वसन्त के मतवाले भौरों के समूह की उपमा वाले तेरे वाल राग (लाली-प्रेम) की वृद्धि के लिए थे, (अब) रमशान के भूभाग की धूल की भांति

ध्वनेरित्थं गुणीभूतव्यद्गयस्य च समाश्रयात्। न काव्यार्थविरामोऽस्ति यदि स्यात्वितश्रागुणः ॥६॥

'ध्वनि के और गुणीभूतव्यङ्गय के इस प्रकार समाश्रय से काव्य के अर्थ का विराम नहीं है यदि प्रतिभा रूप गुण हो।'

लोचनम्

अत्र ह्याचेपेण विभावनया च ध्वन्यमानाभ्यां वाच्यमुपस्कृतमिति नवत्वं सत्यपि पुराणार्थयोगित्वं । तथाहि पुराणस्त्रोकः—

श्चनुष्णाकाममात्सर्यं मरणाच महद्भयम् । पञ्चेतानि विवर्धन्ते वार्धके विदुषामपि ॥ इति । व्यङ्गचेन रसन् गुणीभूतेन वाच्योपस्कारेण नवत्वं यथा ममैव--

जरा नेयं मूभ्नि ध्रुवमयमसौ काल्सुजगः कुधान्धः फून्कारेः स्फुटगरलफेनान् प्रकिरित ॥ तदेनं संपश्यत्यथ च सुखितन्मन्यहृदयः शिवो पायन्नेच्छन् बत बत सुधीरः खलु जनः॥

अत्राद्धतेन व्यङ्गचेन वाच्यमुपस्कृतं शान्तरसप्रतिपत्त्यङ्गत्वाद्यारु भवतीति नवत्वं सत्यप्यस्मिन् पुराणक्रोके—

> जराजीर्णशरीरस्य वैराग्यं यत्र जायते, तत्रुनं हृदये मृत्युर्देढन्नास्तीति निश्चयः ॥ ४॥

चमकने वाले ये (तेरे बाल) क्यों नहीं थोड़ी (श्री) विरक्ति के लिए (होते हैं)!
यहाँ ध्वनित होते हुए 'आक्षेप' से और 'विभावना' अलक्कारों से वाच्य उपस्कृत
हुआ है, यह नवत्व है, पुराने अर्थ का सम्बन्ध होने पर भी। जैसा कि पुराना रलोक है—
'भूख, तृष्णा, काम, देखजरनी और मरने का बड़ा डर, पांच ये विद्वानों के भी

बुढ़ा होने पर बढ़ते हैं।'

न्य द्भाय एवं गुणीभूत रस द्वारा वाच्य के उपस्कार से नवत्व, जैसे मेरा ही—
'सिर पर यह बुढ़ापा नहीं है, निश्चय ही यह कालक्ष्मी सर्प (बैठा) है, (जो)
कोघ से अन्धा, फू-फू करके स्पष्ट ही विष के फेनों को उगल रहा है, तो इसे (आदमी)
खूब देखता है और हृदय में सुखी मान लेता है, कल्याण के उपाय की इच्छा न
करता हुआ मनुष्य हन्त-हन्त बड़ा धीर (बन बैठा है।'

यहाँ व्यक्तिय अद्भुत द्वारा वाच्य उपस्कृत (होकर) शान्त रस के बोध का अङ्ग होने के कारण चारु हो जाता है, यह नवत्त्र है, इस पुराने क्लोक के होते हुए मी—

'बुढ़ापे से जर्जर शरीर वाले (व्यक्ति) के जो वैराग्य उत्पन्न नहीं होता, वह निश्चय हो (उसके) हृदय में 'मृत्यु हढ़ (अवश्यम्मावी) नहीं है' ऐसा निश्चय हो चुका है।'

सत्स्विप पुरातनकविप्रबन्धेषु यदि स्यात्प्रतिभागुणः, तिस्मस्त्व-सित न किञ्चिदेव कवेर्वस्त्विति । बन्धच्छायाप्यर्थेद्वयानुरूपश्चद्द-सिन्नवेशोऽर्थप्रतिभानाभावे कथमुपपद्यते । अनेषेक्षितार्थिवशेषाक्षररचनैव बन्धच्छायेति नेदं नेदीयः सहृदयानाम् । एवं हि सत्यर्थानपेक्षचतुर-मधुरवचनरचनायामि काव्यव्यपदेशः प्रवर्तेत । शब्दार्थयोः साहित्येन

पुराने कवियों के प्रबन्धों के होने पर भी, यदि प्रतिभा रूप गुण हो; उसके न होने पर किव के लिए कोई वस्तु नहीं है। दोनों अर्थों (ध्विन और गुणीभूतव्यक्ष्य) के अनुरूप शब्द का संनिवेश रूप वन्धव्छाया भी अर्थ के प्रतिभान के अभाव में कैसे वन (सकती) है ? अर्थ की अपेश्वान करके अत्तरस्वना ही बन्धव्छाया है, यह सहदयों के नेदीयस् (निकटतर) नहीं है। क्योंकि ऐसा होने पर अर्थ की अपेशा न रखने वाले चतुर (और) मधुर वन्यन की रचना में भी काव्य का व्यवहार चल पड़ेगा। शब्द और अर्थ के साहित्य से काव्यत्व के होने पर कैसे उस प्रकार के विषय में

स्रोचगम्

सत्त्वपीत्यादि कारिकाया उपस्कारः । त्रीन् पादान् स्पष्टान्यत्वा तुर्यं पादं व्याख्यातुं पठित—यदीति । विद्यमानो द्वासौ प्रतिभागुण उक्तरीत्या भूयान् भवति, न त्वत्यन्तासन्नेनेत्यर्थः । तिस्मिकिति । अनन्तीभूते प्रतिभागुणे । न किश्चिदेवेति । सर्वं हि पुराणकिवनैव स्पृष्टिमिति किमिदानीं वण्यं, यत्र कवेवं- णंनाव्यापारस्स्यात् । नतु यद्यपि वण्यंभपूर्वन्नास्ति, तथाप्युक्तिपरिपाकगुम्फः घटनाद्यपरपर्यायबन्धच्छाया नवनवा भविष्यति । यिन्नेनेशने काव्यान्तराणां संरम्भ इत्याशङ्कः याद्द—बन्धच्छायाणीति । अर्थद्वयं गुणीभूतव्यंग्यं प्रधानगृतं व्यायं च । नेदीय इति । निकटतरं हृद्यानुप्रवेशि न भवतीत्यर्थः । अत्र हेतु- माह—एवं हि सतीति । चतुरत्वं समासङघटना । मधुरत्वमपारुप्यम्।

होने पर मी—। यह कारिका का उपस्कार (प्रतिवादन) है। तीन पादों को स्पष्ट मान कर चौथे पाद का व्याख्यान करने के लिए पढ़ते हैं—यदि—। अर्थात क्योंकि विद्यमान वह प्रतिमा रूप गुण उक्त रीति से बहुत हो जाता है, न कि अत्यन्त न विद्यमान ही। उसके—। अनन्त प्रतिभारूप गुण के। नहीं कोई ही—। सब तो पुराने किन ने ही स्पर्शकर लिया तो अब वर्णनीय क्या है? जहां किन का वर्णनी व्यापार हो? यदाप वर्णनीय अपूर्व नहीं है, तथाप उक्ति के परिपाक के गूँथने की घटना, दूसरे शब्द में छाया, नई-नई हो जायगी। जिसके निवेशन में दूसरे काव्यों का संरम्भ (उपक्रम) है, यह आशस्त्रा करके कहते हैं—वन्धक्छाया भी—। दो अर्थ गुणीभूतव्यक्षय और प्रधानमूत व्यक्ष्य ! नेदीयस्—। निकटतर, अर्थात हृदय में प्रवेश कर जाने वाला, नहीं होता है। यहां हेतु कहते हैं—क्योंकि ऐसा होने पर

कान्यत्वे कथं तथाविधे विषये कान्यन्यवस्थेति चेत्—परोपनिवद्धार्थ-विरचने यथा तत्कान्यत्वन्यवहारस्तथा तथाविधानां कान्यसन्द-भीणाम् ॥ ६ ॥

न चार्थानन्त्यं व्यङ्गचार्थापेक्षयैव यावद्वाच्यार्थापेक्षयापीति

प्रतिपाद्यितुमुच्यते —

अवस्थादेशकालादिविशेषैरपि जायते।

आनन्त्यसेव वाच्यस्य शुद्धस्यापि स्वभावतः॥७॥

शुद्धस्यानपेक्षितच्यक्कथस्यापि वाच्यस्यानन्त्यमेव जायते स्वमा-काच्य की व्यवस्था (होगो ?)। (इस पर कहते हैं कि) दूसरे द्वारा उपनिबद्ध अर्थ के बनाने में जैसे वह काव्य का व्यवहार (है) वैसे उस प्रकार (अर्थ की अपेक्षा न रखने वाले) काव्यसन्दर्भों का॥ १॥

न केवल अर्थ का आनन्त्य, न्यक्त्य अर्थ की अपेत्रा से ही है वरन् वाच्य अर्थ की

अपेजा से भी है-यह प्रतिपादन करने के लिए कहते हैं-

अवस्था, देश, काल आदि के विशेषों (मेदों) से भी स्वभाव से शुद्ध भी वास्य का आनन्त्य ही होता है।

शुद्ध (अर्थात्) व्यङ्गय की अपेचा न रखने वाले भी वाच्य का आनन्त्य ही

· लोचनम्

तथाविधानामिति । अपूर्वंबन्धच्छायायुक्तानामि परोपनिबद्धार्थनिबन्धने पर-कृतकाठयत्वठयवहार एव स्यादित्यर्थस्यापूर्वत्वमाश्रयणीयम् । कवनीयं काठ्यं तस्य भावः काठ्यत्वं, न त्वयं भावप्रत्ययान्तात् भावप्रत्यय इति शङ्कित्वयम् ।

प्रतिपादियनुमिति। प्रसङ्गादिति शेषः। यदि वा वाच्यन्तावद्द्विविधव्यंग्यो-पयोगि तदेव चेदनन्तं तद्वलादेव व्यंग्यानन्त्यं भवतीत्यमिप्रायेणेदं प्रकृत-मेवोच्यते। शुद्धस्येति। व्यंग्यविषयो यो व्यापारः तत्स्पशं विनाप्यानन्त्यं चतुरत्व (अर्थात्) समास की संघटना। मधुरत्व (अर्थात्) पारुष्य का अभाव।

चतुरत्व (अर्थात्) समास की संघटना। मघुरत्व (अर्थात्) पारुष्य की अनाया उस प्रकार के—। अपूर्व (जो पहले न हो) बन्धच्छाया से युक्त (काव्य-सन्दर्भों) के भी दूसरे (किव द्वारा) उपनिवद्ध अर्थ के निदन्धन में दूसरे (किव) द्वारा वनाया गया काव्य का व्यवहार ही होगा, अत; अर्थ के अपूर्वत्व का आश्रयण करना चाहिए। कवनीय (वर्णनीय) काव्य, उसका भाव काव्यत्व, न कि यह भाव-प्रत्ययान्त (काव्य शब्द) से भाव-प्रत्यय हुआ है, यह शङ्का करनी चाहिए।

प्रतिपादन करने के लिए—। प्रसङ्ग से—यह शेष है। अथवा वाच्य दो प्रकार के व्यङ्गच का उपयोगी है, वही अनन्त है तो उसके बल स ही व्यङ्गच का आनन्त्य हो जाता है—इस अभिप्राय से यह प्रकृत ही कहा गया है। शुद्ध वाच्य का--।

वतः । स्वभावो ह्ययं वाच्यानां चेतनानामचेतनानां च यदवस्थाभेदा-देशभेदात्कालभेदात्स्वालक्षण्यभेदाचानन्तता भवति । तैश्र तथाव्यव-स्थितैः सद्भः प्रसिद्धानेकस्वभावानुसरणरूपया स्वभावोक्त्यापि ताव-दुपनिवध्यमानैर्निरवधिः कान्यार्थः सम्पद्यते । तथा ह्यवस्थाभेदान्नवत्वं यथा-भगवती पार्वती कुमारसम्भवे 'सर्वोपमाद्रव्यसमुचयेन' इत्या-दिभिरुक्तिभिः प्रथममेव परिसमापितरूपवर्णनापि पुनर्भगवतः श्रम्भो-र्लोचनगोचरमायान्ती 'वसन्तपुष्पाभरणं वहन्ती' मन्मथोपकरणभूतेन भङ्गचन्तरेणोपवर्णिता । सैव च पुनर्नवोद्वाहसमये प्रसाध्यमाना तां प्राङ्मुखीं तत्र निवेश्य तन्त्रीम्' इत्याद्युक्तिभिन्वेनैव प्रकारेण निरूपि-स्वभावतः उत्पन्न होता है । क्योंकि यह चेतनों और अचेतनों का स्वभाव ा है कि अवस्था के भेद से, देश के भेद से, काल के भेद से और स्वालक्षण्य (वरूप) के भेद से अनन्तता होती है। और उनके उस प्रकार व्यवस्थित होने से प्रसिद्ध अनेक स्वभावों के अनुसरण रूप वाली स्वभावोक्ति से भी उपनिवध्यमान (वाच्यार्थों से) अविधिशून्य कान्यार्थ सम्पन्न होता है। अवस्था के भेद से नवत्व, जैसे—भगवती पार्वती 'कुमार-सम्भव' में 'समस्त उपमादृब्य के समूह से०' हःयादि उक्तियों द्वारा पहले हो परिसमाप्त रूप के वर्णन से युक्त होकर भी पुनः भर।वान् शिव के छोचन-गोचर होती हुई 'बसन्त के पुर्पों का आभरण धारण करनी हुई' मन की मथन करने वाले (कामदेव) के उपकरण (सामग्री) हुए दूसरे प्रकार से उपवर्णित हैं। और वही फिर नये विवाह के समय में प्रसाधित होती हुई (भगवती पार्वती) का लोचनम्

स्वरूपमात्रेणैव पश्चांत्तु तथा स्वरूपेणानन्तं सद्व-चङ्ग्यं व्यनक्तिति भावः। न तु सर्वथा तत्र व्ययं नास्तीति मन्तव्यमाःमभूततद्रूपाभावे काव्यव्यवहारहानेः तथा चोदाहरणेषु रसध्वनेस्सद्भावोऽस्त्येष। आदिश्रहणं व्याचष्टे—स्वालक्ष-ण्येति। स्वरूपेत्यर्थः। यथा रूपस्पर्शयोस्तीन्नेकावस्थयोरेकंद्रव्यनिष्ठयोरेक कालयोश्च।

भाव यह कि व्यङ्गय-विषयक जो व्यापार है उसके स्पर्श के विना भी आनन्त्य स्वरूप मात्र से ही है, पीछे तो इस प्रकार स्वरूप से अनन्त होता हुआ व्यङ्गय को व्यक्त करता है। न कि सब प्रकार से वहां व्यङ्गय नहीं है यह मानना चाहिए क्योंकि आत्मा रूप उस (व्यङ्गयरूप) के अभाव में काव्य के व्यवहार की हानि होगी। और जैसा कि उदाहरणों में रसध्विन का सद्भाव है हो। आदि के ग्रहण का व्याख्यान करते हैं—स्वाळ्चण्य—। स्वरूप' यह अर्थ है। जैसे, तीव्र एक अवस्था वाले, एक द्रव्य में रहने वाले और एक काल में उत्पन्न रूप और स्पर्श का।

तरूपसौष्ठवा । न च ते तस्य कवेरेकत्रैवासकृत्कृता वर्णनप्रकारा अपुन-रुक्तत्वेन वा नवनवार्थनिर्भरत्वेन वा प्रतिभासन्ते । दिश्तिमेव चैतद्वि-पमबाणलीलायाम्—

ण अ ताण घडइ ओही ण अ ते दीसन्ति कह वि पुनरुत्ता। जे विबसमा पिआणं अत्था वा सुकड्वाणीणम्।।

अयमपरश्चावस्थाभेदप्रकारो यदचेतनानां सर्वेषां चेतनं द्वितीयं रूपमिमानित्वप्रसिद्धं हिमवद्गङ्गादीनाम् । तचोचितचेतनविषयस्वरूप'उस कृश शरीर वाली को पूर्व की ओर मुँह करके वैठाकर' इत्यादि उक्तियों से नये ही प्रकार से रूप के संग्ठित का निरूपण है। उस किन के, एक जगह ही बार-वार किए गए वे वर्णन-प्रकार फिर नहीं कहे गए (अपुनक्क) रूप से अथवा नये नये अर्थों से भरे (नवनवार्थनिर्भर) रूप से प्रतिमासित नहीं होते हैं। इसे 'विषम-वाणलील।' में दिखाया ही है—

'जो प्रियाओं के विभाव (हाव-भाव) अथवा सुकवि की वाणियों के अर्थ हैं उनकी अविध (समाप्ति) नहीं होती है, किसी प्रकार वे पुनरुक्त नहीं प्रतीत

होते हैं।'

और यह दूसरा अवस्थाभेद का प्रकार है जो हिमवान् और गङ्गा आदि समस्त अचेतनों का चेतन दूसरा रूप अभिमानी रूप से प्रसिद्ध है। और वह उचित चेतन-सम्बन्धी स्वरूप की योजना से उपनिबध्यमान होकर अन्य हो जाता है। जैसे,

लोचनम्

न च तेषां घटतेऽवधिः, न च ते दृश्यन्ते कथमपि पुनरुकाः।

ये विश्वमाः त्रियाणामधी वा सुकविवाणीनाम् ॥
चकाराभ्यामतिविस्मयस्सूच्यते । कथमपीति । त्रयत्नेनापि विचार्यमाणं
पौनरुक्तयं न लभ्यमिति यावत् । त्रियःणामिति । बहुवल्लमो हि सुभगो राधावपौनरुक्तयं न लभ्यमिति यावत् । त्रियःणामिति । बहुवल्लमो हि सुभगो राधावपौनरुक्तयं न लभ्यमिति यावत् । त्रियःणामिति । बहुवल्लमो हि सुभगो राधावपौनरुक्तयं न लभ्यमितीः परिभोगसुभगसुपसुखानोऽपि न विश्वमपौनरुक्तयं

पश्यति तदा । एतदेव प्रियात्वमुच्यते, यदाह—

दो चकारों ('और' के प्रयोगों) से अत्यन्त विस्मय सूचित होता है। किसी प्रकार—। प्रयक्त से भी विचार किया जाय (तो मी) पौनक्त्रच नहीं मिलेगा, यह भाव है। प्रियाओं का—। बहुत वक्कमोओं वाला सुभग (नायक) राधा के प्रिय (कृष्ण) के सहश, उन उन कामिनियों का परिभोग के सुभग प्रकार से उपभोग करता (कृष्ण) के सहश, उन उन कामिनियों का परिभोग के सुभग प्रकार से उपभोग करता हुआ भी विभ्रम के पौनक्त्रच को तब नहीं देखता। यही 'प्रियारम' कहा जाता है, जो कहा है—

योजनयोपनिबध्यमानमन्यदेव सम्पद्यते । यथां कुमारसम्भव एव पर्वतस्वरूपस्य हिमवतो वर्णनं, पुनः सप्तिपिप्रयोक्तिषु चेतनतत्स्वरूपा-पेक्षया प्रदिश्चितं तदपूर्वमेव प्रतिभाति । प्रसिद्धश्चायं सत्कवीनां मार्गः । इदं च प्रस्थानं कविव्युत्पत्तये विषमवाणलीलायां सप्रपश्चं दिश्चतम् । चेतनानां च वाल्याद्यवस्थामिरन्यत्वं सत्कवीनां प्रसिद्धमेव । चेतना-नामवस्थाभेदेऽप्यवान्तरावस्थामेदान्नानात्वम् । यथा कुमारीणां कुसुम-श्वरमिन्नहृद्यानामन्यासां च । तत्रापि विनीतानामविनीतानां च । अचेतनानां च भावानामारम्भाद्यवस्थाभेदिभिन्नानामेकैकशः स्वरूपमुप-निबध्यमानमानन्त्यमेवोपयाति । यथा—

हंसानां निनदेषु यैः कविततैरासज्यते क्जता-

'कुमारसम्भव' में ही पर्वत स्वरूप हिमवान का वर्णन है, फिर सप्तर्पियों की प्रिय उक्तिगों में चेतन उसके स्वरूप की अपेना से दिखाया गया है, वह अपूर्व ही मारूम पृद्ता है। और यह सस्किवयों का मार्ग प्रसिद्ध है। और यह प्रस्थान कित्रयों की ब्युप्पित्त के लिए 'विपमवाणलीला' में प्रपञ्च के साथ दिखाया है। और चेतनों का बाल्य आदि अनस्थाओं से अन्य होना सस्किवयों के प्रसिद्ध ही है। चेतनों का अवस्थाभेद में भी अवान्तर अवस्थाभेद से नानास्व है, जैसे कामदेव के बाणों से विधे हृदय वाली कुमारियों का, और दूसरी (नायिकाओं) का। वहाँ भी विनीतों का और अविनीतों का। और आरम्भ आदि अवस्थाओं के भेद से भिन्न अचेतन भावों का एक-एक करके स्वरूप उपनिवध्यमान होकर आनन्त्य को हो प्राप्त करता है। जैसे—

'ऋजते हुए इंसों की आवाजों में जो कोई दूसरा कसैले कंठ में लोटने से घर-लोचनम्

श्रणे श्रणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयताया इति । प्रियाणामिति चासंसारं प्रवहद्रूपो योऽयं कान्तानां विश्वमविशेषः स नवनव एव दृश्यते । न ह्यसाविश्वचयनादिवदृन्यतिशिक्षितः, येन तत्सादृश्या-त्युनकक्ततां गच्छेन् । अपि तु निसर्गोद्भियासानपदनाङ्कुरविकासमात्रन्तिति

चण-चण में जो नका प्राप्त द्वारता है रमणीयता का वही रूप है। प्रियाओं का—। संसार के अस्तित्व से लेकर प्रवाहित होता हुआ जो यह कान्ताओं का विश्वम विशेष है वह नया-नया ही दिखाता है। न कि वह 'अग्निचयनादि' (यज्ञिक्याओं) की तरह अन्य से सीखा गया है, जिससे उसके समान होने से पुनक्तिता को प्राप्त करता। अपि तु यह स्वभाव से उकसते हुए मदनाङ्कर का विकासमात्र है, इसलिए

मन्यः कोऽपि कपायकण्ठलुठनादाघर्घरो विश्रमः।
ते सम्प्रत्यकठोरवारणवधृदन्ताङ्करस्पर्धिनो ।
निर्याताः कमलाकरेषु विसिनीकन्दाग्रिमग्रन्थयः॥
एवमन्यत्रापि दिञ्चानयानुसर्तव्यम्।

देशमेदान्नानात्वमचेतनानां तावत् । यथा वायूनां नानादिग्देश-चारिणामन्येषामपि , सलिलकुसुमादीनां प्रसिद्धमेव । चेत्रनानामपि मानुषपश्चपश्चिप्रभृतीनां प्रामारण्यसलिलादिसमेधितानां परस्परं महा-निवशेषः समुपलक्ष्यत एव । स च विविच्य यथायथम्रपनिवध्यमान-स्तथैवानन्त्यमायाति । तथा हि—मानुषाणामेव तावदिग्देशादि-भिन्नानां ये व्यवहारव्यापारादिषु विचित्रा विशेपास्तेषां केनान्तः शक्यते गनतुम् , विशेषतो योपिताम् । उपनिवध्यते च तत्सर्वमेव सुकविभिर्यथाप्रतिभम् ।

घराहट के रूप में विश्रम को आसक्त कर देती हैं वे इस समय कोमल हाथी की पत्नी के दन्तांकुर के साथ स्पर्धा करने वाली कमलिनी के कन्द के अगले हिस्से की गांठें कमलाकरों (सरोवरों) में निकल पड़ीं।'

इस प्रकार अन्यत्र भी इस दिशा से अनुसरण करना चाहिए।

अचेतनों का देश के भेद से तावस् नानास्व। जैसे, नाना दिशाओं, देशों में विचरण करनेवाली हवाओं का, अन्य भी जल, फूल आदि का नानास्व प्रसिद्ध ही है। ग्राम, जंगल, जल आदि में बढ़े हुए चेतन मनुष्य, पशु, पत्ती प्रमृतियों का परस्पर महान् विशेष समुपलित होता ही है। और वह विवेचन करके ठांक-ठीक उपनिवध्यमान होकर उसी प्रकार आनन्त्य को प्राप्त करता है। जैसा कि—दिशा और देश आदि से मिन्न मनुष्यों के ही जो व्यवहार और व्यापार आदि में विचिन्न विशेष (भेद) हैं उनका किसके द्वारा पार पाया जा सकता है? विशेष सप से स्त्रियों के। और उन सबको ही सुकवि लोग प्रतिमा के अनुसार उपनिवद्ध करते हैं।

लोचनम् नवनवत्वम् । तद्वत्परकीयशिक्षानपेश्चनिजन्नत्तमागुणनिष्यन्दभूतः काव्यार्थं इति भावः।

ताविदिति । उत्तरकालन्तु व्यंग्यस्पर्शनेन विचित्रतां परां भजतास्नामः नवनवत्व है। माव यह कि उस प्रकार दूसरे द्वारा शिक्षा की अपेक्षा न करके अपनी प्रतिमा के गुण का निष्यन्द कान्यार्थ है।

तब तक—। बाद में तो व्यङ्गय के स्पर्श से उत्कृष्ट विचित्रता को प्राप्त कर ले।

कालभेदाच नानात्वम् । यथर्तुभेदादिग्वयोमसिललादीनामचेतना-नाम् । चेतनानां चौत्सुक्यादयः कालविशेपाश्रयिणः प्रसिद्धा एव । स्वालक्षण्यप्रभेदाच सकलजगद्गतानां वस्त्नां विनिबन्धनं प्रसिद्धमेव । तच यथावस्थितमपि तावदुपनिबध्यमानमनन्ततामेव काव्यार्थ-स्यापादयति ।

अत्र केचिदाचक्षीरन्—यथा सामान्यात्मना वस्तूनि वाच्यतां प्रतिपद्यन्ते न विशेपात्मना ; तानि हि स्वयमनुभूतानां सुखादीनां तिशिमित्तानां च स्वरूपमन्यत्रारोपयिद्धः स्वपरानुभूतरूपसामान्य-मात्राश्रयेणोपनिवध्यन्ते कविभिः। न हि तैरतीतमनागतं वर्तमानश्च परिचितादिस्वलक्षणं योगिभिरिव प्रत्यक्षीिक्रयते ; तचानुभाव्यानु-

और काल के भेद से नानात्व । जैसे, ऋतु के भेद से दिशा, आकाश और सिल्ल आदि अचेतनों का । और चेतनों के और सुक्य आदि (भेद) कालविशेष का आश्रयण करने वाले प्रसिद्ध ही हैं । और स्वालचण्य (स्वरूप) के प्रभेद से समस्त संसार की चस्तुओं का विनिबन्धन प्रसिद्ध ही है । और वह जैसा है उस प्रकार भी अवस्थित होकर उपनिबद्ध होता हुआ कान्य के अर्थ को आनन्त्य प्राप्त कराता है ।

यहाँ कुछ छोग (अगर) कहंं—जैसे सामान्य रूप से वस्तुएँ वाच्यभाव को पास होती हैं, न कि विशेष रूप से; क्योंकि वे स्वयं अनुभव किए गए सुख आदि के और उनके निमित्तों (कारणों) के स्वरूप को अन्यन्न आरोपित करते हुए कवियों द्वारा अपने और पराये के द्वारा अनुभूत रूप सामान्य मान्ने के आश्रयण से उपनियद्ध किए जाते हैं। न कि वे (किव) अतीत, अनागत और वर्तमान परिचित आदि स्वलचण (स्वरूप) को योगियों की भांति प्रत्यक्त करते हैं; बल्कि वह अनुभव के

लोचनम

तावित तु स्वभावेनैव सा विचित्रेति तावच्छ्रब्दस्याभिप्रायः। तिविभित्ताना-श्रोति । ऋतुमाल्यादीनाम् । स्वेति । स्वानुभूतपरानुभूतानां यत्सामान्यं तदेव विशेषान्तररहितन्तन्मात्रं तस्याश्रयेण । न हि तैरिति कविभिः। एतचात्यन्ता-संभावनार्थमुक्तम्। प्रत्यक्षदर्शंनेऽपि हि—

तब तक तो स्वभाव से ही वह विचित्रता होती है यह 'तब तक' शब्द का अभिशाय है। उनके निमित्तों का—। ऋतु, माल्य आदि का। अपने अनुभूतों का दूसरों के अनुभूतों का जो सामान्य वही विशेषान्तर से रहित (होकर) तन्मात्र है, उस नम्मात्र के आश्रयणे से। न कि उनसे अर्थात् कवियों से। इसे अत्यन्त असम्भावन के लिए कहा है। प्रत्यक्ष देखने में मी—

भवसामान्यं सर्वप्रतिपत्तुसाधार्णं परिमितत्वात्पुरातनानामेव गोचरी-भूतम् , तस्याविषयत्वानुपपत्तेः । अतएव स प्रकारविशेषो यैरद्यतनै-रभिनवत्वेन प्रतीयते तेपामभिमानमात्रमेव भणितिकृतं वैचित्र्यमात्रम-त्रास्तीति ।

तत्रोच्यते-यत्तः सामान्यमात्राश्रयेण काव्यप्रवृत्तिस्तस्य च परिमितत्वेन प्रागेव गोचरीकृतत्वान्नास्ति नवत्वं काव्यवस्तुनामिति, तदयुक्तम् ; यतो यदि सामान्यमात्रमाश्रित्य कान्यं प्रवर्तते किङ्कुत-स्तिहिं महाकविनियध्यमानानां काव्यर्थानामतिश्चयः । वाल्मीकिव्य-तिरिक्तस्यान्यस्य कविव्यपदेश एव वा सामान्यव्यतिरिक्तस्या-न्यस्य काव्यार्थस्याभावात्, सामान्यस्य चादिकविनैव प्रदर्शित त्वात् । उक्तिवैचिन्यात्रीय दोप इति चेत् — किमिद्युक्तिवैचिन्यम् ? के योग्य (वस्तु) के अनुभव का सामान्य सब जानकारों के लिए साधारण, (और) परिमित होने के कारण प्राचीन कवियों का ही विषय किया हुआ है क्योंकि उसका अविषयत्व उपपञ्च नहीं है। अतएव वह प्रकार विशेष को जिन आज के लोगों ने अभिनव रूप से समझा है उन्हें अभिमानमात्र ही है। मणिति द्वारा किया हुआ वैचित्र्य सात्र यहाँ है।

वहाँ कहते हैं - जो कि कहा है सामान्य मात्र के आश्रयण से कान्य की प्रवृत्ति होती है और उस (सामान्य मात्र) के परिचित होने के कारण पहले ही विषय कर लिए जाने से कान्य वस्तओं का नवत्व नहीं है यह, वह ठीक नहीं; क्योंकि यदि सामान्य मात्र का आश्रयण करके काच्य प्रवृत्त होता है तो किसके द्वारा महाकवियों द्वारा बनाए गये कान्यार्थों का अतिशय (वैचित्र्य) होगा ? अथवा, वास्मीकि को छोड़ कर दूसरे का 'कवि' व्यपदेश (नाम) ही (किसके द्वारा किया गया होगा ?) (जब कि) सामान्य को छोड़कर दूसरे भाष्यार्थ का अभाव है, क्योंकि आदि कवि के

्लोचनम् । शब्दास्संकेतितं प्राहुव्यवद्वाराय स स्मृतः । तदा स्वलक्षणं नास्ति सङ्केतस्तेन तत्र नः॥

इत्यादियुक्तिभिस्सामान्यमेव स्पृश्यते । किमिति । असंवेद्यमानमर्थपौन-रुक्यं कथं प्राकरणिकरङ्गीकार्यमिति भावः। तमेव प्रकटयति — नं चेदिति।

ं शब्द-संकेतित (अर्थं) को कहते हैं, व्यवहार के लिए वह माना गया है, तब स्वरूप (स्वलक्षण) नहीं होता, उस (स्वलक्षण) से वहाँ हमें संकेत (होता है)।

' इत्यादि युक्तियों से सामान्य ही स्पष्ट होता है। क्या-। नहीं जाना जाता हुआ (असंवेद्यमान) अर्थ का पौनकक्त्य कैसे प्राकरणिकों द्वारा स्वीकार्य होगा यह भाव

उक्तिहिं वाच्यविशेषप्रतिपादि वचनम् । तद्वैचित्र्ये कथं न वाच्यवै-चित्र्यम् । वाच्यवाचकयोरविनाभावेन प्रवृत्तेः । वाच्यानां च काव्ये-प्रतिभासमानानां यद्वृपं तत्तु प्राह्मविशेषाभेदेनैव प्रतीयते । तेनो-क्तिवैचित्र्यवादिना वाच्यवैचित्र्यमनिच्छताप्यवश्यमेवास्युपगन्तव्यम् । तद्यमत्र सङ्क्षेपः—

द्वारा सामान्य प्रदिश्तित किया जा चुका है। उक्ति वैचिन्य के कारण यह दोष नहीं है यह (कहें) तो (प्रश्न उठता है) कि यह उक्ति वैचिन्य क्या है ? उक्ति वाच्यिवशेष के प्रतिपादन करने वाले वचन को कहते हैं, उसके वैचिन्य में कैसे नहीं वाच्य का वैचिन्य होगा ? क्योंकि वाच्य और वाचक की अविनाभाव से प्रवृत्ति होती है। और प्रतिभासमान वाच्यों का भान्य में जो रूप है वह तो ग्राह्म विशेष के अभेद से ही प्रतीत होता है। उससे उक्तिवैचिन्यवादी को वाच्य के वैचिन्य की इच्छा न रखते हुए भी अवश्य ही मानना चाहिए। तो यह यहाँ संचेष है—

लोचनम्

उक्तिहीति । पर्यायमात्रतैव यचुक्तिविशेषस्तत्पर्यायान्तरै (विकलं तदर्थीपनिवन्धे अपीन्स्क्त्याभिमानो न भवति । तस्माद्विशिष्टवाच्यप्रतिपादकेनैवोक्तेविंशेष इति भावः । याह्यविशेषिति । प्राह्यः प्रत्यक्षादिप्रमाणैर्यो विशेषः तस्य यः अभेदः।

तेनायमर्थः पदानान्तावत्सामान्ये वा तद्वति वाऽपोहे वा यत्र कुत्रापि वस्तुनि समयः, किमनेन वादान्तरेण ? वाक्यात्तद्विशेषः प्रतीयत इति कस्यात्र वादिनो विमतिः। अन्वितामिधानतद्विपर्ययसंसर्गभेदादिवाक्यार्थपत्तेषु सर्वत्र विशेषस्याप्रत्याख्येयत्वात्। उक्तिवैचित्र्यञ्च न पर्यायमात्रकृतमित्युक्तप्। अन्यत्तु है। उसी को प्रकट करते हैं नहीं । उक्ति । इक्ति विशेष है तो पर्यायान्तरों से अविकल (रूप में) उस अर्थं के उपनिबन्ध होने पर अपौनक्त्य का अभिमान नहीं होगा। भाव यह कि इसलिए विशिष्ट वाच्य के प्रतिपादक से ही उक्ति का विशेष है। प्राह्मविशेष—। ग्राह्म प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से जो विशेष उसका जो अभेद।

उससे यह अर्थ है—पदों का सामान्य (जाित) में (मीमांसक मतानुसार) अथवा तहान् (न्यायमतानुसार) में अथवा अपोह (बौद्धमतानुसार) में जहाँ कहीं भी वस्तु में समय (संकेत) है, इस दूसरे बाद के उपस्थित करने से क्या लाम ? वाक्य से उस (वस्तु) का विशेष प्रतीत होता है, यहाँ किस वादी का वैमत्य है ? क्यों कि अन्विता-िभधान और उसके विपयंय (अभिहितान्वयवाद) के संसगैंभेद आदि के दाक्यार्थ पक्षों में सर्वत्र विशेष का प्रत्याख्यान नहीं किया जा सकता। यह कह चुके हैं कि उक्ति-वैचित्र्य पर्यायमात्र से नहीं होता है। और अन्य जो है वह प्रत्युत हमारे पक्ष का

वार्ल्मीकिन्यतिरिक्तस्य यद्येकस्यापि कस्यचित् । इष्यते प्रतिभार्थेषु तत्तदानन्त्यमक्षयम् ॥

किञ्च, उक्तिवैचिन्यं यत्कान्यनवत्वे निवन्धनमुन्यते तदस्मत्पक्षानुगुणमेव । यतो यावानयं कान्यार्थानन्त्यभेदहेतुः प्रकारः प्राग्दर्शितः
स सर्व एव पुनरुक्तिवैचिन्याद्विगुणतामापद्यते । यश्चायमुपमाश्लेषादिरलङ्कारवर्गः प्रसिद्धः स भणितिवैचिन्यादुपनिवध्यमानः स्वयमेवानवधिर्धत्ते पुनः शतशाखताम् । भणितिश्व स्वभाषाभेदेन न्यवस्थिता सती

वाल्मी के को छोड़ कर यदि किसी एक (किव) की प्रतिभा अर्थों में मान ली जाती है तो वह नहीं चय होने वाला आनन्त्य है।

और भी, उक्तिवैचित्र्य को जो कान्य के नवत्व में निवन्धन (प्रयोजक) कहते हैं, वह हमारे पच के अनुकूछ ही है। क्योंकि जितना यह कान्य के अर्थ के आनन्त्य-भेद को करने वाला प्रकार पहले दिखाया गया है वह सब ही फिर उक्तिवैचित्र्य के कारण दुगुना वन जायगा। और जो यह उपमा, रलेप आदि अलंकार-वर्ग प्रसिद्ध है वह भगितिवैचित्र्य से उपनिवद्ध किया जाता हुआ स्वयं ही अवधिरहित (होकर) लोचनम

यत्तत्प्रत्युतास्माकं पक्षसाधकमित्याह—िकश्चिति । पुनिरिति । भूय इत्यर्थः । उपमा हि निभ, प्रतिम, च्छल, प्रतिबिन्ब, प्रतिच्छाय, तुल्य, सदृशाभासादि-भिर्विचित्राभिरुक्तिभिर्विचित्रीभवत्येव । वस्तुत एतासामुक्तीनामथवैचित्र्यस्य विद्यमानत्वात् । नियमेन भानयोगाद्धि निभशब्दः, तद्नुकारतया तु प्रतिमशब्दः इत्येवं सर्वत्र वाच्यं केवलं बालोपयोगि काव्यटीकापरिशीलनदौरात्म्या-देषु पर्यायत्वभ्रम इति भावः । एवम्रथीनन्त्यमलङ्कारानन्त्यक्च भणितिबैचित्र्या-द्भवति । अन्यथापि च तत्ततो भवतीति दर्शयित—भणितिश्चेति । प्रतिनियन्ताया भाषाया गोचरो वाच्यो योऽर्थस्तत्कृतं यद्वैचित्र्यं तन्निबन्धनं निमित्तं

साधक है, यह कहते हैं—और भी—। फिर—। अर्थात् भूयः, फिर से। उपमा निभ, प्रतिम, छल, प्रतिविम्ब, प्रतिच्छाय, तुल्य, सदृश, आभास आदि विचित्र उक्तियों से विचित्र हो जाती हो है। क्योंकि वस्तुतः इन उक्तियों में अर्थ का वैचित्र्य विद्यमान रहती ही है। भाव यह कि नियमतः कान के योग से 'निभ' शब्द है, उसके अनुभार रूप से प्रतिम शब्द है इस प्रकार यह सर्वत्र कहा जा सकता है, केवल बालोपयोगी काव्य की टीका के परिशीलन की दुष्टता से पर्यायत्व का भ्रम हो गया है। इस प्रकार भिणित के वैचित्र्य से अर्थों का आनन्त्य और अलङ्कारों का आनन्त्य होता है। अन्यथा भी वह उस कारण हो जाता है यह दिखाते हैं—और भिणिति—। प्रतिनियत भाषा का गोचर वाच्य जो अर्थ है तत्कृत जो वैचित्र्य वह निबन्धन अर्थात् निमित्त है जिसका,

प्रतिनियतभाषागोचरार्थवैचित्र्यनिबन्धनं पुनरपरं काव्यार्थानामान-न्त्यमापादयति । यथा ममैव—

महमह इत्ति मणन्तउ वज्जदि कालो जणस्स । तोइ ण देउ जणइण गोअरी भोदि मणसो । ७॥ इत्थं यथा यथा निरूप्यते तथा तथा न लभ्यते उन्तः काव्यार्थी-नाम् । इदं त्च्यते—

अवस्थादिविभिन्नानां वाच्यानां विनिबन्धनम्।

फिर सैकड़ों शाखाओं में परिवर्तित हो जायंगा। और भणिति अपनी भाषा के भेद से ज्यवस्थित होती हुई प्रतिनियत भाषा में रहने वाले अर्थवैचित्र्य के नियन्धन रूप काज्यार्थों का आनन्त्य फिर भी उत्पन्न कर देती है। जैसे मेरा ही—

'मेरा' 'मेरा' की रट छगाते हुए व्यक्ति का समय बीत जाता है, तथापि देव जनादैन मन के गोचर नहीं होते।

इस प्रकार जैसे-जैसे निरूपण करते हैं वैसे-वैसे कान्यार्थों का अन्त माल्स नहीं पड़ता। परन्तु यह कहते हैं—

अवस्था आदि से विभिन्न वाच्यों का निवन्धन—जो पहले प्रदर्शित हो चुका लोचनम्

यस्य, अलङ्काराणां काव्यार्थानाङ्गानन्त्यस्य । तत्कर्मभूतं भणितिवैचिष्टं कर्त्रभूतमापादयतीति सम्बन्धः । कर्मणो विशेषणच्छलेन हेतुर्देशितः ।

> मम मम इति भणतो व्रजति कालो जनस्य । तथापि न देवो जनाद्नो गोचरो भवति मनसः ॥

मधुमथन इति यः अनवरतं भणति, तस्य कथन्न देवो मनोगोचरो भवती-तिविरोधालङ्कारच्छाया । सैन्धवभाषया महमह इत्यनया भणित्या समुन्मे-षिता ॥ ७ ॥

> अवस्थादिविभिन्नानां वाच्यानां विनिबन्धनम् । भूमैव दृश्यते लक्ष्ये तत्तु भाति रसाश्रयात्॥

अलङ्कारों और काव्यार्थों के लानन्त्य का। वह कर्मभूत भणि तवैचित्र्य कर्तृभूत होकर उत्पन्न करता है, यह सम्बन्ध है। कर्म के विशेषण के व्याज से हेतु दिखा दिया है।

'मघुमथन' यह शब्द जो निरन्तर कहता रहता है, देवता क्यों नहीं उसके मनोगोचर होते हैं, यह विरोध अलङ्कार की छाया है। 'महमह' इस सैन्धव भाषा की • उक्ति से वह (विरोधच्छाया) समुन्मेषित हुई है।। ७।।

यत्प्रदिशतं प्राक भू भ्रेव दृइयते लक्ष्ये-न तच्छक्यमपोहितुम्।

-तत्तु भाति रसाश्रयात्॥ ८॥ तदिदमत्र सङ्क्षेपेणाभिधीयते सत्कत्रीनामुपदेशाय-रसभावादिसम्बद्धाः यद्यौचित्यानुसारिणी । अन्वीयते वस्तुगतिर्देशकालादिभेदिनी ॥ ९॥ तत्का गणना कवीनामन्येषां परिमित्रकोनाम्। वाचस्पतिसहस्राणां सहस्रेरपि यह्नतः। निबद्धा साक्षयं नैति प्रकृतिर्जगतामिव ॥ १०॥ यथा हि जगत्प्रकृतिरतीतकल्पपरम्पराविर्भृतविचित्रवस्तुप्रपश्चा

है—छच्य में बहुतायत से देखा जाता है—उसका निराकरण नहीं किया जा सकता है-वह तो रस के आश्रय से शोभा देता है ॥ ८॥

तो यहाँ यह सत्कवियों के उपदेश के लिए संचेप से कहते हैं-

यदि रस, भाव आदि से सम्बद्ध, औचित्य का अनुसरण करने वाली, देश, काल आदि की भेद वाली वस्तुगति का अनुगमन करते हैं ॥ ९ ॥

तो अन्य परिमित शक्ति वाले कवियों की क्या गणना ?

हजारों हजार वाचस्पतियों द्वारा भी यत्नपूर्वक निवद वह जगत् की प्रकृति की भांति चीण नहीं हो सकती॥ १०॥

जिस प्रकार जगत् की प्रकृति अतीत कल्पों की परम्परा से विचित्र वस्तुप्रपञ्च को

लोचनम्

इति कारिका । अन्यस्तु प्रन्थो मध्योपस्कारः ॥ = ॥ अत्र तु पादत्रयस्यार्थमनुदा चतुर्थपादार्थोऽपूर्वतयामिधीयते। तदित्यादि शक्तीनामित्यन्तं कारिकयोर्मध्योपस्कारः । द्वितीयकारिकायास्तुर्थे पादं व्याचष्टे-यथाहीति ॥ ६-१०॥

कारिका के अतिरिक्त ग्रन्थ बीच का उपस्कार है।। द।।

यहाँ तीन पादों का अर्थ अनुवाद करके चतुर्य पाद का अर्थ अपूर्व रूप से अमिहित किया गया है। 'तो' से लेकर 'गणना' तक का ग्रन्थ दोनों कारिकाओं के बीच का उपस्कार है। दूसरी कारिका के चतुर्थ पाद की व्याख्या करते हैं — जैसे —॥ ९-१०॥

३८ ध्व०

सती पुनिरदानों परिक्षीणा परपदार्थनिर्माणशक्तिरिति न शक्यतेऽभि-धातुम् । तद्वदेवेयं काव्यस्थितिरनन्ताभिः कविमतिभिरुपश्चक्तापि नदा-नीं परिहीयते, प्रत्युत नवनवाभिर्व्युत्पत्तिभिः परिवर्धते । इत्थं स्थितेऽपि—

संवादास्तु भवन्त्यंव बाहुल्येन सुमेधसाम्। स्थितं होतत् संवादिन्य एव मेधाविनां बुद्धयः। किन्तु— नैकरूपतया सर्वे ते मन्तव्या विपश्चिता॥ ११॥

कथमिति चेत्-

संवादो ह्यन्यसाद्द्रयं तत्पुनः प्रतिबिम्बवत् । आलेख्याकारवत्तुल्यदेहिवच रारीरिणाम् ॥ १२॥

आविर्भूत [करती है, फिर अब पदार्थों के निर्माण की शक्ति परिचीण हो चुकी ज़मा नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार यह काव्यस्थिति अनन्त कविबुद्धियों द्वारा भी होकर इस समय समाप्त नहीं है, बिल्क नई-नई ब्युत्पित्तयों से बढ़ती जाती है। इस प्रकार स्थित होने पर भी—

वहुलतया सुमेधा जनों के संवाद हो ही जाते हैं।

क्योंकि यह माना जाता है कि मेधावी छोगों की बुद्धियाँ संवादिनी होती हैं। किन्तु—

विद्वान को उन सबको एक रूप से नहीं मानना चाहिए॥ ११॥ यदि कहो कैसे ? (तो कहते हैं)—

संवाद अन्य का साहरय होता है, वह फिर शरीरियों के प्रतिबिग्व की भांति, चित्र के आकार की भांति और तुल्य शरीरी की भांति रहता है ॥ १२ ॥

लोचनम्

संवादा इति कारिकाया अर्धं, नैकरूपतयेति द्वितीयम् ॥ ११ ॥ किमियं राजाज्ञेत्यभिप्रायेणाशङ्कते—कथमिति चेदिति । अत्रोत्तरम्— संवादो ह्यन्यसादृश्यन्तत्पुनः प्रतिबिम्बवत् ।

आलेल्याकारवत्तुल्यदेहिवच शरीरिणाम्॥

इत्यनया कारिकया। एषा खण्डीकृत्य वृत्ती व्याख्याता। शरीरिणामित्य-

'बहुलतया' यह कारिका का अधंभाग है; 'विद्वान् को' यह दूसरा भाग है ॥ ११'॥ क्या यह राजाज्ञा है ! इस अभिप्राय से आशक्ष्वा करते हैं—कैसे—। यहाँ उत्तर इस (११वीं) कारिका से है। इसे वृत्ति में खण्ड करके व्याख्यान किया है। और 'शरीरियों के' यह शब्द प्रति वाक्य में देखना चाहिए यह दिखाया है। शरीरी (अन्य

संवादो हि काव्यार्थस्योच्यते यदन्येन काव्यवस्तुना साद्द्रयम् । तत्पुनः शरीरिणां प्रतिबिम्बवदालेख्याकारवत्तुल्यदेहिवच त्रिधा व्यवस्थितम् । किञ्चिद्धि काव्यवस्तु वस्त्वन्तरस्य शरीरिणः प्रतिबिम्बकल्पम् , अन्यदालेख्यप्रख्यम् , अन्यत्तुल्येन शरीरिणा सद्द्यम् ।

तत्र पूर्वमनन्यात्म तुच्छात्म तदनन्तरम्। तृतीयं तु प्रसिद्धात्म नान्यसाम्यं त्यजेत्कविः॥१३॥ तत्र पूर्वं प्रतिबिम्बकल्पं कान्यवस्तु परिहर्तन्यं सुमितना। यत-स्तदनन्यात्म तान्विकश्ररीरश्च्यम्। तदनन्तरमालेख्यप्रख्यमन्यसाम्यं

(वह) कान्यार्थ का संवाद कहलाता है जो कि अन्य कान्य वस्तु के साथ साहरय है। फिर वह (साहरय) शरीरियों के प्रतिविग्ध की भांति, आलेख्य के आकार की भांति और तुल्य शरीरी की भांति तीन प्रकार से न्यवस्थित है। क्योंकि कुछ कान्यवस्तु शरीरी अन्य वस्तु का प्रतिविग्ध समान होता है, अन्य आलेख्य समान होता है और अन्य तुल्य शरीरी के सहश होता है।

उनमें पहला अनन्यात्म रूप होता है, उसके बाद का तुच्छात्म होता है, किन्तु

तीसरा प्रसिद्धात्म होता है, कवि अन्य के साम्य का त्याग न करे ॥ १३ ॥

उनमें पहला प्रतिविम्ब समान काम्यवस्तु सुमित के छिए त्याज्य है। क्योंकि वह अनन्यरूप अर्थात् तारिवक शरीर से शून्य होता है। उसके बाद का आलेख्य-

लोचनम्

यञ्जशब्दः प्रतिवाक्यं द्रष्टव्य इति दर्शितम् । शरीरिण इति । पूर्वमेव प्रतिलब्ध-स्वरूपतया प्रधानभूतस्येत्यथः ॥ १२ ॥

तत्र पूर्वमनन्यात्म तुच्छात्म तदनन्तरम् । तृतीयन्तु प्रसिद्धात्म नान्यसाम्यन्त्यजेत्कविः ॥

इति कारिका। अनन्यः पूर्वोपनिबन्धकाञ्यादात्मा स्वभावो यस्य तदन-न्यात्म येन रूपेण भाति तत्प्राक्कविस्पृष्टमेव, यथा येन रूपेण प्रतिबिन्धं भाति, तेन रूपेण बिन्धमेवैतत्। स्वयन्तु तत्कीदृशमित्यत्राह्—तात्विकशरीरशृन्य-

वस्तु) का—। अर्थात् पहले ही स्वरूप प्राप्त कर लेने का कारण प्रधानभूत का ।।१२॥ (१३वीं) कारिका। नहीं अन्य है पूर्व हुए उपनिबन्धन वाले काव्य से आतमा (रूप) स्वभाव जिसका वह अनन्यास्म है, जिस रूप से प्रतीत होता है वह पहले कवि द्वारा स्पृष्ट ही हुआ है, जैसे जिस रूप से प्रतिबिम्ब प्रतीत होता है उस रूप से यह बिम्ब ही है। किन्तु वह स्वयं कैसा है इस पर कहा है—तारिवक्र करीर से यून्य—।

शरीरान्तरयुक्तमि तुच्छात्मत्वेन त्यक्तव्यम् । तृतीयं तु विभिन्नकम्नीयशरीरसद्भावे सति ससंवादमि काव्यवस्तु न त्यक्तव्यं कविना । न हि शरीरी शरीरिणान्येन सद्दशोऽप्येक एवेति शक्यते वक्तुम् ॥१३॥ एतदेवोपपादियतुमुच्यते—

आत्मनोऽन्यस्य सङ्गावे पूर्वस्थित्यनुयाय्यपि । वस्तु भातितरां तन्व्याः शशिच्छायमिवाननम् ॥१४॥

समान अर्थात् अन्य का साम्य वाला अन्य शरीर से युक्त होकर भी तुच्छ्ररूप होने के कारण त्याज्य है। परन्तु तीसरा विभिन्न प्रकार के कमनीय शरीर के सद्भाव होने पर संवाद युक्त होने पर भी किव के द्वारा कान्यवस्तु त्याज्य नहीं है। शरीरी अन्य शरीर से सदश भी होकर 'एक ही है' यह नहीं कहा जा सकता।

इसी के उपपादनार्थ कहते हैं-

अन्य आत्मा के सद्भाव में अन्य की पूर्व स्थिति का अनुसरण करने वाला भी वस्तु (कान्यार्थ) तन्वी के शशिच्छाय मुख की भांति अधिकतर शोभा देता है॥ १४॥

लोचनम्

मिति । न हि तेन किञ्चिदपूर्वमुत्प्रेक्षितं प्रतिबिम्बमप्येवमेव । एवं प्रकारं व्याख्याय द्वितीयं व्याचष्टे-तदनन्तरन्ति । द्वितीयमित्यर्थः । अन्येन साम्यं यस्य तत्तथा । तुच्छात्मेति । अनुकारं ह्यनुकार्यवुद्धिरेव चित्रपुस्तादाविव न तु सिन्दूरादिबुद्धिः स्फुरति, सापि च न चारुत्वायेति भावः ॥ १३ ॥

एतदेवेति तृतीयस्य रूपस्यात्याज्यत्वम् ।

आत्मनोऽन्यस्य सङ्घावे पूर्वस्थित्यनुयाय्यपि । वस्तु मातितरान्तन्व्याश्शशिच्छायमिवाननम् ॥

इति कारिका खण्डीकृत्य वृत्ती पठिता । केषुचित्पुस्तकेषु कारिका उस (नये किव) ने कुछ अपूर्व की उत्प्रेक्षा नहीं की, प्रतिबिम्ब मी इसी प्रकार का होता है। इस प्रकार प्रथम प्रकार का व्याख्यान करके दूसरे का व्याख्यान करते हैं— उसके बाद का—। अर्थात् दूसरा। अन्य के साथ साम्य जिसका है वह उस प्रकार। तुच्छात्म—। भाव यह कि चित्रपुस्त आदि की भांति अनुकार में अनुकार्य की बुद्धि ही स्फुरित होती है न कि सिन्दूर आदि की बुद्धि। और वह भी चारुत्व के लिए नहीं होती॥ १३॥

'इसी के'—तृतीय रूप का यही अत्याज्यत्व है। (१४वीं) कारिका खण्ड करके

तन्त्वस्य सारभूतस्यात्मनः सद्भावेऽन्यस्य पूर्वस्थित्यनुयाय्यपि वस्तु भातितराम् । पुराणरमणायच्छायानुगृहीतं हि वस्तु श्रुरीरवत्परां शोभां पुष्यति । न तु पुनरुक्तत्वेनावभासते । तन्त्र्याः शशिच्छायमि-वाननम् ।

एवं तावत्ससंत्रादानां समुदायरूपाणां वाक्यार्थानां विभक्ताः सी-मानः । पदार्थरूपाणां च वस्त्वन्तरसद्यानां काव्यवस्तूनां नास्त्येव दोप इति प्रतिपादियतुमुच्यते—

अक्षरादिरचनेव योज्यते यत्र वस्तुरचना पुरातनी । नृतने स्फुरति काव्यवस्तुनि व्यक्तमेव खलु सान दुष्यति॥१५॥

तस्व अर्थात् सारभूत आत्मा के सद्भाव में अन्य की पूर्व स्थिति का अनुसरण करने वाला भी वस्तु अधिकतर शोभा देता है। पुरानी रमणीय छाया से अनुगृहीत यस्तु शरीर की भांति अधिक शोभा को बढ़ाती है। न कि पुनरुक्त रूप से अवभासित होती है। तन्वी के शशिच्छाय मुख की भांति।

इस प्रकार ससंवाद समुदायरूप वाक्यार्थों की सीमाएँ विभक्त हैं। और पदार्थरूप

वस्त्वन्तरसदश कान्यवस्तुओं का दोप नहीं है यह प्रतिपादनार्थ कहते हैं-

अत्तरादि की रचना की भांति जहाँ पुरानी वस्तुरचना की जाती है, न्तन कान्यवस्तु के स्फुरित होने पर स्पष्ट ही वह दूषित नहीं होती है ॥ १५ ॥

लोचनम्

अखण्डीकृता एव दृश्यन्ते । आत्मन इत्यस्य शब्दस्य पूर्वपिठताभ्यामेव

तत्त्वस्य सारभूतस्येति च पदाभ्यामर्थी निरूपितः ॥ १४ ॥

ससंवादानामिति पाठः । संवादानामिति तु पाठे वाक्यार्थे ह्याणां समुदा-यानां ये संवादाः तेषामिति वैयधिकरण्येन संगतिः । वस्तुशब्देन एको वा द्वौ वा त्रयो वा चतुरादयो वा पदानामर्थाः । तानि त्विति । अश्वराणि च पदानि च । तान्येवेति । तेनैव हृपेण युक्तानि मनागण्यन्यहृपतामनागतानीत्यर्थः । वृत्ति में पढ़ी है । किन्हीं पुस्तकों में कारिकाएँ अखण्डीकृत ही देखी जाती हैं। 'आत्मा' इस शब्द के पहले ही पठित 'तत्त्व' और 'सारभूत' इन पदों से अर्थ-निरूपण

किया है।। १४।।

'ससंवाद' यह पाठ है। 'संवाद' इस पाठ में तो 'वाक्यार्थं रूप समुदायों के जो संवाद हैं उनकी' यह वैयधिकरण्य से संगति होगी। 'वस्तु' शब्द से एक अथवा दो अथवा तीन अथवा चार आदि पदार्थं (विवक्षित हैं)। वे—। अक्षर और पद। वे ही—। उसी रूप से युक्त अर्थात् थोड़ी भी अन्य रूपता को न प्राप्त हुईं। इस प्रकार

न हि वांचस्पतिनाप्यक्षराणि पदानि वा कानिचिदपूर्वाणि घट-यितुं शक्यन्ते । तानि तु तान्येवोपनिबद्धानि न काव्यादिषु नवतां विरुध्यन्ति । तथैव पदार्थरूपाणि क्लेषादिमयान्यर्थतत्त्वानि ।

तस्मात्-

यदिप तदिप रम्यं यत्र लोकस्य किश्चित्-स्फुरितमिदमितीयं बुद्धिरभ्युज्जिहीते । स्फुरणेयं काचिदिति सहदयानां चमत्कृतिरुत्पद्यते ।

वाचरपित भी कुछ अपूर्व अचरों अथवा पदों को बना नहीं सकते। वे तो वे ही उपनिबद्ध होकर काव्य आदि में नवीनता का विरोध नहीं करते। उसी प्रकार पदार्थ रूप रलेपादिभव अर्थतस्व भी। इसिक्ष्ण जहाँ लोगों की 'यह नई सूझ (स्फुरण) है' यह बुद्धि उरपन्न होती है वह जो भी हैं 'रस्य' (कहलाता) है।

यह कोई (अपूर्व) स्फुरण है यह सहदयों के चमस्कार उत्पन्न होता है।

लोचनम्

एवमक्षरादिरचनैवेति दृष्टान्तभागं व्याख्याय दार्ष्टीन्तके योजयति—तथैवेति । रलेषादिमयानीति । ऋषादिस्वभावानीत्यर्थः । सद्वृत्ततेजस्विगुणद्विजादयो हि राव्दाः पूर्वपूर्वरिष कविसह्स्नः ऋषच्छायया निबध्यन्ते, निबद्धाश्चन्द्राद्यश्चो पमानत्वेन । तथैव पदार्थेह्रपाणीत्यत्र नापूर्वीण घटयितुं शक्यन्ते इत्यादि विरुध्यन्तीत्येवमन्तं प्राक्तनं वाक्यमिसन्धानीयम् ॥ १४ ॥

'लोकस्ये'ति व्याचष्टे—सहृदयानामिति । चमत्कृतिरिति । आस्वादप्रधाना बुद्धिरित्यर्थः । 'अभ्युजिहीत' इति व्याचष्टे—उत्पद्यत इति । उदेतीत्यर्थः ।

युद्धेरेवाकारं दर्शयति - स्पुरणेयं काचिदिति ।

यदिप तदिप रम्यं यत्र लोकस्य किञ्चित् स्फुरितिमदिमितीयं वुिंदरभ्युज्जिहीते।

'अक्षर आदि की रचना की मांति' इस दृष्टान्त मांग की व्याख्या करके दाष्ट्रान्तिक में लगाते हैं—उसी प्रकार—। रलेषादिमय—। अर्थात् क्लेष आदि के स्वभाव वाले। 'सबुत्त' 'तेजस्वी' 'गुण' 'द्विज' आदि शब्दों को पहले के हजारों किवयों ने क्लेप की छाया से निबन्धन किया है, और चन्द्र आदि को उपमान रूप से निबन्धन किया है। उसी प्रकार 'पदार्थ रूप' इसमें 'अपूर्व की घटना नहीं की जा सकती 'विरोध नहीं करते' इत्यादि पूर्व वाक्यों को लगा लेना चाहिए।

'लोगों की' इसकी ब्यास्था करते हैं—सहद्यों के—। चमस्कार—। अर्थात् आस्वाद प्रधान बुद्धि। ('अभ्यु बिहीते') इसकी ब्यास्था करते हैं—उरपन्न होता है—। अर्थात्

अनुगतमिप पूर्वच्छायया वस्तु ताहक् सुकविरुपनिबध्नन्निन्चतां नोपयाति ॥ १६॥

तदनुगतमि पूर्वच्छायया वस्तु ताद्यक् ताद्यः सुकविविविश्वतव्य-इच्याच्यार्थसमपेणसमर्थशब्दरचनारूपया वन्धच्छाययोपनिवध्निन्द्यतां नैव याति । तदित्थं स्थितम्—

प्रतायन्तां वाचो निमितविविधार्थामृतरसा न सादः कर्तव्यः कविभिरनवद्ये स्वविषये।

सन्ति नवाः काच्यार्थाः परापनिवद्धार्थविरचने न कश्चित्कवेर्गुण इति भावयित्वा ।

परस्वादानेच्छाविरतमनसो वस्तु सुकवेः

पूर्व की छाया से अनुगत भी वस्तु को उस प्रकार सुकवि उपनिबन्धन करता हुआ निन्दा का पात्र नहीं बनता ॥ १६॥

वह पूर्व की छाया से अनुगत भी वस्तु को उस प्रकार सुकवि विविद्यतन्यक्षय और वाच्य अर्थ के समर्पण में समर्थ शब्द की रचना रूप बन्धच्छाया से उपनिबन्धन करता हुआ सुकवि निन्दा का पात्र नहीं बनता।

तो ऐसा ठहरा—
(किव छोग) अमृत रस के तुल्य विविध अथौंवाछी वाणियों का प्रसार करें,
किवयों को अनवद्य अपने विषय के प्रति विषाद नहीं करना चाहिए।

नये अर्थ हैं, दूसरे द्वारा उपनिवद अर्थ की रचना में कवि का कोई गुण नहीं

यह सोच कर।
दूसरे के स्व (विषय) के ग्रहण से विरत मन वाले सुकवि के यह सरस्वती
लोचनम्

अनुगतमपि पूर्वच्छायया वस्तु तादृक् सुकविरुपनिबध्निबन्द्यतां नोपयति ॥

इति कारिका खण्डीकृत्य पठिता ॥ १६ ॥
स्विषय इति । स्वयन्तात्कालिकत्वेनास्फुरित इत्यर्थः । परस्वादानेच्छेत्यादिस्विषय इति । स्वयन्तात्कालिकत्वेनास्फुरित इत्यर्थः । परस्वादानेच्छेत्यादिद्वितीयं ऋोकार्थं पूर्वोपस्कारेण सह पठिति—परस्वादानेच्छाविरतमनसो वस्तु
दिति होता है । बुद्धि का ही आकार दिखाते हैं—'कोई (अपूर्व) स्फुरण'—।
(१६वीं) कारिका को खण्ड करके पढ़ा है।

अपने विषय के प्रति—। अर्थात् स्वयं तात्कालिक रूप से स्फुरित न हुए। 'परस्वादानेच्छा' इत्यादि द्वितीय श्लोकार्ध को पहले उपस्कार के साथ पढ़ते हैं—

सरस्वत्येवैषा घटयति यथेष्टं भगवती ॥ १७॥

परस्वादानेच्छाविरतमनसः सुकवेः सरस्वत्येषा भगवती यथेष्टं घटयति वस्तु । येषां सुकवीनां प्राक्तनपुण्याभ्यासपरिपाकवशेन प्रवृत्तिस्तेषां परोपरचितार्थपरिग्रहनिःस्पृहाणां स्वच्यापारो न क्रचिदु-पयुज्यते । सैव भगवतो सरस्वती स्वयमभिमतमर्थमाविभीवयति । एतदेव हि महाकवित्वं महाकवीनामित्योम् ।

इत्यक्किष्टरसाश्रयोचितगुणालङ्कारशोभाभृतो

भगवती ही यथेष्ट वस्तु को घटित करती है।। १७॥

दूसरे के स्व (विषय) के ग्रहण से विरत मन वाले सुकवि के यह भगवती सरस्वती यथेष्ट वस्तु घटित कर देती है। जिन सुकवियों की प्रवृत्ति पूर्व जन्म के पुण्य और अभ्यास के परिपाक के कारण होती है। दूसरों द्वारा रचित अर्थ के ग्रहण में निःस्पृह सुकवियों को अपना न्यापार कहीं नहीं करना पड़ता। वही भगवती स्वयं अभिमत अर्थ को आविर्भृत करती है। यही महाकवियों का महाकविस्व है। ओम्।

इस प्रकार अक्टिष्ट, रसके आश्रय से उचित गुण और अलंङ्कार की शोभा वाले लोचनम

सुकवेरिति तृतीयः पादः । कुतः खल्वपूर्वमानयामीत्याशयेन निरुद्योगः परोप-निबद्धवस्तूपजीवको वा स्याहित्याशङ्कः चाह—सरस्वत्येवेति ! कारिकायां सुकवेरिति जातावेकवचनमित्यभिशायेण व्याच्छे—सुकवीनामिति । एतदेव स्पष्टयति—प्राक्तनेत्यादि न तेषामित्यन्तेन । आविर्मावयतीति । नूतनमेव सुजतीत्यर्थः ॥ १७ ॥

इतीति । कारिकातद्वृत्तिनिरूपणप्रकारेणेत्यर्थः । अक्तिष्टा रसाश्रयेण उचिता ये गुणालङ्कारास्ततो या शोभा तां विभित्ते काव्यम् । उद्यानमप्यक्षिष्टः 'परस्वादानेच्छाविरतमनसो वस्तु मुकवेः' यह तृतीय पाद है। 'अपूर्व (वस्तु) को कहाँ से लाऊं ?' इस आश्रय से निरुद्योग होकर दूसरों द्वारा उपनिवद्ध वस्तु का उपजीवक होगा, यह आश्रद्धा करके कहते हैं—सरस्वती—। कारिका में 'मुकवि' यह जाति में एकवचन है, इस अभिप्राय से व्याख्या करते हैं—सुकवियों की। इसे ही स्पष्ट करते हैं—पूर्वजन्म से लेकर उन (मुकवियों) को तक द्वारा। आविश्तंत करता है—अर्थात् तृतन ही मुजन करता है।। १७॥

इस प्रकार—। अर्थात् कारिका और उसकी वृत्ति के निरूपण के प्रकार से । अक्तिष्ट, रस के आश्रय से उचित जो गुण-अलङ्कार उससे जो शोभा उसे धारण करता है काब्य । उंद्यान भी अक्रिष्ट, कालोचित सेकादिकृत जो रस उसका आश्रय अर्थात् तत्कृत

यस्माद्रस्तु समीहितं सुकृतिभिः सर्वं समासाद्यते । काव्याख्येऽखिलसौख्यधाम्नि विबुधोद्याने ध्वनिर्दर्शितः सोऽयं कल्पतरूपमानमहिमा भोग्योऽस्तु भव्यात्मनाम् ॥

जिस (कान्य नामक उद्यान) से सुकृती छोग समस्त सभी वस्तु को प्राप्त करते हैं, अखिल सौख्य के धाम कान्य नामक विद्युधोद्यान में कल्पतर की भांति महिमा वाला वह यह ध्वनि दिखाया गया सौभाग्यशाली छोगों का भोग्य बने।

लोचनम्

कालोचितो यो रसः सेकादिकृतः तदाश्रयस्तत्कृतो यो गुणानां सौकुमार्य-च्छायावत्वसौगन्ध्यप्रभृतीनामलङ्कारः पर्याप्तताकारणं तेन च या शोभा तां बिभित । यस्मादिति काव्याख्यादुद्यानात् । सर्व समीहितिमिति । व्युत्पित्त-कीर्तिप्रीतिलक्षणमित्यर्थः । एतच सर्व पूर्वमेव वितत्योक्तमिति स्रोकार्थमात्रं व्याख्यातम् । सुकृतिभिरिति । ये कष्टोपदेशेनापि विना तथाविधफलभाजः तैरित्यर्थः । स्राव्यत्मामीति । अखिलं दुःखलेशेनाप्यननुविद्धं यत्सौख्यं तस्य धाम्न एकायतन इत्यर्थः । सर्वथा प्रियं सर्वथा च हितं दुर्लमं जगतीति भावः । विद्युधोद्यानं नन्दनम् । सुकृतीनां कृतज्योतिष्टोमादीनामेव समीहिता-सादनिर्मित्तम् । विद्युधाश्र्यं काव्यतत्त्वविदः । दिशत इति । स्थित एव सन् प्रकाशितः, अप्रकाशितस्य हि कथं भोग्यत्वम् । कल्पतरुणा उपमानं यस्य ताद्यक्मिहमा यस्येति बहुत्रीहिगर्भो बहुत्रीहिः । सर्वसमीहितप्राप्तिर्हि काव्ये तदेकायत्ता । एतचोक्तं विस्तरतः ।।

जो सौकुमार्य, छायावत्त्व, सौगन्ध्य प्रभृति गुणों का (जो) अलङ्कार अर्थात् पर्याप्तता का कारण उससे जो शोभा उसे धारण करता है। जिससे अर्थात् काव्य नामक उद्यान से। समस्त समीहित—। अर्थात् व्युत्पत्ति, कीर्ति, प्रीति रूप। यह सब पहले ही विस्तार करके कह चुके हैं इसलिए क्लोक अर्थमात्र का व्याख्यान किया है। सुकृती लोग—। अर्थात् जो कष्टकर उपदेश के विना भी उस प्रकार के फल प्राप्त कर चुके हैं वे। अखिल सौख्य के धाम—। अर्थात् अखिल, दुःखलेश से भी जो अननुविद्ध सौख्य है उसके धाम अर्थात् एक आयतन। भाव यह कि जगत् में सर्वथा प्रिय और सर्वथा हित दुलंभ है। विबुधोद्यान अर्थात् नन्दन। सुकृती अर्थात् ज्योतिष्ट्रोम आदि किए हुए लोगों का ही समीहित के आसादन का निमित्त। और विबुध अर्थात् काव्यतत्त्वविद् लोग। का ही समीहित के आसादन का निमित्त। और विबुध अर्थात् काव्यतत्त्वविद् लोग। दिखाया गया है—। स्थित होता हुआ ही प्रकाशित है, क्योंकि अप्रकाशित भोग्य केंसे हो सकता है? कल्पत्व से उपमान है जिसका, उस प्रकार की महिमा है जिसकी यह हो सकता है? कल्पत्व से उपमान है जिसका, उस प्रकार की महिमा है जिसकी यह बहुन्नीहिग्न में बहुन्नीहि है। काव्य में सभी समीहितों की प्राप्ति एकमात्र उस (ध्विन) के अर्थान है। और इसे विस्तारपूर्वक कह चुके हैं।

सत्काव्यतत्त्वनयवर्त्मचिरप्रसुप्त-कल्पं मनस्सु परिपक्किघयां यदासीत् । तज्जाकरोत्सहृद्योदयलाभहेतो-रानन्दवर्घन इति प्रथिताभिधानः॥ इति श्रीराजानकानन्दवर्घनाचार्यविरचिते ध्वन्यालोके चतुर्थ उद्द्योतः।

सत्कान्य के तत्त्व का नीतिमार्ग जो परिपक्ष बुद्धि वार्लों के मन में चिरप्रसुप्तकस्प था उसे 'आनन्दवर्धन' इस प्रथित अभिधान वाले ने सहद्यजनों के उद्यलाम के लिए न्यास्यान किया।

000000

श्रीराजानक आनन्दवर्धनाचार्य विरचित ध्वन्यालोक में चतुर्थ उद्योत समाप्त हुआ।

-D#G-

लोचनम्

सत्काव्यतत्त्वनयवर्तमं चिरप्रसुप्त-कल्पं मनस्सु परिपक्षधियां यदासीत्। तद्वयाकरोत्सहृदयोदयलामहेतोः

इति सम्बन्धाभिषेयप्रयोजनोपसंहारः। इह बाहुल्येन लोको लोकप्रसिद्धशा सम्भावनाप्रत्ययबलेन प्रवर्तते। स च सम्भावनाप्रत्ययो नामश्रवणवशात्प्रसि-द्धान्यतदीयसमाचारकवित्वविद्वत्तादिसमनुस्मरऐन भवति। तथाहि—भर्तृह-रिणेदं कृतम्—यस्यायमौदार्यमहिमा यस्यास्मिञ्छास्त्रे एवंविधस्सारो दृश्यते

(अन्तिम क्लोक के तीन पादों में) (ध्वनिष्वरूप और इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य-प्रतिपादक भाव) सम्बन्ध, अभिधेय (ध्वनिस्वरूप) और प्रयोजन (ध्वनिस्वरूप के ज्ञान से प्रीति) का उपसंहार है। यहाँ लोग बहुलतया लोकप्रसिद्धि द्वारा सम्भावना-प्रत्यय के बल से (अर्थात् लोगों में स्थाति देखकर गौरव की भावना के बल से) प्रवृत्त होते हैं। और सम्भावनाप्रत्यय नाम सुनने के कारण उसके अन्य प्रसिद्ध समाचार, कवित्व और विद्वत्ता आदि के सम्यक् अनुस्मरण से होता है। जैसा कि—'भनृंहरि ने इसे रचा है', जिसकी यह औदार्यमहिमा है, जिसके इस शास्त्र में इस प्रकार का सार

लोचनम्

तस्यार्थं स्रोकप्रबन्धस्तस्मादादरणीयमेति ति लोकः प्रवर्तमानो दृश्यते । लोकश्चावश्यं प्रवर्तनीयः तच्छास्त्रोदितप्रयोजनसम्पत्तये । तदनुप्राह्यश्रोतृजन-प्रवर्तनाङ्गत्वाद् प्रन्थकाराः स्वनामनिबन्धनं कुर्वन्ति, तदिभप्रायेणाह्—आनन्द-वर्धन इति । प्रथितशब्देनैतदेव प्रथितं यत् तदेव नामश्रवणं केपाश्चित्रिवृत्तिं करोति, तन्मात्सर्यविज्ञुन्भितं नात्र गणनीयम् , निश्रेयसप्रयोजनादेव हि श्रुता-त्कोऽपि रागान्धो यदि निवर्तते किमेतावता प्रयोजनमप्रयोजनमप्यवश्यं वक्त-व्यमेव स्यात् । तस्मादिश्नां प्रवृत्त्यङ्गन्नाम प्रसिद्धम् ।

स्फुटीकृतार्थवैचित्र्यबहि:प्रसरदायिनीम् ॥ तुर्यो शक्तिमहं वन्दे प्रत्यक्षार्थनिदर्शिनीम् ॥ आनन्दवर्धनिववेकविकासिकाव्या-लोकार्थतत्त्वघटनादनुमेयसारम् । यत्प्रोन्मिषत्सकलसद्विषयप्रकाशि-व्यापार्यताभिनवगुप्तविलोचनं तत् ॥

श्रीसिद्धिचेलचरणाव्जपरागपूत-भट्टेन्दुराजमितसंस्कृतबुद्धिलेशः।

देखा जाता है उसका यह क्लोकप्रबन्ध है इसिलए यह आदरणीय है इस प्रकार लोग प्रवृत्त होते हुए देखे जाते हैं। और लोगों को उस शास्त्र में उक्त प्रयोजन की सम्प्राप्ति के लिए अवश्य प्रवृत्त करना चाहिए, इसिलए अनुप्राह्य श्रोताजनों के प्रवर्तन के अङ्ग होने के कारण ग्रन्थकार अपने नाम का निबन्धन करते हैं, उस अभिप्राय से कहते हैं—आनन्दं-वर्धन—। 'प्रथित' शब्द से यही प्रकाशित किया है कि जो कि वही नाम श्रवण कुछ जनों को (प्रवृत्त करने के बजाय) निवृत्त करता है, वह मात्सर्य से विजृम्भित होने के कारण गणनीय नहीं है, क्योंकि यदि कोई रागान्ध व्यक्ति निःश्रेयस कप प्रयोजन को सुनकर ही निवृत्त हो जाता है तो इससे क्या, प्रयोजन से अथवा अप्रयोजन, अवश्य ही कहना चाहिए। इसिलए नाम अधिजनों की प्रवृत्ति का अङ्ग है।

स्पष्ट किए हुए अर्थ-वैचित्र्य को बाहर प्रसार देने वाली, प्रत्यक्ष अर्थ का निदर्शन करने वाली तुर्या (वैखरी) शक्ति की मैं वन्दना करता हूँ।

आनन्दवर्धन के विवेक से प्रकाशित काव्यालोक के अर्थतत्त्वों को लगाने से अनुमेय रूप सार वाला जो (सहृदयों के हृदय में) प्रकाशमान सारे सद्विषयों को प्रकाशित करने वाला है वह अभिनवगुप्त का विशिष्ट 'लोचन' व्यापारित हुआ।

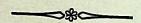
श्रीसिद्धिचेल (नामक गुरु) के चरणकमल के पराग से पवित्र भट्ट इन्दुराज की

लोचनम्

वाक्यप्रमाणपद्वेदिगुरुः प्रबन्ध-सेवारसो व्यरचयद्ध्वनि वस्तुवृत्तिम्।।

सज्जनान् कविरसौ न याचते ह्लादनाय शशसृत्किमर्थितः।
नैव निन्द्ति खलान्मुहुर्मुहुर्धिक्कृतोऽपि न हि शीतलोऽनलः॥
वस्तुतिश्रावमये हृदि स्फुटं सर्वतिश्रावमयं विराजते।
नाशिवं कचन कस्यचिद्वचस्तेन विश्रावमयी दशा भवेत्॥

इति महांमाहेश्वराभिनवगुप्तविरचिते काव्यालोकलोचने चतुर्थं उद्योतः।



मित से संस्कृत बुद्धिलेश वाले, वाक्य (मीमांसा), प्रमाण (न्याय) और पद (व्याकरण) को जानने वालों में श्रेष्ठ, प्रवन्ध सेवा में रस लेने वाले (अभिनवगुप्त ने) (ध्विन के) मार्ग में (लोचन रूप) वस्तु वृत्ति की रचना की।

यह किव सज्जनों से (अपने ग्रन्थ के अवलोचनार्थ) याचना नहीं करता, क्या प्रसन्न करने के लिए चन्द्रमा से प्रार्थना की जाती है ? और (यह किव) खलों की बार-बार निन्दा नहीं करता, (क्योंकि खल जनों द्वारा) तिरस्कार का पात्र बनकर भी अग्नि श्रीतल नहीं होता।

वास्तव में शिवमय हृदय में सर्वत्र स्पष्ट रूप से शिवमय तत्त्व विराजमान है कहीं किसी का वचन अशिव नहीं है इसलिए आप लोगों की स्थिति शिवमयी हो।

महामाहेश्वर अभिनवगुप्त द्वारा विरचित काव्यालोक लोचन में चतुर्थं उद्योत समाप्त हुआ।

しか来の

समामोऽयं ग्रन्थः।

परिशिष्ट

ध्वनिकारिकार्धसूची

	20		48
अ		आ	
अकाण्ड एव विच्छित्तिः	३९६	आक्षिप्त प्वालङ्कारः	२५१
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्काराः	२१६	आत्मनोऽन्यस्य सद्भावे	५९६
अक्षरादिरचनेव थोज्यते	499	आनन्त्यमेव वाच्यस्य	463
अतिव्याप्तेरथाव्याप्तेः	१५०	आलेख्याकारवत्तुल्य०	498
अतो ह्यन्यतमेनापि	446	आलोकार्थो यथा दीप०	96
अनुगतमपि पूर्वेच्छायया	499	3	
अनुस्वानोपमन्यङ्गयः	२७८	इतिवृत्तवशायातां	340
अनुस्वानोपमात्मापि	३७६	इत्युक्तलक्षणी यः	448
अनेनानन्त्यमायाति •	440		110
अपृथग्यलिनवैर्त्यः	२३१	a ,	
अर्थशक्तेरलङ्कारः	205	उक्त्यन्तरेणाशक्यं यत्	१५५
अर्थशक्त्युद्भवस्त्वन्यः	२६७	उत्प्रेक्ष्याप्यन्तरामीष्ट०	३६०
अर्थान्तरगतिः काका	406	उद्दीपनप्रश्नमने	37.
अर्थान्तरे संक्रमितं	१७४	Ų	
अर्थोऽपि द्विविधो ज्ञेयः	२७४	एकाश्रयत्वे निर्दोषः	829
अलङ्कारान्तरव्यङ्गय०	. ३०१	एको रसोऽङ्गीकर्तव्यः	884
अलङ्कारान्तरस्यापि	240	एतद्यथोक्तमौचित्यं	340
अलंकतीनां शक्तावपि	३६०	एवं ध्वनेः प्रभेदाः प्र॰	440
अलोकसामान्यमभिन्यनक्ति	97		
अवधानातिशयवान् े	४३७	औ	
, अवस्थादिविभिन्नानां	497	औचित्यवान् यस्ता एताः	885
अवस्थादेशकालादि	463	क	5000
अविरोधी विरोधी वा	४२०	कस्यचिद् ध्वनिमेदस्य	१६७
अविविक्षितवाच्यस्य	३१२	कार्यभेकं यथा व्यापि	880
अन्युत्पत्तेरशक्तेर्वा	२०७	काले च प्रहणस्यागी	२३७
अशन्तुवद्भिर्व्याकर्तु	448	कान्यप्रभेदाश्रयतः	347
असंब्ह्यक्रमोद्योतः	१८इ	काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति नुषैः	c
असमासा समासेन	३३७	काव्यस्यात्मा स एवार्थः	CE
अस्फुटस्फुरितं काव्य०	488	कान्ये उमे ततोऽन्यव	424

***************************************	***************************************		~~~~~
	र्वेड		99
काव्ये तस्मिन्नलङ्कारः	२०१	ध्वनेरस्य प्रवन्धेपु	३७६
कृत द्धितसमासैश्र	३७९	ध्वनेरात्माङ्गिभावेन	१८३
ऋमेण प्रतिभात्यात्मा	240	ध्वनेरित्थं गुणीभूत०	400
की ब्रद्धन्द्रवियोगोत्थः	८६	ध्वनेर्यः सगुगीभूत०	440
ग		ध्वन्यात्मन्येव शृङ्गारे	२२५
		ध्वन्यात्मभूते शङ्गारे	२३०, २३५
गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती	३३७	न	
च		न काव्यार्थविरामोऽस्ति	
चारुत्वोत्कर्पती व्यङ्गधः	३०२	न तु केवलया शास्त्र०	440
चित्रं शब्दार्थभेदेन	424	निवद्धा सा क्षयं नैति	३६०
त		निर्व्युढाविष चाङ्गरवे	493
		निवर्तते हि रसयोः	230
त एव तु नियेश्यन्ते	. ३२८	नूतने स्फुरति काञ्यवस्तुनि	४३५
नत्परत्वं न वाच्यस्य	२८०	नैकरूपतया सर्वे	५९७
नत्र किञ्चिच्छब्दचित्रं	५२५	नोपहन्त्यङ्गितां सोऽस्य	498
तत्र पूर्वमनन्यात्म	494	नापहरत्वाङ्गता साउत्य	४१६
तत्र वाच्यः प्रसिद्धीयः	४६	प	
तथा दीर्घसमासेति	३३७	परस्वादानेच्छाविरतमनसः	५९९
तथा रसस्यापि विधी	४१७	परिपोषं गतस्यापि	३९६
तदन्यस्यानुरणन०	३१२	परिपोषं न नेतन्यः	850
तदा तं दीपयन्त्येत्र	३२८	प्रकारोऽन्यो गुणीभूत०	४९२
तदुपायतया तद्वत्	96	प्रकारोऽयं गुणीभूत०	488
तद्वत्सचेतसां सोऽर्थः	१०२	प्रतायन्तां वाची निमित्त०	499
तद्विरुद्धरसस्पर्शः	४३७	प्रतीयमानं पुनरन्यदेव	80
तद्व्यक्तिहेत् शन्दार्थी	. २१९	प्रतीयमानच्छायैषा	५०६
तन्मयं कान्यमाश्रित्य	२१७	प्रधानगुणभावाभ्यां	424
तमथमबङम्बन्ते	२१६	प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे	२०१
तस्याङ्गानां प्रभेदा ये	२२७	प्ररन्थस्य रसादीनां	3€0
रतीयं तु प्रसिद्धात्म	499	प्रबन्धे मुक्तके वापि	३९५
तेऽल्ङ्काराः परां खायां	₹00	प्रसन्नगम्भीरपदाः	४९६
तेषामानन्त्यमन्योन्य०	२२७	प्रसिद्धेऽपि प्रबन्धानां	824
₹ .		प्रायेणैव परां छायां	४९७
दिङ्गात्रं त्च्यते येन	228	प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्न ०	२७४
दृष्टपूर्वा अपि दार्थाः	4६७	4	
घ		बहुषा व्याकृतः सोडन्यैः	४६
नत्ते रसादितात्पर्यं •		बाध्यानामङ्गभावं वा	802
वं ध्यन्यकृता नासां	428	बुद्धिरास।दितारोका	२२९
ं विभागात्राह्म	३०१	उद्यो तत्वार्थदिशन्यां	. १०२

***************************************	*****	***********	******
	वृष्ठ ।		र्ष
¥		रसादिमय एकस्मिन्	५६९
भक्त्या विभाति नैकत्वं	१४९	रसादिविषयेणैतत्	885
भवेत्तिसम् प्रनादो हि	४३७	रसाचनुगुणत्वेन	885
भूम्नेव दृश्यते लक्ष्ये	५९३	रसान् तित्रयमे हेतुः	३३७, ३४७
н		रसान्तरव्यवधिना	४२९
माध्यमाईतां याति	२१८	रसान्तरसमावेशः	४१६
मिथोऽप्यनन्तनां प्राप्तः	५६४	रसान्तरान्तरितथोः	884
मुख्यां वृत्ति परित्यज्य	१५७'	रूढा ये विषयेऽन्यत्र	१५६
मुख्या महाकविगिरां	408	रूपकादिरलङ्कार०	२३५, २३७, २७८
		रोद्रादयो रसा दीप्त्या	२१९
य		ल	
यत्तरप्रमिद्धात्रयवातिरिक्तं	४७		150
यतः कार्यः सुमिनना	३९५	लक्षगेऽन्यैः कृता चास्य	१६९
दल्तनः प्रत्यभिन्नेयौ	9,9	लावण्याचाः प्रयुक्तास्ते	१५६
यत्र प्रनीयमानोऽर्थः	3.05	व	
यत्र व्यङ्गश्रान्वये वाच्य०	865	वस्तु भातितरां तन्व्याः	. 498
यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थ०	१०२	वाक्ये सङ्घटनायां च	३२७
यत्राविष्क्रियते स्वीक्त्या	२७२	वाचकत्वाश्रयेणैव	१५९
यथा पदार्थद्वारेण	99	बाचस्पतिसहस्राणां	५९३
यथा व्यापारनिष्पत्ती	. १०१	वाच्यप्रतीयमानाख्यौ	84
यदपि तदपि रम्यं यत्र	496	वाच्यवाचकचारुत्व०	१८९
यदुद्दिश्य फर्ल तत्र	१५७	वाच्यस्याङ्गतया वापि	303
यद्व्यङ्गयस्याङ्गिभूतस्य	३०९	वाच्यानां वाचकानाञ्च	885
यस्तात्पर्येण वस्त्वन्यत्	. २६७	वाच्यार्थपूर्विका तदत्	99
यस्त्वलक्ष्यक्रमन्यद्गयः	३२७	वाच्यालङ्कारवर्गोऽयं	899
यस्मित्रनुक्तः शब्देन	२५१	वाणी नवत्वमायाति	446
युक्त्याऽनयाऽनुसर्तव्यः	4६४	विज्ञायेत्थं रसादीनां	880
ये च तेषु प्रकारोऽयं	४९६	विधिः कथाशरीरस्य	, ३५९
योऽर्थः सहृदयह्लाच्यः	*\$	विनेयानुन्मुखोकर्तु	४३७'
7		विभावभावानुभाव॰	३५९
रचनाविषयापेक्षं	३५८	विरुद्धैकाश्रयो यस्तु	820
रसमावतदाभास०	१८३	विरोधमविरोधन्न	४३६
रसमावादिसम्बद्धा			३२८
रसबन्धे क्तमौचित्यं	५९३		398
रसस्यारव्यविश्रान्तः	346	The same of the sa	२३६
रसस्य स्याद् विरोधाय	३६०		१८३
रसाक्षिप्ततया यस्य	398		805
रसादिपरता यत्र	२३१		*\$6
44 min 1/m 44	१८९	विशेषतस्तु शकारे	

			~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~
विषयं सुकविः कात्र्यं	Q.		28
विषयाम्यमप्यन्यद्	880		र र ५
विस्तरेणान्वितस्यापि	343		
वृत्तयोऽपि प्रकाशन्ते	३९६	संख्यातुं दिखात्रं	
वेद्यते स तु काव्यार्थं	442	संवादास्तु भवन्त्येव	440
व्यक्षः काञ्यविशेषः स	48	संवादोत्यन्तसादृश्यं	498
व्यक्षयम्यञ्चकमेदेऽस्मिन्	१०२	संगुणीभूतव्यङ्गयैः सालङ्कारैः	"
व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण	५६९	सङ्करसंस्रष्टिम्यां पुनः	५३३
=गण्याची	३०१	सत्काव्यं कर्तुं वा ज्ञातुं	,
<b>च्यश्र</b> कत्वैकमूलस्य	१५९	सिक्स-जन्म	५५१
रा		सन्धिसन्ध्यङ्गघटनं	३६०
शक्तावि प्रमादित्वं	. 230	स प्रसादो गुणो ज्ञेयः	र-२४
शन्दतत्त्वाश्रयाः काश्चित्	442	समर्पकत्वं काव्यस्य	२२४
शब्दस्य स च न ह्येयः	₹00	सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु	. 97
शब्दार्थशक्तिम्लत्वात्		सर्वत्र गद्यवन्धेऽपि	346
शब्दार्थश्वत्याक्षिप्तोऽपि	२५०	सर्वे नवा इवामान्ति	५६७
शब्दार्थशासन्ज्ञान०	२७१	सर्वेष्येव प्रभेदेषु	२३०
शब्दो व्यञ्जकतां विश्रत्	88	स विभिन्नाश्रयः कार्यः	. ४२७
शरीरीकरणं येषां	१५५	स सर्वो गम्यमानत्वं	२७८, ३०९
श्रषो सरेफसंथोगः	३००	सा व्यक्तयस्य गुणामावे	406
	३२८	सुप्तिङ्बचनसम्बन्धैः	३७९
मुङ्गारस्याङ्गिनो यत्नात्	२३०	सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्यं	90
युङ्गार एव मधुरः	२१७	स्वसामध्यं वशेनैव	१०१
पृहारे विप्रलम्माख्ये		स्वेच्छाकेसरिणः	. 3

## वृत्तिग्रन्थ-पद्मसू ची

		पृष्		
	প		उद्दामोत्कलिकां [ रलावली, २।४ ]	£8
	अङ्कुरितः पह्नवितः	२९५	वन्नतः प्रोछसद्धारः	580
	अञ्जाएं पहारी णवलदाए	१५३	जियादार्थेण विकास	२५९
	अण्णत्त वच्च बालअ	San Company		808
	अतहटिठए वि तहसण्डिए	324	उपहजाआएं असोहिणीएं	428
	अतिक्रान्तसुखाः कालाः [ न्महर्षिन्यास ]	4ह4	· ·	
4	अत्ता एत्थ णिमब्ज् इ [ गाथा० ७।६७ ]		एकत्तो रुअइ पिआ	४२२
	अनध्यवसितावगाहनं [ धर्मकीतिं ]	७१	एमेअ जणो तिस्सा	<b>३१</b> ६
	अनवरतनयनजलखन	428	एवं वादिनि देववाँ [कुमारसं० ६।८४]	
	अना ख्येयां शभा सित्वं	<b>\$</b> 80	784. 499	, 480
	अनिष्टस्य श्रुनियँद्वत् [परिकर-श्लोक ]	448	एहि गच्छ पतोत्तिष्ट [ व्यास ]	806
	SINTINAT THE	३२६	क	
	अनौचित्यादृते नान्यत् [ आनन्दवर्धन ]	४९४	कण्ठाच्छित्त्वाक्षमालावलय	४३२
	अपारे कान्यसंसारे [ आनन्दवर्शन ]	३६२	कथाशरीरमुत्पाद्य [परिकरश्लोक]	358
	अमी ये दुइयन्ते ननु [आनन्दवर्धन]	480	कपाल पत्राली करतलनिरोधेन	२३६
	अम्त्रा शेतेऽत्र वृद्धा	455	कमलाअराण मलिआ	308
	अयं स रशनीत्कवीं [महा०, स्त्री, २४।१९]	२७३	करिणीवेहन्वअरो मह	
	THE PROPERTY OF THE PROPERTY O	and the same of th	कर्ता च्तच्छलानां विणीसंहार ७।२६ ।	4६९
	जनतर राज निक	364	भारत भाः कथयामि	430
	अन्यत्पत्तिकत्रो होतः । नि	३८५	कः सन्नहे विरह्विध्रां [ मेघटन ]	५२३
	MIE NAUST STEET		करस व ण होइ रोसो	323
	अही वनासि स्पर्वातिमानिक	489	कान्याध्वनि ध्वनिः	90
	आ	३८८	किमिव हि मधुराणां [अ० शाकु० १।१७]	५३३ ३१४
			किं हास्येन न मे प्रयास्यिस	
	आक्रन्दाः स्तनितिविलोचन	२४६	कुविभाओ पसन्नाओ	२०३
	भाग जाइ भा अगरम	109	ਯੁਕਕਕਰਿਵੈ:	१५२
	अक्षाअप सहायः [माळवरुद्र ]	20	कते वास्त्रपञ्चन	\$\$\$
			कोपात्कोमल [अमरुशतक, ९] २४७,	486
	इत्यभिलप्टरसाश्रयोचित १ [आनन्दवर्धन ] ६	00 3	हामन्त्राः धावन्त्रे	
	" 24 Liall!	४६	किए राह्यसभागः ।	858
	संब	"   f	क्षेत्रा हरमामकाः	४०५
	इंसाक लुसस्स वि तुइ		ख	Roa
	व र	93 6	वं येऽत्युञ्ज्वलयन्ति [ आनन्दवर्धन ] ः	
	विश्वगम् परिका —	ख	Mulistusii Jarr	. £ £
-	उत्क्रियनी समार्		ग	134
	निष्मवत्स्याचा ३०		भगं च मत्तमेहं	
	रेह हव०		\$.	<b>د</b> ۲

	***		~~~
	वृष्ठ		वृष्ठ
च		न	
चकाभिधातप्रसभाज्ञयैव	२३८	नानामिक्षप्रमद्भू:	५६३
चन्नद्भुजभ्रमितचण्डगदा [वेणीसं०]	२२१	निद्राकैतविनः प्रियस्य	4६२
चन्दनासक्तभुजग	२९१	नीवाराः शुकगर्म [ शाकु॰, १।१४ ]	३८६
चन्दमऊएहि णिसा णिलनी	२८१	नीरसस्तु प्रबन्धो	४०१
चमिह्भमाणसक्चण	२५६	नो कल्पापायवायोदय [ सूर्यशतक ]	२४४
चलापाङ्गां दृष्टि [ शाकु॰, १।२५ ]	२३७	न्यक्कारो ह्ययमेव मे ३८०, ५१६,	५३६
चुग्बिज्ञइ असहुत्तं	१५२	ч	
चृअङ्करावअंसं छणमपि [हरिविजय]	₹२१	पत्युः शिरश्रन्द्रकला [कुमारसम्भव]	422
		पदानां स्मारकत्वेऽपि [परिकरश्लोक]	३२६
ज		परार्थे यः पीडांभ [ भ० श० ५६ ] १५४,	
जाएज वणुद्देसे खुब्ज [गाथास॰ ३।१०]	२९०	परिस्ळानं पीनः [ रत्ना०, २,१२ ]	१५१
ण	-	पूर्वे विशृङ्खल	808
ण अ ताण घड६ ओही	464	प्रभामहत्या शिखयेव दीपः [ कुमार॰, ]	609
त		प्रभ्रद्युत्युरीयत्विपि	320
		.प्रातुं धनैरथिंजनस्य	340
तं नाण सिरिसहो [ विषमवाणलीला ]	२८७	प्राप्तश्रीरेष कस्मात्पुन	२८३
तद्गेहं नतभित्ति मन्दिरमिदं	३९०	प्रायच्छतोच्नैः कुसुमानि	412
तन्वी मेघजलाईपहावतया [विक्रमो०]	२१३		
तमर्थमवलम्बन्ते ये	3.88	.भ	
तरङ्गभूमङ्गा [विक्रमो०] २१२,	10000000	भगवान् वासुदेवश्च	403
तत्त्वा विनाऽपि हारेण	२५३	भम धम्मिअ वीसत्थी [ गाथास० २।७६ ]	42
	8-4	भावानचेतनानिप चेनन	५३०
ताला जाअन्ति.गुणा [ विषमवाणलीला ] तालेः शिक्षद्रलय [ मेघदूत , उ० १६ ]		भूरेणुदिग्धान्नवपारिजान	४३५
		भ्रमिमरतिमलसहृदयतां २५५,	४०५
त्रासाकुलः परिपतन् [ शिशुपा० ५।२६ ]	439	म	
	474	मनुष्यवृत्त्या समुपाचरन्तं	340
व		मन्दारकुसुमरेणुपिश्वरित	580
रत्तानन्दाः प्रजानां समुचित	र६२	मह मह इत्ति भणन्तउ	493
दन्तक्षतानि करजेश	480	मा पन्धं रुन्धीओ अवेहि	\$58
दाधीं कुर्वेन् पटु मदकलं [ मेधदूत ]	488	मुख्या व्यापार -	४०१
दुराराधा राधा सुमग	484	मुनिजैयति योगीन्द्रः	406
दृष्ट्या केशव गोपरागहतया	२५७	सुदुरङ्गुलिसंवृताधरोष्ठं [ शाकु०, ३।३८ ]	३८६
दे आ पसिअ णिवत्तसु	७४	य	
देखाएसम्म फले कि	326	यः प्रथमः प्रथमः	५६१
घ		यच कामसुखं लोके	¥ ₹ ₹
धरणीयारणाय स्वं शेष [ इंपेंचरित ]	450	यया यथा विपर्येति	५७१
	The state of the s	collection. Digitized by eGangotri	

fi fa

19

वि वि

				********
	गरस्यादिकाकिः [	र्वेड		
	यद्रज्ञनाहिनमतिः [ सुभाषितावली, २७३ ]	366	वृत्तेऽहिमन् महाप्रलये धरणी[ हा	. A8
	यरिमन्नरित न वस्तु [ मनोरथ कवि ]	२९	वीडायोगान्नतवदनया	पचारत ] ३२१
	यस्मिन् रसो वा भावो [ आनन्दवर्धन ]	432	श	₹₹₹,
	या निद्या सर्वेभूतानां [ भगवद्गीता ]	३१७	शिखरिणि क नु नाम कियत्	
	या व्यापारवर्ता रसान्	488	इत्यं वास्तानं कियेत	१४६
	ये जीवानि न मान्ति ये स्म	326	शूर्यं वासगृहं विलोक्य [ अमरु०	] ५६३
	THE CHARGE C	242	शेवो हिमगिरिस्त्वं [ मामह ३।२८	] ५६७
1	यो यः शस्त्रं [वेगीसं० ३:३२ ]	777	स्टक्नारी चेत् कविः कान्ये	
1	२२२, ३४०, ३४७, ३		स्यामास्वङ्गं चिकतहरिणी०[मेघदू०	30 88] -586
	T 400, 480, 4	48	""" अस्रानक्र(३ आन	दवर्धनी २५४
	रक्तस्त्वं नवपहानैरहमपि			
	रस्या विक स्थानिक है	88	सङ्केतकालमनसं	२७०,४९५
	रम्या इति प्राप्तवतीः [शिशुपा० ३।५३ ] २	88	सज्जं इसुरहिमासी	
	रित्रसङ्कान्त [रामा० अ० का० १६।१३] १० रसभावादिविषय	60	सत्काव्यतत्त्वनयवरमं [ आनन्दवर्धन	२७५,५६८
	रत्तमायादावष्य ,	26	सत्यं मनोरमा रामाः	
AND SOME	रसादिपु विवक्षा तु ५३	26	सन्ति सिद्धरसप्रख्या	8.80
1000	राजानमपि सेवन्ते ५१	10	सप्तेताः समिधः श्रियः [ न्यास ]	३६७
Maxim	रामेण प्रियजीवितेन तु [ उत्तर० ] ५१		समविसमणिव्विसेसा	<b>३१३</b>
STATE OF THE PARTY.	ल		सर्वेकवारणावन् । ।	३८९
THE PARTY OF	लच्छी दुहिटा जामाडओ ४९१		सर्वेकशरणमञ्जयं [ आनन्दवर्धन ]	२६६
ļ,	ळावण्यकान्निपरिप्रित [आनन्दवर्धन] २८१	<b>v</b> .	सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन [ कुमा० ]	468
	लावण्यद्रविणव्ययो न गणितः	8   2	व वक्तुमिखलान् शक्तः	220
L	कावण्यसिन्धुरपरैव हि		तिश्रमस्मितोद्मेदाः	4६०
		1 6	त्योणितैः क्रव्यमुजा	४३५
18.00	a a	4	हरिर्नाम्ना देवः स हरिः	२४२
100	वेच मह विवस एक्केड्	स	।अर्विइण्णजी <b>व्वणह्</b> त्या०	२७६
	बत्से मा गा विषादं	All had been	बजह रोमब्रिकाइ	404
	वाणिअअ हत्थिदन्ता ३३३ ।	.,	तिहि पिच्छकण्णक्ररा	<b>358</b>
4	गणिरकिहा हो हो स्पर् भ्रह द	C. Committee	रिमसमये प्रवृत्ते	486
W.	गरमाभिन्यतिनि २०५	1 00	वर्णपुष्पां पृथिवी	१४५
100	विष्यु विक्रिया गाँउ विषय	संव	ग सर्वेव वक्रोक्तिः	899
3.50	था त्राक्षा स्थापन	सि	नग्धस्यामललिप्त .	
	वेमनिविषयो यं आसीत् ४१३	₹म	रनवनदीपूरेण र	७५,५३६
	भारतिक ५००	िसम	तं किञ्चिन्सुन्धं तरल	<b>३३५</b>
	निमक्मी काण वि	स्वते	जिःक्रोतमहिमा	449
			ह	481
à	राणं रमइ बुसिग	हंसा	नां निनदेषु यैः	
1	१८६	हिना	गरानद्यु यः गहाविअमण्णुं	५८६
10.0		1441	18114440A	२८९
200		THE REAL PROPERTY.		

## 'लोचन' में उद्घृत उदाहरणपद्यों एवं वाक्यों की सूची

	वृष्ठ		4A
अ		उपज्ञोपक्रमं [ पा० सू० २।४।२१ ]	१३८
अग्निरोत्रं जुहुयात् [ मे॰ उ०, ६। ३६ ]	१६५	उपमानाक्षेपः [ वा॰ सू॰ ४।३।२७ ]	११३
अधिकारादपेतस्य [ भामहः, ३।२९ ]	१२६	उपमानेन तत्त्वं च [ उद्भट, ६।२ ]	२७९
अन्यत्र संज्ञाविधी प्रत्यय [ परिभा. ]	408	उपादायापि ये हेयाः [ न्याय० ]	१६४
अपबुतिरभीष्टस्य [ भामह, ३।२१ ]	११६	उतेयुषामपि दिवं [ मामह, १।६ ]	88
अपूर्व यद्वस्तु प्रथयति [ मङ्गल ]	8	उपह जाया	480
अभिषेयाविनाभूतप्रतीतिः [ इलो० वा० ]	१६१	<b>港</b>	
अभिधेयेन सामीप्यात्	38	ऋष्यन्थककुष्णिकरुभ्यः [पा. सू. ४।१।११४]	404
अमुं कनकवर्णामं [ महा० ञा० १५३।१४]	306	Ų	
अयं मन्दबुतिर्भास्वान् [ मामह, ३। ३४ ]	403	प्कदेशस्य विगमे [ भामह ३।२३ ]	११६
अयं स राजा उदयणो ति [ वासव० ]	३७३	एकस्मिञ् शरने पराङ्मुखतया[अमरु०,८	
अलं स्थित्वा रमशानेऽस्मिन्		एकाकिनी यदबला तरुणी [रुद्रट)	१३४
[ महामा० शा० १५२। ११ ]	306	एतत्तस्य मुखात् कियत्कमिंहनी	१२१
अस्पं निर्मितमाकाशं	899	एवमयं पुरुषो वेद [ शा० सा०, पृ० ४, पं	
अल्पीयसाऽपि यत्नेन [ भर्तृहरि ]	१४०	चौ॰ सं॰ ]	४७९
अवज्ञयाऽप्यवच्छाच [ ऐतिहासिक ]	१२०	प्रे	
अहं त्वा यदि नेक्षेय [ मामह, २। ६९ ]	११२	पेन्द्रं धनुः पाण्डुपयोधरेण [ पाणिनि ]	११३
अहमित्यभिनयविशेषेण [ भट्टनायक ]	७२	ं ओ	,,,
अहो संसारनैर्घृण्यं	११७	ओसुरु सुम्हि आई	0.41-
आ			१८५
आगर्भादाविमर्शात् [ नाट्यश्च(० ]	886	<b>南</b>	
आदिमध्यान्तविषयं [ भामह० २। २५ ]	११५	कक छोर्थे [ धातुपाठ ]	406
आदित्योऽयं स्थितो मूढा		कथमपि कृतप्रत्यापत्ती [अमरुक]	३५५
[ महाभा० शा० १५३।१३ ]	306	कपूर इव दग्धोऽपि [ वालरा० ३।६१ ]	११६
आनन्दवर्धनविवेक	803	कवेः प्रयतान्नेतृणां [ नाट्यशा० ]	४२३
आप्तवादाविसंवाद [ इलो० वा० १।१।७ ]	866	कवेरन्तर्गतं भावं [ नाट्यशा० ]	98,
आसीन्नाथ पितामही तव	१३४	कस्यचिद् ध्वनिभेदस्य [ध्वन्या० शाश्त ]	33,
आसूत्रितानां भेदानां	448	कस्स वा ण होइ रोसो [स० २०, ८८६]	
<b>5</b>		काव्यं तु जातु जायेत [ मामह, १।५ ]	९६
इतिवृत्तं हि नाट्यस्य [ नाट्यशास ]	883	काःयशोभायाः कर्तारः	856
इन्दीरवसुति यदा विमृयात् [ भट्टेन्दुराज ]		काव्यार्थान् मावयति [ नाट्यशा० ७।६९ ]	
इवशब्दयोगाद् गौणतापि [ भट्टनायक ]	262	काव्यालोके प्रश्नं	448
. • • उ		कान्ये रसियता सर्वः [ मट्टनायक ]	80 1933
उक्त्यःतरेणाशक्यं यत्	१७७	कि वृत्तान्तैः परगृहगतैः [ मातङ्गदिवाकर ] कीर्ति स्वर्गफलामाहुः	88
उपक्षेपः परिकरः [ नाट्यशा० २१।३९ ]	300		400
		कुरङ्गीवाङ्गानि	
CC-0. Mumuksnu bnawan vara	ariasi C	ollection. Digitized by eGangotri	

	वृष्ठ		पृष्ठ
कुरुवक कुचाधात	४१२	तत्सहोक्त्युपमाहेतु० [ भामह, ३।१७ ]	२४२
कृच्छ्रेणोयुगं व्यतीत्य [ रत्नावली, २।१० ]	266	तद्वक्त्रेन्दुविलोकनेन दिवसः [ता० व०	] ३७४
कृतककुपितैर्बाब्पाम्मोभिः [रामाम्युदय]	358	तद्वत् सचेतसां सोऽर्थः [ ध्वन्या० १।१३	[] 48
<b>कृत्यपञ्चकनिर्वाह</b>	440	तथाभूते तस्मिन् [तापसवत्सराज]	३७५
केलीकन्दिलतस्य विश्रम [अभिनवगुप्त ]	२९८	तया स पूतश्च विभूपितश्च	403
कैशिकी रलक्ष्णनेपथ्या [ नाट्यशा० ]	५५३	तव शतपत्रपत्रमृदुताम्र[देवीस्त्रोत्र]	210
काकार्य शशलक्ष्मणः क च [ विक्रमो० ? ]	१८६	तस्य प्रश्चान्तवाहिता [ योगसू० ३।१० ]	४३२
क्रिययैव तदर्थस्य [ भामह, ३।३३ ]	402	तस्यास्तन्मुखमस्ति सौग्य	११३
क्रोधोऽपि देवस्य वरेण	६९	तस्याः पाणिरयं नु [ उद्भटा० ]	२७९
कोपात्कोमळकोळ	४२३	तान्यक्षराणि हृदये किमपि	१७१
क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति [ माघ० ५।१७ ]	468	तासामनादित्वमाशिषो [योगसू० ४।९।१०	
ध्रुतृष्णाकाममात्सर्व [पुराणश्लोक]	468	तिष्ठेत्कोपवशात्प्रभाव [विक्रमो०, ४।२]	258
ख		तीर्थे तोयव्यतिकर [रघु० ८।]	
खले वाली यूपः	408	तुदीशालातुर	408
ग		तुल्योदयावसानत्वात् [ मामह, ३। ४८ ]	१२४
गद्यपद्यमयी चम्पूः [ दण्डी ]	३२४	तेऽलङ्काराः परां छायां [ ध्वन्या०, २।२८	
गम्भीरोऽहं न मे कृत्यं	३७१	तैस्तैरप्युपयाचितैरूपनतः [ उत्पछपाद ]	९७
गुणः कृतात्मसंस्कारः [ नाट्यशा० ]	४१७	त्वत्सम्प्राप्तिविकोभितेन [ तापसव॰ ६. ]	३७५
गृहेब्बध्वसु वा नान्नं [ भामह, ३।९ ]	१२०	त्वां चन्द्र वूडं सहसा स्पृश्नतो [अभिनवगुप्त	
गोलाकच्छकुडङ्गे	482	त्वामालिख्य प्रणकुपितां [मे॰ दू०]	३५६
गोप्यैवं गदितः सलेशं		द	
च			220
चलापाङ्गां दृष्टिं सपृश्वसि [ शाकु० १।२५ ]	480	दियतमा प्रथिता स्रगियं [अभिनवग्रुप्त ] दर्शे यजेत	422
चाइअणकरपरम्पर. पराणी गाथा	460		844
वित्तवृत्तिप्रसरप्रसङ्ख्यान	850	द।नवीरं धर्मवीरं [ नाट्यशा० ]	
चूर्णपादैः प्रसन्नैः [ नाट्यशा० ]	३५९	दूराकर्षणमोहमन्त्र इव [ उत्तर॰ ]	१८७
2		देविदिति लुणाहि पलुत्र	१५६
छिद्रान्वेपी महान्स्तब्धः	224	देवीस्वीकृतमानसस्य [ता०व०रा०]	३७५
<b>অ</b>		द्वित्रेचनेऽचि [पा० सू० शश्प९]	408
जराजीणेशरीरस्य	468	घ	
जरा नेयं मूर्धिन ध्रुवमयं [अभिनवगुप्त ]	468	धर्मार्थकाममोक्षेपु [ भामह० १।२ ]	88
र्भारतापूरप्रसर्थवर्छ	268	धर्मे चार्ये च कामे च	408
€ .		धृतिः क्षमा दया शौचं [ या० स्मृ० ]	३१३
डण्डलन्तो मरिहिसि	२९६	ध्वनिर्नामापरो योऽपि [ भट्टनायक ]	80
<b>a</b>		न	
तच रसदाननिवृत्तये [ भामह, ३।९ ]	१२०	नखं नखाग्रेण विषष्ट्रयन्ती	92.
तिच्छद्रेपु प्रत्यया			₹0€
		न नह नातिक विवाद सात र उदार्दर	-

	***		***
3 magra	वृष्ठ		र्वेड
न सामयिकत्वाच्छव्दार्थ [न्यायसू०]	४८२	मुख्यां वृत्ति परित्यज्य [ध्वन्या०, १।२	9 ] Eo,
नातिनिवं हं गैषिता [नाट्यशा०]	480	य	
नायकस्य कवेः श्रोतुः [ भट्टनीत ]	९३	यं तर्वशैलाः परिकल्प्य [ कुमा०, १।२	९३
निःश्वासान्य श्वादर्शः	३१३,	यः कालागुरुपत्रमङ्ग [ मट्टेन्दुराज ]	२९७
निरूढा लक्षणाः कादिचत्	१५५	यः संयोगवियोगाभ्यां [ मर्तृहरि ]	१३९
निर्वाणभ्यिष्ठम्थास्य [कुमार०]	२६९	यत्पदानि त्यजन्त्येव [ नाट्यशा० ]	429
नेयं विरौति मुङ्गाली [ भामह, ३.२२ ]	११६	यत्रार्थः शब्दी वा तं [ध्वन्या०, १।१३	299,
नोपादानं विरुद्धस्य	850	यत्रोक्तो गम्यतेऽन्योऽर्थः[ भामह, २।७९	] १०९
Ч		यदयमनुभावयति [ नाट्यशास्त्र ]	१६३
परस्परोपकारेण .	१२५	यदि नामास्य कायस्य	88
पर्यायोक्तं यदन्येन [ भामह, ३।८ ]	226	यद्वामाभिनिवेशित्वं [ ना० २४।१९९	
पहिअसामाइएसु	440	यद्विश्रम्य विलोकितेषु [ सट्टेन्दुराज ] ८	
पाण्डुक्षामं वक्त्रं हृदयं [ मा॰ मा४० ? ]	¥0E	यस्य विकारः प्रभवन्नप्रति [ रुद्रट ]	१३४
पुरुषाथंहेतुकमिदं [ सांख्योक्ति ]	830	याते गोत्रविपर्यये श्रुतिपर्थं [ विक्रमो ० ]	264
प्रकरणनाटकयोगात् [ नाट्यशा० २०१६०]		याते द्वारवतीं तदा मधुरिपी	<b>د</b> ٤
प्रतिप्रहीतुं प्रणयिप्रियत्वात् [कुमा०, शहह	1286	यावत्पूर्णों न चैतेन [ हृदयद्र्पण ]	"
प्रतिवेध इवेष्टस्य [ भामह, २।६८ ]	११२	युद्धे प्रतिष्ठा परमाऽर्जुनस्य	४२
प्रत्यवैरनुपाख्येयैः [ मर्तृहरि ]	280	ये यान्त्यभ्युदये प्रीति	१२९
प्रत्याख्यानरुषः कृतं	388	यो यः शस्त्रं विमर्ति[वेणी०, ३।३२] २१	BYY
3		योऽथीं हृदयसंवादी [ भट्टनायक ]	80
		7	
बहूनां जन्मनामन्ते [गीता ] बहूनां समवेतानां	404	रसान्तरसमावेशः [ध्वन्या० ३।२२]	४२७
	४२६	रसेऽङ्गत्वं तस्मादेषां [ध्वन्या०]	२३२
<b>म</b>		रागस्यास्पदमित्यवैमि [ नागानन्द. १।५ ]	141
मम धन्मिक [गा० स० २। ७६]		राजहंमेरवीज्यन्त	४९७
मअविद्दलरख्खणेक	400	राम इव दशरथोऽभूत [ रुद्रट० ]	१२२
भावत्रात इठाज्जनस्य [अभिनवगुप्त ]	१३१	-1	
मिन्नरुचिहिं लोक: [रघु०, ६।३०]	90	ज	,888
मो भोः कि किमकाण्ड एव[ अभिनत्रगुप्त]	११२	लक्षगहेत्वोः [पा० सू० ३।२।१२३ ]	200
		लड्घिअगअणा फल	488
मणिः शाणोक्षांदः समर्गवजयी	११५	लीलादाडा शुध्यूड्दा [ महावी० ]	300
मध्नामि कौरवशतं समरे [वेणी०, १११4]	422	लोकोत्तरे हि गाम्भीयें	
ारा जापात प्राति   सामह०, २।२।० ।	१२२	व	28
गरान्यश्रम् समुपाचरन्तं	2000	वकामिथेयशब्दोक्तिः[मामह, १।३६] २८,	10.0
मा निषाद प्रतिष्ठां त्वं [रा० वा०]	ce ;	वसन्तमत्ताळिप्रस्परोपमाः [अभिनवगुप्त]	४५५
मा भवन्तमनलः पवनो वा	९६ ।	1444° [17774] _ C	
मि अवहण्डि अरो तेणिरङ्कसो ३			₹0 <b>₹</b>
CC-0. Mumukshu Bhawan	Varana	वाक्यार्थमितये तेषां [ इस्त्रोक्त्व (%) शुरु ] र si Collection. Dightized by eGangolff	<b>.</b> भव

	~~~		****
32— C———— 3	र्वेड		áa
वागङ्गसत्त्वोपेतान् [नाट्यशा०,७।१]	386	स .	
वाग्धेनुर्दुग्ध एतं हि [भट्टनायक]	९३	स एव वीतरागइचेत्	588
वाग्विकरपानामानन्त्यात् [ध्वन्या॰,]	२७	यक्स्त्रीणि जयति	११६
वाच्यः प्रसिद्धः [ध्वन्या० १।३]	४६	सग्गं अपारिजाअं [सेतुवन्थ]	१३०
वासुदेवः सर्वम्	404	सञ्जनान् कविरसी	503
विन्ध्यो वर्धितवान्	408	सत्यं मनोरमा रामाः	३२२
विभावभावानुभाव [नाट्यशा ०]	885	स पाते वो यस्य इतावशेषाः	२११
विभावानुमावव्यभिचारि० [नाट्यशा०]	१६३	समर्पकत्वं कान्यस्य [ध्वन्या०, २।१०]	342
विभावो विज्ञानार्थः लोके [नाट्यशा०]	१६३	समस्तगुणसम्बदः समं [अभिनवगुप्त]	280
विरुद्धालङ्क्रियोलेखे [भट्टोद्भट]	१२३	समाधिरन्यधर्मस्य	242.
विशेष्यं नाभिधा गच्छेत्	43	संसाध्ये फलयोगे तु [नाट्यशा०, २१।७,९	12.00
विषमकाण्डकुटुम्बक	306	समुद्रः कुण्डिका	
विषयत्वमनापन्नैः [नाट्यशास्त्र०]	848	समुस्थिते धनुध्वेनौ [अर्जुनचरित]	408
		सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु [ध्वन्या०, शह	४२८
वीरस्य चेव यत्कर्म [नाट्यशा ^०]	899	सरूपन्यक्षनन्यासं [उद्भटका० ११८]	
वीराणां रमते घुस्णारुणे	२८६	सर्विक्षितिभृतां नाथ दृष्टा [विक्रमो॰]	₹0
वृत्तयः काव्यमातृकाः [नाट्यशास्त्र] ४४२,		सर्वत्र ज्वलितेषु वेश्मसु [ता० व० ३]	३८९
श		सर्वत्र तर्हि कान्यन्यवहारः [हृदयद्रपेण]	३७५
शत्रु च्छेददृढेच्छस्य	226	सादृश्यालक्षणा वक्रोक्तिः वा० सू०, ४।३।	90
राव्यप्राधान्यमाश्रित्य [भट्टनायक]	69	स्त्रियो नर्पतिवहिनः	
FIERENDEVENDENCE CO.	880	स्थाध्त्रोरिच [पा० सू०, शश्रुष्ठ]	३५८
STEPP TERMINE	469	स्थितमिति यथा शब्यां [रामाभ्युदय]	408
शब्दानामभिधानमभिधाव्यापारः		स्थैर्येणोत्तममध्यम [नाट्यशा०, ७१६३]	350
[भामहत्रिवरण]	38	स्फुटीकृतार्थवैचित्रय	३६५ ६०३
शब्दार्थवर्त्यलङ्काराः [भामहित्रवरण]	१२४	स्मरनवनदीपूरेणोडाः [अमरु०, १०४]	A
राष्ट्र यिशासन्त्राच	194,	स्मरामि त्मरसंहार [अभिनवगुप्त]	३३५ ३११
"रारवर्गामधानाथाः। भागह ११० ।	58	स्वित्रपक्ष्मकवाटं [स्वप्नवा०]	
शशिवदन।सितसरसिज [अभिनवगुप्त]	१२३	स्वरूपमात्रं समुत्सृष्टं वहुधा [नाट्यशास]	१७६ ·
शीतांशोरमृतच्छरा यदि [अभिनवगुप्त]	288	स्ववं स्वं निनित्तमासाय [नाट्यशा०]	४३१
म्बार एव परमः [धन्या०, २.७]	384	स्वादुकान्यरसोन्मिश्रं [भामह, ५।३]	885
म्हारस्य तैः प्रसमं [नाट्यशा०]	४१९ ।	E	700
शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यः [नाट्यशास्त्र]	60	हरस्तु किश्चित्परिवृत्तथैर्यः [कु॰ सं॰]	२६९
ब्बारागुक्तात्वा त जिल्लाका ।	200	इसके त्रापिताकृतं	409
ग्रेंच गातिसमस्त्राधंत्राक्तं आग्रेंच वर्षा	२१८	इहाहेति संरम्भार्थोडयं [इदयद्रपण]	१७९
יייייייייייייייייייייייייייייייייייייי	The state of the s	दिश्रवलिश	488
उ.गारमाण्यटकस्य	35	हे छ।ऽपि कस्यचिदचिन्स्यफल०	246
ि जै० सू० ३।३।१४ का अर्थानुवाद]	84	बोद ण गुणाणुराओ	१२५
	1000		

आदिकवि (वाल्मीकि) ८६, ८९, १८० काल्टिस ९४,३१३, ३६८, मामह ११९, ४९९, विषमवाणलीला १७८, २८६, ३७८, ५८५ कादम्बरी २३४,४०५, मट्ट उद्मट २५३, २७९, मट्ट वाण २६४, महर्षि व्यास ३१३, ३८३, हर्षचरित ३२१, इरिविजय ३२१, ३६८, रानाम्युद्य ३३३, अमरुककवि ३५५.

जन्यां जब

रामाण्य १७, ३५९, ५७०
महमारत १७, १५९,१७८, ५७०, ५७२
भरत १३६, १६५, १७२, ४००, ४४२,
सबसेन १६८,
अर्जुनचरित माहाकाच्य १६८, ४२८,
रत्नावळी १७२, १७३,
वेणीसंहार १७२,
तापसनस्सराज १७३,
मधुमथनविजय १७७,
धर्मकीर्ति ५२०,
विनिश्चयटीका ५५५
कुमारसम्भव ५८६

'लोचन' व्याख्यान में उद्भृत ग्रन्थ और ग्रन्थकार

महेन्दुराज २, ८२, १३०, २९७, ३९३, ४९८, ५३१,

अस्मव्युक्त ७, ४४४,

सामह २१, ३४, ११५, ११९, १२०, २०२,
२२४, २३५, २४२, ४४२, ४९९,
उद्दम्द २२, ३४, ११७, २०२, ३३८,

मनोरथ कवि २९,
वामन ३४, ११४,
आनन्दवर्धनाचार्य ४१,
महनायक ५१,६७,७२,८९, ९२, १०३, १८०,

हरयदर्षण ८८, ९०, १७९,

सहतीत ९३, ४३४,

स्रुति (भरत) ९४, ३६४, ३७०, ३७१, ३७२,

४१९, ४३०, ४३३, ४४२, ५३०, ५५३,

उत्पन्न (परस्युक्) ९७,

पेतिहासिक १२०,
विदरणकृत् १२१,

सेतु (सेतुबन्य) १३०,

भर्नहरि १३८, १३०, १४०, ६०२

कालिदास २३४, ४०१,

इण्डी ३५४,

कादम्बरी कथासार ३५६ प्रन्थकृत २९, ४१, ४२, ११५, ११७, १६६, २३१, ३४०, (मूलं), ५४९, ५५५ कारिकाकार १७०, १७३, १७४, ३१२, ३२९, ३४७, ५६६ वृत्तिकृत्, कार १७१, १७३, २७९, २७१, ३११, ३१२, ३२९, ५५७, ५६६ रघुवंश ३५७, ३६८, भरतशास ३६१, रामाम्युदय ३६७, यशोवमंन् ३६७, हरिविजय ३६८, अर्जुनचित ३६८, वापसवत्सराज ३७३, ४०४, ४१९, स्वप्रवासवदत्ताख्य नाटक ३७६, वरसराजचरित ३९८, वेणीसंहार ३९९, रतावर्ला ४२०, चन्द्रिकाकार ४३४, ४५१, काव्यकीनुक ४३४, कान्यकीतुकविवरण ४३४, तस्वालोक (आनन्दवर्धनकृत) मागुरि ४२६



परिभाषेन् दोखरः

'सुबोधिनी' हिन्दाव्याख्योपेतः व्याख्याना—आचार्यविश्वनाथमिश्रः

नागेशभट्ट विरवित परिभाषेन्दुशेखर व्याकरणशास्त्र का प्रौह एवं गुरुष्य प्रत्य है। इसकी सर्वाङ्गीण उपयोगिता को ध्यान में रखकर प्राचीन । वं अर्वाचीन विद्वानों ने इसके ऊपर विभिन्न संस्कृत व्याख्याएँ लिखी हैं। किन्तु इस पुस्तक के ऐसे व्याख्यान का आजतक अभाव ही रहा है जिसमें प्रत्येद पित्त की स्पष्ट एवं बोधगम्य व्याख्या की गई हो। इस उद्देश्य की पूर्ति के जए श्री विश्वनाथ मिश्र ने इसकी सुवोधिनी नामक विस्तृत हिन्दी व्याख्या की है। परिभाषेन्द्र के मूल के अर्थ का भलीभांति स्पष्टीकरण प व्याख्या का उद्देश्य है। इसमें सन्देह नहीं कि यत् व्याख्या अपने उद्देश्य की पूर्ण स्पेण सफल है।

प्रकृत ब्याख्या में प्रत्येक पंक्ति के अर्थ को विस्तार में समझाया गया है।
परिभाषाओं के अवतरण में आये हुए प्रत्येक प्रयाम की किया करके पूर्वपक्ष का स्मान्यापन बड़ी सरलता से किया गया है। मूल में आर हुए "अतएव तेन, समान् यतः" इत्यादि सापेक्ष एवं भावगाम्भीयंपूर्ण का स्पष्टीकरण जीभाँति किया गया है। व्याख्या इतने विस्तार से की गई है जिएमें परिभाषा का कोई भी व्याख्येय अंदा अछूता नहीं रह गया है। व्याकरणशास्तीय पारिभाषिक शब्दों का विस्तृत परिचय भूमिका में दे दिया गया है, जिससे परिभाषाओं को समझने में और भी सरलता हो गई है। परिभाषेन्दुशेखर के निर्भान्त ज्ञान के लिये यह टीका परमोपयोगिनी है।

THE PHILOSOPHY OF NIMBARKA

Dr. Madan Mohan Agrawal

'The Philosophy of Nimbarka' in two parts, viz. '1) The Dvaitadvaita Philosophy (2) Relation of Jiva and Frahman, is a result of painstaking research and critical evolution of various philosophical issues along with modern methods of Sciencific research. The concept of relation has been the central coint of discussion among Non-dualist, Shaivite and Vaishnavite scholars. The Nimbarka-school of Vaishnavism has also not remainded behind in this context and has made notable contribution to the subject. The author has endeavoured to discuss the different types of relation of difference and non-difference, or gin and development of difference and non-difference, with relative ference to the natural difference and non-difference. Hence, the book is expected to stir interest in a great number of readers.

75-05